विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनों का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्ज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी मां शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही है। उनने भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं है किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानी गणों के, वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देख सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबा कर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता मन को, विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों करोड़ों के मनों के अंतःस्थल को छू कर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्ल मार्क्स के साम्यवाद की क्रांति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े रहते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाय, कैसे छन्दबद्ध, लिपिबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पंद्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता-श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आसपास के दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्‌भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवाकर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा।

उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अछूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ । नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था ।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनने चलाना आरम्भ कर दी थीं । औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है । हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी । वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय, यह सिखाया ।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजा स्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में । उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में संपन्न क्रिया कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषि सत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं । चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष के चौबीस महा- पुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था । २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रांति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना ।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया । पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि ''प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ । दो बातें गुरु सत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी । वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया । सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा ।''

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी । उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने तोड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख सुन कर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं । इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था । १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद पैदल लम्बा रास्ता पारकर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल

भी गये । छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई । जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अंग्रेजी सीखकर लौटे । आसन- सोल जेल में वे श्री जवाहर लाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवई, महामना मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से-मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना । यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश ।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जन आक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रांतिकारी स्थिति की तरह उनने भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था । नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं । बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये । जरारा आन्दोलन के दौरान उनने झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा छीनने का प्रयास करते रहे। उनने मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्य चकित रह गये । उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्त जी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनने पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्य मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधी जी के समक्ष पेश किये गये । बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए । कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुज में सम्मानित किया । उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनने प्रधान मंत्री राहत फण्ड, हरिजन फण्ड के नाम समर्पित कर दीं । वैरागी जीवन का, सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है ?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरु हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये । सांस्कृतिक आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्री कृष्णदत्त पालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रह कर उनने अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया । प्रयास पहला था, जानकारियाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनने परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यवसाय घर-घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदय स्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है ।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ, स्थान बदला, आगरा से मथुरा आ गये, दो-तीन घर बदलकर घीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे । पुस्तकों का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतः स्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही । साथ देने आ गयीं

परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुखी था-पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रांति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रांति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

'अखण्ड ज्योति' पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित 'गायत्री चर्चा' स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परम वंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५८ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनने गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देश भर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की अपनी रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्राय: पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनमें महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूल थाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञान सम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व 'युग निर्माण सत्संकल्प' के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप:पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनने अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों, यज्ञायोजनों के द्वारा विचार क्रांति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों में विशेष कार्य भार सौंप, परम वंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़ कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्त्तन संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनने शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट् परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत के अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके

लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी बूटी, यज्ञविज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञान सम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्त्ता निर्माण हेतु युग शिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठें विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता, आस्तिकता संवर्धन एवं जन जागृति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञा संस्थान - शक्तिपीठ-प्रज्ञामण्डल-स्वाध्याय मंडल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तप साधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी को दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देव संस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नव निर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरु सत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युगसंधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेघ महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नव निर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रांति के निमित्त सौर ऊर्जा के दोहन द्वारा विशिष्ट प्रयोगों के माध्यम से विशिष्ट मंत्राहुतियों द्वारा सम्पन्न किये गये इन अश्वमेधों ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु संपन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९५ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी जा रही है। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो सत्तर खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हो रहा है। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जायेंगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़ चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेंगे' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी-उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

भूमिका

अध्यात्म विद्या के अन्तर्गत साधनाओं का ज्ञान और विज्ञान दो पक्षों में विभाजन कर विवेचन किया जाता है । ज्ञान पक्ष वह है जो पशु व मनुष्य के बीच एक विभाजन रेखा प्रस्तुत कर मनुष्य को इस सुरदुर्लभ अवसर का सदुपयोग करने की दिशा धारा प्रदान करता है । इसके लिए क्या सोचना, कैसे सोचना, सदाचार-संयम अपनाकर उच्चस्तरीय सिद्धान्तों पर चलते हुए कैसे आदर्शवादी जीवन जीना, यही सब कुछ इसमें सिखाया जाता है । विज्ञान पक्ष वह है जिसमें कुछ शारीरिक-मानसिक क्रियाकृत्यों के द्वारा भावनात्मक तादात्म्यता का आश्रय लेकर योगसाधनाएँ सम्पन्न की जाती हैं एवं आत्मिक जगत में प्रगति की चरम अवस्था तक बढ़ने का प्रयास किया जाता है । इसी पूरे ऊहापोह को योगविज्ञान के मर्मज्ञ पतंजलि ऋषि ने अष्टांग योग के रूप में यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन आठ वर्गों में बाँट दिया । परमपूज्य गुरुदेव ने इसे और भी सुगम बनाकर प्रारम्भिक एवं उच्चस्तरीय कक्षा में विभाजित कर जन-जन के समक्ष रख साधना पद्धतियों के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान-धारणा आदि उपक्रमों को अति सरल बनाकर प्रस्तुत किया है । यही उनकी लेखनी की विशेषता है कि कठिन से कठिन विषय भी अति सरल व रोचक बन गया है ।

योग-साधना के प्रारंभिक अभ्यास उपक्रम में यम, नियम, आसन के प्रारंभिक स्वरूपों की व्याख्या इससे पहले **''साधना पद्धतियों का ज्ञान-विज्ञान''** नामक खण्ड में विस्तार से हो चुकी है । इस खण्ड में इतना प्रारंभिक धरातल बन जाने पर समाधि-ध्यान की उच्चावस्था तक पहुँचाने वाले उच्चस्तरीय योगाभ्यासों को लिया गया है । सभी का विवेचन बड़ी सरल-सुगम शैली में है । इसमें पतंजलि के अष्टांग योग के आसन, मुद्रा, बंध आदि उपक्रम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान साधना के प्रकार एवं उनकी वैज्ञानिक विवेचनाएँ तथा समाधि और सिद्धि परिकर जैसे विषयों को लिया गया है । सभी साधनाएँ व्यक्ति को सिद्ध पुरुष बनाती हैं कि नहीं किन्तु उनके व्यक्तित्व को परिष्कृत कर उनके अन्दर के महामानव को जगाकर सिद्धियों के अवतरण हेतु एक पृष्ठभूमि अवश्य तैयार कर देतीं है । जो इस प्रक्रिया से एक बार गुजर जाता है, वह अनेकानेक विशेषताओं से सम्पन्न हो आनन्द की चरमावस्था प्राप्त कर परमात्म सत्ता का साक्षात्कार इसी जीवन में कर लेता है ।

आसनों को सिद्ध किया जाता है ताकि शरीर उनके माध्यम से सध सके । आसन सूक्ष्म व्यायाम हैं तथा चक्र उपत्यिकाएँ नाड़ी गुच्छक आदि सब इनसे प्रभावित होते हैं । इन्हें इतना भर नहीं मानना चाहिए कि इनमें अंगों को तोड़ा-मरोड़ा जाता है । आसनों के माध्यम से ही चित्तवृत्ति की निरोध प्रक्रिया का शुभारम्भ होता है । सुखासन वज्रासन सुलभासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि बैठकर साधना किये जाने वाले आसन हैं जब कि शरीर के अंग-प्रत्यंगों को प्रभावित करने वाले सूर्य-नमस्कार प्रज्ञायोग से लेकर अर्धमत्स्येन्द्रासन, सर्वाङ्गासन, पश्चिमोत्तानासन, भुजंगासन, मयूरासन, चक्रासन, त्रिकोणासन आदि विभिन्न उद्देश्यों के निमित्त प्रयुक्त होते हैं । शवासन, शिथिलीकरण हेतु सबके बाद किया जाता है । आसनों के साथ विभिन्न मुद्रा-बंधों का प्रयोग अन्दर के प्रसुप्त को जगाने के लिए किया जाता है । ८४ आसनों में से पूज्यवर ने विशेष ध्यान उन्हीं पर दिया है जो व्यक्ति के सूक्ष्म व कारण शरीर को बलिष्ठ तेजस्वी-वर्चस्वी बनाने में उपयोगी हों । हठयोग प्रधान कठिन अभ्यासों को उनने विशेषज्ञों के लिए छोड़ दिया है ।

प्राणायाम प्राणशक्ति में स्नानकर उसे धारण कर विशिष्ट आयाम में प्रविष्ट होने की विद्या है । प्राणों का व्यायाम ही व्यायाम है । प्राणयाम का विस्तार ''गायत्री की पंचकोशी साधना व उपलब्धियाँ'' खण्ड में भी प्राणमय कोश के विस्तृत वर्णन के साथ दिया गया है किन्तु यहाँ विशुद्धत: उनकी व्याख्या ध्यानयोग हेतु सिद्धि की अवस्था में पहुँचने के उद्देश्य से की गयी है । प्राणाकर्षण लोम-विलोम सूर्य-वेधन, नाड़ीशोधन

कुछ ऐसे प्राणायाम हैं जिन्हें पूज्यवर ने ही संशोधित परिमार्जित कर जन-जन के लिए सुलभ बनाया ।

अवांछनीयताओं का प्रतिकार ही प्रत्याहार है । कुविचार मनः क्षेत्र पर छाये रहें तो उनका प्रतिकार करना भी आवश्यक है । प्रत्याहार परिष्कार में संघर्ष मनः क्षेत्र व अंतर्जगत में चलता है जिसमें आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति सुनिश्चित रूप से जीतता है । धारणा का मूल तत्त्वदर्शन यह है कि मान्यताओं को भावना क्षेत्र की गहराई में उतारा जाय । आस्तिकतावादी मान्यताओं के सहारे ही वह पृष्ठभूमि बनती है जहाँ ध्यान व समाधि की उच्चतम स्थितियों में पहुँचने के योग्य व्यक्ति बन पाता है ।

ध्यान का अर्थ है व्यक्तित्त्व को श्रेष्ठ विचारों का स्नान कराके चंचल चित्त को तन्मयता, तादात्म्यता, के साथ एकरूपता-मिलन की स्थिति में ले आना । ध्यानयोग में एकाग्रता की स्थिति लाना एक समय साध्य प्रक्रिया है । इसलिए उसमें उतावली बरतने की आतुरता प्रदर्शित नहीं की जानी चाहिए । ध्यान साकार भी हो सकता है, निराकार भी । समाधि की स्थिति में ले जाने वाला ध्यान दोनों ही माध्यम से सम्पन्न किया जा सकता है । सूर्य की रश्मियों से लेकर, इष्ट की प्रतिमा, दीपक की ज्योति, नाद-बिन्दु से लेकर देवाधिदेव-आत्मदेव की साधना सभी उच्चस्तरीय योग साधनाएँ है । जप के साथ ध्यान भी अनिवार्य है व ध्यान के साथ जप भी । इस प्रकार ध्यान साधना के हर पहलू को व उसके वैज्ञानिक आधार को परमपूज्य गुरुदेव ने बड़े विस्तार से इसमें समझाया है ।

सिद्धियों-ऋद्धियों का रहस्योद्घाटन अपने ही अन्तराल में होता है, यह समझा जा सके तो साधक इन उच्चस्तरीय साधनाओं द्वारा जिन्हें ब्रह्मवर्चस् में सम्पन्न कराया जा रहा है, हर व्यक्ति अपने को देवोपम स्थिति में पहुँचा सकता है । यही सब विवेचन-ऊहापोह इसमें है ।

—ब्रह्मवर्चस

विषय सूची

विषय	पृष्ठ

⌘⌘⌘

|| उच्चस्तरीय योग साधना के सहयोगी उपक्रम ||

आसन, मुद्रा, बन्ध

आत्मिक उत्कर्ष के साधनों में उच्चस्तरीय प्रयोजनों की ओर बढ़ने के पूर्व कुछ प्रारम्भिक अभ्यासों को अनिवार्य माना जाता है । महर्षि पातंजलि ने इनमें यम, नियम के बाद आसन, मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम को मुख्य महत्त्व दिया है । बहुसंख्य साधक दो अतियों में चलते हैं, या तो वे आसन, प्राणायाम को ही सब कुछ मान बैठे इनमें ही अपना समय नियोजित करते रहते हैं अथवा इन्हें जाने बिना सीधे कुण्डलिनी जगाने व उससे नीचे की कोई बात मन में कभी लाते ही नहीं । सबसे श्रेयस्कर मध्यम मार्ग है जिसमें आसन सिद्धि, प्राणायाम शुद्धि एवं मुद्रा-बन्ध प्रयोगों को न्यूनाधिक रूप में साधना विशेष के अनुरूप अपनाकर प्रगति पथ पर क्रमिक रूप में बढ़ जाती है ।

आसन से तात्पर्य है—वह सारा स्थान, परिकर जहाँ पर उपासना की जा रही है । स्थान एवं वातावरण मन की एकाग्रता, तन्मयता में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । जहाँ विशिष्ट साधना की बात आती है वहाँ तो सिद्ध पीठों, संस्कारित तप स्थलियों पर समय निकाल कर जाने व संकल्पित अनुष्ठान को पूरा करने की बात सोचनी चाहिए, परन्तु साधारण स्थिति के साधक को अपने ही निवास स्थान में कोलाहल रहित सुसंस्कारित वातावरण तलाशना होगा ताकि नित्य की साधना सम्पादित की जा सके । वातावरण व शरीर की स्थिति, ये दो मिलकर आसन को सर्वांगपूर्ण बनाते हैं । आसन समग्र शरीर का होता है । कमर सीधी, आँखें अधखुली, अधबन्द सी, शान्त चित्त, स्थिर काया यह स्थिति ध्यान के लिए उपयुक्त आसन मानी जाती है । दोनों हाथ गोदी में हों, शरीर सुखासन की स्थिति में होते हुए भी सुस्थिर, सुव्यवस्थित हो ।

आसन प्रक्रिया के विषय में जानने से पूर्व यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि अपना अन्तिम उद्देश्य क्या है ? पैरों को मोड़ना अन्य निर्धारित हलचलों द्वारा शरीर की सूक्ष्म संरचना को गतिशील बनाना भी आसन प्रक्रिया है जिसे आजकल 'योगा' नाम से जाना जाता व प्रचारित किया गया है । आरोग्य रक्षा की दृष्टि से इन सूक्ष्म व्यायामों का महत्त्व असंदिग्ध है, परन्तु अध्यात्म प्रगति की दृष्टि से कुछ ही ऐसे आसन हैं, जिसकी मनीषीगण सलाह देते हैं अथवा जिनके शास्त्र निर्धारण मिलते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि तनाव मुक्ति, जीवनी शक्ति वृद्धि व निरन्तर स्फूर्ति के लिए यदि नियमित रूप से विभिन्न प्रकार के आसन किए जाते रहें तो ध्यान योग प्रक्रिया में लाभ मिलता है, पर यह लाभ उसी प्रकार का है जिसे पात्रता प्रामाणित करने के लिए एक और अतिरिक्त सर्टिफिकेट पा लेना । मात्र कर लेना ही ध्यानयोग जैसी चरमोत्कर्ष की साधना में आगे बढ़ा देता है, यह सोचना भी नहीं चाहिए ।

कई प्रकार के आसन योग ग्रन्थों में तथा योग चिकित्सकों द्वारा बताये जाते हैं, पर इनमें से ८४ ही ऐसे हैं जिन्हें सूक्ष्म शारीरिक व्यायाम की दृष्टि से मान्यता प्राप्त है । साधना की दृष्टि से तो मार्गदर्शक के परामर्श एवं निर्देशानुसार मात्र तीन आसनों तक स्वयं को सीमित रखना चाहिए । सुखासन को तो महत्ता दी ही गई है क्योंकि यह किसी भी साधना में निःसंकोच प्रयुक्त हो सकता है—इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने कहा है—

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते ।
यत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥

—*जाबालोपनिषद्*

अर्थात्—"जिस प्रकार बैठने से शरीर को सुविधा हो, शान्ति में अड़चन न पड़े वही सुखासन कहलाता है । अशक्त साधकों के लिए तो ये ही श्रेयस्कर है, इन्हीं का आश्रय लेना चाहिए ।"

शिव संहिता में सुखासन के अतिरिक्त चार अन्य आसनों को विशिष्ट व साधना प्रयोजनों में उल्लेखनीय माना है—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन, स्वस्तिकासन ।

इस योग ग्रन्थ में उल्लेख है—

चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना विधानिच ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ॥
सिद्धासनं ततः पद्मासनं चोग्रं च स्वस्तिकम् ॥

इनमें भी सिद्धासन व पद्मासन को विशिष्ट माना गया है । इसी कारण किसी प्रकार के भ्रम और अत्यधिक विस्तार में न जाकर सुखासन, सिद्धासन, पद्मासन इन तीन को ही प्रमुख माना जाय व विभिन्न बन्ध तथा मुद्राओं का सम्पुट इनमें जोड़कर इस प्रारम्भिक प्रक्रिया को समग्र बनाया जाय ।

योग दर्शन (पातंजलि कृत) के समाधिपाद में आसन को आठ योग के अंगों में तीसरे क्रम का प्रधान अंग माना गया है और व्याख्या की गई है कि आसन का अभ्यास इसलिए आवश्यक है कि शरीर की रज रूपी चंचलता, अस्थिरता, तमरूपी आलस्य नष्ट होकर सात्विक प्रकाश तथा दिव्यता की उत्पत्ति होती है । दृष्टांग योग का यह बर्हिसाधन है । इस आसन सिद्धि के बिना अगले उच्चस्तरीय प्रयोजन पूरे नहीं हो पाते । आसन सिद्धि के विषय में महर्षि पातंजलि कहते हैं—

प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ।

अर्थात्—"प्रयत्न की शिथिलता और परमात्मा में मन लगाने से 'आसन सिद्धि' होती है ।"

वस्तुतः शरीर की स्वाभाविक चेष्टा अर्थात् डाँवाडोल होना, काँपना आदि से उपरत होना ही प्रयत्न की शिथिलता है एवं शरीर को सीधा स्थिर करके सुखपूर्वक साधन की दृढ़ता से शरीर सम्बन्धी सब चेष्टाओं को छोड़कर अनन्त परमेश्वर के ध्यान में तद्रूप हो जाना ही 'आसन् सिद्धि' है । ऐसी स्थिति में आने पर साधक अपने को भूलकर—बहिरंग से विमुख होकर अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकता है ।

इस सूत्र में 'आनन्त समापत्ति' जो शब्द आया है, उससे अर्थ यह है कि चित्तवृत्ति रूप से हर समय अनेकों परिच्छिन्न पदार्थों की ओर स्वाभावतः घूमता रहता है, फलतः अस्थिर बना रहता है । अपरिच्छिन्न आकाशादि में जो अनन्तता है उससे जब चित्त को एकाकार कर दिया जाता है तो वह निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है । तब ही आसन सिद्ध हुआ माना जाना चाहिए ।

वस्तुतः यही आसन प्रक्रिया का उद्देश्य है । इसे बार-बार समझा जाना चाहिए कि आसन चित्तवृत्ति को एकाग्र करने के लिए है, न कि अंगों को तोड़-मरोड़कर विखराने के लिए । इसी दृष्टि से योगी महर्षि पांतजलि आध्यात्मिक योग साधन की दृष्टि से सिद्धासन, सुखासन व पद्मासन की महिमा बताते हैं । अन्तिम परिणति तीनों की एक ही है—

"ततो द्वन्द्वानभिघात"

—४८/ समाधिपाद-२

अर्थात्—"जब आसन की पूर्ण सिद्धि हो जाती है तब सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास नहीं सताते और शरीर में सहन शक्ति का प्रादुर्भाव होने से ध्यान समाधि में विक्षेप नहीं होता ।"

ध्यान धारणा के प्रयोगों में सुखासन को कुण्डलिनी जागरण प्रयोगों, षटचक्र भेदन तथा अन्य उच्चस्तरीय साधनाओं के लिए विभिन्न मुद्रा-बन्ध आदि का आश्रय लेकर सिद्धासन एवं पद्मासन को प्रयुक्त किया जाता है ।

सुखासन की तथा ध्यान-प्रक्रिया में इसके प्रयोग की चर्चा पहले ही की जा चुकी है । सिद्धासन को लगातार नहीं, कुछ देर के लिए ही किया जाता है । तीनों में यही क्लिष्ट है । जितनी देर शक्तिचालिनी मुद्रा एवं सूर्य बेधन प्राणायाम के प्रयोग किए जाते हैं, उतनी देर इसे लगाना लाभदायक माना जाता है । प्राण-वायु को संयमित करने तथा तीनों बन्धों को सिद्ध करने के कारण ही इसे सिद्धासन कहते हैं, ऐसा हठयोग प्रदीपिका का मत है । इसके अभ्यास से योग निष्पत्ति शीघ्र ही होती है एवं यह सिद्धिदायक है, शिव संहिता यह बताती है ।

सिद्धासन में कमर सीधी रखी जाती है एवं ध्यान मुद्रा में बैठकर बायाँ पाँव इस प्रकार मोड़ते हैं कि उसकी ऐड़ी का ऊपरी भाग मल-मूत्र छिद्रों के मध्यवर्ती भाग को दबाये । यही दक्षिण ध्रुव अर्थात् मूलाधार चक्र का स्थान है । दाएँ पैर को बाएँ के ऊपर रखकर पालथी जैसी स्थिति बनाई जाती है । इस स्थिति में दाहिने पैर की ऐड़ी नाभि से लगभग चार अंगुली नीचे उसी की सीध में आ जाती है । यह मेढ्र देश है अर्थात् नाभिचक्र का स्थान है । देह को सरल स्थिति में रखकर दोनों भौहों के मध्य देश में दृष्टि स्थिर कर

निश्चल भाव से बैठने का नाम ही सिद्धासन है । इस प्रकार बैठने से पैरों पर दबाव पड़ता है और ज्यादा देर तक बैठे रहा नहीं जा सकता, इसलिए आवश्यकतानुसार पैर को बदलते रहना चाहिए । इसका प्रयोग सामान्य जप आदि में नहीं सूर्य बेधन प्राणायाम, कुण्डलिनी योग, षट्चक्र भेदन जैसी विशिष्ट साधनाओं में ही करना चाहिए । इसका मूल प्रयोजन ही मूलाधार चक्र को प्रभावित एवं उत्तेजित करना है ।

पद्मासन इससे सरल है । इसकी सामान्य प्रचलित विधि में पैरों पर पैर रखकर हाथ सुविधानुसार घुटनों पर अथवा गोद में रखकर बैठने का क्रम है । चिकित्सा के रूप में जब इसे किया जाता है तो पीछे से हाथ ले जाकर अँगूठे को पकड़ते हैं ।

इन आसनों का प्रभाव शरीर के स्थूल एवं भीतरी अंग-अवयवों पर पड़ता है और उनकी असमर्थता-रुग्णता हटती-मिटती है । वे समर्थ एवं सक्रिय बनते हैं ।

मुद्राएँ

आसनों के उपरान्त मुद्राओं का नम्बर आता है । वे प्रधानता इन्द्रियों की रहस्यमयी शक्तियों से सम्बन्धित हैं । उनका प्रभाव इतनी गहराई तक पहुँचता है कि ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता अधिक प्रखर बनाई जा सके और यदि उनमें किसी प्रकार की दुर्बलता, रुग्णता का समावेश हो गया हो तो उसका निवारण आरम्भ हो सके ।

हठयोग के प्रयोगों में बीस मुद्राओं का उपयोग होता है । उनमें से कुछ का प्रभाव शारीरिक कुछ का मानसिक, कुछ का कारण क्षेत्रों की गहराई तक होता है । इनमें से सभी को जानना, सीखना, सामान्य साधकों के लिए न तो आवश्यक है न उपयोगी । उनमें से जो प्रमुख प्रभावोत्पादक, अधिक सरल एवं अधिक उपयोगी परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं, मात्र ऐसी ही आठ मुद्राओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है । त्रिविध प्राणायामों की तरह मुद्राओं में भी पहले तीन का वर्णन किया जा रहा है—

यह तीन मुद्राएँ हैं—(१) शक्तिचालिनी मुद्रा, (२) शिथिलीकरण मुद्रा, और (३) खेचरी मुद्रा । इनमें से शक्तिचालिनी का सम्बन्ध मूलाधार से है । कुण्डलिनी का निवास केन्द्र वही है । पौरुष, प्रजनन, उत्साह इसी केन्द्र से सम्बन्धित हैं । शक्तिचालिनी के आधार पर मूलाधार को जागृत, नियंत्रित एवं अभीष्ट उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त किया जाता है । शिथिलीकरण मुद्रा का सम्बन्ध हृदय चक्र से है । यह स्थान भाव सम्वेदनाओं शक्ति, एवं तेजस्विता का केन्द्र है । भावनाओं को दिशा देना भी इसी क्षेत्र के प्रयत्नों से बन पड़ता है । तीसरी मुद्रा-खेचरी मुद्रा है । उसका सम्बन्ध ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार कमल से है । पुराणों में इसी को क्षीरसागर, कैलाश पर्वत की उपमा दी गई है । यहाँ मन, बुद्धि, चित्त से सम्बन्धित सभी तन्त्र विद्यमान हैं । खेचरी मुद्रा द्वारा उनमें से किसी को भी किसी भी प्रयोजन के लिए जागृत एवं तत्पर किया जाता है । बुद्धि मन्दता एवं तनाव से लेकर मनोविकारों तक में इस केन्द्र की सहायता ली जा सकती है ।

अध्यात्म विज्ञान में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित तीन रहस्यमयी ग्रन्थियों का उल्लेख है । वे हैं—(१) ब्रह्म-ग्रन्थि, (२) विष्णु-ग्रन्थि और (३) रुद्र-ग्रन्थि । ब्रह्म ग्रन्थि का सम्बन्ध खेचरी मुद्रा से एवं विष्णु ग्रन्थि का शिथिलीकरण से है, जबकि रुद्र ग्रन्थि शक्तिचालिनी मुद्रा से सम्बन्धित है । इन तीनों के स्वरूप, कारण, रहस्य, अभ्यास एवं प्रतिफल साधना ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक बताये गए हैं । उन सबका सारसंक्षेप इतना ही है कि मस्तिष्क, हृदय और प्रजनन तंत्र में वरिष्ठता एवं पवित्रता, प्रखरता उत्पन्न करने के लिए उपर्युक्त तीन मुद्राओं की साधनाओं का प्रयोग किया जा सकता है और उनका चमत्कारी प्रतिफल देखा जा सकता है ।

तीनों मुद्राओं का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **शक्तिचालिनी मुद्रा**—शक्तिचालिनी मुद्रा वज्रासन या सुखासन में बैठकर की जाती है । इसमें मल एवं मूत्र संस्थान को संकुचित करके उन्हें ऊपर की ओर खींचा जाता है । खिंचाव पूरा हो जाने पर उसे धीरे से शिथिल कर देते हैं । प्रारम्भिक स्थिति में दो मिनट व धीरे-धीरे पाँच मिनट तक बढ़ाते हुए यही क्रिया बार-बार दुहरायी जाती है । शक्तिचालिनी मुद्रा के साथ ही उड्डीयान बन्ध अधोमुखी शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए प्रयुक्त होता है । यह क्रिया स्वतः शक्तिचालिनी मुद्रा के साथ धीरे-धीरे होने लगती है । पेट को जितना ऊपर खींचा जा सके, खींचकर पीठ से चिपका देते हैं । उड्डीयान का अर्थ है—उड़ना । कुण्डलिनी महाशक्ति को जागृत करने, चित्तवृत्ति को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी करने की यह पहली सीढ़ी है ।

इससे सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है, मूलाधार चक्र में चेतना आती है । इन दोनों क्रियाओं के द्वारा समूचे कुण्डलिनी क्षेत्र पर ऐसा सूक्ष्म विद्युतीय प्रभाव पड़ता है जिससे इस शक्तिस्रोत के जागरण व मेरुदण्ड मार्ग से ऊर्ध्वगमन के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं । विवेकवान साधक इस शक्ति केन्द्र को जगाकर अनेक गुना प्रखर बनाते हैं और जागरण की इस प्रखरता का उपयोग व्यक्तित्व को प्रतिभा सम्पन्न बनाने, उच्चस्तरीय कार्य सम्पादन करने में प्रयुक्त करते हैं ।

(२) **शिथिलीकरण मुद्रा**—योगनिद्रा का यह प्रथम चरण है । अचेतन को विश्राम देने, नई स्फूर्ति दिलाने तथा अन्तराल के विकास—आत्मशक्ति के उद्‌भव का पथ प्रशस्त करने की यह प्रारम्भिक क्रिया है । इस मुद्रा का अभ्यास शवासन में लेटकर अथवा आराम कुर्सी पर शरीर ढीला छोड़कर किया जाता है । यह क्रिया शरीर, मन, बुद्धि को तनाव से मुक्त करके नई चेतना से अनुप्राणित कर देती है । साधक को शरीर से भिन्न अपनी स्वयं की आत्मचेतना की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है ।

कोलाहल रहित वातावरण में शवासन में लेटकर पहले शरीर—शिथिलीकरण के स्वयं को निर्देश दिये जाते हैं । शरीर के निचले अंगों से आरम्भ करके शनैः-शनैः यह क्रम ऊपर तक चलाते हैं । हर अंग को एक स्वतन्त्र सत्ता मानकर उसे विश्राम का स्नेह भरा निर्देश देते हैं । कुछ देर उस स्थिति में छोड़कर धीरे से श्वास तीव्र करके शरीर को कड़ा और फिर ढीला होने का निर्देश दिया जाता है । धीरे-धीरे शारीरिक शिथिलीकरण सधने पर क्रमशः मानसिक शिथिलीकरण का अभ्यास करते हुए दृश्य रूप में शरीर पड़ा रहते देखने, चेतनसत्ता के सरोवर में ईश्वर को समर्पित कर देनें की भावना की जाती है । ध्यान योग की यह प्रक्रिया आध्यात्मिक दृष्टि से उपलब्धियों से भरी हुई है । शरीरगत तथा मनोगत इसके सत्परिणामों से आज विज्ञानवेत्ता भी परिचित हैं ।

(३) **खेचरी मुद्रा**—शान्त मस्तिष्क को ब्रह्मलोक और निर्मल मन को क्षीरसागर माना गया है । मनुष्य की व्यष्टि सत्ता और विश्व-ब्रह्माण्ड व्यापी समष्टि सत्ता का आदान-प्रदान ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से होता है । यह मस्तिष्क का मध्य बिन्दु जीवसत्ता नाभिक है, यही सहस्रार कमल है । मस्तिष्कीय—मज्जारूपी क्षीरसागर में विराजमान विष्णुसत्ता के सान्निध्य और अनुग्रह का लाभ लेने के लिए खेचरी मुद्रा की साधना की जाती है । ध्यानमुद्रा में शान्तचित्त से बैठकर जिह्वाग्र भाग को तालु मूर्धा से लगाया जाता है । सहलाने जैसे मन्द-मन्द स्पन्दन किए जाते हैं । इस उत्तेजना से सहस्र दल कमल की प्रसुप्त स्थिति जागृति में बदलती है । बन्द छिद्र खुलते हैं और आत्मिक अनुदान जैसा रसास्वादन जिह्वाग्र भाग के माध्यम से अन्तः चेतना को अनुभव होता है । यही खेचरी मुद्रा है ।

तालु मूर्धा को कामधेनु की उपमा दी गई है और जीभ के अगले भाग से उसे सहलाना-सोमपान, पयपान कहलाता है । इस क्रिया से आध्यात्मिक आनन्द की, उल्लास की अनुभूति होती है । यह दिव्यलोक से आत्मलोक पर होने वाली अमृत वर्षा का चिन्ह है । देवलोक से सोमरस की वर्षा होती है । अमृतकलश से प्राप्त अनुदान आत्मा को अमरता की अनुभूति देते हैं । यह तीनों मुद्राएँ भावना प्रधान हैं । अतः चिन्तन के साथ भाव सम्वेदनाएँ जितना प्रगाढ़ होंगी, उतनी ही वे लाभदायक भी सिद्ध होंगी ।

(४) **महाबन्ध मुद्रा**—जब साधक योग के अन्तर्गत साधन में प्रविष्ठ होता है, तब उसे अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होने लगते हैं, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन चारों को योग के अन्तरंग साधन कहते हैं, प्रत्याहार और धारणादि के अभ्यास काल में कुण्डलिनी शक्ति जागृत करनी पड़ती है, कुण्डलिनी शक्ति के उत्थान के समय में अभ्यास और होने के पश्चात साधक की बुद्धि अत्यन्त तीव्र हो जाती है, शरीर अत्यन्त तेजोमय बनता है, कुण्डलिनी उत्थान के लिए खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध मुद्रा, महावेद मुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, ताडन मुद्रा, परिधान युक्ति, परिचालन मुद्रा और शक्तिचालनी मुद्रा आदि उत्कृष्ट अनेक मुद्राओं का अभ्यास करना पड़ता है । यहाँ पर हम केवल महाबन्ध मुद्रा का उल्लेख कर रहे हैं ।

महाबन्ध मुद्रा करने की रीति

प्रथम बायाँ पैर शिवनी (अंडकोष और गुदा का मध्य स्थान) में और दाहिने पैर की एड़ी को बाएँ पैर की जंघा के मूल (स्वाधिष्ठान कमल के बाजू) में रखें । बायीं हथेली और दाहिनी हथेली को दाहिने पैर के

घुटने पर रखें, कमर पीठ रीढ़ और सिर सीधा रखें, छाती को जरा आगे की तरफ झुकाकर रखें, आँखें बन्द रखें, शरीर को साधारण कड़क रखें, फिर दोनों नासिका संघर्षण (एक बार श्वास को फेफड़े में भरना और तुरन्त ही खाली कर देना उसे एक घर्षण कहते हैं) करके बायीं नासिका से पूरक करें (श्वास भीतर लेना) कुम्भक के समय दोनों हाथों से दाहिने पैर के घुटने को पकड़े रहे, जालन्धर बन्ध (दाढ़ी को कंठ कूप में लगाना) रखें । मूल बन्ध (गुदा को संकोचना) रखें, और यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात दाहिनी नासिका से शनैः-शनैः रेचक करे, रेचक के समय में उड्डीयान बन्ध (पेट को अन्दर पीठ की तरफ ले जाना) करे । कुम्भक समय में उत्कृष्ट भावना करे । जैसे कि, मैं आज से उन्नति मार्ग पर चढ़ रहा हूँ "मेरे शरीर में जो दुर्बलता, अपवित्रता न्यूनता रूपी दोष हैं वह आज से और इसी क्षण से दूर हो रहा है मैं इस दुनिया में आज से शुभ कार्यों में ही जुट गया "सर्व दिशा, सर्व देवता, सर्व प्राणी, एवं चराचर वस्तु में से आनन्द ही आनन्द लूट रहा हूँ, देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ और उसी में तल्लीन तदाकार हो रहा हूँ" आज से मेरा मन अत्यन्त शुभ स्फटिक मणि के समान परम पवित्र हो रहा है ।

जिसे मोक्ष का ही पथिक बनना हो, "तो मेरा पंचप्राण एकत्र हो रहा है" ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणपति आदि सर्व देवता मूलाधार चक्र स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र और ब्रह्म रंध्र में अत्यन्त सन्तप्त हो रहे हैं "स्वाधिष्ठान चक्र में अनेक काल से कर्माशिय कोष को वैघृत (वेष्ठित) कर गाढ़ी निन्द्रा में सोई हुई कुण्डलिनी उत्थान होने की तैयारी कर रही है" मूलाधार चक्र से लेकर ब्रह्म रंध्र तक का रास्ता खुल रहा है । "सुषुम्णा नाड़ी अत्यन्त शुद्ध होकर प्राण को उर्ध गति को ले जाने की तैयारी कर रही है" सारे शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध हो रही हैं" आदि विचार प्रवाह को चालू रखें ।

उपरोक्त विधि के अनुसार बाएँ पैर से एक बार पूरक, कुम्भक, और रेचक होने पर तुरन्त ही पैर को बदली करें । अर्थात् दाहिने पैर को शिवनी में रखें और बाएँ पैर को दाहिने पैर की जंघा मूल में (उसकी बाजू में रखे) इस समय दाहिनी नासिका से पूरक करें, यथाशक्ति कुम्भक के पश्चात बायाँ नासा रन्ध्र से शनैः-शनैः रेचक करें । इस प्रकार एक बार बायीं बाजू और तुरन्त ही दूसरी बार दाहिनी बाजू पाँच-पाँच घर्षण तथा पूरक कुम्भक और रेचक करें तब एक महाबंध मुद्रा सम्पूर्ण हुई समझना मुद्रा के समय में उत्कृष्ट भावनाएँ अवश्य करें, और तीन बन्ध ही नियमित रूप से करें ।

पूरक, कुम्भक, रेचक का समय जिस व्यक्ति को मुद्रा के विषय में अनभिज्ञ हो वे व्यक्ति अनुलोम विलोम प्राणायाम का अभ्यास करें, क्योंकि फेफड़े का एकदम अधिक प्रमाण में परिश्रम नहीं होना चाहिए यद्यपि जिसको बिना प्राणायाम सीखे मुद्रा का अभ्यास करना हो तो वह स्त्री-पुरुष मुद्रा के अभ्यास काल में घर्षण खूब जोर से नहीं करे किन्तु सामान्य रूप से करे । एक मात्रा—एक सेकण्ड समझना । भूतकाल में योगाभ्यास नहीं किए हुए स्त्री पुरुष प्रथम थोड़े दिन तक चार मात्रा पूरक करे, १६ मात्रा कुम्भक करे, और आठ मात्रा रेचक करे जैसे-जैसे फेफड़े में विकास, इन्द्रिय स्वाधीन, प्राण काबू में, मन निरोध, बुद्धि स्थिर, अहंकार शमन तथा चित्त शान्त बनता जाय वैसे-वैसे मात्रा की संख्या को बढ़ाते जायें । सामान्य तथा व्यवहार में कुशलता मिलाने की इच्छा रखने वाले स्त्री-पुरुष १६ मात्रा पूरक ६४ कुम्भक और ३२ मात्रा रेचक करें । मुमुक्षु वर्ग (मोक्षगामी) होवे तो ६४ से अधिक मात्रा कुम्भक कर सकते हैं किन्तु कम से कम १६ मात्रा पूरक और ३२ मात्रा तक रेचक होना आवश्यक है ।

महाबन्ध मुद्रा का प्रमाण यह है कि ५ दिन तक दो बार, ५ से १२ दिन ४ बार, १२ से २० दिन तक ५ बार, २० से ३० दिन तक ६ बार, ३० दिन के पश्चात यथाशक्ति ६ से १२ बार नित्य नियमपूर्वक करता रहे इस मुद्रा को १२ वर्ष से १०० वर्ष तक के स्त्री-पुरुष कर सकते हैं ।

इस मुद्रा के अल्प समय के अभ्यास से ही शरीर में एक प्रकार का आनन्द मालूम होता है । मन की खराब वृत्तियाँ नष्ट होती हैं, खराब व्यसनों से मुक्त होने के लिए मुद्रा एक अमूल्य साधन है, मुमुक्षुओं के शरीर की नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान, वायु एकत्र होकर सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करने लगती हैं, उदान वायु सामान

वायु में, समान वायु व्यान वायु में, व्यान वायु अपान वायु में, अपान वायु-प्राणचक्र में लय होती है, उस समय अनुहद आनन्द मालूम होगा, मन में असीम सुख का भरना होता है एवं आत्मानन्द की प्राप्ति होती है ।

(५) ऊर्ध्व गमन की वज्रोली मुद्रा—हठ योग की क्रियाओं में एक वज्रोली क्रिया भी है । उसमें मूत्र मार्ग से जल ऊपर खींच कर फिर बाहर निकाला जाता है । इस प्रकार उस मार्ग की शुद्धि हो जाती है । इसी प्रकार किसी टब में बैठकर मल मार्ग द्वारा भी पानी खींचा जाता है । थोड़ी देर पेट में रख कर उसे घुमाया जाता है और फिर मल त्याग कर दिया जाता है । इस प्रकार आधुनिक एनीमा की पुरातन ढंग से पूर्ति हो जाती है ।

नाड़ी शोधन हठयोग में आरम्भिक प्रयोग है । नेति धौति, वस्ति, वज्रोली इन हठयोग की प्रक्रियाओं में उन स्थानों की सफाई की जाती है । जहाँ मल जमा रहता है, रुका रहता है । इस शारीरिक स्वच्छता के उपरान्त षट-चक्र वेधन आदि की अन्य अभिवर्धन क्रियाएँ की जाती हैं । शोधन के उपरान्त ही अभिवर्धन क्रियाओं को आरम्भ करने का नियम है ।

हठयोग की सारी क्रियाएँ शारीरिक हैं । उनका प्रभाव भी शरीर पर ही पड़ता है । शरीरगत समर्थता बढ़ती है और वे कार्य बन पड़ते हैं जो कोई अति बलिष्ठ शरीर कर सकता है । इस स्तर के लोगों को ही प्राचीन काल में दैत्य कहा जाता है । दैत्य और दानव का अन्तर समझा जाना चाहिए । मानव के विपरीत दुर्गुणों वाले को दानव कहते हैं । उनकी प्रवृत्तियाँ अधोगामी होती है और क्रियाएँ भी अनीतियुक्त ही बन पड़ती हैं, पर दैत्य में ऐसे दुर्गुण होना आवश्यक नहीं । अंग्रेजी के 'जाइन्ट' शब्द से दैत्य स्तर का अनुमान लगाया गया है ।

हठयोग की हर क्रिया प्रतिरोधक है । जिस प्रकार नदी प्रवाह को रोक कर बाँध बनाया जाता है और फिर उससे बिजली बनाने, नहर निकालने जैसी व्यवस्थाएँ बनाई जाती हैं । हठयोग में भी ऐसी ही होता है । उसमें प्रकृति प्रेरणा से चल रहे क्रिया-कलापों को उल्टा जाता है । जैसे मल-मूत्र त्यागने के छिद्र स्वाभाविक स्थिति में अपने प्रवाह नीचे की ओर ही बहाते हैं पर वज्रोली क्रिया द्वारा उन्हें इसके लिए प्रशिक्षित किया जाता है कि वह नीचे से ऊपर की ओर जल खींचने का काम करें ।

ऐसे उल्टे कृत्यों को ही हठवाद कहते हैं—हठयोग भी । इन्हें सरकस के उस खेल की तरह समझना चाहिए जिसमें शेर को बकरा अपनी पीठ पर लाद कर चलने का कौतुक दिखाया जाता है । दर्शक इस अनहोनी बात को होता हुआ देखते हैं, तो आश्चर्य से चकित रह जाते हैं ।

यह प्रशिक्षण अति कठिन है । बकरे के मन में से भय निकालना और सिंह को बकरा देखते ही छूट पड़ने की प्रवृत्ति को काबू में लाया जाता है । यह सामान्य नहीं असामान्य बात है । इसमें असाधारण कौशल एवं साहस की आवश्यकता पड़ती है, पर साथ ही जोखिम भी रहता है । हठयोग की क्रियाओं में भूल हो जाने से उस मार्ग में संकट भी खड़े हो सकते हैं और कई बार तो अनर्थ तक की आशंका रहती है । इसलिए हठयोग का शिक्षण अनुभवी गुरु के पास रह कर ही किया जाता है । भयंकर घाव वाले रोगियों का अस्पताल में भर्ती करके ही इलाज होता है । ताकि समय-समय पर आने वाले उतार-चढ़ावों से निपटा जा सके ।

किन्तु मध्यवर्ती सामान्य रोगों की स्थिति में भर्ती किए जाने की आवश्यकता नहीं रहती । दवा दे देने, पथ्य बता देने तथा आवश्यक सावधानियाँ बरतने की हिदायत देकर उसे घर पर ही रखकर इलाज कराते रहने का परामर्श दे दिया जाता है, क्योंकि उससे किसी बड़ी आशंका की कोई सम्भावना दीख नहीं पड़ती ।

जोखिम वाले खेल—खेल निष्णातों को ही खिलाये जाते हैं । आरम्भिक शिक्षार्थियों से हलकी-फुलकी क्रियाएँ ही कराई जाती हैं । आर्ट, कॉमर्स आदि विषयों को लेकर पढ़ने वालों को पत्राचार विद्यालय में नाम लिखाने से भी काम चल जाता है, किन्तु साइन्स पढ़ने वाले को अध्यापकों से क्रियात्मक शिक्षण प्राप्त करना पड़ता है । इसलिए उनका स्कूल प्रवेश अनिवार्य माना जाता है ।

राजयोग और हठयोग में यही अन्तर है । हठयोग ऐसा है, जैसा हिंसक पशुओं से भिड़ने, उन्हें वशवर्ती बनाने का कौशल और राजयोग ऐसा है जैसा, गौ-पालन । गौ-पालन में थोड़ी उपेक्षा रहने पर इतनी

ही हानि है कि दूध कम मिले । वैसे कोई जोखिम उसमें नहीं । राजयोग के साधकों को देर लग सकती है । कम लाभ में सन्तोष करना पड़ सकता है, पर उसमें जोखिम उठाने जैसी कोई आशंका या कठिनाई नहीं ।

ब्रह्मचर्य के लिए वज्रोली क्रिया का हठयोग में विधान है । आरम्भ में शुद्धि के लिए मूत्र मार्ग में जल चढ़ा कर स्वच्छ किया जाता है । पीछे जब नीचे से ऊपर खींचने की क्रिया का अभ्यास हो जाता है तो वीर्य की अधोगामी प्रवृत्ति को प्रतिबन्धित करके ऊपर चढ़ाने एवं मस्तिष्क तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है । इससे वीर्यपात की हानियाँ रुकती हैं और उस बहुमूल्य तत्व को मस्तिष्क में ले जाकर प्राण शक्ति बढ़ाने से लेकर मानसिक पराक्रमों को अधिक सरल एवं सफल बनाया जाता है । यह सफल हो सके तो शरीर में से निकलने वाले प्राण तक को रोक कर ब्रह्मरन्ध्र में छिपाया जा सकता है और निर्धारित आयु से कहीं अधिक जिया जा सकता है ।

हठयोग की इस वज्रोली क्रिया को राजयोग में अति सरल बना दिया गया है । उससे लाभ लगभग उसी प्रकार के होते हैं, जैसे वज्रोली क्रिया में । पर गति अवश्य मंथर रहती है और सफलता भी समय साध्य गतिशीलता के अनुरूप आगे बढ़ती है ।

वज्रोली क्रिया में आसन इस प्रकार लगाया जाता है कि एड़ी से या एड़ी से ऊपर की हड्डी गुदा और जननेन्द्रिय मूल को हल्का-सा दबाती रहे । यह दबाव इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि उस क्षेत्र में अवस्थित पौरुष ग्रन्थियों या जननेन्द्रिय की ओर जाने वाली नसों पर अधिक दबाव डालें और उनकी स्वाभाविक क्रिया में अवरोध उत्पन्न करें । इस योजना के लिए उस केन्द्र का हल्का-सा स्पर्श ही पर्याप्त है जिससे यह अनुभव होता रहे कि यहाँ कुछ हल्की रोकथाम जैसी चेष्टा की गई है ।

अब गुदा मूल को ऊपर खींचना चाहिए । इसके लिए साँस भी खींचनी पड़ती है । गुदा को ऊपर खींचने के साथ-साथ जननेन्द्रिय की मूत्रवाहिनी नसें भी ऊपर खिंचती हैं । इस खिंचाव को इसी स्तर का समझना चाहिए जैसे कि कभी-कभी मल-मूत्र त्यागने की इच्छा होती है पर वैसा अवसर नहीं होता है । अतएव उन वेगों को रोकना पड़ता है । रोकने का तरीका एक ही है कि उस क्षेत्र को ऊपर खींचा जाय । माँसपेशियों को ऊपर सिकोड़ा जाय ।

वज्रोली मुद्रा में यही करना पड़ता है । साँस ऊपर चढ़ाते हुए गुदा क्षेत्र की समस्त माँसपेशियों को ऊपर की तरफ इस प्रकार चढ़ाया जाता है मानो किसी पिचकारी द्वारा पानी ऊपर खींचा जा रहा है ।

खींचने की शक्ति जब न रहे तो फिर जैसे धीरे-धीरे खींचने की क्रिया की गई थी उसी प्रकार उसे नीचे उतारने छोड़ने की क्रिया करनी चाहिए । दोनों ही बार जल्दबाजी न की जाय । उसे धीमी गति से ही ऊपर चढ़ाया और नीचे उतारा जाय । स्मरण रहे इस माँसपेशी संकोचन के साथ प्राणायाम की तरह वायु को भी ऊपर चढ़ाने छोड़ने का तारतम्य मिलाये रहना पड़ता है ।

आरम्भ में यह क्रिया दस बार की जाय, फिर प्रति सप्ताह एक की संख्या और बढ़ाते चला जाय । इसका अंत २४ आकुंचन-प्रकुंचनों पर समाप्त हो जाना चाहिए ।

यह क्रिया ब्रह्मचर्य में सहायक होती है । वीर्य का उर्ध्वगमन सम्भव करती है । वह ओजस्, तेजस् में बदलता है और शीघ्र-पतन, स्वप्न दोष, प्रमेह जैसे रोगों में आशाजनक लाभ होता है ।

(६) **विपरीत करणी मुद्रा**—प्रथम दोनों पैरों को लम्बे फैला कर बैठ जाना चाहिए । दोनों घुटनों पर दोनों हाथ रखें । कमर, पीठ, और सिर समान स्थिति में रखें । छाती को अल्प प्रमाण में फुला के रखें । आँखें बन्द रखें । शरीर को साधारण प्रमाण में तान कर रखें । दोनों नथुनों से पाँच बार घर्षण (श्वास को एक बार पूरक करके तुरन्त ही बाहर निकालना यह एक घर्षण कहा जाता है ।) कर दोनों नासिका द्वारा पूरक करें यथा शक्ति कुम्भक के पश्चात दोनों नासा-रन्ध्र से रेचक करें । यह एक विपरीत करणी मुद्रा सम्पूर्ण हुई ।

मुद्रा आरम्भ से अन्त तक मूल बन्ध कायम रखें । कुम्भक के समय में जालंधर बन्ध करे और रेचक के समय में उड्डीयान बन्ध करे । पूरक चार मात्रा और कुम्भक १६ मात्रा और रेचक ७ मात्रा का प्रमाण से करे । इसी नियम से प्रकृति और शक्ति के अनुकूल

अधिक प्रमाण में पूरक, कुम्भक और रेचक की मात्रा बढ़ा सकते हैं ।

४ दिनों तक ४ मुद्राएँ, ४ से १० दिनों तक ६ मुद्राएँ, १० से १६ दिन तक ८ मुद्राएँ, १६ से २४ दिनों तक १० मुद्राएँ, २४ से १ महीने तक १२ मुद्राएँ पश्चात शक्ति, समय तथा लाभ के अनुकूल १२ से १६ विपरीत करणी मुद्राएँ कर सकते हैं ।

इस मुद्रा का लाभ यह है कि इससे आँखों की दृष्टि बढ़ती है । निद्रा अच्छी आती है, बुद्धि तीव्र और स्थिर होती है । वीर्य सम्बन्धी तमाम रोग नाश होते हैं । कमर की वेदना नष्ट होती है, कंठ का स्वर मधुर बनता है, स्मरण शक्ति बढ़ती है, मन में शुभ विचार आते हैं, अपच रोग नहीं रहता, मल बद्धता नहीं रहती है, मुख पर तेज और सौन्दर्य बढ़ता है, रक्त शुद्ध होता है, फेफड़े सशक्त बनते हैं, चित्त पवित्र हो जाता है । कार्य कुशलता में प्रवीणता आती है । निरन्तर यह मुद्रा करने से सारे शरीर में अनूहद शक्ति बढ़ती है । आज्ञा चक्र में से प्रत्येक स्त्री, पुरुषों को चन्द्रामृत टपकता है, उस चन्द्रामृत को कुण्डलिनी शक्ति खा जाती है, किन्तु विपरीत करणी मुद्रा करने वाले स्त्री-पुरुषों का चन्द्रामृत व्यर्थ नहीं हो जाता है; सारे शरीर में प्रसरता है । इस मुद्रा का सतत अभ्यास करने से कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है । कर्माशत कोश नाश होता है । सर्व अवयव सर्वांग सुन्दर बनते हैं । इतना ही नहीं किन्तु और भी अनेक लाभ इस मुद्रा से प्राप्त होंगे ।

इस मुद्रा को १० वर्ष से १०० वर्ष तक के सर्व स्त्री, पुरुष कर सकते हैं । मुद्रा कर २० मिनट के पश्चात भोजन कर सकते हैं । रजो दर्शन के समय ५ दिनों तक और गर्भ धारण से लेकर प्रसूति के पश्चात दो महीने तक स्त्रियाँ नहीं करें । प्रातः काल ४ से ७ बजे तक अभ्यास करने के लिए उत्तम समय है । सायंकाल भी अभ्यास हो सकता है, किन्तु सायंकाल अभ्यास करने से अधिक लाभप्रद नहीं होगा । दिन में एक समय अभ्यास करना चाहिए ।

(७) **चेतन मुद्रा**—यह बैठे-बैठे या खड़े-खड़े भी की जाती है । क्रम इस प्रकार है—हाथों के अँगूठों से कान के छेद बन्द करें, तर्जनियों से नेत्र, पूरा श्वास खींच लें । अब मध्यमा उँगलियों से नासिका पुट तथा अनामिका और कनिष्का (छिंगुली) से मुख पर दबाव दें । ठोड़ी कंठ कूप में जालन्धर बन्ध की तरह लगायें । अब अन्दर की श्वास का दबाव सारे चेहरे पर डालें । मुँह फूल जाय तथा चेहरे के हर भाग पर दबाव अनुभव हो । सभी छिद्रों पर हाथ की उँगलियों का पर्याप्त दबाव बनाये रखें । सामान्य रूप से इस स्थिति में कुछ सेकण्ड रुकें, फिर धीरे से वायु का दबाव बन्द करें । ठोड़ी कंठ से हटायें और उँगलियों का दबाव ढीला करके श्वास धीरे से बाहर निकाल दें । यह एक प्रयोग हुआ प्रारम्भ में तीन बार करें । आवश्यकतानुसार एक-एक करके बढ़ाया जा सकता है । इसे करने के बाद हथेली से चेहरे को तथा उँगलियों के अग्रभाग से सिर को सहला देना चाहिए । जितना दबाव अच्छा लगे उतना दबाव इस मालिश में डाला जा सकता है ।

यह शरीर को सचेष्ट बनाती है । आलस्य, तन्द्रा आदि से मुक्ति देती है । शिरोभाग के अवयवों को पुष्टि बनाती है । मस्तिष्क रोगों की सम्भावना को हटाती है । मानसिक क्षमता वृद्धि में सहायक है ।

(८) **उन्मनी मुद्रा**—यह मुद्रा ध्यान के लिए उपयोगी है । ध्यान के उपयुक्त किसी भी आसन में इसका अभ्यास किया जा सकता है ।

सीधे बैठें । नेत्र हल्के से बन्द करें इतने कि नीचे देखने पर पलकों के बीच से प्रकाश आने का अभ्यास होता रहे । पलक स्थिर स्थिति में रहें, परन्तु पुतलियों को सहज स्थिति में रखा जाय, साथ ही ध्यान भूमध्य में रखें । ध्यान भूमध्य में रखने के प्रयास में प्रारम्भिक साधकों की पुतलियाँ भी ऊपर खिंच जाती हैं ऐसा होने पर थोड़ी देर में नेत्रों में दर्द-सा होने लगता है । पुतलियाँ ठीक स्थिति में रहें तो यह कठिनाई नहीं आती ।

यह मुद्रा सध जाने पर ध्यान में गति बढ़ जाती है । प्राण इन्द्रियों एवं मन सहित मूर्छित जैसा हो जाता है । बुद्धि में स्थिरता आने से साधक की पकड़, जप, ध्यान सभी उपचारों में अधिक सटीक हो जाती है ।

उपरोक्त मुद्राओं के अभ्यास से ध्यान में तथा चित्त को एकाग्र करने में बहुत सहायता मिलती है । इनके माध्यम से शरीर के अवयवों तथा उनकी क्रियाओं

को प्रभावित नियन्त्रित किया जा सकता है । मुद्राओं का सीधा प्रभाव अतःस्रावी ग्रन्थियों पर पड़ता है और सक्रिय होकर वे अपना कार्य करने लगती हैं ।

बन्ध प्रयोग—उच्चस्तरीय योग साधनाओं में बन्धों का प्रमुख स्थान है । ध्यानात्मक आसनों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए उनके साथ-साथ तीन बन्ध साधने चलने की व्यवस्था योगियों ने की है । प्राणायाम के लिए ये बन्ध पूरक एवं सहयोगी सिद्ध होते हैं । इनका पूर्ण फल स्वतन्त्रतः तो नहीं, ध्यानात्मक आसनों व प्राणायाम के साथ ही मिलता है जो मानसिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष के रूप में होता है, ये कुल तीन हैं—

(१) मूल बन्ध

(२) जालन्धर बन्ध

(३) उड्डीयान बन्ध

मूल बन्ध—प्राणायाम करते समय गुदा के छिद्रों को सिकोड़ कर ऊपर खींचे रहना मूल बन्ध कहलाता है । प्राण की अधोगति रुककर ऊर्ध्वगति होती है । मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में मूल बन्ध से स्फुरण होता है । अपान और कर्म दोनों पर ही मूल बन्ध का प्रभाव पड़ता है । ये जिन वस्तुओं पर बिखरे फैले रहते हैं, उनका केन्द्रीयकरण एक स्थान पर होने लगता है । इसे मूल (जड़) बन्ध इसीलिए कहा जाता है कि वह मनुष्य शरीर के मूल को बाँध देता है । वीर्य का अधः प्रवाह रुककर स्थिरता आती है ।

जालन्धर बन्ध—मस्तक को झुकाकर ठोड़ी को कण्ठकूप में लगाने को जालन्धर बन्ध कहते हैं । जालन्धर का अर्थ है जाल को धारण करना अर्थात् ज्ञानतन्तुओं को स्थिर नियोजित करना । इससे प्रतिक्षण भटकते मस्तिष्क को शान्ति मिलती है । चित्तवृत्त शान्त होकर स्वास्थ्य और आयु बढ़ती है । इस क्रिया से श्वास-प्रश्वास की गतियों पर अधिकार होता है एवं ज्ञानतन्तु बलवान होते हैं । विशुद्ध चक्र के जागरण में जालन्धर बन्ध से बड़ी सहायता मिलती है ।

उड्डीयान बन्ध—पेट में स्थित आँतों को पीठ की ओर खींचने की क्रिया को उड्डीयान बन्ध कहते हैं । पेट को ऊपर की ओर जितना खींचा जा सके, उतना खींचकर उसे पीछे की ओर पीठ में चिपका देने का प्रयत्न इस बन्ध में किया जाता है । जीवनी शक्ति को बढ़ाकर दीर्घायु तक जीवन स्थिर रखने का लाभ इससे मिलता है । आँतों की निष्क्रियता दूर होती है एवं पेट की अंदरूनी मालिश हो जाती है । इसके आध्यात्मिक लाभ इससे कहीं अधिक हैं । संस्कृत में 'उड्डीयान' शब्द का अर्थ है 'उड़ना' । कुण्डलिनी को जागृत करने अर्थात् चित्तवृत्तियों को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी करने की पहली सीढ़ी वही है । उससे सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुलता है एवं स्वाधिष्ठान चक्र में चेतना आती है । साधना के लिए वे आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं जो अगले ऊँची श्रेणी के उपचारों का पथ प्रशस्त करती हैं ।

यह तीनों बन्ध आसनों एवं प्राणायामों के साथ प्रयुक्त होते हैं । मूल बन्ध का सहज अभ्यास भी लाभप्रद होता है । जालन्धर बन्ध मुख्य रूप से कुम्भक के समय प्रयुक्त होता है । उड्डीयान बन्ध का प्रयोग प्राणायाम में कुम्भक तथा रेचक के समय किया जाता है । स्वतन्त्र रूप से उदर व्यायाम के रूप में, नौलि क्रिया के प्राथमिक अभ्यास क्रम में भी उसकी भूमिका है । कुण्डलिनी साधना शक्तिचालिनी मुद्रा आदि के साथ यह प्राणोन्नयन में सहायक होता है । यह एक संक्षिप्त विवेचन है । साधकों को इनके विशिष्ट प्रयोग प्रत्यक्ष आवश्यकता देखकर ही बतलाये जाते हैं ।

तीनों बन्धों का अर्थ एक बार फिर से समझ लेना चाहिए—

मूल बन्ध यानी गुदा द्वार (मलद्वार) को संकोचन करना, उड्डीयान बन्ध याने पेट को अन्दर ले जाना, जालन्धर बन्ध याने दाढ़ी को कंठ कूप में लगाना ।

मुद्राओं का विस्तार तो यहाँ नहीं दिया जा रहा है, परन्तु इनकी महत्ता ध्यान-धारणा के प्रयोगों में तथा कुण्डलिनी-प्राणयोगों में सहायक साधना उपक्रमों के रूप में समझी जानी चाहिए । इन्हें आसन, मुद्रा, प्राणायाम के साथ ही प्रयुक्त किया जाता है । खेचरी मुद्रा मूलतः ध्यान योग की लययोग साधना है जिसमें क्रिया का कम व भाव पक्ष का अधिक महत्त्व है । शक्तिचालिनी मुद्रा के अन्तर्गत मल-मूत्र संस्थान को संकुचित कर बार-बार ऊपर खींचा व फिर शिथिल किया जाता है । मूल बन्ध के साथ प्रयुक्त होने पर यह मूलाधार-शक्ति क्षेत्र को जागृत करने में सहायक की भूमिका निभाती है । चेतन, उन्मनी, विपरीत करणी आदि मुद्राओं की चर्चा यहाँ संक्षिप्त रूप में ही

की गई है । शिथिलीकरण मुद्रा का अभ्यास योग निद्रा के साथ किया जाता है । इसे तथा खेचरी मुद्रा को अलग से इसी अध्याय में दिया गया है । प्रस्तुत चर्चा में उद्धृत साधना प्रयोगों को मुख्य साधना उपचार के सहयोगी उपक्रमों के रूप में ही समझा जाय । साधक के आत्म-विश्वास को बढ़ाने तथा चित्तवृत्ति निरोध के अभ्यास में, उच्चतर आयामों में प्रवेश की गति को और भी तीव्र बनाने में ये महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।

बन्ध मुद्राओं का स्थूल तथा सूक्ष्म प्रभाव

हठयोग प्रदीपिका में दीर्घायु प्राप्त की जाने वाली नौ मुद्राओं का वर्णन किया गया है—जो निम्न हैं—

(१) महामुद्रा, (२) महाबन्ध, (३) उड्डीयान बन्ध, (५) मूलबन्ध, (६) जालन्धर बन्ध, (७) विपरीत करणी, (८) वज्रोली, (९) शक्तिचालिनी ।

मुद्राओं के द्वारा मस्तिष्क के न्यूरोनल सर्किट या मस्तिष्क को जगा कर शक्ति को सहज सजग चेतना के स्तर तक लाया जा सकता है ।

नलिका विहीन रासायनिक ग्रन्थियों को उत्तेजित कर या अन्य केन्द्रों को परिचालित कर शरीर के अनैच्छिक अवयवों को अधिकृत कर सकते हैं जिससे शरीर के समस्त अवयवों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है ।

मुद्राओं से मस्तिष्क में अल्फा तरंगें अधिक बनने लगती हैं । इन मुद्राओं की अधिक समय तक करने से ध्यानयोग या एकाग्रता की क्रिया बनती है जिससे हमारी बौद्धिक क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं जिसके सतत अभ्यास से कुण्ठा, हिस्टीरिया, निराशा, दुःख, चिन्ता आदि से छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है । साथ ही मानसिक क्रियाओं और विचारों पर भी नियन्त्रण प्राप्त होता है ।

योग साधना में वर्णित 'बन्ध' विधि में किसी प्रकार का बन्धन नहीं है जैसा कि शब्दार्थ से प्रतीत होता है । अपितु चक्रों के आयनोप्लाज्मिक क्षेत्रों को सक्रिय व विस्तृत करने की विधि है । बन्ध तीन होते हैं इनके अलग अभ्यास से विभिन्न चक्रों के आयनिक क्षेत्रों को जागृत करने में सहायता मिलती है किन्तु तीनों बन्धों का एक साथ अभ्यास करने से चौथा महाबन्ध हो जाता है जो सबसे ज्यादा प्रभावी व कारगर सिद्ध होता है ।

इन बन्धों का चक्रों पर पड़ने वाले प्रभाव को समझाने के लिए हम सुषुम्ना के अगल-बगल इड़ा व पिंगला को थ्री डाइमेंशन में घूमता हुआ एक विद्युत क्वायल मान सकते हैं । जब मूलबन्ध का अभ्यास किया जाता है तो उससे मूलाधार चक्र के चारों ओर आयनिक क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उसकी सघनता समाप्त हो जाती है । इसी प्रकार उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से मणिपुर चक्र के चारों ओर की सघनता नष्ट हो जाती है और उसके चारों ओर का आयनिक क्षेत्र विस्तृत होता जाता है । साथ ही जब मूलबन्ध के साथ उड्डीयान बन्ध का अभ्यास किया जाता है तो मूलाधार से लेकर स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य का आयनोप्लाज्मिक क्षेत्र विस्तृत हो जाता है ।

तीसरा है जालन्धर बन्ध, जालन्धर बन्ध के अभ्यास से विशुद्धि चक्र के चारों ओर का आयनिक क्षेत्र अपनी सघनता छोड़ विस्तृत होता जाता है और इसकी तरंगों का प्रभाव ऊपर की ओर उठता हुआ अज्ञानचक्र व अनहद चक्र को प्रभावित करता है । जालन्धर बन्ध का अभ्यास उड्डीयान बन्ध के साथ किए जाने से स्वाधिष्ठान चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक का आयनोप्लाज्मिक क्षेत्र विस्तृत हो जाता है । इसी प्रकार जब तीनों बन्धों अर्थात् मूलाधार, उड्डीयान एवं जालन्धर बन्ध का एक साथ अभ्यास किया जाता है तो इसे महाबन्ध की स्थिति कहा जाता है । इसके अभ्यास से मूलाधार चक्र से लेकर आज्ञाचक्र व अनहद चक्र तक का आयनिक क्षेत्र अपनी सघनता त्याग कर विस्तार ग्रहण करता है जिससे प्राणशक्ति या प्राण ऊर्जा विकसित होती है । सभी चक्रों को जागृत करने में सहायता मिलती है । इस प्रकार योगाभ्यास की इस प्रक्रिया से मानसिक सक्रियता बढ़ जाती है और जो अति मानवीय क्षमता प्राप्त करने में काफी सहायक सिद्ध होती है ।

बन्ध और मुद्राएँ प्रत्यक्षतः शरीर के सामान्य अवयवों पर ही दबाव डालने लगते हैं, पर परोक्ष स्थिति का पता लगाने पर प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिक्रिया अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर भी होती है ।

यह दिन-दिन स्पष्ट होता जाता है कि हृदय, फेफड़ा, आमाशय, वृक्क आदि गतिविधियों का स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है उससे भी अधिक प्रतिक्रिया अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से रिसने वाले हारमोनों की होती है । उनकी तनिक भी न्यूनाधिकता अथवा व्यवस्था अस्तव्यस्तता से शरीर ही नहीं, मस्तिष्क भी कुछ से कुछ होने लगता है । अभी तक वह उपाय हस्तगत नहीं हुआ है, जिन हारमोनों के उद्‌गम अथवा स्राव में अभीष्ट हेर-फेर किया जा सके । चिकित्सा विज्ञान को इस भारी कमी को बन्ध और मुद्राओं के माध्यम से ठीक करने का नया मार्ग मिला है । ऐसा नया जो चिर पुरातन भी है और जिसका प्रयोग भारतीय योग विज्ञानी चिरकाल से करते रहे हैं । उड्डीयान बन्ध से थायरॉइड का सन्तुलन ठीक करने में भारी सहायता मिलती है ।

थायरॉइड ग्रन्थि शरीर में, गले में स्थित वह ग्रन्थि है, जिसका यदि वजन किया जाय तो इसका भार १५ से २० ग्राम होता है । इस ग्रन्थि में अनेक छिद्र होते हैं, जिनमें जीवनोपयोगी हारमोन जैसे थायरोक्सिन आदि रहते हैं । खाद्य-पदार्थों में पाया जाने वाला (आयोडीन तत्व) शरीर को भोजन द्वारा मिलता है और ग्रन्थि इस तत्व को भोजन से ले लेती है ।

थायरॉइड ग्रन्थि परस्पर सम्बद्ध तथा अन्योन्याश्रित आठ इण्डोक्राइन ग्रन्थियों में से एक है । इन इण्डोक्राइन ग्रन्थियों को कुण्डलिनी योग का अभ्यास करके स्वस्थ बनाया जा सकता है ।

योग के द्वारा थायरॉइड ग्रन्थि को क्रियाशील बनाया जाता है और इण्डोक्राइन ग्रन्थि प्रणाली तथा स्नायु-तन्त्र के साथ इसका सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं ।

सूक्ष्म शरीर विज्ञान में चक्र, ग्रन्थि, उपत्यिका आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उन्हें जागृत, समर्थ और प्रखर बनाने के लिए कितने ही प्रकार के अभ्यास किए जाते हैं । ध्यान धारणा के मानसिक प्रयोग भी उस प्रयोजन के लिए किए जाते हैं । इनमें सरल उपाय बन्ध मुद्राओं का है । आसन प्राणायाम की तरह बन्ध मुद्राओं का प्रभाव भी स्थूल शरीर की तरह ही सूक्ष्म शरीर पर भी पड़ता है । चक्रों के जागरण से कोई अतीन्द्रिय क्षमताओं को विकसित होने के लाभों की चर्चा होती रहती है । उनके लिए प्रयुक्त होने वाले अन्यान्य उपचारों में बन्ध और मुद्राओं का भी स्थान है ।

हमारे शरीर में सात मुख्य चक्र हैं । इनका स्थूल शरीर में भी प्रकटीकरण हुआ है उनमें से अधिकतर मेरुदण्ड में स्थित हैं और लगभग उन्हीं स्थानों पर हैं जहाँ अन्य इण्डोक्राइन ग्रन्थियाँ पायी जाती हैं । इन्हीं स्थानों पर स्नायु जाल भी हैं और यहीं पर स्नायु एकत्र भी होते हैं । इस प्रकार स्नायुओं, ग्रन्थियों और चक्रों के बीच एक सम्बन्ध है । चक्र ऊर्जा बिन्दु है । हमारे अस्तित्व के उच्चतम स्तरों से ऊर्जा इन्हीं बिन्दुओं से होती हुई शरीर में प्रवेश करती है, ऐसा लगता है कि शरीर के अन्दर स्थित ऊर्जा के विभिन्न स्तरों को किसी सुई-डोरे से खींच-खींचकर चक्र बिन्दुओं पर बाँध दिया गया हो ।

इण्डोक्राइन ग्रन्थियाँ चक्र से सीधे सम्बन्धित हैं, थायरॉइड ग्रन्थि उसी जगह है जहाँ विशुद्धि चक्र स्थित है । विशुद्धि का अर्थ है, शुद्धिकरण । स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के विलियम ए-टिलर के अनुसार यदि हम ग्रन्थियों और चक्रों के सम्बन्धों को भली प्रकार समझ लें तो शरीर की शक्ति असीमित रूप से बढ़ाई जा सकती है । इण्डोक्राइन ग्रन्थियाँ और उनके पास स्थित चक्रों के जोड़े ब्रह्माण्ड की ऊर्जा खींचकर शरीर में भर देते हैं, जब शरीर की ऊर्जा प्रणालियाँ सन्तुलित होती हैं तभी शरीर शक्ति का अधिकतम उपयोग करता है । अन्यथा नहीं ।

बन्धों के द्वारा शरीर के विशेष स्थानों पर रक्त प्रवाह एवं प्राण-संचार में रोक लगती है और नियन्त्रण होता है । विभिन्न शारीरिक अवयवों में प्राण एवं रक्त का प्रवाह संयत किया जा सकता है । साधना में प्रयुक्त होने वाले मुख्य बन्ध तीन हैं—(१) मूलबन्ध, (२) उड्डीयान बन्ध, (३) जालन्धर बन्ध ।

पाण्डिचेरी के "जवाहर लाल इन्स्टीट्यूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट मेडीकल एजुकेशन एण्ड रिसर्च" के फिजियोलॉजी विभाग के डॉ. गोपाल, एम. बटमैन और एस. लक्ष्मण ने बन्धों का नाड़ी, हृदय एवं ब्लडप्रेशर पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन प्रयोगों द्वारा किया ।

उन्होंने १८ योगाभ्यासों पर प्रयोग करके देखा कि प्राणायाम के साथ जब बन्ध लगाने की क्रिया की जाती है तो रक्त-वाहनियों पर दबाव पड़ने से हृदय

की धड़कन एवं रक्तचाप (ब्लड प्रेशर) में कमी हो जाती है । साथ ही शरीर एवं मस्तिष्क को विश्राम देने में मदद मिलती है ।

डॉ. गोपाल एवं उनके साथियों, सहयोगियों का कहना है कि बन्धों के प्रयोग से योगाभ्यास द्वारा 'ब्लड प्रेशर' का उपचार किया जा सकता है । उन्होंने सुझाव दिया है कि रक्तचाप की चिकित्सा के लिए जालन्धर बन्ध का प्रयोग किया जाय तथा रक्तचाप साधारण अवस्था में आने पर मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करना चाहिए । इनके अभ्यास से रक्तचाप को बढ़ने से रोका जा सकता है ।

इन प्रयोगकर्त्ताओं के अनुसार मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध साथ-साथ करने से रक्तचाप में राहत मिलती है । इस प्रकार के परीक्षणों की चर्चा उसने अपनी पुस्तक 'बन्ध शरीर विज्ञान का अध्ययन' में की है ।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार मूल बन्ध के अभ्यास से अपान व प्राण की एकता होती है । संचित मल-मूत्र का क्षय होता है तथा वृद्ध भी युवावस्था को प्राप्त होता है । मूलबन्ध के करने से अधोगामी अपान ऊर्ध्वगामी होकर जठराग्नि के मण्डल में पहुँचता है जिससे जठराग्नि की ज्वाला तीव्र होती है फिर अग्नि और अपान से ये दोनों ऊष्ण होकर ऊर्ध्वगति से प्राण में पहुँच जाते हैं जिसके समागम से जठराग्नि अत्यन्त प्रज्ज्वलित हो जाती है ।

बन्ध मुद्राओं का प्रभाव शरीर और मस्तिष्क पर क्यों होता है ? इसकी जाँच-पड़ताल शरीर विज्ञानियों ने गम्भीरतापूर्वक की है । इस प्रयोजन के लिए मस्तिष्कीय तरंगों के अध्ययन के आधार पर वायोफीड नामक नवीन मशीन का आविष्कार हुआ है जिसके सहयोग से व्यक्ति मन और मस्तिष्क को अपनी इच्छानुसार शान्त कर विश्राम की अवस्था को प्राप्त कर सकता है । लेंगली पोर्टर न्यूरोसाइकियाट्रिक इन्स्टीट्यूट' के जॉय कीमिया ने सिद्ध किया है कि जापानी झेन शिक्षक ध्यान अवस्था में साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक अल्फा तरंगों को दर्शाते हैं तथा वे अपनी इच्छानुसार कभी भी बन्द या प्रारम्भ कर सकते हैं । जॉय कीमिया का कथन है कि आनन्ददायक अनुभूति का कारण अल्फा तरंगों की उपस्थिति से अधीरता या व्यग्रता का शमन होता है ।

इस समय फीडवैक का अधिकाधिक चलन अमेरिका में है । यूरोप तथा अन्य औद्योगिक देश भी इनके लिए प्रयत्नशील हैं । लोगों की उत्सुकता इसलिए बढ़ रही है कि अल्फाबायोफीडवैक के प्रयोग से उन्हें उपविष टिकियों का प्रयोग बन्द कर देना पड़ेगा और वे अपनी मस्तिष्क की तरंगों पर व अनैच्छिक शारीरिक अवयवों पर चेतना के विभिन्न स्तरों पर अधिकार प्राप्त कर लेंगे ।

अपने मस्तिष्क की विद्युतीय तरंगों पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर बीमारियों पर भी अधिकार प्राप्त कर सकते हैं ।

शरीर के प्रति सजगता हमें अपने शरीर को चलाने में मदद करती है और गलत रास्ते में जाने से रोकती है । इस नियन्त्रण से ज्ञान सम्वर्धन होता है, प्रतिभा का विकास होता है ।

खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया और उपलब्धि

ध्यान योग की समस्त साधनाएँ व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाती हैं तथा साधक को आनन्द उल्लास का स्रोत अपने ही अन्दर खोजने, उसे उभारने व तद्जन्य सामर्थ्य से उसे अति मानवी क्षमताएँ धारण करने योग्य बनाती हैं । इन सभी साधना उपचारों में ब्रह्मरन्ध्र की साधना को महत्त्वपूर्ण माना जाता है जिसमें खेचरी मुद्रा के भाव प्रधान प्रयोगों का प्रावधान है । हठयोग के साधक तो इस साधना को मात्र जीभ लम्बी करके उसे उलटकर तालूमूर्धा तक लगाने, जिह्वा पर विभिन्न वस्तुओं का लेपन कर इसे थन की तरह दुहने का प्रयत्न करने तक सीमित मानते हैं । अतिवादी तो जीभ के नीचे की त्वचा को काटकर उसे और अधिक पीछे मोड़ने योग्य बनाते हैं । परन्तु ध्यान योग में इसके भाव पक्ष का ही प्राधान्य है, वही उस प्रक्रिया का प्राण भी है । इसमें ब्रह्मरन्ध्र को मस्तिष्क मध्य अवस्थित माना जाता है और वहाँ से सोमरस स्रवित होते रहने की कल्पना की जाती है । जीभ रूपी तन्मात्रा से इसी सोमरस का पान किया जाता है ।

सोमरस, अमृत कलश, जिह्वाग्र के सम्वेदनशील तन्तु, ब्रह्मरन्ध्र, तालुमूर्धा—इन सब शब्दों व इस प्रक्रिया

को समझने से पूर्व कुछ दार्शनिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों पर विचार करना होगा । परब्रह्म के अनुदान यों तो सारे जीवधारियों पर सृष्टि के अन्तराल से निरन्तर बरसते रहे हैं, परन्तु मनुष्य की बात अलग है । मानवी काया में कुछ ऐसे सूक्ष्म केन्द्र होते हैं जिनके माध्यम से इन अनुदानों को सहज ही अपने अन्दर ग्रहण अवशोषित किया जा सकता है । साधारण स्थिति में तो ये और प्राणधारियों की तरह प्रसुप्त ही पड़े रहते हैं परन्तु साधना पुरुषार्थ से इन सूक्ष्म शक्ति संस्थानों, चक्र-उपत्यिकाओं तथा ग्रन्थियों को विकसित समर्थ बनाया जा सकता है ।

ब्रह्मरन्ध्र मानवी मस्तिष्क में अवस्थित एक ऐसा स्थान है जिसे योग शास्त्र में रहस्यों से भरा, महिमायुक्त एवं ब्राह्मी चेतना का ही एक अंग माना गया है । तालुगह्वर से ऊपर स्थित, दोनों सेरिबल हेमीस्फियर्स (मस्तिष्क पटलों) के मध्य विद्यमान यह सूक्ष्म संरचना अदृश्य जगत से आने वाले प्रवाहों को रेडियो क्रिस्टल की तरह ग्रहण करती व आवश्यकतानुसार काया के विभिन्न अवयवों को भेजकर शेष अन्तरिक्ष में छोड़ देती है । यदि कोई यह उत्सुकता बताये कि ब्रह्मरन्ध्र स्थूल मस्तिष्क में कहाँ है, उसे इन चर्म चक्षुओं से क्या देखा जा सकना सम्भव है ? तो उसे निराश ही होना पड़ेगा । शरीर की सूक्ष्म संरचना कुछ इस प्रकार की है कि स्थूल अवयवों को उसके आंशिक प्रतीक के रूप में माना तो जा सकता है, पर पूर्णरूपेण उनका पर्यायवाची उन्हें नहीं कहा जा सकता । इस साधना से होने वाली फलश्रुतियों से सूक्ष्म अवयवों की सामर्थ्य का अनुमान तो लगाया जा सकता है, पर उन्हें आँखों से देखा नहीं जा सकता ।

आध्यात्मिक शरीर विज्ञान के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र को मस्तिष्क मध्य में उसकी अधो सतह पर स्थित कुछ महत्त्वपूर्ण अंगों के समीपस्थ माना जाता है । पिट्यूटरी ग्रन्थि की महत्ता से अब परिचित हैं । यहाँ से उत्सर्जित हारमोन्स सीधे रक्त में मिलकर पूरे शरीर की अचेतन-चेतन क्रियाओं, उसके शारीरिक विकास व मानसिक क्षमताओं के जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । पुरुषोचित दृढ़ता और स्त्रियोचित कोमलता, न केवल अंगों में अपितु स्वभाव-रुझान में भी इन्हीं रसस्रावों के कारण ही देखी जाती है । व्यक्तित्व का सुसन्तुलित गठन-संचालन ये सूक्ष्म-स्राव ही करते हैं । इसी पिट्यूटरी ग्रन्थि व भाव संस्थान के नियन्ता हाइपोथेलेमस के मध्य जो छोटा-सा स्थान है वह विशिष्ट तन्तुओं से बना है, विद्युत्प्रवाह से चारों ओर से ऐसे घिरा है—मानों एक फब्बारे के केन्द्र में कोई वस्तु रखी हो तथा लिम्बिक सिस्टम नामक एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र से जुड़ा हुआ है । यहीं पर पिट्यूटरी ग्रन्थि के न्यूरोसरकुलेटरी हारमोन्स तथा हाइपोथेलेमस को सिनेप्सों का समन्वय संयोग होता है । यह स्थान सेरिब्रोस्पाइनल फ्ल्यूड की थर्ड वेण्ट्रीकल नामक थैली में भरे द्रव्य से ऐसे घिरा है, मानों शिवजी के मस्तक से गंगा की धारा निकल रही हो । यहीं पर ब्रह्मरन्ध्र के ब्राह्मी चेतना के जीव चेतना में स्थित प्रतिनिधि के अवस्थित होने की कल्पना की जाती है ।

जिह्वाग्र से इस स्थान का क्या सम्बन्ध ? खेचरी मुद्रा में जिह्वा को पीछे घुमाकर धीरे-धीरे तालु के कोमल हिस्से मूर्धा को सहलाया जाता है, इसके पीछे क्या कारण हैं, इसकी भावात्मक व्याख्या तथा इस क्रिया के साथ की जाने वाली ध्यान धारणा के विस्तार में जाने से पूर्व जिह्वा की संरचना व पिट्यूटरी ग्रन्थि की उत्पत्ति-विकास पर कुछ विवेचन करेंगे ।

जिह्वा के सम्वेदनशील तन्तु पैपीली कहलाते हैं । अगले हिस्से पर वे सबसे सघन होते हैं । स्नायु तन्तु जहाँ समाप्त होते हैं व जिनके कारण जीभ स्वाद आदि का अनुभव करती है, 'टेस्टबड' नामक टर्मिनल बनाकर पैपीली में ही समाप्त होते हैं । प्रत्येक पैपीली एक स्वतन्त्र माइक्रोफाइण्ड इलेक्ट्रोड का काम करता है । इसे तालु मूर्धा से लगाने से प्रयोजन है, हौले-हौले सहलाकर वहाँ के कोष्ठकों को उत्तेजित करना । आध्यात्मिक दृष्टि से जीभ को मुख गह्वर में रहने वाली रसेन्द्रिय, ऋण विद्युत प्रधान—रयि शक्ति सम्पन्न मुखर कुण्डलिनी माना जाता है । सर्पिणी की उपमा इस पर भी सही रूप में लागू होती है । जीभ से डंक मारने की उक्ति, रसना से असंयम आदि वाणी तथा स्वाद के अधोगामी प्रवाहों से सभी परिचित हैं । हेय सलाह, छलछद्म द्वारा व्यक्ति वाणी का ही उपयोग कर कुमार्गगामी बनता है व दूसरों को बनाता है । यदि यह अनगढ़ प्रसुप्त मुख सर्पिणी जागृत-सुसंस्कृत हो सके तो अनेकों अनुदान उपलब्ध कराती है । जिस प्रकार

मूलाधार चक्र में स्फुरणा व कम्पन उत्पन्न कर कुण्डलिनी जागरण किया जाता है, सूर्य बेधन प्राणायाम तथा शक्तिचालिनी मुद्रादि का आश्रय लिया जाता है उसी प्रकार जिह्वा को ऊर्ध्वगामी बना, इस ऋण प्रवाह प्रधान शक्ति केन्द्र को धन विद्युत के केन्द्र मस्तिष्क की निचली सतह से जोड़कर एक सर्किट पूरा किया जाता है । जिह्वा और तालु की हल्की रगड़ से विशिष्ट आध्यात्मिक स्पन्दन आरम्भ होते हैं और इस उत्तेजना से उच्चकोटि के ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । योगी इसे अमृत निर्झर का रसास्वादन कहते हैं ।

ब्रह्मरन्ध्र की आध्यात्मिक विवेचना से पूर्व संरचना पर चिन्तन करते हैं तो ज्ञात होता है कि वह स्थान जहाँ जिह्वा को हल्के-हल्के स्पर्श किया जाता है, सीधे पिट्यूटरी से जुड़ा है । विचित्र बात यह है कि यहाँ पर (नेसोफैरिक्स) पिट्यूटरी ग्रन्थि की संरचना का ही पदार्थ माँसपेशियों में, स्नायु तन्तु के जाल में उलझा बैठा होता है । इसका कारण यह है कि गर्भकाल में पिट्यूटरी का जन्म तालु मूर्धा में ही होता है, यहीं से 'राथके पाऊच' नामक एक नलिका से यह विकसित हो मस्तिष्क के नीचे अवस्थित होने पहुँच जाता है । दोनों स्थानों को जोड़ने वाली नलिका जन्म के बाद बन्द हो जाती है पर बहुसंख्य महिलाओं-पुरुषों में इसका अस्तित्व तालु मूर्धा में होता है । इसे इलेक्ट्रोडों से उत्तेजित कर हारमोन्स का उत्सर्जन उन व्यक्तियों में वैज्ञानिक करने में सफल हुए हैं जिनका मस्तिष्क स्थित पिट्यूटरी काम करना बन्द कर देता है । कहने का आशय यह है कि इसी प्रसुप्त पिट्यूटरी के, हिस्से को जिह्वाग्र रूपी इलेक्ट्रोड से उत्तेजित कर न केवल हारमोन्स का स्राव रक्त में पहुँचा सकना सम्भव है, अपितु स्नायु संस्थान व रक्त प्रवाह को भी प्रभावित किया जा सकना पूर्णरूपेण सम्भव है, इसकी पुष्टि चिकित्सक डॉ. मैग्राथ ने ग्रैज एनाटॉमी के १९८० के संस्करण में अपने एडिनोहाइपोफाइसिस सम्बन्धी अध्याय में की है । यह एक स्मरणीय तथ्य है कि तालु मूर्धा के ठीक ऊपर काफी सघन रक्त प्रवाह, स्नायु जाल तथा सेरिब्रोस्पायनल द्रव्य से भरी थैलियाँ होती हैं । यह द्रव्य (सी. एस. एफ.) ही स्नायु संस्थान को पोषण देता है ।

खेचरी मुद्रा के माध्यम से आत्मा-परमात्मा के मिलन संयोग की अनुभूति आनन्द और उल्लास के रूप में होती है । सामान्य स्थिति में तो इनका अनुभव मनुष्यों को नहीं होता, पर इस योगाभ्यास द्वारा भगवान की मनुष्य की दो प्रेरणाएँ—सन्तुष्टि, आनन्द तथा उत्कृष्टता की ओर कदम बढ़ाने के लिए अदम्य उत्साह-उल्लास सहज ही मिलती है । ये इस साधना की सूक्ष्म प्रतिक्रियाएँ हैं । हर व्यक्ति के अन्दर भगवान इन्हीं दो प्रेरणाओं को निरन्तर पेण्डुलम गति से प्रदान करते रहते हैं । साधना में परिपक्वता के दो ही चिह्न हैं, ध्यान करते समय यह अनुभव होने लगे कि मानव जीवन जैसा अनुपम उपहार हमें उपलब्ध हुआ है । हमें छोटे-छोटे अभावों पर ध्यान न देकर समस्वरता की स्थिति में सन्तुलित जीवन जीना चाहिए । यही सच्चा आनन्द है । आनन्द अकेला नहीं आता, उल्लास भी साथ लेकर आता है । उच्चस्तरीय प्रयासों के लिए प्रचण्ड कर्मठता अपनाने हेतु अदम्य उत्साह, स्फूर्ति एवं उमंग ही उल्लास है । अपनी प्रौढ़ावस्था में यह उल्लास ईश्वरीय अनुशासन के अनुरूप नीति निर्धारण हेतु मचलने पर साधक को विवश कर देता है । यही भगवान की भक्त से वार्तालाप की चैनेल है, यही आत्मा-परमात्मा का परस्पर सम्वाद है ।

मनीषी जिह्वा को तालु से लगाने और सहलाने से सोमरस के निर्झरित होने की चर्चा करते हैं । वस्तुस्थिति यह है कि सोमरसपानजन्य मादकता ही आन्तरिक मस्ती है । उत्कृष्ट भावनाओं में रमण अपने में एक अलग ही प्रकार की अनिर्वचनीय आनन्ददायक अनुभूति देता है । यह मात्र अलंकारिक वर्णन उस मिठास के लिए है जो अमृत में होती है और जिसका रसास्वादन जिह्वा तालु स्पर्श से करती है । खेचरी मुद्रा में इस स्पर्श से मिठास प्रधान स्वाद की अनुभूति होती है और लगता है उसमें कुछ मादकता भी साथ है । यह समाधि स्थिति के पूर्व की आनन्द मग्न होने की स्थिति है । चित्त की चंचलता नष्ट होकर मन उत्कृष्ट विचारों में लगने लगता है ।

गोरक्ष संहिता में शास्त्रकार ने कहा है—

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वा सिद्धं नमस्कृता ॥

अर्थात्—जिस योगी का चित्त चंचल नहीं होता और जिसकी जिह्वा खेचरी में रमण करती है, उसी

की खेचरी मुद्रा सिद्ध है । अर्थात्, चित्त की तन्मयता खेचरी साधना का एक अनिवार्य अंग है ।

यह चिर तन्मयता ही खेचरी साधना की परिणति-प्रतिक्रिया है । वस्तुतः यह भाव पक्ष ही इस साधना प्रक्रिया का प्राण है । इसमें क्रिया तो कम है परन्तु ध्यान अधिक । जिह्वा को सरलता से जितना पीछे तालु से सटाकर ले जा सके, ले जाते हैं व इसके उपरान्त ध्यान करते हैं मधु के छत्ते के समान तालु छिद्र से सोम अमृत का, सूक्ष्म रस स्राव हो रहा है । यह रस जिह्वा के गहन अन्तराल में निवास करने वाली रस तन्मात्रा द्वारा ग्रहण किया जा रहा है । इससे अक्षय आनन्द की उत्पत्ति रोम-रोम में हो रही है । इस प्रक्रिया से होने वाली सफलताओं एवं साधक को प्राप्त अतीन्द्रिय क्षमताओं, दिव्य सामर्थ्यों से शास्त्र भरे पड़े हैं । इसी कारण इसे हठयोग में नहीं, ध्यानयोग में ही गिना जाता है क्योंकि यह एक उच्चस्तरीय ध्यान प्रक्रिया ही है । शिव संहिता, घेरण्ड संहिता, योग कुण्डल्युपनिषद्, योग रसायनम् आदि ग्रन्थों में इस प्रक्रिया के अनेकों लाभ बताये गए हैं । इनमें रोगों से मुक्ति, जीवनी शक्ति वृद्धि, दीर्घ आयुष्य, सतत उत्साह आदि स्थूल तथा अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ऐसा वर्णन ग्रन्थों में है ।

शिव संहिता लिखती है—

ब्रह्मरन्ध्रे मनोदत्वा क्षणार्धं मदि तिष्ठति ।
सर्वपाप विनिर्मुक्तः सयाति परमांगतिम् ।
अस्मिल्लीनं मनोयस्य स योगीमयिलीयते ।
अणिमादि गुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥

अर्थात्—ब्रह्मरन्ध्र में मन लगाकर खेचरी मुद्रा की साधना करने वाला योगी आत्मनिष्ठ तथा पाप मुक्त होकर परम गति को प्राप्त होता है । इस साधना में मनोलय होने पर साधक ब्रह्मलीन हो जाता है और अणिमादि सिद्धियों का अधिकारी बनता है ।

खेचरी अर्थात् आकाश में विचरण करना । इसीलिए साधक को हमेशा भाव श्रद्धा के निखिल आकाश में विचरण करने का ध्यान करने को कहा जाता है । दैहिक क्रिया जो साथ जुड़ी है वह तो संक्षिप्त है । मूल है उसका सूक्ष्म भाव पक्ष जो साधक के अन्तरंग को आमूल-चूल बदल देता है, बहिरंग में प्रसन्नता, स्फूर्ति, तेजस् व्यवहार में सुसंस्कारिता के समावेश के रूप में जिसकी परिणति होती है ।

भावपूर्ण खेचरी साधना से अक्षय सरसता

उच्चस्तरीय योग साधना के समग्र क्रम में खेचरी मुद्रा का अपना स्थान है । लययोग की साधना में भावपूर्ण खेचरी मुद्रा का समावेश है । ब्रह्मरन्ध्र के अमृत रस का पान खेचरी मुद्रा के साथ ही जागृत अन्तःकरण किया करते हैं ।

मस्तिष्क ही व्यक्ति-ब्रह्माण्ड का देवलोक है । इन्द्रियों से संचालक केन्द्रों की निर्देशक देवचेतनाएँ अपने अधिपति मनरूपी इन्द्र के साथ यहीं विहार करती हैं । "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" की प्रार्थना-कामना जव फलीभूत हो जाती है, तब उस शिवात्मक मस्तिष्क से ज्ञान की गंगा प्रवाहित होती है । इसीलिए शिवसंहिता में सहस्रार केन्द्र को कैलाश कहा गया है । इसका स्थूलरूप मस्तिष्कीय संचारसूत्रों का वह केन्द्र स्थल है, जहाँ विद्युत उन्मेष निरन्तर सक्रिय रहते हैं, साधना विज्ञान में यही समष्टि चेतना का प्रवेशद्वार है । इस सहस्रार चक्र स्थित अमृत कलश से निकलने वाली ज्ञान गंगा जीवात्मा को पवित्र और परितृप्त करती है । आत्मिक आनन्द इसी स्थिति में मिलता है । आनन्दमय कोश की सार्थकता इसी अमृत की अधिकाधिक मात्रा में वर्षा कर सकने में है । वह अमृत शरीर के माँस-मज्जा आदि का उत्पादन नहीं है । वरन् वह ब्रह्माण्डीय चेतना का दिव्य अनुदान है जो सीधे इस कमल-पुष्प जैसी आकृति वाले ब्रह्मरन्ध्र में बरसता है । शरीर शास्त्री भी वहाँ विद्युदणु गुच्छक की विद्यमानता स्वीकार करते हैं । सूक्ष्म शरीर में वह स्थिति हजारों प्रकाश पंखुड़ियों से प्रदीप्त दिखाई पड़ती है । वहाँ उठने वाली भाव सम्वेदनाएँ कमल जैसी सौम्य पवित्र तथा चेतना ज्योति से प्रकाशित रहती हैं । इस ज्योति का 'पूर्ण प्रस्फुटन' ही सहस्रार साधना का लक्ष्य है ।

सहस्रार चक्र की साधना के लिए दो मार्ग हैं । एक ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश ज्योति का ध्यान, दूसरा खेचरी मुद्रा द्वारा तालुदेश में जिह्वा मूल को लगाकर इस अमृतरस का भावभरा पान करना । खेचरी मुद्रा के

स्वरूप, सन्दर्भ एवं प्रतिफल के सम्बन्ध में मिलने वाले उल्लेखों में से कुछ इस प्रकार हैं—

'कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्छा भवेतस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बध्यते न च केनापि, यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

—योग चूड़ामण्युपनिषद्

अर्थात्—जिह्वा को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराने तथा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर रखने से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है । जो खेचरी मुद्रा जानता है वह रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख-प्यास व मूर्छना से मुक्त रहता है । उसे रोग पीड़ा नहीं पहुँचा पाते, कर्मलिप्त नहीं कर पाते और कोई भी उसे विवश नहीं कर पाता ।

तालु के गड्ढे में एक पीला-सा स्थान है । यहीं पर आगे माँस की एक छोटी सूड़ सी लटकती हुई होती है । यही स्थल कपाल कुहर या कपाल गह्वर कहा जाता है । इस कपाल कुहर में जिह्वा के अग्रभाग का सतत मृदु आघात खेचरी मुद्रा है । टाँसिल के ऊपर जहाँ नेसोफैरिक्स कैविटी है, उसमें फैले सम्वेदना तार इस आघार से झनझना उठते हैं और इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणशक्ति में एक विशेष झनझनाहट फैल जाती है ।

इस प्रकार खेचरी मुद्रा से कपाल गह्वर में होकर प्राणशक्ति का संचार होने लगता है और सहस्रदल में अवस्थित अमृत निर्झर झरने लगता है, जिसके आस्वादन से एक दिव्य आनन्द आता है । प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाने से मृत्युकाल में जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर ही प्रयाण करता है, इसीलिए उसे मुक्ति या स्वर्ग की सद्गति प्राप्त होती है । गुदा आदि अधोमार्गों से जिनका प्राण निकलता है वे अधोगामी होते हैं तथा मुख, नाक, कान से प्राण छोड़ने वाला मृत्युलोक में भ्रमण करता है किन्तु जिसका जीव ब्रह्मरन्ध्र में होकर जायेगा वह अवश्य ही सद्गति को प्राप्त करेगा । खेचरी मुद्रा द्वारा ब्रह्माण्ड स्थित शेषशायी सहस्त्रदल निवासी परमात्मा की चेतना से साक्षात्कार सम्भव होता है । इस दृष्टि से यह मुद्रा बड़ी ही महत्त्वपूर्ण होती है ।

हठयोग और राजयोग में खेचरी की साधना विधियाँ भिन्न-भिन्न हैं । हठयोग की प्रक्रिया यह है कि जीभ के नीचे के नाड़ी तन्तुओं को धारदार स्फटिक पत्थर से थोड़ा-थोड़ा काटते हैं । यह सिलसिला सावधानी से मन्दगति से दो वर्ष तक चलाया जाता है । कटे हुए अंग पर माजूफल का कपड़े से छना चूर्ण या हल्दी का पाउडर छिड़कते हैं ताकि वह दुबारा जुड़े नहीं । पर काटने की यह क्रिया उनके ही लिए आवश्यक होती है, जिनकी जीभ और नीचे की नाड़ी मोटी हो । जहाँ मोटा माँस या मोटी नाड़ी न हो, वहाँ काटने की कोई जरूरत नहीं पड़ती । कोई हठयोगी लौह-शलाका से दबा-दबा कर जीभ को बढ़ाते हैं, पर हठयोग की ये क्रियाएँ सर्वसाधारण को नहीं करनी चाहिए । राजयोग में काली मिर्च और शहद की या मक्खन की जिह्वा पर हल्की मालिश करके उसे चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचने की चालन-क्रिया पर्याप्त मानी जाती है । अधिक सरल सुगम विधि यह है कि जिह्वा को मुँह में इस प्रकार मोड़ें कि वह तालू को छूती रहे । सुदीर्घ अभ्यास और सात्विक आहार से जीभ स्वतः पर्याप्त लम्बी और लचीली हो जाती है । ऐसी जीभ जब कपाल कुहर में सम्वेदनशील केन्द्रों को हिलोरती है तो उससे पिट्यूटरी ग्रन्थि पर सम्वेदनात्मक प्रतिक्रिया होती है । इस कपाल छिद्र में से तीनों नाड़ियों इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के मार्ग जाते हैं । इसे ही व्योमचक्र कहा जाता है । इस स्थान पर खेचरी संस्पर्श से अनेक रसों का स्राव होता है, जिनके तिक्त, क्षारीय, नवनीत, घृत, दुग्ध, दधि, मधु, जल तथा दिव्यरस जैसे स्वाद होते हैं । इसी अन्तिम दिव्य रसानुभूति को सोमपान कहा जाता है । यह दिव्य रस शारीरिक ऊर्जा को बढ़ाता है ।

किन्तु खेचरी साधकों को यह तथ्य सदैव स्मरण रखना चाहिए कि खेचरी मुद्रा मात्र आंगिक चेष्टा नहीं है । वह एक आध्यात्मिक साधना है । अतः मात्र प्रखरता और सक्रियता की अभिवृद्धि खेचरी साधना का प्रयोजन नहीं है । अपितु इस सक्रियता पर नियन्त्रण प्राप्त कर उसे उत्कृष्टता की दिशा में नियोजित रखने की सामर्थ्य तथा इस ऊर्ध्वगामिता में सरसता की अनुभूति खेचरी का अभीष्ट है ।

जागृत स्थिति में आनन्द का अजस्र उद्गम केन्द्र है, सहस्रार कमल । यह ब्रह्माण्डीय चेतना से सम्पर्क कर उस आनन्दबोध को प्रतिक्षण आत्मसात् करता है । यह ज्ञानमयता स्वयं उसे आनन्द विभोर रखती है और अपनी पुलकन के अक्षय प्रवाह से सम्पर्क क्षेत्र को भी प्रभावित करती है । इसी दिव्य सरसता की अनुभूति को परमात्मा का परम अनुग्रह कहा गया है । 'रसो वै सः' का उद्घोष ऐसे ही अनुभव की अभिव्यक्ति है । यह 'रस' इन्द्रिय उत्तेजना से प्राप्य उन्माद से सर्वथा भिन्न है । वह अक्षय, सात्विक, सौम्य एवं पूर्णतः भावमय है । यही सरसता सोमरस कही गई है । इस सोमरस का पान खेचरी साधना का उद्देश्य है ।

योगशास्त्रों में उल्लेख है—

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं ।
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्गानाम् ॥
चंद्रात्सारः स्त्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां ।
तद्वध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यं सिद्धिः ॥

मेरु पर्वत जैसी सुषुम्ना नाड़ी के ऊर्ध्व भाग में चन्द्रामृत स्थित है । उसी में आत्मतत्व का निवास है । तालु के छिद्राकाश में जो गंगा-यमुना, सरस्वती, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों का मुख है । यहीं चन्द्रसार टपकता है । इसका खेचरी मुद्रा द्वारा जो पान करता है उसकी काया लावण्य युक्त वज्र जैसी बलवान हो जाती है । इस साधना के बिना कार्य सिद्धि कैसे हो ?

खेचरी योग तो योगी शिरश्चंद्रादुपागतम् ।
रसं दिव्यं पिबेन्नित्यं सर्व व्याधि विनाशनम् ॥

—योग रसायन

खेचरी-साधना में योगी शिरश्चन्द्र से झरने वाले उस दिव्य रस को पीता है जो सब व्याधियों का नाश करने वाला है ।

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥

—गोरक्ष संहिता १/६५

जिस योगी का चित्त चंचल नहीं होता और जिसकी जिह्वा खेचरी में रमण करती है, उनके लिए यह सभी सिद्धों द्वारा नमस्कार की हुई खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है ।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा ।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

—गोरक्ष संहिता १/६४

जो खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेता है, उसे भव-बन्धन में नहीं पड़ना होता । न तो उसे शोक होता है और न वह कर्म में ही लिप्त होता है ।

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य सिद्धा तु स शुद्धो नात्रं संशयः ॥

—शिव संहिता ४/५५

जिसे खेचरी मुद्रा सिद्ध है वह अपवित्र या पवित्र कैसी भी परिस्थिति में स्वयं शुद्ध, स्वस्थ, प्रफुल्ल ही रहता है ।

खेचरी मुद्रिकाभ्यासांदनंदः स्याद्दिनेदिन ।
सर्व सङ्कल्प संत्यागाज्जगाद्विस्मरण भवेत ॥

—योग रसायनम्

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से दिन-प्रतिदिन आनन्द बढ़ता है, विश्व प्रपंच का मोहपूर्ण स्मरण फिर नहीं होता तथा उससे सम्बद्ध सभी संकल्प भी छूट जाते हैं ।

मृत्यु व्याधि जराग्रस्तां दृष्ट्वा विद्यामिमाँ मुने ।
बुद्धिं दृढ़तरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥

—कुण्डल्युपनिषद् २/२

मनुष्य को मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे से ग्रस्त देखकर मननशील साधक को सुदृढ़ बुद्धि से इस खेचरी विद्या का अभ्यास करना चाहिए ।

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम् प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तर कृताभ्यासात् पीयूषं प्रत्यहं पिबेत् ॥

—शिव संहिता

यह खेचरी मुद्रा मुझ शिव को प्राण प्रिय है । यह सिद्धियों की जननी है । इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला अमृत पान का लाभ प्राप्त करता है ।

खेचरी मुद्रा की साधना के लिए हठयोगी जीभ को लम्बी करके 'काक चंचु' तक पहुँचाने के लिए जिह्वा पर काली मिर्च, शहद, घृत का लेपन करके उसे थन की तरह दुहते, खींचते हैं और लम्बी करने का प्रयत्न करते हैं । जीभ के नीचे वाली पतली त्वचा को काट कर भी अधिक पीछे तक मुड़ सकने योग्य उसे बनाया जाता है । यह दोनों ही क्रियाएँ सर्व साधारण के

व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ १.१८

उपयुक्त नहीं हैं । इनमें तनिक भी भूल होने से जिह्वा तन्त्र ही नष्ट हो सकता है अथवा दूसरी विपत्तियाँ आ सकती हैं । अस्तु यदि सर्वजनीन एवं जोखिम रहित उपासनाएँ अभीष्ट हों तो शारीरिक अवयवों पर अनावश्यक दबाव न डालकर सारी प्रक्रिया को ध्यान परक—भावना मूलक ही रखना होगा ।

खेचरी मुद्रा का भावपक्ष ही वस्तुतः उस प्रक्रिया का प्राण है । मस्तिष्क मध्य को, ब्रह्मरंध्र अवस्थित सहस्रार को, अमृत-कलश माना गया है और वहाँ से सोमरस स्रवित होते रहने का उल्लेख है । जिह्वा को जितना सरलतापूर्वक पीछे तालु से सटाकर जितना पीछे ले जा सकना सम्भव हो उतनी पीछे ले जाना चाहिए । 'काक चंचु' से बिल्कुल न सट सके कुछ फासले पर रह जावे तो भी हर्ज नहीं है । तालु और जिह्वा को इस प्रकार सटाने के उपरान्त ध्यान किया जाना चाहिए कि तालु छिद्र से सोम अमृत का—सूक्ष्म स्राव टपकता है और जिह्वा इन्द्रिय के गहन अन्तराल में रहने वाली रस तन्मात्रा द्वारा उसका पान किया जा रहा है । इसी सम्वेदना को अमृत पान पर सोमरस पान की अनुभूति कहते हैं । प्रत्यक्षतः कोई मीठी वस्तु खाने आदि जैसा कोई स्वाद तो नहीं आता, पर कई प्रकार के दिव्य रसास्वादन उस अवसर पर हो सकते हैं । यह इन्द्रिय अनुभूतियाँ मिलती हों हर्ज नहीं, पर वे आवश्यक या अनिवार्य नहीं हैं । मुख्य तो वह भावपक्ष है जो इस आस्वादन के बहाने गहन रस सम्वेदना से सिक्त रहता है । यही आनन्द और उल्लास की अनुभूति खेचरी मुद्रा की मूल उपलब्धि है ।

देवी भागवत पुराण में महाशक्ति की वन्दना करते हुए उसे कुण्डलिनी और खेचरी मुद्रा से सम्बन्धित बताया गया है—

तालुस्था त्वं सदाधारा विंदुस्था विंदुमालिनी ।
मूले कुण्डलीशक्तिर्व्यापिनी केशमूलगा ॥

—*देवी भागवत*

अमृतधारा सोम स्राविनी खेचरी रूप तालु में, भ्रू-मध्य भाग आज्ञाचक्र में बिन्दु माला और मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी बनकर आप ही निवास करती है और प्रत्येक रोम कूप में विद्यमान है ।

शिव संहिता में प्रसुप्त कुण्डलिनी का जागरण करने के लिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास आवश्यक बताते हुए कहा गया है—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥

—*शिव संहिता*

इसलिए साधक को ब्रह्मरन्ध्र के मुख में, रास्ता रोके सोती पड़ी कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए सर्व प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए और खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए ।

कभी-कभी खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में कई प्रकार के रसों के आस्वादन जैसी झलक भी मिलती है । कई बार रोमान्च जैसा होने लगता है, पर यह सब आवश्यक या अनिवार्य नहीं । मूल उद्देश्य तो भावानुभूति ही है ।

अमृतास्वादनं पश्चोज्जिह्वाग्रे संप्रवर्तते ।
रोमांचश्च तथानन्दः प्रकर्षेणोपजायते ॥

—*योग रसायनम् २५५*

जिह्वाग्र में अमृत-सा सुस्वाद अनुभव होता है और रोमांच तथा आनन्द उत्पन्न होता है ।

प्रथमं लवणं पश्चात् क्षारं क्षीरोपमं ततः ।
द्राक्षारससमं पश्चात् सुधासारमयं ततः ॥

—*योग रसायनम्*

खेचरी मुद्रा के समय उस रस का स्वाद पहले लवण जैसा, फिर क्षार जैसा, फिर दूध जैसा, फिर द्राक्षारस जैसा और तदुपरान्त अनुपम सुधा रस-सा अनुभव होता है ।

आदौ लवण क्षारं च ततस्तिक्त कषायकम् ।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधित क्रम धूनि च ।
द्राक्षा रसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।

—*घेरण्ड संहिता*

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को क्रमशः नमक, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, दूध, दही, द्राक्षारस, पीयूष, जल जैसे रसों की अनुभूति होती है ।

अमृतास्वादनाद्देहो योगिनो दिव्यतामियात् ।
जरारोगविनिर्मुक्तश्चिरं जीवति भूतले ॥

—*योग रसायनम्*

भावनात्मक अमृतोपम स्वाद मिलने पर योगी के शरीर में दिव्यता आ जाती है और वह रोग तथा जीर्णता से मुक्त होकर दीर्घकाल तक जीवित रहता है ।

एक योग सूत्र में खेचरी मुद्रा से अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति का उल्लेख है—

तालु मूलोर्ध्वभागे महज्योति विद्यते तद्दर्शनाद् अणिमादि सिद्धिः ।

तालु के ऊर्ध्व भाग में महा ज्योति स्थित है, उसके दर्शन से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

ब्रह्मरन्ध्र साधना की खेचरी मुद्रा प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में शिव संहिता में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

ब्रह्मरंध्रे मनोदत्वा क्षणार्धं मदि तिष्ठति ।
सर्व पाप विनिर्युक्तः स याति परमां गतिम् ॥
अस्मिल्लीनं मनोयस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादि गुणान् भुक्तवा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥
एतद् रन्ध्रज्ञान मात्रेण मर्त्यः
संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत् सः ।
पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयेदद्भुतं वै ॥

अर्थात्—ब्रह्मरन्ध्र में मन लगाकर खेचरी मुद्रा की साधना करने वाला योगी आत्मनिष्ठ हो जाता है । पाप मुक्त होकर परम गति को प्राप्त करता है । इस साधना में मनोलय होने पर साधक ब्रह्मलीन हो जाता है और अणिमा आदि सिद्धियों का अधिकारी बनता है ।

घेरण्ड संहिता में खेचरी मुद्रा का प्रतिफल इस प्रकार बताया गया है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवलस्यं प्रजायते ।
न च रोगो जरा मृत्युर्देव देहः स जायते ॥

खेचरी मुद्रा की निष्णात देव देह को मूर्च्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, रोग, जरा, मृत्यु का भय नहीं रहता ।

लावण्यं च भवेद्गात्रे समाधि जयति ध्रुवम् ।
कपाल वक्त्र संयोगे रसना रस माप्नुयात् ॥

—घेरण्ड संहिता

शरीर सौन्दर्यवान बनता है । समाधि का आनन्द मिलता है । रसों की अनुभूति होती है । खेचरी मुद्रा सब प्रकार श्रेयस्कर है ।

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरी वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यास प्रयोगतः ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरु गत्वा समाश्रयेत् ।

—योगकुण्डल्युपनिषद्

जो महापुरुष ग्रन्थ से, अर्थ से और अभ्यास-प्रयोग से इस जरामृत्यु व्याधि-निवारक खेचरी विद्या को जानने वाला है, उसी गुरु के पास सर्वभाव से आश्रय ग्रहण कर इस विद्या का अभ्यास करना चाहिए ।

खेचरी मुद्रा से अनेकों शारीरिक, मानसिक, सांसारिक एवं आध्यात्मिक लाभों के उपलब्ध होने का शास्त्रों में वर्णन है । इससे सामान्य दीखने वाली इस महान साधना का महत्त्व समझा जा सकता है । स्मरणीय इतना ही है कि इस मुद्रा के साथ-साथ भाव-सम्वेदनाओं की अनुभूति अधिकतम गहरी एवं श्रद्धा सिक्त होनी चाहिए ।

हम सोमरस पियें : अजर अमर बनें

वर्णन आता है देवता सोमपान करते हैं । ऋषि सोम पीते हैं । सोम का महत्त्व और माहात्म्य वैदिक साहित्य में विस्तारपूर्वक वर्णित है । यह सोम क्या है ? इसका रहस्य जानना आवश्यक है ।

यों सोमवल्ली नामक एक औषधि वल्लरी भी है, गिलोय की तरह उसे भी बहुत गुणवती माना जाता है और शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के अभिवर्धन में उसका भी प्रयोग किया जाता है, पर जिस सोम की असाधारण महिमा ऋषियों ने गाई है वह अप्रत्यक्ष—सूक्ष्म और दिव्य है ।

मस्तिष्कीय चेतना केन्द्र के प्रेरणात्मक एवं भावात्मक पक्ष को सोम कहते हैं । ब्रह्मरन्ध्र, सहस्त्र कमल, क्षीर सागर, कैलाश, महासूर्य, अमृत घट आदि अनेक नामों से इसी तत्व का वर्णन किया गया है ।

स्थूल मस्तिष्क की चेतना, इच्छा, ज्ञान, क्रिया के तीन भागों में विभक्त हैं । उसका सूक्ष्म स्तर, भावनात्मक

है । इस भाव पक्ष को ही सोम कहते हैं । स्थूल मस्तिष्क प्रकृति से प्रभावित है । वातावरण का, वस्तुओं का, व्यक्तियों का, इन्द्रियों का, कामनाओं, वासनाओं और तृष्णाओं का उस पर प्रभाव पड़ता है । दूसरों का प्रभाव ग्रहण करता है और अपना प्रभाव दूसरों पर डालता है । सूक्ष्म शरीर का भी कलेवर यही है ।

इसके अन्तराल में भावात्मक चेतना प्रवाह है, जिसे दिव्य ज्योति, ब्रह्म सत्ता, एवं जीव ईश्वर का मिलन मन्दिर कह सकते हैं । इसी केन्द्र का उभार उत्पादन सोम है । इसी को द्युलोक, स्वर्गलोक, देवलोक आदि के नाम से पुकारते हैं । यहाँ झरने वाले दिव्य भावना और दिव्य प्रेरणा के अमृत को देवता और ऋषि पीते हैं और अमर हो जाते हैं । यहाँ किसी खाने-पीने की वस्तु की चर्चा नहीं है वरन् अन्तरात्मा को उस दिव्य भावात्मक प्रवाह में ओत-प्रोत कर लेना है जो ईश्वरीय सत्ता आत्म-चेतना के कल्याणार्थ निरन्तर बरसती रहती है और जिसे ग्रहण न कर पाने के कारण मनुष्य दीन दुर्बल बना रहता है ।

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्यौषधिम् ।
सोमं यं ब्राह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

—अथर्ववेद १४।१३

सोमरस जड़ी-बूटी नहीं है । उसका आस्वादन तो ब्रह्मवेत्ता ही करते हैं और वे ही उसका तत्व जानते हैं ।

सोमो राजा मस्तिष्कः ।

—अथर्ववेद ६।७।२

यह सोम मस्तिष्क का राजा है ।

सोमेन पूर्ण कलशं विभर्णि ।

—अथर्ववेद ६।४।६

सोम से भरा शीर्ष कलश इसी शरीर में है ।

आत्सोम इन्द्रियो रसो ।

—ऋग्वेद ६।४७।३

यह सोम इन्द्रियों का रस है ।

यो वै विष्णु, सोमः स ।

—शतपथ ३।६।३।६

जो विष्णु है वही सोम है ।

दिवः पीयूषमुत्तमं सोमं ।

—ऋग्वेद ६।५१।२

यह सोम द्युलोक (मस्तिष्क) का अमृत है ।

दिवि सोमो अधिश्रितः ।

—अथर्ववेद १४।१।१

यह सोम द्युलोक में रहता है ।

एषस्य सोमो भतिभिः पुनानः ।

—ऋग्वेद ६।६६।१५

सोम को प्रज्ञा पवित्र करती है ।

कविं मृजन्ति मर्ज्यं धी भिविप्रा अवस्यवः ।

—ऋग्वेद ६।६३।२०

प्रज्ञा द्वारा पवित्र सोम ब्रह्म परायण को भावनाओं से भर देता है ।

सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।

—शतपथ ५।४।२।३

यह सोम ब्राह्मणों का राजा है ।

सोमो भूत्वा रसात्मकः ।

—गीता

रसात्मक तत्व सोम है ।

आत् सोम इन्द्रियो रसः ।

—ऋग्वेद ६।४७।३

इन्द्रियों का रस सोम है ।

सोम रारन्धिनो हृदि ।

—ऋग्वेद १।६१।३

हे सोम ! हमारे हृदय में रमण कीजिए ।

आ यद् योनिं हिरण्ययमाशुर्ऋतस्य सीदति ।
जहाति अप्रचेतसः ॥

—ऋग्वेद ६।६४।२०

ऋतु की योनि मस्तिष्क है । यही हिरण्य कोश स्वर्ग है । जब यहाँ सोम प्रस्फुटित होता है तब अज्ञान अन्धकार से छुटकारा मिल जाता है ।

अग्नि और सोम का युग्म है । अग्नि को नारी और सोम को नर कहा है । दोनों के संयोग को आत्म रति कहते हैं । इस प्रयोग की उपलब्धियों को मादकता, कामुकता जैसे अलंकारों के साथ भी वर्णन किया जाता है ।

यत् ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि नः ।

—ऋग्वेद ६।६७।२३

हे अग्नि ! तेरी ज्वालाओं द्वारा ही सोम पवित्र होता है । हमारे सोम को तू पवित्र कर दे ।

शिरो वै यज्ञस्या तथ्यम् । जनयन्ति वा एन-मेतद् यन्मन्थन्ति शीर्षतो वा अग्रे जायमानो जायते । शीर्षत एवैतदग्रे यज्ञं जनयत्यग्नि र्वै सर्वा देवता अग्नौ हि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति शिरो वै यज्ञस्यातिथ्यम् । शीर्षत एवैतद् यज्ञं सर्वाभि र्देवताभिः समर्धयति तस्मादग्निं मन्थति ।

—शतपथ ३/४/१/१६

सिर ही यज्ञ का आतिथ्य स्थल है । यहीं अग्नि का मंथन होता है । यहीं से अग्नि उत्पन्न होती और आगे बढ़ती है । अग्नि में ही सब देवताओं का निवास है । प्रदीप्त अग्नि सोमपान करती है । देवता हवि ग्रहण करते हैं ।

ब्रह्म तत्व, देव तत्व, यज्ञ तत्व का जो सूक्ष्म स्वरूप चेतना केन्द्र में अवस्थित है, उसे तत्वदर्शी सोम कहते हैं । उसे आत्मा में धारण करके ब्रह्म साक्षात्कार एवं देव अनुग्रह प्राप्त करते हैं । इस देव सत्ता की प्रार्थना स्तुति भी इसी प्रयोजन के लिए की जाती है ।

यो वै विष्णुः सोमः हविर्वा एष देवानां भवति ।

—शतपथ ३/६/३/१६

यह सोम ही विष्णु है । वही देवताओं के हवि है ।

प्र त आश्विनीः पवमान धीजुवो दिव्या असृग्रन् पयसा धरीमणि । प्रान्तर्ऋषयः स्थाविरीरसृक्षत येत्वां मृजन्त्यृषिषाण वेधसः ।

—ऋग्वेद ९/८६/४

हे सोम ! तेरी दिव्य धाराएँ मस्तिष्क में दिव्य रस को प्रवाहित करती हैं । ऋषित्व को प्रदान करती हैं । जो उसे अपने में धारण कर लेता है । वह निरन्तर भाव प्रवाहों से भरा रहता है ।

तमृत्वा वाजिनं नरो धीभिर्विप्रा
अवस्यवः मृजन्ति देवतातये ।

—ऋग्वेद ९/१७/७

हे सोम ! आत्म रक्षा के इच्छुक, देवत्व की वृद्धि के इच्छुक, नेतृत्व की क्षमता के इच्छुक, ब्रह्म परायण लोग तुझे प्रज्ञा द्वारा पवित्र करते हैं ।

तमांसि सोम योध्या । तानि पुनान जंघन ।

—ऋग्वेद ९/७/७

सोम, अज्ञान अन्धकार को नष्ट कर, पवित्रता प्रदान करता है ।

ब्रह्माण्ड व्यापी सोम ब्रह्म ही है । उसका आत्मा से अवतरण यज्ञ है । विश्व में संव्याप्त देव शक्तियाँ उस ब्रह्माण्ड व्यापी सोम की ही किरणें हैं । देवता और ऋषि इन्हीं को प्राप्त कर दिव्यता से ओत-प्रोत होते हैं । विश्व वसुधा का शोभा सौन्दर्य इसी से विकसित होता है ।

ऊर्ध्वमिमं यज्ञं देवलोकं नयतम् ।

—शतपथ ३/५/३/१७

यह मस्तिष्क यज्ञ भूमि है । यही देवलोक है ।

शिर एवास्य हविर्धान वैष्णवं देवतयाथ यदस्मिन् सोमो भवति हवि र्वै देवानां सोमस्तस्माद्धविर्धानं नाम ।

—शतपथ ३/५/३/२

यह मस्तिष्क ही देवलोक है । जहाँ इन्द्रियों के रूप में देवता विराजमान हैं । यहीं सोम को हवि दी जाती है और यहीं देवता सोमपान करते हैं ।

ऋषि मना य ऋषि कृन् स्वर्षाः ।

—ऋग्वेद ९/९६/१८

सोम ऋषि है । सोम पाई को ऋषि बनाता है ।

एह गमन्नृषयः सोम शिताः ।

—ऋग्वेद १०/१०८/८

ऋषि अपने में सोम द्वारा तीक्ष्णता प्राप्त करते हैं ।

सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः।
जनिताग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥

—ऋग्वेद ९/९६/५

यह सोम पवित्र है । समस्त बुद्धियों को पवित्र करता है । पृथ्वी और स्वर्ग का सृजेता है । अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु का उत्पादक वही है ।

दिवि स्पृथिव्या अभिभव ।

—ऋग्वेद ९/३१/२

हे सोम द्युलोक में पृथ्वी पर उतरो ।

ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सवीर्यम् ।

—ऋग्वेद ९/६५/२४

यह सोम, द्युलोक से पृथ्वी पर तेज बनकर बरसता है ।

स विश्वा दाशुषे वसु सोमो दिव्यानि पार्थिवा ।
पवतामान्तरिक्ष्या ॥

—ऋग्वेद ९/३६/५

सोम के प्रवाह से ही पृथ्वी आदि तीनों लोकों में अमृत बरसता है और उदात्त मनुष्य उससे पवित्र होते हैं ।

सहस्र वृदियं भूमिः । परं व्योम सहस्रवत् ।

—तै. आ. १/१०

यह भूमि सहस्रों प्राणों से भरी है और यह द्युलोक सहस्रों देवों से भरा है ।

शरीर में यह सोम 'ओजस्' एवं 'रेतस्' में दीप्तिवान है । वीर्य यों एक शारीरिक रस है पर उसका जो सूक्ष्म तत्व ओजस् बनकर मस्तिष्क में विद्यमान रहता है, उसे भी सोम कहते हैं और ब्रह्मचर्य साधना को भी सोमपान का नाम देते हैं ।

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम् ।

—सु. सू. १५/२११४

सोम ओज है । स्निग्ध, शुक्त, शीत, स्थिर है ।

रयिं कृण्वन्ति चेतनम् ।

—ऋग्वेद ९/३१/१

यह सोम प्रजनन शक्ति को चैतन्य करता है ।

सोमं सन्तं विष्णुमिति यजति तद् यदेवेदं ।
क्रीतो विशतीव तदुहैवास्य वैष्णवं रूपम् ॥

—शतपथ ब्राह्मण ८/२

ऊर्ध्व रेता के मस्तिष्क में स्थित वीर्य, विष्णु देवता है और वह क्षेत्र विष्णु लोक ।

रेतौ वै सोम :

—कौ. श. वै.

वीर्य ही सोम है ।

वर्चः सोमः ।

—शतपथ

वर्च ही सोम है ।

—शतपथ

रसः सोमः ।

आनन्द सोम है ।

—ताण्ड्य

शुक्रः सोमः ।

वीर्य ही सोम है ।

सोमो वै ब्राह्मणः ।

—ताण्ड्य

ब्राह्मण ही सोम है ।

ब्राह्मणानां स (सोमः) यक्षः ।

—ऐत

ब्राह्मण का आहार सोम है ।

रेतः सोमः ।

—कौ. ब्रा. १३/७
—तै. ब्रा. २/७/४/१
—शतपथ ३/२/६

रेतो वै सोमः ।

—शतपथ १/९/२/९
—२/५/१/९, ३/८/५/२

लगता है अंग्रेजी भाषा में सोम का अपभ्रंश होकर सीमन (Semen) शब्द बना है जो वीर्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

वीर्य में जो सारभूत तत्व ओजस है उसे बुद्धिमान नष्ट नहीं करते, उससे अपना ब्रह्म वर्चस बढ़ाते और सोमपान का आनन्द लेते हैं । मूर्ख उसे हास-परिहास क्रीड़ा कल्लोल एवं इन्द्रिय लिप्सा में खर्च करके खोखले बनते और अन्ततः दुःख पाते हैं ।

अभि वेना अनूषतेयक्षन्ति प्रचेतसः । मज्जन्त्यविचेतसः ।

—ऋग्वेद ९/६४/२१

आत्मदर्शी सोम के गीत गाते हैं । विवेकी सोम का भजन करते हैं । मूर्ख सोम को नष्ट करते हैं और स्वयं नष्ट हो जाते हैं । इस सोमरस का पान करना ही खेचरी मुद्रा का उद्देश्य है ।

खेचरी मुद्रा की दार्शनिक पृष्ठभूमि

खेचरी मुद्रा का अभ्यास साधक को अन्तर्मुखी बनाता है । हठयोग-ग्रन्थों में तो इसके द्वारा प्राप्य अलौकिक अतीन्द्रिय शक्तियों का विस्तृत वर्णन है ही, इसकी सामान्य दैनिक साधना भी आनन्द और उल्लास की अनवरत अभिवृद्धि करती है ।

शिथिल शरीर और रिक्त मन द्वारा ही खेचरी साधना का अधिकाधिक लाभ सम्भव है । शरीर को

ढीला और मन को खाली करने के बाद जिह्वा को उलट कर तालु से लगाना, धीरे-धीरे उसे सहलाना और उस आधार पर सोमरस पान की दिव्य अनुभूति करना, यही सामान्यतः खेचरी मुद्रा है । स्वर्णजयन्ती साधना वर्ष में दैनिक उपासना क्रम में की जाने वाली खेचरी साधना के लिए शिथिलीकरण और मन को रिक्त करने की अलग से प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं । मन्त्र-जाप की उत्कृष्ट स्थिति में, जब चिन्तन एकाग्र और एकरस हो जाता है, तो शरीर-मन स्वयंमेव उसी स्थिति में पहुँच जाते हैं ।

खेचरी मुद्रा का दार्शनिक-पक्ष समझना आवश्यक है । परमात्मा का आत्मा के साथ निरन्तर मिलन-सम्पर्क चलता रहता है । इस संस्पर्श से दो अनुभूतियाँ होती हैं—(१) अवर्ण्य आनन्द, (२) उद्दाम उल्लास । खेचरी मुद्रा इसी संस्पर्श-अनुभूति और उसके परिणामस्वरूप आनन्द और उल्लास की चरम सम्वेदना की अनुभूति का माध्यम है । सामान्य स्थिति में मनुष्य को इन अनुभूतियों की प्रतीति नहीं हो पाती । यद्यपि भगवान मनुष्य को निरन्तर ही प्रेरणाएँ देते रहते हैं—(१) सहज आनन्द जिसका संसार के सुखद-पक्ष के मूल्यांकन और कर्मफल के वैज्ञानिक नियम की स्पष्ट अनुभूति से इस सन्तोष एवम् प्रसन्नता के साथ अनुभव होता है कि हमारे आत्मिक उत्कर्ष का श्रेयस्कर परिणाम सुनिश्चित है । अतः हताशा या उदासी का कोई कारण नहीं है—दुनिया के लोग अपनी तीव्र उपेक्षा या प्रचण्ड विरोध कर रहे हों, तो भी । (२) उल्लास की भाव भरी उमंगों, जो उत्कृष्ट चिन्तन तथा आदर्श कर्तत्व के साहसिक जीवन के प्रति अदम्य उत्साह के कारण अनवरत उठती हों । इन दो प्रेरणाओं को भगवान पेण्डलुम-गति से लगातार देते ही रहते हैं ।

आनन्द का अर्थ व्यर्थ की, बहकी-बहकी डींगे मारना या भिन्न चेष्टाओं द्वारा हर्षातिरेक का प्रदर्शन नहीं । अपितु छोटे-मोटे अभावों आघातों से अविचलित रहते हुए विश्व-ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत दिव्यसत्ता, चतुर्दिक परिव्याप्त-सदाशंयता, समुद्र तथा सृष्टि की अनुपम उपलब्धि मानव-जीवन की प्राप्ति की पुलक भरी अनुभूति ही आनन्द है । दृष्टिकोण की यह परिपक्वता तथा रुचियों का परिष्कार मनःस्थिति को सदा उत्फुल्ल और सन्तुलित रखता है, इससे जो घटनाएँ दूसरों की उत्तेजना, उद्विग्नता या कुण्ठा-हताशा का कारण बनती हैं, उन्हें वह विनोद-कौतुक मात्र ही मान पाता है । अधिक कुछ मान पाना उसके लिए सम्भव ही नहीं ।

यह जीवन-दृष्टि अनिवार्य है । बिना अन्तःकरण के ऐसे परिष्कार के यदि सन्तोष और प्रसन्नता का अभ्यास सध भी गया तो यह सन्तोष गतिहीनता को जन्म दे देगा । जड़ता की स्थिति तो तामसिक है । बिना इस जीवन दृष्टि के मात्र ईश्वर और उसकी स्वप्निल अनुभूतियों के अभ्यास से पुलकित प्रसन्न आध्यात्मवादी इसीलिए पलायनवादी, भाग्यवादी बन कर समाज में फैली बुराइयों और अपनी बुरी परिस्थितियों दोनों से समझौता कर लेते हैं तथा इस तरह निखट्टू, निकम्मे, आलसी और प्रमादी ही बन बैठते हैं । जिन्होंने अपनी प्रगति का द्वार ही बन्द कर लिया है, उनके आध्यात्मिक होने की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है । मानवीय जीवन की गरिमा को न समझ कर वे ईश्वरीय अनुदान की उपेक्षा तथा अपमान ही करते हैं । भले ही इस धृष्टता तथा कर्तव्यहीनता के बदले वे ईश्वरीय वरदान पाने का अनुमान लगाते रहें ।

इसके विपरीत, जब मानवीय जीवन की महत्ता का स्मरण कर अपने महान कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोध जागृत होगा, तो उस हेतु प्रचण्ड प्रयत्नों की ही प्रेरणा प्राप्त होगी । यही प्रखर प्रेरणा उल्लास है । ईश्वर मात्र सन्तोष या प्रसन्नता नहीं देते, उनके दिये गए आनन्द में उल्लास भी अनिवार्य रूप से शामिल है । यह उल्लास जितना ही प्रखर और प्रौढ़ होगा, प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति उतना ही प्राणवान और अप्रतिहत रहेगा । बड़े से बड़े अभावों-अवरोधों की भी चिन्ता न करते हुए ईश्वरीय सन्देश और विवेक-निर्देश के अनुरूप अपने कदम निश्चित करेगा और रुकेगा नहीं ।

आनन्द और उल्लास की यह अनवरत प्रेरणा ही ईश्वर की वार्तालाप-विधि है । ये दो संकेत ही पर्याप्त हैं—जिस तरह कि टेलीग्राम की डैमी 'गर' तथा 'गट्ट' इन दो ध्वनियों के सहारे ही लम्बे-चौड़े संवादों की शृंखला बनाती रहती है, उसी तरह ।

ये दो प्रेरणाएँ जीवन में अविच्छिन्न और अनवरत प्रवाहित रहें, इतनी ही ईश्वर की रुचि है । इन्हें अपने निजी जीवन में किस प्रकार कार्यान्वित करें यह

निर्णय-निर्धारण मनुष्य का काम है और इसके लिए व्यक्तिगत चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है । हिमालय पवित्र धाराओं का सृजन कर उन्हें समुद्र-मिलन की प्रेरणा देकर अपने कर्तव्य की पूर्ति मान लेता है और आजीवन प्राण-अनुदान ही देता रहता है । कहाँ घाट या पुल बनें, पानी का कहाँ क्या उपयोग हो इसकी हिमालय को चिन्ता नहीं । परमात्मा ने भी अपनी परिस्थितियों और क्षमताओं से तालमेल बिठाने की बुद्धि देकर मनुष्य को जिम्मेदारी दे दी है । इस जिम्मेदारी को निभाना मनुष्य का निजी कर्तव्य-कौशल है ।

खेचरी मुद्रा का उद्देश्य आनन्द और उल्लास की इन्हीं चरम सम्वेदनाओं की सघन अनुभूति है ताकि ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध-सूत्र सक्रिय व सुसंचालित रहें तथा आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया में आये अवरोध दूर हों ।

प्रकृति और पुरुष का संयोग-क्रम निरन्तर चलता रहता है । जिस तरह घड़ियाल पर हथौड़े की चोट से झनझनाहट-थरथराहट होती है, वैसी ही थरथराहट इस संयोग-सम्भोग क्रम से भी होती है । यह थरथराहट-झनझनाहट ॐकार ध्वनि की है । परा-प्रकृति के अन्तराल में यही ॐकार रूपी घात-प्रतिघात अविराम क्रियाशील हैं । इन्हीं से शक्ति उत्पन्न होती है और सृष्टि में विविध-विधि हलचलें जन्म लेती हैं ।

खेचरी मुद्रा द्वारा जीव और ब्रह्म का संयोगक्रम भी झनझनाहट को जन्म देता है । इसके द्वारा व्यक्ति शक्ति के उत्स से जुड़ता है और बहुविध सक्रियता की शक्ति अर्जित करता है ।

जिह्वा को तालु से लगाने तथा मन्दगति से लगातार सहलाने पर मधु मिठास की सी अनुभूति होती है । इसी मधु-मिठास को मादक सोमरस कहा गया है जो ब्रह्मलोक से टपकता है । इसमें आनन्द और उल्लास, उत्साह दोनों ही समाविष्ट हैं ।

शान्त मस्तिष्क को ब्रह्मलोक और निर्मल मन को क्षीर सागर माना गया है । ब्रह्म यों तो सर्वव्यापी हैं, पर उसकी विशेष सत्ता ब्रह्मलोक में मानी जाती है । मनुष्य और ब्रह्मलोक का आदान-प्रदान ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से होता है । ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् मस्तिष्क का मध्य बिन्दु । ब्रह्माण्ड के मध्य में ब्रह्मलोक माना गया है । मस्तिष्क के मध्य में ब्रह्मरन्ध्र है । इसे जीव सत्ता का नाभिक-न्यूक्लियस कह सकते हैं । इसी का नाम सहस्रार कमल है । जीव और ब्रह्म के मध्य अति महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान का माध्यम यही है । पृथ्वी की सम्पदा अन्तर्ग्रही आदान-प्रदानों से संचित हो सकी है और सूक्ष्म आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटते रहते हैं । इस लेन-देन का द्वार ध्रुव केन्द्र है । ठीक इसी प्रकार मस्तिष्क रूपी मानवी ब्रह्मलोक का मध्य केन्द्र ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार कमल है—यह जितना सशक्त दुर्बल होता है, विकसित-अविकसित रहता है उसी अनुपात में जीव सत्ता को ब्रह्म सत्ता के अनुदान प्राप्त कर सकने की सम्भावना बढ़ती है ।

पृथ्वी काया है और सहस्रार उसके आकाश में उगा हुआ सूर्य । धरती को अपरिमित अनुदान सूर्य से मिलते हैं । प्रत्यक्ष काय कलेवर को दिव्य विभूतियों का लाभ सहस्रार रूपी सूर्य से मिलता है । शास्त्रकारों ने ब्रह्मलोक की स्थिति और उपयोगिता को अलंकारिक चित्रणों द्वारा भली प्रकार समझा दिया है । विष्णु भगवान क्षीर सागर में सहस्त्र फन वाले सर्प पर शयन कर रहे हैं, लक्ष्मी जी उनके पैर दबा रही हैं । मस्तिष्क के खोखले में भरी हुई मज्जा ही क्षीर सागर है । सहस्र दल कमल, सहस्र फन वाला सर्प है । ब्रह्म तत्व का केन्द्रीय नाभिक, विष्णु इसी पर निद्रित स्थिति में पड़ा है । सिद्धियों और विभूतियों की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी उसी प्रसुप्त विष्णु के साथ सटी हुई हैं । सूक्ष्म जगत की, सूक्ष्म सत्ता की स्थिति का यह अलंकारिक किन्तु सही चित्रण है । विष्णु सत्ता के सानिध्य और अनुग्रह का लाभ लेना हो तो वहाँ तक पहुँचना चाहिए । यही खेचरी मुद्रा की साधना है ।

ब्रह्मा शान्त समुद्र में कमल पुष्प पर बैठकर तप करते हैं यह भी मस्तिष्कीय ब्रह्मरन्ध्र का ही चित्रण है । कैलाशवासी शिव के गले में सर्प पड़ा है । कैलाश मानसरोवर से घिरा है । यह भी प्रकारान्तर से वही वर्णन है । महासर्प का चित्रण यहाँ कुण्डलाकार ब्रह्म वैभव के रूप में किया गया है । वह विष्णु के नीचे और शिव के गले में है । इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्म सत्ता के निकट तक पहुँचने वाला ही भौतिक और आत्मिक वैभवों से सच्चे अर्थों में लाभान्वित हो सकता है ।

अन्तर्जगत के इस ब्रह्मलोक की, सहस्त्र शीर्षा पुरुष की सहस्र धारा से सम्बन्ध बनाने और उससे होने वाली अमृत वर्षा का लाभ देने के लिए खेचरी मुद्रा का साधन बताया गया है । ध्यान मुद्रा में शान्त चित्त से बैठकर जिह्वाग्र भाग को तालु मूर्धा से लगाया जाता है । सुहलाने जैसे मन्द-मन्द स्पन्दन पैदा किए जाते हैं उस उत्तेजना से सहस्र दल कमल की प्रसुप्त स्थिति जागृति में बदलती है । बन्द छिद्र खुलते हैं और आत्मिक अनुदान जैसा रसास्वादन जिह्वाग्र भाग के माध्यम से अन्तःचेतना को अनुभव होता है । यही खेचरी मुद्रा है ।

तालु मूर्धा को कामधेनु की उपमा दी गई है और जिह्वाग्र भाग से उसे सुहलाना पयपान कहा गया है । तान्त्रिक हठयोगी उसे विषयानन्द स्तर का ब्रह्मानन्द कहते हैं । इस क्रिया से आनन्द और उल्लास की अनुभूति होती है । यह दिव्यलोक से आत्मलोक पर होने वाली अमृत वर्षा का चिह्न है । देवलोक से सोमरस झरता है । अमृत कलश से अनुदान पाकर आत्मा को अमरता की अनुभूति का आनन्द मिलता है । यह खेचरी मुद्रा की साधना से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं का ही अलंकारिक वर्णन है । इन विवेचनाओं से इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, यदि भावना और क्रिया का सही समन्वय करके इस साधना को किया जा सके तो चेतना क्षेत्र में आनन्द और कार्य क्षेत्र में उल्लास की उपलब्धि होती है । यह लाभ ही प्रकारान्तर से भौतिक और आत्मिक जगत के अनेकों लाभों का आभास कराता है । त्राटक का ऊपर से और खेचरी का नीचे से प्रभाव पड़ने के कारण साधक का ब्रह्मलोक उसका मध्य बिन्दु सहस्रार अपनी जागृत समर्थता का परिचय देने लगता है ।

'ख' कहते हैं आकाश को । 'खे' अर्थात् आकाश में, 'चरी' यानी विचरणाशीला, भाव-श्रद्धा का नाम है, खेचरी । इसलिए खेचरी साधक को इस बात को कभी भी भूलना नहीं चाहिए कि उसे भाव-श्रद्धा के आकाश में विचरण करना है । जो भावना के आकाश में विचरण न कर, माँस-मज्जा में ही सारा ध्यान लगाये है, वह जीभ को उलटकर तालु में चाहे जितनी देर लगाये रहे, खेचरी साधना नहीं कर रहा है । मात्र एक दैहिक क्रिया विशेष कर रहा है । कोई भी साधना केवल दैहिक नहीं होती है । उसका आध्यात्मिक होना ही उसे साधना की संज्ञा देता है ।

इस आधारभूत तथ्य को ध्यान में रखकर खेचरी साधना करने से वे सभी लाभ प्राप्त होते हैं जो शास्त्रों में वर्णित हैं । गायत्री-साधकों को खेचरी के अभ्यास में शारीरिक अवयवों पर अनावश्यक दबाव न डालकर उस प्रक्रिया को प्रधानतः ध्यान परक भावना मूलक ही रखना चाहिए और गायत्री माता के दुग्धामृत का पान करने का ही भाव जागृत रखना चाहिए ।

यों ब्राह्मी चेतना की सविता रश्मियाँ मनुष्य के भीतर आनन्द और उल्लास के रूप में अनवरत झरती-बरसती रहती हैं, किन्तु उस अमूल्य अनुदान के प्रति अधिकांशतः व्यक्ति अनजान ही बने रहते हैं । बाहरी वस्तुओं की ओर भागते-दौड़ते हुए वे इस सर्वाधिक समीप विद्यमान ब्रह्मलोक के प्रति उपेक्षा ही पाते रहते हैं । खेचरी मुद्रा की साधना ब्रह्मलोक से ब्रह्मरन्ध्र से सामीप्य साधती है और उस केन्द्र के अनुदानों को उसी प्रकार चूसती है जैसे छोटे बालक का मुख माता का स्तन चूसता है । यह भावना एक कल्पना सूक्ष्म शरीर में एक विशेष प्रकार की सुखद एवं उत्साहवर्धक गुदगुदी उत्पन्न करती है । उसका रसास्वादन देर तक करते रहने को जी करता है । यही है वह भावनात्मक पय जिससे अन्तःचेतना के अमृत से सम्पर्क बनता है और अन्तर्मुखी होकर अन्तर्जगत में एक से एक बढ़ी-चढ़ी दिव्य सम्वेदनाओं की अनुभूति का द्वार खुलता है ।

यह भावनात्मक पक्ष जिसमें जागृत है, वही इसके क्रियापक्ष का भी पर्याप्त लाभ उठा पाता है । क्योंकि खेचरी की क्रिया भी प्राण-सम्वेदना से ही जुड़ी है और उसकी सम्पर्क अनुभूति के लिए सूक्ष्म सम्वेदनशीलता आवश्यक है । तालु गह्वर में, टॉंसिल से ऊपर नेसोफैरिक्स केविटी में बिखरे-फैले सम्वेदना-बिन्दुओं की सूक्ष्म हलचल को गहराई से अनुभव कर सकने के लिए जागृत सम्वेदना आवश्यक है । इसीलिए खेचरी-साधना के क्रियापक्ष में भी भाव सम्वेदना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है ।

इस केविटी में जिह्वा के अग्रभाग का सतत मृदु आघात खेचरी क्रिया है । क्रिया को ठीक से कर सकने के लिए ही जिह्वा को लम्बी और लचीली बनाया जाता है । यहाँ यह भी स्मरणीय है कि जिह्वा तीन प्रकार की होती हैं : प्रथम, नाग-जिह्वा, द्वितीय, धेनु-जिह्वा

और तृतीय, हस्ति-जिह्वा । इसमें से धेनु-जिह्वा और हस्ति-जिह्वा अपेक्षाकृत कम लम्बी होती हैं तथा इनके ही नीचे की मोटी नाड़ियों का हठयोग में छेदन किया जाता है । नाग-जिह्वा नैसर्गिक रूप से लम्बी और तीक्ष्ण होती है और जिनकी जिह्वा ऐसी हो, उन्हें खेचरी क्रिया अधिक सरल होती है । दूसरे प्रकारों वाली जिह्वा रखने वाले साधकों को भी छेदन के स्थान पर सुदीर्घ अभ्यास का ही सहारा लेना चाहिए । अंगूठे और तर्जनी की सहायता से जीभ के नीचे हल्का-सा उच्छेदन करने और थोड़ा-सा घी या मक्खन लगाकर जीभ को हल्के-हल्के नित्य खींचने से भी क्रमशः जीभ पर्याप्त लम्बी हो जाती है ।

जीभ को तालु गह्वर में घुसाकर निश्चित क्रमताल से ठेलना चाहिए । तालु और जिह्वा के हल्के संस्पर्श स्थिर नहीं वरन् हल्के रगड़े जैसे होते रहते हैं । इसमें घड़ी के पेण्डुलम जैसी गति बनती है । गाय को दुहते समय भी इसी से मिलती-जुलती क्रिया-पद्धति कार्यान्वित होती है । रति-कर्म की प्रक्रिया भी इसी प्रकार की है । रगड़ने से ऊर्जा का, हलचल का उत्पन्न होना सर्वविदित है । यह ऊर्जा स्थूल और कारण शरीरों को प्रभावित करती है । उन्हें बल देती है, सक्रिय करती और समर्थ बनाती है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों के अनावरण में इससे सहायता मिलती है । षट्चक्रों को जागृत करने में भी खेचरी मुद्रा से उत्पन्न ऊर्जा की एक बड़ी भूमिका रहती है । इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कुण्डलिनी जागरण में खेचरी मुद्रा को महत्त्व दिया गया है । जिह्वा की 'ऋण-विद्युत' ब्रह्मलोक से, ब्रह्मरन्ध्र से अन्यान्य अनुदानों की सम्पदा के 'धन भण्डार' को अपने चुम्बकत्व से खींचती, घसीटती है और उसकी मात्रा बढ़ाते-बढ़ाते अपने अन्तःभण्डार को दिव्य विभूतियों से भरती चली जाती है । इन्हीं उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा उत्पन्न लाभों का सुविस्तृत वर्णन योग ग्रन्थों में लिखा और अनुभवियों द्वारा बताया तथा मिलता है । तालु गह्वर के जो-जो सम्वेदन केन्द्र सामान्यतः प्रसुप्त रहे आते हैं, खेचरी-साधना में मृदु रगड़ द्वारा वे जागृत, उत्तेजित हो उठते हैं । भावना के सहयोग से यह उत्तेजना एक विशेष आध्यात्मिक स्पन्दन का रूप ले लेती है । इस प्रकार भावना के संयोग के साथ यह क्रिया साधारण-सी होते हुए भी प्रतिक्रिया की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है । अचेतन के साथ सम्बन्धित अतीन्द्रिय ज्ञान के विकास विस्तार में उससे असाधारण सहायता मिलती है ।

मुख गह्वर में रहने वाली रसेन्द्रियाँ इस मृदु रगड़ से विशेष स्राव छोड़ने लगती हैं । ये विशिष्ट रसस्राव स्वास्थ्य के लिए लाभकारी होते हैं लेकिन जिसे अमृतपान या सोमरस का पान कहा जाता है, वह इस रसेन्द्रिय से उद्भूत रस नहीं है, क्योंकि अमृत या सोम का निवास तालु-गह्वर में नहीं, सहस्रार में होता है और वह चेतना-रस है, द्रव्य-रस नहीं । आंगिक क्रिया उस चेतना से भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित कराने में सहायक सिद्ध होती है । यही उसका महत्त्व है ।

सहस्रार-चक्र स्थिति आनन्दमय कोश-श्रद्धा और भक्ति का उद्गम केन्द्र है । यहाँ ईश्वर मिलन की अनुभूति होती है । मूलाधार में अवस्थिति जीव-चेतना कुण्डलिनी को सहस्रार स्थित ब्रह्म-चेतना में मिलाया जाता है । शक्ति शिव से मिलती है अग्नि कुण्ड में दग्ध हुई सती को फिर नये शरीर से शिव को वरण करने का अवसर मिलता है । अस्तु ईश्वर मिलन का लक्ष्य पूरा करने के लिए गायत्री की उच्चस्तरीय पंचकोशी साधना में खेचरी मुद्रा से लेकर कुण्डलिनी जागरण तक की विधि व्यवस्था बनी है । भावनात्मक क्षेत्र में इस दिव्य मिलन की प्रतिक्रिया आनन्द और उल्लास के रूप में दृष्टिगोचर होती है । संसार के श्रेष्ठ देवपक्ष को देखते हुए प्रसन्न होना-आनन्द है और निकृष्ट दैत्यपथ को निरस्त करने के लिए उमगते हुए, शौर्य, साहस का नाम है उल्लास । धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए ईश्वर का अवतार होने की प्रतिज्ञा को साधक अपने ही भीतर पूरी होते देखता है । उसे लगता है कि भगवान का अवतार आनन्द और उल्लास के, श्रद्धा और भक्ति के, कुण्डलिनी जागरण तथा अमृतश्रवण के रूप में अपने ही भीतर हो रहा है । आनन्दमय कोश का यह भाव-पक्ष है जो अमृत-बोध और सोमपान की अनुभूति प्रदान करता है । अमृतत्व का चेतना की अविनाशिता और निरन्तरता का बोध आनन्द है तथा सोमरस, प्राणरस का सतत प्रवाह उल्लास है ।

आनन्द और उल्लास भरी मनःस्थिति उत्पन्न करने में खेचरी मुद्रा का जो योगदान मिलता है, उसके फलस्वरूप साधक को हर स्थिति में हँसते-हँसाते रहने और हल्की-फुल्की जिन्दगी जीने का अभ्यास करना पड़ता है। कर्मठता और जागरूकता से सामान्य जीवन-क्रम में पग-पग पर सफलताएँ मिलती हैं और कठिनाइयों के मध्य सरलताएँ उत्पन्न होती हैं। इन लाभों को सामान्य नहीं समझना चाहिए। ब्रह्मलोक के दिव्य अनुदान पाकर मानवी सत्ता ऋषि कल्प देवतुल्य, बनने के लिए अग्रसर होती है। खेचरी मुद्रा का यह विशिष्ट लाभ आनन्द उल्लास की उपलब्धि ही है। साधक के लिए यही हर दृष्टि से श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

अमृत कलश एवं उसका रसपान

स्वर्ग में देवताओं की सुरक्षा में अमृत कलश है। इस कथन की व्यावहारिक संगति इस तरह बिठाई जाती है कि मस्तिष्क स्वर्ग है। उसमें ब्रह्मरन्ध्र को अमृत कलश समझा जाता है। उससे नीचे की ओर जो रस टपकता है वह सोमरस है। मनुष्य लोक का अमृत यही है।

साधारणतया मुख्य क्षेत्र में रासायनिक स्राव चलते रहते हैं। उनसे मुख गीला बना रहता है और अपने जिम्मे के कार्यों को ठीक तरह संचालित करने में समर्थ रहता है। यह स्राव न निकले तो मुँह सूख जाय। बोलते-खाते न बने। गला चटकने लगे। भोजन करते समय इन रसों के प्रवाह में तीव्रता आती है। ग्रास को उसका समुचित सम्मिश्रण हो जाने पर वह सुपाच्य भी बन जाता है और गले में नीचे सरलतापूर्वक खिसक भी जाता है। मोटी जानकारी के हिसाब में शरीर विज्ञानी इतना ही इस रस का उपयोग बता पाते हैं और उसकी उपयोगिता स्वीकार करते हैं।

किन्तु अध्यात्म विधा के आधार पर वह स्राव मात्र उच्चारण और पाचन की जिम्मेदारी निबाह सकने की स्थिति में मुख गह्वर को बनाये नहीं रहते, वरन् एक विशेष प्रकार के हारमोन स्तर के अनुदानों की आवश्यकता भी पूरी करते हैं। वे समूचे पाचन तन्त्र को प्रभावित करते हैं और मस्तिष्क की जड़ों को उलट कर सींचते भी रहते हैं। मुँह सूखने लगे तो तीव्र ज्वर अथवा भय आतंक का बोध होता है। इन स्रावों के अभाव में मनुष्य जीवित भी नहीं रह सकता।

इनकी मात्रा बढ़ जाने से जीवनी शक्ति बढ़ती है और मस्तिष्क को उत्तेजना मिलती है। पान, सुपाड़ी, इलायची आदि मुँह में डाले रहने का प्रभाव यही समझा जाता है कि मस्तिष्कीय स्राव अधिक मात्रा में निकलने लगें और उनके कारण उत्साह एवं क्रियाशीलता का दौर बना रहे। इस निमित्त कई व्यक्ति तम्बाकू भी खाते हैं पर वे यह भूल जाते हैं कि इस प्रकार के कृत्रिम दोहन में अक्षय भण्डार के सूखने जैसी कितनी ही हानियाँ भी होती हैं।

इन स्रावों की मात्रा एवं गुणवत्ता बढ़ाने के लिए इतना ही पर्याप्त है कि उस ओर ध्यान दिया जाय। रसों के स्राव एवं उसकी गुणवत्ता पर विश्वास किया जाय। इतने भर से एक अन्तःस्रावी टॉनिक का लाभ मिलने लगेगा। उसका शारीरिक ही नहीं मानसिक स्वास्थ्य पर भी असर पड़ेगा। अध्यात्म सन्दर्भ में यह टॉनिक सोमरस है। उससे मानवी सत्ता के अन्तराल तक प्रभाव पहुँचता है जिससे जीवनी शक्ति बढ़ने के बहुमुखी प्रभाव परिलक्षित होते देखे जाते हैं।

देवी भागवत और शिव संहिता में बताया गया है कि कुण्डलिनी जागरण में बाधा पड़ने का एक विशेष व्यवधान खेचरी मुद्रा का अभ्यास न होना है। यदि उसे आरम्भ में ही सम्पन्न कर लिया जाय तो आगे चलकर कठिनाई न पड़े।

योग रसायन में यह कहा गया है कि मुख गह्वर में लघु कुण्डलिनी है जिसे खेचरी मुद्रा द्वारा जागृत किया जाता है। इसके लाभ भी न्यूनाधिक मात्रा में वैसे ही हैं जैसे विशाल कुण्डलिनी के जागरण में मिलते हैं।

योग सूत्र में लिखा है—तालु के ऊर्ध्व भाग में महत् ज्योति का निवास है। उसके दिव्य दर्शन से सिद्धियों की प्राप्ति होती है।

घेरण्ड संहिता में उल्लेख है कि—"खेचरी विद्या से शरीर सौन्दर्यवान बनता है। समाधि का आनन्द मिलता है। दिव्य रसों की अनुभूति होती है। यह साधना परम श्रेयस्कर है।"

शिव संहिता का कथन है कि—"खेचरी मुद्रा का साधक आत्मनिष्ठ हो जाता है । पाप मुक्त होकर परमगति को पाता है । मनोलय और ब्रह्मलीन होने के समाधि स्तर के लाभ मिलते हैं ।"

दैवी भागवत का कथन है—"अमृतधारा, सोमवाहिनी-खेचरी तालु देश में कुण्डलिनी बनकर निवास करती है । इस रहस्य को जानने वाले सरलतापूर्वक बड़ी उपलब्धि प्राप्त करते हैं ।"

जिह्वा मूल में जो ऋणात्मक शक्ति है उसे नारी स्तर की रयि कहा गया है और तालु का काक चंचु नर स्तर का प्राण है । इनका मिलन विषयानन्द और ब्रह्मानन्द का सम्मिश्रण है । कुण्डलिनी जागरण में भी यह प्रक्रिया कार्यान्वित होती है ।

कुण्डलिनी में कामेन्द्रिय को नियन्त्रित करके ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया है । खेचरी मुद्रा में रसना इन्द्रिय को परिमार्जित किया जाता है । रस के दो ही केन्द्र हैं एक स्वादेन्द्रिय दूसरा कामेन्द्रिय । कामेन्द्रिय को काबू में लाने से पूर्व जिह्वा की रसना शक्ति पर नियन्त्रण करना होता है । दोनों के आकार भी लगभग एक जैसे ही हैं और स्वाद में भी तनिक-सा ही अन्तर है । इन दोनों में ही विलासिता की अति रहती है । दोनों ही शारीरिक मानसिक क्षमताओं का असाधारण क्षरण करती हैं । इसलिए रस तन्मात्रा की उच्छृंखलता को नियन्त्रित करके इन्द्रिय निग्रह का उद्देश्य पूरा करना पड़ता है । जिह्वा के तालु भाग से स्रवित होने वाले सोमरस से सम्बन्ध जोड़कर उसे स्वाद से सम्बन्धित मर्यादाओं का पालन करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है साथ ही उच्चारण में मधुरता, शिष्टता, नम्रता का समावेश रखने के लिए कहा जाता है । द्रोपदी के मुख से कौरवों के लिए व्यंग्य उपहास अपमान भरे शब्द निकल गए थे, उसका परिणाम महाभारत हुआ और द्रोपदी को अपने पाँच पुत्रों से हाथ धोना पड़ा । जिह्वा इन्द्रिय, दसों इन्द्रियों में मूर्धन्य है, उसमें समाविष्ट शिष्टता और अशिष्टता के भले-बुरे परिणाम मनुष्य को जीवन भर भोगने पड़ते हैं । इसलिए उसे सोमरस का रसास्वादन कराते हुए सज्जनोचित नम्रता के साथ उच्चारण करने की कला सिखाई जाती है ।

तालु क्षेत्र को धन विद्युत का भण्डार कहा गया है । सर्वविदित है कि ऋण और धन प्रवाहों के संयुक्त हो जाने पर विद्युत धारा चल पड़ती है । वह जहाँ भी पहुँचती है वहाँ स्थिति के अनुरूप हलचल उत्पन्न करती है । मस्तिष्क क्षेत्र में जाकर उसके कार्य चिन्तन में उत्कृष्टता का और बुद्धि में तीक्ष्णता का समावेश सम्वर्धन होता है ।

इतना ही नहीं प्रतिभा के अनेक केन्द्रों का स्थान जिस क्षेत्र में है उसको इस तालु घर्षण में उत्तेजना मिलती है और साधक अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान अधिक सूक्ष्मदर्शी बनने लगता है ।

आत्मा का परमात्मा से मिलन जिस ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार के साथ होता है, उसका समीपस्थ स्थान वह तालु भाग ही है । वहाँ सब कुछ प्रसुप्त निष्क्रिय पड़ा रहता है, पर खेचरी मुद्रा की रगड़ से पेण्डुलम जैसी गति उत्पन्न होती है और आत्मा को परमात्मा से, परमात्मा को आत्मा से लिपटने के लिए उत्तेजित करती है । यह उत्तेजना ब्रह्म मिलन, ईश्वर सानिध्य में अतीव सहायक सिद्ध होती है ।

रगड़ से आगे बढ़ने और पीछे हटने की दो क्रियाएँ होती हैं । तत्व दर्शन में इसकी विवेचना इस प्रकार की गई है कि साधक अवांछनीय दुष्प्रवृत्तियों से पीछे हटता और सत्प्रवृत्तियाँ अपनाने की दिशा में आगे बढ़ता है । उस अनौचित्य के परित्याग और औचित्य के अवधारण का परिणाम आत्मिक प्रगति के रूप में सामने आता है । उस महान प्रयोजन की पूर्ति में खेचरी मुद्रा जितनी सहायता करती है उतनी और कोई प्रक्रिया नहीं ।

इसके दो परिणाम और भी हैं—एक उत्साह, दूसरा उल्लास । शरीर उत्साह के अभाव में आलसी अनगढ़ बनता है और मन में उल्लास न हो तो वह मन्दगति, प्रमादी, अदूरदर्शी बनता है । इन दोनों दुर्भाग्यों को दूर करने में खेचरी मुद्रा दैवी वरदान जैसी सिद्ध होती है ।

कभी समझा जाता था कि हृदय मनुष्य का जीवन-केन्द्र है । उसकी धड़कन ही जीवन-तंत्र का सूत्र संचालन करती है । रक्त का भण्डार उसी पर आश्रित है और साहस का शक्ति का प्रतीक भी वही है पर अब शरीर विज्ञान के शोधकर्त्ताओं ने वह मान्यता बदल दी है । अब मस्तिष्क के मध्य केन्द्र को शक्ति पुंज माना जाने लगा है । उसमें भरा हुआ भूरा-लिवलिवा

पदार्थ ग्रे मैटर चिन्तन के काम आता है । कल्पना, बुद्धि विचारणा आदि उसी के माध्यम से क्रियारत रहते हैं । सूझ-बूझ समझदारी और योजनाओं का निर्माण इसी क्षेत्र में होता है । यह अगला भाग है । पिछले भाग में अचेतन की स्वचालित गतिविधियों का स्वसंचालन तारतम्य बनता है । श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष, निन्द्रा-जागरण आदि का ढर्रा उसी की प्रेरणाओं से गतिशील रहता है । भीतरी अवयव उसी की प्रेरणा से काम करते हैं और विभिन्न प्रकार के पाचन स्राव इसी केन्द्र के नियन्त्रण में अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं ।

इसलिए प्राण शक्ति का प्रमुख केन्द्र अब मस्तिष्क को माना जाने लगा है । उसके सही रहने पर मनुष्य साधारण साधनों से भी स्वस्थ एवं परिपुष्ट बना रहता है । इसके विपरीत उसका सन्तुलन बिगड़ जाने पर अनेकों अवयव लड़खड़ा जाते हैं और अनेकों रोग उठ खड़े होते हैं । अब संसार भर के शरीर विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचते जा रहे हैं कि शरीर को निरोग रखने या रोग मुक्त करने के लिए मानसिक तन्त्र को सँभाला सुधारा जाना चाहिए । उसके बिना दवा दारू और शल्य क्रिया अपना वह उद्देश्य पूरा नहीं कर सकती जो उसे करना चाहिए । इसलिए अब प्रधानता हृदय से हट कर मस्तिष्क पर आधारित हो गई है । धड़कन बन्द होने से अब मृत्यु नहीं मानी जाती वरन् यह देखा ज़ाता है कि मस्तिष्क की विद्युत तरंगों का उठना बन्द हुआ या नहीं ।

व्यक्ति ब्रह्माण्ड का एक घटक है । उसी प्रकार धरती इस निखिल विश्व की छोटी इकाई । पृथ्वी के पास जो वैभव है वह उसका नहीं है वरन् अन्तर्ग्रही है । उसे उर्वरता तक सूर्य से मिलती है । इसके अतिरिक्त धरातल पर काम करने वाली अनेकानेक क्षमताएँ अन्यान्य ग्रह नक्षत्रों से उपलब्ध होती हैं । वे उत्तरी ध्रुव को चुम्बकत्व द्वारा खींची जाती हैं और जितनी मात्रा आवश्यक है उतनी काम में लेने के पश्चात दक्षिणी पूर्व मार्ग से निकाल बाहर की जाती हैं । इसी आधार पर पृथ्वी की विशिष्टता और वरिष्ठता बनी हुई है ।

मस्तिष्क का मध्य केन्द्र रेटीकुलर ऐक्टिवेटिंग सिस्टम है । उसमें से हर क्षण विद्युतीय चिनगारियाँ उछलती रहती हैं । यही है वह विद्युत उत्पादक केन्द्र जो समस्त शरीर को जीवनीशक्ति की प्राण विद्युत की पूर्ति करता है । जीवन और मृत्यु का दारोमदार इसी के द्वारा उत्पन्न किए गए स्फुल्लिंगों पर निर्भर है ।

यह उद्गम उद्भव मात्र शरीर में काम आने वाली क्षमताओं का ही उत्पादन नहीं करता वरन् आध्यात्मिक स्तर के दिव्य अनुदान भी इसी केन्द्र द्वारा ब्रह्म चेतना के विपुल भण्डार से खींचे जाते हैं और व्यक्ति दिव्य-शक्तियों के साथ तालमेल बिठाने के लिए इसी केन्द्र के सहारे अग्रगामी होता है ।

इस केन्द्र के रहस्योद्घाटन पौराणिक उपाख्यानों में अनेक प्रकार से हुए हैं । इसे कैलाश मान सरोवर बता कर उस पर उमा-महेश की स्थापना की गई है । यही क्षीरसागर है । इसी में सहस्रमुखी शेषशय्या पर लक्ष्मी नारायण शयन करते हैं । वस्तुतः यह दिव्यशक्तियों का निरूपण है । यहाँ स्वर्गलोक से पृथ्वी पर ज्ञान गंगा का अवतरण होता है । यही विष्णुनाभि से निकला वह कमल पुष्प है, जिस पर ब्रह्मा विराजते हैं, सृष्टि रचते हैं और उसमें वेद ज्ञान का सम्पुट लगाते हैं ।

वृक्ष का कलेवर ऊपर होता है और उसकी जड़ नीचे होती है । वृक्ष की शोभा सम्पदा ऊपर दीखती है पर उसकी जड़ जमीन में दबी रहती है । समझना चाहिए कि समूची काया एक पेड़ है और उसकी जड़ तालु में है । तालु की बनावट भी नीची-ऊँची ऊबड़-खाबड़ है । उसके पीछे जो माँस पिण्ड लटकता है—जिसे युव्युला भी कहते हैं, यहाँ समूचा भाग ब्रह्मरन्ध्र में अवस्थित चुम्बकत्व का अधोभाग है । उसमें भी दिव्य रस भरा रहता है । कोई चाहे तो उसका खेचरी मुद्रा द्वारा रस पान कर सकता है । इसमें अन्य साधनाओं की भाँति स्थिर शरीर और शांत चित्त रखने की प्रथम शर्त्त तो पालन करनी ही पड़ती है । इसके अतिरिक्त जिह्वा को उलट कर जितना अधिक पीछे ले जाना सम्भव हो उसके लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए । जब जीभ कुछ पीछे जाने लगे और उसकी नोंक का निचला भाग जब तालु के भीतरी भाग को छूने लगे तब समझना चाहिए कि अब स्थिति ठीक बन गई है ।

तालु का अगला भाग तो भोजन में, बोलने में काम आता रहता है उसी प्रकार जीभ की ऊपरी सतह,

पिछला भाग तथा नोंक भी स्वाद बताने तथा मुँह को गीला रखने के लिए रस बहाने में लगी रहती है । अध्यात्म प्रयोजनों में जीभ का निचला भाग और तालु का पिछला भाग ही काम आता है । प्रयत्न यह करना चाहिए कि जिह्वा त्रिकुटी केन्द्र की सीध तक पहुँच जाय और वहाँ वैसी क्रिया करने लगे जैसे कि बच्चा माँ का दूध चूसता है ।

यहाँ भृकुटी और त्रिकुटी का अन्तर हमें समझना चाहिए । दोनों भौंहों के बीच का स्थान भृकुटी कहलाता है । तृतीय नेत्र का स्थान यही है । त्रिकुटी उसे कहते हैं, जिसमें एक रेखा दोनों कानों के बीच खींची जाय और दूसरी भृकुटी के पिछले भाग तक । तब वे दोनों जहाँ-कहीं भी मिलेंगी, वह स्थान त्रिकुटी कहलायेगा । साधारणतया उसे कानों के मध्यवर्ती भाग में अवस्थित समझना चाहिए । लगभग यही गले का माँस पिण्ड थन की तरह लटकता रहता है ।

इसी त्रिकुटी स्थान में खेचरी मुद्रा का अभ्यास किया जाता है । यही ब्रह्मरन्ध्र का अधोभाग है । उसी को अमृत स्राव-स्थली कहते हैं ।

जिह्वा के निचले भाग को इसी तालु के पृष्ठ भाग से स्पर्श करना चाहिए और बहुत ही धीमी गति से इसे परस्पर रगड़ना चाहिए । यह रगड़ ऐसी हो जिससे दोनों में से किसी भी भाग पर दबाव न पड़ने पावे । रगड़ में कोई क्षति न हो वरन् ऐसा लगे मानो गुदगुदाया-सहलाया जा रहा है । छोटे बच्चे माँ का दूध पीते समय इसी स्तर की क्रिया करते हैं । इनके होंठ भी कोमल होते हैं और माता का चुंचुक भाग भी । तनिक-सी सहलाने की क्रिया चलते ही दूध स्रवित होने लगता है । खेचरी मुद्रा में भी यही स्थिति होती है ।

देव लोक में अमृतघट है । यह पौराणिक उपाख्यान है । समुद्र मन्थन के उपरान्त थोड़ा-थोड़ा भाग देवताओं को पिलाने के उपरान्त उस घट को धन्वन्तरि की सुपुर्दगी में देवलोक मे सुरक्षित रखा गया है । यह मस्तिष्क रूपी स्वर्ग का रूपक है । ध्यान-धारणा यहीं की जाती है । ब्रह्मा, विष्णु, महेश का निवास इसी में है । क्षीरसागर, मानसरोवर, अमृतघट की स्थापना यहीं है । ईश्वर दर्शन और आत्मदर्शन यहीं होता है । समाधि यहीं लगती है और तुरीयावस्था का आनन्द इसी स्थान पर मिलता है ।

जिह्वा द्वारा तालु को सहलाने-गुदगुदाने की क्रिया द्वारा मस्तिष्क में सुरक्षित अमृत का एक भाग ऊपर से नीचे उतरता है और वह शरीर के अन्यान्य भागों में चला जाता है । ऐसी आध्यात्मवादियों की मान्यता है ।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से आशा, उत्साह, स्फूर्ति एवं उमंग का शरीर क्षेत्र में अनुभव होता है । ज्ञानेन्द्रियाँ अपना काम तो पूर्ववत् करती हैं पर उनका दृष्टिकोण बदल जाता है । क्रियाकलाप में उत्कृष्टता का समावेश होने लगता है और क्रियाशक्ति में उत्साह जनक अभिवर्धन हुआ दीख पड़ता है । शास्त्रों में खेचरी मुद्रा के और भी अनेक प्रभावों का वर्णन है । मस्तिष्क को नीचे से भी प्रोत्साहन पोषण मिलने से उसकी जड़ें मजबूत होती हैं और चेतना शरीर अपेक्षाकृत अधिक वेग से ऊपर उभरने लगता है ।

मस्तिष्क को स्वर्ग लोक की संज्ञा दी गई है । स्वर्ग में देवता निवास करते हैं । देवता अर्थात् दिव्य आदर्श । वे अमृत पीते हैं । अपने यश शरीर में अमर रहते हैं और जिन पर अनुग्रह करते हैं, उन्हें सोमरस पिलाते हैं ।

सोमरस के बारे में यह मान्यता सही नहीं है कि वह भाँग जैसी मादक जड़ी बूटी है । यह भ्रम पूर्वकाल में भी था और इसी बहाने कई भ्रम-ग्रस्त मादक द्रव्यों का सेवन करने लगे थे और अपने पक्ष में शिवजी को भी नशेबाजों की श्रेणी में गिनने लगे थे ।

इस भ्रम का निराकरण करते हुए अथर्ववेद १४/१३ में कहा गया है—"सोमरस जड़ी बूटी नहीं है । उसका आस्वादन तो ब्रह्म वेत्ता ही करते हैं और वे ही उस तत्व के रहस्य को जानते हैं ।" इसी वेद के ६/७/२ में कहा गया है कि "सोम मस्तिष्क का अधिष्ठाता है ।" ६/४/६ में कहा गया है, "सोम से भरा-पूरा दिव्य कलश इस मस्तिष्क में ही अवस्थित है ।"

ऋग्वेद के ६/५१/२ में कहा गया है—'सोम' इस भूलोक का अमृत है । ६/६६/१५ में कहा गया है, सोम में प्रज्ञा पवित्र होती है । ६/६३/२० में कहा गया है—सोम-पाई दिव्य भावनाओं से भर जाता है । शतपथ ब्राह्मण में ३/६/३/६ की उक्ति है कि यह

सोम ही विष्णु है । उसी के ३/५/३/१७ में कहा गया है कि मस्तिष्क ही देवलोक है वही यज्ञ भूमि है ।

इस रहस्यमय दिव्य लोक मनःक्षेत्र में अवस्थित अमृत रूपी सोम को व्यावहारिक जीवन में कैसे उतारा जाय ? व्यक्तित्व में सम्मिलित कैसे किया जाय ? इसका उत्तर दिव्य-दर्शियों ने खेचरी साधना के रूप में दिया है ।

इस साधना के आधार पर शरीर में उत्साह और मन में उल्लास भरता है । उसकी दिशा धारा उत्कृष्ट आदर्शवादिता की ओर होती है । इसी को ऊर्ध्व गमन कहते हैं । ब्रह्मलोक की महायात्रा भी यही है ।

इस तथ्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए ऋग्वेद ६/१७/७ में कहा गया है । हे सोम ! आत्मरक्षा के इच्छुक, देवत्व की अभिवृद्धि के उत्सुक नेतृत्व की क्षमता अर्जित करने वाले ब्रह्म परायण लोग तुझे प्रज्ञा द्वारा प्राप्त करते हैं ।

ऋतम्भरा प्रज्ञा ही महासरस्वती है उसका निवास परब्रह्म के साथ सहस्रार कमल पुष्प पर ही है । ऋग्वेद ६/७/७ में कहा गया है प्रज्ञा का रस सोम अज्ञान अन्धकार को नष्ट कर महाप्रज्ञा को प्रदान करता है । यह कुण्डलिनी साधना का आध्यात्मिक प्रसंग है ।

सोम के सम्बन्ध में शतपथ ताण्डव, ऐतरेय ब्राह्मणों में उसे वर्चस्, तेजस्, ओजस्, का ही यज्ञ बताया है और परमप्रतापी कहा है । प्रज्ञा का आधार बताया है । आत्मदर्शी ऋषि कहा है, और इन्द्र की उपमा दी है ।

इसे प्राप्त कैसे किया गया, इसका एक उपाय ब्रह्मचर्य कहा गया है और दूसरा अपनी क्षमताओं को सोम में होम देना बताया है । यहाँ सोम का तात्पर्य तालु की उच्च भूमिका में अवस्थित प्राणाग्नि की ओर संकेत है । प्रकारान्तर में यह खेचरी मुद्रा की प्रक्रिया बनती है । यह केवल क्रिया ही नहीं है उसमें आत्म-समर्पण की भावना भी है । जिह्वा हवि है और तालु अग्नि । दोनों के संयोग से ब्रह्म यज्ञ बनता है । यह बिना घृत शाकल्य का देव यज्ञ है । इसे तत्ववेत्ता करते हैं और ब्रह्मलीन स्थिति को प्राप्त करते हैं ।

ब्रह्मरन्ध्र सशक्त होते हुए भी ईंधन न मिलने के कारण अपनी दिव्य ऊर्जा गवाँ बैठता है । उसकी स्थिति गरम भस्म जैसी रह जाती है । यह गर्मी मात्र शरीर यात्रा एवं दैनिक समस्याओं के समाधान में ही खप जाती है । जिस आधार पर ब्रह्मवेत्ता, दिव्य शक्तियों का भाण्डागार बन जाता है । ऋषि या सिद्ध पुरुष बना जाता है, वह स्थिति बन नहीं पाती । इसके लिए योग साधनाओं का आश्रय लेना पड़ता है । ब्रह्म स्थिति प्राप्त करने के लिए मौन, एकाग्र, एकान्त में बन पड़ने वाली खेचरी 'साधना' अपने प्रयोजन के लिए अद्वितीय है ।

मनः संस्थान का केवल ७ प्रतिशत भाग ही जाना जा सका है । ९३ प्रतिशत अभी भी अविज्ञात है । इसे डार्क एरिया कहते हैं । अतीन्द्रिय क्षमताओं का इसी में निवास है । सूक्ष्म दर्शन, दिव्य दर्शन, भविष्य, प्राण-परिवर्तन जैसी अद्भुत क्षमताएँ इसी क्षेत्र में रहती हैं । उसका स्पर्श करने उभारने का और कोई मार्ग किसी ओर से नहीं है । केवल तालु का पिछला भाग ही ऐसा है जो अतीन्द्रिय क्षमताओं के क्षेत्र को नीचे से सहारा देकर ऊपर को उठा सके । मुख में जीभ ही एक मात्र ऐसा उपकरण है, जो तालुतल को स्पर्श करके मस्तिष्क के प्रसुप्त अविज्ञात क्षेत्र को जागृत करने और प्रदीप्त करने में समर्थ है । उसी क्षेत्र से सम्बन्धित, पिट्युटरी ग्रन्थि है । पीनियल का उसके साथ तारतम्य है, दोनों मिलकर शरीर के अन्यान्य अवयवों को संतुलित समृद्ध रखने वाले 'हारमोनों' को नियन्त्रित करती हैं । उन्हीं का अनुशासन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर चलता है, यह समूचा सर्किल छोटा होते हुए भी सुविस्तृत शरीर की गतिविधियों, हलचलों और समय-समय पर उभरने वाले ज्वार-भाटों को नियंत्रित करती है ।

मस्तिष्क विद्या के विज्ञानी जिह्वाग्र को एक विशेष प्रकार का जीवन्त इलेक्ट्रोड मानते हैं । उसकी क्षमता बढ़ाने के लिए भोंथरापन हटा कर, तीक्ष्णता उत्पन्न की जाती है । इस नुकीलेपन को निखारने के लिए तालुका पिछला भाग ही चुम्बक का काम करता है और इस योग्य बना देता है कि उसकी फेंकी हुई ऊर्जा मस्तिष्क गह्वर के किसी भी क्षेत्र तक पहुँचकर कर अपना काम कर सके । अन्य माध्यमों से यह कार्य बन पड़ना, अत्यधिक कठिन है ।

प्रख्यात शरीर शास्त्री डॉ. मैग्राथ ने अपनी 'ग्रेज एनाटोमी' पुस्तक में एडिनो हाइपोफाइसिस सम्बन्धी अध्याय में तालु मूर्धा के ठीक ऊपर एक ऐसी थैली

का वर्णन किया है जिसमें सेरिवोर-पायनल नामक द्रव भरा रहता है । यह द्रव न केवल शारीरिक वलिष्ठता, मानसिक-बुद्धिमत्ता को पोषण प्रदान करता है, वरन् भावना क्षेत्र में भी उत्तेजना प्रदान करता है । निष्ठुरता, सहृदयता जैसी प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र के संतुलन एवं अनगढ़पन से सम्बन्धित रहते हैं । द्रव को सही और सुरुचि सम्वर्धक बनाने में तालु के निचले भाग की विशेष भूमिका रहती है । इस निर्धारण में भी खेचरी मुद्रा से सम्बन्धित क्रियाकलापों द्वारा समूचे व्यक्तित्व प्रभावित करने की बात सिद्ध होती है ।

मालिश का अपना महत्त्व है । शरीर के विभिन्न अवयव मालिश किए जाने पर ऐसी स्थिति पैदा करते हैं, जिससे स्नायु संस्थान एवं रक्त संचार में अपने ढंग की हलचल चल पड़े । जिह्वा की नोंक से तालु के निम्न भाग की मालिश किए जाने का प्रभाव सामान्य मालिशों की अपेक्षा अनेक गुना व्यापक होता है । उसका शरीर के अंगों पर तो प्रभाव पड़ता ही है । मानसिक विशेषताओं को उभारने में उसका और भी अधिक योगदान है ।

फ्राँसिस ल्यूकेल की "इण्ट्रोडक्शन साइकोलॉजीकल फिजियालॉजी" में बताया है कि तालु को जिह्वा की नोंक से चूसते रहने पर मनुष्य अनेकों उपयोगी तत्व शरीर को जीवित रखने की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए प्राप्त कर सकता है ।

मस्तिष्क में भरे हुए भूरे लिव-लिवे पदार्थों को तत्वदर्शियों ने मानसरोवर की उपमा दी है और कहा है उसमें अनेकों नदियों का उद्गम है । ये नदियाँ सूक्ष्म विद्युत व्यवस्था के रूप में समूचे शरीर में अपना-अपना काम करती पायी जाती हैं । जिस नदी का उद्गम सूख जाता है या आवश्यकता से अधिक खुल जाता है । अस्तु उस क्षेत्र में सम्वन्धित अवयवों में ज्वार-भाटे आने लगते हैं और स्वास्थ्य संतुलन बिगड़ जाता है । स्थिति को सुधारने के लिए मानसिक उद्गम को ठीक करना पड़ता है । यह कार्य किसी और प्रकार नहीं, खेचरी, मुद्रा में प्रवीणता प्राप्त करके उन क्षेत्रों तक पहुँचा जा सकता है, जो स्वास्थ्य के शारीरिक एवं मानसिक क्षेत्र को गड़बड़ाने के लिए उत्तरदायी है । इस प्रकार खेचरी मुद्रा के सम्वन्ध में यदि समुचित ध्यान दिया जा सके तो उसे एक सफल चिकित्सा प्रणाली के रूप में विकसित किया जा सकता है ।

भावनाओं को उभारने या दबाने के सम्बन्ध में 'ब्रेन वाशिंग' की एक बड़ी ऊबड़-खाबड़ परिपाटी प्रचलित है । उससे भी विचार बदलने भर की सफलता मिल पाती है । भावनाएँ तो अन्तराल के किसी अविज्ञात क्षेत्र में उमड़ती हैं । उस उद्गम तक भी खेचरी मुद्रा द्वारा पहुँचा जा सकता है और हेय भावनाओं से भरे मानस को उत्कृष्ट सम्वेदनशील बनाया जा सकता है ।

खेचरी मुद्रा की प्रतिक्रिया और उपलब्धि

जिह्वा का उलट कर तालु से लगाना और अनुभव करना कि इसके ऊपर सहस्रार अमृत कलश से रिस-रिस कर टपकने वाले सोमरस का जिह्वाग्र भाग से पान किया जा रहा है, यही खेचरी मुद्रा है । तालु में मधुमक्खियों के छत्ते जैसे कोष्ठक होते हैं । सहस्रार को शतदल, सहस्र-दल-कमल की उपमा दी गई है । तालु सहस्र धारा है । उसके कोष्ठक शरीर शास्त्र की दृष्टि से उच्चारण एवं भोजन चवाने, निगलने आदि के कार्यों में सहायता करते हैं । योगशास्त्र की दृष्टि से उनसे दिव्य स्राव निःसृत होते हैं । ब्रह्म चेतना मानवी सम्पर्क में आते समय सर्वप्रथम ब्रह्मलोक में, ब्रह्मरन्ध्र में अवतरित होती है । इसके बाद वहाँ मनुष्य की स्थिति, आवश्यकता एवं आकांक्षा के अनुरूप काया के विभिन्न अवयवों में चली जाती है । शेष अंश अन्तरिक्ष में विलीन हो जाता है ।

जिह्वा को तालु से स्पर्श कराने के कई उद्देश्य हैं । मुख गह्वर में रहने वाली रसेन्द्रिय, रयिशक्ति सम्पन्न, ऋण विद्युत सदृश होती है । उसे मुखर कुण्डलिनी कहते हैं । सर्पिणी की तुलना भी उस पर सही रीति से लागू होती है । अनगढ़ कुसंस्कारी प्रसुप्त स्थिति में वह स्वाद के नाम पर कुछ भी, कितना ही, बिना विवेक के खाती है । पेट को दुर्वल और रक्त को विषाक्त करती है । फलतः दुर्वलता और अस्वस्थता की चक्की में पिसते हुए आधा-अधूरा कष्टपूर्ण जीवन जी सकना सम्भव होता है । शेष तो अकाल मृत्यु की तरह, आत्म-हत्या की तरह ही नष्ट होता है । यह

सर्पिणी के काटने सदृश ही दुःखदायी है । इसी प्रकार जिह्वा द्वारा कटु वचन, हेय परामर्श, छल-प्रपंच आदि द्वारा अपने को गर्हित अधःपतित और दूसरों को कुमार्ग अपनाने के लिए उत्तेजित किया जाता है । यह भी सर्पिणी का ही काम है । द्रोपदी की जीभ ने महाभारत की पृष्ठभूमि बनाई थी, यह सर्वविदित है । यह अनगढ़ प्रसुप्त, स्थित हुई । यदि यह जिह्वा कुण्डलिनी जागृत हो सके, सुसंस्कृत बन सके तो आहार संयम के लिए जागरूक रहती है । बोलते समय प्रिय और हित का अमृत घोलती है । फलतः सम्भाषणकर्ता को श्रेय एवं सम्मान की अजस्र उपलब्धियाँ होती हैं । सुसंस्कृत जिह्वा के अनुदानों में कितनों को न जाने किन-किन वरदानों से लाद दिया है । प्रामाणिक और सुसंस्कृत वक्रता के आधार पर ही तो लोग अनेक क्षेत्रों में नेतृत्व करते और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचे दिखाई पड़ते हैं । ऐसी ही अन्य विशेषताओं के कारण जिह्वा को मुखर कुण्डलिनी कहा गया है और मुख को ऊर्ध्व मूलाधार बताया गया है । निम्न मूलाधार में कामबीज का और ऊर्ध्व मूलाधार मुख में—ज्ञान-बीज का निर्झर झरता है । जननेन्द्रियों की ओर मुख की आकृति को समतुल्य बताना—कहने-सुनने में तो भोंडा लगता है, पर योगशास्त्र की दृष्टि से दोनों की वस्तुस्थिति में बहुत कुछ समाता है । इन्द्रियों में कामुकता और स्वादेन्द्रिय यह दो ही प्रधान मानी गई हैं । संयम साधना में जिह्वा का संयम होने पर कामेन्द्रिय का संयम सहज ही सध जाने की बात नितान्त तथ्यपूर्ण है । इसमें दोनों के बीच की घनिष्ठता प्रत्यक्ष है । काम क्रीड़ा में भी यह दोनों ही गह्वर अपने-अपने ढंग से उत्तेजित रहते हैं और अपना-अपना पक्ष पूरा करते हैं ।

जिह्वा में ऋण विद्युत की प्रधानता है । मस्तिष्क धन विद्युत का केन्द्र है । तालु मस्तिष्क की ही निचली परत है । जिह्वा को भावनापूर्ण तालु से लगाने पर आत्मरति जैसा उद्देश्य पूरा होता है । जिह्वा और तालु की हलकी भावनापूर्ण रगड़ से एक विशेष प्रकार के आध्यात्मिक स्पन्दन आरम्भ होते हैं । उनसे उत्पन्न उत्तेजना से ब्रह्मानन्द की अनुभूति का लाभ मिलता है । यह सूक्ष्म होने के कारण कायिक विषयानन्द से अत्यन्त उच्चकोटि का कहा गया है । इस अनुभूति को योगीजन अमृत निर्झर का रसास्वादन कहते हैं ।

खेचरी मुद्रा की साधना ब्रह्मलोक से—ब्रह्मरन्ध्र से—सामीप्य साधती है और उस केन्द्र के अनुदानों को उसी प्रकार चूसती है जैसे छोटे बालक का मुख माता का स्तन चूसता है । यह भावना एवं कल्पना सूक्ष्म शरीर में एक विशेष प्रकार की सुखद एवं उत्साहवर्धक गुदगुदी उत्पन्न करती है । उसका रसास्वादन देर तक करते रहने को जी करता है । यह तो हुआ भावनात्मक पथ जिससे अन्तःचेतना के अमृत से सम्पर्क बनता है और अन्तर्मुखी होकर अन्तर्जगत में एक से एक बढ़ी-चढ़ी दिव्य सम्वेदनाओं की अनुभूति का द्वार खुलता है । पर बात इतने तक ही सीमित नहीं है । जिह्वा की 'ऋण' विद्युत ब्रह्मलोक से, ब्रह्मरन्ध्र से अन्यान्य अनुदानों की सम्पदा के 'धन' भण्डार को अपने चुम्बकत्व से खींचती, घसीटती है और उसकी मात्रा बढ़ाते-बढ़ाते अपने अन्तः भण्डार को दिव्य विभूतियों से भरती चली जाती है । इन्हीं उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा उत्पन्न लाभों का सुविस्तृत वर्णन योग ग्रन्थों में लिखा और अनुभवियों द्वारा बताया मिलता है ।

तालु और जिह्वा के हलके संस्पर्श स्थिर नहीं, वरन् हलकी रगड़ जैसे होते रहते हैं । इसमें घड़ी के पेण्डुलम जैसी गति बनती है । गाय को दुहते समय भी इसी से मिलती-जुलती क्रिया-पद्धति कार्यान्वित होती है । रति कर्म की प्रक्रिया भी इसी प्रकार की है । रगड़ से ऊर्जा का, हलचल का, उत्पन्न होना सर्वविदित है । यह ऊर्जा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को प्रभावित करती है । उन्हें बल देती, सक्रिय करती और समर्थ बनाती है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोशों के अनावरण में इससे सहायता मिलती है । षट्चक्रों को जागृत करने में भी खेचरी मुद्रा से उत्पन्न ऊर्जा की एक बड़ी भूमिका रहती है । इन्हीं सब कारणों को देखते हुए कुण्डलिनी जागरण में खेचरी मुद्रा को महत्त्व दिया गया है । क्रिया साधारण-सी होते हुए भी प्रतिक्रिया की दृष्टि से उसका बहुत ऊँचा स्थान माना गया है । अचेतन के साथ सम्बन्धित अतीन्द्रिय ज्ञान के विकास विस्तार में उससे असाधारण सहायता मिलती है ।

परमात्मा का आत्मा के साथ निरन्तर पेण्डुलम गति से ही मिलन सम्पर्क चलता रहता है । इस

संस्पर्श की अनुभूति—(१) आनन्द और (२) उल्लास के रूप में होती रहती है । सामान्य स्थिति में तो इसकी प्रतीति नहीं होती पर खेचरी मुद्रा के माध्यम से उसे अनुभव किया जा सकता है । भगवान की मनुष्य को दो प्रेरणाएँ हैं, जो उपलब्ध हैं, उसकी गरिमा को समझते हुए, संसार के सुखद पक्ष का मूल्यांकन करते हुए, सन्तुष्ट, प्रसन्न और आनन्दित रहना, यह है आनन्द का स्वरूप । उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तव्य की दिशा में साहस भरे कदम उठाने के लिए अदम्य उत्साह का, भावभरी उमंगों का उठना, यह है उल्लास । भगवान इन्हीं दो प्रेरणाओं को निरन्तर पेण्डुलम गति से प्रदान करते रहते हैं । मानव जीवन जैसी सृष्टि की अनुपम उपलब्धि को पाकर यदि अन्तःकरण आनन्दित रहे और छोटे-मोटे अभावों की ओर अधिक ध्यान न देकर चारों ओर बिखरी हुई सदाशयता का अनुभव करते हुए सन्तुष्ट सन्तुलित रहे तो समझना चाहिए आनन्द की उपलब्धि हो रही है । हर्षातिरेक में उछलने-कूदने या बढ़-चढ़कर शेखीखोरी की बातें करने का नाम आनन्द नहीं है । उस स्थिति में दृष्टिकोण परिपक्व हो जाता है और परिष्कृत, इसलिए जिन अभावों और असफलताओं में दूसरे लोग उद्विग्न उत्तेजित हो उठते हैं, उन्हें वह विनोद कौतुक भर समझते हुए अपनी मनःस्थिति को सुसन्तुलित बनाये रहता है । जिनकी मनोभूमि ऐसी हो उसे आनन्द की प्राप्ति हो गई ऐसा कहा जा सकता है ।

आनन्दित, सन्तुष्ट या प्रसन्न होने में एक दोष यह है कि अपूर्णता से पूर्णता की ओर चलने के लिए जिस कठोर कर्मठता की जरूरत पड़ती है उसे प्रायः भुला दिया जाता है । ऐसी भूल करने वाले आध्यात्मवादी प्रायः निकम्मे, अकर्मण्य, आलसी, प्रमादी और बुराइयों, बुरी परिस्थितियों से समझौता कर लेने वाले भाग्यवादी पलायनवादी बन बैठते हैं । उससे उनकी अपनी समग्र प्रगति का द्वार तो बन्द हो ही जाता है, साथ ही समाज के लिए प्रखर कर्तव्य-पालन के लिए जो महान उत्तरदायित्व मनुष्य के कन्धों पर होते हैं । वे भी अवरुद्ध हो जाने से लोकमंगल के लिए मानवी योगदान में भी भारी क्षति पहुँचती है । मनुष्य का अवतरण जिस महान कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का प्रचण्ड प्रयत्नशीलता के साथ निर्वाह करने के लिए हुआ, यदि उनमें शिथिलता आ गई तो समझनी चाहिए कि जीवित ही मृतक बन जाने जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई । यदि आनन्द या सन्तोष की प्राप्ति किसी अध्यात्मवादी में इस प्रकार की अकर्मण्यता उत्पन्न कर दे तो समझना चाहिए कि बिल्कुल उल्टा हो गया और अर्थ का अनर्थ बन गया ।

खेचरी मुद्रा की साधना से उपलब्ध होने वाला दूसरा दिव्य अनुदान उल्लास माना गया है । यह उभरता उल्लास इस प्रकार की अवांछनीय मनःस्थिति बनने की गुंजायश नहीं छोड़ता । भगवान निरन्तर आनन्द के साथ-साथ उल्लास भी प्रदान करते हैं और उच्चस्तरीय प्रयत्नों के लिए प्रचण्ड कर्मठता अपनाने के लिए अदम्य स्फूर्ति एवं उमंग उत्पन्न करते हैं । उल्लास जब अपनी प्रौढ़ावस्था में होता है तो वह इतना प्रखर होता है कि प्रस्तुत कठिनाइयों, अभावों, अवरोधों की चिन्ता न करते हुए ईश्वरीय सन्देश के अनुरूप अपनी रीति-नीति निर्धारण करने के लिए मचल उठता है । किसी के रोके नहीं रुकता । लोभ और मोह के भव-बन्धन यों सहज नहीं टूटते और कुसंस्कार तथा स्वार्थ सम्बन्धी शुभचिन्तक ऐसी भावनाओं को क्रियान्वित होने में पग-पग पर विरोध उत्पन्न करते हैं, पर जिसे उल्लास प्राप्त है वह आत्मकल्याण और ईश्वरीय निर्देशों के पालन की दिशा में ही अग्रसर होता है । कठिनाइयाँ क्यों आती हैं और रोकथाम कौन-कौन करते हैं इसकी चिन्ता नहीं करता । फलस्वरूप जहाँ चाह वहाँ राह वाली बात बन ही जाती है । जिसे उल्लास की उपलब्धि मिल गई उसे महापुरुषों जैसे महान कर्तव्य-पालन करते रहने के अनवरत अवसर निर्बाध गति से मिलते ही रहते हैं ।

आनन्द और उल्लास भरी मनःस्थिति उत्पन्न करने में खेचरी मुद्रा का जो योगदान मिलता है उसके फलस्वरूप साधक को हर स्थिति में हँसते-हँसाते रहने और हलकी-फुलकी जिन्दगी जीने का अभ्यास करना पड़ता है । कर्मठता की जागरूकता से सामान्य जीवनक्रम में पग-पग पर सफलताएँ मिलती और सरलताएँ उत्पन्न होती हैं । इन लाभों को भी सामान्य नहीं समझना चाहिए । ब्रह्मलोक के अन्य दिव्य अनुदान पाकर तो मानवी सत्ता ऋषिकल्प-देवतुल्य बनने के लिए अग्रसर होती है । खेचरी मुद्रा का वह विशिष्ट लाभ भी

आनन्द उल्लास की उपलब्धि की तरह है साधक के लिए हर दृष्टि से श्रेयस्कर सिद्ध होता है ।

खेचरी मुद्रा में जिह्वा को तालु से लगाने और धीरे-धीरे सहलाने पर जिस अमृत रसास्वादन का लाभ मिलने की चर्चा की गई वह कभी-कभी मधु जैसी मिठास के रूप में अनुभव होती है । मनीषियों ने उसे सोमरस भी कहा है और बताया है कि उसमें मादकता होती है । आन्तरिक मस्ती को भौतिक मादकता के समतुल्य माना जाय तो यह उसकी संगति बैठ ही जायगी । उच्चस्तरीय भावनाओं का उद्रेक वस्तुतः एक अद्भुत मस्ती लिए हुए होता है उसमें आनन्द भी असीम रहता है और अवरोधों को कुचलते हुए निर्धारित दिशा में बढ़ चलने का साहस था, इसलिए उस मस्ती को सोमरस की व्याख्या में वर्णित बहुचर्चित मादकता माना जाय तो वह अलंकारिक वर्णन कुछ अनुपयुक्त नहीं कहा जायेगा । जिह्वा को मधुरस प्रिय लगता है, अमृत को भी मीठा कहा गया है, खेचरी मुद्रा में जिह्वा और तालु के स्पर्श में कुछ इसी प्रकार की मिठास प्रधान स्वाद की अनुभूति होती है और लगता है उसमें कुछ मस्ती मादकता भी है । सोमपान के आनन्द की अनुभूति और उल्लास भरी साहसिकता किस प्रकार की होती है, इसे खेचरी मुद्रा का साधक अपने स्तर के अनुरूप यात्रा में अनुभव करता चलता है।

बीच-बीच में मुँह में पानी भर जाता है उसे निगलते रहना चाहिए । जीभ जब थक जाती है तो उसे विश्राम देने के लिए बीच में कुछ मिनटों के लिए क्रिया को बन्द भी कर देते हैं चूँकि प्रत्यावर्तन सत्र में एक घण्टे के लिए इसे रखा गया है इसलिए बीच में विराम विश्राम की आवश्यकता पड़ती है । सामान्यतया दैनिक अभ्यास में इसे पन्द्रह मिनट तक करना पर्याप्त होता है तब उसे बीच में रोकना नहीं पड़ता ।

खेचरी मुद्रा की सिद्धियों का हठयोग ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णित है । यह बताया गया है कि उस साधना द्वारा किस प्रकार अलौकिक अतीन्द्रिय क्षमताएँ प्राप्त होती है । वर्षा ऋतु आने पर जिस प्रकार सूखी हुई घास हरी हो जाती है उसी प्रकार खेचरी मुद्रा द्वारा अनन्त आकाश से चेतन तत्व की वर्षा कराई जाती है और उससे सुषुप्त मूर्छा में पड़े हुए महत्त्वपूर्ण शक्ति संस्थान सहज ही सजीव होते हैं और मनोरम हरितिमा के रूप में पुष्पित सुगन्धित सुरभित दृष्टिगोचर होते हैं । अमृत का गुण मृतक को जीवित करना और जीवित को अमर बनाना है । यह दोनों ही लाभ परोक्ष रूप में खेचरी मुद्रा के साधक को मिलते हैं ।

काय कलेवर के अन्तर्गत षट-चक्र, तीन ग्रन्थियाँ, बावन उपत्यिकाएँ, सप्त लोक, सप्त देव, जैसे शक्ति केन्द्र अवस्थित हैं जिन्हें यदि मूर्छा से विरत करके जागृत स्थिति तक पहुँचा दिया जाय तो मनुष्य अलौकिक और अद्भुत क्षमताओं से भरा पूरा दृष्टिगोचर होने लगता है । इन सिद्धियों का स्तर व्यक्ति की सूक्ष्म संरचना के अनुरूप होता है । जिसके शरीर और मन में जो विशेषताएँ प्रखर हैं सिद्धियाँ भी उसी स्तर की मिलती देखी गई हैं ।

सर्व विदित और हर किसी के लिए प्रत्यक्ष सिद्धि यह है कि खेचरी मुद्रा का साधक अन्तर्मुखी बनता है और अपने अन्तर का गहन निरीक्षण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि प्रगति और शान्ति के समस्त साधन अपने ही भीतर विद्यमान हैं । कषाय कल्मषों ने उन्हें मृत प्रायः बनाया है । उसी से बाहर के व्यक्तियों की वस्तुओं का उत्थान-पतन का सुख-दुःख का कारण समझने के भ्रम में फँसना पड़ता है, यदि अन्तरंग क्षेत्र को निखारा गया आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के चतुर्विध महापुरुषार्थों का आश्रय लिया जाय तो मनुष्य को लघु से महान बनने के मार्ग में फिर कोई अवरोध शेष नहीं रह जाता । इस स्तर का प्रकाश मिल जाने पर फिर मनुष्य आत्म-परिष्कार की योजना बनाकर उसी को कार्यान्वित करने में संलग्न हो जाता है इस दिशा में चल पड़ने वाले व्यक्ति का नर से नारायण बन जाना सुनिश्चित है । खेचरी मुद्रा हमें इसी स्तर के लाभों से लाभान्वित करती है ।

सोमरस पान का ज्ञान-विज्ञान

मस्तिष्क में अनेकानेक क्षमताओं का निवास है । आँख, नाक, कान आदि की बनावट ऐसी है कि उनमें से स्राव भीतर से बाहर निकलने हैं । बाहर से भीतर को कोई वस्तु डाली जाय तो उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता । भीतर गहराई तक प्रवेश करने की उसमें गुंजायश नहीं है । फिर मस्तिष्क को उत्तेजित, सक्रिय,

सन्तुलित कैसे किया जाय ? इसका एक उपाय योगविज्ञान के आचार्यों ने ढूँढ़ निकाला है । वह तालु मार्ग द्वारा सोमरस पान । तालु को मस्तिष्क की आधार-भूमि या पृष्ठ-भूमि कहा गया है ।

तालु की बनावट शहद की मक्खी के छत्ते जैसी है । उसमें अलग-अलग कितने ही कोष्ठक बने हुए हैं । इन सबका उपयोग है । मुख के दो प्रयोजन हैं एक खाना दूसरा बोलना । इन दोनों ही कामों में तालु भागों की अपनी भूमिका रहती है । दाँतों से सटा हुआ भाग उच्चारण में योगदान करता है । जीभ तालु की सहायता से भोजन को उलटती पलटती है तथा बोलने में भी उस भाग की सहायता लेती है । मुख में जीभ सीधी नहीं रहती उसकी नोंक तालु से सटी रहती हैं ।मौन काल में प्रायः ऐसा ही देखा जाता है । तालु का पिछला भाग जहाँ ऊपर चंचुक रूप में लटका रहता है । वहाँ से पहले का थोड़ा-सा भाग ऐसा है जो कम ही काम में आता है । इसके उपरान्त तो भोजन की नली आरम्भ हो जाती है । श्वास नाड़ी भी उसके साथ ही चल पड़ती है । कभी-कभी ऐसा भी होता देखा गया है कि भोजन का कुछ अंश श्वास नली में चला जाता है तो उस फँसाव को निकालने के लिए गले को बहुत जोर लगाना पड़ता है ।

गले का ओरों व नेजोफेरिक्स नामक भाग ही आगे की ओर इस स्थिति में है कि वह मस्तिष्क से अधिक सम्बन्धित है । मस्तिष्कीय आवेशों को वाणी द्वारा कटुभाषण की प्रेरणा मिलती है । इसी प्रकार जीभ के द्वारा गरम भाषा बोलने पर मस्तिष्क उत्तेजित एवं असन्तुलित हो जाता है । शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान ने भी इस अध्यात्म मान्यता की पुष्टि की है कि यह क्षेत्र मस्तिष्क से अन्य अंगों की तुलना में अधिक सम्वेदनशील है ।

सहलाने थपकी देने से राहत मिलती है और नींद आ जाती है । पैर दाबने से वाइब्रेशन थेरेपी से एवं एक्युप्रेशर चिकित्सा से भी ऐसा ही होता है । तालु के उपरोक्त को मस्तिष्क के पैर कहा जा सकता है । वैज्ञानिकों ने इस स्थान को राथकेज पाउच नाम दिया है व कहा है कि पिट्यूटरी यहीं से विकसित होती है । इस स्थान को सहलाने से तनाव दूर होते हैं और मानसिक सन्तुलन ठीक करने में सहायता मिलती है । इसके अतिरिक्त मनःक्षेत्र में जो महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ काम करती हैं उनकी विकृत स्थिति का सन्तुलन ठीक करने में सहायता मिलती है । स्वाभाविक है कि यह कार्य पीट्यूटरी के उत्तेजन से सम्भव हो पाता है ।

इतना ही नहीं जिह्वा के उस क्षेत्र में ऐसा दिव्य रस मिलता है जो उसके वचनों में मिठास भरता है । स्वाद सम्बन्धी विकृति को सुधारता है ।

आध्यात्मिक विधा के जानकार यह भी कहते हैं कि इस क्षेत्र से यदि स्रावों की तनिक-सी मात्रा भी उपलब्ध की जा सके तो मस्तिष्क का विवेक बढ़ता है और शरीर तथा मन के बीच पायी जाने वाली विकृतियों का भी समाधान होता है ।

खेचरी मुद्रा उस साधना का नाम है, जिसमें जीभ को पीछे की ओर मोड़कर तालु के पिछले भाग से सटाया जाता है और फिर उसे धीरे-धीरे सहलाया जाता है । इसके लिए जिह्वा को अधिक लम्बी, अधिक कोमल बनाने का पूर्ण अभ्यास करना पड़ता है ।

पिछली पीढ़ी के साधकों को उनके मार्गदर्शक इस प्रयोजन के लिए पहले जिह्वा दोहन की क्रिया कराते थे । इस सन्दर्भ में जीभ पर काली मिर्चों को पीस कर जीभ के ऊपर और नीचे लेप किया जाता था । जब मुँह से पानी का स्राव होने लगता था, तब जीभ को थोड़ा-थोड़ा करके आगे खींचने लम्बा करने का प्रयास चलता था । दुधारू पशुओं के थन जिस प्रकार नीचे व नीचे और दबाये जाते हैं, वही व्यवहार जिह्वा के साथ किया जाने के कारण इसे दोहन क्रिया कहते हैं । इसका उद्देश्य यह था कि जीभ अपेक्षाकृत लम्बी हो जाय और तालु के पिछले भाग को उसकी नोंक छूने लगे । लम्बाई पर्याप्त बढ़ गई या नहीं इसकी परीक्षा इस प्रकार की जाती थी कि जीभ बाहर निकालने पर वह नासिका के अग्रभाग को छूने लगे ।

इतनी सफलता मिलने पर तालु को सहलाने से जीभ को दिव्य रसास्वादन मिलता है । वह स्वाद-मिठाई खटाई जैसा नहीं वरन् जीभ में आनन्दप्रद उत्तेजना देने जैसा होता है । उसमें रस आता है और देर तक उस क्रिया को करते रहने का मन करता है । तान्त्रिक प्रसंगों में अलंकारिक रूप में इसकी तुलना काम सेवन

से भी दी गई है । जिह्वा को शिशिन और तालु गह्वर को योनि बताया गया है ।

पुरातन मान्यताओं में अब की जन-साधारण की शारीरिक और मानसिक परिस्थितियों को देखते हुए जिह्वा दोहन जैसे कार्य नहीं करने चाहिए । अब हठयोग की अधिकांश क्रियाओं को प्रकृति विरोधी हानिकारक ठहराया जा रहा है । नेति, धौति, वास्ति, व्रजोली जैसी क्रियाओं की उपयोगिता अनुपयोगिता के सम्बन्ध में अब अच्छा खासा विवाद उठ खड़ा हुआ है और शरीर शास्त्री उस प्रकार का जोखिम न उठाने की सलाह दे रहे हैं । इस विवादास्पद स्थिति में जिह्वा-दोहन की बात को छोड़ भी दिया जाय तो भी संकल्प बल के सहारे जिह्वा को दिव्य रसास्वादन की अनुभूति हो सकती है और मस्तिष्क के उपयोगी भाग को अधिक सक्रिय एवं सन्तुलित बनाया जा सकता है ।

इन दिनों खेचरी मुद्रा के साधकों के लिए इतना ही पर्याप्त होगा कि वे इस क्रिया को करने से पूर्व अच्छी तरह मुँह साफ कर कुल्ला कर लें, इसके लिए प्रयुक्त किए जाने वाले पानी में एक चुटकी नमक एक लोटे के हिसाब से डालकर उस तनिक खारी पानी से दस-बीस कुल्ले गरारे के साथ कर लेने चाहिए । इससे मुँह में क़हीं लगी छिपी गन्दगी साफ हो जायेगी और तालु के अधिक सम्वेदनशील भाग तक जिह्वा पहुँचाने में किसी गंदगीजन्य संकट की आशंका न रहेगी । इस स्थिति में जिह्वा के अग्रभाग से तालु के पिछले भाग का अत्यन्त धीमा स्पर्श किया जाय । सहलाने की क्रिया ऐसी न हो जिसमें किसी प्रकार की रगड़ पड़ने और वहाँ की त्वचा पर असाधारण दबाव पड़ने की आशंका हो ।

इस क्रिया के साथ भाव सम्वेदना का सम्मिश्रण आवश्यक है । यह कल्पना करनी चाहिए कि जिस प्रकार मधुमक्खियों के छत्ते से शहद टपकता है वैसा ही दिव्य रस का आस्वादन करने का अवसर जिह्वा को मिल रहा है । यह शहद जैसा मीठा न होकर सोमरस जैसा आध्यात्मिक है । भावना प्रधान है । यह समूचे शरीर में उत्साह, उल्लास, की लहर दौड़ाता है । इसी के साथ-साथ यह चिन्तन भी करना चाहिए कि सहस्रार के इस अधोभाग को उत्तेजना मिलने से समूचे मस्तिष्क क्षेत्र को राहत मिल रही है । समर्थता, सक्रिय का दौर बन रहा है ।

रगड़ से ऊष्मा उत्पन्न होती है । विशेषतया जो भाग आमतौर से निष्क्रिय रखे जाते हैं उनका स्पर्श गुदगुदी उत्पन्न करता है । गर्दन, बगल, जननेन्द्रिय जैसे स्थानों को हिलते-जुलते रूप से स्पर्श करने पर गुदगुदी स्तर की उत्तेजना उत्पन्न होती है और वह सम्बन्धित अंगों में हलचल मचा देती है । इसी आधार पर खेचरी मुद्रा के भी वे लाभ मिलते हैं जिनका योग ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक विवरण मिलता है ।

आरम्भ पाँच मिनट से करते हुए हर महीने एक-एक मिनट बढ़ाते हुए अन्तिम अवधि पन्द्रह मिनट तक पहुँचा देनी चाहिए । इससे अधिक करना प्रारम्भिक स्थिति में नुकसान पहुँचाने वाला होता है ।

खेचरी मुद्रा का तारतम्य और साधना विधान

इन दिनों आश्चर्य इस बात का किया जाता है कि पौष्टिक भोजन और अत्यन्त सुविधा-जनक रहन-सहन उपलब्ध होने पर भी लोग क्यों रक्तचाप, हृदय रोग, अनिद्रा, मधुमेह, अपच जैसी बीमारियों में क्यों अधिकाधिक ग्रस्त होते चले जा रहे हैं । इस सन्दर्भ में की गई शोधों का एकमात्र निष्कर्ष है कि शरीर और मन पर हर घड़ी छाया रहने वाला तनाव ही इसका एकमात्र कारण है ।

शान्ति के कारण मस्तिष्क में उद्वेग छाये रहते हैं । नशीला, उत्तेजक खान-पान, अनावश्यक उछल-कूद, बेतरह और बेतरतीव व्यस्तता के कारण स्नायु संस्थान में उत्तेजना छाई रहती और वासनाएँ दुश्चिताएँ तथा दुर्भावनाएँ आदि आवेश मस्तिष्क में भरे रहते हैं । फलस्वरूप शरीर और मन की शक्तियों का अनावश्यक अपव्यय होता रहता है और स्थिति यहाँ तक बिगड़ती है कि विविध प्रकार के रोगों से शरीर एवं मन दोनों ही बुरी तरह ग्रसित हो जाते हैं । इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से बचने के लिए विशेषज्ञों का एक ही परामर्श है कि अविश्रान्ति से बचा जाय । काम भरपूर किया जाय किन्तु गहरे विश्राम की आवश्यकता को भी समझा जाय ।

नेपोलियन बोनापार्ट और रावर्ट क्लाइव के दो उदाहरण अनौखे हैं वे युद्ध के दिनों दिनभर मोर्चे का

संचालन करते थे और रात्रिभर योजनाएँ बनाते थे । कई-कई दिन उन्हें ऐसे ही बिना सोये गुजारने पड़ते थे । थकान को दूर करने के लिए वे दोनों ही एक अनोखा उपाय बरतते थे कि किसी पेड़ या दीवार का सहारा लेकर अपने प्रचण्ड संकल्प बल से शरीर को पूर्णतया शिथिल कर देते थे और निद्रित, तन्द्रित एवं मूर्छित स्थिति तक शरीर को ही नहीं मस्तिष्क को भी पहुँचा देते थे । यह क्रिया प्रायः आधा घण्टे में वे पूरा कर लेते थे और इसके बाद पूरी नींद सोने जैसी ताजगी लेकर फिर काम में जुट जाते थे । अकबर के बारे में कहा जाता है कि वह नित्य तीन घण्टे ही सोता था । अर्जुन को गुडाकेश अर्थात् निद्रा जीतने वाला कहा जाता है । वह भी बिना सोये काम में प्रवृत्त रहता था । कुम्भकरण भी सोने के झंझट से बचकर छः महीने जागने और एक दिन सोने का वरदान माँगने चला था । गलती से ही शब्द उलटे निकल गए और वरदान की आकांक्षा अभिशाप में बदल गई ।

यहाँ निद्रा की अनुपयोगिता नहीं बताई जा रही है और न अधिक जगने के लिए किसी को प्रोत्साहित किया जा रहा है । स्वाभाविक आहार-विहार ही श्रेयस्कर होता है इसलिए जवान आदमी को छः-सात घण्टे गहरी नींद सोने की व्यवस्था बनानी ही चाहिए । किन्तु विशेष उपचार के रूप में अतिरिक्त आहार के रूप में सुविधानुसार शिथिलीकरण मुद्रा का अभ्यास भी करते रहना चाहिए । इससे थकानजन्य क्षति की पूर्ति में भारी सहायता मिलती रह सकती है और शरीर को रुग्णताजन्य विपत्तियों से बचाया जा सकता है ।

मस्तिष्क के सम्बन्ध में भी यही उपचार काम में लाया जा सकता है । कुछ समय यदि सब प्रकार के—भले-बुरे विचारों से मस्तिष्क को खाली रखने का अभ्यास डाला जा सके तो उन आवेशग्रस्त उत्तेजनाओं से बचा जा सकता है तो मानसिक सन्तुलन नष्ट करके मनुष्य को सनकी अथवा विक्षिप्त जैसी स्थिति में ला पटकती है, चिड़चिड़ा बनाती है और अनिद्रा जैसे अकाल मृत्यु के अग्रदूत रोगों के जाल-जंजाल में फँसा देती है । जिस प्रकार शरीर को शिथिल करने की क्रिया स्नायु संस्थान की थकान मिटाती है उसी प्रकार मस्तिष्क यदि आवेश ग्रस्त हो रहा है अथवा बेतरह थक रहा है, सिर चकराने जैसी स्थिति बन रही हो तो मस्तिष्क एक प्रकार के विचारों से एकदम खाली का प्रयोग किया जा सकता है । यदि थोड़ी देर भी विचार रहित स्थिति में रहा जा सके तो प्रत्यक्ष अनुभव होगा कि सिर का भार कितना हल्का हो गया । जिन्हें अधिक मानसिक श्रम करना पड़ता है अथवा उत्तेजित करने वाली परिस्थितियों में रहना पड़ता है उसके लिए मस्तिष्क को खाली करने का उपचार 'रामवाण' औषधि का काम दे सकता है ।

योग साधना की दृष्टि से तो यह उपचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ध्यान धारणा के क्षेत्र में प्रवेश करने वाले इसे प्रथम सोपान गिन सकते हैं । ध्यान न जमने, मन का गहराई में प्रवेश न करने, इधर उधर के विचार मस्तिष्क पर छाये रहने, चित्त के यहाँ वहाँ उड़ते-फिरने की उच्चस्तरीय साधनाओं का सबसे जटिल व्यवधान कह सकते हैं । यह दूर न किया जा सके तो मनोयोग के आधार पर सम्पन्न होने वाले साधना-क्रमों में सफलता नहीं मिल सकती । अस्त-व्यस्त मनःस्तर के लोगों को त्रैतवादी कर्मकाण्ड परक साधनाएँ बता दी जाती हैं, वे कथा, कीर्तन, यात्रा, परिक्रमा, पूजा-पाठ के उपक्रमों को, प्रधानतया शरीर को और यत्किंचित मन को लगाकर अपनी गाड़ी धकेलते रहते हैं । उच्चस्तरीय साधनाओं का क्षेत्र ध्यान भूमिका है उसमें प्रवेश करने के लिए मानसिक स्थिरता आवश्यक है । इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए योग साधक शरीर को ढीला और मन को खाली करने का अभ्यास करते रहे हैं । इसमें सफलता मिलने पर उनका आगे का क्रिया-कलाप सरलतापूर्वक अग्रसर होने लगता है तब ध्यान जमने की बात कुछ अधिक कठिन नहीं रह जाती ।

प्रत्यावर्तन सत्रों में सबसे पहले दो कदम बढ़ाये जाते हैं । प्रायः ५ से ५-१५ तक शरीर को ढीला करना पड़ता है और ५-१५ से ५-३० तक मस्तिष्क को खाली करने का अभ्यास किया जाता है । इसके पश्चात एक घण्टे तक खेचरी मुद्रा के आधार पर अमृत पान शक्ति संचरण की साधना की जाती है ।

शिथिलीकरण मुद्रा के लिए देह को सहारा देने वाला माध्यम होना चाहिए आराम कुर्सी इसके लिए सुविधाजनक रहती है । यों इसे लेटकर या पेड़, दीवार आदि का सहारा लेकर भी किया जा सकता है । इससे शिथिलता की अवस्था में इधर-उधर लुढ़कने की

अड़चन नहीं रहती । दोनों हाथों की उँगलियों के खाँचे आपस में मिला लेने चाहिए और उन्हें नाभि के नीचे वाले स्थान पर रखना चाहिए । इस स्थिति में बैठने के उपरान्त शरीर को निद्रा ग्रस्त मूर्छित मृतक जैसी स्थिति में पूर्ण निष्क्रिय हो जाने की भावना करनी चाहिए । यह विचारणा जितनी अधिक गहरी होगी उतना ही स्नायु संस्थान पर से तनाव घटेगा । स्वास्थ्य की दृष्टि से तो यह उपयोगी है ही, साथ ही ध्यान धारणा की पूर्ण भूमिका का भी पथ-प्रशस्त हो जाता है । पन्द्रह मिनट मनोयोगपूर्वक इस शवासन का प्रयोग करने से शरीर की स्थिति ऐसी बन जाती है मानो यह योगाभ्यास के लिए ठीक तरह तैयार हो गया हो ।

मन को खाली करने के लिए नीचे नील जल और ऊपर नील आकाश का ध्यान करना पड़ता है । सर्वत्र नीरवता अनुभव करनी पड़ती है और सोचना पड़ता है कि प्रलय काल के समान अब कहीं किसी वस्तु या व्यक्ति का अस्तित्व नहीं रहा । प्रलय काल के चित्र बाजार में मिलते हैं उसमें नीचे नील जल ऊपर नील आकाश है । जल के ऊपर कमल पत्र उस पर एक छोटा बालक पैर का अँगूठा चूँसता हुआ बहता चला जा रहा है । यही ध्यान मन को खाली करने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त है । प्रलय के कारण जब कहीं कोई व्यक्ति या वस्तु शेष ही नहीं तो मन जायेगा किस पर ? भागेगा कहाँ ? अपना स्तर जब बालक जैसी ही है तो फिर कामनाएँ, वासनाएँ, तृष्णाएँ सतायेंगी ही क्यों ? अपने अँगूठे का रस पीकर जब स्वनिर्भर आत्म तृप्ति का साधन मौजूद है तो फिर आकर्षित क्यों और किसकी ओर हुआ जायेगा ?

उपरोक्त कल्पना चित्र यदि ठीक प्रकार मन पर जम जाय तो मन का विचार रहित सर्वथा खाली बना देना कुछ कठिन नहीं रहता ऐसी स्थिति की अनुभूति होती है, मानो सिर पर लदे हुए पहाड़ जैसे भार उतर गए और चित्त हल्की-फुल्की, शान्ति और सन्तोष की स्थिति में रह रहा है ।

इसके उपरान्त खेचरी मुद्रा प्रशस्त हो जाती है । शरीर को ढीला और मन को खाली करना ध्यान धारणा की पूर्व भूमिका है । इतना कर लेने के बाद किसी भी ध्यान का ठीक तरह जमाना सरल हो जाता है । इतना ही नहीं सामान्य जीवन में भी इस अभ्यास-क्रम की भारी उपयोगिता है । मस्तिष्क पर उद्दीप्त आकांक्षाओं का यह विपरीत अप्रिय परिस्थितियों का कई बार इतना अधिक दबाव बन जाता है कि अनिद्रा से लेकर आत्महत्या का उत्पात कर बैठने तक की स्थिति बन जाती है । इसी उद्विग्नता का शमन करने के लिए मन को खाली करने वाला उपचार जादू जैसा काम करता है । चढ़े हुए आवेशों को उतारने और मन को सन्तुलित करने में यह उपचार कितना सफल होता है इसे कभी भी अनुभव करके देखा जा सकता है । इसी प्रकार शरीर पर रुग्णता, अधिक श्रम अस्त-व्यस्तता आदि कारणों से पड़े हुए दबाव, तनाव का निराकरण करने के लिए शिथिलीकरण मुद्रा का प्रयोग कभी भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है । योग साधना में ध्यान धारणा में तो उसकी उपयोगिता असंदिग्ध रूप से है ही ।

साढ़े पाँच से साढ़े छः खेचरी मुद्रा का प्रयोग है । जिह्वा को उलट कर तालु से लगाना और ब्रह्मरन्ध्र में टपकने वाले अमृत बिन्दुओं का तालु तथा जिह्वा के सम्पर्क स्थान पर अनुभव आस्वादन करना संक्षिप्त में यही खेचरी मुद्रा है । जिह्वा को जितना पीछे उल्टा जा सके उसके लिए सामान्य प्रयत्न करना चाहिए और तालु के गहरे स्थल से जितना सरलतापूर्वक सम्पर्क बनाया जा सकता हो बनाना चाहिए, बहुत अधिक दबाव नहीं देना चाहिए, अन्यथा अनुभूति में उस कष्ट-कारक स्थिति के कारण बाधा पड़ेगी ।

यों हठ योग में काली मिर्च पीपल आदि का चूर्ण जिह्वा पर मलते हुए उसे अपेक्षाकृत लम्बी बनाने का प्रयत्न किया जाता है ताकि उसे अधिक दूरी तक पीछे लौटाया जा सके । जीभ के नीचे वाले तन्तु को काट कर उसे अधिक लम्बाई तक बढ़ चलने के लिए तैयार करने का भी विधान है, पर आज की स्थिति में वे दोनों ही प्रयोग अनुपयुक्त हैं । प्राचीन काल में शरीर इतने शुद्ध थे कि उतना करने पर भी कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था पर आज की दुर्बल और विकृत शारीरिक स्थिति में कोई भयंकर विग्रह उत्पन्न हो जाना सम्भव है । जिह्वा को कोई हानि पहुँच सकती है और नया ऐसा उपद्रव खड़ा हो सकता है जिससे लाभ के स्थान पर हानि ही पल्ले पड़े । हमें ऐसे जोखिम भरे प्रयोगों से सदा बचना ही चाहिए । सीमा उतनी ही रखनी चाहिए जिससे लाभ भले ही धीरे या कम हो पर कोई

अनावश्यक उपद्रव न उठ खड़ा हो इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपयुक्त यही कि जिह्वा को सरलतापूर्वक जितना उल्टा जा सकता हो, उसे उलट कर तालु के गह्वर में जितना पीछे ले जाया जा सकता हो ले जाया जाय ।

जिह्वा को नोंक की तालु से सटाया जाता है अमृताकर्षी तत्व इस अग्रभाग में ही रहते हैं । उस नोंक का और तालु का बहुत ही धीमी गति से घर्षण भी करना चाहिए । जननेन्द्रियों के अग्रभाग जैसी ही उत्तेजक सम्वेदनाएँ इन मर्मस्थलों पर रहती हैं । नर जननेन्द्रिय से जिह्वाग्र भाग की तुलना की जा सकती है और तालु गह्वर की नारी जननेन्द्रिय से सम्भोग जन्य उत्तेजना से सभी परिचित हैं । यह संयोग जन्य मृदुलता अपने ढंग के अनोखी है । संभोग में विषयानन्द मिलता है । इस संयोग में ब्रह्मानन्द के आनन्द उल्लास घर्षण आध्यात्मिक श्वासोच्छवास के रूप में अनुभव किए जा सकते हैं । विषयानन्द में मिलने वाली तृप्ति की तुलना में ब्रह्मानन्द की तुष्टि का स्तर कितना अधिक बढ़ा चढ़ा है, इसका अनुभव साधक को कुछ ही समय के अभ्यास पर होने लगता है ।

मनुष्य-ब्रह्म चेतना का परम प्रिय शिशु शावक है । गाय अपने छोटे बछड़े को दूध पिलाकर तृप्त और पुष्ट करती है उसी प्रकार अनन्त अन्तरिक्ष में संव्याप्त ब्रह्म चेतना अपने बछड़े मनुष्य पर दिव्य अनुदानों की निरन्तर वर्षा करती रहती है । जीव और ब्रह्म का यह आदान-प्रदान तालु के मध्य भाग ब्रह्म रन्ध्र में होता है । इस स्थान की कोमलता छोटे बालकों के मस्तिष्क में अधिक आसानी से देखी जा सकती है । इसे ब्रह्म कपाल भी कहते हैं ठीक इसी के नीचे सहस्रार चक्र है । कुण्डलिनी जागरण में इस केन्द्र में सन्निहित ब्रह्म तेजस् को महासर्प कहते हैं । पौराणिक अलंकार में क्षीर सागर में सहस्र फन वाले महासर्प पर शयन करने वाले विष्णु का चित्रण इसी स्थान की वस्तुस्थिति समझाने के लिए किया गया है । लक्ष्मी अर्थात् सिद्धियों और विभूतियों की देवी परा और अपरा विशेषताओं से युक्त महामाया इसी स्थान पर अपने पति विष्णु के साथ प्रसुप्त अवस्था में पड़ी है । क्षीर सागर अर्थात् मस्तिष्क भरा हुआ मज्जा पदार्थ । शिव भू-पुराण में इसी को कैलाश पर्वत, मान सरोवर झील सर्पाषण युक्त महाशिव के रूप में वर्णन किया गया है । निःसन्देह यह स्थान समस्त शरीर में अति दिव्य है । आध्यात्मिक उत्तरी ध्रुव यही है । प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि का केन्द्र यही है । जीव और ब्रह्म का मिलन मर्मस्थल यही है । खेचरी मुद्रा द्वारा इसी मर्मस्थल का स्पर्श करके वहाँ की प्रसुप्त स्थिति को जागृत किया जाता है ।

शिवलिंग पर रुद्राभिषेक करने के लिए एक तिपाई रखी जाती है उस पर जल भरे तीन घड़े रखे जाते हैं । हर घड़े के पेंदे में छेद होता है । पानी ऊपर से नीचे वाले घड़े में टपकता है और फिर अन्त में वह बूँद शिवलिंग पर टपकती है । इस रूद्राभिषेक को खेचरी मुद्रा का मूर्तिमान प्रतीक चित्रण कह सकते हैं । ब्रह्म चेतना ऊपर वाला घड़ा, प्रकृति अण्ड-ब्रह्माण्ड—दूसरा घड़ा, ब्रह्माण्ड का बिन्दु प्रवाह पिण्ड में अवतरित होना तीसरा घड़ा जिह्वा शिवलिंग घट छिद्रों में कुशा ठुसी रहती है ताकि जल बिन्दुओं का आकार-प्रकार सन्तुलित क्रम से टपके । तालु को कुश आच्छादन कह सकते हैं । घड़ों में जल भरा रहने पर भी कई बार कुशाएँ फूल जाने अथवा उनमें बालू, रेत आदि भर जाने से बूँदें टपकना बन्द हो जाता है । तब उस कुशा को कुरेद कर बिन्दु प्रवाह ठीक करना पड़ता है । जिह्वा को तालु के साथ मन्द घर्षण करके इसी द्वार को खोला जाता है और ब्रह्माण्ड में देहाण्ड के बीच के टूटे हुए संचार सूत्र को पुनः गतिशील किया जाता है ।

जिह्वाग्र भाग चिन्तन-परक मस्तिष्क और क्रिया-परक काय कलेवर के बीच आदान-प्रदान की कड़ी का काम करता है ब्रह्म संदेशों को व्यावहारिक जीवन में ओत-प्रोत करने के लिए गतिशील बनाना खेचरी मुद्रा द्वारा सम्भव होता है । उससे उभयपक्षीय प्रयोजन सिद्ध होते हैं । ज्ञान के रूप में विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं और शक्ति के साथ जुड़ी हुई सिद्धियों की अवतरण प्रक्रिया सम्पन्न होती है । साधक में तत्व दर्शन की ब्रह्म चेतना भी जागृत होती है और शक्ति अवतरण से वह समर्थ सिद्ध पुरुष एक महामानव भी बनता है ।

इस प्रयोजन को ज्ञान और कार्य के मिले हुए व्यावहारिक क्रिया-कलाप ही पूरा कर सकते हैं ।

जीवन साधना के पथ पर समग्र रूप से चलना भी एक साधना है और कितने व्यक्ति बिना योग साधना के निर्धारित विधि-विधानों को अपनाये बिना भी महामानव देवदूत स्तर की परिष्कृत स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, पर जिन्हें साधना विज्ञान पर निष्ठा है उन्हें योगाभ्यास की प्रक्रिया अधिक महत्त्वपूर्ण सहायता कर सकने वाली दृष्टिगोचर होती है । अस्तु समुन्नत जीवन के लिए व्यावहारिक कदम उठाने के साथ-साथ वे योग साधनाओं में भी तत्परता बनाये रखते हैं । ऐसे लोगों के लिए खेचरी मुद्रा का असाधारण लाभ प्रभाव और महत्त्व साधारण नहीं, असाधारण ही है ।

शक्तिचालनी मुद्रा

योग की उच्चस्तरीय साधनाओं में दूसरा स्थान शक्तिचालनी मुद्रा का है । कुण्डलिनी जागरण में मूलाधार से प्रसुप्त कुण्डलिनी को जागृत करके ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है । उस महाशक्ति की सामान्य प्रवृत्ति अधोगामी रहती है, रतिक्रिया में उसका स्खलन होता रहता है । शरीर यात्रा की मल-मूत्र विसर्जन प्रक्रिया भी स्वभावतः अधोगामी है । शुक्र का क्षरण भी इसी दिशा में होता है । इस प्रकार यह सारा संस्थान अधोगामी प्रवृत्तियों में संलग्न रहता है ।

कुण्डलिनी शक्ति के जागरण और उत्थान के लिए इस क्षेत्र को ऊर्ध्वगामी बनने का अभ्यास कराया जाता है । ताकि अभीष्ट उद्देश्य की सफलता में सहायता मिल सके । गुदा मार्ग को ऊर्ध्वगामी अभ्यास कराने के लिए हठयोग 'वास्तविक क्रिया' है, उसमें गुदा द्वार से जल को ऊपर खींचा जाता है फिर संचित मल को बाहर निकाला जाता है, इसी क्रिया को 'वस्ति' कहते हैं । इसी प्रकार मूत्र-मार्ग से जल को ऊपर खींचने और विसर्जित करने की क्रिया वज्रोली कहलाती है । वस्ति और वज्रोली दोनों का ही उद्देश्य इन विसर्जन छिद्रों को अधोमुखी अभ्यासों के साथ ही ऊर्ध्वगामी बनने का प्रशिक्षण दिया जाना है । इन अभ्यासों में कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगामी बनाने में सहायता मिलती है ।

वस्ति और वज्रोली काफी कठिन हैं । हठयोग की साधनाएँ सर्वसुलभ नहीं हैं, उन्हें विशेष मार्गदर्शन से विशेष व्यक्ति ही कर सकते हैं । उन अभ्यासों में समय भी बहुत लगता है और भूल होने पर संकट उत्पन्न होने का खतरा भी रहता है । अस्तु सर्वजनीन सरलीकरण का ध्यान रखते हुए शक्तिचालनी मुद्रा को उपयुक्त समझा गया है ।

शक्तिचालनी मुद्रा में गुदा और मूत्र संचालन का संकल्प बल के सहारे संकोचन कराया जाता है । संकोचन का तात्पर्य है, उनकी बहिर्मुखी एवं अधोगामी आदत को अन्तर्मुखी एवं ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए प्रशिक्षित करना । इसके लिए दोनों ही इन्द्रियों का, उनके सुविस्तृत क्षेत्र का संकोचन कराया जाता है । कभी-कभी मुख से हवा खींची जाती है, पानी पिया जाता है, इसमें मुख को खींचने की क्रिया करनी पड़ती है । पिचकारी में पानी भरते समय भी ऐसा ही होता है । मल और मूत्र छिद्रों से ऐसा ही वायु खींचने का, छोड़ने का, खींचने-छोड़ने का प्राणायाम जैसा अभ्यास करना संक्षेप में शक्तिचालनी मुद्रा का प्रयोग है ।

इस प्रयोग का पूर्वार्द्ध मूलबन्ध कहलाता है, मूलबन्ध में मात्र संकोचन भर होता है । जितनी देर मल-मूत्र छिद्रों को सिकोड़ा जाता रहेगा उतनी देर मूलबन्ध की स्थिति मानी जायेगी-यह एक पक्ष है । आधा अभ्यास है, इसमें पूर्णता समग्रता जब आती है, जब प्राणायाम की तरह खींचने-छोड़ने के दोनों ही अंग पूरे होने लगें । जब संकोचन-विसर्जन, संकोचन-विसर्जन का, खींचने-ढीला करने, खींचने-ढीला करने का उभयपक्षीय अभ्यास चल पड़े तो समझना चाहिए कि शक्तिचालनी मुद्रा का अभ्यास हो रहा है ।

कमर के नीचे के भाग में अपान वायु रहती है, उसे खींचकर कमर से ऊपर रहने वाली प्राणवायु के साथ जोड़ा जाता है, यह पूर्वार्द्ध हुआ । उत्तरार्द्ध में ऊपर के प्राण को नीचे के अपान के साथ जोड़ा जाता है । इस प्राण अपान के संयोग की योग शास्त्रों में बहुत महिमा गाई गई है, यही मूलबन्ध है । इस साधना की महिमा बताते हुए कहा गया है—

आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥

—योग कुण्डल्योपनिषद्

मूलबन्ध के अभ्यास से अधोगामी अपान को बलात् ऊर्ध्वगामी बनाया जाय, इससे वह प्रदीप्त होकर अग्नि के साथ-साथ ही ऊपर चढ़ता है ।

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः ॥

—घेरण्ड संहिता ३/१७

मूलबन्ध के अभ्यास से मरुत् सिद्धि होती है, अर्थात् शरीरस्थ वायु पर नियन्त्रण होता है । अतः आलस्य विहीन होकर मौन रहते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए ।

प्राणापानौ नादबिन्दु मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥

—हठयोग प्रदीपिका ३-६४

प्राण और अपान का समागम नाद बिन्दु की साधना तथा मूलबन्ध का समन्वय, यह कर लेने पर निश्चित रूप से योग की सिद्धि होती है ।

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥

—हठयोग प्रदीपिका ३/६५

निरन्तर मूलबन्ध का अभ्यास करने से प्राण और अपान के समन्वय से अनावश्यक मल नष्ट होते हैं और वृद्धता भी यौवन में बदलती है ।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

—हठयोग प्रदीपिका ३/६६

मूलबन्ध से कुण्डलिनी का प्रवेश ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में होता है, इसलिए योगीजन नित्य ही मूलबन्ध का अभ्यास करें ।

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
यस्मिन् सिद्धिं गतः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥
यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम् ।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥

—तेजबिन्दु १/२६-२७

जो सर्वलोकों का मूल है, जो चित्त निरोध का मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियों को सदा सेवन करना चाहिए-यही मूलबन्ध है । अन्य गुदा संकोचन रूप मूलबन्ध जिज्ञासुओं के लिए सेव्य नहीं है ।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

—हठयोग प्रदीपिका ३/६६

फिर जिस प्रकार सर्पिणी बिल में प्रविष्ट होती है, उसी प्रकार उद्दीप्त कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है, इसलिए योगियों को सदा ही मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए ।

मूलबन्ध एवं शक्तिचालनी मुद्रा को विशिष्ट प्राणायाम कहा जा सकता है । सामान्य प्राणायाम में नासिका से साँस खींचकर प्राण प्रवाह को नीचे मूलाधार तक ले जाते हैं और फिर ऊपर की ओर उसे वापस लाकर नासिका द्वार से निकालते हैं, यही प्राण संचरण की क्रिया जब अधोभाग के माध्यम से की जाती है तो मूलबन्ध कहलाती है । नासिका का तो स्वभाव साँसें लेते और छोड़ते रहना है, अतः उसके साथ प्राण-संचार का क्रम सुविधापूर्वक चल पड़ता है । गुदा अथवा उपस्थ इन्द्रियों द्वारा वायु खींचने जैसी कोई क्रिया नहीं होती । अतः उस क्षेत्र के स्नायु संस्थान पर खिंचाव पैदा करके सीधे ही प्राण संचार का अभ्यास करना पड़ता है । प्रारम्भ में थोड़ा अस्वाभाविक लगता है किन्तु क्रमशः अभ्यास में आ जाता है ।

मूलबन्ध में सुखासन (सामान्य पालथी मारकर बैठना) पद्मासन (पैरों पर पैर चढ़ाकर बैठना) सिद्धासन (मल-मूत्र छिद्रों के मध्यभाग पर ऐड़ी का दबाव डालना) इनमें से किसी का भी प्रयोग किया जा सकता है ।

मलद्वार को धीरे-धीरे सिकोड़ा जाय और ऐसा प्रयत्न किया जाय कि उस मार्ग से वायु खींचने के लिए संकोचन क्रिया की जा रही है । मल का वेग अत्यधिक हो और तत्काल शौच का अवसर न हो तो उसे रोकने के लिए मल-मार्ग को सिकोड़ने और ऊपर खींचने जैसी चेष्टा करनी पड़ती है । ऐसा ही मूल-बन्ध में भी किया जाता है । मलद्वार को ही नहीं उस सारे क्षेत्र को सिकोड़ने का ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि मानो वायु अथवा जल को उस छिद्र से खींच रहे हैं । वज्रोली क्रिया में मूत्र-मार्ग से पिचकारी की तरह जल खींचने और फिर निकाल देने का अभ्यास किया जाता है । मूलबन्ध में जल आदि खींचने की बात तो नहीं हैं, पर संकल्प बल से गुदा-द्वार ही नहीं मूत्र छिद्र से भी वायु खींचने ऐसा प्रयत्न किया जाता है और उस सारे क्षेत्र को ऊपर खींचने का प्रयास चलता है । गुदामार्ग से वायु खींचकर नाभि से ऊपर तक घसीट ले जाने की चेष्टा आरम्भिक है । कुछ समय तक रुकना सम्भव होता है तो अपान को नाभि से ऊपर हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है, यह खींचने का, ऊपर ले जाने का पूर्वार्द्ध हुआ ।

उत्तरार्द्ध में प्राणवायु को नाभि से नीचे की ओर लाया जाता है और अपान अपनी जगह आ जाता है । इसका व्यवहारिक स्वरूप यह है कि खींचने-सिकोड़ने की क्रिया को ढीला छोड़ने, नीचे उतारने, खाली करने का वैसा ही प्रयत्न किया जाता है जैसा कि प्राणायाम में रेचक के लिए साँस छोड़ी जाती है ।

मोटे तौर से उस गुदामार्ग को, मूत्रमार्ग को ऊपर की ओर सिकोड़ने की, पूरा संकोचन हो जाने पर कुछ देर रोके रहने की, अन्ततः उसे ढीला छोड़ देने की गुदामार्ग से होने वाली प्राणायाम क्रिया ही कहा जा सकता है ।

स्मरण रहे कि यह क्रिया वायु संचार की नहीं प्राण संचार की है । नासिका द्वारा तो प्राण संचार क्रम चलता ही रहता है, अतः उसके साथ प्राण प्रक्रिया जोड़ने में कठिनाई नहीं होती । मूलाधार क्षेत्र में श्वास लेने जैसा अभ्यास इन्द्रिय को नहीं है, किन्तु प्राण संचार की क्षमता उस क्षेत्र में ऊर्ध्वभाग से किसी भी प्रकार कम नहीं । मूलबन्ध द्वारा प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाना प्रथम चरण है, दूसरे चरण में शक्तिचालनी मुद्रा के अभ्यास से प्राण-अपान आदि शरीरस्थ प्राणों को इच्छानुसार समुचित अनुपात में एक-दूसरे से जोड़ा, मिलाया जाना सम्भव होता है । ऐसा करने से शरीरस्थ पंचप्राण, महाप्राण से सम्बद्ध हो जाते हैं ।

गीता में योग साधक द्वारा प्राण को अपान में तथा अपान को प्राण में होमने का उल्लेख इसी दृष्टि से किया गया है । यथा—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणपान गती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

—*गीता ४/२९*

अर्थात् कोई साधक अपान में प्राण की आहुति देते हैं, कुछ प्राण में अपान को होमते हैं । प्राण और अपान की गति नियन्त्रित करके साधक प्राणायाम परायण होता है ।

नासिका द्वार प्राण संचार करके उसे मूलाधार तक ले जाना प्राण को अपान में होमना है और मूलबन्ध एवं शक्तिचालनी मुद्रा आदि द्वारा अपान का उत्थान करके उसे प्राण से मिलाना, अपान को प्राण में होमना कहा जाता है । प्राण और अपान दोनों की ही सामान्य गति को नियन्त्रित करके उसे उच्च लक्ष्यों की ओर प्रेरित करना ही प्राणायाम का उद्देश्य है ।

शक्तिचालनी मुद्रा का महत्त्व एवं लाभ योग शास्त्रों में इस प्रकार बताया गया है—

शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयुवृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥

—*शिव संहिता*

शक्तिचालनी मुद्रा का जो प्रतिदिन अभ्यास करता है, उसकी आयु में वृद्धि होती है और रोगों का नाश होता है ।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥

—*हठयोग प्रदीपिका ३/१०८*

कुण्डलिनी सर्पिणी की तरह कुटिल है, उसे शक्तिचालनी मुद्रा द्वारा जो चलायमान कर लेता है वही योगी है ।

शक्तिचालनी की महत्ता में जो कहा गया है, वह अतिशयोक्ति नहीं, यह विज्ञान सम्मत है । शक्ति कहीं से आती नहीं, सुप्त से जागृत-जड़ से चलायमान हो जाना ही शक्ति का विकास कहा जाता है । बिजली के जेनरेटर में बिजली कहीं से आती नहीं है । चुम्बकीय क्षेत्र में क्वायल घुमाने से उसके अन्दर के इलेक्ट्रॉन विशेष दिशा में चल पड़ते हैं । यह चलने की प्रवृत्ति विद्युत संवाहक शक्ति (ई. एम. एफ.) के रूप में देखी जाती है । शरीरस्थ विद्युत को भी इसी प्रकार दिशा विशेष में प्रवाहित किया जा सके तो शरीर संस्थान एक सशक्त जेनरेटर की तरह सक्षम एवं समर्थ बन सकता है । योग साधनाएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति करती हैं ।

⌘⌘⌘
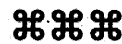
|| प्राणायाम ||

प्राणायाम की महत्ता

'प्राण' एक स्वतन्त्र तत्व है जिसे जीवनी शक्ति भी कह सकते हैं । मिट्टी, पानी, हवा, आकाश यह पाँच जड़ तत्व हैं, इनकी सहायता से संसार के विभिन्न दृश्य पदार्थों की रचना होती है, परन्तु ऐसा न समझना चाहिए कि विश्व के मूलभूत पदार्थ इतने ही हैं । चैतन्य तत्वों की सत्ता इनसे पृथक है । विचार तत्व की चर्चा हम अपनी कई पुस्तकों में कर चुके हैं कि जो कुछ मनुष्य सोचता है वह एक प्रकार की अदृश्य भाप के रूप में मस्तिष्क में से निकल कर उड़ता है और बादलों की तरह ईश्वर की तरंगों में फिरता रहता है, और अपनी जाति के अन्य विचार जहाँ देखता है वहाँ ही घनीभूत हो जाता है ।

विचार तत्व के अतिरिक्त प्राण-तत्व, बुद्धि-तत्व, आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्व अन्य हैं । जैसे पाँच जड़ तत्व हैं वैसे ही यह पाँच चैतन्य तत्व भी हैं । दृश्य जड़ पदार्थों का अस्तित्व जल, तेज, वायु आदि जड़ पंच तत्वों के कारण हैं, इसी प्रकार इन निर्जीव दुनिया में हलचल, गति चेतना, विकास के जो भी दृश्य दिखाई पड़ते हैं उनका कर्तृत्व उपरोक्त चैतन्य पंच तत्वों के ऊपर निर्भर है । किसी जीव की मृत्यु हो जाती है तो कहते हैं कि इसका 'प्राण निकल गया ।' यह 'प्राण' जड़ पंच तत्वों में से एक भी नहीं है क्योंकि मुर्दे के शरीर में वे पाँचों ही मौजूद हैं । आत्मा भी कहीं गई नहीं, हिन्दू धर्म के अनुसार जीव तेरह दिन तक अपने शरीर में श्मशान और घर के आस-पास ही भ्रमण करता है । कई बार बिल्कुल मरे हुए व्यक्ति पुनः जी उठते हैं, इन सब प्रश्नों पर विचार करने से पता चलता है कि शरीर को आत्मा के रहने योग्य बनाये रहने की क्षमता एक स्वतन्त्र तत्व में है और उसका नाम 'प्राण' है । इस प्राण की ही प्रेरणा से बीज उगते हैं, पौधे बढ़ते और हरे रहते हैं । इसे जीवनी शक्ति भी कह सकते हैं, विश्व में जितना भी जीवन दिखाई दे रहा है, वह 'प्राण-तत्व' के कारण ही है ।

यह प्राण पंच जड़ तत्वों के साथ मिलकर उन्हें उपयोगी बनाता है । किन्हीं स्थानों की जलवायु विशेष स्वास्थ्यकर होती है वहाँ उनमें प्राण का अधिक सम्मिलन पाया जाता है जहाँ इसकी न्यूनता होती है वहीं अस्वास्थ्यकर विकृति देखी जाती है । अमुक स्थानों की जलवायु अस्वास्थ्यकर है अर्थात् वहाँ प्राण की न्यूनता है । गंगा के जल में प्राण की प्रचुरता है, जिस वायु में प्राण अधिक घुला होता है उसे 'ऑक्सीजन' कहते हैं । इसी प्रकार उर्वरा भूमि में, सह्य सूर्य ताप में, निर्मल आकाश में वह अधिक परिमाण में पाया जाता है । 'ऑक्सीजन' को प्राण-वायु कहा जाता है इससे ऐसा समझा जाता है कि यही 'प्राण' है परन्तु यथार्थ में ऐसी बात नहीं है । प्राण एक विश्वव्यापी स्वतन्त्र चैतन्य तत्व है जो वायु की ही तरह सर्वत्र पाया जाता है, वरन् अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वायु आदि में भी घुला रहता है । यही प्राण-तत्व जब किसी शरीर में से बहुत अधिक मात्रा में कम हो जाता है तो उसमें आत्मा का रहना शक्य नहीं रहता, यही मृत्यु है ।

बुद्धि एक स्वतन्त्र तत्व है । विवेक, वेद, तत्व ज्ञान, प्रज्ञा, धी, मानसिक शक्ति, आदि नामों से जिस अदृश्य चैतन्य सत्ता का बोध होता है वह बुद्धि भी विश्वव्यापी और एक है, विभिन्न प्राणियों में इसकी न्यूनाधिक मात्रा देखी जाती है । सम्पूर्ण भूतों में एक ही आत्मा बैठी हुई है इसकी विस्तृत विवेचना गीता आदि सभी प्रमुख आध्यात्मिक ग्रन्थों में की गई है । जीवों का उत्तरदायित्व सम्मिलित है, एक के पाप पुण्य का दूसरे को भागी बनना पड़ता है । जीवों से, आत्माओं से जरा ऊँची और विशुद्ध सत्ता ब्रह्म सत्ता है जिसे ईश्वर कहते हैं यह भी सर्वव्यापी एवं स्वतन्त्र है । जड़ पंच तत्वों की भाँति इन चैतन्य पंच तत्वों की क्रियाशीलता अदृश्य जगत में दिखाई देता है ।

है । इन चैतन्य तत्वों का विस्तृत विवेचन हमें यहाँ नहीं करना है, इस समय तो हमें प्राण-तत्व पर विचार करना हैं, और देखना है कि इस जीवनी शक्ति को हम अधिक मात्रा में अपने अन्दर किस प्रकार धारण कर सकते हैं ?

भारतीय अध्यात्म विज्ञान वेत्ताओं ने बड़े प्रयत्न, अन्वेषण और अनुभव के उपरान्त उस मार्ग को ढूँढ़ निकाला है जिसके द्वारा उस विश्वव्यापी जीवन दात्री प्राण-शक्तिं को हम अपने अन्दर प्रचुर मात्रा में भर सकते हैं, और उसके प्रभाव से उत्तम स्वास्थ्य, दीर्घ जीवन, चैतन्यता, स्फूर्ति, क्रिया शक्ति, सहन करने की क्षमता, मानसिक तीक्ष्णता आदि नाना प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त कर सकते हैं । इस मार्ग का नाम है—'प्राणायाम' प्राणायाम साँस को खींच, उसे अन्दर रोके रहने और बाहर निकालने की एक विशेष क्रिया पद्धति है । इस विधान के अनुसार प्राण को उसी प्रकार अन्दर भरा जाता है जैसे साइकिल के पम्प से ट्यूब में हवा भरी जाती है । यह पम्प इस प्रकार का बना होता है कि हवा को भरता तो है पर वापस नहीं खींचता । प्राणायाम की व्यवस्था भी इसी प्रकार की है । साधारण श्वास-प्रश्वास क्रिया में वायु के साथ वह प्राण इसी प्रकार आता जाता रहता है जैसे सड़क पर मुसाफिर चलते रहते हैं किन्तु प्राणायाम विधि के अनुसार जब श्वास-प्रश्वास क्रियां होती है तो वायु में से प्राण को खींचकर खासतौर से उसे शरीर में स्थापित किया जाता है जैसे कि धर्मशाला में यात्री को व्यवस्थापूर्वक टिकाया जाता है ।

भारतीय योग शास्त्र षट् चक्रों में सूर्य चक्र को बहुत अधिक महत्त्व देता है । अब पाश्चात्य विज्ञान ने भी (Solar plexus) सूर्य ग्रन्थि को सूक्ष्म तन्तुओं का केन्द्र स्वीकार किया है और माना है कि मानव शरीर में प्रतिक्षण होती रहने वाली क्रिया प्रणाली का संचालन इसी के द्वारा होता है । कुछ वैज्ञानिकों ने इसे 'पेट का मस्तिष्क' नाम दिया है । यह सूर्यचक्र या 'सोलर प्लेक्सस' आमाशय के ऊपर, हृदय की धुकधुकी के ठीक पीछे, मेरुदण्ड के दोनों ओर स्थित है, यह एक प्रकार की सफेद और भूरी गुद्दी से बना हुआ है । पाश्चात्य वैज्ञानिक शरीर की आन्तरिक क्रिया-विधि पर इसका अधिकार मानते हैं और कहते हैं कि भीतरी अंगों की उन्नति अवनति का आधार यही केन्द्र है, किन्तु सच बात यह है कि यह खोज अभी अपूर्ण है सूर्य चक्र का कार्य और महत्त्व उससे अनेक गुना अधिक है जितना कि वे लोग मानते हैं । ऐसा देखा गया है कि इस केन्द्र पर यदि जरा कड़ी चोट लग जाय तो मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है । योग शास्त्र इस केन्द्र को प्राण कोष मानता है और कहता है कि यहीं से निकल कर एक प्रकार का मानवीय विद्युत प्रवाह सम्पूर्ण नाड़ियों में प्रवाहित होता है । ओजस् शक्ति इसी संस्थान में रहती है ।

प्राणायाम द्वारा इस सूर्यचक्र की एक प्रकार की हल्की-हल्की मालिश होती है जिससे उसमें गर्मी तेजी और उत्तेजना का संचार होता है और उसकी क्रियाशीलता बढ़ती है । प्राणायाम से फुफ्फुसों में वायु भरती है और वे फूलते हैं, यह फुलाव सूर्यचक्र की परिधि को स्पर्श करता है । बार-बार स्पर्श करने से जिस प्रकार काम सेवन अंगों में उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा फुफ्फुस का, सूर्यचक्र का स्पर्श होना वहाँ एक सनसनी उत्तेजना और हलचल पैदा करता है । यह उत्तेजन व्यर्थ नहीं जाता वरन् सम्बन्धित सारे अंग-प्रत्यंगों का जीवन और बल प्रदान करता है जिससे शारीरिक और मानसिक उन्नतियों का द्वारा खुल जाता है ।

मेरुदण्ड का दाएँ बाएँ दोनों ओर नाड़ी गुच्छकों (Ganglia) की दो श्रृंखलायें चलती हैं । ये गुच्छक आपस में सम्बन्धित हैं और इन्हीं से सिर, गले, छाती, पेट आदि के गुच्छक भी आकर शामिल हो गए हैं । अन्य अनेक नाड़ी कणों (Cells) का भी यहाँ जमघट है । इनका प्रथम विभाग जिसे 'मस्तिष्क मेरु विभाग' कहते हैं शरीर के ज्ञान तन्तुओं से घनीभूत हो रहा है । इसी संस्थान से असंख्य बहुत ही बारीक भूरे तन्तु निकलकर रुधिर नाड़ियों में फैल गए हैं और अपने अन्दर बहने वाली विद्युत शक्ति से भीतरी शारीरिक अवयवों को संचालित किए रहते हैं ।

ऊपर बताया जा चुका है कि मेरुदण्ड के दाएँ बाएँ नाड़ी गुच्छकों (Ganglia) की दो प्रधान श्रृंखलायें चलती हैं इन्हीं को योग की भाषा में इड़ा और पिंगला कहा गया है । रुधिर संचार, श्वास क्रिया, पाचन आदि प्रमुख कार्यों को सुसंचारित रखने की जिम्मेदारी

उपरोक्त नाड़ी गुच्छकों के ऊपर प्रधान रूप से है । प्राणायाम साधना में इन इड़ा पिंगला नाड़ियों को नियत विधि के अनुसार बलवान बनाया जाता है । जिससे उनसे सम्बन्धित शरीर की सहानुभावी क्रिया के विकार दूर होकर आनन्ददायी स्वस्थता प्राप्त हो सके ।

अत्यन्त प्राचीनकाल से अध्यात्मवेत्ता पुरुष प्राणायाम के महत्त्व और उसके लाभों को अनुभव करते रहे हैं । तदनुसार समस्त भूमण्डल के योगी लोग अपनी-अपनी विधि से इन क्रियाओं को करते रहे हैं । महाप्रभु ईसा मसीह अपने शिष्यों सहित एक पर्वत पर चढ़कर ईश्वर की प्रार्थना किया करते थे । कहा जाता है कि इस ऊँची चढ़ाई में आध्यात्मिक श्वास क्रियाओं का रहस्य छिपा हुआ था । बौद्ध धर्म में 'जजन' नामक प्राणायाम बहुत काल से चला आता है । प्रसिद्ध जापानी पुरोहित हकुइन जेंशी ने प्राणायाम का खूब विस्तार किया था । यूनान में प्लेरन से भी बहुत पहले इस विज्ञान की जानकारी का पता चलता है । अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में इस विद्या के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं ।

योगदर्शन साधन पाद के सूत्र ५२, ५३ में बताया गया है कि प्राणायाम से अविद्या का अन्धकार दूर होकर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है और मन एकाग्र होने लगता है । ऐसी गाथाएँ भी सुनी जाती हैं कि प्राणायाम को वश में करके योगी लोग मृत्यु को जीत लेते हैं और जब तक चाहें तब तक जीवित रह सकते हैं । प्राण-शक्ति से अपने और दूसरों के रोगों को दूर करने का एक अलग विज्ञान है जिसे हम अपनी 'प्राण चिकित्सा विज्ञान' पुस्तक में प्रकट कर चुके हैं । इसके अतिरिक्त अनेक अन्यान्य प्रकार के प्राणायाम से होने वाले लाभ सुने और देखे जाते हैं । यह लाभ कभी-कभी इतने विचित्र होते हैं कि उन पर आश्चर्य करना पड़ता है । इन पंक्तियों में उन अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं की चर्चा न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्राणायाम से शरीर की सूक्ष्म क्रियापद्धति के ऊपर अदृश्य रूप से ऐसे विज्ञान सम्मत प्रभाव पड़ते हैं जिनके कारण रक्त संचार, नाड़ी संचालन, पाचन क्रिया, स्नायविक दृढ़ता, गाढ़ी निद्रा, स्फूर्ति एवं मानसिक विकास के चिन्ह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं एवं स्वस्थता, बलशीलता, प्रसन्नता, उत्साह तथा परिश्रम की योग्यता बढ़ती है । आत्मोन्नति, चित्त की एकाग्रता, स्थिरता, दृढ़ता, आदि मानसिक गुणों की मात्रा में प्राण साधना के साथ-साथ ही वृद्धि होती जाती है । इन लाभों पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि प्राणायाम आत्मोन्नति की एक महत्त्वपूर्ण साधना है ।

प्राण का स्वरूप

प्राणायाम क्या है, उसकी क्या विधि है और उससे क्या लाभ होते हैं, विषयों का विवेचन करने से पहले यदि हम इस बात को भली प्रकार समझ लें कि 'प्राण' क्या वस्तु है तो हम इस विद्या को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकेंगे और उससे पूरा लाभ उठा सकने के योग्य बन सकेंगे । वर्तमान काल 'विज्ञान-युग' माना जाता है और विज्ञान के अनुयायी किसी बात का प्रत्यक्ष प्रमाण पाये बिना उसे मानने को तैयार नहीं होते । अतः उनके मतानुसार प्राण का अर्थ श्वास ही है और श्वास को ठहराना अर्थात् उसका 'आयाम' ही प्राणायाम कहा जाता है, पर जो लोग इस स्थूल जगत के अतिरिक्त सूक्ष्म जगत की भी खोज खबर लेते हैं और जिन्होंने उसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया है जानते हैं कि प्रकृति के पंचतत्वों—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश में से प्रत्येक में एक तत्व ऐसा पाया जाता है जो सब शक्तियों, बल और क्रिया का मूल आधार है । भारतीय ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व उसकी विस्तृत व्याख्या कर दी थी और बतला दिया था कि यह 'प्राण' एक ऐसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विश्वव्यापी मूलभूत तत्व है जो बड़े से बड़े पिण्ड से लेकर छोटे से छोटे अणु में भी पाया जाता है और भाँति-भाँति से निर्माण, गति और क्रिया के रूप में प्रकट होता रहता है ।

प्राण-तत्व की सर्वव्यापकता

वैसे तो प्राण एक विश्वव्यापी तत्व है जो चैतन्य और जड़ प्रत्येक पदार्थ में पाया जाता है पर प्रस्तुत [illegible] में हम प्राण के उसी रूप का मुख्यतः वर्णन करेंगे जो समस्त जीवित पदार्थों और प्राणियों में पाया जाता है । अनेक अनभिज्ञ लोग प्राण को ही जीवन या जीव मानकर उसके विषय में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं । जीव परमात्मा का एक अंश है जिस पर प्रकृति ने द्रव्य और शक्ति का आवरण लपेट दिया है पर

प्राण, शक्ति का वह मूल रूप है जिसके द्वारा जीव अपना पार्थिव विकास करता है कर्म करने में समर्थ होता है और प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति करता है । इस बात को इस तरह भी समझा जा सकता है कि जीव अविनाशी तत्व है जबकि प्राण प्रलय काल में नष्ट हो जाता है ।

दूसरी बात इस सम्बन्ध यह भी समझ रखनी चाहिए कि जीवन या जीवित पदार्थों से केवल उन्हीं प्राणियों का अर्थ न लेना चाहिए जो चलते-फिरते, भोजन ग्रहण करते, मल को त्यागते और बोलते हुए जाते हैं । विज्ञान की दृष्टि से चलते-फिरते पशु, पक्षी, मनुष्य आदि ही जीवित नहीं हैं वरन् पेड़ और पौधों में भी जीवन है, जिसके प्रभाव से वे एक इंच के आकार से बढ़कर दस-बीस गज का आकार प्राप्त कर लेते हैं और अवसर पड़ने पर सुख-दुःख के भाव भी प्रकट करते हैं, जिनको यन्त्रों द्वारा देखा जा सकता है । इतना ही नहीं समस्त जड़-पदार्थों में भी प्राण माना गया है, क्योंकि सृष्टि विज्ञान की दृष्टि से एक अणु भी प्राण रहित नहीं है । अन्तर इतना ही है कि चैतन्य वस्तुओं में प्राण-शक्ति क्रियाशील दिखाई पड़ती है और जड़ वस्तुओं में वह निष्क्रिय अथवा सुप्त अवस्था में पड़ी रहती है । इस प्रकार 'प्राण' एक होने पर भी वह जड़ और अजड़ दो रूपों में बँटा हुआ है । इसकी सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में एक 'योगशास्त्र' के ज्ञाता का निम्न विवरण महत्त्व का है, जो उसके स्वरूप को समझने में विशेष रूप में सहायक होगा ।

"प्राण एक ऐसा नाम है जिससे हम उस सर्व-व्यापक तत्व का बोध करते हैं जो सब प्रकार की गति, बल, शक्ति, चाहे वे आकर्षण शक्ति के रूप में, चाहे बिजली, ग्रहों की चाल और प्राणियों के उच्च (विकसित) से लेकर नीच (अविकसित) जीवन में प्रकट हैं सबका द्योतक है । वह बल और शक्ति के समस्त रूपों का सारांश कहा जा सकता है । यह वह तत्व है जो एक विशेष रीति से कार्य करके उस क्रिया को उत्पन्न करता है जो जीवन के साथ रहती है । यह प्रधान तत्व प्रत्येक द्रव्य (भौतिक पदार्थ) में है पर तो भी यह द्रव्य नहीं । यह वायु में है पर यह न तो वायु है और न उसका अवयव ही है । यह उस भोजन में है, जिसे हम खाते हैं, पर इसकी गणना भोजन में पाये जाने वाले पोषक तत्वों में नहीं की जा सकती । यह पानी में है, परन्तु यह पानी के उन रासायनिक तत्वों में से एक भी नहीं है, जिनसे पानी बना हुआ है । यह सूर्य के प्रकाश में है पर इसे न तो उसका ताप कह सकते हैं और न किरण । यह इन सब चीजों की मूल-शक्ति के रूप में है—ये चीजें केवल इसे वहन करने वाली हैं ।"

"मनुष्य इस प्राण-शक्ति को वायु, जल, सूर्य-प्रकाश, भोजन आदि से ग्रहण करके अपने देह-यन्त्र में काम लाने में समर्थ है । इस कथन से यह समझने का भ्रम न करना चाहिए कि पदार्थों में प्राण इसीलिये है कि मनुष्य उसका उपयोग करें । प्राण तो इन पदार्थों में प्राकृतिक नियम के अनुसार है, मनुष्य इसको काम में लाने की योग्यता रखता है यह एक गौण बात है । यह शक्ति संसार में सदैव बनी रहेगी चाहे मनुष्य रहे या न रहे । जानवर और पौधे भी हवा के साथ इस शक्ति को श्वास द्वारा खींचते हैं । यदि हवा में प्राण न रहता तो हवा से भरे रहने पर भी वे मुर्दा रहते । प्राणियों की देह ऑक्सीजन के साथ इसे ग्रहण करती है, पर यह ऑक्सीजन नहीं है । प्राण, वायुमण्डल की हवा में है और अन्यत्र भी है । यह ऐसे स्थानों में भी है जहाँ वायु का अस्तित्व भी नहीं है । हवा का ऑक्सीजन तत्व प्राणियों के जीवन को कायम रखने में विशेष रूप से काम करता है, वैसा ही कार्य कार्बन-गैस पौधों के जीवन में करती है परन्तु प्राण जीवन के विकास में एक पृथक ही कार्य करता है, जो देह, बुद्धि और स्वभाव से अलग है ।"

वायु द्वारा प्राण-शक्ति की प्राप्ति

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब प्राण-तत्व सर्वव्यापी है और पंचतत्वों में से प्रत्येक तत्व में तथा सभी पदार्थों में पाया जाता है तो उसके लिए प्राणायाम की क्या आवश्यकता है ? भोजन, जल आदि से ही उसे ग्रहण क्यों न कर लिया जाय ? इसका कारण यह है कि वायु-मण्डल की हवा में प्राण स्वतन्त्र रूप से और अधिक परिमाण में पाया जाता है जिसे हम सहज में ग्रहण कर सकते हैं । वैसे तो सामान्य रूप से साँस लेने में भी वह बराबर शरीर में पहुँचता रहता है और उसी से हमारे शरीर का कार्य चलता

है, पर विधिपूर्वक श्वास लेने अर्थात् प्राणायाम करने से हम उसे पर्याप्त मात्रा में खींच सकते हैं और शरीर स्थित प्राण के भण्डार की अच्छी तरह वृद्धि कर सकते हैं । इस सम्बन्ध में योग विद्या के ज्ञाताओं का कथन है कि ऐसा करने से प्राण मस्तिष्क और नाड़ी केन्द्रों (चक्रों) में उसी प्रकार जमा हो जाता है जैसे "स्टोरेज बैटरी" में बिजली को भरकर आवश्यकतानुसार काम में लाते रहते हैं । योगी लोग प्राण के भण्डार से प्राण खींचकर अपने शरीर में जमा करने की विधि को जब भली प्रकार जान लेते हैं तो उनका शरीर ही शक्तिशाली नहीं बनता वरन् मस्तिष्क की शक्ति भी बहुत बढ़ जाती है जिससे वे अनेक सूक्ष्म और गूढ़ विषयों को समझने लगते हैं, जिन्हें साधारण अवस्था में समझ सकना अथवा जान सकना असम्भव होता है । योगियों में जो अनेक चमत्कारी शक्तियाँ होने की बात जनता में प्रसिद्ध हैं उनका आधार प्राण-भण्डार पर उनका नियन्त्रण ही होना है, क्योंकि प्राण एक संसारव्यापी तत्व है और उसके द्वारा हम दूरदर्शन, दूसरे मन की बात जानना आदि अनेक ऐसे कार्यों को कर सकते हैं जो साधारण अवस्था में असम्भव जान पड़ते हैं । बहुत से लोगों को ऐसी शक्ति अनजान में प्राकृतिक रूप से भी मिल जाती है । ऐसे लोग दूसरों को भी स्वास्थ्य, शक्ति, साहस दे सकते हैं, अनेक रोगों को इच्छा से ही निवारण कर सकते हैं, तथापि वे यह नहीं जानते कि इस शक्ति का स्रोत कहाँ है और वह उनको कैसे प्राप्त हो गई ?

आधुनिक समय के भौतिक विज्ञान-वादी ऑक्सीजन वायु को ही रुधिर संचार और सब प्रकार की शक्तियों का आधार बतलाते हैं । वे कहते हैं कि जब ऑक्सीजन मिला हुआ रक्त शरीर के सब भागों और अवयवों में पहुँचता है तो वह वहाँ की सफाई कर देता है और दूषित तत्वों (कार्बन) को बाहर निकाल देता है । प्रत्यक्षवादी वैज्ञानिक इस प्रकार केवल ऑक्सीजन की कार्य-प्रणाली को समझने और बतलाने तक रह जाते हैं, पर योगी उससे आगे बढ़कर प्राण की कार्य-प्रणाली और स्नायु-मण्डल (नाड़ी जाल) द्वारा उसके समस्त शरीर में वितरण किए जाने के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं । वे जानते हैं कि ऑक्सीजन स्थूल रूप से रक्त की सफाई और शरीर को सतेज बनाने का कार्य करता है परन्तु विचारों की शक्ति, साहस, उत्साह आदि की उत्पत्ति, वृद्धि प्राण-शक्ति से ही सम्भव है । जैसे रक्त द्वारा ग्रहण किया हुआ ऑक्सीजन शरीर की आवश्यकताओं में खर्च हो जाता है वैसे ही स्नायुओं (नाड़ी-यन्त्र) द्वारा ग्रहण किया हुआ प्राण सोने, इच्छा करने और इन्द्रियों के संचालन में खर्च हुआ करता है । प्रत्येक इच्छा और उसके लिए किए जाने वाले प्रयत्न में स्नायु-शक्ति खर्च होती है । इस प्रकार काफी परिमाण में प्राण नित्यप्रति खर्च होता रहता है और उसका अधिकांश अंश श्वास द्वारा ग्रहण की गई वायु से ही प्राप्त होता है । इससे श्वास-क्रिया को समझना और उसे ठीक ढंग से लेने का अभ्यास करना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है । प्राणायाम द्वारा इसी उद्देश्य की पूर्ति की जाती है ।

प्राण-शक्ति को ग्रहण करने की विधि

यहाँ तक शरीर में प्राण की स्थिति और उसके कार्यों तथा लाभों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया गया । अब जब हम उसके अभ्यास और विधि पर विचार करते हैं तो सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि साधारण साँस लेने और प्राणायाम की विधि से श्वास ग्रहण करने में क्या अन्तर है ? इस सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध योगी ने जो विदेशियों को योग-शास्त्र की शिक्षा देने का कार्य करते हैं, बतलाया है कि प्राण-शक्ति को शरीर के भीतर ग्रहण करने और उससे लाभ उठाने के लिए तालयुक्त श्वास लेना आवश्यक है । यह तालयुक्त श्वास वास्तव में क्या है और उसे कैसे लिया जाता है ? यह विषय कुछ खोलकर समझाने का है, जिससे वह भली-भाँति हृदयंगम हो सके । इस सम्बन्ध में उपर्युक्त योगी ने जो कुछ लिखा है उसका एक अंश यहाँ दिया जाता है—

"विश्व के समस्त पदार्थ स्फुरण या कम्प (वाईब्रेशन) में हैं छोटे-छोटे परमाणु से लेकर बड़े से बड़े सूर्य तक सभी स्फुरण की दशा में है । प्रकृति में कोई भी वस्तु पूर्णतः स्थिर नहीं है । यदि एक परमाणु भी कम्प से रहित हो जाय तो सारी सृष्टि नष्ट हो सकती है । अनवरत स्फुरण से ही विश्व का कार्य संचालन हो रहा है । द्रव्य के ऊपर शक्ति का प्रभाव पड़ता है, जिससे अगणित रूप और असंख्यों भेद उत्पन्न होते हैं, परन्तु

यह रूप और भेद भी नित्य नहीं है । ज्यों ही वे बनकर तैयार होते हैं कि उनमें भी परिवर्तन होने लगता है और फिर उनसे भी अगणित नये रूपों की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार निरन्तर अनन्तता अथवा सृष्टि का चक्र चलता है । इन रूपों की दृष्टि से संसार की कोई वस्तु नित्य नहीं है, परन्तु तो भी इनका मूल, जो एक महान सत्य है वह परिवर्तनहीन और नित्य अवश्य है । रूप तो केवल आभास मात्र है—वे आते-जाते रहते हैं, परन्तु वास्तविकता नित्य और अविकारी है ।"

"मानव-शरीर के परमाणुओं में भी अनवरत स्फुरण होता रहता है । सदैव अनन्त परिवर्तन हुआ करते हैं । जिन परमाणुओं से यह शरीर बना है उनमें थोड़े ही दिनों में पूरा परिवर्तन हो जाता है । आज जिन परमाणुओं से हमारी देह बनी है कुछ महीनों के बाद उनमें से शायद एक भी शेष नहीं रहेगा । बस स्फुरण, लगातार स्फुरण—परिवर्तन, लगातार परिवर्तन ।"

"ये सब स्फुरण एक तालयुक्त गति से होते हैं । यह ताल समस्त विश्व में व्यापक है । ग्रहों के सूर्य के गिर्द घूमने, समुद्र के उमड़ने और दबने, हृदय की धड़कनें, ज्वार के उठने और भाटा के बैठने, सब में तालयुक्त गति का नियम पाया जाता है । हमारा शरीर भी ताल के नियम का वशवर्ती है । योग के श्वास-विज्ञान का भीतरी और गूढ़ तत्व अधिकांश में प्रकृति के इसी नियम पर आधारित है । शरीर के ताल में मिलकर योगी बहुत अधिक प्राण आकर्षण कर सकता है और उससे अपना अभीष्ट साधन कर सकता है ।"

इस प्रकार हम जीवन के महासमुद्र में पड़े हुए हैं और यदि हम में योग्यता हो अथवा हम प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन-यापन करते रहें, तो हमको स्वतः इस विश्वव्यापी लय और ताल का अभ्यास हो जाता है और इस महासमुद्र से इच्छानुसार कितना भी प्राण ग्रहण कर सकते हैं । तालयुक्त क्रिया में बहुत अधिक शक्ति होती है और उससे बड़े-बड़े कार्य सहज में सिद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार के अभ्यास से जो व्यक्ति इच्छानुसार प्राण पर अधिकार प्राप्त कर लेता है तो वह उसका उपयोग दूसरों पर भी कर सकता है । आजकल विभिन्न देशों के गूढ़ विद्याभ्यासी दूर से रोग निवारण करने, अपने विचारों को दूरवर्ती व्यक्ति के पास भेजने, मानसिक क्रियाओं से रोगों को मिटाने आदि के जो कृत्य कर रहे हैं, वे तालयुक्त श्वास क्रिया का अभ्यास हो जाने पर बहुत सहज में किए जा सकते हैं और बहुत कुछ बढ़ाये भी जा सकते हैं ।

इस प्रकार की तालयुक्त मात्रा का अभ्यास पहले मनुष्य को थोड़े परिमाण में करना चाहिए और जब वह स्वाभाविक रूप से होने लगे तो उसे धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए । उदाहरणार्थ अपनी नाड़ी पर हाथ रखकर दिल के धड़कने के समय की जानकारी करो और एक-दो-तीन-चार-पाँच-छः धड़कनों को गिनकर साँस को भीतर खींचते जाओ, फिर एक-दो-तीन गिनकर साँस को बाहर निकालो और एक से तीन तक गिनकर उसे बाहर ही रोके रहो । इसी क्रिया को बिल्कुल समान गति से दस-पन्द्रह मिनट तक करने से स्वयम् ही तालयुक्त श्वास का ज्ञान और अभ्यास होता जायेगा । जब एक से छः तक साँस खींचने का अभ्यास सहज और स्वाभाविक हो जाय तब उसका समय क्रमशः बढ़ाया जा सकता है । अर्थात् छः बार की जगह सात आठ बार गिनकर साँस को खींचा जाय । इसी प्रकार १६ तक की संख्या पहुँचाई जा सकती है । अर्थात् एक से सोलह तक गिनकर साँस को भीतर खींचे, एक से आठ तक गिनकर उसे भीतर रोके रहे । फिर एक से सोलह तक गिनकर साँस को बाहर निकाले और एक से आठ तक गिनकर उसे बाहर ही रोके रहे । सदैव इस बात का पूरा ध्यान रहे कि श्वास समान गति से संगीत की ताल अथवा फौजी सिपाहियों के उठते हुए कदमों की तरह चलती रहे । इस अभ्यास में श्वास को देर तक या लम्बा खींचना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना उसकी ताल का स्थिर रखना और उसमें संगीत का-सा आनन्द प्राप्त करते जाना । निरन्तर अभ्यास में लगे रहने वाला ताल का अनुभव समस्त शरीर में करने लगेगा वह लहर के पानी की तरह उठता और दबता जान पड़ेगा । इसमें समय लगेगा और धैर्य की भी आवश्यकता होगी, पर आगे चलकर इसी से श्वास के बड़े लाभदायक और चमत्कारी अभ्यास सहज में किए जा सकेंगे ।

प्राणायाम का उद्देश्य और स्वरूप

'प्राण' का अर्थ है—वह जीवन तत्व जो प्रकृति पदार्थों के साथ सम्बद्ध होते हुए प्राणियों के शरीरों में लेकर निखिल ब्रह्मांण्ड में संव्याप्त है । इस सम्बन्ध में एक भ्रामक मान्यता यह है कि प्राण सम्भवतः साँस के साथ चलने वाली वायु का नाम है । सम्भवतः यह भ्रम 'प्राण-वायु' शब्द के प्रचलन से फैला है । वायु में प्राण घुला हो सकता है, पर स्वयं प्राण-वायु के सीमा बन्धन में सीमित नहीं है । यों ऑक्सीजन को भी प्राण-वायु कहने का रिवाज है । इस ऑक्सीजन में जीवन धारण करने वाली क्षमता का संकेत भर है । प्राण को अमुक गैस या वायु में सीमाबंद्ध नहीं किया जा सकता ।

जिस प्रकार 'ईथर' ताप, विद्युत, प्रकाश विकिरण आदि प्रकृति पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, उसी प्रकार प्राण भी जीवन के रूप में संव्याप्त हैं । उसका परिचय शरीरधारियों में क्रियाशीलता, विचारणा एवं भावनाओं के रूप में कार्यान्वित होते हुए देखा जा सकता है । यह सब कुछ बन्द हो जाय तो समझा जा सकता है । कि प्राण निकल गया ।

प्राण की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहता है—"प्राणयति जीवयति इति प्राण ।" अर्थात् जो प्राणि मात्र के जीवन का आधार बनकर रहता है वह प्राण है ।

वायु और प्राण का परस्पर वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शब्द और वायु का । ध्वनि प्रवाह वायु के द्वारा ही होता है । चन्द्रमा पर हवा नहीं है, अस्तु वहाँ दो व्यक्ति अति समीप खड़े होने पर भी परस्पर वार्त्तालाप नहीं कर सकते । होठ, जीभ आदि सब कुछ चलने और बोलने का पूरा प्रयत्न करने पर भी मुँह से शब्द नहीं निकलेंगे और दूसरे के कानों तक बिना हवा के किसी ध्वनि का पहुँच सकना सम्भव न होगा । रेडियो प्रवाह के बहने वाली विद्युतधारा शब्द को तरंगों में बदल कर सुदूर स्थानों तक ले जाती है और फिर अभीष्ट स्थान पर उसे फिर से शब्द में बदल लिया जाता है, वह विज्ञान अलग है पर सामान्यतया वायु और शब्द की संगति स्पष्ट है । इसी प्रकार वायु के साथ प्राण-तत्व के घुले रहने की बात भी स्पष्ट है ।

निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त ब्रह्म और प्रकृति के सम्मिश्रण से बनने वाले प्राण की मनुष्य जीवन में अत्यधिक उपयोगिता है । वह शरीर में बलिष्ठता और सुन्दरता के रूप में दृश्यमान होता है । मनःक्षेत्र में उसे साहसिकता, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता के रूप में देखा जा सकता है । अन्तरात्मा में उसी का आलोक श्रद्धा, सद्भावना और उत्कृष्टता के रूप में विकसित होता है । शक्ति के बल पर ही संसार के सारे क्रिया-कलाप चलते हैं । जीवनी-शक्ति के बल पर व्यक्तित्व के विकास की सम्भावनायें बनती हैं । प्राण इसी जीवनी-शक्ति का नाम है । वह शरीर के जिस भी अवयव में—जितनी अधिक मात्रा में विद्यमान रहता है, वह उतना ही सक्षम एवं विकसित देखा जाता है । मस्तिष्क में उसकी ज्योति ज्ञान बनकर चमकती है । हृदय में दृढ़ता और पराक्रम उत्पन्न करती है । नेत्रों में प्रतिभा—वाणी में प्रभावशीलता के रूप में उसे देखा जा सकता है । होठों पर मुसकान और ललाट पर आशा की किरणों में उसे प्रकट होते हुए देखा जा सकता है ।

प्राण-तत्व को अभीष्ट परिमाण में उपलब्ध किया जा सकता है और अपने वर्चस्व को विकसित किया जा सकता है । इसके लिए स्थूल माध्यम में नासिका रन्ध्र ही होते हैं, पर सूक्ष्म रूप में संकल्प-शक्ति का वह चुम्बकत्व काम करता है । जिसके आधार पर साँस के साथ प्राण भी अभीष्ट परिमाण में खींच सकना और धारण कर सकना सम्भव हो सकता है ।

शरीर यात्रा को चलाते रहने योग्य प्राण तो हर किसी को मिला है । उसे व्यक्तिगत विद्युत, जीवनी शक्ति एवं शक्ति ऊर्जा के रूप में आँका जा सकता है । इस सामान्य से आगे बढ़ कर जब असामान्य मात्रा में उसे ग्रहण और धारण करने की इच्छा होती है तो फिर प्राणायाम विज्ञान का आश्रय लिया जाता है ।

प्राणायाम का श्वास-प्रश्वास क्रिया से बहुत थोड़ा सम्बन्ध है । फेफड़ों में अधिक हवा भरना ताकि उनके कुछ भाग जो पूरी साँस न लेने से निष्क्रिय एवं अशक्त पड़े रहते हैं उन्हें क्रियाशील बनाना—गहरी श्वास-प्रश्वास

क्रिया का प्रधान प्रयोजन है । जल्दी साँस लेने से रक्त-संचार की गति में तीव्रता आने से भी थोड़ा लाभ हो सकता है, पर यह सामान्य शारीरिक लाभ है । इन्हें दूसरे व्यायामों में भी किया जा सकता है। प्राणायाम की गरिमा का मुख्य कारण यह है कि अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में फैले हुए प्राण-तत्व (वाईटल फोर्स) का अधिक मात्रा में आकर्षित करना और उसके द्वारा शरीर और मन के कतिपय शक्ति संस्थानों को समर्थ एवं नियन्त्रित बनाना ।

स्वसंचालित श्वास-प्रश्वास क्रिया—'वेगसनर्व' के द्वारा गतिशील रहती है और इस 'वेगसनर्व' का सीधा सम्बन्ध अचेतन मन से है । इसे सामान्य इच्छा शक्ति से घटाया, बढ़ाया या रोका, चलाया नहीं जा सकता । इसे प्राणायाम द्वारा आहूत प्राण-तत्व ही प्रभावित कर सकता है । कहना न होगा कि इस क्रिया में जितनी सफलता मिलती जाती है उतना ही प्राण-तत्व का वेगसनर्व के माध्यम से समस्त शरीर पर अधिकार होता चला जाता है । उस सफलता के बाद साँस केवल साँस नहीं रह जाती मात्र वायु का आवागमन और रक्त में से दूषित तत्व छाँटने, निकालने के अतिरिक्त एक नया आधार और मिल जाता है । तब साँस के साथ प्राण-तत्व की एक विशेष विद्युत घुली रहती है और उसका प्रभाव किसी भी अंग पर कुछ भी हो सकता है ।

स्वसंचालित नाड़ी संस्थान (ओटोनॉमिक नर्वस् सिस्टम) जो किसी अन्य उपाय से नियन्त्रण में नहीं आता प्राण-तत्व का प्रभाव स्वीकार कर लेता है । तब नाड़ी तन्तुओं के सहारे प्राण की एक विलक्षण शक्ति किसी भी प्रत्यक्ष, परोक्ष अवयव में भेजी जा सकती है और उससे अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध किए जा सकते हैं । शरीर शास्त्री जानते हैं कि शरीर के रहने वाली क्रिया-शक्ति से मस्तिष्कीय ज्ञान-शक्ति की समर्थता दस गुनी अधिक है और उससे भी दस गुनी अधिक सामर्थ्य स्वसंचालित नाड़ी प्रक्रिया में है । अर्थात् शारीरिक क्षमता की तुलना में स्वसंचालित क्षेत्रों में सौ गुनी सामर्थ्य काम करती है । उसे यदि नियन्त्रण में लेकर इच्छानुसार प्रयुक्त किया जा सके तो मनुष्य सामान्य क्रियाशीलता की अपेक्षा सौ गुनी क्रियाशीलता अपने में विकसित कर सकता है । हारमोन जैसे तत्व जो शारीरिक और मानसिक विकास को जादुई ढंग से प्रभावित करते हैं, अन्य किसी उपाय से भी दवा-दारू से भी प्रभावित नहीं होते, पर यदि नाड़ी तन्तुओं, श्वास-प्रश्वास लहरियों और माँस-पेशियों के आकुंचन-प्रकुंचन द्वारा उन तक प्राण-तत्व का प्रभाव पहुँचाया जा सके तो हारमोन, नाड़ी गुच्छक उपात्यिकाएँ, ग्रन्थियाँ, कोशिकाएँ तथा अवयवों की कार्य-पद्धतियाँ निश्चित रूप से प्रभावित की जा सकती हैं ।

प्राण-तत्व को कई बार दैवी शक्ति (कास्मिक एनर्जी) कहा जाता है और कई मानव तत्ववेत्ता उसे प्रत्यक्ष जीवन (विजुअल लाइफ) कहते हैं ।

प्रत्येक साँस के साथ हम आकाश से हवा ही नहीं खींचते उसके साथ एक विद्युत भी खींचते हैं । यह विशेष विद्युत सामान्य बिजली की तरह जड़ तत्वों के अन्तर्गत नहीं आती क्योंकि उसमें जीवन भी भरा रहता है । ऐसा जीवन जो जीवाणुओं की तरह हलचल ही नहीं करता, वरन् उसमें चेतना और विचारकता भी भरी पड़ी है । यह दिव्य विचारकता ईश्वरीय प्रवाह है जो यदि हम उसे ग्रहण कर सकने की स्थिति में हों तो ईश्वरीय सन्देशों तथा उसके द्वारा चल रहे इस जगत या अन्य लोकों में क्रिया-कलापों को देखने, सुनने और समझने से समर्थ हो सकते हैं । प्राणायाम हमें प्राण को उन सूक्ष्म तरंगों से भी सम्बद्ध कर सकता है जिसके माध्यम से विश्व-व्यापी हलचलें हो रही हैं । इन सूक्ष्म प्राण तरंगों से सम्बन्ध बनाया जा सके तो इस विश्व के घटना-क्रमों तथा व्यक्तियों के आन्तरिकी ढाँचों में आश्चर्यजनक हेर-फेर प्रस्तुत किया जाना सम्भव हो सकता है ।

मोटे तौर पर नाक से साँस खींचने की, छोड़ने की और रोकने की विधि विशेष को प्राणायाम कहते हैं । खींचने को पूरक, रोकने को कुम्भक और छोड़ने को रेचक कहा जाता है । रोकने के दो तरीके हैं—एक साँस को भीतर भर कर रोके रहना जिसे अन्तःकुम्भक कहते हैं । दूसरा साँस को निकाल देने के बाद बाहर की हवा को भीतर प्रवेश करने से रोकना—बिना साँस लिए काम चलाना उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं । दो प्रकार का कुम्भक और एक-एक प्रकार के पूरक, रेचक इस प्रकार प्राणायाम को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है । यों यह चारों ही क्रियाएँ अपने ढंग

से स्वतः ही होती रहती हैं और उनका ध्यान भी नहीं रहता, पर जब उसी प्रक्रिया को विशेष क्रम से, विशेष ध्यानपूर्वक, विशेष भावना और उत्कण्ठा के साथ सम्पन्न किया जाता है तो उसे प्राणायाम कहा जाता है ।

प्राणायाम के अनेकों भेद-उपभेद हैं । साधारणतया ८४ प्राणायामों की चर्चा होती रहती है । उनमें से शीतली, सीत्कारी उज्जायी, भस्त्रिका आदि आठ मुख्य हैं । उनके भिन्न-भिन्न विधान, प्रयोजन तथा परिणाम हैं, पर सभी में एक बात समान रूप से रहती है कि संकल्पपूर्वक साँस लेते समय यह विश्वास विकसित किया जाता है कि नाक के साथ अन्दर प्रवेश करने वाली वायु के साथ प्रचुर परिमाण में प्राण-तत्व भरा पड़ा है और वह प्राणायाम क्रिया करते समय उद्दीप्त हुई संकल्प शक्ति के सहारे भीतर खिंचता चला आ रहा है और उसकी प्रतिष्ठापना शरीर के रोम-रोम में होती चली जा रही है । यह अभिव्यक्ति जितनी ही प्रखर होगी उसी अनुपात से उभरा हुआ संकल्प संव्याप्त प्राण को अधिक मात्रा में खींचने और धारण करने में सफल हो सकेगा ।

साँस खींचते समय प्राण-तत्व का प्रचुर परिमाण में खिंचना, रोकते समय उसका रोम-रोम में बस जाना, छोड़ते समय अन्तर की विकृतियों को अपने साथ घसीटते हुए ले चलना और ऐसे सुदूर क्षेत्र में फेंक देना जहाँ से फिर लौटने की सम्भावना न हों । यही तीन संकल्प पूरक, कुम्भक और रेचक के साथ-साथ किए जाते हैं । संकल्प में जितनी प्रखरता होगी प्राणायाम उतना ही सफल रहेगा । यदि ऐसे ही उथले मन से साँस खींचते, छोड़ते रहा जाय तो उसके क्रमबद्ध होने पर मात्र फेफड़ों का व्यायाम भर हो सकता है । प्राणायाम का वह लाभ नहीं मिल सकता जिसकी साधना-विज्ञान में बढ़ी-चढ़ी महिमा बताई गई है ।

व्यायाम विज्ञान में शरीर के विभिन्न अवयवों की परिपुष्टि के लिए अनेक साधन बताये गए हैं । उनमें से फेफड़े को मजबूत बनाने के लिए गहरी साँस लेने (डीप ब्रीदिंग) का विधान भी है और इसकी शरीर शास्त्रियों ने कई विधियाँ बताई हैं । साधारणतया लोग हल्की साँस लेते हैं और उससे फेफड़ों का मध्य भाग ही प्रभावित होता है । उनके ऊपर नीचे के भागों में थोड़ी-सी ही हवा पहुँचती है, अस्तु वहाँ एक प्रकार से निष्क्रियता ही छाई रहती है । जहाँ निष्क्रियता होगी वहाँ स्वभावतः दुर्बलता रहेगी । सफाई का अवसर कम मिलने से वहीं रोग कीटाणुओं के जम बैठने का अवसर मिलता है । फेफड़े सम्बन्धी रोगों की संख्या तथा स्वरूप अब बढ़ता ही जा रहा है । क्षय, खाँसी, दमा, प्लूरिसी, साँस फूलना, ब्रोकाइटिस आदि रोग फेफड़ों की दुर्बलता के कारण ही बढ़ते हैं और यह दुर्बलता फेफड़ों के पूरे भाग को पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन की कमी तथा समुचित श्रम करने का अवसर न मिलने से उत्पन्न होती है । इस विपत्ति से बचने के लिए गहरी साँस लेने के जो तरीके खोजे गए हैं, आरोग्य विज्ञान के क्षेत्र में उन्हीं को प्राणायाम कहा जाता है । इस दृष्टि से भी उनकी उपयोगिता है, पर अध्यात्म क्षेत्र में प्राणायाम को जिस आधार पर महत्त्व दिया गया है । वह जीवनी-शक्ति का सम्वर्धन ही है । इसमें अन्तरात्मा के विकास का अवसर मिलता है और बढ़ती हुई प्रखरता के आधार पर आत्मोत्कर्ष का वह द्वार खुलता है जिसमें प्रवेश करने के उपरान्त ही जीवन-लक्ष्य को प्राप्त कर सकना सम्भव होता है ।

प्राणायाम की आवश्यकता

भारत के सार्वजनिक जीवन में प्राणायाम का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल किसी भी ब्रह्मचारी और गृहस्थ को नित्य पूजन के समय सन्ध्योपरान्त प्राणायाम करना पड़ता है । अतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के अभी कार्यों का आरम्भ प्राणायाम के उपरान्त ही किया जाता है । आपने देखा होगा कि खाते, पीते अथवा कुछ कार्य करते समय भारतीय लोग तीन बार आचमन कर, पुनः संकल्प करते हुए, प्राणायाम का अभ्यास करते हैं । प्राणायाम को सब कार्यों से पहले करने से यह तात्पर्य है कि प्राणायाम करने से मन एकाग्र और विचारशील होकर कार्यपरायण होना, जिसके फलस्वरूप निर्धारित कार्य में सफलता मिलेगी ।

प्राणायाम करने से सफलता क्यों मिलती है ? किसी भी कार्य में एकाग्रता, तन्मयता, विचारपरायणता निर्णयबुद्धि उस कार्य के साफल्य की जननी है और प्राणायाम इस सफलता के कारणों को प्रौढ़ तथा विकसित

करने का साधन है । मन की एकाग्रता का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क से ही नहीं होता, किन्तु पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के संस्पर्श से भी एकाग्रता का परिचय मिलता है । एकाग्रता स्पर्श ज्ञान पर, अनुभूतज्ञान पर, दृक्‌श्रुत तथा रसात्मक-ज्ञान पर, अपने ज्ञानतन्तुओं की विभिन्न रूपात्मकता का परिचय पाती है, जो सचमुच एक ही केन्द्र से परिसृत हैं, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के रूप गुणों के भेद-विपर्यय से तत्कथित अनुभवों के रूप गुणों में विकल्पाभास लाते दीखते हैं । वास्तव में, जो कुछ आप देखते हो वह उसी शक्ति का कार्य है, जो शक्ति आपके ही द्वारा सुनती या स्पर्श करती या रस का अनुभव करती है । चूँकि इस एक ही शक्ति के बाहरी द्वार कई ओर से खुले हैं, अर्थात् बहिर्मुख हुए हैं । हमें ऐसा परिचय होता है कि हम देख रहे हैं या सुन रहे हैं, अथवा स्पर्श कर रहे हैं और सोच रहे हैं ।

परन्तु जैसा इनका बाहरी रूप है, वैसा ही अपूर्व इनका आन्तरिक स्वरूप भी है । ये ज्ञानेन्द्रियाँ जब अन्तर्मुख होती हैं तो इनमें बाहरी शक्ति परायणता का केन्द्रीयकरण होता है । जिस प्रकार चार भाई अलग-अलग १-१ लाख की सम्पत्ति का संचय कर केवल मात्र १-१ लाख के ही अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ और उनके कार्य भी अपने-अपने रूप गुणों के अनुकूल ही परिचित हुआ करते हैं और जिस प्रकार वे चार भाई १-१ लाख की सम्पत्ति को विदेश से लौटकर अपने सम्मिलित परिवार में अर्पण करते हैं, तो उनकी शक्ति १-१ लाख में नहीं, अपितु ४ लाख में मानी जाती है और लोग कहते हैं कि उनके पास ४ लाख रुपया है......, उस परिवार में ४ लाख रुपये हैं, ठीक इसी प्रकार जब इन्द्रियों का अन्तर्मुखकरण होता है, जब उनकी वृत्तियाँ बाहर की ओर जाने के स्थान पर अन्दर की ओर पलटी जाती हैं, तो उन इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत मन की शक्ति प्रबल और सर्वगुण—अनुभवात्मक हो जाती है । वह बिना कान के भी सुनता और बिना आँख के देखने की क्षमता रखता है क्योंकि उसके तत्तद्‌गुणात्मक—उपकरण ने अपनी शक्ति उसी से केन्द्रित कर दी है । यही कारण है कि अन्धों की दृष्टि-शक्ति का केन्द्रीयकरण मन से होने के साथ, बौद्धिकता में विकास लाता है और वह अन्धा आँखों के न होने पर भी उसका ज्ञान अपनी मानसिक—परिचय शक्ति द्वारा उसी रूप में कर लेता है और उसे वस्तुज्ञान के लिए कभी-कभी स्पर्श की आवश्यकता भी नहीं रहती ।

स्थूल जगत में जो जीवनी-शक्ति प्रत्येक वस्तु का परिचालन करती दीखती है और जो मानसिक जगत में विचरण करती है, उसी का नाम प्राण है । प्राणायाम के अर्थ होते हैं कि जो जीवनी-शक्ति को नियमित, संचालित, यमित रखे । जो जीवनी-शक्ति निरन्तरतः मनुष्य की स्नायुओं से निकला करती है, बहुमुखी होती है, केन्द्र से विकेन्द्रित होती है—उसको अधिकार में लाने की जो क्रिया है, उसी का नाम प्राणायाम है । यही प्राण-शक्ति भौतिक शरीर का भी परिचालन करती है और दृश्य रूप का अनुभव भी करती है । जिस अनुभव के बल पर प्रत्येक शरीर उन अनुभवों को स्वयं करता है और इसी पर आभ्यन्तरिक विचार भी अधिष्ठित हैं । यह शक्ति इस तरह की है कि हम इसे पाशविक शरीर का शक्तिसार कह सकते हैं । प्राणायाम द्वारा इसी शक्ति पर अधिकार करना योगियों का लक्ष्य होता है, जिसकी प्राप्ति किसी निश्चित अनुताप तक प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकर होती है । जो इस शक्ति को अपने अधिकार में कर लेता है, वह स्थूल और सूक्ष्म जगत में, अपनी स्थिति पर ही नहीं बल्कि अधिवैश्रुतिक स्थिति पर आधारित हुए जीवात्मक-तत्व का अधिकार भी प्राप्त कर लेता है ।

उस शक्ति द्वारा विश्व परिचालित होता है और किसी अवस्था में, विश्व की नसों में प्रवाहित होने वाली नसों की परिचालिका शक्ति कोई और भिन्न नहीं है । इसलिये इसके द्वारा शरीर-विजय पाने का अर्थ होता है कि प्रकृति की शक्ति के ऊपर अधिकार करना अथवा भौतिक स्तर से ऊपर उठना ।

हिन्दू दर्शनशास्त्र के विशेष अंगानुसार सारी प्रकृति दो मुख्य पदार्थों से बनी है, एक है आकाश और दूसरा है प्राण—अर्थात् परिचालक स्फुरण । यही आजकल के वैज्ञानिकों के मैटर और फोर्स होने चाहिए, क्योंकि इस विश्व में जिस किसी का आकार है, भौतिक—स्थिति है, वह सर्वव्यापक और अनन्त आकाश से ही उत्पन्न हुआ है । गैस, तरल तथा ठोस रूप में सारा विश्व, जिसमें सारा सौर्य जगत तथा अन्य ऐसे ही असंख्य सौर जगत ही नहीं, अपितु सृष्टि-शब्द के अन्तर्गत सब

कुछ इसी सूक्ष्म और अव्यक्त आकाश से उत्पन्न हैं और अन्त में इसी आकाश में लीन हो जायेगा ।

इसी प्रकार प्रकृति की शक्ति जितने नामों से मनुष्य को ज्ञात है, जैसे गुरुत्वाकर्षण, प्रकाश, तेज, विद्युत, आकर्षण आदि जो कुछ भी उत्पादक शक्ति स्थूल सृष्टि, स्नायु-तरंगें, पाशविक बल, विचार तथा अन्य मानसिक शक्तियाँ, जो अधिक से अधिक मनुष्यों द्वारा जानी गई हैं, इसी विश्वप्राण के भिन्न-भिन्न रूप हैं । किसी भी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान होने से आपको विश्वस्तः यही पता चलेगा कि उस पदार्थ की सत्ता में से इस प्राण को घटा दिया जाय तो जो कुछ शेष रहेगा, वह उस पदार्थ का जीवहीन रूप ही रहेगा, जिसमें न रूप होगा, न गुण और न अन्य कुछ । अतः पदार्थ और उक्ति का संचय प्रकृति के दो मूल नियम हैं ।

सृष्टि के अन्त में शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप अव्यक्त हो जाते हैं किन्तु नवीन सृष्टि उत्पन्न होते ही शक्ति का पुनः प्रस्फुरण होता है और आकाश में चालित होते ही विपुलाकार आकृतियों की सृष्टि होने लगती है । जिस तरह आकाश के परिवर्तन होते ही, प्राण भी घटता और बढ़ता है । योगशास्त्र के अनुसार यह शरीर सूक्ष्म-जगत है, जिसमें ज्ञानेन्द्रियाँ ही सूक्ष्म-आकाश और स्नायुमण्डल ही विचार-तरंग और स्फुरण ही प्राण है । अतः उनके परिचालन के रहस्य का ज्ञान और उनका नियन्त्रण ही विश्व विजय की प्राप्ति करना है।

ज्योतिषशास्त्र भी कहता है, प्रत्येक विशालतम ग्रह का मनुष्य के इस शरीर में तदात्मक स्थान है । सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों का प्रभावोत्पादक—दर्पण भी अपने सूक्ष्म अथवा शरीरात्मक रूप में विद्यमान रहता है और क्रमशः अथवा विधितया उन विशाल ग्रहों की क्रिया अथवा उनके पद-चिन्ह भी मनुष्य के इस शरीर में प्रतिक्रियात्मक होते रहते हैं और उनकी प्रत्येक प्रगति हमारे जीवन के सुख और दुःख का निर्णय करती है । जिस प्रकार आधुनिक टेलीविजन यन्त्र द्वारा निश्चित निर्धारित अथवा इच्छित सम्भव दृश्य का आप दर्शन कर लेते हैं, अर्थात् जिस प्रकार टेलीविजन यन्त्र पर किसी दूर में होने वाले रूप की प्रतिक्रिया होती है, क्योंकि उस टेलीविजन यन्त्र में तत्तद्रूप रूपात्मक प्रभावग्राही तन्तुओं का समावेश किया है·····, ठीक उसी प्रकार आपके इस यन्त्र में भी दूर होने वाले कार्य की प्रगति का स्फुरण भी होता रहता है ।

इससे यही अर्थ स्पष्ट हुआ कि हमारे शरीर में विश्व के विशाल कलेवर का व्यष्टिरूप है । यह अखिल-विश्व का एक नमूना है, जिसमें प्रत्येक कार्य विश्वविधान के अनुकूल ही होते आ रहे हैं और जिनका विशालतम रूप सृष्टि-क्रम है । जिस प्रकार मनुष्य जीवित होता, विकास को प्राप्त करता और पुनः अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार उसके विशाल रूप अखिल-विश्व को जानो । जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में यह सिद्ध है कि शक्ति ही सर्वव्यापक और नियन्ता है, उसी प्रकार हमारे शरीर में भी उसी शक्ति का तादात्म्यक रूप, गुण अथवा प्रगति है । अतः तदनुसार ही उस शक्ति का नियन्त्रण अथवा संचालन किया जाय, जो हमारे दैनिक जीवन को स्थिर रख सके, जो हमारे वैज्ञानिक जीवन, मनोवैज्ञानिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन, अतिचेतनात्मक जीवन तथा जीवन सम्बन्धी और सभी प्रगतियों में विषमता का परिहार करे, सन्तुलन का अवतरण करे ।

इस तरह प्राणायाम, जिसका अर्थ है प्राण पर अधिकार करना (अतः उसका संचालन करना भी) वह साधन है—(१) जिसके द्वारा साधारण मनुष्य इसी छोटे से शरीर में विश्व-जीवन का अनुभव करता है और विश्व की सभी शक्तियों का परिचय पाता हुआ उन पर पूर्ण विजय का प्रयत्न करता है, (२) योगी इस छोटे से मन में ही विश्वचेतना का अनुभव करता हुआ, विश्व की सभी चेतनशक्तियों को अधिकृत करता हुआ उन पर पूर्ण विजय का प्रयत्न करता है, (३) आज का वैज्ञानिक इसी छोटे से भौतिक-वर्ग में ही सभी शक्तियों को केन्द्रीभूत देख उन पर पूर्ण विजय कर, उनका उपयोग करता है । तथा, (४) एक आध्यात्मिक साधक, इसी सत्संकल्पात्मक आत्मजगत में, विश्व-जीवन की अनन्तसूत्रात्मक-शृंखला के दर्शन करता हुआ, उनको अधिकृत कर, उनका सत्याधिकार धारण कर लेता है । इसी छोटे से शरीरात्मक स्थान पर ही यह विशाल प्रयत्न हो रहा है—(अ) भौतिक, (ब) मानसिक, (स) मनोवैज्ञानिक और (द) आध्यात्मिक ।

अतः विलम्ब की आवश्यकता नहीं । विश्वास के लिए तर्क और विवाद उचित नहीं । प्रकृति के विशाल

युगों का समय हमें अपने जीवन में संप्रवर्तित करना है तथा विचारशक्ति और क्रिया के बल पर शारीरिक साधना द्वारा शीघ्र ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति करनी चाहिए । इस लक्ष्य की प्राप्ति मनुष्य के जीवन में— सार्वजनिक जीवन में योग की शिक्षा द्वारा ही होगी । प्राणायाम इसका एक महत्त्वपूर्ण अंग है, क्योंकि मनुष्य प्राणायाम के द्वारा ही तो जीवित रहता और इसी प्राणायाम के साधारण स्तर को विकास की ओर ले जाने से हम अवश्यमेव मनुष्य जीवन की अवधि को भी विकास के पद चिन्हों का अनुगामी बना सकते हैं । जिस प्रकार साधारण प्राणायाम करने से आप जीवन धारण करते हैं उसी प्रकार तदधिक प्राणायाम करने से आप चिरायु भी रह सकेंगे ।

प्राणायाम : सर्वतोन्मुखी प्रगति की साधना

प्राणायाम के दो उद्देश्य हैं—एक श्वास की गति का नियन्त्रण, दूसरा अखिल विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राण चेतना को आकर्षित करके स्थूल, सूक्ष्म और कारण, शरीरों को उस अद्‌भुत शक्ति से ओत-प्रोत करना । मनोनिग्रह में भी प्राणायाम से आशाजनक सहायता मिलती है । चंचल और उच्छृंखल मन निर्दिष्ट केन्द्र पर स्थिर होना सीखता है । इतना ही नहीं मनोविकारों के निराकरण का भी पथ-प्रशस्त होता है । साधन जगत में प्राणायाम की महत्ता एक स्वर से स्वीकार की गई है । शारीरिक और मानसिक आरोग्य की दृष्टि से उसे अतीव उपयोगी बताया गया है ।

श्वास की गति में तीव्रता रहने से जीवन का शक्ति कोष जल्दी चुक जाता है और दीर्घजीवन सम्भव नहीं रहता । श्वास की चाल जितनी धीमी होगी शरीर उतने ही अधिक दिनों जीवित रह सकेगा और कई प्राणियों की श्वास का तुलनात्मक अध्ययन करने से तथ्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है ।

प्रति मिनट श्वास की चाल और जीवन अवधि का लेखा-जोखा इस प्रकार है—खरगोश-श्वास ३८, आयु ८ साल । कबूतर-श्वास ३७, आयु ८ वर्ष । कुत्ता-श्वास २८, आयु १३ । बकरी-श्वास २४, आयु १४ । घोड़ा-श्वास १८, आयु ५० । मनुष्य-श्वास १२, आयु १०० । हाथी-श्वास ११, आयु १०० । सर्प-श्वास ७ आयु, १२० । कछुआ-श्वास ४, आयु १५० वर्ष ।

भूतकाल में मनुष्यों की श्वास ११-१२ बार प्रति मिनट के हिसाब से चलती थी अब वह बढ़कर १५-१६ पहुँच गई है । इसी अनुपात से उसकी आयु भी घट गई है ।

श्वास की गति बढ़ने से तापमान बढ़ता है । बढ़ा हुआ तापमान आयुक्षय करता है । जो जानवर कुत्ते की तरह हाँफते हैं—जिनकी हाँफने की गति जितनी तीव्र होती है । वे उतनी ही जल्दी मरते हैं । स्मरण रहे हाँफना और तापमान की वृद्धि दोनों एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं । ज्वर आने पर आदमी भी हाँफने लगता है । इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि जिसकी साँस तेज चलेगी उसके शरीर की गर्मी बढ़ जायेगी । यह गर्मी की बढ़ोतरी और साँस की चाल में तीव्रता दोनों ही जीवन का जल्दी अन्त करने वाले हैं ।

दीर्घायुष्य का रहस्य बताते हुए विज्ञानी जेक्टलूवे ने बताया है कि इन दिनों मनुष्यों का शारीरिक ताप ९८.६ रहता है । इसे आधा घटाया जा सके अर्थात् ४९.३ बना दिया जाय तो आदमी मजे में १००० वर्ष जी सकता है ।

प्राणायाम में गहरी साँस लेने का अभ्यास किया जाता है । साधना समय में उसके लिए विशेष प्रयास किया जाता है और यह ध्यान रखा जाता है कि सामान्य समय में भी उथले साँस लेने की आदत को बदला जाय और उसके स्थान पर गहरे साँस लेने का अभ्यास सदा के लिए डाला जाय । इससे स्वास्थ्य सम्वर्धन और दीर्घजीवन की सम्भावनायें बढ़ती हैं ।

साधारणतया हर मिनट में १८ बार हमारे फेफड़े फूलते सिकुड़ते हैं । २४ घण्टे में एक प्रक्रिया की २५९२० बार पुनरावृत्ति होती है । प्रति श्वास में प्रायः ५०० सी. सी. वायु का प्रयोग होता है क्योंकि लोग उथला श्वास लेते हैं । सामान्यतया एक स्वस्थ शरीर की आवश्यकता पूर्ति के लिए हर साँस में १२०० सी. सी. वायु का उपयोग होना चाहिए । लोग आवश्यकता को देखते हुए आधे से भी कम वायु प्राप्त करते हैं । यह आधे पेट भोजन या आधी प्यास पानी की तरह ही शरीर को दुर्बल ही बनाये रहेगा, स्वास्थ्य

श्वासी सदा से गहरी साँस लेने की आवश्यकता बताते रहे हैं और कहते रहे हैं कि उथली साँस लेने की ढील-पोल से फेफड़े दुर्बल पड़ेंगे और उनमें क्षय, दमा, खाँसी, सीने का दर्द जैसे अनेक रोगों का खतरा बना रहेगा ।

गहरी साँस लेने का लाभ यह है कि फेफड़े को जल्दबाजी की भगदड़ में थोड़ी राहत मिलती है और वह उस अवकाश का उपयोग रक्त को अधिक शुद्ध करने में कर सकता है । इससे हृदय पर कम बोझ पड़ेगा और वह अधिक निरोग रह सकेगा । इंग्लैण्ड का विख्यात फुटबाल खिलाड़ी मिड़लोथियन अपने गर्वीले मन और फुर्तीलेपन का कारण हमारी साँस लेने का अभ्यास ही बताया करता है । वह प्रायः २००० सी. सी. वायु हर श्वास में लेता था जबकि औसत व्यक्ति ५०० सी. सी. ही लेकर छुट्टी पाते हैं । वह स्वास्थ्य संरक्षण और दीर्घजीवन का सस्ता किन्तु कारगर नुस्खा है ।

डॉ. मेकडावल का कथन है—गहरी श्वास लेने का मतलब फेफड़ों को ही नहीं पेट के पाचन यन्त्रों को भी परिपुष्ट बनाना है । रक्त शुद्धि की दृष्टि से गहरी साँस बहुमूल्य दवा-दारू लेने से भी बढ़कर लाभदायक है । डॉ. नोल्स ने लिखा है—गहरी साँस लेने की आदत मनुष्य को अधिक कार्य कर सकने की क्षमता और स्फूर्ति प्रदान करती है । श्रम जीवियों की शक्ति साधारणतया अधिक ही खर्च होती है । इससे उन्हें जल्दी थकना चाहिए पर देखा इससे उल्टा जाता है वे अपेक्षाकृत अधिक बलिष्ठ रहते हैं उसका प्रधान कारण कठोर श्रम करने के साथ-साथ फेफड़ों का अधिक काम करना और उस आधार पर रक्त शुद्धि का अधिक अवसर मिलना ही होता है । डॉ. मेटनो इससे भी आगे बढ़कर गहरी श्वसन क्रिया का प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ना स्वीकार करते हैं । उन्होंने स्मरण शक्ति की वृद्धि से लेकर हर्षोल्लास मग्न रहने तक की विशेषता को इसी की लाभ परिधि में सम्मिलित किया है ।

स्थूल शरीर में वायु संचार के लिए फेफड़े प्रधान रूप से काम करते हैं । सूक्ष्म शरीर में यह कार्य भी नाभि केन्द्र को ही करना पड़ता है । प्रत्यक्ष शरीर नासिका द्वारा वायु खींचता-छोड़ता है, सूक्ष्म शरीर को प्राण-वायु का संचार करना होता है । प्राण वस्तुतः एक विद्युत शक्ति है जो ऑक्सीजन की ही भाँति वायु में घुली रहती है । श्वास-प्रश्वास के साथ ही उसका आवागमन भी होता है । वैसे उसकी सत्ता वायु से सर्वथा भिन्न है । समुद्र के पानी में नमक घुला रहता है यह ठीक है । वस्तुतः वे दोनों एक दूसरे से भिन्न स्तर के ही हैं ।

सूक्ष्म शरीर की नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले शक्ति प्रवाह को प्राण कह सकते हैं । जिस प्रकार रक्त और रक्त वाहिनी शिरा इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर भी उनकी सत्ता सर्वथा स्वतन्त्र है । इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर की नाड़ियों और उनमें प्रवाहित होने वाले प्राणों को एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हुए भी वह सत्ता की दृष्टि से पृथक भी ठहराया जा सकता है ।

प्राण प्रवाह की दस धाराएँ मानी गई हैं, जिनमें से पाँच नाभिदेश से ऊपर की ओर चलती हैं और पाँच नीचे की ओर । महत्त्व और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ऊर्ध्वगामी प्रवाह को यहाँ प्राण और निम्नगामी प्रवाह को उप-प्राण कहते हैं ।

प्राणायाम हमारे स्थूल शरीर में आरोग्य बढ़ाता है । सूक्ष्म शरीर में एकाग्रता, सन्तुलन और पवित्रता उत्पन्न करता है । इसके अतिरिक्त कारण शरीर को प्रभावित करके कतिपय सिद्धियों और विभूतियों का द्वार खोलता है, जो मनुष्य में देवत्व का उदय कर सकती हैं ।

प्राणायाम : विज्ञान

प्राणायाम शब्द के दो खण्ड हैं—एक 'प्राण' दूसरा 'आयाम' है । प्राण का मोटा अर्थ है जीवन तत्व और आयाम का अर्थ है—विस्तार । प्राण शब्द के साथ प्रायः वायु जोड़ा जाता है । तब उसका अर्थ नाक द्वारा साँस लेकर फेफड़ों में फैलाना तथा उसके ऑक्सीजन अंश को रक्त के माध्यम से समस्त शरीर में पहुँचाना भी होता है । यह प्रक्रिया शरीर को जीवित रखती है । अन्न जल के बिना कुछ समय गुजारा हो सकता है पर साँस के बिना तो दम घुटने से कुछ समय में ही जीवन का अन्त हो जाता है । प्राण-तत्व की महिमा जीवन धारण के लिए भी कम नहीं है ।

सूक्ष्म दृष्टि से प्राण का अर्थ ब्रह्माण्ड भर में संव्याप्त ऐसी ऊर्जा है जो जड़ और चेतन दोनों का समन्वित रूप है । जीवधारियों की दो हलचलें हैं एक ज्ञानपरक दूसरी क्रियापरक दोनों को ही गतिशील रखने के लिए संव्याप्त प्राण ऊर्जा से पोषण मिलता है । इसी आधार पर जीवधारियों का अस्तित्व है । प्राण-शक्ति की गरिमा सर्वोपरि होने और उसी के आधार पर निर्वाह करने के कारण जीवधारियों को प्राणी कहते हैं । प्रकृति अनुदान के रूप में हर प्राणी को मात्र उतनी ही प्राण ऊर्जा मिलती है जिससे वह अपने जीवित रहने के आवश्यक साधन प्राप्त कर सके । इसके अतिरिक्त यदि किसी को कुछ 'महत्त्वपूर्ण' प्राप्त करना होता है तो उनके लिए उसे विशेष पुरुषार्थ करना पड़ता है । उसे संकल्प बल से ब्रह्माण्ड चेतना में से प्राण ऊर्जा की अभीष्ट मात्रा प्रयत्नपूर्वक खींचनी पड़ती है और साँस के सहारे जिस तरह ऑक्सीजन समस्त शरीर में पहुँचाई जाती है, उसी प्रकार वह प्राण ऊर्जा की अतिरिक्त मात्रा भी पहुँचानी पड़ती है । उसी प्रकार योगशास्त्रोनुमोदित विशेष क्रिया-प्रक्रियाओं द्वारा उस अतिरिक्त प्राप्ति को अभीष्ट अवयवों एवं संस्थानों तक पहुँचाना पड़ता है । इस प्रकार प्राण का आयाम बन पड़ता है और प्राणायाम का आध्यात्मिक प्रयोजन पूरा होता है ।

वस्तुतः प्राण और अपान के संयोग को प्राणायाम कहते हैं । प्राण के प्रच्छर्दन या निर्धारण से मनोनाश होता है । उपनिषदों में प्राणायाम की महत्ता को बताते हुए कहा गया है, क्षुतृष्णालस्य निद्रा न जायते । गुल्मप्लीज्वरपित्क्षुधादीनि नश्यति—से प्राणायाम को सर्वरोग निवारक जानना चाहिए । प्राणायाम के दीर्घ अभ्यास से अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान् भवेत् की उक्ति सिद्ध होती है । प्राण-निरोध से वासना का स्वतः क्षय हो जाता है ।

प्राणायाम तीन प्रकार का होता है—पूरक, कुम्भक तथा रेचक । वायु के उत्क्षेपण की क्रिया को पूरक जानना और वायुनिरोध की क्रिया को कुम्भक कहते हैं । इसी तरह वायु-रेचन की संज्ञा ही रेचक है ।

आहार-शुद्धि रखते हुए, जो प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करता है, वह प्रथम अवस्था में पसीने का अनुभव करता है, पुनः वह शरीर के हल्केपन का अनुभव करता है । कालान्तर में यदि प्राणायाम उचित और निर्बाध हो तो भूमि त्याग की अवस्था आती है, परन्तु याद रहे कि आहार तथा प्रकृति में अपना पूर्ण निरोध रहे । यदि साधक नियमानुसार प्राणायाम का अभ्यास करे तो उसका स्वस्थ होना अनिवार्य है । प्राणायाम में नाड़ी शुद्धि होगी, जठराग्नि तीव्र होगी और अनहद शब्द स्पष्ट सुनाई देगा ।

कुम्भक दो प्रकार का होता है—सहित कुम्भक तथा केवल कुम्भक । रेचक युक्त कुम्भक को सहित कुम्भक कहते हैं । इन दोनों से जो रहित होता है, उसे केवल कुम्भक जानना चाहिए । अभ्यासी के लिए सहित कुम्भक का ही अभ्यास करना चाहिए । केवल कुम्भक के द्वारा शरीर कृश हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है । केवल कुम्भक के दृढ़ अभ्यास से साधक बिन्दु विजयी होता है । उसमें तेजस्विता का प्रसार होता है ।

योगी सदा इस बात पर विचार करता आया है । सूक्ष्म बुद्धि तथा महत्-ज्ञान के द्वारा वह इस बात पर ज्ञान कर पाया कि वह अपने बिन्दु-निरोध में क्यों नहीं सफल हुआ ? काम वासना के दमन करने का उसने भरसक प्रयत्न भी किया । आसन मुद्रा बन्ध के सतत अभ्यास से वह अपने कार्य में अग्रसर भी हुआ । तत्फलतः आन्तरिक-वृत्ति स्रोत विमुख भी हो गया तथा विपरीत अंश स्रोत में परिवर्तन भी हुआ । अब उसे अपनी शक्ति का परिवर्तन ज्ञात हो पाया जबकि शक्ति अभ्यासी में चमकने लगी । ऐसी अवस्था में, जब सफलता निकटवर्ती अनुभूत होवे, साधक को योग्य है कि वह अपने शरीर को आध्यात्मिक-शक्ति की प्राप्ति के योग्य बना ले । शरीर की समस्त वासनाओं तथा आधि-व्याधियों का परिष्कार पूर्णतः आवश्यकीय है ।

इस प्रकार शरीर तथा मन का निकटस्थ सम्बन्ध योगी के ज्ञान प्रदेश में सूत्रित होता है, जिसके योग में शरीर तथा मन के निरोध की आवश्यकता पुष्ट होती है । अतः योगी ने स्वतः ही स्वतन्त्र विज्ञान को जन्म दिया ।

शरीर की शुद्धि मन की शुद्धि की प्रस्तावना है क्योंकि मन सहसा ही शरीर द्वारा प्रभावित होता है । अतः शारीरिक क्षुधा का निरोध करना चाहिए । अधिक भोजन, अधिक कार्य, अधिक बातें इत्यादि का योग

मार्ग से निराकरण करना चाहिए । शारीरिक पूर्णता ही प्राण-शक्ति में अन्तर्मुखवृत्ति लाती है । प्राण-शक्ति बाह्यतः श्वास प्रतिरूप है । श्वास-निरोध द्वारा प्राण-वायु भी निरुद्ध हो जाती है । अतः श्वास प्रतिरोध को प्राणायाम कोष के ऊपर विजय पाने का अस्त्र माना गया है ।

स्वभावतः देखने से ज्ञात होगा कि जन-साधारण के प्राण संचार में किसी प्रकार की प्रणाली नहीं, परन्तु योगी श्वास-विधान द्वारा एक प्रकार की प्रणाली को जन्म देता है । जब श्वास में समानता अथवा एकमुखवृत्ति आती है तो श्वास का फल कुम्भक हो जाता है । श्वास का स्वतः निरोध हो जाता है । अब कुम्भक का श्रीगणेश होता है । मन में शान्ति का आभास होता है । समाधि का आविर्भाव होता है ।

प्राणायाम के अभ्यास का शरीर मन और बुद्धि पर अति सफल प्रभाव है, क्योंकि यह सब प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक रोगों का हन्ता माना जाता है । सिद्ध भी है कि यह शरीर में बहु शक्ति का संचार करता है, मन की अशुद्धियों को आक्रान्तकर, बुद्धि विकास में सहायक होता है । यह स्मृति प्रकाश में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग है ।

यह कहना ठीक नहीं कि प्राणायाम का अभ्यास केवल मात्र हठयोगी के ही लिए आवश्यकीय है । राजयोगी एवं वेदान्ती के लिए भी इसकी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि यह मन-निरोध का प्राथमिक यन्त्र है । वेदान्ती भी अवश्यमेव प्रणव के ध्यान में प्राकृतिक प्राणायाम करेगा । तद्वत राजयोगी और हठयोगी भी पुरुष तथा शक्ति का ध्यान करते-करते स्वाभाविक प्राणायाम करने लगेंगे ।

जैसा बताया जा चुका है कि प्राण एवं वासना का परस्पर अतीव घनिष्ठ सम्बन्ध है । एक के निरोध से दोनों का निरोध होना सम्भव है । प्राण-वायु क्रियाशील होने से चित्त भी स्पन्दित होता है । यदि प्राण-वायु को वशीभूत किया जाय तो चित्तस्पन्दन स्वतः शान्त हो जायेगा क्योंकि प्राण मात्र ही अस्तित्व-पदार्थ की कुंजी है । अतः सिद्ध हुआ कि प्राण-वायु के संचालन में वशीकरण होना, प्राकृतिक शक्ति संचार को वश में करना है ।

उदाहरणार्थ एक बड़े कार्यालय में कई कार्य बिजली के बल से होते हैं । आप जब उन पर रोकथाम की इच्छा करें तो आपको सत्यतः उस कमरे में जाना होगा जहाँ से आप बिजली के समस्त सम्बन्धों को स्थगित कर दें । फलतः तमाम कार्य सहसा ही समाप्त हो जायेंगे तथा एक से व्यक्तिगत कार्य मात्र से तमाम कार्यालय रुक जायेगा । इसी प्रकार एक योग का अभ्यासी भी शक्ति-केन्द्रों में निरोध की स्थापना करता है जिससे वह अपने-अपने चक्रों का कार्य स्वतः स्थगित कर देता है । इस प्रकार प्राण-शक्ति के द्वारा योगाभ्यासी मन तथा शरीर को निरुद्ध करता हुआ, ऊर्जत्व के मार्ग पर अग्रसर होता है ।

अब हमें ऐसे परिपक्व विज्ञान का ज्ञान होता है, जिसकी प्राप्ति में आज के वैज्ञानिक चूक रहे हैं परन्तु उसी की प्राप्ति हमारे योगाभ्यासी करते हैं । इसी से भय दृष्टिगत होता है कि एक तो मन सागर की तरंगावलियों को हस्त स्पर्श से शान्त कर देता है, परन्तु अन्य पुरुष मदान्वित हो, अनन्त आनन्द के बदले भूमि पर पतित होता है । अब देखना है कि हम किसको श्रेय मानेंगे ?

प्राणायाम क्यों करें ?

'प्राण' एक ऐसी शक्ति है जो सर्वविदित है । वास्तविक शक्ति यही है । यह सर्वव्यापी है । इसकी गति चर या अचर होती है । यह प्रत्येक प्रकार के जीव, वृक्ष आदि में रहता है । नेत्रों की ज्योति के रूप में प्राण ही प्रकाशमान होता रहता है । प्राण की ही शक्ति से कान सुनते हैं, आँखें देखती हैं, चर्म स्पर्श का अनुभव करता है, जिह्वा स्वाद लेती है, नाक गन्ध का अनुभव करती है, तथा बुद्धि और मस्तिष्क अपना-अपना कार्य करते हैं । एक नवयुवती की मुस्कान, संगीत की मधुरता, कुशलवक्ता के वाक्यों का ओज तथा अपनी प्रेयसी के वचनों में आकर्षण—ये सभी प्राण की देन हैं । प्राण से अग्नि जलती है । प्राण से वायु चलती है । प्राण से ही नदियाँ बहती हैं । प्राण से ही वायुयान आकाश में उड़ते हैं । भाप से चलने वाले इंजन की शक्ति भी प्राण ही है । प्राण-शक्ति द्वारा ही मोटर और गाड़ियाँ चलती हैं । रेडियो में

ध्वनि प्राण द्वारा प्रसारित होती है । प्राण विद्युत-शक्ति, प्राण बल है, प्राण आकर्षण है, प्राण ही हृदय से धमनियों में रक्त परिचालित करता है । प्राण के द्वारा ही पचन-पाचन, निष्कासन आदि क्रियाएँ होती हैं ।

विभिन्न क्रियाओं से प्राण-शक्ति व्यय होती है जैसे—सोचना, इच्छा करना, बातचीत करना, लिखना, हिलना-डुलना आदि । एक स्वस्थ और बली पुरुष में प्राण-शक्ति की ही बाहुलता रहती है । भोजन, जल, वायु, उष्णता, प्रकाश आदि से प्राण प्राप्त होता है । स्नायुमण्डल इसे प्राप्त करते हैं । श्वास-प्रश्वास प्राण का प्रतीक है । आवश्यकता से अधिक प्राण मस्तिष्क या स्नायु केन्द्र में जमा रहता है । वीर्य का रूप ओजस में परिवर्तित हो जाता है तो स्नायुमण्डल को प्रचुर मात्रा में प्राण-शक्ति मिलती है । यही ओजस है, यही प्राण है ।

जिस प्रकार बिजलीघर में इंजन बिजली जमा करता है उसी प्रकार एक योगी प्राणायाम द्वारा प्रचुर मात्रा में प्राण संचित करता जाता है । जिसने योग से प्रचुर मात्रा में प्राण संचित कर लिया है वह सभी दृष्टि से बली और तेजस्वी दिखलाई पड़ता है । वह स्वयं एक बिजलीघर-सा बन जाता है जो अन्य व्यक्ति उसके संसर्ग में आते हैं उन्हें भी प्राण-शक्ति मिलती है और वे शक्ति, स्फूर्ति तथा तेज प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार एक नदी से दूसरी नदी में जल प्रवाहित होता है उसी प्रकार एक सिद्ध योगी की ओर से एक अशक्त व्यक्ति की ओर प्राण प्रवाहित होता है । जिस योगी ने यौगिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली है वह यह देख सकता है ।

प्राण और शरीर की शक्ति प्राणायाम द्वारा संचित होती है । यह श्वास को नियमित बनाता है । यह महत्त्वपूर्ण साधन है । प्राणायाम का उद्देश्य प्राण को नियन्त्रित करना है । आन्तरिक महत् शक्ति तथा जीवनधारा पर नियन्त्रण प्राप्त करने के हेतु श्वास का नियमित करना ही प्राणायाम है । प्राण का बाह्य रूप ही श्वास है । प्राणायाम के नियमित अभ्यास से नियमित श्वास-प्रश्वास बनाया जा सकता है । साधारण व्यक्ति की श्वास क्रिया अधिकांशतः नियमित नहीं रहती ।

यदि प्राण पर नियन्त्रण कर लिया जाय तो विश्व की सभी शक्तियों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है—वे मानसिक हों अथवा शारीरिक । प्राणायाम सिद्ध योगी विश्वव्यापी ब्रह्म पर भी अधिकार कर लेता है जिससे सभी प्रकार की शक्तियाँ आर्विभूत होती हैं जैसे—आकर्षण, विद्युत, घनत्व आदि तथा इच्छाशक्ति आत्मबल आदि । कहने का तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार की शक्तियों की प्राप्ति का साधन यही है ।

यदि एक व्यक्ति श्वास या प्राण पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तो मन पर भी नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है । जिसने अपने मन पर अधिकार कर लिया है वह अपने श्वास पर भी विजय हासिल कर लेगा । यदि एक छूटा तो दूसरा भी गया । जिसने मन और प्राण पर नियन्त्रण हासिल कर लिया है वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है और परम पद प्राप्त कर लेता है । मन, प्राण तथा वीर्य में घनिष्ट सम्बन्ध है । जिसने वीर्य को संचित कर लिया है वह प्राण और मन पर भी अधिकार कर लेगा ।

यदि कोई अत्यन्त सूक्ष्म ध्वनि सुननी होती है तो आदमी एक बार अपनी श्वास रोक लेता है । रेलवे स्टेशन पर कुली जब माल उठाता है तो पहले खूब श्वास भर लेता है और जब तक बोझा उठा नहीं लेता अज्ञानता में प्राणायाम का अभ्यास करता रहता है । जब कोई व्यक्ति छोटा नाला कूद कर पार करता है या जो व्यक्ति लम्बी ऊँची कूदने आदि का व्यायाम करता है वह भी अपनी अज्ञानता में प्राणायाम का अभ्यास करते रहते हैं । श्वास रोकने का यह अभ्यास उनमें शक्ति और स्फूर्ति भर देता है । फलतः तत्काल ही वे शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव करने लगते हैं ।

मिलावट के सोने को भट्टी में रख एक सुनार एक नली से फूँक-फूँक कर उसे विशुद्ध बना लेता है उसी प्रकार एक योगी प्राणायाम से अपने फेफड़े द्वारा शरीर और इन्द्रियों को विशुद्ध बना लेता है ।

प्राणायाम का प्रधान उद्देश्य प्राण और अपान को एक करना और उस एकीकृत वायु को सिर की ओर प्रेरित करना है, जिससे सुषुप्त कुण्डलिनी जागृत हो जाती है ।

प्राणायाम करने के लिए सर्वप्रथम बैठने का ढंग ठीक या आसन सिद्ध करना अथवा शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करना होता है । उसके बाद की क्रिया प्राणायाम होती है । प्राणायाम के सफल अभ्यास के लिए उपयुक्त आसन का उचित रूप में सिद्ध होना परमावश्यक है । आराम से और बगैर विशेष श्रम या थकान के जिस ढंग से बैठ कर प्राणायाम किया जा सके वही आसन है, जिस आसन पर जितनी अधिक देर आराम के साथ रहा जा सके वही सर्वोत्तम है । छाती, गर्दन और शरीर को एक सीधी रेखा में होना चाहिए । शरीर या मेरुदण्ड को आगे की ओर या दाएँ-बाएँ झुकाना न चाहिए । सीधा तन कर बैठें लेकिन शरीर को एकदम कस न दें । मेरुदण्ड को पूर्णतया सीधा रखना चाहिए । इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा । पीछे की ओर भी शरीर टेढ़ा होने या झुकने न पाये । नियमित अभ्यास से मेरुदण्ड साधारण अवस्था में सीधा रहा करेगा । स्थूलकाय (मोटे) व्यक्ति यदि पद्मासन या कमलासन न कर सकें तो वे सुखासन अथवा सिद्धासन पर बैठकर प्राणायाम का अभ्यास करें । आसन की सिद्धि तक प्राणायाम के अभ्यास रोके न रहें, दोनों का अभ्यास एक साथ करता रहे । समय पाकर दोनों सिद्ध हो जायेंगे । कुर्सी पर सीधा बैठ कर भी प्राणायाम किया जा सकता है ।

भगवान कृष्ण ने कहा है—

योगी युज्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौदेशे प्रतिष्ठाय स्थिर मासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्या यतचित्तेन्द्रिय क्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

योगी को एकान्त में रह कर मन और देह दोनों को भली-भाँति वश में करके, वासनाओं को दूर कर और समस्त प्रपंच त्याग कर मन को शान्त रखना चाहिए ।

उसे निर्बल स्थान में आसन लगाना चाहिए जो कि न बहुत ऊँचा हो और न नीचा हो । उस पर कुशासन रख उसके ऊपर व्याघ्रादि का चर्म बिछाना चाहिए फिर उस पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाएँ रोक कर तथा मन को एकाग्र कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग करना चाहिए ।

प्राणायाम यद्यपि केवल श्वास-क्रिया से सम्बन्धित है तथापि समस्त अवयवों एवं शरीर का उत्तम व्यायाम हो जाता है । प्राणायाम से समस्त रोग दूर होते हैं, स्वास्थ्य सुधरता है, पाचन शक्ति बढ़ती है, स्नायुओं को स्फूर्ति और शक्ति मिलती है, इन्द्रिय निरोध होता है और कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है । प्राणायाम से स्वास्थ्य उत्तम और मन स्थिर होता है । प्राणायाम का अभ्यास करने वाला अपने श्वास पर निरोध करता है । उसके सीने पर पत्थर तक तोड़ा जा सकता है । प्राण पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेने के कारण उसे इसका कुछ असर नहीं मालूम पड़ता । प्राणायाम का जिसे अभ्यास हो जाता है उसका शरीर हल्का, नीरोग, सुन्दर तथा कांति युक्त रहता है । लम्बी से लम्बी साँस और उसके साथ अधिक से अधिक वायु लेना ही अधिक शक्ति का परिचय है । एक साधारण व्यक्ति १ मिनट में १५ बार श्वास लेता है । एक दिन में कुल २१६००० बार श्वास लिया जाता है ।

जिस कमरे में प्राणायाम का अभ्यास करना है वहाँ अन्धेरा और सीलन न हो । वह सूखा और खूब हवादार होना चाहिए । किसी नदी या झील के किनारे, किसी बाग या बगीचे में, खुले हरे-भरे मैदान अथवा यदि विशेष सर्दी न पड़ती हो तो किसी पहाड़ के नीचे या शिखर पर करना सर्वोत्तम है । प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन और सत्य पर ध्यान आधारित कर करना चाहिए । तभी चित्त सुषुम्ना में लिप्त हो जाता है । परिणामतः प्राण स्थिर हो जाता है । प्राणायाम के लिए मन की एकाग्रता और ध्यान पूर्वकता का होना आवश्यक है ।

प्राणायाम करते समय या बाद में किसी प्रकार की कमजोरी, थकान या चित्त में झुँझलाहट न आनी चाहिए । उसे करने में पूर्ण प्रसन्नता और सुखद परिणाम का अनुभव करना चाहिए । कभी भी अधिक या अनावश्यक थकान मालूम न होने पाये । श्वास और प्रश्वास बहुत धीरे-धीरे लेना चाहिए । कभी और कहीं भी आवाज न हो । जब चित्त दुःखी हो, निराशा आती हो प्राणायाम के अभ्यास में लग जाने से शान्ति और उत्साह मिलेगा ।

कुम्भक (श्वास लेकर वायु को अन्दर रोकना शरीर में गर्मी उत्पन्न करता है, जिससे कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है और वह सुषुम्ना नाड़ी से लेकर ऊर्ध्वगति को प्राप्त होती है । कुम्भक से आयु बढ़ती है । आसन का अभ्यास करते समय हल्के प्राणायाम का अभ्यास आसन की सिद्धि देता है, तथा अधिक शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त होती है प्राणायाम के साथ-साथ इष्ट मन्त्र का जप भी करते रहना चाहिए । यह योग साधना हो जायेगी ।

प्रातःकाल नींद से उठने के बाद चूँकि थोड़ा बहुत आलस्य बना ही रहता है अतः उस समय थोड़ा सा प्राणायाम कर लेना लाभ कर होगा और साथ ही आलस्य भी दूर हो जायेगा । ध्यान करने के लिए पहले प्राणायाम कर लेना बड़ा हितकर होगा । प्राणायाम के बाद मन में एकाग्रता आ जाती है ।

प्राणायाम : प्राण-शक्ति बढ़ाने का वैज्ञानिक आधार

भौतिकी के छात्र जानते हैं कि घर्षण से ऊर्जा उत्पन्न होती है । दियासलाई घिसने से लेकर विशालकाय जेनरेटरों द्वारा आग या विद्युत उत्पन्न होने के कारणों में घर्षण ही मुख्य है । निर्जन सुनसान जंगलों में कई बार भयंकर आग लगती है और विस्तृत क्षेत्र के गीले सूखे पेड़ों को जलाकर खाक कर देती है । यह मनुष्यों द्वारा लगाई गई नहीं होती, वह आग सूखे पेड़ों की टहनियों के तेज हवा से हिलने और आपस में रगड़ने के कारण उत्पन्न होती है । इस कार्य में बाँस सबसे अग्रणी है । सूखे बाँस आपस में रगड़ खाकर पहले गरम होते हैं फिर चिंगारियाँ निकालने लगते हैं । यह आग बढ़ती फैलती चली जाती है और दावानल का रूप धारण कर लेती है । यह घर्षण के सिद्धान्त का ही चमत्कार है ।

चकमक पत्थर के दो टुकड़े आपस में टकरा कर चिंगारियाँ उत्पन्न करने की कला ही आदि मानव ने सीखी थी, पीछे लोहे और पत्थर को टकराकर भी आग निकालने की तरकीब निकाल ली गई । यज्ञ कार्यों में लकड़ियाँ रगड़कर अरणिमन्थन की क्रिया द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती थी । चेतना और पदार्थ—ब्रह्म और प्रकृति के उद्गम स्त्रोत में देखा गया है कि वे परस्पर टकराते-घिसते हैं—फलतः शब्द रूप में ऊर्जा उत्पन्न होती है और उसके सहारे सृष्टि क्रम चल पड़ता है । हवा चलती है, विभिन्न पदार्थों से टकराती है । समुद्र में लहरें उठती गिरती हैं—मनुष्य शरीर में श्वास-प्रश्वास और आकुंचन प्रकुंचन चलता है फलतः घर्षण चलता है और ऊर्जा उत्पन्न होती है उसी के अपने-अपने प्रयोजन हर स्थान पर चल पड़ते हैं । पदार्थों और प्राणियों में चलती रहने वाली हलचलों की-घर्षण की उत्पत्ति ही कहा जा सकता है ।

साधारण श्वास-प्रश्वास से जीवनचर्या चलती है । पेण्डुलम हिलना बन्द हो जाय तो घड़ी के सारे पुर्जे ठप्प हो जाते हैं । साँस रुकी तो मरण निश्चित है । घर्षण बन्द तो जीवन भी समाप्त । साँस के साथ जीवन जुड़ा हुआ है क्योंकि प्रत्यक्षतः ऊर्जा की उत्पत्ति उसी से होती है, यों गहराई में जाने पर सहस्रार से उठने वाले विद्युत स्फुल्लिंग भी उसके मूल कारण समझे जाते हैं । वहाँ भी रुक-रुककर उछलने की क्रिया ही घर्षण उत्पन्न करती है ।

अधिक सशक्तता प्राप्त करने के लिए हमें अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है । बड़ा कारखाना चलाने के लिए बड़ी मशीनें गतिशील बना सकने वाली, बड़ी मोटर फिट करनी पड़ती है । छोटी मोटरें तो छोटी मशीन ही चला पाती हैं । महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक कार्य करने के लिए अधिक उच्चस्तरीय ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है । यह खाने-पीने या आग तापने जैसे प्रयत्नों से नहीं वरन् वहाँ से प्राप्त करनी होती है जहाँ चेतना और पदार्थ दोनों को प्रभावित करने वाली क्षमता का उद्गम है । कहना न होगा कि यह आधार 'प्राण' ही है । प्राण वह तत्व है जो अन्तरिक्ष में जीवन और पदार्थ दोनों की संयुक्त शक्ति के रूप में प्रवाहित रहता है । शुद्ध चेतना ब्रह्म है । प्रशुद्ध प्रकृति ऊर्जा हैं दोनों ही अपने मूलरूप में अपूर्ण हैं । प्राणि जगत की उत्पत्ति इन दोनों धाराओं के मिलने पर ही सम्भव है । इसीलिये जीवधारियों को प्राणी कहते हैं । विज्ञान के बढ़ते हुए चरण परमाणु-परमाणु से तरंग-तरंग से ऊर्जा-ऊर्जा से क्वाण्टा तक जा पहुँचा है । इकोलॉजी की मान्यताओं

ने क्वाण्टा को विचारशील होने की मान्यता अब-तब मिलने ही वाली है । आकाश-आकाश में, हवा-हवा में, ईथर-ईथर में एस्ट्रल तक की मान्यता मिल चुकी । अब विज्ञान प्राण सत्ता के महासमुद्र को इस निखिल ब्रह्माण्ड में लहलहाता देखने की स्थिति में पहुँचता ही जा रहा है ।

प्राण-तत्व का अस्तित्व तत्वदर्शी ऋषियों ने बहुत पहले ही जान लिया था । प्रकृति अनुदानों की सीमित मात्रा से काम चलते न देखकर विशेष प्रयोजनों के लिए उसकी विशिष्ट मात्रा उपलब्ध करने का मार्ग भी खोज निकाला था । इसे उन्होंने प्राणविज्ञान का नाम दिया था । उसके प्रयोग प्राणायाम कहलाये । प्राणायाम का उद्देश्य साँस के मार्ग से अधिक मात्रा में प्राण-तत्व को आकर्षित करना और आत्म-सत्ता में धारण करके अधिक सशक्त बनना है । यहाँ साँस और प्राण का पारस्परिक सम्बन्ध तनिक और अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है ।

मौटेतौर से हवा एक हल्की गैस है जो अन्तरिक्ष की पोल में अपने हल्केपन के कारण तनिक-तनिक से आघातों से ठोकर खाकर इधर से उधर उड़ती-उछलती फिरती है । इस हवा के अन्तराल में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण एवं बहुमूल्य वस्तुएँ समाई हुई हैं । दूध में घी रहता है पर दिखता नहीं । वनस्पतियों में प्रोटीन, क्षार, चिकनाई आदि घुले रहते हैं । माँस के भीतर ढेरों प्रकार के रासायनिक पदार्थ रहते हैं । इन्हें विशेष विश्लेषण से ही जाना और विशेष उपायों से ही निकाला जा सकता है । इसी प्रकार हवा के भीतर बहुत कुछ भरा पड़ा रहता है । साँस लेते समय ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, आदि का रासायनिक, सम्मिश्रण हमारे भीतर प्रवेश करता है । उसमें से जो आवश्यक है उसे शरीर सोख लेता है और भीतर से उत्पन्न कचरे को वापस लौटने वाली साँस में कार्बन डाइऑक्साइड गैस के रूप में बहा देता है । इस प्रकार साँस का विश्लेषण किया जाय तो प्रवेश करते और निकलते समय की उसकी स्थिति में रासायनिक सम्मिश्रणों की दृष्टि से भारी अन्तर आ जाता है । भिन्न-भिन्न स्थानों की जलवायु में जो स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाली स्थिति होती है, उसका कारण इस रासायनिक सम्मिश्रण की मात्रा में न्यूनाधिकता का अन्तर होना ही है । पदार्थ ठोस—प्रवाही और वायु भूत बनता बदलता रहता है । पृथ्वी पर ठोस-पानी में प्रवाही और हवा में गैस रूप में पदार्थ की सत्ता बनी है । इतना समझने के उपरान्त यह जानना सरल पड़ेगा कि हवा में ऑक्सीजन जैसे रासायनिक पदार्थ ही नहीं उसके गहन अन्तराल में प्राण-तत्व की प्रचुर मात्रा भी विद्यमान रहती है । यह साँस के साथ अनायास भी शरीर में प्रवेश करता रहता है । शरीर उसमें से काम चलाऊ मात्रा सोखता भी है । साँस के घर्षण से ऊर्जा की उत्पत्ति और हवा के साथ घुले हुए ऑक्सीजन जैसे रासायनिक पदार्थों की ही नहीं प्राण-शक्ति की उपलब्धि का भी लाभ मिलता रहता है । जीवन का आधार साँस पर अवलम्बित कहा जाता है इसके पीछे घर्षण एवं प्राण अनुदान से अभीष्ट ऊर्जा की उपलब्धि का तथ्य ही काम कर रहा होता है ।

प्राणायाम में साँस की गति में असामान्य व्यतिक्रम निर्धारित है । इसमें घर्षण का असामान्यक्रम उत्पन्न होता है और उसकी प्रतिक्रिया 'निर्वाह' की आवश्यकता पूरी करने से आगे बढ़कर शरीर में विशेष हलचलें उत्पन्न करती है । वे असामान्य हलचलें ऐसे प्रसुप्त संस्थानों को जगाती हैं जो सामान्यतया निर्वाह क्रम में तो अधिक आवश्यक नहीं होते, पर जागृत होने पर मनुष्य में विशेष स्तर की-अतिरिक्त मात्रा में—विशेष समता प्रदान कर सकते हैं । प्राणायाम-साँस की गति को तीव्र करना नहीं उसे तालबद्ध और क्रमबद्ध करना है । इस ताल-लय और क्रम के हेर-फेर के आधार पर ही अनेक प्रकार के प्राणायाम बने हैं और उनके विविध प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के उपयोग होते हैं । प्राणायाम के समय साधक को अपनी विशिष्ट संकल्प शक्ति का, श्रद्धा भावना का और मनोबल का प्रयोग करना पड़ता है । इसी आकर्षण से साँस में प्राण-तत्व की अधिक मात्रा अन्तरिक्ष में खिंचती, और घुलती चली आती है । प्राणायाम में श्वास क्रम की विशेष प्रक्रिया और साधक की संकल्प शक्ति का समावेश होने से वह सामान्य साँस लेना न रह कर विशिष्ट ऊर्जा की उपलब्धि का विशेष आधार बन जाता है ।

घर्षण के महत्त्व को हमें और भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । क्रिया सामान्य है, पर उसकी प्रतिक्रिया से ऊर्जा की उत्पत्ति असामान्य है । चलती

रेल के पहियों की चिकनाई समाप्त हो जाती है । अथवा अन्य किसी कारण उनमें घिसाव पड़ने लगता है, तो उतने भर से उत्पन्न होने वाली गर्मी पहिये के धुरे तक को गला देती है और दुर्घटना की स्थिति बन जाती है । आकाश में कभी-कभी प्रचण्ड प्रकाश रेखा बनाते हुए—'तारे टूटते' देखते हैं । यह तारे नहीं उल्का पिण्ड होते हैं अन्तरिक्ष में छितराये हुए धातु पाषाण जैसे छोटे-छोटे टुकड़े कभी-कभी पृथ्वी के वायु मण्डल में घुस पड़ते हैं और हवा से टकराने पर जल कर खाक हो जाते हैं । इसी जलने का तेज प्रकाश देखकर 'तारा टूटने' का अनुमान लगाया जाता है । यह मात्र घर्षण क्रिया का चमत्कार है । 'रति क्रिया' में चुम्बकीय अवयवों का घर्षण विशिष्ट स्तर की ऊर्जा उत्पन्न करता है । उसी की अनुभूति सरस सम्वेदना के रूप में होती है और उसी से उत्तेजित होकर शुक्राणु डिम्बाणु संयोग के लिए दौड़ पड़ते हैं । यह घर्षण ही प्राणियों की उत्पत्ति का कारण बनता है ।

दही मथने में 'रई' को रस्सी के दो छोर पकड़कर उल्टा-सीधा घुमाया जाता है । रई घूमती है, ऊर्जा उत्पन्न होती है और उसकी उत्तेजना से दही में घुला हुआ घी उभर कर बाहर आ जाता है । दाएँ-बाएँ नासिका स्वरों के चलने वाले विशेष प्रकार मेरुदण्ड के इड़ा पिंगला विद्युत प्रवाहों को उत्तेजित करते हैं और उनकी सक्रियता दही मथने जैसी हलचल उत्पन्न करती है । फलतः ओजस् तत्व उभर कर ऊपर आता है । इसको विधिवत् उत्पन्न और धारण किया जा सके तो साधक को मनस्वी, तेजस्वी और ओजस्वी बनने का अवसर मिलता है । इस उपलब्धि के सहारे प्रखरता की अनेक चिंगारियाँ फूटती हैं । साहस, स्फूर्ति, पराक्रम, निष्ठा आदि अनेकों आन्तरिक विशेषताओं के रूप में इनका प्रभाव उत्पन्न होता है । उनसे लाभान्वित होने पर व्यक्तित्व में अनेकों विभूतियाँ उभरती दिखाई देती हैं ।

कई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से समर्थ और मानसिक दृष्टि से सुयोग्य होते हैं पर अन्तःकरण में साहस न होने के कारण कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठा पाते । शंका-आशंकाओं से असमंजस में पड़ी मनःस्थिति में न तो कोई साहसिक निर्णय कर सकना बन पड़ता है और न अवसर का लाभ उठा सकना ही सम्भव होता है । इसके विपरीत मनस्वी व्यक्ति स्वास्थ्य, शिक्षा, साधन, सहयोग, अवसर आदि की कठिनाइयाँ रहते हुए भी दुस्साहस भरे कदम उठते और आश्चर्य चकित करने वाली सफलतायें प्राप्त करते हैं । ऐसे ही व्यक्ति अपने विशिष्ट कर्तृत्व और विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण कुछ ऐसा कर गुजरते हैं जिनके कारण उन्हें ऐतिहासिक महामानवों की श्रेणी में गिना जाने लगता है । इस आन्तरिक समर्थता को दूसरे शब्दों में प्राण कहा जाता है । प्राणवान का अर्थ जीवित ही नहीं साहसी भी होता है । इस उपलब्धि को अन्य सांसारिक सम्पदाओं की तुलना में कम नहीं अधिक ही माना जा सकता है ।

प्राण विद्या के अन्तर्गत किए जाने वाले प्राणायाम प्रयोगों में जिस अन्तःऊर्जा की जागृति होती है उनमें साहसिकता एवं सक्रियता प्रधान है । आलस्य और प्रमाद जैसी जीवन सम्पदा को अपंग बना देने वाली दुःखदायी विडम्बनाओं को निरस्त करने में इस साधना से बड़ी सहायता मिलती है । उत्साह जगता है और स्फूर्ति बढ़ती है । क्रिया के साथ मनोयोग जुड़ा रहने से सफलता के समस्त आधार बनते हैं । इसके लिए मन को प्रशिक्षित करना पड़ता है । यह भी सरकस के लिए हिंस्र जानवर सधाने की तरह कठिन कार्य है । यह अन्तरंग आत्म-बल के बिना और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता । व्यवहार कौशल की शालीनता-व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय सिद्ध करने वाली सज्जनता एवं सम्पर्क क्षेत्र की बिखरी पड़ी अवांछनीयताओं से जूझने की वीरता यह सब कुछ आत्मबल से ही सम्भव हो सकता है । प्राण विद्या के आधार पर जो चेतनात्मक ऊर्जा उपार्जित की जाती है उसे ऐसी ही साहसिकता एवं सक्रियता के सुखद समन्वय के रूप में काम करते हुए देखा जाता है ।

अण्डा तब फूटता है जब उसके भीतर के बच्चे की अन्तःचेतना उस परिधि को तोड़कर बाहर निकलने की चेष्टा करती है । प्रसव पीड़ा और प्रजनन की घड़ी तब आती है जब गर्भस्थ शिशु की चेष्टा उस वेधन को तोड़कर उस बन्धन से मुक्ति पाने की होती है । इन गर्भस्थ शिशुओं के संकल्प यदि गिरे मरे हों तो वे भीतर ही सड़-गलकर नष्ट हो जायेंगे । प्रगति के लिए पराक्रम एवं साहस की अनिवार्य रूप से

आवश्यकता है । उसके बिना प्रतिकूलताओं के आये दिन होते रहने वाले आक्रमणों से आत्मरक्षा तक कर सकना सम्भव नहीं हो सकता । पराक्रम प्राण का गुण है । इसी को पौरुष एवं शौर्य भी कहते हैं । आत्मबल इसी आन्तरिक ऊर्जा का नाम है । प्राणायाम के विविध प्रयोगों द्वारा विविध स्तर की प्राण ऊर्जा उत्पन्न करने के जो ऋषिप्रणीत प्रयोग बताये गए हैं, उनका साधक की स्थिति के अनुरूप यदि तालमेल बिठाया जा सके तो अप्रत्यक्ष लाभ किसी बड़े प्रत्यक्ष उपार्जन की तुलना में कम नहीं अधिक ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा ।

सन्ध्या वन्दन हमारा धार्मिक नित्य कर्म है । उसमें प्राणायाम क्रिया भी सम्मिलित है । आत्म-परिष्कार एवं आत्म-विकास के लिए आत्मबल अभिवर्धन की भी आवश्यकता है । आत्मिक प्रगति इसी आधार पर सम्भव होती है । आत्मबल बढ़ाने के लिए वैचारिक भावना परक और क्रियात्मक प्रखरता उत्पन्न करना आवश्यक है । साथ ही इस प्रयोजन में असाधारण रूप से सहायता करने वाले प्राणायाम जैसे विशिष्ट क्रिया योगों की भी आवश्यकता रहती है । दुर्बलता निवारण के लिए आहार-विहार की सुव्यवस्था तो होनी चाहिए, पर साथ ही चिकित्सा उपचार के साधन जुटाने से भी उस कार्य में सहायता मिलती है । प्राणायाम ऐसा ही विशेष उपचार है जिसके सहारे आत्मिक बलिष्ठता बढ़ने का पथ-प्रशस्त होता है । संध्या वन्दन के नित्य कर्म में उसका समावेश प्राणबल सम्वर्धन की आवश्यकता उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही किया गया है ।

संस्कृत में प्राण शब्द ही व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है । अन् धातु (प्राण ने) जीवनी शक्ति चेतना वाचक है । इस प्रकार प्राण शब्द का अर्थ चेतना शक्ति होता है प्राण और जीवन प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

यह प्राण-तत्व, जीवन-तत्व जब न्यून पड़ता है तो व्यक्ति हर दृष्टि से लड़खड़ाने लगता है और जब वह समुचित मात्रा में रहता है तो समस्त क्रिया-कलाप ठीक तरह चलते हैं । जब वह बढ़ता है तो उस अभिवृद्धि को बलिष्ठता, समर्थन, सतर्कता, तेजस्विता, मनस्वंता, प्रतिभा आदि के रूप में देखा जा सकता हे । ऐसे व्यक्ति ही महाप्राण कहलाते हैं । वे अपना प्राण असंख्यों में फूँकने और विश्व का मार्ग दर्शन करने में समर्थ होते हैं । मानव शरीर में विद्यमान प्राण-शक्ति से ही अन्तः संचालन—एफरेण्ट—और नाड़ी संस्थान-नर्वस सिस्टम—अनुप्राणित होता है । मस्तिष्क की कल्पना, धारणा, इच्छा, स्मृति, विवेचना, प्रज्ञा आदि समस्त शक्तियों का उत्पादन अभिवर्धन तथा संचालन होता है । शरीर और मन को दिशा एवं क्षमता प्रदान करने वाली अति उत्कृष्ट एवं अति सूक्ष्म सत्ता को 'वाइटल फोर्स'—कहा जाता है । श्वास-प्रश्वास क्रिया तो उसका वाहन मात्र है । जिस पर सवार होकर वह महाशक्ति हमारे समस्त अवयवों में प्रवेश करती है और पोषण देती । इसे भौतिक क्षेत्र में गर्मी, रोशनी, बिजली आदि के नाम से जाना जाता है और अन्तःक्षेत्र में उसी को प्रखरता कहते हैं । प्राण-तत्व यही है । जो इस सम्पदा का जितना अधिक अर्जन कर सका, वह उतना ही बड़ा शक्तिशाली सिद्ध होता है ।

प्राणायाम : एक महान सामर्थ्यदायी प्रक्रिया

प्राण को जीवन कहा गया है । यह जीवन तत्व मानवी काया में जब तक क्रियाशील है सन्तुलित बना हुआ है, शरीर स्वस्थ निरोग एवं बलिष्ठ रहता है, मन और मस्तिष्क भी ठीक तरह काम करते हैं । असन्तुलन होते ही इन्हें रुग्णता, अशक्तता का शिकार होना पड़ता है । अदृश्य होते हुए भी शरीर के पोषण, रक्षा एवं विकास में प्राण की भूमिका आहार से कहीं अधिक है । आहार एवं जल के बिना तो कुछ दिनों तक जीवित रहना भी सम्भव है, पर प्राण के बिना कुछ मिनट भी नहीं रहा जा सकता ।

शरीर में प्राण का एक छोटा अंश कार्यरत है, प्रचुर परिमाण में वह अन्तरिक्ष की वायु में घुला मिला है । मनुष्य के चारों ओर सूक्ष्म वातावरण में प्राण का सागर लहलहा रहा है जिसे मनचाही मात्रा में विशेष पद्धति द्वारा खींचा और अपने भीतर भरा जा सकता है । सामान्य श्वास प्रक्रिया द्वारा जो ऑक्सीजन भीतर आती है उसमें प्राण का उतना अंश ही विद्यमान होता है जिससे किसी तरह शरीर का व्यापार चल

सके । अधिक परिमाण में करतलगत करने के लिए वह वैज्ञानिक विधि अपनानी पड़ती हैं जिसे योग साधनाओं में प्राणायाम कहा गया है । उसका एक छोटा प्रयोजन 'डीप ब्रीदिंग' से भी पूरा होता है ।

चिकित्सा विज्ञान के नवीनतम शोध निष्कर्षों के अनुसार श्वसन शरीर की एक ऐसी जटिल किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जो विभिन्न तन्त्रों एवं उनकी गति-विधियों पर सीधा प्रभाव डालती है । साँस लेने की शैली पर भी बहुत कुछ स्वास्थ्य एवं आरोग्य निर्भर करता है । श्वसन मस्तिष्क की ऐच्छिक तथा अनैच्छिक क्रियाओं के बीच सूत्र सम्पर्क भी स्थापित करता है । अन्य शारीरिक क्रियाओं की तरह उसका नियमन-नियन्त्रण तो तन्त्रिका तन्त्र द्वारा होता है, पर तन्त्रिका तन्त्र द्वारा नियन्त्रित उन समस्त क्रियाओं में से एक श्वसन की क्रिया ही ऐसी है जिसमें व्यक्ति स्वयं भी अपना चेतनात्मक नियन्त्रण रख सकता तथा उसमें समय-समय पर परिवर्तन ला सकता है । इस एक तन्त्र का नियन्त्रण सीख कर शरीर के अन्य तन्त्रों पर भी नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है जिनमें मस्तिष्क तरंग तन्त्र, हारमोन स्राव, चयापचय क्रियाएँ आदि मुख्य हैं ।

श्वसन की सामान्य प्रक्रिया में ऑक्सीजन को शरीर की विभिन्न कोशिकाओं में पहुँचाया जाता है जहाँ कि इसका उपयोग कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन व वसा के रहने में होता है जिसके फलस्वरूप शरीर के लिए आवश्यक ऊर्जा का उत्पादन होता है । साथ ही इसी तन्त्र द्वारा कार्बन डाइ-ऑक्साइड जैसी विघातक गैस का शरीर से निष्कासन होता है । सामान्य श्वास क्रिया में नासा के स्वर बारी-बारी से बदलते रहते हैं । वैज्ञानिक अध्ययनों से इस बात की पुष्टि हुई है कि स्वरों का एक नासा चक्र है । इस चक्र में स्वर परिवर्तन प्रायः ढाई घण्टे के उपरान्त होता है । यह अवधि पूरी होने पर ही चालू स्वर बन्द हो जाता है और बन्द स्वर चालू हो जाता है । देखा गया है कि उम्र बढ़ने के साथ-साथ स्वर परिवर्तन की अवधि में भी बढ़ोत्तरी आती है । कुछ व्यक्तियों में तो स्वर परिवर्तन की यह अवधि आठ घण्टे तक पायी गई है । यह आसानी से हर किसी के लिए पता लगाना सम्भव है कि कौन-सा स्वर चल रहा है । वस्तुतः बन्द स्वर बिल्कुल बन्द नहीं होता उसकी क्रिया अत्यन्त धीमी पड़ जाती है ।

बाएँ-दाएँ नथुने के चलने से ऊपर भी कछु रोचक पर महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य प्रकाश में आये हैं । बुखारेस्ट रूमानिया के कान, नाक, गले के विशेषज्ञ चिकित्सक डॉ. आई. एन. रिंग ने चार सौ ऐसे रोगियों का अध्ययन किया जो नैजल सेप्टम कुछ खिसक जाने के कारण श्वासावरोध से पीड़ित थे । इन रोगियों में देखा गया कि जो व्यक्ति अपने बाएँ नथुने से साँस लेते थे उनमें तनाव-सम्बन्धी मानसिक शिकायतें अधिक थीं । उनमें से ८६ प्रतिशत व्यक्ति तनावग्रस्त थे जबकि दाएँ नथुने से साँस लेने वालों के मामले में यह अनुपात मात्र २६ प्रतिशत पाया गया । नासिका की उन कमियों को जब शल्य चिकित्सा द्वारा ठीक किया गया तो मानसिक तनाव में भी कमी आयी । एक अमेरिकी विशेषज्ञ का कहना है कि एन्जिनापेक्टोरिस (एक प्रकार का हृदय रोग) से पीड़ित रोगी जिनके छाती में असह्य पीड़ा रहती है, बारी-बारी से दोनों नथुने से साँस लें, उन्हें पीड़ा में विशेष राहत मिलेगी ।

दाएँ-बाएँ स्वरों की गति मनुष्य के स्वभाव, उसकी प्रकृति को प्रभावित करता है । शारीरिक स्वास्थ्य ही नहीं मानसिक सन्तुलन के लिए भी दोनों स्वरों का तालमेल आवश्यक है । यह मान्यता भारतीय अध्यात्म योग की चिर पुरातन है । वैज्ञानिकों का भी मत है कि दाएँ स्वर का प्रयोग किसी आक्रामक अथवा श्रमसाध्य कार्य करते समय करना चाहिए जबकि बाएँ की प्रकृति शान्त, सौम्य होती है ऐसे ही कार्यों में उसका उपयोग होना चाहिए । प्राणायाम के दाएँ-बाएँ स्वर सिद्धान्त की वैज्ञानिक मान्यता को आज के विज्ञानी भी उपयोगी ठहराने लगे हैं । यह सिद्धान्त दाएँ-बाएँ मस्तिष्क के भी सिद्धान्त से अद्‌भुत साम्य रखता है ।

साइंस डाइजेस्ट में प्रकाशित एक लेख के अनुसार डलहौजी यूनिवर्सिटी—नोवास्कोटिया के मनोविज्ञान प्रभाग के मूर्धन्य मनोवैज्ञानिक रेमण्ड क्लेन तथा रोजीन आरमिटेज के हाल में किए गए अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि नासिका के स्वर चक्र की भाँति ही दाएँ-बाँएँ मस्तिष्क के कार्यों का भी अपना एक चक्र है । एक निश्चित अवधि के बाद स्वर परिवर्तन के समान प्रक्रिया मस्तिष्क में भी देखी गई है । मस्तिष्क का एक भाग प्रायः ६० से १०० मिनट तक क्रियाशील रहता है । इसके बाद वह निष्क्रिय बन जाता है तथा फिर मस्तिष्क

का दूसरा भाग कार्यारम्भ करता है । मस्तिष्क सम्बन्धी यह सिद्धान्त उस परिकल्पना के बिल्कुल अनुकूल है कि शरीर तन्त्र के समस्त क्रिया कलाप एक निश्चित क्रियाचक्र में अनवरत क्रियाशील हैं । तात्पर्य यह है कि हमारे शरीर के प्रत्येक तन्त्र की दो कलायें सक्रिय और निष्क्रिय हैं । ये दोनों मिलकर एक पूरा चक्र पूर्ण करती हैं तथा विविध क्रियाएँ सम्पन्न करती हैं ।

ऐसी भी सम्भावना है कि श्वास लेने की प्रक्रिया का मस्तिष्क क्रिया प्रणाली से सीधा सम्बन्ध हो ।

डेनमार्क के वैज्ञानिक डॉ. पॉल स्टॉकस्टेड का विश्वास है कि स्वर चक्र स्टिलेटगैंग्लियान नामक एक तन्त्रिका केन्द्र द्वारा नियन्त्रित होता है । यह केन्द्र ग्रीवा के आधार में अवस्थित होता है । इन तन्त्रिकाओं पर ब्रेन के हाइपोथैलेमस का नियन्त्रण होता है । हाइपोथैलेमस मस्तिष्क का वह भाग है जो शरीर के ऑटोनॉमिक क्रियाओं जैसे—तापमान, रक्तचाप, धड़कन, दुःख-सुख के प्रति जागरूकता को नियन्त्रित करता है । ऑटोनॉमिक तन्त्रिका तन्त्र के दो भाग हैं—पैरासिम्पैथेटिक तथा सिम्पैथेटिक । पहला भाग शरीरगत क्रियाओं को मन्द करता है जबकि दूसरा उनकी गति को बढ़ा देता है । शारीरिक अथवा मानसिक तनाव की स्थिति में सिम्पैथेटिक तन्त्रिका तन्त्र काम करने लगता है-फलतः हृदय की धड़कन एवं श्वसन की गति तीव्र हो जाती है । इसे तकनीकी भाषा में फाइट और फ्लाइट अनुक्रिया कहते हैं अर्थात् प्रस्तुत संकट के निवारण के लिए या तो संघर्ष करो अथवा भाग जाओ । विशेषज्ञों का मत है कि ये फिजियोलॉजिकल क्रियाएँ जो भावनाओं से सम्बद्ध हैं, पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकना सम्भव है ।

हारवर्ड मेडिकल स्कूल के डॉ. हरवर्ट वेनसन ने अपनी पुस्तक 'दि रिलैक्सेशन रेस्पोन्स' में इसी तथ्य का वर्णन किया है । उनका कहना है कि नियन्त्रण के लिए उचित श्वसन पद्धति आवश्यक है । इसके द्वारा उन क्रियाओं पर नियन्त्रण करना सम्भव है जो कभी चेतनात्मक नियन्त्रण के परे की बात समझी जाती थी ।

डॉ. हरवर्ड के अनुसार श्वास लेते समय सिम्पैथेटिक तन्त्र की गतिविधियाँ बढ़ जाती हैं जबकि प्रश्वास छोड़ते समय पैरासिम्पैथेटिक सक्रिय रहता है । इस तरह दाएँ-बाएँ दोनों नासिकाओं की श्वसन प्रक्रिया व श्वास-प्रश्वास की गति पर नियन्त्रण कर कोई भी व्यक्ति अपने लिम्बिक तन्त्र, जो कि मनोदशाओं एवं फिजियोलॉजी के लिए जिम्मेदार है, पर अंकुश रख सकता है । डॉ. रुडोल्फ वैलेन्टाइन ने अपने अनेकों प्रयोगों के उपरान्त विश्वासपूर्वक घोषणा की है कि "श्वसन प्रक्रिया मनुष्य के मानसिक एवं भावनात्मक दशाओं से सीधे सम्बद्ध है । यदि वह सही है और श्वसन पर ऐच्छिक नियन्त्रण सम्भव हो तो विभिन्न प्रकार की शारीरिक, मानसिक रोगों एवं व्यतिरेकों को ठीक किया जा सकता है ।"

डॉ. हरवर्ड वेनसन ने भारतीय योग ग्रन्थों में वर्णित अनेकों प्राणायामों का वर्णन अपनी पुस्तक 'दि रिलैक्सेशन रेस्पोन्स में शारीरिक, मानसिक रोगों के निवारण के लिए किया है । वेनसन का मत है कि रुग्णता का प्रमुख कारण प्राण व्यतिरेक ही है । उसे मिटाने में प्राणायाम की विविध क्रियाएँ विशेष रूप से सहायक हैं ।

प्राण की महत्ता तथा स्वास्थ्य एवं आरोग्य में उसकी उपादेयता असंदिग्ध है । आज के मूर्धन्य वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि श्वसन का तरीका ठीक हो आरोग्य रक्षा तथा विभिन्न प्रकार की बीमारियों से सुरक्षा सम्भव है । कितने ही देशों में तो प्राणोपचार चिकित्सा पद्धति पर शोध कार्य चल रहा है ।

शारीरिक, मानसिक रुग्णता निवारण तथा स्वास्थ्य सम्वर्धन एवं सन्तुलन प्राण की एक भूमिका है । दूसरा पक्ष वह है जो मनुष्य को प्राणवान बनाता है । ऐसे व्यक्ति साहस, जीवट, तथा आत्मबल के धनी होते हैं । वे अपनी इस विशेषता के कारण वह काम कर गुजरते हैं जो सामान्य व्यक्ति के बलबूते सम्भव नहीं हो पाता । ऐसे ही व्यक्तियों का प्रभाव एवं वर्चस् समाज में स्थाई रहता है ।

प्राण सम्पन्न बनना हर किसी के लिए सम्भव है । डीप ब्रींदिंग से तो मात्र उसका एक छोटा प्रयोजन पूरा होता है । योगशास्त्रों में ऐसे अनेकों प्राणायामों का वर्णन है जो विभिन्न प्रयोजनों में सहायक हैं । कौन-सा प्राणायाम कौन व्यक्ति किस सीमा तक अपनाये, इसका निर्धारण वह स्वयं नहीं कर सकता । सामान्य प्राणायाम की बात अलग है पर जिन्हें विशिष्ट प्राणायाम करना है उन्हें किसी समर्थ मार्गदर्शन में ही करना चाहिए । शान्तिकुंज में चलने वाले कल्प सत्रों में

व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए ही उसे अन्य साधनाओं के साथ विशेष प्रकार का प्राणायाम करने का परामर्श-निर्देश दिया जाता है ।

प्राणायाम की आरम्भिक विधि-व्यवस्था

बोल-चाल की भाषा में प्राण को—प्राण-वायु समझा जाता है, पर वह वस्तुतः एक जीवन्त विद्युत शक्ति है जो इस विशाल ब्रह्माण्ड में 'ईथर' तत्व की तरह सूक्ष्म स्थिति में समाई हुई है । वह वायु से सूक्ष्म है । यद्यपि वैज्ञानिकों की पहुँच अभी ऑक्सीजन तक ही हुई है और वे उसी को प्राण कहते चले आते हैं । यह ठीक है कि ऑक्सीजन का अंश वायु में मिला होने से ही शरीर की भट्टी धधकती है और ज्योति जलती है । इसके अभाव में क्षण भर में दम फूल जाता है और मृत्यु हो जाती है । इतने पर भी यह मानना पड़ेगा कि जीवन ऊर्जा इससे कहीं ऊपर है और उसकी शक्ति तथा स्थिति की सूक्ष्म उत्कृष्टता माननी पड़ती है क्योंकि उसके साथ जीवन तत्व धुला हुआ जो सचेतन है । ऑक्सीजन तो भौतिक जगत् का एक पदार्थ है जो वायु के साथ धुला हुआ पाया जाता है । वह प्राण-वायु नहीं है । यदि वैसी बात रही होती तो मृत व्यक्ति को ऑक्सीजन के सिलेण्डरों से जीवित रखा जा सकता था ।

शरीर शास्त्री कहते हैं कि गहरी साँस लेने से फेफड़ों में अधिक वायु भरती है । शरीर का प्रत्येक अंग उसका लाभ उठाता है । श्वसन तन्त्र मजबूत होता है और फेफड़ों के क्षय होने जैसी आशंका नहीं रहती । इसलिये शारीरिक प्राणायाम इतना ही है कि सीने को झुकाकर न बैठा, न चला जाय । सीना चौड़ा और सीधा रखा जाय । जितनी गहरी साँस ली जा सके उतनी झटके से नहीं वरन् धीरे-धीरे ली जाय । इसके उपरान्त थोड़ा ही रुककर वायु को फिर धीरे-धीरे बाहर निकालकर फेफड़े पूरी तरह खाली कर दिए जायें । यह क्रम बराबर दुहराया जाता रहे तो शरीर को वायु माध्यम से अधिक पोषण मिलेगा । रक्त की सफाई में इससे योगदान मिलेगा और स्वास्थ्य ठीक रहेगा । बहुत से लोग हल्की उथली साँस लेने के कारण ही अस्वस्थ होते हैं । पर्याप्त मात्रा में अवयवों का पोषण न मिलने से वे अशक्त होते जाते हैं । इसी प्रकार उत्पन्न होती रहने वाली मलीनता की जितनी सफाई गहरी साँस के आधार पर होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती । वैज्ञानिकों की प्राणायाम प्रक्रिया इसी आधार पर चलती है वे साँस नाक से ही लेने पर जोर देते है और मुँह से लेने के लिए मना करते हैं । मुहँ से ली हुई साँस बिना छने सीधी कंठ के रास्ते फेफड़ों में उतर जाती है और उसका तापमान फेफड़ों की तुलना में न्यूनाधिक होता है जबकि नाक से साँस लेने पर वह नाक के बालों द्वारा छनती जाती है । धूल आदि के कण उन्हीं में उलझे रह जाते हैं । मस्तिष्क में सीधा पोषण मिलता है । इन सब लाभों को देखते हुए नाक से साँस लेना ही उपयुक्त है । पूरी साँस ली जा सके इसलिये सीना चौड़ा और सीधा रखना चाहिए । चलते समय पैर उठाने की तरह हाथों को भी आगे-पीछे हिलाते रहने का क्रम चलाना चाहिए । साँस लेने की यह अच्छी आदत ही शारीरिक दृष्टि से उपयुक्त प्राणायाम है ।

किन्तु अध्यात्म प्रयोजनों में मात्र इतने से ही काम नहीं चलता । ब्रह्माण्डव्यापी प्राण चेतना का अधिकाधिक अंश अपने भीतर आकर्षित करना और उसको धारण करना शरीर की जीवनी शक्ति बढ़ाना है । जीवनी शक्ति साहसिकता, कार्यों में तत्परता एवं प्रतिभा के रूप में परिलक्षित होती है । इस तत्व में अधिक निरोग बलिष्ठ और दीर्घ जीवन प्रदान करने की भी क्षमता है । वह समग्र व्यक्तित्व को विकसित करने के भी काम आता है ।

प्राण को प्रकृति और चेतना का सम्मिश्रण कह सकते हैं । वह व्यापक होने के कारण अन्तरिक्ष में तो विपुल मात्रा में भरा हुआ है । इसके अतिरिक्त जल थल में भी उसका अस्तित्व है । जहाँ ऑक्सीजन की पहुँच नहीं है वहाँ भी प्राण चेतना का अस्तित्व पाया जाता है । उसकी आवश्यकता शरीर पोषण से भी अधिक मनोबल बढ़ाने में पड़ती है ।

सामान्य सरल प्राणायाम की विधि यह है कि पालथी लगाकर या अभ्यास हो तो पद्मासन में बैठना चाहिए । मेरुदण्ड सीधा रहे, पीठ और सिर के पिछले

भाग की सीध एक रहे । इस प्रकार सीना स्वभावतः चौड़ी स्थिति में रहेगा ।

आध्यात्मिक प्राणायामों में एक नथुने से हवा खींचने और दूसरे से छोड़ने की परम्परा है । बाएँ नथुने से खींचना और दाएँ नथुने से छोड़ने का नियम है ।

इसके लिए बाएँ हाथ कोहनी पर से मोड़कर उसकी हथेली चौड़ी रखनी पड़ती है । दाएँ हाथ की कोहनी उस फैली हुई हथेली पर जमानी पड़ती है साथ ही चारों अंगुलियों की मुट्ठी बाँधकर अँगूठे से दायाँ नथुना दबाकर बन्द कर देना पड़ता है । इस प्रकार बाएँ नथुने से ही श्वास भीतर जायेगी । खींचने का क्रम सीधा होना चाहिए । साँस इतनी गहरी लेनी चाहिए कि उसका प्रभाव फेफड़ा तक ही सीमित न रहकर पेट फूलने तक दृष्टिगोचर होने लगे । इस प्रयोग को प्राणायाम का पूरक भाग कहते हैं ।

दूसरा पक्ष है साँस को भीतर रोकना । रोकने का समय खींचने की तुलना में आधा होना चाहिए । साँस खींचने की समूची प्रक्रिया में यदि दस तक गिनती गिनी जा सकती हैं तो रोकने का कृत्य पाँच तक गिनने में ही समाप्त कर देना चाहिए । यह कुम्भक पक्ष है । कुछ लोगों का कथन कुम्भक को भी लम्बा खींचने का है, पर वह ठीक नहीं । साँस में घुले दूषित तत्वों को भीतर बहुत देर तक रुकने नहीं देना चाहिए । रोकने से विकार रुकते हैं । इसलिये जल्दी ही उसे निकाल बाहर करना चाहिए ।

तीसरा पक्ष है—रेचक । रेचक अर्थात् निष्कासन वायु को निकालने में वैसी ही धीमी गति अपनानी चाहिए जैसी कि खींचते समय अपनाई गई थी । प्रयत्न यह करना चाहिए कि साँस का समूचा अंश बाहर निकल जाय । फ़ेफड़े ही नहीं पेट भी खाली हो जाय ।

इसके बाद थोड़ी देर साँस को कुछ समय बाहर रोक रखना चाहिए । साँस को बाहर निकालते समय अँगूठे बदलकर दाहिने नथुने पर रख लेना चाहिए । इस दबाव के कारण श्वसन को बाएँ नथुने से खींचना और दाएँ से निकालना सरल हो जायेगा । जब बाह्य कुम्भक करना हो । बाहर साँस रोकनी हो तो तर्जनी और अँगूठा दोनों का प्रयोग करके दोनों नथुने बन्द कर देने चाहिए भीतर साँस रोकने की क्रिया को अन्तरं कुम्भक और बाहर साँस रोकने को बाह्य कुम्भक कहते हैं । इस प्रकार रेचक कुम्भक, अन्तः कुम्भक, पूरक कुम्भक, बाह्य कुम्भक इन चार भागों में एक प्राणायाम विभक्त हो जाता है ।

अध्यात्मपरक प्राणायामों में संकल्प शक्ति का भी उपयोग करना पड़ता है । मानवी चेतना एक प्रकार का चुम्बक है । जो संकल्प शक्ति के नियोजन से सक्रिय एवं सक्षम होता है । सर्वप्रथम ब्रह्माण्डव्यापी चेतन तत्व की दिव्य ऊर्जा के रूप में व्यापकता अनुभव करनी चाहिए । सोचना चाहिए कि समग्र अन्तरिक्ष प्राण ऊर्जा से भरा हुआ है । प्राणायाम द्वारा उसी का विशेष रूप से आकर्षण करना है । साँस खींचते समय यह मान्यता रहनी चाहिए कि भीतर मात्र हवा ही नहीं जा रही है वरन् प्राण-तत्व भी उसमें प्रचुर परिमाण में मिलकर प्रवेश कर रहा है । वायु द्वारा शरीर को जिस तरह पोषण प्रदान किया जाता है उसी प्रकार यह भी मान्यता सुदृढ़ करनी चाहिए कि शरीर में दिव्यमान प्राण चेतना को बाहर से खींची गई प्राण चेतना के सहारे अपनी स्थिति मजबूत एवं बलवती बनाने का अवसर मिल रहा है ।

अन्तः कुम्भक की स्थिति में मान्यता यह होनी चाहिए कि जो भरा गया है उसे उसी प्रकार सोखा जाता रहा है जैसे मिट्टी पर थोड़ा पानी डालने से वह उसे सोख लेती है । अपनी और दैवी प्राण चेतना के सम्मिश्रण से अपना प्राण दूना हो रहा है । अपनी क्षमता दुहरी बनने जा रही है ।

साँस निकालते समय का संकल्प यह होना चाहिए कि न केवल शरीरगत गन्दगी वरन् मानसिक दोष दुर्गुण भी इस वायु निष्कासन के साथ बाहर निकल रहे हैं । निकलने वाली वायु अन्धड़ की तरह बुरी आदतों को धूल कणों की भाँति बाहर उड़ा लिए जा रहा है और अपनी स्थिति निर्मल निष्पाप जैसी हो रही है ।

बाह्य कुम्भक में एक प्रकार से दरवाजा बन्द कर दिया जाता है कि दुर्गुण लौटकर वापस न आने पाएँ । भीतर जो खींचा सोखा गया है वह स्थिर बना रहे, बाहर न जाने पावे । अँगूठे और तर्जनी के सहारे दोनों नथुने बन्द करने की प्रक्रिया इसी निमित्त है कि वायु शरीर के जितने भाग पर अधिकार जमाये रहती थी वह भी उससे छिन गया और न केवल समूची शरीर सत्ता पर वरन् मानसिक क्षेत्र पर भी प्राण चेतना

का स्थिर आधिपत्य हो गया । इस प्रकार पहले की अपेक्षा शरीर कहीं अधिक मात्रा में प्राण-तत्व की दिव्य ऊर्जा से सुसम्पन्न हो गया है ।

यह एक प्राणायाम हुआ । चारों खण्डों को मिलाकर एक प्राणायाम बनता है । इसका न्यूनतम समय एक मिनट है । आरम्भ में स्वाभाविक स्थिति ही रहने देनी चाहिए । पीछे उसे बढ़ाना चाहिए । दो मिनट मध्यवर्ती और तीन मिनट अत्यन्त उच्च श्रेणी की साधना अवधि मानी गई है ।

इसमें वायु के खींचने निकालने का जितना महत्त्व है । उससे कहीं अधिक दिव्य प्राण की अनुभूति को सुदृढ़ बनाने का है । वह संकल्प शक्ति पर निर्भर है । इसलिये प्राणायाम का आध्यात्मिक लाभ उठाने वालों के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने संकल्प बल को परिपक्व करें । कल्पना को उस स्तर तक सक्षम करें कि वे प्रत्यक्षवत् दीखने लगे ।

प्राण-शक्ति के भीतर जाते समय भावना रहनी चाहिए कि उसके साथ कुछ चिंगारियाँ भी उड़ रही हैं और तापमान साधारण श्वास-प्रश्वास की तुलना में कुछ बढ़ा हुआ है ।

यह बैठकर अभ्यास करने की विधि है । जिन्हें अनुकूल पड़ती हो वे इसे जमीन पर लेटकर भी कर सकते हैं । उससे लाभ यह है कि पीठ और सिर एक सीध में अनायाम ही आ जाते हैं । उनकी देखभाल करने या ध्यान रखने कीं आवश्यकता नहीं पड़ती साथ ही नथुने को बन्द करने खोलने का कार्य भी एक ही हाथ में हो सकता है । कोहनी का सहारा देने के लिए दूसरे हाथ की हथेली का सहारा नहीं लेना पड़ता ।

प्राणायामों के अनेक भेद, उपभेद हैं । उनका उल्लेख योग ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक आता है । उनके प्रतिफल भी अलग-अलग प्रकार हैं । शरीर में ताप या शीत की मात्रा कम-बढ़ करने के वे काम आते हैं । कुछ का प्रयोजन शरीर विकारों को दूर करना । कुछ का मानसिक कष्ट का निराकरण करना और कुछ का आत्मशक्ति की प्रचुरता एवं प्रखरता बढ़ाना है । इनके प्रयोगों में जो अन्तर है उसे हमारी प्राणायाम सम्बन्धी पुस्तकों में पढ़ा या शान्ति-कुंज आकर सीखा जा सकता है ।

साधन-पथ
प्राणायाम के लाभ

यह तो सर्वविदित ही है कि खून को पहले हृदय संचालित करता है फिर यह खून धमनियों और बारीक धमनियों में होता हुआ शरीर के प्रत्येक भाग में पहुँच जाता है । इसके बाद वह दूसरे मार्ग से बारीक से बारीक शिराओं में होता हुआ मोटी शिराओं में लौटता है और वहाँ से फिर हृदय में वापस आता है फिर हृदय से निकल कर वह फेफड़ों में खिंच जाता है । जब पहले हृदय से रुधिर संचालित होकर धमनियों की राह शरीर में फैला था तो उसका रंग लाल, चमकदार और जीवनदायक था, परन्तु जब शिराओं की राह से वापस आया था तब उसका रंग नीला और दोषयुक्त था, क्योंकि शरीर की तमाम गन्दगियों को बटोरता हुआ आया था । यह गन्दा खून वापस आकर हृदय की बायीं कोठरी में पहुँचता है और तब यही गन्दा खून निकल कर दाहिनी ओर दूसरी वेण्ट्रीकल नामक कोठरी में जाता है फिर वहाँ से फेफड़ों में आता है । जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है । यह गन्दा रुधिर फेफड़ों की लाखों हवा वाली कोठरियों में बँट जाता है । जब श्वास ली जाती है तो हवा भी इन्हीं कोठरियों में पहुँचती है और जब हवा के ऑक्सीजन का स्पर्श इस गन्दे रुधिर से होता है तब उसमें एक तरह की जलन पैदा होती है और रुधिर हवा की ऑक्सीजन को खुद ही खींच लेता है और अपनी कार्बोलिक एसिड गैस को हवा के सुपुर्द कर देता है । इस तरह रुधिर साफ और ऑक्सीजन मिश्रित होकर चमकीला, लाल एवं जीवन-शक्तिदायक तथा और सामान से युक्त होकर हृदय की बायीं कोठरी में जाता है वहाँ से वह फिर वेण्ट्रीकल में जाता है । वहाँ से फिर नलियों और बारीक नलियों द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग को जीवन दान देने जाता है । यह अनुमान किया गया है कि २४ घण्टे में ३५०० पाइंट रुधिर फेफड़े की बाल सी बारीक नलियों में होकर गुजरता है, जिसके दोनों तरफ ऑक्सीजन होता है ।

अब यह देखना है कि यदि साफ हवा पूरे परिमाण से फेफड़ों में न पहुँचेगी तो शरीर के अंगों से लौटा

हुआ गन्दा खून साफ न हो सकेगा और परिणाम होगा कि यह शरीर केवल जीवनदायक सामग्रियों से वंचित ही नहीं, किन्तु रुधिर की गन्दगी जिसको फेफड़ों में साफ हो जाना चाहिए था वह फिर शरीर के अंग-प्रत्यंगों में वापस जायेगी और विष उत्पन्न करके मृत्यु को न्योंता देगी । गन्दी हवा भी ऐसा ही असर करती है, लेकिन धीरे-धीरे यह भी देखने में आयेगा कि यदि कोई उचित परिमाण में श्वास न लेगा तो रुधिर का काम भी उचित रीति से न चल सकेगा और तब शरीर का उचित पालन-पोषण भी न होगा, तो फिर बीमार होना निश्चित है अथवा स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा । इसके प्रतिकूल अच्छी तरह श्वास लेने से खून का संचालन अच्छी तरह होता है, जिससे शरीर सुर्ख एवं रोग रहित हो जाता है ।

ऑक्सीजन द्वारा केवल प्रत्येक भाग बलवान ही नहीं बनाया जाता, किन्तु पाचन शक्ति भी अधिकांश में भोजन के ऑक्सीजन पर ही अवलम्बित है और यह तभी होगा जब रुधिर में ऑक्सीजन अधिक रहे और वह खाये हुए अन्न के सम्पर्क में आकर एक प्रकार की जलन उत्पन्न करे, जिसे जठराग्नि कह सकते हैं । इसलिये आवश्यक है कि फेफड़ों द्वारा ऑक्सीजन काफी मात्रा में ग्रहण किया जाय । यही कारण है कि निर्बल फेफड़े वालों की पाचन-शक्ति भी निर्बल होती है । इस कथन से भली-भाँति सिद्ध है कि, पचे हुए अन्न से शरीर पुष्ट होता है और अपच से शरीर अपुष्ट होता है । सारांश यह कि ऑक्सीजन की कमी का अर्थ पुष्टि और सफाई की कमी होना है जिसका परिणाम स्वास्थ्य हानि है, अतएव वस्तुतः श्वास ही जीवन (प्राण) है ।

अब यह तो सर्व प्रकार से सिद्ध ही है कि शरीर को स्वस्थ और बलवान बनाने के लिए जितना ही ऑक्सीजन यानी प्राण-वायु मिल सके, उतना ही अच्छा है । इससे सम्बन्ध रखने वाले विषय ये हैं ।

श्वास कसरतों को करना, जिससे प्राण-वायु मिल सके और श्वास-यन्त्र को बड़ा करना अर्थात् सीने को चौड़ा बनाना । मनुष्य को चौबीस घण्टे प्राण-वायु की आवश्यकता होती है । जिस समय हम कसरत करते हैं उस समय तो हवा मिलती है, पर दस या पन्द्रह मिनट के लिए । ज्यादा श्वास लेने से २४ घण्टे की जरूरत पूरी नहीं होगी । इसलिये सीने की चौड़ाई बढ़ानी ही पड़ेगी । जब हम मामूली तौर पर श्वास लेते हैं तो करीब ५०० घन सेण्टीमीटर हवा एक बार में खिंच जाती है पर यह सीने के अन्दर सिर्फ ऊपर के हिस्से में ही आती जाती है । सीने के अन्दर के सारे हिस्सों में नहीं जाने पाती । पाठक ऊपर यह भली प्रकार समझ ही चुके हैं कि पूर्णतया श्वास की क्रिया ठीक न होने पर शरीर के अन्दर सीने पर विकार इकट्ठा होने लगता है और वह धीरे-धीरे खराब होने लगता है । ऊपर-ऊपर तो श्वास आती जाती है पर बीच और नीचे के हिस्सों में श्वास के नहीं आने जाने से विषैले कीड़े पैदा होते हैं और यह कीड़े समय पाकर सारे शरीर में खराबी उत्पन्न कर देते हैं । कभी-कभी यह देख कर मन विचलित-सा हो उठता है कि हमारे देश के लोग न तो अपने पूर्वजों के बताये हुए नियमों पर चलते हैं और न अपना ही कोई नियमित ढंग निकाल कर उस पर चलते हैं । हमारे देश में विद्या के बड़े-बड़े केन्द्र हैं । उन केन्द्रों में बड़े-बड़े विद्वानों का समागम होता है, पर अन्य विषयों के साथ-साथ मामूली रहन-सहन, खान-पान और व्यायाम की तरफ किसी महाशय का ध्यान नहीं जाता और रोगों की बढ़ती के साथ-साथ क्षय दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है पर इसके रोकने के लिए कोई उपाय नहीं किया जाता । जितने भी श्वास रोग हैं उनसे बचने के लिए यदि मनुष्य भोजन सुधार के साथ-साथ हर रोज दो प्राणायाम की क्रिया कर ले तो उसे किसी प्रकार की श्वास की बीमारी का होना असम्भव है । साथ ही साधारण श्वास में भी आश्चर्यजनक उन्नति होती है ।

ऊपर मैंने दो ऐसे व्यायामों का जिक्र किया है जिनसे प्राण-वायु ज्यादा मिले और सीना चौड़ा हो । अब एक तीसरा व्यायाम और होना चाहिए, जिससे शरीर के स्नायु तन्तु स्वस्थ एवं सुदृढ़ बनें क्योंकि हमारे शरीर में जितने भी अंग हैं उन सबकी चाल ज्ञान-तन्तुओं पर ही निर्भर है ।

योगशास्त्र में ज्यादा से ज्यादा प्राण-वायु प्राप्त होने का जिक्र नहीं है अर्थात् प्राणायाम का सम्बन्ध प्राण-वायु से नहीं बताया गया है । यदि ऐसा समझा जाय कि एक मिनट में एक साधारण आदमी सत्रह बार साँस लेता है और हर साँस में करीब ५०० घन

सेण्टीमीटर हवा खींचता है तो १ मिनट में ५००×६० = ३०००० घन सेण्टीमीटर हुआ । अब एक आदमी ५०० घन से. हवा लेने के बाद १६०० घन से. श्वास और ले सकता है और ५०० घन से. साँस निकालने के बाद १६०० घ. से. श्वास और निकाल सकता है । इस हिसाब से सीने की श्वास की ताकत १६००+५००+१६००=३७०० घन से. हुई । मैं प्राणायाम करते समय यदि पांच सेकण्ड में श्वास लेता हूँ, १५ सेकण्ड रोकता हूँ और १० सेकण्ड में निकालता हूँ तो एक मिनट में दो ही बार हुआ अर्थात् एक मिनट ३७००×२=७४०० घन से. हुआ । इससे सिद्ध हुआ कि मामूली तौर से जो साँस ली जाती है उससे कम प्राणायाम की हालत में ली जाती है । इस हिसाब से मालूम हो जायेगा कि प्राणायाम प्राण-वायु के लिए नहीं किया जाता है । प्राणायाम कुछ और उद्देश्य से किया, कराया जाता है जिसका उल्लेख फिर कभी करेंगे । यदि कोई प्राणायाम को मामूली श्वास की कसरत समझे, जिससे मेरा मतलब सिर्फ प्राण-वायु लेना है तो वह भारी भूल करता है ।

योग शास्त्र में प्राण-वायु प्राप्त करने के लिए एक बड़ी सुन्दर क्रिया है जिसे 'कपाल' भी कहते हैं । इस क्रिया का मुकाबला संसार में शायद वायु की कोई भी कसरत नहीं कर सकती । इस क्रिया में एक बार में मामूली तौर पर ८०० घन से. अ. क. श्वास निकाली जाती है । यह क्रिया एक मिनट में १२० बार की जाती है अर्थात् १ मिनट में १२०×८००=९६००० घन से. हुआ जो मामूली हालत की श्वास से सोलह गुना ज्यादा होता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्वास विज्ञान हमारे योगशास्त्र में इतना पूर्ण है कि पश्चिमी विद्वानों को इतना जानने के लिए दो तीन शताब्दियाँ लगेंगी । पश्चिमी विद्वानों ने प्राण-वायु के लिए एक ही तरह की कसरत का अवलम्बन लिया है । इसलिये इनके यहाँ श्वास को रोकना जायज नहीं है, पर अपने यहाँ प्राण-वायु और सीने को बढ़ाने के लिए अलग-अलग क्रियाएँ हैं जिनका आधार दूध और घी है ।

अब हम यहाँ एक ऐसी प्राणायाम की विधि बता रहे हैं जिससे प्राण-वायु ज्यादा मिलती और सीना भी चौड़ा होता है, साथ ही खून का दौरा भी बढ़ता है । इस प्राणायाम में रेचक कुम्भक, पूरक करने की आवश्यकता नहीं होती । इसे बैठकर, खड़े होकर या धीरे-धीरे चलते हुए भी कर सकते हैं । पर खड़े होकर हाथ कमर पर और बैठने की दशा में हाथ जंघों पर, और पीठ को स्वाभाविक अवस्था में सीधा रखते हैं । अब खुले हुए नथुनों से धीरे-धीरे साँस खींचते हैं । साँस लेते समय और निकालते समय पेट खिंचा हुआ होता है श्वास लेते और निकालते समय गले में मीठी-मीठी खर्र-खर्र की आवाज निकलती है । चेहरा सामने और सीधा रहता है, पाँच सेकण्ड में श्वास लेना और १० सेकण्ड में धीरे-धीरे श्वास छोड़ना चाहिए । पहले हफ्ते में यह प्राणायाम सात बार सुबह और सात बार शाम को करना चाहिए । हफ्ते में ३ बार बढ़ा कर २८ बार सुबह और २८ बार शाम को कर सकते हैं । जो नियम दूसरी व्यायामों के साथ लागू हैं वे इसमें भी लगते हैं । यह जरूरी है कि श्वास की यह या कोई क्रिया साफ हवा के स्थान में की जाय, इस प्राणायाम से जनसाधारण को बहुत लाभ होगा ।

प्राणायाम और मनोनिग्रह

एक ही मनुष्य में अक्सर दुह व्यक्तित्व पाया जाता है । कभी वह एक तरह सोचता है । कभी उससे भिन्न अथवा प्रतिकूल सोचने लगता है । इस दुहरे व्यक्तित्व का कारण भावनात्मक उतार-चढ़ाव अथवा नये-पुराने संस्कारों का मध्यवर्ती संघर्ष माना जाता रहा है, पर अब शरीर विज्ञान के शोधकर्त्ताओं ने मानवी मस्तिष्क के दो खण्डों का होना और दोनों की प्रकृति में भिन्नता रहना बताया है । ज्वार-भाटे की तरह यह उतार-चढ़ाव अपने आधिपत्य के समय अपना अधिकार जताते और चलाते हैं । यही दुहरा व्यक्तित्व है ।

"क्या मानव शरीर में एक मन है या दो ?" अजूबा लगने वाला प्रश्न आज से २० वर्षों पूर्व नोबुल पुरस्कार विजेता राजर डब्लू. स्पेरी ने अपने आप से किया था । जब वह ऐसे मनःरोगियों पर कार्य कर रहे थे, जिनके मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को जोड़ने वाला सेतु 'कार्पस कैलासम' अथवा 'दी ग्रेट सेरीब्रल कमीशर' शल्य क्रियान्तर्गत कट कर अलग हो गए थे ।

इस प्रक्रिया का कारण यह था कि यदि मस्तिष्क का एक भाग लकवाग्रस्त है तो यह रोग दूसरे भाग पर भी न हो जाय ।

ऐसे रोगियों की जाँच करते समय स्पेरी ने यह पाया कि जब मस्तिष्क को दो गोलार्द्धों में विभक्त किया जाता है तो प्रत्येक गोलार्द्ध में अलग-अलग व्यक्तित्व की झलक पायी जाती है । प्रत्येक गोलार्द्ध की अपनी अलग स्मृति और अलग इच्छा शक्ति पायी गई जिसके फलस्वरूप दोनों गोलार्द्धों में स्पर्धा होने लगती है कि कौन-सा भाग शरीर पर अपना अधिकतम कब्जा जमा सकता है । नोबुल पुरस्कार विजेता के शब्दों में "विभाजित मस्तिष्कीय व्यक्तित्व इस प्रकार व्यवहार करता है जैसे प्रत्येक गोलार्द्ध का अपना अलग-अलग वाला निजी मन हो ।" इससे यह फलित होता है कि सामान्य स्थिति में मनुष्य जो अनुभव करता है वह इन दोनों मनों में संकलित होते हैं ।

इस स्थिति का गहन अध्ययन करने से ऐसे प्रमाण उपलब्ध हुए हैं कि संकलित कार्यों का क्रमबद्ध लय होता है और इस लय को नियन्त्रित करने वाले तरीके भी हो सकते हैं ।

एक प्रयोग में दोनों मस्तिष्कों का एक साथ ई. ई. जी. रिकार्ड किया गया । जब इन मस्तिष्कीय तरंगों की सूक्ष्म पड़ताल हुई तो पाया गया कि कुछ समय के लिए एक गोलार्द्ध का आधिपत्य होता है और यह अधिकार कुछ समय बाद दूसरे को दे दिया जाता है । प्रयोगों से पाया गया कि विभिन्न केसों में २५ मिनट से २०० मिनट तक या औसतन दो घण्टों तक इस क्रम का परिवर्तन होता है । सभी व्यक्तियों में तो यह परिवर्तन है ही, एक ही व्यक्ति के विभिन्न ई. ई. जी. भिन्न-भिन्न समयों में परिलक्षित हुए हैं । इस प्रकार के प्रयोग 'स्क्रिप्स क्लीनिक के. प्री-क्लीनिकल न्यूरोसाइन्स एवं एण्डोक्राइनोलॉजी' प्रयोगशाला के निर्देशक फ्लाइड ई. ब्लूम एवं साडिन्गो स्थान (कैली वि. वि. के न्यूरोसाइन्स विभाग) में भी हुए हैं । बायाँ गोलार्द्ध को, वाचिक नियन्त्रणकर्त्ता और दाएँ को 'स्पेशियल' अन्य क्रियाओं का नियन्त्रक कहा जाता है । आठ घण्टों तक लगातार एनकेफेलोग्राम द्वारा निरीक्षण होने पर पाया गया कि जब वाचिक नियन्त्रण गोलार्द्ध में क्रियाशीलता अधिकतम थी तब स्पेशियस में न्यूनतम । इसका उल्टा भी पाया गया जबकि स्पेशियल में अधिकतम तो दूसरे में न्यूनतम सक्रियता थी । अत्यधिक क्रियाशीलता का समय ६० मिनट से १०० मिनटों तक पाया गया ।

हैलीफेक्स वि. वि. (कनाडा) के डलहौजी मनोविज्ञान विभाग में गोलार्द्ध की क्रियाशीलता के अध्ययन के साथ अनुसन्धानकर्त्ताओं ने नाक के दोनों नथुनों से चलने वाले 'नेशल साइकल' जैसे कि बाएँ या दाएँ नाड़ी से चलने वाली श्वास-प्रश्वास का भी अध्ययन किया । दाएँ-बाएँ नक्षत्रों के क्रम से चलने वाली श्वसन क्रिया और मस्तिष्कीय दोनों गोलार्द्धों में बारी-बारी वाली क्रियाशीलता का घनिष्ठ सम्बन्ध पाया गया । जो दाहिने नथुने से श्वसन होता रहता है तो बाएँ गोलार्द्ध में ई. ई. जी. द्वारा अधिक क्रियाशीलता देखी जा सकती है । इसका उल्टा भी सही है अर्थात् बाएँ नाड़ी से श्वसन क्रिया होते समय दाएँ गोलार्द्ध में अधिक क्रियाशीलता परिलक्षित हुई । इस तथ्य की जानकारी प्राप्त कर लेने से मस्तिष्कीय गोलार्द्धों की क्रियाशीलता को परिवर्तित करने का एक सूत्र हाथ लगा । यदि प्रयत्नों से बलपूर्वक दक्षिण स्वर को बाएँ में बदल दिया जाय तो १० या १५ मिनटों के अन्दर मस्तिष्कीय गोलार्द्ध का भी क्रम बदल जायेगा । दाएँ भाग वाला गोलार्द्ध सक्रिय हो जायेगा ।

यह निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति का 'मूड' समय-समय पर बदलता रहता है । मूड बदलने के कारण का सूत्र नासिका से चलने वाली नाड़ी से सम्बन्धित है क्योंकि इस क्रम परिवर्तन के साथ मस्तिष्क के गोलार्द्धों की क्रियाशीलता और कार्य वैमन्यता परिलक्षित होने लगती है । इस सूत्र के हाथ लगने से पहले जहाँ मूड ठीक करने के लिए अनेकानेक दवाएँ ली जाती थीं, वही कार्य स्वर परिवर्तन द्वारा आसानी से सम्पन्न हो सकता है ।

अमेरिका में हाल में हुई एक कॉन्फ्रेन्स में मस्तिष्क के विभिन्न गोलार्द्धों के अध्ययन तथा 'लेटरलिटी साइकोपैथॉलाजी,' पर हुई थी जिसके अध्यक्ष पीरी फ्लोर हैनरी ने बताया कि सभी मनःविक्षिप्त रोगियों में 'बाइलेटरल सेरीब्रल डिसफंक्शन' मस्तिष्कीय गोलार्द्धों में असन्तुलन पाया गया है । जहाँ विषाद, निराकरण हो वहाँ दाहिना गोलार्द्ध रोगग्रसित पाया गया । सीजोफेनिया

या उन्माद के रोगियों में बायाँ गोलार्द्ध क्षतिग्रस्त पाया गया । वे या तो अधिक या न्यूनतम सक्रिय थे ।

स्वर विन्यास की जानकारी से शिक्षण प्रक्रिया में भी सहायता मिली है । क्रान्तिकारी परिवर्तन न लाये गए । तर्क प्रधान भाषा, गणित इत्यादि विषयों का समन्वय बाएँ गोलार्द्धों से हैं । इनमें पिछड़े बालकों को आगे बढ़ाने के लिए दाहिनी नाक से श्वसन का अभ्यास कराये जाने के सुझाव दिए गए हैं । भावनात्मक एवं सर्जनात्मक क्रियाओं में पिछड़े बालकों को बायीं नाक से श्वसन का अभ्यास कराया जाना चाहिए क्योंकि इससे दायाँ मस्तिष्क अधिक क्रियाशील हो जायेगा । स्वर परिवर्तन से हम अपनी मानसिक क्षमताओं में परिवर्तन ला सकते हैं । इस दिशा में प्राचीनकाल से ही प्राणायाम, स्वर विधा, या हंसयोग का प्रावधान रहा है ।

दोनों मस्तिष्क विभागों में एकरूपता लाने के लिए प्राणायाम उपचार विशेष रूप से फलप्रद पाया गया है । श्वास-प्रश्वास को विधिवत् चलाने का परिणाम यह होता है कि मस्तिष्क के दोनों भागों के बीच स्वसंचालित हेरा-फेरी पर अपना नियन्त्रण हो जाता है । दोनों भाग पराधीन होने के कारण अपनी मनमानी नहीं कर पाते । अध्यात्म शास्त्र के ज्ञाता कहते हैं कि प्राण को वश में करने से मन वश में हो जाता है । इसका तात्पर्य वही है जो आधुनिक वैज्ञानिकों में अपनी खोज प्रक्रिया के अन्तर्गत पाया है । प्राणायाम द्वारा हम मन को वशवर्ती कर सकते हैं और उसे अभीष्ट मार्ग पर चलने के लिए बाधित कर सकते हैं ।

पूरी साँस कैसे लेनी चाहिए ?

साँस लेने का स्वभाविक यन्त्र नासिका है, किन्तु अज्ञान वश लोग मुख से भी साँस लेते हैं फलतः इस नियम विरुद्ध कार्य का उन्हें दण्ड भी मिल जाता है । योग शास्त्र का उपदेश है, कि श्वासोच्छ्वास क्रियाएँ नासिका से करो । किन्हीं विशेष प्राणायामों में जहाँ मुँह से साँस लेने का विधान है, वहाँ भी वायु छोड़ने का मार्ग नासिका ही निर्धारित किया गया है । स्वभावतः मनुष्य नाक द्वारा श्वास लेता है । छोटे बालक प्रकृति-दत्त बुद्धि के अनुसार इसी नियम का अनुसरण करते हैं । बड़े होने पर मनुष्य जैसे अन्य अनेक कुटेवें सीखता है । वैसे ही वह इस सम्बन्ध में भी नियमोल्लंघन करता है । देखा जाता है, कि थोड़ी-सी मेहनत करने पर हाँफने लगता है । स्त्रियाँ पानी भरते हुए, आटा-पीसते हुए, अन्न कूटते हुए या और कोई इसी तरह का काम करते हुए मुँह खोलकर हाँफने लगती हैं । कमजोर आदमी उठते बैठते लम्बी साँसें छोड़ते हैं, वे नहीं जानते कि हम इससे अपने को और अधिक कमजोर बना रहे हैं । अंग्रेजी में एक कहावत है, कि "प्रत्येक 'आह' का अर्थ हृदय का एक बूँद खून सुखाना है ।" इस उक्ति का वैज्ञानिक रहस्य यह है कि मुँह से साँस छोड़ने पर बहुत हानि होती है । बीमार लोग जरा से दुःख-दर्द में कराहने लगते हैं और अनजान में इस कुटेव को अपनाते हैं । दमा को असाध्य इसलिये बताया जाता है कि उसका रोगी मुँह से ही साँस लेता रहता है, और जो घायल अपने घाव को हर वक्त घिसता रहे उसका अच्छा होना प्रायः कठिन ही समझना चाहिए ।

हमारे फेफड़े बहुत ही कोमल हैं । इसलिये उनकी रक्षा के लिए प्रकृति ने पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है । हवा में मिला हुआ कूड़ा कचरा अन्य हानिकर रोगजन्तु भीतर न जाने पावें, इसीलिये नाक में बालों की छलनी लगा दी गई है ताकि वह कचरा इनमें ही उलझा रह जाय । नाक में एक प्रकार की श्लेष्मा रहती है, जो कचरा बालों में छनने से भी रह गया था, वह इस श्लेष्मा में चिपक जाता है । इसके बाद जो भी बचता है, वह लम्बी साँस नलिका में रुक जाता है, और कफ या छींक के रूप में निकल जाता है । फेफड़े में अन्ततः जो वायु पहुँचती है, उसका पूरा संशोधन हो जाता है, किन्तु मुख से वायु लेने पर ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि मुँह में न तो बाल हैं, और न छिद्र इतना कम चौड़ा है कि धूल कणों को उसकी दीवारों से चिपकना ही पड़े । इसलिये जैसी-तैसी हवा जब भीतर जाती है तो उसका कचरा कंठ और श्वास नलिका में इकट्ठा होता है, और बहुत-सा भाग फेफड़े में भीतर तक सीधा चला जाता है । इसलिये मुख से साँस लेने वाले अक्सर चेपी, दमा, क्षय, आदि के शिकार हो जाते हैं । डॉक्टरों का अभिमत है कि इन्फ्लुऐन्जा, हैजा, प्लेग आदि के दिनों में मुँह से साँस लेने वालों

की अपेक्षा नाक से साँस लेने वाले कम मरते हैं । ऋतुओं का प्रभाव वायु पर पड़ता है । इसलिये सर्दी में ठंडी और गर्मी में गर्म हवाएँ चलती हैं । इनका ताप, फेफड़े के ताप से बहुत न्यूनाधिक होता है । यह सर्द, गर्म हवाएँ जब नाक की लम्बी नली द्वारा फेफड़ों तक पहुँचती हैं, तो उनकी गर्मी इतनी ही रह जाती है, जितनी कि फेफड़ों को चाहिए । बढ़ा या घटा हुआ तापमान साँस नली की गर्मी से ठीक हो जाता है, किन्तु मुख द्वारा साँस लेने से ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि एक तो इसमें एक साथ बहुत-सी हवा जाती है, जिसका ताप आसानी से ठीक नहीं किया जा सकता, दूसरे कंठ और फेफड़ों का फासला बहुत थोड़ा है इतने थोड़े स्थान की शक्ति थोड़ी ही होती है । इस प्रकार मुँह से ग्रहण की हुई वायु अपनी सर्दी-गर्मी को फेफड़ों तक पहुँचा कर उसका पर्याप्त अहित करती है । यही कारण है, कि रात को मुँह खुला रखकर सोने वाले जब सबेरे उठते हैं तो गले में सूजन, दर्द, खुजलाहट और साँस में भारीपन का अनुभव करते हैं ।

तालाब और कुएँ के जल में जो अन्तर है वही अन्तर मुँह और नाक से ली जाने वाली साँस में है । एक अशुद्ध है, तो दूसरी शुद्ध, एक से फेफड़े को पोषण होता है तो दूसरी से नुकसान । मुँह से साँस लेने की आदत पड़ जाने पर नासिका मार्ग बेकार पड़ा रहता है और उसमें रुके हुए पानी की तरह खराबियों इकट्ठी होती रहती हैं । यह खराबियाँ बढ़कर कभी-कभी भयंकर रोगों का रूप धारण कर लेती हैं । नकसोरे रुक जाना, सारे दिन नाक से खूँ-खूँ करते रहना आदि व्याधियाँ सूचित करती हैं, इस व्यक्ति ने नासिका मार्ग का उचित उपयोग नहीं किया है ।

जो लोग फेफड़ों की रक्षा करना चाहते हैं उन्हें चाहिए कि सदा नाक से साँस लें । मेहनत करने पर जब साँस की गति तीव्र हो जाय तो भी मुँह खोलकर न हाँफें, वरन् नाक से ही साँस लें । जंगली जाति की स्त्रियाँ अपने बालकों के होठ बन्द कर देती हैं । जब बालक सोते हैं तब वे उसके सिर को आगे नवा देती हैं, जिससे उसका मुँह बन्द हो जाता है और नाक से ही साँस लने की आदत पड़ जाती है । हम लोगों को उन जंगली स्त्रियों से इस सम्बन्ध में शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए । यदि बालक के मुँह खोलकर सोने की आदत पड़ रही हो तो माताओं को उचित है कि उसका सिर जरा-सा आगे को झुका दें, इससे मुँह बन्द हो जायेगा; और नाक द्वारा श्वसन क्रिया होने लगेगी, जोकि उनकी तन्दुरुस्ती के लिए बहुत जरूरी है ।

मुँह से साँस लेने के कारण जिनकी नाक रुकने लगी हो उन्हें चाहिए कि प्रातःकाल एक दो चुल्लू स्वच्छ जल नाक द्वारा ऊपर चढ़ाया करें, या 'लोम विलोम' रेचक पूरक क्रिया करें । खुली हवा में नाक के एक छेद को बन्द करके दूसरे खुले छेद से बार-बार साँस लेना और छोड़ना, फिर दूसरे छेद को बन्द करके पहले किए छेद द्वारा बार-बार श्वास लेना और छोड़ना, यही 'लोम विलोम' रेचक पूरक क्रिया कहलाती है । इससे नाक रुकने की खराबी दूर हो जाती है । जिन्हें कफ की शिकायत रहती हो उन्हें थोड़ा-सा गाय का घी नाक में डालना चाहिए । कितने ही लोग नाक के भीतर के बालों को उखाड़ डालते हैं, वे नहीं जानते कि इस अज्ञान द्वारा फेफड़ों को कितनी क्षति पहुँचेगी । हिन्दुस्तानी कहावतों में 'नाक का बाल' प्रियजनों के अर्थ में उपयोग होता है, परन्तु हम लोग उसे रद्दी या निकम्मी वस्तु समझ कर हटा देते हैं । अतः यह ध्यान रखें कि स्वास्थ्य की दृष्टि से नाक द्वारा साँस लेना ही उचित है ।

हम लोग भोजन के सम्बन्ध में हानि-लाभ की कुछ थोड़ी बहुत बातें जानते हैं, परन्तु वायु जो भोजन से भी अधिक आवश्यक है, उसके सम्बन्ध में बहुत ही कम जानते हैं । स्वास्थ्य रक्षा के लिए प्राण-वायु (Oxygen) जितनी आवश्यक है, उतनी और कोई वस्तु नहीं । हम लोग सड़े-गले भोजन को खाना पसन्द नहीं करते, किन्तु सड़ी और गन्दी से उन्हें कुछ भी परहेज नहीं होता । डॉक्टर रौडस्मंड के मतानुसार प्राण-वायु (ओषजन) एक खुराक है, जिसका महत्त्व खाने-पीने की अन्य चीजों की अपेक्षा बहुत अधिक है । वे कहते हैं कि यह बात असत्य है, कि हृदय के द्वारा रक्त का दौरा होता है, वरन् सच बात यह है कि प्राण-वायु रक्त में मिल कर उसे दौरा करने की शक्ति देता है, मनुष्य के शरीर को अपना काम चलाने के लिए जिस शक्ति की जरूरत होती है, वह कहाँ से आती है, इस विषय पर इस युग के धुरन्धर

शरीर शास्त्री श्री बरनर मेकफेडन ने जो अनुसन्धान किया है, वह जानने ही योग्य है, वे लिखते हैं—"हम प्रत्येक श्वास के साथ जो वायु खींचते हैं, उसके साथ एक विद्युत शक्ति शरीर में जाती है और विद्युत शक्ति अन्य कोई वस्तु नहीं ऑक्सीजन वायु का ही परिवर्तित रूप है । जब वायु रक्त में मिलती है, तो स्नायु मण्डल उसे ग्रहण कर लेता है और स्नायविक केन्द्र में पहुँचा देता है और उसी की शक्ति से शरीर के सारे काम चलते हैं ।" भोजन पचाने, बातचीत करने, चलने-फिरने आदि के कार्य इसी शक्ति द्वारा पूरे किए जाते हैं । बहुत से लोग समझते हैं कि हमें तो दिमागी काम करना पड़ता है । इसलिये दिमागी ताकत बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए । हमें शारीरिक मेहनत से क्या प्रयोजन ? उन्हें याद रखना चाहिए कि मानसिक श्रम में भी स्नायविक शक्ति व्यय होती है । यह शक्ति शारीरिक स्वास्थ्य एवं स्नायु विद्युत से ही आती है उस शक्ति का मूलस्रोत ओषजन है, जो वायु में ही प्राप्त होता है ।

कितने अज्ञान की बात है कि लोग इस प्राण-शक्ति से डरते हैं, और खुली हवा में रहने की अपेक्षा बन्द मकानों में काम करना पसन्द करते हैं । जाड़े के दिनों में आप किसी मोहल्ले में चले जाइये सारी खिड़कियाँ बन्द मिलेंगी, लोग अपने कमरे बन्द करके बिस्तर के अन्दर मुँह ढक कर सो रहे होंगे । यह प्रथा स्वास्थ्य के लिए बहुत ही हानिकर है । तेज या ठण्डी हवा में निकलने से लोग भयभीत होते हैं और समझते हैं कि इससे जुकाम आदि हो जायेगा । यह भ्रम मिथ्या है, तेज, या ठंडी हवा से कोई बीमारी नहीं होती । यदि जुकाम होता भी है, तो वह तुम्हारे लिए अच्छा है । अगर शरीर में दोष भरे पड़े हैं, जो जुकाम होकर बलगम द्वारा ही उनका निकल जाना भला है, उन्हें रोक कर या दबाकर रखा जाय तो आगे चल कर वे किसी भयंकर बीमारी के रूप में प्रकट हो सकते हैं । बन्द कमरे में बार-बार साँस लेने से शरीर का कार्बोनिक ऐसिड गैस नामक विष वायु में मिल जाता है और उसी विषैली वायु को बार-बार ग्रहण करने पर वह उत्तरोत्तर और भी अधिक विषैली होती जाती है, बहुत देर तक उस विषैली गैस में रहने से शरीर की बड़ी क्षति होती है । इस बात की परीक्षा आप स्वयं कर सकते हैं, बन्द कमरे में मुँह ढक कर सोने पर सुबह उठते हुए शरीर भारी सा मालूम पड़ेगा । तन्द्रा और आलस्य छाये होंगे, खाट पर से उठना अच्छा न लगेगा और दिन भर सुस्ती बनी रहेगी । खुली हवा में सोने पर यह बातें नहीं हो सकतीं । रात भर जिसने ऑक्सीजन (प्राणप्रद वायु) प्राप्त की है वह प्रातःकाल प्रसन्न बदन उठेगा और दिन भर फुर्ती का अनुभव करेगा ।

फेडन महोदय कहते हैं कि लोग शुद्ध तरीके से साँस लेना भी नहीं जानते और स्त्रियाँ तो उस विषय में बहुत ही अज्ञ होती हैं । छोटे बालक का पेट उघाड़ कर देखिये वह पेडू तक साँस लेता हुआ मिलेगा । जब वह साँस छोड़ेगा तो उसका पेडू सिकुड़ेगा । इससे जाना जाता है कि साँस लेने का प्राकृतिक नियम क्या है ? अधिक कपड़ों से लदा रहने, आराम से पड़े रहने, एवं झुक कर बैठने के कारण अधूरी साँस लेने की आदत पड़ जाती है । पूरी साँस लेने पर पेडू फूलता एवं सुकड़ता है जिससे (Diaphragm) नामक पेट का वह अंग जो पेट और आँतों को फेफड़े से अलग करता है, नीचे जाता है और फेफड़ों के निचले भाग का दबाव हल्का करके उसमें पूरी हवा भर जाने देता है । इस, प्रकार फेफड़ों की पूरी शुद्धि होती रहती है । इसके अतिरिक्त जब Diaphragm नीचे खिसकता है तो आमाशय, जिगर एवं आँतों की क्रिया तेज हो जाती है । क्योंकि उन पर इसका एक हल्का धक्का-सा लगता है । जो लोग अधूरी साँस लेते हैं, वे पूरी साँस लेकर देखें उनकी पाचन शक्ति पहले की अपेक्षा बहुत तीव्र हो जायेगी और फेफड़े मजबूत होने लगेंगे । फेफड़ों की मजबूती पर शारीरिक बल निर्भर है, क्योंकि पूरी साँस लेने से ही अधिक मात्रा में ऑक्सीजन वायु प्राप्त की जा सकती है । ऋषियों ने प्राणायाम की साँस क्रियाओं पर इसीलिये अधिक जोर दिया है, कि इनके द्वारा मनुष्य की स्नायविक शक्ति बढ़े और यह कार्यवाहिनी विद्युत को पर्याप्त मात्रा में प्राप्त करके स्वास्थ्य की उन्नति करता रहे । पर्याप्त मात्रा में ओषजन को शरीर में पहुँचाना निरोग रहने का सर्वोत्तम साधन कहा जा सकता है ।

खुली हवा में गहरी साँस लेने की आदत डालिये । फेफड़ों में पूरी हवा भरिये, परन्तु याद रखिये पहले

पेडू को फुलाना चाहिए । कुछ दिनों के प्रयत्न से यह अभ्यास आदत के रूप में बदल जाता है और तब स्वास्थ्य में आश्चर्यजनक उन्नति हो जाती है । पूरी साँस लेने की आदत डालने के लिए यह आवश्यक है कि अपने मन में यह बात अच्छी तरह जमा लो कि गहरी साँस लेना मनोरंजन का एक साधन है । इस भार रूप में समझोगे और ज्यों-त्यों करके कुछ देर बेगार भुगतोगे तो कुछ लाभ न होगा । मन उसी काम में लगता है, जिसे मनोरंजन समझ कर किया जाता है । जब कभी खुली हवा में चलने का अवसर मिले तो खेल की तरह गहरी साँस खींचो और साथ ही गिनते जाओ कि जितने समय में एक साँस ली उतने समय में तुम कितने कदम चल लिए, उतने ही कदम चलने में साँस छोड़ो । फेफड़ों को पूरा भरना और पूरा खाली करना एवं पेडू का उठाना, सकोड़ना यह स्वाभाविक श्वास क्रिया की कसौटी है । इस सरल प्राणायाम से रक्त की संजीवता बहुत बढ़ जाती है ।

गहरी साँस लिया कीजिए

फेफड़ों के द्वारा शरीर के भीतर का मैल रात-दिन बाहर निकला करता है, परन्तु बहुत से लोग अपनी ही मूर्खता के कारण ही कुटेवों से फेफड़ों को कमजोर कर लेते हैं । शरीर का जो अवयव नित्य प्रति काम में आता रहता है वह बलवान बना रहता है । विपरीत इसके जिस अवयव का नित्य-नित्य उपयोग नहीं किया जाता वह दुर्बल पड़ जाता है; जो लोग सीधे हाथ का ही अधिकतर उपयोग किया करते हैं उनका बायाँ हाथ सीधे हाथ की अपेक्षा कमजोर पड़ जाता है । इसी प्रकार जो लोग फेफड़ों का बराबर उपयोग किया करते हैं उनके फेफड़े बलवान बने रहते हैं, लेकिन जो लोग फेफड़ों का निरन्तर उपयोग नहीं करते उनके फेफड़े कमजोर पड़ जाते हैं । यदि तलाश किया जाय तो सौ में नब्बे मनुष्य ऐसे निकलेंगे जो फेफड़ों का ठीक-ठीक उपयोग नहीं करते । कोई पूछे कि फेफड़ों का ठीक-ठीक उपयोग होता किस तरह है ? इस तरह होता है कि श्वास लेते समय जो वायु बाहर से भीतर जाती है उससे फेफड़े पूरे-पूरे भरे जायें । हवा से जब फेफड़े पूरे-पूरे भरे जाते हैं, तब पहले पहल पेट और पेट के नीचे का भाग फूलता है । उसके बाद फिर छाती फूलती है । छोटे-छोटे बालकों को साँस लेते और छोड़ते देखने से यह बात समझ में आ सकती है, क्योंकि छोटी उम्र के बालक प्रायः कुदरती तरीके से साँस लेते हैं, लेकिन बड़े होने पर उन्हें स्कूल में टेढ़े झुककर बैठने की आदत पड़ जाती है, और वे कमर कसकर धोती बाँधने लगते हैं । इससे उनका पेट वगैरह दबा रहता है और इस कारण फेफड़ों के नीचे का भाग भीतर गए हुए साँस से पूरा-पूरा नहीं भर पाता । अतएव केवल छाती और फेफड़ों का ऊपरी भाग ही श्वास लेने और निकालने का काम करता है । फेफड़ों के नीचे का भाग काम में न आने के कारण दुर्बल पड़ जाता है । अतएव शरीर के आरोग्य के लिए जितनी हवा की जरूरत है उतनी हवा फेफड़ों में नहीं आती, और परिणाम इसका फिर यह होता है कि शरीर के भीतर से फेफड़ों द्वारा जितना मैल बाहर निकलना चाहिए उतना नहीं निकलता । इसलिये फेफड़ों को पूरा-पूरा हवा से भरने की और पूरा-पूरा खाली करने की आदत प्रत्येक व्यक्ति को डालना जरूरी है । शास्त्रों में जो कहा गया है कि प्राणायाम करने वालों का आरोग्य बढ़ता है और उनके अनेक प्रकार के रोग मिट जाते हैं, उसका अभिप्राय यही है कि फेफड़ों में पूरी-पूरी हवा भरने से और पूरी-पूरी निकालने से उनके द्वारा शरीर के भीतर का बहुत-सा मैल नित्यप्रति बाहर निकल जाता है । जिन लोगों को साँस की बीमारी होती है वे न तो पूरा-पूरा साँस ले सकते हैं और न निकाल ही सकते हैं, अतएव वे सदैव दुःख भोगते रहते हैं । जो व्यक्ति प्रत्येक श्वास के साथ फेफड़ों को पूरा-पूरा भरते और खाली करते हैं, उनका खाया हुआ आहार बड़ी अच्छी तरह पचता है और उनके रोगी होने की सम्भावना बहुत कम रहती है । सुतरां लम्बा और गहरा साँस लेना प्रत्येक व्यक्ति के लिए परमोपयोगी और लाभदायक है । इस विचार से लम्बा साँस खींचने की सबको आदत डालनी चाहिए जो लोग खूब कसकर धोती या पायजामा पहनते हैं, उन्हें चाहिए कि कमर के ऊपर का वस्त्र और छाती के ऊपर का कपड़ा ढीला पहनने का अभ्यास डालें और बूढ़ों की तरह झुककर बैठने की आदत परम हानिकारक है । इसलिये उसे भी छोड़ देना चाहिए ।

जो लोग लम्बा श्वास-प्रश्वास लेने की आदत डालना चाहते हों उन्हें नीचे लिखी रीति पर आरम्भ करना चाहिए ।

प्रातःकाल उठकर जो घर में सुभीता हो तो और नहीं तो दूसरी किसी ऐसी जगह में जहाँ स्वच्छ हवा आती हो, चित्त लेट जाओ । तकिया रखने की जरूरत नहीं है । कमर के ऊपर का कपड़ा ढीला कर दो और शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगों को ढीला छोड़ दो । हाथों को दोनों तरफ लम्बा-लम्बा फैला दो । इसके उपरान्त प्रसन्न चित्त से नाक के दोनों छेदों की राह से धीरे-धीरे भीतर को श्वास खींचो । पहले तो धीरे-धीरे पेट को भीतर खींचते हुए श्वास से भरो । पेट भर जाने के बाद फिर भी साँस खींचते रहो, और तब तक खींचो जब तक कि छाती भी हवा से पूरी-पूरी न भर जाय । छाती का ऊपर का भाग पूरा-पूरा भर जाने तक श्वास बार-बार खींचते रहो । इस रीति से फेफड़ों में जितनी हवा भरी जा सके उतनी भरो । इसके उपरान्त फिर नाक के छेदों से धीरे-धीरे फेफड़ों में भरी हुई वायु को पूरा-पूरा बाहर निकालो । यह श्वास लेने और निकालने की क्रिया पाँच मिनट से लेकर दस मिनट तक करो । बहुत से दुर्बल फेफड़े वाले व्यक्ति एक ही दो बार इस रीति से श्वास लेते और निकालने में हाँफ जायेंगे और व्याकुल होकर श्वास-प्रश्वास लेना बन्द कर देंगे, परन्तु इस क्रिया से हाँफने लगना ही परम लाभदायक है । अभ्यास हो जाने पर इस तरह श्वास-प्रश्वास लेना फिर परम सुगम हो जायेगा । आरम्भ में बहुत से लोगों के फेफड़े दो या तीन सेकण्ड में ही हवा से पूरे-पूरे भर जायेंगे, अर्थात् दो या तीन सेकण्ड में जितनी हवा श्वास के साथ भीतर जा सकता है उससे अधिक फेफड़ों में नहीं समा सकेगी । मगर धीरे-धीरे श्वास के द्वारा खींची गई हवा से फेफड़े भरने का समय बढ़ता जायेगा । पहले अठवाड़े में श्वास खींचकर फेफड़ों को भरने में चार सेकण्ड और खाली करने में भी चार ही सेकण्ड का समय लगाना चाहिए । दूसरे अठवाड़े में छः सेकण्ड, और चौथे में दस, इसी तरह फेफड़ों को हवा से भरने और खाली करने का समय उत्तरोत्तर बढ़ाते जाना चाहिए । शनैः-शनैः यह अभ्यास बढ़ जायेगा तो आधे मिनट तक खींची गई हवा फेफड़ों में भर सकेगी और इतना ही समय फेफड़ों को हवा से खाली करने में लगा करेगा । बहुत से बढ़े हुए अभ्यास वाले व्यक्तियों के फेफड़ों में दो मिनट तक जितनी वायु खिंच सके उतनी भरती है । इसलिये धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ाना ही मुख्य है । रात्रि को सोते समय भी यही क्रिया की जाय और दिन में जब अवकाश मिल सके तभी इसे कर लेना लाभदायक होगा । जितनी हो सके उतनी अधिक वायु फेफड़ों में जाने से और फिर फेफड़ों के पूरा-पूरा खाली होने से खून बहुत अधिक शुद्ध होता है, आरोग्य की वृद्धि होती है, बुद्धि विशुद्ध होती है, मन स्वस्थ और विचार शक्ति तीव्र होती है । इनके अतिरिक्त और भी बहुत से लाभ होते हैं ।

कसरत करने से फेफड़ों में अधिक वायु भरने का कार्य होता है । दौड़ने, कूदने और अन्यान्य प्रकार की कसरतों से भी साँस आने-जाने का काम खूब तेजी के साथ चलता है जिससे कि बहुत-सी वायु फेफड़ों में भरती और बाहर निकलती है, और शरीर का मैल बहुत कुछ बाहर निकल जाता है । इसलिये शुद्ध हवा में कसरत करना भी परम लाभदायक है ।

ऊपर कही हुई रीति से श्वास लेने और निकालने की तथा कसरत के द्वारा फेफड़ों में वायु भरने और निकालने की आदत डालने से शरीर के अनेक रोग मिट जाते हैं और नये रोग उत्पन्न होने से रुक जाते हैं ।

साँस लेने की विधि-व्यवस्था

हमारे शरीर को नित्य जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है उनका बहुत बड़ा भाग वायु द्वारा पूरा होता है । अन्न, जल द्वारा ही सब वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हों सो बात नहीं है, यद्यपि शरीर की आवश्यक वस्तुओं का एक बड़ा भाग अन्दर पहुँचता है पर सबसे बड़े भाग की पूर्ति नासिका के मार्ग से ही होती है । हिलने-डुलने की प्रतिक्रिया को ही वायु नहीं समझना चाहिए । वास्तव में वायु एक लोक है जिसमें सृष्टि के सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ सूक्ष्म रूप से भरे रहते हैं और भ्रमण करते रहते हैं । पौधे बढ़ते हैं और भूमि में वह पदार्थ न होने पर भी अपने उपयोगी तत्व स्वयमेव बढ़ाते हैं । एक खेत में कई वर्ष लगातार ईख बोई

जाय तो उस खेत में इतनी शक्कर पैदा हो जायेगी जितनी कि इस खेत के परमाणुओं में कदापि नहीं पायी जा सकती । निश्चय ही ईख के पौधे शक्कर की इतनी बड़ी मात्रा जमीन से नहीं वरन् हवा से खींचते हैं । हम आँखों से भले ही न देख सकें पर भोजन की बहुत बड़ी मात्रा वायु से लेते हैं ।

एक मनुष्य को यदि बढ़िया भोजन कराये जायें, किन्तु खराब हवा में रखा जाय तो वह दुर्बल और बीमार हो जायेगा । इसका तापर्य यह है कि वायु द्वारा जो खुराक मिलनी चाहिए थी वह उसे नहीं मिली । हममें से हर एक व्यक्ति जो स्वस्थ रहने का इच्छुक है उसे चाहिए कि स्वच्छ वायु सेवन करने का पूरा-पूरा ध्यान रखे । हमारा शरीर वायु में से निरन्तर ऐसे पदार्थ खींचता रहता है जो पाचन शक्ति को ठीक रखें और स्फूर्ति प्रदान करें । यदि आप स्वच्छ वायु सेवन करने के सम्बन्ध में लापरवाही करते हैं तो स्पष्ट ही यह पाचन शक्ति और स्फूर्ति के सम्बन्ध में लापरवाही होगी ।

जहाँ आप रहें, काम करें और सोवें वह स्थान खुले हुए होने चाहिए । आर-पार हवा जाने कि लिए खिड़की और दरवाजों की समुचित व्यवस्था हो, कूड़ा कचरा गन्दगी और हानिकर वस्तुओं का आस-पास जमाव न होना चाहिए जिनके सम्पर्क से हवा विषैली हो जाय और स्वास्थ्य पर विषैला प्रभाव पड़े ।

गहरी साँस लेना इसलिये आवश्यक है कि हवा शरीर के छोटे-छोटे हिस्सों तक में पहुँच जाय फेफड़ों को पूरी कसरत करनी पड़े और रक्त का दौरा ठीक रहे । जो लोग गर्दन झुकाये आलस में पड़े रहते हैं और अधूरी एवं जल्दी-जल्दी साँस लेते हैं उनके साँस यन्त्र का कुछ भाग तो आवश्यकता से अधिक परिश्रम करता है किन्तु अधिकांश अंगों में वायु का पूरा प्रवेश नहीं हो पाता और वे उस लाभ से वंचित रह जाते हैं । नाड़ियों में उत्पन्न हुए विष का अच्छी तरह शोधन नहीं हो पाता और जहाँ-तहाँ बीमारियों के केन्द्र जमा होने लगते हैं ।

यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि सदैव मेरुदण्ड सीधा रहे, सीना उठा हुआ हो और गर्दन ऊँची रहे, क्योंकि झुककर बैठने और चलने से अगले भाग पीछे की ओर धँसकते हैं और पिछले भाग आगे की ओर तनते हैं इससे पेट और फेफड़ों पर एक प्रकार का दबाव पड़ता है और उस दबाव के कारण साँस प्रश्वास क्रिया में बाधा पहुँचती है । इसलिये सदैव सीधे बैठने और सीधे खड़े होने एवं चलने-फिरने का सदैव ध्यान रखना चाहिए वायु को समस्त शरीर में निर्बाध रूप से फैलने देने के लिए यह एक बहुत ही आवश्यक बात है ।

मुँह को बन्द रखिये और नाक से हवा लीजिए । परमात्मा ने साँस लेने के लिए ही नासिका बनाई है । उसमें बालों की छलनी लगी हुई है जो गर्द-गुबार को छानती है । इसके बाद फेफड़े तक पहुँचने में हवा को जो मंजिल तय करनी पड़ती है उसमें उसका तापमान ऐसा हो जाता है जिससे फेफड़ों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे । मुँह में ऐसी सुविधा नहीं है, मुँह द्वारा ली हुई हवा एक साथ बहुत अधिक, बिना छनी और सर्द गर्म होती है । जिससे फेफड़े पर आघात पहुँचता है और हानि की सम्भावना रहती है ।

शरीर को जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनका ४/५ भाग वायु द्वारा प्राप्त होता है इसलिये हर व्यक्ति को स्वास्थ्यप्रद वायु सेवन के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए । कारण हमारे फेफड़े छाती के दोनों ओर मधुमक्खियों के छत्ते के समान फैले हुए हैं । यह अनेक कोष्ठ-प्रकोष्ठों में विभाजित हैं और वायु को ग्रहण करना व छोड़ना इनका प्रमुख कार्य है । जिस प्रकार धोंकनी की खाल के चलाने से उसके छेद में होकर हवा निकलती है उसी प्रकार फेफड़े की क्रिया द्वारा नाक से साँस आती जाती है । रक्त की शुद्धि वायु द्वारा होती है, इसलिये फेफड़ों की अशुद्धता रक्त की अशुद्धता का कारण बन जाती है ।

साधारण तौर से साँस लेते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वायु शुद्ध और स्वच्छ हो । सील से भरी हुई, सड़ी हुई, बदबूदार, धूल मिश्रित, धुआँ भरी हुई, गन्दी, वायु में साँस लेना बीमारी को निमन्त्रण देना है । इसलिये हमारे रहने के घर और काम करने के स्थान ऐसे होने चाहिए जहाँ शुद्ध वायु मिल सके । पौधों की हरियाली के पास रहने का यही तात्पर्य है कि उनके द्वारा छोड़ी हुई प्राणप्रद वायु

को ग्रहण करें । यह बात निर्विवाद हो चुकी है कि पौधे गन्दी हवा को खींचते और शुद्ध वायु छोड़ते हैं ।

धूम्रपान फेफड़ों के लिए विष का काम करता है । सिगरेट, बीड़ी, तम्बाकू, सुलफा, गाँजा, अफीम आदि का धुआँ फेफड़ों में जाकर विष उत्पन्न करता है । जिससे वे कमजोर होकर निकम्मे हो जाते हैं और रोगों के प्रवेश करने का मार्ग आसान हो जाता है ।

गहरी साँस लेना फेफड़ों का अच्छा व्यायाम है । दिन भर कठोर काम करने वाले जिनकी साँस कुछ तेज चलती है अपने फेफड़ों को स्वस्थ और सबल बनाये रहते हैं, किन्तु जिनका कार्यक्रम कुर्सी, मेज या गद्दी तकियों पर काम करने का है उनकी साँस उथली चलती है । शरीर को कष्ट न देने वाले ऐसे लोग जिन्हें आराम से पड़े रहना पसन्द है उनकी साँस गहरी कैसे हो सकती है ? हल्की साँस लेने से फेफड़े का थोड़ा-सा भाग ही काम में आता है शेष भाग निकम्मा और बेकार पड़ा रहता है । उस निकम्मे भाग में पानी बढ़ जाना, सूजन हो जाना, गाठें पड़ जाना, फैल जाना, जख्म हो जाना, अकड़ जाना, आदि कई प्रकार के रोग हो जाते हैं । क्षय और दमा के कीटाणु इन बेकार जगहों में घुस बैठते हैं और धीरे-धीरे पनपकर अपना कब्जा जमा लेते हैं । अधूरे फेफड़ों में होकर छनी हुई हवा पूरी तरह शुद्ध नहीं हो पाती और यह सब जानते हैं कि अशुद्ध वायु के संसर्ग से रक्त भी अशुद्ध हो जाता है । गहरी साँस लेना इन सब रोगों की जड़ को न जमने देना और फेफड़ों को बलवान बनाना है ।

गहरी साँस लेने का अभ्यास डालना बहुत हितकर है । प्रातःकाल स्वच्छ और हरियाली युक्त स्थानों में वायुसेवन के लिए जाना फेफड़ों का अच्छा व्यायाम है । सूर्योदय से पूर्व टहलने के लिए चल पड़ना चाहिए और कम से कम दो मील जाकर लौटना चाहिए । कमर झुकाकर मुर्दे की तरह पाँव रखते हुए किसी प्रकार इस बेगार को भुगतते रहने से कुछ लाभ नहीं होगा । कमर को सीधी करके, छाती को सीधी तनी हुई रखकर घण्टे में कम से कम चार-पाँच मील की चाल से चलना चाहिए । दोनों हाथों को चलने के साथ आगे-पीछे खूब झुलाते जाना चाहिए जिससे छाती, फेफड़े और स्नायु-जाल की कसरत होती चले । चलने की गति एक-सी रखना उचित है । दो फर्लांग तेज चले दो फर्लांग बिल्कुल धीमे पड़ गए यह ठीक नहीं । समय या स्थानाभाव के कारण अधिक दूर टहलना न हो सके तो कुछ अधिक तेज चाल से सरपट चलना चाहिए । इसे दौड़ना कह सकते हैं पर बेतहाशा इस प्रकार दौड़ना जिससे दम फूल जाय । लाभ प्रद न होगा । आठ मिनट प्रति मील की गति से सरपट चाल का दौड़ना ही पर्याप्त है । जब साँस तेज चलने लगे और शरीर पर पसीना आ जाय तो दौड़ना बन्द कर देना चाहिए । दौड़ते समय मुट्ठी बाँधकर हाथों को छाती के सामने रखा जाता है ।

हमेशा साँस नाक से लेनी चाहिए । नाक के बालों द्वारा हवा छनती है और गर्द-गुबार नाक के बालों में लगा रह जाता है तब वह आगे चलती है । साँस नली में होकर फेफड़ों तक जाते-जाते हवा का तापमान ठीक हो जाता है, किन्तु मुँह से साँस लेने पर वह सीधी और बिना छनी हुई फेफड़ों में पहुँचती है और जैसी भी वह सर्द-गर्म होती है वैसी ही जा घुसती है । इस सर्दी-गर्मी के असर से फेफड़ों को हानि पहुँचती है । ठहरने या दौड़ने के समय तो मुँह से साँस लेना और भी बुरा है, क्योंकि साँस की तेजी के कारण वायु फेफड़े में बहुत जल्द आती-जाती है। ऐसी दशा में तो तापमान ठीक करने के लिए बिल्कुल ही थोड़ा समय मिलता है । मुँह से साँस लेने वालों को अक्सर जुकाम, छाती का दर्द, खाँसी आदि रोग आ घेरते हैं । जल्दी-जल्दी टहलते समय बातचीत करना भी वर्जित है ।

अब एक साधारण प्राणायाम बताते हैं । प्रातःकाल समतल भूमि पर कुछ बिछाकर पालती मारकर बैठ जाइये, हाथों को गोद में रख लीजिए और कमर, छाती, गर्दन तथा सिर को लाठी की तरह एक सीध में कर लीजिए कोई भाग आगे पीछे की ओर झुका हुआ न रहे । अब नाक द्वारा जोर-जोर से जल्दी-जल्दी साँस लेना आरम्भ कीजिए । यह श्वास-क्रिया, उथली न हो वरन् इतनी गहरी हो कि सारे फेफड़े में पहुँच जाय । इस बात को ध्यान में रख कर तब जल्दी करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए । आरम्भ में अधिक जल्दी न कर सकें तो कोई हर्ज नहीं, पर साँस पूरी लेनी चाहिए । अधिक जल्दी की धुन में उथली साँसें लेना ठीक नहीं । यह श्वास-क्रिया तब तक करनी

चाहिए जब तक साँस की गति खुद तेज न हो जाय पहले दिन गिन लेना चाहिए कि कितनी साँसों में दम फूलता है । इसके बाद प्रतिदिन पाँच-पाँच साँसें बढ़ाते जाना चाहिए । साधारणतः एक सौ साँसें लेना काफी है । अभ्यास बढ़ने पर अधिक भी बढ़ा सकते हैं । बैठने की ठीक-ठीक सुविधा न हो तो सीधे खड़े होकर भी इस क्रिया को कर सकते हैं । कर चुकने के बाद कुछ मिनट धीरे-धीरे टहलना चाहिए किसी दूसरे कार्य को तब आरम्भ किया जाय जब तक साँस की गति स्वाभाविक हो जाय ।

अनुभव करने पर फेफड़ों के लिए यह सरल प्राणायाम बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ है ।

प्राण प्रवाह के सुनियोजन से चिरयौवन

शरीर की स्वस्थता लम्बे समय तक बनाये रख कर लम्बी आयु प्राप्त कर सकना सम्भव है क्या ? यह प्रश्न इन दिनों विज्ञान जगत में चुनौतीपूर्ण बना हुआ है । विज्ञानवेत्ता विविध विधि द्वारा इसी एक गुत्थी को सुलझाने में प्रयत्नशील हैं । हिमालयवासी दीर्घजीवी योगियों का उदाहरण हमारे समक्ष है, पर देखना यह है कि सर्वसाधारण के लिए भी यह सम्भव है क्या ?

वैज्ञानिक इस सन्दर्भ में पूर्ण आशावादी हैं, पर उनका एक ही असमंजस है कि भौतिकवाद का समर्थन करने वाला विज्ञान क्या कोई ऐसी प्रणाली ढूँढ़ पाने में सफल हो सकेगा, जो सक्रिय जीवन जीते हुए दीर्घायु प्रदान कर सके । निष्क्रिय बन कर लम्बी आयु प्राप्त करने का कोई तुक नहीं । यों इस सम्बन्ध में विज्ञान का सुनिश्चित दावा है कि इसके माध्यम से मनुष्य को वर्षों जीवित रखा जा सकता है । जीव जगत में इसके कई उदाहरण भी देखने को मिलते हैं । ध्रुवीय भालू प्रतिकूल मौसम आने पर स्वयं को बर्फ में धँसा लेते हैं और महीनों बिना खाये-पिये उस स्थिति में पड़े रहते हैं । परिस्थिति जब अनुकूल बनती है, तो वे अपनी निष्क्रिया त्यागकर बाहर निकल आते हैं । ऐसा ही एक अन्य प्राणी है—'स्लोथ' । पेड़ में निवास करने वाला भालू के आकार का यह जन्तु इतना आलसी होता है कि भोजन ढूँढ़ने के कष्ट से बचने के लिए लम्बे समय तक वृक्ष की शाखों पर उल्टा टँगा रहता है । अनेक बार यह अवधि इतनी लम्बी होती है कि उस पर काई जम जाती है और पूरा शरीर उससे ढँक जाता है । उसके इसी स्वभाव के कारण अंग्रेजी साहित्य में 'स्लोथ' शब्द आलस्य का पर्याय बन गया है । इसी प्रकार के कितने ही ऐसे जन्तु हैं, जो निष्क्रिय रहते हुए लम्बे समय तक जीवित बने रहते हैं । इसी आधार पर वैज्ञानिकों ने यह दावा प्रस्तुत किया है कि यदि मनुष्य को बर्फ में अतिन्यून तापमान पर जमा दिया जाय, तो उसे भी वर्षों जिन्दा रखा जा सकता है । लम्बी निद्रा के बाद जब भी जगाना अभीष्ट हो, तो तापक्रम बढ़ा देने मात्र से उसके अंग—अवयव सक्रिय हो उठेंगे और व्यक्ति जीवित हो उठेगा । आजकल इस विधि का प्रयोग मानवी अंगों को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिए बहुतायत से किया जा रहा है । मनुष्य को चिरायु बनाने के लिए यदि विज्ञान के पास यही एकमात्र उपाय है, तो फिर इसे निरर्थक ही समझना चाहिए, क्योंकि जीवन का उद्देश्य मात्र वर्ष गिनाना अथवा पूरे करना नहीं है, वरन् उसे समर्थ-सशक्त बनाये रखना भी है । विज्ञान यदि इस प्रयोजन में सहायक नहीं हो सकता, तो फिर उसके द्वारा प्रदत्त दीर्घ जीवन बेकार है ।

यों शरीरशास्त्रियों ने आयुष्य के 'एजींग' प्रक्रिया रोकने के क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान भी किए हैं और इस तथ्य का पता लगाया है कि असमय ही मरण क्यों आ धमकता है ? इस सम्बन्ध में जैव रसायनज्ञों का कहना है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ शरीर में ऑक्सीजन की खपत कम होती जाती है, जिससे शरीर कोशाएँ मरने और अक्षम होने लगती हैं । समय बीतने के साथ-साथ यह क्रिया तेज होती जाती है, जिससे वार्धक्य और अकाल मरण आ उपस्थित होते हैं । इसका कारण बताते हुए वैज्ञानिक कहते हैं कि इसमें प्रमुख भूमिका पिट्यूटरी ग्रन्थि के स्राव की है । इन दिनों इसके स्राव में एक विशेष प्रकार के रसायन की अधिकता पायी जाती है, जिसकी मात्रा बढ़ते पर्यावरण-प्रदूषण से उत्पन्न मानसिक विक्षोभ से और अधिक बढ़ जाती है । स्थिति तब और गम्भीर हो जाती है, जब व्यक्ति स्वयं भी मानसिक अस्थिरता की अवस्था से गुजर रहा हो । इन दोनों का संयुक्त

प्रभाव इतना घातक होता है कि व्यक्ति देखते-देखते बूढ़ा हो जाता है और फिर मौत भी अपनी दस्तक देने लगती है । मूर्धन्य जैव रसायनवेत्ता एलन पोलॉक का कहना है कि यदि अन्तःस्रावी तन्त्र पर नियन्त्रण किया जा सके, तो न केवल एण्डोक्राइन रस नियमित नियन्त्रित बने रहते हैं, वरन् शरीर प्रतिरक्षा तन्त्र भी समर्थ-सशक्त बना रहता है । उनके अनुसार वय बढ़ाने की प्रक्रिया में थायमस ग्रन्थि का भी महत्त्वपूर्ण हाथ है । वे कहते हैं कि इन दिनों अचिंत्य चिन्तन की बढ़ती मात्रा के कारण इस ग्लैंड पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है, फलतः धीरे-धीरे वह सिकुड़ने लगती है और अन्त में अपने वास्तविक आकार का १/१०वाँ हिस्सा ही रह जाती है । आकार घटने के साथ-साथ उसकी सक्रियता भी कम होने लगती है, जिससे सम्पूर्ण प्रतिरक्षा प्रणाली प्रभावित होती और कमजोर पड़ जाती है । कमजोर अवयव 'बायोलॉजिकल एज' को बढ़ा देते हैं, जब कि यथार्थ में 'क्रोनोलॉजिकल एज' उतनी होती नहीं । दूसरे शब्दों में कहें तो यही बुढ़ापा है ।

इसके अतिरिक्त वार्धक्य के कितने ही अन्य कारण भी विशेषज्ञों ने गिनाये हैं । फ्लोरिडा विश्वविद्यालय के शरीर विज्ञानी लियोनार्ड हेफ्लिक के मतानुसार प्रत्येक शरीर-कोष का अपना एक 'जेनेटिक क्लाक' होता है और हर कोशिका का विभाजन अधिकतम ५० बार होता है । बुढ़ापे की दशा में कोशिका-विभाजन के बीच का अन्तराल घट जाता है, और जो क्रिया न्यूनतम सौ वर्ष में सम्पूर्ण होना चाहिए, वह आधी आयु आते-आते पूरी हो जाती है । इसके उपरान्त कोशिकाओं के विभाजन और नवीनीकरण की गुंजाइश बिल्कुल समाप्त हो जाने के कारण देह अक्षम बनती और ऐसा होते-होते मर जाती है । वे कहते हैं कि यदि कोशाविभाजन के बीच की अवधि को लम्बा किया जा सके, तो जिस अनुपात में वह अवधि बढ़ेगी, उसी अनुपात में उम्र को बढ़ा पाना सम्भव हो सकेगा । योगियों में दीर्घायुष्य की जो घटना घटती देखी जाती है, उसके पीछे यही रहस्य है । सर्वसाधारण में जो प्रक्रिया ५० वर्ष में पूरी हो जाती है, उसके पूर्ण होने में योगियों में सैकड़ों वर्ष का समय लग जाता है ।

एक अन्य कारण का उल्लेख करते हुए विशेषज्ञ कहते हैं कि मुक्त मूलकों का भी वृद्धावस्था उपस्थित करने में बहुत बड़ा योगदान होता है । इतने पर भी यह निमित्त गौण है ।

शरीरवेत्ताओं ने असामयिक जरा-मरण के तीन प्रमुख कारण बताये हैं । ये हैं—मस्तिष्क, अन्तःस्रावी प्रणाली और प्रतिरक्षा तन्त्र । इनमें से मस्तिष्क सम्पूर्ण शरीर तन्त्र का केन्द्रीय संस्थान है । इससे काया और उसकी विभिन्न गतिविधियाँ नियन्त्रित होती हैं । बहुमूल्य रसों का उत्पादन करना एण्डोक्राइन सिस्टम का काम है, जबकि शरीर स्वस्थता की देख-रेख इम्यून सिस्टम (जीवनी शक्ति) के लिए उत्तरदायी संस्थान के जिम्मे है । इनमें से किसी के भी असन्तुलित होने पर अस्वस्थता और जीर्णता देखते-देखते पैर जमा लेती एवं व्यक्ति को मौत के मुँह में धकेल देती है । इनसे कुछ अधिक गहराई में उतरने पर ज्ञात होता है कि उपरोक्त संस्थान वस्तुतः स्थूल निमित्त मात्र है । सूक्ष्म कारण तो इनके मूल में निवास करने वाले 'जीन्स' हैं, जो सम्पूर्ण शरीर-प्रक्रिया को संचालित करते हैं । वैज्ञानिकों का विश्वास है कि किसी प्रकार यदि इन्हें नियन्त्रित कर लिया जाय, तो काया की समस्त गतिविधियाँ स्वतः नियमित हो जायेंगी । पिछले दिनों इस दिशा में अनेक प्रयास हुए हैं और 'जेनेटिक इंजीनियरिंग' नामक विज्ञान की एक अभिनव शाखा का विकास भी हुआ है, किन्तु इस विज्ञान की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि कायागत प्रत्येक गड़बड़ी को मिटाने के लिए उससे सम्बद्ध हर एक जीन की मरम्मत करनी पड़ती है । यदि किसी शरीर में पचास प्रकार की गड़बड़ियाँ हों, तो लगभग उतने ही जीन्स में सुधार की प्रक्रिया सम्पन्न करनी पड़ेगी । व्यावहारिक दृष्टि से यह अत्यन्त दुरूह कार्य है । ऐसी दशा में वैज्ञानिकों को अब यह स्पष्ट भासने लगा है कि जीन्स भी किसी वृहद् वृक्ष के सूक्ष्म शाखा-पल्लव मात्र हैं । जड़ कहीं अन्यत्र है, वह जड़ जिसके सींचने भर से सम्पूर्ण तरुवर स्वस्थ-समुन्नत होकर लहलहाने लगे । अब वे इसी मूल की तलाश में हैं ।

अध्यात्म विज्ञानी तो बहुत पहले से ही इस बात का प्रतिपादन करते रहे हैं कि शरीर-स्वस्थता के मूल में प्राण-चेतना की भूमिका प्रमुख है । देह जब अकाल जराग्रस्त होती है, तब इसी का अस्त-व्यस्त प्रवाह कारणभूत होता है । विज्ञजन जानते हैं कि शरीर में ७२ हजार सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं । इनमें से ७२ प्रमुख

हैं । इनमें भी दस विशेष महत्त्व की हैं । उक्त नाड़ियों में जब भी प्राण-प्रवाह में व्यतिक्रम पैदा होता है, तो रोग-शोकों का जन्म होता है । तत्वज्ञ इस बात से भली-भाँति परिचित हैं कि इन नाड़ियों में से अधिकांश का सम्बन्ध पैर के तलवों और हाथ की हथेलियों से है । शारीरिक श्रम के दौरान इनके बार-बार दबने से नाड़ियों में प्राण का आवागमन अप्रतिहत रूप से जारी रहता है, जिससे स्वास्थ्य भी अक्षुण्ण बना रहता है । पुराने जमाने में लोग इस विज्ञान से परिचित थे, इसलिये परिश्रम करने से जी नहीं चुराते थे और अपना काम स्वयं अपने हाथों से करने में रुचि रखते थे ।

आज जबकि सुविधा-सम्वर्धन की प्रवृत्ति समाज में बढ़ी है, लोग अपना काम दूसरों के द्वारा कराने में रुचि रखते हैं । बढ़ती दौलत के कारण व्यक्ति 'श्रम के बदले पैसा' की नीति अपनाकर श्रम खरीदते और स्वयं आरामतलब बनते जाते हैं । इन दिनों यह नीति समाज में अत्यधिक परिमाण में बढ़ी है । लोग इसके कारण अधिकाधिक आरामतलबी की ओर उन्मुख हुए हैं । श्रम का माद्दा घटने से शरीर में जो प्राण-प्रवाह पहले आसानी से होता रहता था, अब उसमें व्यवधान पैदा होने लगा है । अवयवों को उपयुक्त मात्रा में आवश्यक प्राण न मिले, तो उनका दुर्बल होना स्वाभाविक है । आजकल के जर्जर मनुष्य की जर्जर काया का यही प्रधान कारण है ।

इसके लिए श्रम की महत्ता समझी जानी चाहिए और प्रत्येक को प्रतिदिन उपयुक्त परिमाण में इतना परिश्रम करना चाहिए, ताकि प्राण-प्रवाह सन्तुलित बना रहे । इसके अतिरिक्त सात्विक आहार भी इसके प्रवाह को सन्तुलित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है । "अन्नो वै मनः" कहकर आप्तजनों ने इसी तथ्य को प्रतिपादित किया है । अन्न से मन बनता है । अन्न यदि सात्विक और नीतिपूर्वक उपार्जित हो, तो उससे विनिर्मित होने वाला मन भी उदात्त और उत्कृष्ट स्तर का होता है । मन यदि श्रेष्ठ हो, तो शरीर के स्वस्थ बनने में भी कोई अड़चन पैदा नहीं होती । इसके अलावा प्राणायाम प्रक्रिया प्राण के संचार में सर्वाधिक सहयोगी साबित होती है । प्राण-प्रवाह से सम्बन्धित इस तथ्यों को ध्यान में रखा जाय, तो कोई कारण नहीं कि हम स्वस्थ और दीर्घायु जीवन न जी सकें । शरीरशास्त्रियों की खोज अपने स्तर पर सही है, पर वह अपूर्ण है । हम सम्पूर्ण सत्य को समझें । जड़ की जगह पत्र-पल्लवों को न सींचें । ऐसा यदि हो सका, तो अक्षुण्ण स्वास्थ्य और चिरायुष्य निःसन्देह प्राप्त होकर रहेगा, इसमें दो मत नहीं ।

सही ढंग से साँस लें निरोग बनें

शरीर में प्राण का एक छोटा-सा अंश कार्यरत है । प्रचुर परिमाण में यह अन्तरिक्ष की वायु में घुला-मिला है । मनुष्य के चारों ओर सूक्ष्म वातावरण में प्राण का सागर लहलहा रहा है जिसे मनचाही मात्रा में विशेष पद्धति द्वारा खींचा और अपने भीतर भरा-अवधारित किया जा सकता है । सामान्य श्वसन-प्रक्रिया द्वारा जो ऑक्सीजन भीतर आती है उसमें प्राण का उतना अंश ही विद्यमान होता है जिससे किसी तरह शरीर का व्यापार चल सके । अधिक परिमाण में करतलगत करने के लिए वह वैज्ञानिक विधि अपनानी पड़ती है जिसे योग साधनाओं में 'प्राणायाम' कहा गया है । उसका एक छोटा प्रयोजन 'डीप ब्रीदिंग' अर्थात् गहरी साँस लेने से भी पूरा होता है ।

शरीर के अवयवों पर नियन्त्रण करने वाले अचेतन मन की दक्षता और व्यावहारिक जीवन की समस्यायें सुलझाने वाले चेतन मस्तिष्क का समुचित परिपोषण प्रधानतया साँस पर निर्भर रहता है । उसकी उपेक्षा करके मानसिक विकास की समग्रता सम्भव नहीं हो सकती । अतः जितना प्रयास अध्ययन, अनुभव, सम्पर्क द्वारा ज्ञान अर्जन के लिए किया जाता है, उतना ही इस बात के लिए भी किया जाना चाहिए कि शरीर और मन की समर्थता-स्वच्छता बनाये रखने की पृष्ठभूमि के प्रति आवश्यक सतर्कता बरती जाती रहे । यह कार्य स्वच्छ वातावरण में रहने और गहरी साँस लेने का अभ्यास डालने पर ही हो सकता है ।

वस्तुतः कायकलेवर का समूचा क्रिया संचार उनके निमित्त बने हुए अंग-अवयवों द्वारा होता है, पर यह

अंग भी मस्तिष्क तन्त्र के अधीन काम करते हैं । अचेतन मन के नियन्त्रण में हमारा पाचनतन्त्र, रक्त संचालन, श्वास-प्रश्वास निमेष-उन्मेष, आकुंचन-प्रकुंचन आदि की वे क्रियाएँ होती रहती हैं जिन्हें 'स्वसंचालित' कहते हैं । चेतन मस्तिष्क कल्पना, बुद्धि, लोक-व्यवहार का अर्जन-अभिवर्धन करके अपनी बौद्धिक प्रतिभा अर्जित करता है ।

मस्तिष्क द्वारा विद्युतीय संचालन शरीर का होता है । रक्त सप्लाई हृदय से होती है, किन्तु मस्तिष्कीय क्षेत्र में जो कल्पना तरंगें उठती रहती हैं, उसकी क्षमता ब्रह्मरन्ध्र से उठती है । इसी के इर्द-गिर्द बुद्धि, विवेचना, सूझ-बूझ आदि के भी केन्द्र हैं । समग्र मस्तिष्क एक ऐसी मजबूत पिटारी-खोपड़ी के भीतर कैद है कि वहाँ किसी प्रकार का दबाव नहीं पहुँचता । जिस प्रकार शरीर के अंग-प्रत्यंगों को व्यायाम द्वारा सक्रिय बनाया जाता है, उस प्रकार का उठा-पटक वाला व्यायाम मस्तिष्क का नहीं हो सकता । फिर उस क्षेत्र की गन्दगी साफ करने निष्क्रियता को सक्रियता में बदलने और चेतनात्मक आहार उपलब्ध कराने का प्रयोजन किस प्रकार पूरा हो ?

यह कार्य श्वास-प्रश्वास द्वारा होता है । नाक से भीतर घुसते ही साँस सर्वप्रथम मस्तिष्क में प्रवेश करती है । इसलिये उसका सबसे अधिक दबाव वहीं होता है । इसके उपरान्त ही वह फेफड़ों में प्रवेश करती और वहाँ से समस्त शरीर को वितरित होती है । जीवकोशों को रक्त, वायु और विद्युत इन तीनों की ही आवश्यकता पड़ती है । इसकी पूर्ति जितनी अच्छी तरह होती रहती है, उसी अनुपात में घटक सजीव होते हैं, सुदृढ़ रहते हैं और अपने निर्धारित क्रियाकलाप ठीक प्रकार कर पाते हैं । इन तीनों में से एक ही भी कमी पड़ जाय तो दुर्बल, निस्तेज एवं रुग्ण रहने लगते हैं । इसलिये आवश्यक है कि घटकों की आवश्यक सप्लाई रुके नहीं और उनकी स्थिति समर्थता सम्पन्न बनी रहे ।

इस हेतु रक्त को शुद्ध और पर्याप्त मात्रा में शरीर के अन्दर बनाये रखने के लिए भोजन का सही और उसके पचाने के लिए परिश्रम की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए । दूसरी आवश्यकता पूर्ति के लिए साँस को उथला नहीं, गहरा लिया जाना चाहिए, ताकि उसका वेग और अनुपात फेफड़ों एवं जीवकोशों को समुचित मात्रा में उपलब्ध होता रहे । पूरी साँस लेना जितना फेफड़ों के समस्त परिकर को सुसंचालित रखने के लिए आवश्यक है, उतना ही घटकों के पोषण के लिए भी । साथ ही मस्तिष्क स्वच्छता और सक्षमता की बात भी गहरी साँस से ही बनती है । यदि उससे उथली लिया जाय तो समूचे शरीर को निर्बल होना पड़ेगा । इसलिये शरीर विद्या के विशेषज्ञों ने गहरी साँस लेने पर जोर दिया है । गहरी साँस से मतलब है—फेफड़ों से लेकर पेट तक के समूचे धड़भाग का अधिक से अधिक फैलना और सिकुड़ना । पूरी साँस इसी को कहते हैं ।

यह क्रम नियमित रूप से चलता रहे तो काम चले अन्यथा दौड़ने में हाँफने लगने और आलस में पड़े रहने के व्यतिक्रम से काम नहीं बनता । वह तो ज्वार-भाटे जैसी स्थिति हो जाती है । काम तो नदी जैसे सामान्य से, प्रवाह से चलता है । तैरना और नाव चलाना सुव्यवस्थित प्रवाह से ही बन पड़ता है । इसलिये संयोगवश गहरी उथली साँस चलने की अव्यवस्था को दूर करके नियमित रूप से गहरी साँस लेने का अभ्यास करना चाहिए । इसे ही शरीर शास्त्री प्राणायाम कहते हैं, जबकि यह प्राणायाम का प्रथम अभ्यास है जिसका अब तक वे इतना ही महत्त्व समझ पाये हैं और जोर देते रहे हैं कि हर व्यक्ति को गहरी साँस लेने और छोड़ने की आदत डालनी चाहिए । साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह वायु स्वच्छ हो । हरीतिमा और सूर्य-प्रकाश को छूकर आ रही हो । बन्द कमरों को सीलन और सड़न भरी हवा जिस-तिस प्रकार शरीर यात्रा का काम तो चलाती रहती है, पर उससे शक्ति और ताजगी उपलब्ध नहीं होती । अतः अन्न के सन्तुलित और जल के स्वच्छ होने की तरह शरीर में प्रवेश करने वाली वायु की स्वच्छता और पूर्णता पर भी समुचित ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है । आमतौर से इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता । साँस अपनी मर्जी से भीतर आती-जाती रहती है । वह कैसी है ? कितनी है ? इसका ध्यान दिए जाने पर भी शरीर को ऐसी क्षति पहुँचती है । जिसकी क्षतिपूर्ति मात्र दवा-दारू से नहीं हो सकती ।

जीवन में य़ों तो शरीर के सभी अंग अवयवों का अपना-अपना महत्त्व है, पर उन सब में मस्तिष्क की अपनी महत्ता है । विचार तन्त्र ही जीवन की दिशाधारा विनिर्मित करता है । गुण, कर्म, स्वभाव के केन्द्र उसी क्षेत्र में हैं । इसलिये मानसिक क्रियाकलापों को सही और समुचित रखने के लिए मस्तिष्क पर साँस की सप्लाई समुचित मात्रा में होनी चाहिए । उसमें ऑक्सीजन की उतनी मात्रा घुली रहती है जितनी शरीर में सामर्थ्य और ताजगी बनाये रखने की आवश्यकता है । साँस उँथली लेने पर ऑक्सीजन की मात्रा कम पड़ जाती है और एक महत्त्वपूर्ण पोषक तत्व से वंचित रहना पड़ता है ।

ऑक्सीजन का अधिकतर भाग हृदय से भी अधिक मात्रा में मस्तिष्क में खर्च होता है क्योंकि काम भी सबसे अधिक अनुपात में और स्तर की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण करना पड़ता है । उसे रक्त से भी अधिक ऑक्सीजन या प्राण-वायु की आवश्यकता पड़ती है । हृदय की धड़कन घट जाय तो रक्तचाप घट जाता है जो दुर्बलता का अशक्ति का चिन्ह है । इसी प्रकार ऑक्सीजन युक्त साँस में जितनी कमी पड़े, उतना ही घाटा जीवन तन्त्र को उठाना पड़ेगा । विशेषतया तब जब वह मस्तिष्क को कम मात्रा में मिले और अस्वच्छ स्तर की हो । इससे मस्तिष्कीय क्षमता घटती है । चिन्तन भोंडा और भोंथरा हो जाता है । दिनचर्या के ढर्रे वाले कामों में ही समझ काम देती है । सूक्ष्म चिन्तन, समझदारी, दूरदर्शिता, सूझबूझ जैसा विशेषताएँ कम पड़ जाती हैं ।

इस सन्दर्भ में चिकित्सा विज्ञानियों ने गहन अनुसन्धान किए हैं । उनके नवीनतम शोध निष्कर्षों के अनुसार श्वास-प्रश्वास शरीर की एक ऐसी जटिल, किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जो विभिन्न तन्त्रों एवं उनकी गतिविधियों पर सीधा प्रभाव डालती है । साँस लेने की शैली पर भी बहुत कुछ स्वास्थ्य एवं आरोग्य निर्भर करता है । श्वसन मस्तिष्क के ऐच्छिक तथा अनैच्छिक क्रियाओं के बीच सम्पर्क सूत्र भी स्थापित करता है । अन्य शारीरिक क्रियाओं की तरह उसका नियमन नियन्त्रण तो तन्त्रिका तन्त्र द्वारा होता है पर तन्त्रिका द्वारा नियन्त्रित उन समस्त क्रियाओं में से श्वसन की क्रिया ही ऐसी है जिसमें व्यक्ति स्वयं भी अपना चेतनात्मक नियन्त्रण रख सकता तथा उसमें समय-समय पर परिवर्तन ला सकता है । प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा इस एक तन्त्र का नियन्त्रण सीखकर शरीर के अन्य तन्त्रों पर भी नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है जिसमें मस्तिष्कीय तरंग तन्त्र, हारमोन स्राव, चयापचय क्रियाएँ आदि मुख्य हैं ।

श्वसन की सामान्य प्रक्रिया में नासा के स्वर बारी-बारी में बदलते रहते हैं, जिसे नासा चक्र कहा जाता है । भारतीय अध्यात्म योग की यह चिर पुरातन मान्यता है कि दाएँ-बाएँ स्वरों की गति मनुष्य के स्वभाव एवं प्रकृति को प्रभावित करती है । शारीरिक स्वास्थ्य ही नहीं, मानसिक सन्तुलन के लिए भी दोनों स्वरों का ताल-मेल आवश्यक है और यह प्रक्रिया प्राणायाम द्वारा ही नियन्त्रित हो पाती है । प्राणायाम के इस दाएँ-बाएँ स्वर सिद्धान्त की वैज्ञानिक मान्यता को आज के विज्ञानी भी उपयोगी ठहराने लगे हैं । इस सम्बन्ध में बुखारेस्ट-रोमानिया के मूर्धन्य चिकित्सा वैज्ञानिक डॉ. आई. एन. रिंग एवं डलहौजी यूनिवर्सिटी नोवास्कोटिया के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रेमण्ड क्लेन तथा रोजीन आरमिटेज ने महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं । उनका निष्कर्ष है कि श्वास लेने की प्रक्रिया का मस्तिष्कीय क्रिया-प्रणाली से सीधा सम्बन्ध है ।

श्वसन-शैली बदलने पर मस्तिष्कीय क्रिया-प्रणाली में किस प्रकार का परिवर्तन होता है और अन्ततः सम्पूर्ण फिजियोलॉजिकल एवं साइकोलॉजिकल क्रियाकलाप पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इसका उत्तर जानने के लिए पेंसिलवानिया के वैज्ञानिक अनुसन्धानरत हैं । उनका मत है कि विभिन प्रकार की श्वसन शैलियों में सबसे उत्तम एवं लाभदायक प्रणाली 'डायफ्रामेटिक' श्वसन की है । इसमें श्वसन के समय हृदय के नीचे स्थित डायफ्राम पर जोर डाला जाता है । नवजात अवस्था में शिशु इसी विधि द्वारा साँस लेते हैं, फलतः उनका शारीरिक, मानसिक विकास भली प्रकार होता रहता है, पर ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता है, इस विधि से साँस लेने की प्रवृत्ति घटती जाती है, परिणामस्वरूप रुग्णता भी बढ़ती है ।

सुविख्यात मनोविज्ञानी डॉ. अलेक्जेण्डर लोवेन का कहना है कि श्वसन जितना गहरा होगा, भावनाओं को उतना ही अधिक प्रभावित करेगा । वे अपनी मानसोपचार पद्धति में साँस सम्बन्धी व्यायामों का प्रयोग करते हैं । श्वसन प्रक्रिया का भावनाओं से सम्बन्ध जानने के लिए कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी के लेजली पोरटर

न्यूरोसायकियेट्रिक इन्स्टीट्यूट में विभिन्न प्रकार के प्रयोग परीक्षण किए गए । इसमें शोधरत वैज्ञानिक जे. वी. हार्ट तथा वी. टिम्सन्स ने अपने प्रयोग परीक्षणों से यह सिद्ध कर दिखाया है कि श्वसन तथा मस्तिष्कीय तरंगें परस्पर सम्बद्ध हैं । उन्हें निष्कर्ष निकाला है । कि गहरे श्वसन की स्थिति में जब लोग शैथिल्यावस्था में रहते हैं तो उस समय अल्फा तरंगों की अधिकता रहती है, किन्तु जब व्यक्ति उथली और तेज साँस ले रहा होता है तो इस तंरग की न्यूनता पायी जाती है । एबडोमिनल ब्रीदिंग में अल्फा तरंगें अधिक पायी जाती हैं, जब थौरेसिक में कम । इसी तरह डॉ. रुडोल्फ वैलेन्राइन ने अपने अनकों प्रयोगों के उपरान्त विश्वासपूर्वक घोषणा की है कि श्वसन प्रक्रिया मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक दशाओं-दक्षताओं से सीधे सम्बद्ध हैं । यदि वह सही है और श्वसन पर ऐच्छिक नियन्त्रण सम्भव हो तो विभिन्न प्रकार के शारीरिक मानसिक रोगों एवं व्यतिरेकों को ठीक किया जा सकता है ।

हारवर्डमोर्डकल स्कूल के सुप्रसिद्ध चिकित्सा विज्ञानी डॉ. हरवर्ड वेनसन ने अपनी कृति 'दि रिलैक्सेशन रेस्पोन्स' में कहा है कि मनुष्य की फिजियोलॉजिकल क्रियाओं में जो भावनाओं से सम्बद्ध है, उचित श्वसन पद्धति द्वारा उन पर नियन्त्रण पाना सम्भव है । डीप ब्रीदिंग-गहरी साँस द्वारा तो प्राण सम्पन्नता का मात्र एक छोटा-सा प्रयोजन ही पूरा होता है, पर विशिष्ट प्राणायामों द्वारा उन क्रियाओं पर नियन्त्रण करना भी सम्भव है जो कभी चेतनात्मक नियन्त्रण के परे की बात समझी जाती थी । गहरी साँसों एवं प्राणायाम का अभ्यास बहुत दिनों में हो पाता है इसलिये उस ओर समुचित ध्यान रखना और प्रयत्नशील रहना हमारी दिनचर्या का आवश्यक अंग होना चाहिए ।

प्राणायाम : लय-ताल युक्त श्वास प्रक्रिया

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राण-तत्व ही हमारी स्थिति, गति एवं क्रिया का आधार है । उसी समष्टि व्यापी प्रखर तत्व को ब्रह्माग्नि कहा जाता है । व्यष्टि में समाहित उसी प्राणसत्ता को आत्माग्नि कहा जाता है । व्यष्टि से समष्टि तक, पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक यही एक तत्व लघु और विभु—असंख्य रूपों में गतिशीलता को जन्म दे रहा है । उसी को स्फुरणाएँ स्तर-भेद एवं अपभेद से भिन्न-भिन्न नाम धारण करती तथा भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं और परिणामों को जन्म देती हैं । उसके बिना अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती । अस्तित्व या स्थिति और गति दोनों का आधार यही प्राण-तत्व है ।

सृष्टि का अस्तित्व गति में है । स्फुरणा प्रत्येक वस्तु में है । छोटे से छोटे परमाणु से लेकर ग्रह, नक्षत्र, सूर्य सभी पिण्ड पदार्थ गतिशील हैं । प्रकृति में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है । स्थिर दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं के अन्तराल में प्रचण्ड गति हो रही है । एक अणु भी यदि गतिहीन हो जाय तो सारी व्यवस्था लड़खड़ा उठेगी । घटनाएँ अलग-अलग दीखते हुए भी परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण एक सामान्य अणु की स्थिति का कुछ न कुछ प्रभाव सारे ब्रह्माण्ड के ऊपर पड़ता है । अनवरत स्फुरण से ही विश्व का व्यापार हो रहा है । पदार्थ शक्ति द्वारा संचालित है । जिसके कारण अगणित रूप एवं भेद उत्पन्न हो रहे हैं, किन्तु ये रूप एवं भेद भी स्थायी नहीं हैं । परिवर्तन की शृंखला में आकर वे भी नया रूप ग्रहण कर लेते हैं । कोई भी वस्तु नित्य एवं स्थायी नहीं है, किन्तु स्थिति, क्रिया एवं गतिशीलता का मूल तत्व स्थायी है । वही प्राण-तत्व है । परिवर्तन भी उसी की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं ।

शरीर को ही लें तो पता चलता है कि इसमें भी परमाणु अनवरत स्फुरण कर रहे हैं । थोड़े ही दिनों में पूरा शरीर परिवर्तित हो जाता है । इन सभी प्रकार के स्फुरणों में एक ही प्राण-तत्व की क्रमबद्ध ताल है जो सर्वव्यापक एवं सभी छोटे पिण्डों से लेकर ब्रह्माण्ड में कार्य कर रहा है । ग्रहों के सूर्य के चारों ओर घूमने, समुद्र के उभरने, ज्वार के उठने, भाटा के बैठने, हृदय की धड़कन, पदार्थों के परमाणुओं की फड़कन सब में इसी के क्रमबद्ध ताल का नियम कार्य कर रहा है । सूर्य किरणों का निस्सारण, जलवृष्टि सभी उसके अन्तर्गत आते हैं । मानव शरीर भी प्राण-तत्व के ताल-नियम के वशवर्ती उसी प्रकार है, जिस तरह ग्रहों का सूर्य के चारों ओर घूमना ।

इस प्राण-तत्व की मात्रा और चेतना जिन पिण्डों में अपेक्षाकृत अधिक और उन्नत स्तर की होती है, उसे प्राणी कहा जाता है । मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ एवं समर्थ इसलिये है कि उसमें प्राणतत्व का औरों की अपेक्षा बाहुल्य रहता है ।

सजीवता, प्रफुल्लता, स्फूर्ति, सक्रियता जैसी शारीरिक विशेषताएँ प्राण-तत्व की प्रखर किरणें ही तो हैं मनस्विता, तेजस्विता, चातुर्य, दक्षता, जैसी मानसिक विभूतियाँ इसी प्राणसमुद्र की प्रचण्ड तरंगों की संज्ञाएँ हैं । कारण शरीर में अभिव्यक्त यही तत्व सहृदयता, करुणा, कर्तव्य-निष्ठा, संयमशीलता, तितीक्षा, श्रद्धा, सद्भावना, समस्वरता जैसी प्राण-सम्वेदनाओं को समझने वाला मनुष्य प्रकृति-नटी का प्रिय साथी बन जाता है । वह सृष्टि की सौन्दर्य प्रक्रिया और आनन्द-प्रक्रिया को समझकर उसमें अपना भी योग देता है, किन्तु इन नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति उसमें व्यवधान उत्पन्न करता है । सुन्दर सुमधुर संगीत की स्वर-लहरी के बीच कोई बेसुरा स्वर जिन्होंने सुना है और कुशल नृत्य-मण्डली की झंकृत लय-ताल के बीच कभी किसी आकस्मिक कारण से विक्षेप होते जिन्होंने देखा है, वे ही जान-बूझ सकते हैं कि ऐसी बेसुरी आवाज और ऐसा अनुचित विक्षेप कितना अप्रिय लगता है, कितने उद्वेग का कारण बनता है । प्रकृति में संव्याप्त प्राण-तत्व के लय-ताल के नियमों से अनभिज्ञ व्यक्ति भी प्रकृति नटी के ऐसे ही रूप में प्रकट होता है । प्राण वह विद्युत है जो जिस क्षेत्र में, जिस स्तर पर भी प्रयुक्त होती है, उसी में चमत्कार उत्पन्न कर देती है ।

इस प्राण-शक्ति की सक्रियता के निश्चय नियम हैं । इसकी प्रत्येक स्फुरण में लय है, ताल है । वस्तुतः सर्वत्र यह प्राण-तत्व नटराज निरन्तर नृत्य-निरत रहता है । इसके नृत्य की हर भंगिमा में लास्य है । सौन्दर्य है, रस है, भाव है, आनन्द है । प्राणों का नृत्य ही जीवन है । जीवन-शक्ति प्राण-शक्ति का ही दूसरा नाम है ।

अध्यात्म शास्त्र में प्राण-तत्व की गरिमा का भावभरा उल्लेख है । प्राण की उपासना का आग्रह किया गया है । उसका तात्पर्य इसी प्राण-तत्व की लय-तालबद्धता के नियमों को जानना और उससे लाभ उठाना है । यही प्रखर पुष्ट प्राण संकल्प बनकर प्रकट होता और सिद्ध का आधार बनता है । प्राण को आकर्षित करने में सफलता उन्हें ही मिल सकती है, जो इस लय-ताल की विधि को समझते और अपनाते हैं । योगी इसी विधि को जानकर प्राणाकर्षण द्वारा प्राण सम्वर्धन में समर्थ होते हैं ।

लय-ताल की एकतानता का चमत्कारी प्रभाव देखा जाता है । सेना के पुल पार करते समय उनके कदम के क्रमबद्ध ताल को तोड़ दिया जाता है । ऐसा न किया जाय तो उससे उत्पन्न होने वाली प्रतिध्वनि से पुल के टूटने का खतरा हो सकता है । वेला वाद्य यन्त्र पर एक स्वर को तालयुक्त बारम्बार बजाया जाय तो पुल टूट जायेगा । यह तालबद्धता की शक्ति है ।

तालयुक्त श्वास प्रक्रिया द्वारा ही अन्तरिक्ष में संव्याप्त प्राण-तत्व को अधिक मात्रा में खींचा एवं अपने अन्दर भरा जाता है । इस प्रक्रिया में जितनी दक्षता प्राप्त होती जाती है, उतनी ही सामर्थ्य भी बढ़ती जाती है । प्राणाकर्षण का विकसित रूप वह है, जिसमें श्रद्धा निष्ठा का समावेश होता है और जो प्राण-तत्व की चेतना को भी आकर्षित करने तथा धारणा करने में समर्थ होता है । उस स्थिति में वह तत्व ब्रह्म प्रेरणा बनकर भीतर आता है । यह प्राणविद्या की परिपक्व उच्चस्तरीय अवस्था है । प्राणविद्या का प्रारम्भिक अंश वह है, जो गहरे, लय-तालबद्ध श्वास-प्रश्वास के अभ्यास से आरम्भ होता है । इसमें श्रद्धा की मात्रा उतनी बढ़ी-चढ़ी नहीं रह पाती । मात्र स्वास्थ्यप्रद, स्फूर्तिदायक प्राण-शक्ति को भीतर गहराई तक खींचने और धारण करने का ही भाव रहता है । आरम्भिक अभ्यासियों के लिए इतना भी पर्याप्त है ।

हल्के और विशृंखलित श्वास-प्रश्वास से फेफड़ों तक के सारे हिस्से लाभान्वित नहीं हो पाते । इसीलिये जो लोग गहरे श्वास-प्रश्वास का पर्याप्त अभ्यास नहीं करते और न ही, सुदीर्घ श्वसन को प्रेरित करने वाला श्रम करते हैं, वे शरीर के पोषण के लिए वांछित पर्याप्त प्राण-शक्ति तक वायुमण्डल से नहीं खींच पाते और बीमार पड़ जाते हैं । इसलिये सुदीर्घ श्वास लेने योग्य परिश्रम करना, अथवा उसका नियमित अभ्यास करना स्वास्थ्य-लाभ एवं स्वास्थ्य-संरक्षण के लिए अनिवार्य है । यह शरीर-शक्ति की बात हुई ।

मनःशक्ति के अभिवर्धन के लिए प्राण-प्रक्रिया को लय-तालयुक्त रखना आवश्यक है । प्रसन्नता, उत्फुल्लता, सरसता और स्फूर्ति की प्राप्ति का यही उपाय है । इसीलिये मनःशक्ति के विकास के आकांक्षी व्यक्ति को लय-तालयुक्त श्वास-प्रक्रिया का अभ्यास अवश्य करना चाहिए । प्राणायाम की विशिष्टता भी उसके लय-तालबद्ध होने में ही है । सोऽहम् साधना प्राण-प्रक्रिया की इसी लय-तालबद्धता का विकसित रूप है । अनायास फूट पड़ने वाली गुनगुनाहट प्राण-तत्व की इसी लय-ताल की हठात अभिव्यक्ति है । साधकों और उत्कर्षशीलों को इस लय-तालबद्ध श्वास-प्रश्वास का सचेत अभ्यास करना चाहिए । श्वास-प्रश्वास की स्वयं की सामान्य गति निश्चित कर ली जाय और प्रयास किया जाय कि अधिकाधिक समय इस गति में एकतानता, समस्वरता बनी रहे । आरम्भ यहीं से किया जाता है । आगे इस अभ्यास को सूक्ष्म, उच्चस्तरीय, श्रद्धासिक्त बनाया जाता है । जिसका सर्वोत्कृष्ट रूप है सोऽहम् की सहज-साधना । उस लक्ष्य की प्राप्ति तो बाद की बात है, किन्तु प्राणतत्व का अधिकाधिक लाभ लेना चाहने वालों को लय-तालयुक्त श्वास-प्रक्रिया का अभ्यास तो आरम्भ कर ही देना चाहिए ।

लय व तालबद्ध है मानव का जीवनक्रम

जन्म से लेकर मरण तक मानव के शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्थिति में अनेकों परिवर्तन होते रहते हैं । इच्छा-आकांक्षाओं, विचारणाओं, भावनाओं के अनुरूप जीवन-व्यवहार में उतार-चढ़ाव ज्वार-भाटे की तरह सतत चलते रहते हैं । एक ही व्यक्ति दिन भर में कई प्रकार के व्यक्तित्वों की झलकी दिखाता है । कभी वह प्रसन्न रहता है, तो कभी उदास, दुःखी एवं तनावग्रस्त । कभी भावनाओं के प्रबल प्रवाह में डूबता-उतरता दीखता है तो कभी बौद्धिकता बढ़ी-चढ़ी दिखाई देती है । वैज्ञानिकों ने जीवन में आने वाले इन उतार-चढ़ावों का कारण 'बायोरिद्म' को माना है और कहा है कि यह चक्रीय जैविक परिवर्तन है जो आन्तरिक एवं बाह्य दोनों कारकों से प्रभावित होता है । उनके अनुसार यह परिवर्तन एक निश्चित चक्र के अन्तर्गत चलते रहते हैं, जिनका मानव जन्म से गहरा सम्बन्ध होता है । प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा इन्हें सुव्यवस्थित भी किया जा सकता है ।

प्रायः मनुष्य शरीर की सामान्य गतिविधियाँ लयात्मक एवं चक्रीय लक्षणों वाली होती हैं और एक निश्चित अन्तराल के बाद पुनः प्रकट होती रहती हैं । प्रसिद्ध वैज्ञानिक एफ. ए. ब्राउन ने अपनी पुस्तक द बायोलॉजिकल क्लाक में कहा है कि शरीर की समस्त अवकुंचन-प्रकुंचन क्रियाएँ तथा भूख, प्यास, निद्रा आदि लयात्मक होती हैं । विभिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधार पर भी अब यह सिद्ध हो चुका है कि कोशिका विभाजन की दर, मेटाबॉलिज्म, एनर्जी लेवल, ब्लड सेल काउन्ट, ब्लड शुगर लेवल, हीमोग्लोबिन का स्तर, पाचन अंगों तथा गुर्दों का कार्य, मस्तिष्कीय क्रिया-कलाप जैसे विभिन्न फिजियोलॉजिकल प्रक्रियाएँ लयबद्ध तरीके से चलती हैं । इसकी अधिक स्पष्ट व्याख्या करते हुए 'रिद्मिक एक्टीविटी इन एनीमल फिजियोलॉजी एण्ड विहेवियर' नामक अपनी कृति में मूर्धन्य चिकित्सा विज्ञानी डॉ. क्लाउडस्ली थाम्पसन ने भी कहा है कि शरीर की यह एक सार्वभौमिक स्तर पर होने वाली प्रक्रिया है। उनके अनुसार मस्तिष्कीय कोशिकाओं की ध्रुवता का सेकण्ड के कुछ ही हिस्से में परिवर्तित होना, स्वस्थ हृदय का ६० से ८० बार प्रति मिनट की दर से धड़कना एवं १५ से २० बार प्रति मिनट के हिसाब से श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन आदि लयबद्ध रूप से चलते हैं । शरीर के प्रत्येक क्रिया-कलाप में नियमितता एवं समयबद्धता का समावेश है ।

बायोरिद्म मानव जीवन को कई तरह से प्रभावित करती है । 'ह्यूमन सरकैडियन रिद्म' नामक अपनी प्रसिद्ध कृति में वैज्ञानिक लेखक द्वय-आर कोनराय एवं मिल्स ने बताया है कि दिन और रात्रि के साथ इसकी महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ अन्तर्गुम्फित होती हैं । इस तरह के रिद्म को इन्होंने 'सरकैडियन' नाम से सम्बोधित किया है जो सामान्यतः २४ घण्टे अन्तराल से प्रकट होती है । इनके अनुसार काया में चुम्बकीय परिवर्तन का एक चक्र २४ घण्टे में बदल जाता है । सर्वविदित जैविक चक्रों में से निद्रा एवं जागरण का चक्र है जिनका अनुपात प्रायः १६ घण्टे जागने का एवं ८ घण्टे निद्रा का होता है । नींद भी चार से छः अवस्थाओं में पूरी

होती है । इसी मध्य प्रत्येक ६० मिनट के अन्तराल से मनुष्य स्वप्नावस्था में चला जाता है । मूर्धन्य वैज्ञानिक बर्नार्ड गिटेल्सन ने-'बायोरिद्म' नामक पुस्तक में बताया है कि मानव शरीर का तापमान प्रायः ३७ डिग्री सेंटीग्रेट या ६८ डिग्री फारनहाइट होता है, किन्तु इसमें भी सरकैडियन परिवर्तन आता रहता है । सुबह बाडी का टेम्परेचर सबसे कम होता है एवं सूर्योदय से सूर्योस्त तक क्रमशः बढ़ता जाता है और रात्रि में सबसे अधिक हो जाता है । इसी के साथ हृदय की गति में भी परिवर्तन मापा गया है यह धड़कन तीन बजे सायं तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है । उस वक्त चयापचय की दर क्रमशः कमजोर पड़ती जाती है । चार बजे सुबह इसकी दर सबसे कम होती है ।

श्री आर. कोनराय एवं मिल्स नामक उक्त दोनों वैज्ञानिकों ने विभिन्न अनुसन्धानों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि जन्म और मृत्यु का भी बायोरिद्म से घनिष्ट सम्बन्ध है । उनके अनुसार दिन या रात्रि के समय विशेष में ही यह घड़ियाँ आती हैं । मानव शिशुओं का जन्म प्रायः मध्य रात्रि से ६ बजे सुबह के मध्य होता है । सुप्रसिद्ध चिकित्सा विज्ञानी हेलवर्ग, एफ. ने भी अपनी कृति-"द ट्वेन्टी फोर आवर स्केल : ए टाइम डायमेन्सन ऑफ एडाप्टिव फन्क्शनल ऑर्गेनाइजेशन" में कहा है कि बच्चे प्रायः ४ बजे सुबह ही जन्मते हैं । उस समय जन्मदात्री का मेटाबॉलिक चक्र सब से कम होता है और वह सुस्त रहती है । उनके अनुसार जन्म की तरह मृत्यु का समय भी निर्धारित रहता है । अधिकांश लोगों की मृत्यु उषा काल या गोधूलि वेला के धुंधलके प्रकाश में अर्थात् सांध्य वेला में होती है । इन अवसरों पर जीवनी-शक्ति अधिक कमजोर होती है ।

वैज्ञानिकों का कहना है कि ग्रह-नक्षत्रों के वार्षिक चक्र से प्रभावित होने की मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । कुछ व्यक्तियों के शारीरिक वजन पर सरकैनुयल रिद्म का प्रभाव देखा गया है जिसमें वजन की कमी एवं मानसिक दबाव की अधिकता पायी गई है । इस सन्दर्भ में अमेरिकी वैज्ञानिक ई. टी. पेन्जेली एवं एस. जे. अमुण्डसेन ने महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं । इन्होंने 'एन्युअल बायोलॉजिकल क्लाक' नामक एक अनुसन्धानपूर्ण लेख प्रसिद्ध पत्रिका 'साइण्टिफिक अमेरिकन' में प्रकाशित किया है । उसके अनुसार उत्तरी गोलार्द्ध में मई एवं जून में सबसे अधिक बच्चे पैदा होते हैं । मई में जन्मे शिशुओं का वजन अन्य महीनों में पैदा होने वालों की अपेक्षा औसतन् २० ग्राम अधिक होता है । यह परिवर्तन हारमोन वृद्धि के कारण एन्युअल रिद्म के छोड़े गए प्रभाव का माना गया है । उक्त वैज्ञानिकों का कहना है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थिति ठीक इसके विपरीत होती है । न्यूजीलैण्ड की सेना में भर्ती हुए २१ हजार सैनिकों का अध्ययन करने के पश्चात उन्होंने पाया कि उनमें से अधिकतर लम्बे व्यक्ति दिसम्बर और फरवरी के मध्य में पैदा हुए थे । यह वहाँ के लिए मध्य ग्रीष्म का समय होता है ।

मूर्धन्य वैज्ञानिक आमुण्डसेन के अनुसार पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में उपरोक्त महीनों में जन्मे बच्चे दीर्घायु एवं बुद्धिमान पाये गए हैं । उत्तम स्वास्थ्य के लिए सन्तुलित आहार, विहार, व्यायाम, चिकित्सा आदि आवश्यक माने जाते हैं, किन्तु वातावरण एवं जैविक चक्र भी इसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं ।

किसी व्यक्ति विशेष के बुद्धि परीक्षण द्वारा क्षेत्र विशेष के सभी लोगों की बुद्धिलब्धता-आई. क्यू. का पता लगाना कठिन एवं सन्देह भरा होता है, किन्तु जब उस क्षेत्र के हजारों लोगों का इस प्रकार परीक्षण किया जाय तो प्राप्त निष्कर्ष में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है । अमेरिका के विख्यात मनोविज्ञानी ई. हटिंगटन ने एक ऐसा ही परीक्षण न्यूयार्क के १७ हजार छात्रों का आई. क्यू. अन्यान्य माहों में जन्मे छात्रों की अपेक्षा सबसे अधिक था । परीक्षण में उन्होंने अधिक अंक प्राप्त किए । इसका विस्तृत विवरण अपनी कृति 'सीजन ऑफ बर्थ, इट्स रिलेशन टू ह्यूमेन एबिलीटिज' में किया है ।

इसी तरह का दूसरा परीक्षण एच. नोवलाच तथा बी. पासामैनिक नामक दो मूर्धन्य चिकित्सा विज्ञानियों ने ओहियों में मानसिक रूप से अविकसित बच्चों का किया है । उससे जो तथ्य उभरकर सामने आये हैं, उनके अनुसार उनमें से अधिकांश मानसिक रूप से अविकसित बच्चों का जन्म जनवरी और फरवरी जैसे सर्दी के महीनों में हुआ था । इसका विस्तृत विवरण 'अमेरिकन जनरल ऑफ पब्लिक हैल्थ' के सन् १९५८

के अंक में 'सीजनल वेरिएशन इन दी बर्थ ऑफ दी मेण्टली डिफीसियण्ट' नामक शोध से प्रकाशित हुआ था ।

'द रिद्म ऑफ लाइफ' नामक पुस्तक में प्रसिद्ध शरीरशास्त्री एल. सोफी ने लिखा है कि २१ दिन अथवा २५ दिन के एक चक्र में मनुष्य शरीर में एक पूर्ण परिवर्तन होता रहता है जिसमें जीवन-शक्ति का नवीनीकरण होता और नई चेतना, नई स्फूर्ति का उदय होता है । इसे अधिक स्पष्ट करते हुए ब्रिटिश वैज्ञानिक गेगिर ल्यूस अपनी पुस्तक 'बाडी टाइम' में बताया है कि वस्तुतः यह हारमोन परिवर्तन के कारण होता है जिसका परिवर्तन चक्र लयबद्ध तरीके से चलता रहता है । ३२ दिन बाद इस क्रम की पुनरावृत्ति होती रहती है । हारमोन रक्त प्रवाह में मिलकर अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रसायन तन्त्र को प्रभावित करते हैं, जिनसे स्रवित तत्व शारीरिक क्रियाकलापों को परिवर्तित नियन्त्रित करते हैं । ल्यूस के अनुसार साइक्लो थायमिक रिद्म के कारण ३५ दिन के अन्तराल से मनुष्य के भावावेग मे परिवर्तन आ जाता है और प्रति ५ सप्ताह में एक बार चरम स्थिति में पहुँच जाता है । परिणामस्वरूप उदासी और प्रफुल्लता का क्रम बारी-बारी से आता रहता है । प्रत्येक ४० दिन बाद इण्टैलेक्चुअल रिद्म प्रकट होती है जो सम्बन्धित व्यक्ति की सर्तकता, मनोयोग, स्मृति एवं व्यावहारिकता को प्रभावित करती है । इस तरह के अनेकों लयात्मक चक्रों का वर्णन बेंजामिन वाकरकृत 'एसोटेरिक मैन' में किया गया है ।

अमेरिका के प्रख्यात मनोवैज्ञानिक ई. एल. स्मिथ ने "टाइम्स इन द अफेयर्स ऑफ मेन" में बताया है कि प्रत्येक ३६ महीने पश्चात मनुष्य में एक 'सद् विवेक लय'—'कन्साइन्स रिद्म' का उदय होता है । जिसमें सदाचरण के प्रति सजगता बढ़ी-चढ़ी होती है । उस समय व्यक्ति का रुझान आध्यात्मिक कार्यों एवं नैतिकता की ओर विशेष रूप से होता है । स्मिथ का कहना है कि यही वह समय है जिसका चाहे तो व्यक्ति पूर्ण सदुपयोग कर अपने जीवन को समुन्नत और सुखी बना सकता है । अभ्यास द्वारा इसे लगातार जीवन-पर्यन्त बनाये रखा जा सकता है । उनके अनुसार ४१ महीने चक्र वाली एक आडम्बर प्रवृत्ति-स्प्लर्ज अर्ज भी एकान्तर क्रम से मानव जीवन में प्रकट होती है, जिसमें मनुष्य फिजूलखर्ची अपनाता और ठाट-बाट का प्रदर्शन करता है । सद्विवेक लय की लयबद्धता को नियमित बनाये रखकर इस पर नियन्त्रण साधा जा सकता है ।

बायोरिद्म के कारण मानव स्वभाव में भी उतार-चढ़ाव देखा जाता है । कभी उसमें पुरुषोचित कठोरता का भाव उदय होता है तो कभी नारी सुलभ कोमलता-अतिसम्वेदनशीलता आदि के दर्शन होते हैं । मनोविज्ञानी सिगमण्ड फ्रायड के सहयोगी जर्मन के सुप्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री विल्हेल्म फ्लीस ने बायोरिद्म पर गहन अनुसन्धान किया था और पाया था कि प्रत्येक मनुष्य में नर और नारी दोनों के गुण विद्यमान होते हैं । प्रत्येक व्यक्ति में नर तत्व का एक २३ दिवसीय चक्र कार्य करता है जिसमें शक्ति, ऊर्जा, उत्साह, जीवटता आदि की प्रधानता प्रमुख रूप से परिलक्षित होती है । इसके बाद नारी तत्व प्रदान चक्र की बारी आती है । इसकी अवधि २८ दिन की होती है । इसमें मनुष्य की क्रियाशीलता, सृजनात्मकता, स्नेह, वात्सल्यता, भावुकता, अतिसम्वेदनशीलता जैसे नारी सुलभ गुणों की बहुलता देखी गई है ।

विशेषज्ञों का कहना है कि जीवन की परिभाषा ताल एवं लयों से नियन्त्रित समय के रूप में की जा सकती है । अगणित लयों में से अधिकांश को जाना समझा जा सकता है और शरीर के छोटे-छोटे क्रियाकलापों में सक्रिय देखा जा सकता है । समय-बद्धता उनकी प्रमुख विशेषता है । बायोरिद्म में भी समय प्रमुख कारक की भूमिका निभाता है । मनुष्य है जो अपने जीवन के कितने ही महत्त्वपूर्ण लयों को श्वासों को योंही व्यर्थ नष्ट होने देता है और उनकी उपयोगिता यथार्थता को नहीं समझता । जबकि इन लयों से शरीर, मन और भावनाओं का गहरा सम्बन्ध होता है । जीवन पर्यन्त चलने वाले लयबद्ध इस चक्रीय परिवर्तन को 'बायोरिद्म' के नाम से जाना जाता है । यह वह जैविक गतिविधि या हलचल है, जो एक निश्चित अन्तराल के पश्चात प्रकट होती रहती है, और शारीरिक, मानसिक एवं व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करती है । कास्मिक किरणों, ग्रहगोलकों, सूर्य धब्बों एवं सौर गति तथा चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार भी बायोरिद्म" की आवर्ती दशा में सतत परिवर्तन

होता रहता है। व्यक्ति की उम्र, लिंग एवं जीवन-मरण के साथ भी इसका गहरा सम्बन्ध है ।

'एन साइक्लोपीडिया ऑफ एसोटेरिक मैन' नामक पुस्तक में मनीषी बेंजामिन वाकर ने कहा है कि यह सर्वविदित तथ्य है कि मानव जीवन में एक निश्चित लयबद्ध उतार-चढ़ाव आता रहता है जो शारीरिक-मानसिक क्रिया-कलापों को प्रभावित करता है । इस प्रकार की लय कुछ क्षणों माइक्रो सेकण्ड से लेकर वर्षों तक चलती रह सकती हैं और ध्यान न देने पर जीवन को संकट में भी डाल सकती हैं । दिन प्रतिदिन के जीवन में होने वाले परिवर्तनों को गहराई से निरीक्षण न करने के कारण ही प्रायः लोग खीझते और परेशान रहते हैं । यदि 'बायोरिद्म' को समझा जा सके तो न केवल जीवन में आने वाले उतार-चढ़ावों को, नियन्त्रित-नियमित किया जा सकता है वरन् उनसे होने वाली हानियों से भी बचा जा सकता है इस तथ्य को सितम्बर १६८१ के 'अमेरिकम जैनरल ऑफ साइकियेट्री' नामक पत्रिका में विन्स्टेड, स्वार्ज, बर्ट्रेण्ड जैसे ख्यातिलब्ध मनोचिकित्सा विज्ञानियों ने अपने 'बायोरिद्म फैक्ट्स ऑर-सुपरस्टिशन' नामक खोजपूर्ण लेख में उद्घाटित किया है ।

'बायोरिद्म' वस्तुतः एक व्यक्ति परक विज्ञान है जो जीवन के वक्रीय लक्षणों को प्रकट करता है । अमेरिका के वरिष्ठ अनुसन्धानकर्त्ता वैज्ञानिक बर्नार्ड गिटेल्सन ने अपनी पुस्तक 'बायोरिद्म' में कहा है कि हममें से सभी लोग तीन आंतरिक चक्रों (इण्टरनल साइकल्स) द्वारा जीवन पर्यन्त प्रभावित होते रहते हैं । ये चक्र हैं—फिजिकल साइकल (शरीर चक्र) इमोशनल साइकल (भावनात्मक चक्र) एवं इन्टलेक्चुअल साइकल अर्थात् बौद्धिक चक्र । मनुष्य का स्वभाव इन्हीं तीन चक्रों का मिला-जुला स्वरूप होता है । इस सिद्धान्त के अनुसार फिजिकल चक्र शरीर के बहुत बड़े क्षेत्र को प्रभावित करता है, जिसमें काया की रोग प्रतिरोधी क्षमता, शक्ति, समन्वयन, गति, कार्यिकी आदि प्रक्रियाएँ सम्मिलित हैं । इस चक्र को पूर्ण होने में २३ दिन लगते हैं । इमोशनल साइकल अर्थात् भावनात्मक चक्र २८ दिन का होता है और यह मनुष्य की सृजनात्मकता, सक्रियता, सम्वेदनशीलता, मानसिक स्वास्थ्य, मूड, स्वयं के एवं विश्व के प्रति प्रत्यक्ष बोध आदि को प्रभावित करता है । तीसरे बौद्धिक चक्र से स्मृति, सतर्कता, ज्ञान संग्राहकता तथा मस्तिष्क में तार्किक एवं विश्लेषणात्मक क्रियाकलाप प्रभावित होते हैं । इसे पूर्ण होने में ३३ दिन लगते हैं । यह तीनों चक्र बारी-बारी से एकान्तर क्रम से अथवा एक साथ भी चलते रह सकते हैं । मनुष्य जन्म के साथ ही यह आरम्भ हो जाते हैं । आरम्भ में यह जीरो बेसलाइन पर अर्थात् नगण्य प्रभाव वाले होते हैं परन्तु मध्यकाल में अर्थात् साढ़े ग्यारह दिन, १४ दिन और साढ़े सोलह दिन में क्रमशः तीनों चक्र अपना अधिकतम प्रभाव डालने की स्थिति में होते हैं । निगेटिव फेज पर पहुँचने पर तीनों चक्र अपने निम्न स्तर पर आ जाते हैं। ऊर्जा की अधिकता प्रत्येक चक्र के अन्तिम चरण में होती है ।

विशेषज्ञों के अनुसार जीवन चक्र (बायोरिद्म) मानव व्यवहार को एक विशेष तरीके से प्रभावित करता है । वैज्ञानिक बर्नार्ड गिटेल्सन का कहना है कि किसी व्यक्ति को उस समय सबसे अधिक खतरा रहता है, जब वह एक फेज से दूसरे फेज में अर्थात् पॉजीटिव से निगेटिव में प्रवेश करता है । इन्हें "क्रिटिकल डे"—संकटपूर्ण दिन कहा गया है । उनके अनुसार मनुष्य के जीवन में प्रायः इस तरह के २० प्रतिशत दिन आते हैं, शेष ८० प्रतिशत मिश्रित क्रिया वाले होते हैं । उस दिन मनुष्य शारीरिक रूप से दुर्घटनाओं, बीमारियों आदि का शिकार बन सकता है । भावनात्मक रूप से असन्तुलित मनःस्थिति के कारण अकारण लड़ाई-झगड़ा मोल ले सकता है अथवा तनाव, दबाव, खीझ आदि से ग्रस्त हो सकता है । बौद्धिक रूप से स्मरण शक्ति में कमी, किसी बात को सुस्पष्ट करने में असमर्थता, निर्णय लेने में गलती करने जैसी कमजोरियों का उसे सामना करना पड़ सकता है । अपनी 'बायोरिद्म' का क्रमबद्ध अध्ययन करके कोई भी व्यक्ति उपरोक्त संकटों को टाल सकता है । जीवन को व्यवस्थित बनाकर उन पर नियन्त्रण साधा जा सकता है ।

'बायोरिद्म' का रिकार्ड रखने पर यह सहज ही मालूम किया जा सकता है कि भौतिक, भावनात्मक एवं बौद्धिक चक्रों में से कौन चक्र अपनी चरम अवस्था में है और उनसे उबरने अथवा उनका लाभ उठाने के लिए कितनी शक्ति सँजोनी होगी और किन उपायों

को अपनाना होगा । शिकागो के मूर्धन्य चिकित्सा विज्ञानी डॉ. अनेटीलाटर एवं स्विट्जरलैण्ड के डॉ. फ्रिट्ज वेहरिल का कहना है कि अपनी 'बायोरिद्म' का अध्ययन नियमित चार्ट के आधार पर करके समय विशेष में आने वाली कठिनाइयों का समाधान हर व्यक्ति स्वयं खोज सकता है । औद्योगिक जगत में काम करने वालों के लिए इस प्रकार का अध्ययन महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न कर सकता है ।

इस सन्दर्भ में जापानी चिकित्साविदों के साथ मिलकर वहाँ के मिलिट्री पोलिस अधिकारियों ने गहन अनुसन्धान किया है और बताया है कि ४६ प्रतिशत वाहन दुर्घटनाएँ चालक के (संकट कालीन)—'क्रिटिकल डे' में होती हैं । इसी प्रकार का निष्कर्ष टोकियो मेट्रोपोलिटन पोलिस का है । उसने अपने अध्ययन में पाया है कि ८१ प्रतिशत दुर्घटनाएँ ऐन मौके पर सही निर्णय न ले पाने के कारण घटित होती हैं । उनके अनुसार वस्तुतः यह समय वाहन चालकों के जीवन-चक्र का क्रांतिक बिन्दु होता है जिसमें मनःसन्तुलन डगमगा जाता है । आस्ट्रेलिया के क्वीन्सलैण्ड के विशेषज्ञों का भी यही मत है कि वाहन दुर्घटनाओं के शिकार अधिकांश व्यक्ति उस समय अपने 'बायोरिद्म' के धनात्मक-ऋणात्मक चक्र के भंवर में फँसे रहते हैं । किसी प्रकार यदि इस संकटकालीन क्षण से वे उबर सकें तो कुछ ही समय पश्चात बेहतर निर्णय लेने की स्थिति में पहुँच सकते हैं । वायुयान दुर्घटना में यांत्रिक कमियाँ जितनी जिम्मेदार होती हैं, उससे कहीं अधिक गड़बड़ी उसे उड़ाने वाले चालकों की असन्तुलित मनःस्थिति होती है । यू. एस. आर्मी एविएशन स्कूल के विशेषज्ञों ने जब इस प्रकार की जाँच पड़ताल की तो पाया कि ४६ प्रतिशत या आधी वायु दुर्घटना चालकों के संकटकालीन दिनों में ही घटित हुई थीं । इस प्रकार की अनेकों घटनाएँ हैं जिनकी संगति मनुष्य के "बायोरिद्म" से बैठती है । इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि व्यक्ति अपनी गलती के लिए 'बायोरिद्म' को जिम्मेदार ठहरा दे व स्वयं को निर्दोष कहे ।

न्यूयार्क के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी प्रोफेसर डोनाल्ड ई. कार्लवर्ट ने गहन अध्ययन के पश्चात निष्कर्ष निकाला है कि कर्मचारियों के 'बायोरिद्म' से सम्बन्धित संकटकालीन दिन और दुर्घटनाओं में गहरा सम्बन्ध है । 'क्रिटिकलफेज' ज्ञात होने पर उस संकट को टाला जा सकता है । विशेषज्ञों का कहना है कि २५ सितम्बर १६७८ को डियागोगार्सिया में पी. एस. ए. ७२७ नामक एक वायुयान १४० व्यक्तियों सहित इसलिये दुर्घटनाग्रस्त हो गया था कि उसका पायलट डेविड ब्रोसवेल उस दिन अपने तीनों आन्तरिक चक्रों अर्थात् भौतिक, भावात्मक एवं बौद्धिक चक्रों के क्रिटिकल फेज में था । कई बार चेतावनी देने का भी उस पर कोई असर नहीं पड़ा । अपने आपको सँभालने में वह असमर्थ बना रहा । 'बायोरिद्म ए साइण्टिफिक एक्सप्लोरेशन इन टू दी लाइफसाइकल्स ऑफ दी इण्डिविजुअल्स' नामक अपनी कृति में अमेरिका के प्रख्यात मनोविज्ञानी जे. एच. वेनली ने बताया है कि 'साइकोलॉजिकल बाडी चार्टिंग' द्वारा किसी भी व्यक्ति के 'बायोरिद्म' को मापा जा सकता है । मूड एवं भावनाओं में आये उतार-चढ़ाव का अध्ययन कर तदनुरूप उनका निराकरण किया और गतिविधियों को नियन्त्रित किया जा सकता है । उनके अनुसार जापान की ओमी रेलवे कम्पनी ने अपने ५०० वाहन चालकों में से प्रत्येक के 'बायोरिद्म चार्ट' को कम्प्यूटर में भर लिया है, और जिस दिन उनके बुरे दिन आने वाले होते हैं, उन्हें सूचित एवं सतर्क कर दिया जाता है, साथ ही अतिरिक्त सावधानी बरतने को कहा जाता है । इस युक्ति द्वारा कितने ही चालक अपने स्वभाव, मूड, व्यवहार, भावातिरेक में परिवर्तन करते और दुर्घटनाओं का शिकार होने से बच जाते हैं । सन् १६६६ में जब इस प्रयोग को सर्वप्रथम क्रियान्वित किया गया तो पर्यवेक्षण करने पर सड़क दुर्घटनाओं में ५० प्रतिशत की कमी पायी गई । इंग्लैण्ड के नार्टिंघमशायर में टाउन कॉउन्सिल द्वारा वहाँ के प्रत्येक नागरिक को उसके बायोरिद्म चार्ट उपलब्ध कराये गए हैं । इससे सड़क दुर्घटनाओं को कम करने में भारी सफलता मिली है । रूस में इस समय पाँच हजार से अधिक वाहन चालक 'बायोरिद्म' का प्रयोग कर रहे हैं । सम्भावित तिथियाँ ज्ञात होने पर उन दिनों विशेष सतर्कता ही नहीं बरतते, बायोफीड बैक पद्धति द्वारा अपनी प्रतिरोधी क्षमता बढ़ाते हैं ।

बर्लिन के ख्यातिलब्ध—शल्यचिकित्सक डॉ. बरनर ऑबेल 'बायोरिद्म' के विशेषज्ञ माने जाते हैं । उनका कहना है कि रोगी के 'बायोरिद्म' के अनुसार उसका ऑपरेशन करने पर शत-प्रतिशत सफलता मिलती है । इससे न तो उस पर एनेस्थेशिया का दुष्प्रभाव पड़ता है और न रक्त ही अधिक बहता है । 'बायोरिद्म' की जानकारी रखने से मात्र रोगी व्यक्ति को ही लाभ नहीं पहुँचता वरन् स्वस्थ व्यक्ति भी यदि अपने जीवन चक्र का क्रमबद्ध चार्ट बनाकर रखें तो उससे उन्हें प्रगति पथ में अग्रसर होने में भारी सहायता मिल सकती है । डॉ. बरनर के अनुसार हमारे शरीर का तापमान प्रातःकाल सबसे कम होता है । यदि उस समय गहरा चिन्तन किया जाय तो ज्ञान-विज्ञान के सर्वथा नये और उच्चस्तरीय आयाम खुल सकते हैं । इसी तरह क्रमशः जैसे-जैसे शरीर का ताप दिनमान के साथ बढ़ता जाता है और २ से ४ डिग्री सेंटीग्रेड तक अधिक हो जाता है तो उस वक्त शरीरिक ऊर्जा की क्रियाशीलता बढ़ी-चढ़ी होती है । उस समय शारीरिक श्रम का सर्वोत्तम सदुपयोग हो सकता है । सबसे अधिक मेहनत का काम उस समय किया जाय तो स्वास्थ्य एवं उपार्जन दोनों ही दृष्टि से लाभकारी सिद्ध होता है । सर्वोत्तम मेहनत का काम सर्वाधिक तापमान पर होता है । भारतीय मनीषियों को इसकी जानकारी वस्तुतः प्राचीनकाल से ही थी । यही कारण है कि प्रातःकालीन समय को उन्होंने चिन्तन-मनन के लिए उपासना एवं योग-साधना के लिए उपयुक्त बताया है और परिश्रम के लिए उपार्जन के लिए लोक-आराधना के लिए पूरे दिन को रखा है ।

मनुष्य जैसे विकसित एवं जटिल जीवन में वस्तुतः अनेकानेक सूक्ष्म एवं विस्तृत जैविक-चक्र चलते रहते हैं । बायोरिद्म उनमें से एक हैं जिस पर गहन अनुसन्धान किए जाने की आवश्यकता है । इस लयात्मक चक्र का शरीर, मन एवं भावनाओं से गहरा सम्बन्ध है । यदि इसे जाना, समझा और प्राणायाम तथा ध्यान-धारणा द्वारा उस पर नियन्त्रण साधा जा सके, तो न केवल स्वास्थ्य एवं जीवन की रक्षा की जा सकती है, वरन् ज्ञान-विज्ञान के महत्तर आयामों को भी हस्तगत किया जाना सम्भव हो सकता है ।

अपनी जैविक लय को जानिये : समर्थता व दीर्घायुष्य पाइये

प्रकृति का अपना समय चक्र होता है जिसके आधार पर ऋतु-परिवर्तन से लेकर मौसम सहित सभी क्रियाकलापों में हेर-फेर होता रहता है । ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, हेमन्त आदि ऋतुएँ एक के बाद दूसरी आती रहती हैं और तदनुरूप ही धरती की शोभा, सुषमा परिलक्षित होती है । अपनी जैव घड़ी के द्वारा वह वृक्ष-वनस्पतियों से लेकर जीव-जन्तुओं तक की क्रियाशीलता पर शासन करती है । प्रकृति के इस अनुशासन को जाने-अनजाने रूप से सभी को पालन करना पड़ता है । इसी घड़ी के सहारे भोर होते ही मुर्गे बाँग लगाने लगते हैं । अँधेरे कमरे में रखे पिंजड़े में कैद पक्षी सबेरा होते ही चहचहाने लगते हैं और उन्मुक्त वातावरण में उड़ने के लिए पर फड़फड़ाने लगते हैं । ऋतु की अनुकूलता-प्रतिकूलता के साथ असंख्यों पक्षी सुदूर देशों की प्रवास यात्रा पर निकल पड़ते हैं । इस प्रबल प्रेरक शक्ति के सहारे ही समस्त प्राणियों का जीवन व्यापार चलता है ।

प्राणिवेत्ताओं का कहना है कि अन्यान्य जीवधारियों की तरह मनुष्य का भी अपना एक दैनिक सक्रियता चक्र होता है अर्थात् शिथिलता और सर्वोच्च सक्रियता की क्षमता युक्त अवधियाँ होती हैं इनमें से सर्वाधिक सक्रियता वाली अवधि को यदि जाना और उसका सुनियोजन किया जा सके तो कठिन से कठिन कार्य भी सरलतापूर्वक उस समय चक्र में सफल सम्पन्न हो सकते हैं ।

इस सम्बन्ध में क्रोनोबायोलॉजी के विशेषज्ञों ने गहन अनुसन्धान किया है और पाया कि मानवी मन अपनी आन्तरिक घड़ी के अनुसार सक्रिय रहा करता है और जब कभी बाह्य समय का आन्तरिक समय से तालमेल नहीं बैठता व्यक्ति थका हारा तनावग्रस्त दीखने लगता है । उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की बायोलॉजिकल क्लॉक भिन्न होती है जिसके कारण उनकी सक्रियता में भी भिन्नता पायी जाती है । किसी को अपने जटिल कार्यों लेखन साहित्यसृजन आदि को

पूर्ण करने में सुबह का समय उपयुक्त लगता है, तो किन्हीं-किन्हीं को अन्य समयों में कार्यों के प्रति अभिरुचि जगती और सक्रियता-कर्मठता का तारतम्य बैठता है। दैनिक जीवन के कार्यों का पर्यवेक्षण कर अपने जीवन के सर्वोच्च सक्रियता वाले समय का निर्धारण प्रत्येक व्यक्ति स्वयं कर सकता है जानकारी होने पर होना तो यह चाहिए कि इस अवधि को अतिमहत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए सुरक्षित रखा जाय। शेष समय में सामान्य कार्यों को निपटाया जाय। यद्यपि जीवन का प्रत्येक क्षण बहुमूल्य है फिर भी सक्रियता वाले समय का सदुपयोग वांछित सत्परिणाम प्रस्तुत करता है।

अन्य जीवों की भाँति मनुष्य की जैवघड़ी भी सूर्य से प्रभावित होती है। जिस क्रम से सूर्य ऊपर की ओर चढ़ता जाता है और १२ से २ बजे के मध्य अपनी चरम अवस्था में रहता है, उसी प्रकार व्यक्ति की ऊष्मा भी बढ़ती और सक्रियता आती है शरीर गर्म होने पर मनमस्तिष्क भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। यही कारण है कि उस समय शारीरिक परिश्रम वाले क्रिया-कलापों को सम्पन्न करने की सलाह मूर्धन्य लोग दिया करते हैं। उस वक्त श्वसन दर एवं रक्त-प्रवाह भी तीव्रतर होता है व्यक्ति अपने कार्य की श्रेणी परखकर उसे उचित समय में करते रहने का कार्यक्रम अपना सकता है। मोटे हिसाब से मानसिक कार्य दिन के पूर्वार्द्ध में और शारीरिक श्रम उत्तरार्द्ध में निपटाने का नियम है परन्तु जहाँ नियम है वही अपवाद भी देखने को मिलते हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन एवं यूलियस एस. ग्रान्ट चिन्तन मनन वाले कठिन कार्यों को सर्वोत्कृष्ट क्षमता वाले अपने उस जैवसमय में किया करते थे जब सायं अँधेरा छाने लगता। विख्यात वैज्ञानिक थामस एडिसन को तो रात में ही काम करने का शौक था किन्तु सबसे बड़ी बाधा अँधेरे की थी। इसे दूर करने में भी उन्होंने सफलता पायी और विद्युत बल्ब का आविष्कार इसी अवधि में कर डाला। इसी तरह पाश्चात्य सिनेमा के जाने-माने कलाकार फ्रैंक सिनाट्रा को रात में कार्य आरम्भ करने और सफलता तक पहुँचने की धुन सवार रहती थी। अपनी प्रसिद्ध फिल्म—'एहोल इन दी हेड' को उसने एक रात्रि में पूर्ण कर दिखाया जबकि उस समय आम प्रचलन दिन में ही कार्य करने का था।

जिस प्रकार लोगों की शक्ल-सूरत, विचार, रुचि-रुझान आदि में विभिन्नता होती है, ठीक उसी तरह हम सबके जैविक-लय में भी भिन्नता होती है। कई व्यक्ति सक्रियता वाले तापमान पर हाथ में लिए कार्यों को शीघ्रता से पूरा कर लेते हैं तो अन्य दीर्घसूत्री होते हैं। कुछ में यह जैवसक्रियता जगने से लेकर दो-चार घण्टे तक बनी रहती है तो दूसरों में पाँच-छः घण्टे बाद आती है। एडिसन जैसे व्यक्तियों में यह उनके जागरण के १२ घण्टे के बाद ही चरमोत्कर्ष पर पहुँचती थी। ऐसे ही देर से सक्रिय होने वालों में विख्यात वैज्ञानिक डॉ. सिडनी माडर थे। वह कहा करते थे "हमारा शरीर सुबह बिस्तर से जब उठता है तब बेमन रहता है, जैसे वह भीनी-भीनी आतिशबाजी हो। दोपहर—भोजन के पश्चात भी वह पूर्ण चैतन्य नहीं होता। उसकी सक्रिय क्षमता तो रात्रि आगमन के साथ ही उभरती है।"

जैविक लय के अनुसार सर्वाधिक क्रियाशील समय किस व्यक्ति का कब है? यह उसके रहन-सहन चिन्तन-मनन, आचार विचार, संस्कृति एवं व्यक्तिगत रुचि रुझान पर निर्भर करता है। बाह्य यांत्रिक घड़ी में तो एकरूपता होती है किन्तु भीतरी जैविक घड़ी में भिन्नता क्यों है? इसका उत्तर गहन अनुसन्धान के पश्चात ढूँढ़ निकाला है—बोस्टन विश्वविद्यालय के वरिष्ठ मनोविज्ञानी डॉ. विलियम एस. कौंडन और उनके साथियों ने उनके अनुसार नवजात शिशु की जैव घड़ियों का तारतम्य आरम्भ के कुछ घण्टों तक अपनी जन्मदात्री माँ से मिला रहता है किन्तु ज्योंही उसे अन्य लोगों की आवाजें सुनने को मिलती हैं वह उन लयों के अनुसार अपने को ढालने लगता है। यह जीवन्त घड़ियाँ यांत्रिक घड़ियों की तरह ठीक समय पर टिक-टिक तो नहीं करतीं पर प्रकृति की लय के साथ अवश्य मिली होती हैं। इसकी उपलब्धता मनुष्य समेत समस्त प्राणियों के पास होती है। इसी के सहारे केंकड़े को पता चल जाता है कि कब धारा बदलने वाली है। चूहे, तिलचट्टे, उल्लू जैसे रात्रिचर प्राणी सायंकाल आरम्भ होते ही सक्रिय हो जाते हैं। चमगादड़ भोजन की खोज में उड़ चलते हैं। इन सभी के जीवन आन्तरिक लय के अनुसार चला करते हैं, परन्तु मनुष्य वह चेतन प्राणी है जो वातावरण, परिस्थितियों के साथ-साथ

अपनी आन्तरिक लय को बदलने में एवं उसे इच्छित दिशा में मोड़ने-मरोड़ने में सक्षम है ।

यूरोप के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता डॉ. क्लीटमैन अपने सहयोगी डॉ. ब्रस रिचर्डसन के साथ केंटकी मैमथ की अन्धेरी गुफा में ३२ दिनों तक इसलिये रहे कि क्या वह १६ घण्टे काम और ६ घण्टे विश्राम वाले २८ घण्टे के दिन की संगति बिठा सकते हैं । प्रयोग सफल रहा । उनका कहना था कि "गर्मियों में दिन और सर्दियों की रातें बड़ी होती हैं फिर भी हमारी जैविक घड़ियाँ अपने आप इन परिवर्तनों के अनुकूल बनती जाती हैं । दुर्घटनाओं के शिकार लोग प्रायः बताते हैं कि दुर्घटना के समय हर बात बड़ी धीमी गति से होती है जिससे पता चलता है कि मस्तिष्क में कोई ऐसी सक्षम व्यवस्था है जो मनुष्य की बोध क्षमता को सामान्य से कई गुना अधिक बढ़ा देती है । जिसके परिणामस्वरूप संसार का घटना चक्र भी धीमी गति से चलता हुआ प्रतीत होता है । यही वह समय होता है जिसमें दुर्घटना में फँसा व्यक्ति अपने बचाव का उपाय सोचता है ।"

पाश्चात्य मनोविज्ञानियों ने अपने विविध प्रयोग-परीक्षणों के आधार पर बताया है कि अधिकांश व्यक्ति अपने सर्वाधिक सक्रियता वाले क्षणों का मात्र दो घण्टे तक ही सदुपयोग कर पाते हैं । यह देखा भी गया है कि इस सीमित अवधि में वे दिन के किन्हीं अन्य समयों की अपेक्षा अधिक चैतन्य रहते और स्वस्थ-सक्रिय अनुभव करते हैं । इस अवधि के पश्चात उन्हें बेमन से कार्य करते और तनाव ग्रस्त रहते देखा गया है । तन्मयता-तल्लीनता के अभाव में ही ऐसा बन पड़ता है अन्यथा जटिल कामों की संगति आन्तरिक लयबद्धता के साथ बिठाकर अभ्यास द्वारा उस अवधि को बढ़ाया जा सकता है ।

मस्तिष्क विज्ञानियों ने उपकरणों से परीक्षण करने पर पाया है कि उषाकाल में व्यक्ति के मन-मस्तिष्क पर अल्फा तरंगों की प्रधानता होती है । चिन्तन-मनन का वह सबसे उपयुक्त समय होता है । विद्यार्थियों के अध्ययन का भी यही समय सर्वश्रेष्ठ माना गया है । अध्यात्मवेत्ताओं ने तो उषाकाल को आध्यात्मिक क्रियाकृत्यों हेतु सबसे अच्छा समय बताया है । आसन-प्राणायाम, ध्यान-धारणा जैसे योगाभ्यासपरक अध्यात्म उपचारों को अपनाकर जैविक लय की सक्रियता को बढ़ाया और चिरस्थायी बनाया जा सकता है । इतना ही नही, श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया पर नियन्त्रण सध जाने पर जीवन अवधि को भी बढ़ाया जा सकता है ।

इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध मनीषी पाल ब्रन्टन ने अपनी कृति 'इन सर्च ऑफ सीक्रेट्स इन इण्डिया में'—अर्थात् गुप्त भारत की खोज में कहा है कि बन्दर की अपेक्षा हाथी बहुत मन्दगति से साँस लेता है, किन्तु बन्दर की आयु से हाथी की आयु अधिक होती है । साँप बहुत दिन जीते हैं, किन्तु कुत्ते थोड़े ही दिन । जबकि साँप बहुत धीरे-धीरे साँस लेते हैं । हिमालय के रीछ कई बार जाड़े के पूरे मौसम भर गहरी नींद में पड़े रहते हैं । वहाँ कुछ चमगादड़ ऐसे होते हैं, जो पहाड़ी गुफाओं में सप्ताहों लटके सोते रहते हैं । यह नींद ऐसी होती है कि वे एक बार भी साँस नहीं लेते, खाने का प्रश्न तो बाद का है, तो भी वे जीवित रहते हैं, उसी प्रकार यह भी सम्भव है कि मनुष्य बिना साँस का लम्बा जीवन जी सकता है । प्राणायाम द्वारा यह अवरोध अभ्यास से ला सकना मनुष्य के लिए सम्भव रहा है और आगे भी रह सकता है ।

मस्तिष्कीय चेतना का सन्तुलन प्राणायाम से

मनुष्य शरीर में सबसे अधिक सम्वेदनशील एवं सक्रिय अवयव मस्तिष्क है । वह मात्र सोचने-विचारने के ही काम नहीं आता वरन् उसमें उत्पन्न होने वाली विद्युत सम्पूर्ण शरीर का क्रिया संचालन करती है । अचेतन मस्तिष्क से सम्बन्धित असंख्यों न्यूरोनल-फाइबर्स शरीर के प्रत्येक घटक तक पहुँचते हैं । उसकी सुव्यवस्था करते हैं, आवश्यक आदेश देते हैं तथा समस्याओं का समाधान करते हैं । सचेतन भाग द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मन और बुद्धि द्वारा जो निर्णय किए जाते हैं, उनकी पूर्ति के लिए योजना बनाने और उन्हें कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व उठाया जाता है । मस्तिष्क की स्थिति के अनुरूप व्यक्तित्व का निर्माण होता है और प्रगति का पथ-प्रशस्त होता है । इसके प्रखर होने पर ही मनुष्य प्रतिभावान बनता

है, अनेक सफलताएँ अर्जित करता है । मस्तिष्क का स्तर मन्द होने पर वह मूर्ख कहलाता है और उसका चिन्तन अनगढ़ ही बना रहता है ।

जीवन के हर क्षेत्र को मस्तिष्क प्रभावित करता है । उसके स्तर के अनुरूप शारीरिक स्वास्थ्य में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं । मनोविकार स्वास्थ्य को गिराने और व्यक्तित्व को हेय बनाने के प्रधान कारण होते हैं । इसी प्रकार किसी के व्यक्तित्व की—गुण, कर्म, स्वभाव की दिशाधारा इसी आधार पर बनती है कि मस्तिष्क को किस प्रकार प्रशिक्षित एवं अभ्यस्त किया गया ।

अब तक की गई खोजों के अनुसार यह मानने के लिए पर्याप्त आधार मिल गए हैं कि मनुष्य आकांक्षाओं के अनुरूप अपनी मस्तिष्कीय शक्ति का किसी भी दिशा में विकास करके कैसी भी सफलता प्राप्त कर सकता है । सोचने की विशेषता ने ही उसको क्रमशः समुन्नत करते हुए इस स्थिति तक पहुँचाया है जहाँ वह आज है । विज्ञान, शिल्प, दर्शन, अध्यात्म, कला, शिक्षा, चिकित्सा आदि ज्ञान की अगणित धाराएँ ही वे विभूतियाँ हैं जिनका संग्रह करके मनुष्य सामान्य न रहकर असामान्य बनता है । अन्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य जितना विकसित एवं साधन सम्पन्न दिखता है उसे मस्तिष्कीय विकास का चमत्कार-प्रतिफल ही कहना चाहिए ।

नोबुल पुरस्कार विजेता प्रख्यात न्यूरोसर्जन डॉ. रोजर स्पैरी ने मानवी मस्तिष्क पर गहन अनुसन्धान किया है । तत्पश्चात वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मनुष्य की आकांक्षा, विचारणा एवं भाव सम्वेदना का उसके मस्तिष्क से गहरा सम्बन्ध है । मस्तिष्कीय विकास के मूल में इन्हीं को कार्यरत देखा जा सकता है । उनके अनुसार मस्तिष्क के दो भाग हैं जिन्हें क्रमशः दाएँ एवं बाएँ गोलार्द्ध-हेमीस्फीयर के नाम से जाना जाता है । इनमें बाएँ भाग को विचार-बुद्धि द्वारा तथा दाएँ भाग को भाव सम्वेदनाओं द्वारा प्रभावित-नियन्त्रित देखा गया है । शरीर शास्त्रियों की भी अब लगभग यही मान्यता बनती जा रही है कि बायाँ गोलार्द्ध बुद्धि या वाणी का तथा दायाँ गोलार्द्ध भावना सम्वेदनशीलता तथा कला-कौशल आदि का केन्द्र है । इन्हीं को उत्तेजित करके तदनुरूप उस क्षेत्र की प्रतिभा-सम्पदा को हस्तगत किया जाता है ।

मस्तिष्क के दोनों भाग सामान्य स्थिति में एक सेतु से जुड़े होते हैं । जिसे 'कार्पस कैलोजम' कहते हैं । इसी के कारण जानकारियों-भाव सम्वेदनाओं का आदान-प्रदान होता रहता है । दोनों गोलार्द्धों को समान रूप से क्रियाशील बनाकर ही कोई व्यक्ति अपनी समग्र क्षमता की बहुमुखी प्रतिभा का विकास कर पाने में सफल होता है ।

शरीर के अन्यान्य अंग-अवयवों को मनुष्य अपनी इच्छानुसार मोड़ने-मरोड़ने में एक सीमा तक ही सफल हो सकता है, पर मस्तिष्क के सम्बन्ध में बात दूसरी है । उसे सुधारा-बदला ही नहीं उल्टा तक किया जा सकता है । इस दृष्टि से वह जितना सशक्त और महत्त्वपूर्ण है, उतना ही कोमल भी । जिस प्रकार आहार का शरीर क्रम के साथ भारी सम्बन्ध है, उसी प्रकार आकांक्षा, चिन्तन प्रक्रिया और संकल्प शक्ति मनःसंस्थान को प्रभावित करती है । संसार में ऐसे अगणित व्यक्ति हुए हैं जिनका आरम्भिक जीवन साधारण ही नहीं निम्न स्तर का भी था, किन्तु जब उन्होंने अपने आपे को उच्चस्तरीय बनाने-मस्तिष्कीय क्षमता बढ़ाने का निश्चय कर लिया तो अभ्यस्त आदतें जो परिवर्तन स्वीकारने में आना-कानी करती थीं, संकल्प शक्ति के दबाव से आमूल-चूल परिवर्तित हो गईं । सामान्य व्यक्ति असामान्य बन गए । कालिदास, बरदराज आदि के उदाहरण ऐसे ही हैं जिनमें उनकी आरम्भिक स्थिति देखते हुए अनुमान होता था कि ये सदा मूर्ख रहेंगे । विद्याध्ययन में भी इन्हें सफलता न मिलेगी । पर जब उन्होंने संकल्पपूर्वक विद्वान बनने का निश्चय किया तो प्राकृतिक संरचना को उलटकर इतनी तीक्ष्णता अर्जित कर ली कि सामान्य जनों की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर के विद्वान बन गए । अमेरिकी राष्ट्रपति थियोडोर रुजवेल्ट के बारे में कहा जाता है कि अपने बाल्यकाल में वे बड़े ही रुग्ण, संकोची, मन्द बुद्धि और एकाकी प्रकृति के थे, किन्तु आयु वृद्धि के साथ-साथ जब उन्होंने अपने चिन्तन प्रक्रिया में परिवर्तन किया, तो न केवल विद्वान बने वरन् महानता के उच्च शिखर पर जा पहुँचे । यही बात महात्मा गाँधी के बारे में भी है । विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन के मस्तिष्क का भार सामान्य जनों के समतुल्य एवं संरचना भी

वैसी ही थी, पर उसने अपनी मानसिक क्षमता असामान्य स्तर तक बढ़ा ली थी ।

समझदारी का मस्तिष्क के वजन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है अन्यथा मनुष्य की बुद्धिमत्ता, पिछले दस हजार वर्षों में प्रायः सौगुनी अधिक विकसित हुई है । यदि भार और विस्तार से इसका सम्बन्ध होता तो उसका सिर उसी अनुपात से बड़ा दिखाई देता । वस्तुतः मानवी बुद्धिमत्ता का रहस्य इस बात में सन्निहित है कि उसके कपाल के भीतर भरी मज्जा के अन्तर्गत सूक्ष्म घटक न्यूरॉन्स कितने हैं और वे परस्पर कितनी सघनतापूर्वक एक-दूसरे के पूरक बनते हैं । वे जितने सूक्ष्म, जितने अधिक सक्रिय और जितने सक्षम होते हैं उसी अनुपात से बुद्धिमत्ता का विकास होता है । यह घटक अगणित वर्गों के हैं और उन्हीं के वर्ग विकास पर मानसिक गतिविधियों का निर्धारण होता है ।

तन्त्रिका विशेषज्ञों का कथन है कि मनुष्य की बुद्धिमत्ता का अनुमान उसकी मस्तिष्कीय संरचना को देखकर लगाया जा सकता है । प्रायः जन्म के समय बच्चे का मस्तिष्क अन्य प्राणियों की तुलना में अधिक भारी होता है, तदुपरान्त मस्तिष्क का स्थूल भाग तो कम बढ़ता है पर स्नायुतन्त्र में आमूल-चूल परिवर्तन, अभिवृद्धि देखने को मिलती है । शैशव काल में मस्तिष्क के बाह्य भाग का लिबलिबापन बुद्धिमत्ता का परिचायक माना जाता है । उसी में वह क्षमता सन्निहित होती है और आगे चलकर विकसित होती है । उसी भाग को अपनी इच्छानुरूप क्रियाशील बनाकर मनुष्य सर्वगुण सम्पन्न बन सकता है ।

मूर्धन्य तन्त्रिका विज्ञानी डॉ. जे. वी. ल्यूको की खोजों ने यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि मानवी मस्तिष्क स्वेच्छाचारी नहीं है । चिन्तन प्रक्रिया द्वारा उसकी दिशा उल्टी जा सकती है और नई आदतों से उसे अभ्यस्त कराया जा सकता है । तिलचट्टे एवं बिल्ली-चूहों पर वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा उनके मस्तिष्कीय न्यूरॉन्स की सिनेप्टिक हलचलों में हेर-फेर कर मानसिक स्तर पर फेर-बदल करके दूसरी तरह सोचने के लिए विवश करने में उन्होंने काफी सफलता पायी है । इस प्रयोग में बिल्ली और चूहे अपनी परम्परागत दुश्मनी भूलकर साथ-साथ हिलमिल कर रहने लगे ।

फ्रांसीसी वैज्ञानिक प्रो. देल्गादो का कथन है कि मस्तिष्कीय चेतना को उल्टा अथवा बदला जा सकता है । आदतों और अभ्यासों की उसी तरह काट छाँट की जा सकती है जैसे फोड़े-फुन्सियों की । किसी की नसों में रक्त चढ़ाने की तरह उसके मस्तिष्क में अच्छी आदतों का भी बाहर से प्रवेश करा सकना भी अगले दिनों सम्भव हो जायेगा ।

मैकग्रील विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध तन्त्रिका मनोविज्ञानी डॉ. वेण्टल मिलनर एवं उनके सहयोगियों ने तन्त्रिका तन्त्र पर किए गए अपने विभिन्न प्रयोग-परीक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मस्तिष्क का प्रत्येक गोलार्द्ध अपने आप में प्रबल क्षमता सम्पन्न है । यह दोनों ही भाग अलग-अलग काम करते रहने में भी सक्षम हैं । इस सन्दर्भ में मूर्धन्य न्यूरोसर्जन डॉ. बोगेन का कहना है कि मस्तिष्कीय क्रिया-कलापों के अतिरिक्त उसका दायाँ भाग शरीर के बाएँ अंग का तथा बायाँ भाग दाएँ अंग का नियन्त्रण करता है । एक को भाषा की जानकारी है लेकिन दिशा ज्ञान की नहीं, जबकि दूसरे भाग को दिशा ज्ञान तो है, पर भाषा-ज्ञान नहीं है । एलेक्ट्रोएनसिफैलोग्राम द्वारा मस्तिष्कीय तरंगों के अनुलेखन से भी यह प्रमाणित हो चुका है कि मस्तिष्क के दोनों भाग भिन्न-भिन्न प्रकार की क्षमताओं से सम्पन्न हैं । इनका समुचित एवं समन्वित विकास ही मानवी जीवन में सन्तुलन बिठाने एवं बहुमुखी प्रतिभा प्रदान करने में सफल हो सकेगा ।

वैज्ञानिकों ने विगत कुछ वर्षों में हुई स्नायु विज्ञान सम्बन्धी खोजों से यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति के सहारे भावनाओं पर नियन्त्रण, उनका नियमन एवं बौद्धक क्षमता का विस्तरण कर सकता है । व्यक्तित्व के समग्र विकास का यही सरलतम राजमार्ग है । कुछ विरले व्यक्ति ही ऐसे होते हैं जो दोनों प्रकार की चिन्तन-धाराओं को अपनाते और व्यक्तित्व को सम्पूर्ण विकास करके पूर्णता प्राप्त करते हैं ।

प्रायः लोग बौद्धिक क्षमता के विकास को ही प्रमुखता देते हैं जिससे उनके मस्तिष्कीय विकास की दिशा एकांगी हो जाती है । विद्वान लेखक द्वय जैकलीन वण्डर एवं प्रिसिला डोनोवन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक

'होल ब्रेन थिंकिंग' में बताया है कि स्लिट पवन विभाजित मस्तिष्क के अनुसन्धानों से यह प्रमाणित हो चुका है कि भौतिकवादी इस युग में अधिसंख्य लोग प्रत्यक्ष उपलब्धियों को ही सब कुछ मानते हैं, परोक्ष को नहीं । इस तरह के बौद्धिक चिन्तन से उनके मस्तिष्क का बायाँ भाग अधिक सक्रिय एवं प्रभावी हो गया है । बौद्धिक विकास जब अपनी चरम अवस्था में पहुँच जाता है तो ऐसी स्थिति में भावात्मक स्रोत सूखने लगते हैं और मस्तिष्क के दोनों भागों में असन्तुलन पैदा हो जाता है । इसी प्रकार भावनायें भी मस्तिष्क को अनेकों प्रकार से प्रभावित करती हैं । मनुष्य के खण्डित व्यक्तित्व का मूल कारण यही है । मानसिक रोगों का कारण भी यही असन्तुलन है ।

वर्तमान समय की मूल समस्या मनोविकारों की है । चिन्ता, भय, आशंका, असन्तोष, अविश्वास, ईर्ष्या, द्वेष, आत्महीनता, अपराधी मनोवृत्ति आदि विश्वव्यापी समस्या बन गई हैं । मस्तिष्क के दोनों भागों पर समान नियन्त्रण न होने से मानसिक सन्तुलन का गड़बड़ा जाना स्वाभाविक भी है । मनोवैज्ञानिकों के अनुसार इस बिगड़े असन्तुलन को साहित्य, संगीत, कला, अध्यात्म से जुड़ी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ अपनाकर दूर किया जा सकता है । इससे न केवल प्रसुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं वरन् मस्तिष्क का दाहिना भाग भी सक्रिय होता प्रवल बनता चला जाता है । आत्मिकी का आश्रय लेकर भावना, सम्वेदनशीलता आदि सद्‌गुणों की अभिवृद्धि की जा सकती है । जिनका दायाँ मस्तिष्क विकसित है उन्हें बाएँ भाग को सक्रिय बनाने एवं सन्तुलन बिठाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

प्राचीनकाल में योग विज्ञान ने मस्तिष्कीय शक्ति को अभीष्ट दिशा में मोड़ने व विकसित करने की पद्धति विकसित कर ली थी और उस विज्ञान से लाभ भी उठाया गया है । आधुनिक विज्ञान भी अब अपने ढंग से इस दिशा में प्रयोग अनुसन्धान कर रहा है । स्वीडेन के गोथेन वर्ग यूनिवर्सिटी के प्राध्यापक होलगर हाइडन ने यह सिद्ध किया है कि मानवी मस्तिष्क की स्थिति पत्थर की लकीर नहीं है । उसकी क्षमता को रासायनिक पदार्थों की सहायता से घटाया-बढ़ाया और सुधारा-बिगाड़ा जा सकता है । कनाडा के डॉ. विल्डर पेनफील्ड, फ्रांस के प्रोफेसर देलगादो, टैक्सास विश्वविद्यालय के रावर्ट थाम्पसन आदि वैज्ञानिकों ने अपने-अपने विभिन्न प्रयोग परीक्षणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिखाया कि विद्युत उपकरणों की सहायता से मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों को बिजली के झटके देकर आदतों एवं अभ्यासों को बदला जा सकता है तथा मस्तिष्कीय क्षमता को घटाया-बढ़ाया जा सकता है ।

बुखारेस्ट-रोमानिया के विख्यात चिकित्सा विशेषज्ञ डॉ. आई. एन. रिंग ने श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया को नियन्त्रित एवं नियमित करके मानसिक असन्तुलन को दूर करने में सफलता पायी है । सैन डिआगो के 'बिहैवियॉरल न्यूरोबायोलॉजी' के डैविस अनुसन्धान केन्द्र में भी इसी प्रकार के प्रयोग परीक्षण चल रहे हैं ।

भारतीय योग शास्त्रों में मस्तिष्कीय गोलार्द्धों में परिवर्तन की प्रक्रिया का सम्बन्ध प्राणायाम साधना से बिठाया गया है । प्राणयोग के सम्पादन से अपने मस्तिष्क के दोनों भागों को सबल सक्रिय बनाकर न केवल बौद्धिक एवं भावनात्मक क्षमताओं में सन्तुलन बिठाकर समग्र प्रगति का द्वार खोला जा सकता है वरन् दिव्य क्षमताओं-अतीन्द्रिय सामर्थ्यों का स्वामी भी बना जा सकता है । यह राजमार्ग अध्यात्म पथ के सभी जिज्ञासु पथिकों के लिए खुला पड़ा है ।

दो सरल प्राणायाम

दिन भर काम करने में शरीर का बहुत-सा अंश खर्च हो जाता है और उसे थकावट आ जाती है, खर्च हुए पदार्थों में से कुछ तो स्थूल होते हैं, जो भोजन आदि द्वारा प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु कुछ ऐसे होते हैं, जिनका सम्बन्ध सूक्ष्म लोक से है । यह पदार्थ भोजन से नहीं, वरन् मन की आकर्षण शक्ति द्वारा प्राप्त होते हैं ।

कुविचारों और दुर्भावनाओं के कारण माँसपेशियों और नाड़ी संस्थान पर एक प्रकार का तनाव और अनावश्यक खिंचाव पड़ता है, इससे और भी अधिक परिमाण में शक्तियों का ह्रास होता है, तदनुसार मनुष्य मृत्यु को निकट खिंचता जाता है । क्रोध आने से भोहें तनी रहती हैं । कपट से चेहरे के भाव दूसरी तरह के बनाने पड़ते हैं । धोखेबाज लोगों के कंठ पर अधिक खिंचाव पड़ने के कारण उनकी वाणी में कर्कशता आ

जाती है । धीरे-धीरे यह बाह्य चिह्न आदत का रूप धारण कर लेते हैं और शरीर में स्थायी अड्डा जमा कर बैठ जाते हैं ।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के इच्छुकों को चाहिए कि नित्य अपने मन की दुर्भावनाओं को मिटाने और मानसिक स्नायविक तनाव को दूर करने का प्रयत्न करते रहें । नीचे ऐसे ही दो अभ्यास बताये जाते हैं—

(१) शरीर को ढीला और सम स्थिति में रख कर आसन के ऊपर से सुखपूर्वक बैठ जाओ । ठोड़ी को थोड़ा सा भीतर की ओर झुकाओ और मुँह बन्द कर लो पर दाँतों को भींच कर मिलाने की जरूरत नहीं है । स्थिरतापूर्वक बैठकर नाक के द्वारा धीरे-धीरे साँस लेना आरम्भ करो और जब पूरी साँस खींच लो, तो ५ सेकण्ड उसे अन्दर रोको और फिर उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल दो । साँस खींचते समय इस प्रकार की भावना करो कि वायु के साथ पवित्र प्राण-तत्व हमारे शरीर में प्रवृष्ट हो रहा है । कुम्भक करते समय अनुभव करो कि खींची हुई जीवनी-शक्ति शरीर के अंग-प्रत्यंगों में व्याप्त होकर उन्हीं में घुल रही है । साँस छोड़ते समय मनन करो कि अन्दर के शारीरिक और मानसिक विष बलपूर्वक खींचकर बार फेंके जा रहे हैं ।

इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि अभ्यास के समय में तनाव कम होता जावे । हर अंग को ढीला-ढाला और विश्राम करने की हालत रखना चाहिए । इससे कुविचारों के कारण अवयवों को तने रहने की जो आदत पड़ जाती है, वह छूटने लगती है और शरीर अनावश्यक शक्ति व्यय करने से बच जाता है । पहला अभ्यास कम के कम ४ सप्ताह करना चाहिए, इसके बाद दूसरे अभ्यास का साधन करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए ।

(२) पूर्वोक्त शिथिलासन पर बैठ कर दाहिने हाथ की अंगुलियों से नाक का बायाँ छिद्र बन्द करो और फिर दाहिने छेद से धीरे-धीरे साँस खींचो । जब पूरी वायु खींच लो, तो अँगूठे से खुले हुए छेद को भी बन्द कर लो और जितनी देर आसानी से वायु रोक सको तो भीतर रोके रहो । तदुपरान्त दाएँ छेद को बन्द करके बाएँ छेद से धीरे-धीरे साँस निकाल दो । अब कुछ देर बिना साँस के रहो और फिर पहले की तरह साँस खींचने, रोकने और छोड़ने की क्रिया दुहराओ । इस प्रकार पाँच मिनट से आरम्भ करके आध घण्टे तक यह प्राणायाम करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए । हर क्रिया के साथ शुद्ध प्राण-तत्व खींचने, उसे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने और विषैले पदार्थों को बाहर निकल जाने की भावनाओं को क्रमानुसार अवश्य दुहराना चाहिए । इसी प्रकार नाड़ियों को पूर्ण रूप से ढीला रखने का ध्यान रखना चाहिए । इस अभ्यास को लगातार करते रहने से मन में उत्तम गुणों का समावेश होता है और बुराइयाँ छूटने लगती हैं ।

महिलाओं के लिए विशेष उपयोगी कुछ प्राणायाम

समाज की अनेक भ्रान्तियों में से एक यह भी है कि प्राणायाम प्रधानतः पुरुषों के ही अभ्यास की वस्तु है । यह पूर्णतः मिथ्या धारणा है, क्योंकि यह तर्क तो इसी प्रकार का है, जैसे कहा जाय कि जीवनी-शक्ति मात्र पुरुषों के लिए ही आवश्यक है ।

प्राणायाम की पात्रता में स्त्री-पुरुष जैसा कोई भेद नहीं होता । जिस प्रकार गायत्री उपासना का सभी को अधिकार है तथा सभी को लाभ प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्राणायाम का भी लाभ नर-नारी सभी को प्राप्त होता है । हाँ कार्य स्तर, शारीरिक संरचना एवं आवश्यकता भेद से कुछ प्राणायाम महिलाओं के लिए अधिक उपादेय होते हैं । उन्हें जानकर उनका अभ्यास करते हुए वे विशेष लाभ उठाये जा सकते हैं तथा जीवनी-शक्ति की अर्जित सम्पदा का अपने ढंग से उपयोग हो सकता है ।

इस सन्दर्भ में यह तथ्य याद रखा जाना चाहिए कि समस्त जीवधारियों में पायी जाने वाली प्राण-शक्ति ही जीवनी शक्ति कही जाती है । प्राण नासिका द्वारा ग्रहण किया जाने वाला वायु प्रवाह मात्र नहीं है वरन् सूक्ष्म शक्ति जो श्वास के साथ शरीर में जाकर अंगों को स्फूर्ति प्रदान करीब है ।

गायत्री उपासना की दैनिक ब्रह्म सन्ध्या में प्रयुक्त होने वाले षट्कर्मों में 'प्राणायाम' एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है । प्राणायाम के नियमित अभ्यास द्वारा प्राण-शक्ति

का सम्वर्द्धन एवं नियन्त्रण किया जा सकता है । जीवन का मूल स्रोत प्राण है । गर्भवती महिलाएँ यदि नियमित रूप से प्राण सम्वर्द्धन करने वाली उपासना करती रहें तो गर्भस्थ शिशु और माता दोनों को पर्याप्त एवं उचित मात्रा में प्राण-शक्ति मिलने से स्वस्थ एवं प्रसन्न रह सकते हैं और प्रसव के समय पीड़ा का अनुभव नहीं होता । उज्जायी प्राणायाम एवं नाभि पर ध्यान लगाते हुए गहरे श्वास-प्रश्वास का यह अभ्यास महिलाओं के लिए बहुत उपयोगी है । उज्जायी प्राणायाम—इसके अभ्यास को बड़ी सुगमता से लेटे हुए किया जा सकता है । समतल बिछे हुए कम्बल या बिस्तर पर पीठ के बल लेट कर ध्यान को कण्ठ कूप में केन्द्रित करते हुए गहरी श्वास लें एवं छोड़ें । इसमें गले से खर्राटे जैसी ध्वनि निकलती है । इस अभ्यास से स्नायुविक तनाव दूर होता है ।

नाभि या उदर श्वसन के अभ्यास के लिए चित्त लेट कर दोनों नथुनों से दीर्घ श्वास लें और धीरे-धीरे छोड़ें । श्वास खींचते समय अपने ध्यान को उदर प्रदेश के प्रसार एवं छोड़ते समय संकुचन पर लगावें । अपने चित्त को नाभि पर लगाये रखकर ऐसा अनुभव करें कि श्वास नाभि से ही ले रहे हों और छोड़ रहे हों । इनके कुछ दिन तक कुछ मिनटों के नियमित अभ्यास से यह स्वाभाविक हो जाता है और तब अभ्यासी को खुलकर भूख लगती है । चित्त की एकाग्रता बढ़ती है । चित्त की एकाग्रता से प्रसव कष्ट को दूर करने में काफी मदद मिलती है । उपरोक्त दोनों प्राणायाम अभ्यास पूर्ण निरापद है । इनको करने में कोई हानि नहीं है हाँ, नासिका, शीतकारी, कपाल-भाति आदि प्राणायाम बिना योग्य मार्गदर्शक के नहीं करना चाहिए । कुम्भक का यानी देर तक प्राण-वायु को रोक रखने का अभ्यास भी सायंकाल से महिलाओं को कदापि नहीं करना चाहिए । इस सम्बन्ध में एक सहज सूत्र यह है कि गर्भावस्था में महिलाओं को न तो ऐसा कोई भी प्राणायाम अभ्यास करना चाहिए न ही कोई अन्य क्रियाएँ जो पेट व उससे जुड़े सम्पूर्ण प्रदेश पर अनावश्यक अतिरिक्त दबाव डालें । सिर के बल किए जाने वाले आसनों तथा उड्डियान बन्ध आदि से भी इसीलिये बचना चाहिए ।

नाड़ी-शोधन प्राणायाम का अभ्यास महिलाओं द्वारा गर्भकाल समेत सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है । इस अभ्यास से अनेक लाभ है जैसे हार्मोन्स में सन्तुलन, मन की सात्विकता में वृद्धि तथा शरीर की रक्त शुद्ध प्रक्रिया का सन्तुलन । यह सन्तुलन गर्भकाल में लड़खड़ा जाता है, इसीलिये सुबह मितली आना तथा पीड़ा आदि का अनुभव होता है ।

नाड़ी-शोधन—प्राणायाम अभ्यास सरल है सुखासन में बैठ जायें । सर्वप्रथम अँगूठे से दाएँ नाक का छिद्र बन्द कर बाएँ से धीरे-धीरे साँस भीतर खींचे और साँस भरते ही बिना रुके तुरन्त बायाँ छिद्र मध्यमा एवं तर्जनी अंगुलियों से बन्द कर धीरे-धीरे ही श्वास बाहर छोड़ें । साँस खींचते समय यदि एक बार गायत्री मन्त्र का मानसिक जप पूरा हुआ हो तो प्रयास यह रहे कि साँस छोड़ते समय दो बार इस मन्त्र का मानसिक जप पूरा हो सके । अगली बार दाएँ ओर से प्राण-वायु भीतर खींचे और बाएँ से उससे दूने समय तक उसी प्रकार धीरे-धीरे निकालने का अभ्यास करें । यह प्रक्रिया ४ बार सुबह और ४ बार शाम में करना पर्याप्त है । नाड़ी-शोधन का यह अभ्यास महिलाओं को बहुत लाभदायक सिद्ध होता है ।

इन प्राणायामों के साथ ही शिथिलीकरण एवं योग निद्रा का भी अभ्यास दिन में किसी अन्य समय करते रहना अधिक लाभदायक होता है । इससे न केवल विश्रान्तिजन्य लाभ मिलता है वरन् नई प्राण-शक्ति भी प्राप्त होती है ।

यह ज्ञातव्य है कि प्रत्येक प्राणायाम वस्तुतः श्वास की अभ्यस्त गति में असामान्य व्यतिक्रम उत्पन्न करता है । यह व्यतिक्रम घर्षण की प्रक्रिया के कारण होता है । प्राणायाम में प्राण-शक्ति का घर्षण होता है । इस घर्षण से ऊर्जा उत्पन्न होती है । भौतिकी के छात्र-छात्राओं को यह तथ्य सुविदित है । प्राण-शक्ति के इस घर्षण से उत्पन्न ऊर्जा, प्राणायाम के अभ्यासियों के अनेक प्रसुप्त संस्थानों को जागृत कर देती है । प्राणायाम मात्र श्वास वायु का आदान-प्रदान न होकर, संकल्पशक्ति से भी जुड़ा होने से प्राणायाम संकल्प-शक्ति को भी प्रखर-प्रदीप्त बनाता है । साथ ही वह श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया को तालबद्ध एवं क्रमबद्ध बनाता है । इससे व्यक्तित्व में एक सन्तुलन सामंजस्य

तथा सामरस्य उत्पन्न होता है । मधुरता, प्रसन्नता, आनन्द-उमंग और उत्साह की वृद्धि होती है । इस प्रकार व्यक्तित्व परिष्कृत होता है । उसमें देवत्व का अंश बढ़ता है । इसीलिये महिलाओं को भी प्राणायामों का सामान्य अभ्यास अवश्य ही करना चाहिए ।

स्त्रियों की सम्वेदनशीलता एवं भावनात्मकता सामान्य पुरुषों से अधिक होती है और उनके शरीर-तन्त्र पर मन के उतार-चढ़ाव का अधिक तीव्रता से तथा अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है । यही कारण है कि हिस्टीरिया मनःरोग स्त्रियों में अधिक पाये जाते हैं । यही नहीं प्रदर जैसे रोगों तक का कारण जहाँ कई बार आहार सम्बन्धी न्यूनता या गड़बड़ी होती है, वहीं भावात्मक उद्वेग मानसिक तनाव भी इसकी जड़ में प्रायः हुआ करता है । मन को इन उद्वेगों से विरत तथा सन्तुलित बनाये रखने की सामर्थ्य प्राणायाम द्वारा प्राप्त होती है । इसलिये यह तक कहा जा सकता है कि प्राणायाम की आवश्यकता पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कुछ कम नहीं—अधिक ही होती है । अपनी सम्वेदनात्मक तीव्रता के कारण वे प्राण प्रवाह का अधिक आवेशपूर्ण उपयोग करती हैं और उस कमी को वे प्राणायाम के अभ्यास से सुगमता से पूरा कर सकती हैं अन्यथा उनका मन असन्तुलित हो सकता है ।

अतः प्राणायाम की इन विशेषताओं का लाभ महिलाओं को भी उठाना चाहिए । इसी दृष्टि से ऊपर महिलाओं के लिए विशेष उपयोगी उन कुछ प्राणायामों की जानकारी दी गई है, जो कि बिना किसी मार्गदर्शक के घर पर कर सकती हैं । गायत्री-उपासना की अभ्यस्त महिलाएँ प्राणायाम का नियमित सामान्य अभ्यास वैसे भी करती ही हैं । उस सन्दर्भ में ऊपर दी गई जानकारी उन्हें अधिक लाभदायक सिद्ध होगी ।

प्राण-शक्ति के ऊर्ध्वगमन की चमत्कारी परिणतियाँ

प्राण जीवन का आधार है । इसका एक रूप तो वह चेष्टा है जिससे दैनन्दिन जीवन के यान्त्रिक कार्य सम्पन्न होते हैं । शरीर को, इन्द्रियों को वह ही गति देता है । मन भी सूक्ष्म प्राण की प्रेरणा से चंचल रहता तथा शरीरगत हलचलों पर नियन्त्रण रखता है । श्रम से लेकर प्रजनन जैसे स्थूल कार्यों में प्राण की ही भूमिका होती है । अधिकांश व्यक्तियों के जीवन में इस अमूल्य प्राण-शक्ति का उपयोग मात्र शारीरिक चेष्टाओं तथा मन की निकृष्ट आकांक्षाओं की पूर्ति तक ही हो पाता है जबकि उससे असम्भव स्तर के कार्य भी सम्पन्न किए जा सकते हैं । प्राण विद्या के माध्यम से अन्तर्निहित सूक्ष्म शक्ति संस्थानों का जागरण भी सम्भव है जो प्रायः प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं । प्राण की गति को ऊर्ध्वगामी बनाकर असीम शक्ति तथा दिव्य आनन्द की महान उपलब्धियाँ करतलगत की जा सकती हैं ।

सांसारिक मनुष्य की तुलना शास्त्रों में सनातन अश्वत्थ से की गई है । कठोपनिषद् में वर्णन है—ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शावएषोऽश्वत्थः सनातनः, देहयुक्त संसारी जीव मनुष्य सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसका मूल ऊपर और शाखाएँ नीचे हैं । अलंकारिक रूप में अश्वत्थ का अर्थ है—अस्थायी । 'छान्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्' (गीता) महर्षि व्यास के अनुसार उस वृक्ष के पत्ते छन्द हैं । जीव का मूलब्रह्म है । जिसके ऊर्ध्वस्थान लक्ष्य को इंगित करने के लिए ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर सिर में शिखा रखते हैं । जिन शाखाओं के माध्यम से ब्रह्म जीव बनकर इस संसार में अवतरित होता है, वे हैं रीढ़ में नीचे उतर कर शरीर में फैलने वाली सम्वेदन नाड़ियाँ । इनमें इन्द्रियों को गति देने वाले प्राणों के जो स्पन्द हैं, वे ही अश्वत्थ वृक्ष के पत्ते हैं । सामान्य से लेकर असामान्य हर पुरुष को पूर्णता के उच्चतम शिखर पर पहुँचने के लिए शरीरगत प्राण की निम्नतम गतियों से अपनी यात्रा आरम्भ करनी पड़ती है तथा अपनी समस्त चेष्टाओं की सुषुम्ना के माध्यम से ही ऊर्ध्वमूल की ओर आरोहण करना पड़ता है ।

सामान्यतः नाड़ियों में दैनन्दिन जीवन की इन्द्रियों की सम्वेदनाओं एवं निर्देशों का लक्ष्य है—समस्त शाखा प्रशाखाओं सहित प्रमुख प्राण का केन्द्रीय नाड़ी-सुषुम्ना में ऊर्ध्वगमन । प्रायः जन्म जन्मान्तरों के संस्कारों की वृत्तियाँ प्राण के प्रवाह को अपनी मनमर्जी से घुमाती तथा निम्न दिशा में बहने के लिए प्रेरित करती हैं । उसके अनुरूप जीवन संकट को घूमते रहने से कुछ विशेष करते नहीं बनता । प्राण प्रवाह को उल्टी दिशा

में ऊर्ध्व की ओर गमन कराना एक कठिन कार्य है पर असम्भव नहीं । इसके लिए सतत अभ्यास, दृढ़ निष्ठा तथा धैर्य की आवश्यकता होती है । विषयों के निम्नगामी प्रलोभनों से इन्द्रियों को विरत करके उन्हें ऊर्ध्वगामी बनाना ही योग का प्रमुख लक्ष्य है । यह एक प्रचण्ड आध्यात्मिक पुरुषार्थ है जिसके बिना योग का प्रयोजन पूरा नहीं होता ।

'नायत्मा बलहीनेन लभ्यः', बलहीन को आत्मोपलब्धि—सत्य की प्राप्ति नहीं होती । मुण्डकोपनिषद्, की यह उक्ति साधक को शक्ति संचय की प्रेरणा देती है और यह पुरुषार्थ आत्म-प्रवृत्तियों के उन्नयन के बिना सम्भव नहीं हो पाता । स्नायुतन्त्र की सूक्ष्म परती में प्राण का अधोप्रेरित तीव्र सम्वेग जिसे बोलचाल की भाषा में काम शक्ति कहा गया है, की गति को उलटकर ऊर्ध्व दिशा में प्रवाहित कर देने के चमत्कारी परिणाम सामने आते हैं । सुषुम्ना में मुख्य प्राण के इस तीव्र पूर्ण प्रवाह को ही हठयोग में कुण्डलिनी शक्ति कहा गया है । कठोपनिषद् में वर्णन है—'त देव शुक्रं तद ब्रह्म तदेवामृत मुच्यते' अर्थात्—कुण्डलिनी का ही अधोमुख प्रवाह का कामशक्ति और ऊर्ध्वमुख प्रवाह आत्मशक्ति है । मात्र दिशा बदल देने से शक्ति का स्वरूप बदल जाता है और तदनुरूप मनुष्य का स्तर भी । एक ही शक्ति अधोगामी बनकर मनुष्य को पशु-चेष्टाओं में निरत करती है, भव-बन्धनों के पाश में बाँधती है, जबकि ऊपर उठकर जीवन मुक्ति प्रदान करने वाली बन जाती है । इन दोनों में से हर किसी के तीव्र प्रवाह के समक्ष शरीर से लेकर बुद्धि तक की सभी वृत्तियाँ गौण पड़ जाती हैं । इस प्रवाह के चरम सम्वेग का नाम ही यौवन है । जब तक वह सम्वेग शरीर में विद्यमान है, तभी तक कुछ विशेष करने की आशा की जा सकती है । योग मार्ग पर चलना भी ऐसी ही स्थिति में सम्भव है ।

भ्रू-मध्य से लेकर रीढ़ के आधार बिन्दु-मूलाधार तक सुषुम्ना में छः चक्र अथवा कुण्डल हैं । भ्रू-मध्य के पीछे कपाल में आज्ञाचक्र, कण्ठ में विशुद्धाख्य चक्र, हृदय में अनाहत चक्र, नाभि में मणिपूर चक्र, उपस्थ में स्वाधिष्ठान तथा रीढ़ के आधार पर मूलाधार चक्र हैं । सुषुम्ना के ऊपर मस्तक की मूर्धा में अवस्थित चेतना के सर्वोच्च केन्द्र का नाम सहस्रार है । ऊपर से नीचे की ओर अवतरित होते हुए प्राण की दिव्यता प्रत्येक चक्र या कुण्डल को पार करने में घटती चली जाती है । कुण्डलों में होकर प्रवाहित होने के कारण ही प्राण के सम्वेग का नाम कुण्डलिनी शक्ति है । शरीर शास्त्रियों का मत है कि सुषुम्ना में अवस्थित ये चक्र महत्त्वपूर्ण स्नायु केन्द्र हैं जहाँ से सूक्ष्म स्नायु प्रवाह निकल कर फैलते हैं । स्नायु तन्त्र की सम्वेदनायें भी इन्हीं केन्द्रों से नियन्त्रित होती हैं ।

मुख्य प्राण ही सुषुम्ना से निकलने वाली नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में वितरित होकर शरीर की गतिविधियों का संचालन करता है । उसका प्रवेग जब अधोगामी दिशा में तीव्र होता है तो मन, बुद्धि तथा अन्य इन्द्रियों की वृत्तियाँ गौण हो जाती हैं पर काम का उभार अधिक हो जाता है । मनुष्य काम के वशीभूत हो जाता है । वृहद उपनिषद में वर्णन है—'सर्वेषामानन्दानासुपस्थ एकायनम्' अर्थात् उस स्थिति में मुख्य प्राण के प्रवाह में सभी स्नायुविक सम्वेदनों के सुख एकत्रित हो जाते हैं । तब कामोपभोग में ही मनुष्य सबसे बड़ा आनन्द मानने लगता है । यह एक ऐसी भ्रान्ति है जिससे सामान्य व्यक्तियों को प्रायः निकलते नहीं बनता ।

सुषुम्ना के माध्यम से प्राण की गति को ऊर्ध्वगामी बना देने पर जैसे-जैसे वह ऊपर उठता है, प्रत्येक चक्र के बाद उसका तेज बढ़ता जाता है । फलस्वरूप शरीर की निम्नतम वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं । चक्रबेधन के साथ शक्ति की धारा फूट पड़ती है । ब्रह्मरन्ध्र में प्राण के प्रवेश तथास्थित हो जाने से समाधि की दिव्य स्थिति प्राप्त होती है । सहस्रार से आनन्द की निर्झरिणी ऐसी ही स्थिति में प्रवाहित होने लगती है जिसकी मस्ती में साधक डूबा रहता तथा अनुभव करता है कि उस दिव्य आनन्द के समक्ष संसार के सभी सुख तुच्छ हैं ।

प्राण के ऊर्ध्वगमन की स्थिति में उसकी दिव्यता बढ़ने का अभिप्राय भौतिकी की भाषा में यह है कि प्रत्येक चक्र के बाद प्राण की तरंग दीर्घता घटती तथा ऊर्जा बढ़ती है । सहस्रार में पहुँचकर वह प्रचण्ड सामर्थ्यवान दिव्य-ज्योति के रूप में परिणत हो जाती है अर्थात् वहाँ प्राण की ऊर्जा अनन्त हो जाती है । समाधि की स्थिति में पहुँचे साधकों की नाड़ी एवं हृदय

की धड़कन इसी कारण निम्नतम हो जाती है । सुषुम्ना में ऊपर की ओर उठती कुण्डलिनी शक्ति चित्त के कुसंस्कारों को भी परिशोधित करती जाती है । जैसे-जैसे चित्त निर्मल होता जाता है, वैसे-वैसे उसमें सत्य का प्रकाश स्वयं की प्रदीप्त होने लगता है । साधकों को अदृश्य के गर्भ में निहित परोक्ष अनुभूतियाँ ऐसी ही स्थिति में होने लगती हैं ।

प्राण-शक्ति का उपार्जन प्राणायाम से

साधारणतया श्वास-प्रश्वास की विशिष्ट क्रिया को प्राणायाम कहते है ।

छाती से पसली के भीतर दोनों ओर दो फेफड़े (फुफ्फुस) फैले हुए हैं । श्वास-प्रश्वास क्रिया के यह प्रधान अंग हैं । इनकी बनावट शहद की मक्खियों के छत्ते की तरह है । हवा भरने के लिए इनमें छोटे-छोटे कोठे बने हुए हैं । इन वायु मन्दिरों की संख्या १६ से १८ करोड़ के लगभग होती है । यदि इन कोठरियों को खोलकर उनकी दीवारें पृथ्वी पर बिछा दी जा सकें तो इनका क्षेत्रफल १३० से १५० वर्ग गज होगा। छाती की कोठरी में दोनों फेफड़े अलग-अलग हैं पर जहाँ पसलियों का जुड़ाव है, उसी स्थान पर हृदय, रुधिर और स्वर की बड़ी नाड़ियाँ इन्हें आपस में जोड़ती हैं और रक्तोपवाहक धमनियाँ तथा रक्तोपवाहक शिराएँ फेफड़ों को हृदय से सम्बन्धित करती हैं । यह फेफड़े एक बहुत ही पतली किन्तु मजबूत झिल्ली के अन्दर रखे हुए हैं जिसे अंग्रेजी में 'हैल्यूरल सैक' कहते हैं । जब साँस इन फेफड़ों में भरती है तो यह फैलते हैं और जब साँस बाहर निकलती है तो सिकुड़ जाते हैं ।

सभी जानते हैं कि हृदय दिन-रात रक्त को फेंकता रहता है । जब हृदय द्वारा रक्त फेंका जाता है तो वह धमनियों और पतली धमनियों में होता हुआ शरीर के हर भाग में पहुँचता है और फिर दूसरे रास्ते से पतली शिराओं में होता हुआ मोटी शिराओं में आकर हृदय में वापस पहुँच जाता है । आरम्भ में जब यह रक्त शरीर में घूमने लगता है तो स्वच्छ एवं शुद्ध होता है, किन्तु जब वापस लौटता है तो शरीर में हर घड़ी उत्पन्न होते रहने वाले विष उसमें मिल जाते हैं । शहर की गन्दी नालियों की भाँति काला-नीला होकर यह रक्त हृदय की दाहिनी कोठरी में जमा होता है । यहाँ से उसे एक दूसरी कोठरी में होकर शुद्ध होने के लिए वह बालों से भी बारीक नालियों द्वारा फेफड़ों की उन हवा वाली लाखों कोठरियों में पहुँचता है जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ।

साँस द्वारा फेफड़ों में जो शुद्ध हवा पहुँचती है वह इस विष को अपने साथ बाहर उड़ा लाती है । चौबीस घण्टे में मनुष्य के शरीर से साँस द्वारा इतना विष बाहर निकलता है कि उससे बारह हाथियों की मृत्यु हो सकती है । यदि साफ हवा पर्याप्त मात्रा में न पहुँचे तो शरीर प्राण-वायु के जीवनदायक लाभों से वंचित तो रहेगा ही साथ ही अशुद्ध रक्त की गन्दगी भी ठीक न हो सकेगी और परिणाम यह होगा कि वह थोड़ी-थोड़ी अशुद्धता धीरे-धीरे जमा होकर स्वास्थ्य बिगाड़ देगी और नाना प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न करेगी ।

इसलिये गहरी और पूरी साँस लेने की पूरी आवश्यकता है । जिससे वायु फेफड़े के हर भाग में जाकर सम्पूर्ण वायु मन्दिरों में से रक्त की सफाई कर सके । अधूरी और उथली साँस लेने से कुछ थोड़े से वायु मन्दिरों की सफाई हो जाती है, क्योंकि उथली साँस का दबाव इतना नहीं होता है कि वह हर एक कोठे तक पहुँच सके, जब हवा वहाँ तक पहुँचेगी ही नहीं तो सफाई किस प्रकार होगी ? साँस का सम्पर्क होने पर रक्त की अशुद्धता कार्बोनिक एसिड गैस बाहर निकल जाती है और साँस का प्राण ऑक्सीजन-रक्त में घुल जाता है । यह प्राण-शक्ति उस शुद्ध हुए रक्त के दूसरे दौरे के साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पहुँचकर उन्हें ताजगी और स्फूर्ति प्रदान करती है । शुद्ध रुधिर में एक चौथाई भाग—ऑक्सीजन का होता है । यदि इसमें न्यूनता हो जाय तो उसका प्रभाव पाचन क्रिया पर अनिवार्य रूप से पड़ता है । ऐसे व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द होने लगती है ।

इन सब प्रक्रियाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें पूरी गहरी साँस लेने की आवश्यकता है । जिससे रक्त की सफाई अच्छी तरह होकर अशुद्धता शेष न रहने पावे और शुद्ध हुए रक्त में पर्याप्त ऑक्सीजन मिल जाय, जिससे अंग-प्रत्यंगों में ताजगी स्फूर्ति पहुँचती

रहे और पाचन शक्ति में निर्बलता न आने पाये । जठराग्नि मन्द होने से अन्य अंगों शिथिलता आने लगती है और वे अपने काम को अधूरा एवं दोषपूर्ण छोड़ते हैं । यह क्रम यदि कुछ समय जारी रहे तो जीवन यात्रा में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं और विविध भाँति के रोगों का सामना करना पड़ता है ।

अधूरी साँस लेने वालों के फेफड़ों का बहुत-सा भाग निकम्मा पड़ा रहता है । जिन मकानों की सफाई नहीं होती है उनमें गन्दगी, मकड़ी, मच्छर, छिपकली, कीड़े-मकोड़े आदि का जमघट होने लगता है । इसी प्रकार फेफड़ों के जिन वायु कोष्ठों में साँस की वायु नहीं पहुँचती, उनमें क्षय, खाँसी, जुकाम, उरुक्षत्, कफ, दमा आदि के रोग-कीट जड़ जमा लेते हैं । धीरे-धीरे वहाँ वे निर्बाध रीति से पलते रहते हैं और भीतर अपना इतना आधिपत्य जमा लेते हैं कि फिर उनका निकाल बाहर करना कठिन या असम्भव हो जाता है ।

प्राणायाम विज्ञान का सबसे पहला और प्रारम्भिक पाठ यह है कि हमें पूरी और गहरी साँस लेनी चाहिए यह आदत डालने का प्रयत्न करना चाहिए कि सदैव इस प्रकार साँस ली जाय कि वायु से पूरे फेफड़े भर जायें । यह कार्य झटके से या उतावली में नहीं होना चाहिए । धीरे-धीरे इस प्रकार पूरी साँस खींचनी चाहिए कि छाती भरपूर चौड़ी हो जाय और फिर उसी धीरे क्रम से वायु को बाहर निकाल देना चाहिए । यह रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध रखने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंगों में चैतन्यता देने वाली, पाचन शक्ति ठीक बनाये रखने वाली है । इसलिये आरोग्य और दीर्घ जीवन देने वाली है ।

छाती का कमजोर व कम चौड़ा होना स्वास्थ्य के लिए एक खतरनाक अभिशाप है जिसकी ओर हर व्यक्ति को जागरूक होने की आवश्यकता है जापान के प्रसिद्ध डॉक्टर शोजाबुरो ओटेव ने अपनी पुस्तक 'दी साइन्स एण्ड आर्ट ऑफ ब्रेकिंग एज ए प्रोफिलैक्टिक एण्ड दी रैप्यूटिक एजेन्ट इन कंजम्पशन' नामक पुस्तक में अनेक प्रमाणों के साथ यह सिद्ध किया है कि 'तपैदिक का प्रधान कारण फेफड़ों का कमजोर होना है । उपरोक्त डॉ. साहब ने वेक्टिरियोलॉजीकल इन्स्टीट्यूट, बेगुली सेनिटोरियम, नेशनल सेनिटोरियम, मैरिटी मेडीकल कॉलेज आदि विख्यात अस्पतालों के प्रमुख पदों पर रहकर जो प्रामाणिक अनुभव एकत्रित किए हैं उनसे यह भली प्रकार प्रकट होता है कि अधूरी साँस लेने से जिन व्यक्तियों ने अपनी छाती को निर्बल बना लिया है वे संक्रामक रोगों के शिकार होकर अक्सर अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं और जिन्हें गहरी एवं पूरी साँस लेने की आदत है वे अन्य कठिनाइयों के होते हुए भी इतनी सहन शक्ति रखते हैं कि कठिन रोगों से बहुत समय तक युद्ध करते रहें एवं उन पर विजय प्राप्त कर सकें ।

शरीर विज्ञान पर नूतन प्रकाश डालने वाले यूरोप के ख्याति प्राप्त डॉक्टर वर्नर मेकफेडन ने अपनी पुस्तकों में गहरी साँस लेने की आवश्यकता पर अत्यधिक जोर दिया है और स्वस्थता से पूरी साँस लेने का बहुत घना सम्बन्ध बताया है । जबकि अन्य डॉक्टर प्राणायाम के अद्भुत शारीरिक लाभों से अपरिचित थे, तब आज से करीब २०० वर्ष पूर्व एक जर्मन पण्डित इमैनुएल केंट ने अपनी पुस्तक में घोषित किया था कि साँस लेने की प्रक्रिया में सुधार कर लेने के कठिन रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है । क्षय रोग के विशेषज्ञ डॉ. मुथू ने अपने अस्पताल में अन्य उपचारों के साथ-साथ रोगियों को प्राणायाम करना अनिवार्य रखा । अमेरिका के योगी रामाचरक ने 'साइन्स ऑफ ब्रेथ' पुस्तक लिखकर अपने देश की जनता को प्राणायाम की उपयोगिता भली प्रकार समझाई है । उनके विचारों से अंग्रेजी भाषी लोगों का ध्यान प्राणायाम की ओर विशेष से रूप खिंचा है और जगह-जगह श्वास-प्रश्वास क्रियाएँ सिखाने वाली संस्थानों का जन्म हो रहा है ।

डॉ. शोजाबुज ओटेव ने अपना अनुभव प्रकट करते हुए लिखा है, "जब मैं पाँच वर्ष का था तभी से मुझे बीमारियों ने घेर लिया था, आरम्भ में मेरी बायीं जाँघ में अस्थि शोथ हुआ, अस्पताल में चीर-फाड़ हुई जिसमें बेकाम हड्डी के तीन टुकड़े निकाले गए । इसके बाद में बहुत ही दुर्बल, पीला और रक्तहीन हो गया । डॉक्टरों ने मेरी कम चौड़ी सुकड़ी हुई छाती को देखकर सन्देह प्रकट किया कि कहीं तपैदिक का शिकार न हो जाऊँ । वैसे में इतना दुर्बल और रुग्ण आकृति का हो गया था कि हर कोई मुझे तपैदिक का रोगी समझता था ।

अनेक उपचारों के बाद भी जब किसी प्रकार मेरे स्वास्थ्य में कोई उन्नति न हुई तो निराश होकर मैं अपनी मृत्यु की घड़ियाँ गिनने लगा, इन्हीं दिनों मैंने एक व्याख्यान में सुना कि प्राणायाम द्वारा अधिक ऑक्सीजन प्राप्त करके फेफड़ों को मजबूत और स्वास्थ्य को उन्नत बनाया जा सकता है । उसी दिन से मैंने प्राणायाम करना प्रारम्भ कर दिया । सोते, जागते सदा मुझे प्राणायाम की ही धुन लगी रहती है । इससे मेरे शरीर की खूब उन्नति हुई, एक वर्ष के भीतर ही छाती का घेरा ४ इंच अधिक बढ़ गया और ऊँचाई भी करीब-करीब ४ इंच ही बढ़ी, इससे अन्दाज लगाया जा सकता है कि मेरा स्वास्थ्य किस तेजी से आगे बढ़ा । डॉक्टरों से जाँच कराई तो उन्होंने बताया कि अब फेफड़े इतने मजबूत हो गए हैं कि तपैदिक होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । २ अगस्त सन् १६०५ से लेकर १८ जुलाई सन् १६०७ तक के दो वर्षों के भीतर मेरा वजन करीब २२ पौंड बढ़ गया । तब से मैं नित्य प्राणायाम करता हूँ और सदा स्वस्थ रहता हूँ ।

"मैं प्राणायाम का कट्टर भक्त हूँ । मेरा विश्वास है कि उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए प्राणायाम एक संजीवन विद्या है ।"

पूरी साँस लेने का अभ्यास डालने से छाती की चौड़ाई बढ़ती है, फेफड़ों की मजबूती और वजन में वृद्धि होती है । हृदय की कमजोरी में सुधार होकर रक्त संचार की क्रिया में एक चैतन्यता दिखाई देने लगती है । पाठकों को श्वास विज्ञान के इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक विचारना चाहिए और अविलम्ब पूरी एवं गहरी साँस लेने की आदत डालने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए । कुछ दिन साँस क्रिया पर ध्यान रखने से और भूल सुधारते रहने से यह आदत भली प्रकार पड़ जाती है ।

प्राणायाम विज्ञान की दूसरी शिक्षा 'नाक से श्वास लेना' है । यद्यपि मुँह से भी साँस ली जा सकती है पर वह उतनी उपयोगी कदापि नहीं हो सकती जितनी कि नाक से लेने पर होती है । एकबार एक जंगी जहाज के यात्रियों में चेचक बड़े उग्र रूप से फैली । डॉक्टरों ने इनकी विशेष सावधानी से जाँच करते रहने का प्रयत्न किया । मृतकों के बारे में उनकी रिपोर्ट थी कि यह लोग मुँह से साँस लेते थे । उस जहाज में एक भी मनुष्य ऐसा न मरा जिसे नाक से साँस लेने की आदत थी । जुकाम और सर्दी के रोगों के बारे में भी डॉक्टरों की जाँच का यही निष्कर्ष है कि मुँह खोलकर साँस लेने से इनका प्रकोप विशेष रूप से होता है और भी अनेक छोटे-बड़े रोग इसी बुरी आदत के कारण होते देखे गए हैं । नाक से फेफड़ों तक जो हवा पहुँचाने वाली नली गई है उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि वायु को उचित रूप से संशोधन, परिमार्जन करके भीतर पहुँचावे । नासिका के छिद्रों में छोटे-छोटे बाल होते हैं । यह एक प्रकार की चलनी है जिसमें धूल व गन्दगी के अणु अटके रह जाते हैं और छनी हुई वायु भीतर जाती है । जब आप नासिका के छिद्रों में अंगुली डालकर उनकी सफाई करते हैं तो उनमें से कुछ मैल निकलता है, यह मैल वह कचरा है जो वायु के छानने से जमा हुआ है, नासिका में एक प्रकार का तरल पदार्थ स्रवित होता रहता है, बालों में अटकने के सिवाय जो कचरा बच रहता है व इस स्राव में चिपक जाता है । वायु का इतना संशोधन नासिका के छिद्रों में हो जाने के उपरान्त वह आगे चलती है । श्वास नली जो फेफड़े तक मस्तिष्क में होती हुई गई है, इतनी लम्बाई में यात्रा करते हुए वायु का तापमान सह्य हो जाता है । यदि वह गरम हुई तो श्वास नली के ताप के अनुसार ठण्डी हो जाती है और यदि ठण्डी हुई हो तो गरम हो जाती है । इस प्रकार फेफड़ों तक पहुँचते-पहुँचते वह सब प्रकार सह्य और संशोधित हो जाती है, किन्तु यदि मुँह से साँस ली जाय तो परिणाम बिल्कुल दूसरी ही प्रकार का हो जाता है । मुँह में नासिका की तरह बाल नहीं जो वायु को छानें । दूसरे मुँह का छिद्र इतना बड़ा है कि उसमें वायु का गर्द-गुबार बिना रुकावट के चला जा सकता है । तीसरे मुँह से फेफड़ों की दूरी बहुत कम है, इसलिये वायु की सर्दी-गर्मी में भी विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता । इस प्रकार बिना छनी गर्द-गुबार युक्त, सर्द-गर्म हवा मुँह के द्वारा जब फेफड़ों में पहुँचती है तो उन्हें हानि पहुँचाती है और बीमारियों की उत्पत्ति करती है । देखा गया है कि जो लोग रात में मुँह से साँस लेते हैं सवेरे उनका मुँह सूखा हुआ, दाह युक्त, कड़वा और बदबूदार होता है । रोगियों को यह लत हो तो उनके स्वस्थ होने में अनावश्यक देरी लग जाती है ।

योगियों को, प्राणायाम के अभ्यासियों को यह कड़ी चेतावनी दी जाती है कि वे सदा नाक से साँस लिया करें । यदि नासिका मार्ग में कुछ रुकावट हो, जिसके कारण मुँह से साँस लेने के लिए बाध्य होना पड़ता हो तो नासिका रन्ध्रों की सफाई कर लेनी चाहिए । यदा-कदा इस सफाई को अभ्यास की तरह कर लिया जाया करे तो इस प्रकार की रुकावट उत्पन्न नहीं होने पाती ।

प्राण-शक्ति के सम्वर्धन हेतु प्रयोग उपचार !

साँस को जीवन कहते हैं । मनुष्य को कितना जीना है, यह अनुमान उसकी श्वास-प्रश्वास की क्रिया को देखकर सहज ही लगाया जा सकता है । मृत्यु का मोटा ज्ञान साँस चलना बन्द हो जाने से किया जाता है । नाड़ी की धड़कन बन्द होना श्वास बन्द होने का ही लक्षण है । श्वास का सामान्य आवागमन ही फेफड़ों में तथा अन्य अंग अवयवों में सिकुड़ने-फैलने की हलचल उत्पन्न करता है । उसी से दिल धड़कता है-रक्त संचार होता है और माँसपेशियों का आकुंचन प्रकुंचन क्रम चलता है । जिस प्रकार पेण्डुलम का हिलना घड़ी की गतिविधियों को स्वसंचालित रखने का आधार होता है, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास क्रिया को एक प्रकार से समस्त हलचलों का उद्गम केन्द्र कहा जा सकता है ।

फेफड़ों का आकुंचन-प्रकुंचन उसकी क्रियाशीलता जीवन का प्रथम चिन्ह है । गर्भस्थ शिशु के फेफड़े तो होते हैं और दिल भी लप-डप करता रहता है, पर यह भी एक तथ्य है कि उसके फेफड़े तब बन्द रहते हैं । रक्त की सफाई प्राण-वायु की आपूर्ति माँ के श्वसन तन्त्र द्वारा ही सम्पन्न होती रहती है । प्रसवोपरान्त जैसे ही नवजात शिशु प्रथम बार रुदन करता है उसके फुफ्फुसीय कोश खुल जाते हैं और स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करने लगते हैं विशेषज्ञों का कहना है कि फेफड़ों को क्रियाशील होने की आरम्भिक प्रक्रिया में यदि तीन मिनट की देर हो जाय तो बच्चे की मृत्यु हो जाती है । इससे कम समय में ऑक्सीजन का मानसिक स्तर गिर जाता है, चिकित्सा विज्ञान भाषा में जिसे— 'एनोक्सिमा ऑफ दी ब्रेन' कहते हैं । इससे अल्पमन्दता, मृगी जैसे कई मनोविकार पैदा हो जाते हैं । फेफड़े और हृदय शरीर के स्थूल अवयव मात्र दिखते हैं पर इनमें रक्त संचार और वायु के आवागमन के अतिरिक्त जीवनदायी सूक्ष्म प्राण का भी सतत प्रवाह होता रहता है । यदि इसके नियन्त्रण नियमन का विज्ञान जाना-समझा जा सके तो शारीरिक अवयवों की क्रियाशीलता को अक्षुण्ण रखा और बीमारियों से छुटकारा पाया जा सकता है । तब निरोग एवं दीर्घ जीवन का सुयोग सहज ही उपलब्ध हो जाता है ।

सामान्यतया हममें से अधिकांश व्यक्ति साँस की, प्राण की महत्ता को नहीं जानते और साधारण रूप से चलने वाली उथली तथा अव्यवस्थित श्वसन क्रिया पर ही निर्भर रहते हैं । इससे फेफड़ों के १/६वें भाग का ही श्वसन क्रिया में उपयोग हो पाता है, शेष निष्क्रिय पड़ा रहता है । इस प्रकार आधे-अधूरे, अस्त-व्यस्त तरीके से चलने वाली साँस से न केवल फेफड़ों की कार्य-क्षमता घटती है वरन् अनेकानेक, शारीरिक, मानसिक, आधिव्याधियों का शिकार बनना पड़ता है । यदि श्वास-प्रश्वास क्रिया का विस्तार किया जा सके, प्राण के आयाम को बढ़ाया जा सके, तो शारीरिक-मानसिक आरोग्य के साथ ही शक्ति उपार्जन का लाभ भी सहज ही उपलब्ध हो सकता है । श्वास-प्रश्वास की क्रिया को क्रमबद्ध, लयबद्ध, तालबद्ध करने, उसकी साधारण अनवरत प्रक्रिया की अव्यवस्था को दूर कर व्यवस्था के बन्धनों में बाँधने की प्रक्रिया का नाम-प्राणायाम है । अध्यात्म साधनाओं में आन्तरिक परिशोधन, पवित्रता सम्वर्धन प्राण-ऊर्जा के उन्नयन का महत्त्वपूर्ण कार्य इसी के माध्यम से सम्पन्न होता है । शारीरिक आरोग्य का लाभ तो इससे सर्व विदित ही है । फेफड़े सुदृढ़ होने अधिक मात्रा में प्राण-वायु के शरीर में प्रवेश करने से जीवन तत्व भी अधिक मिलते हैं और परिशोधन की गति भी तीव्र होती है । स्थूल और सूक्ष्म शरीरों पर स्वास्थ्य सम्वर्धन और मानसिक परिष्कार में प्राणायाम का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है । कारण शरीर के भाव संस्थान पर भी इस साधन की उपयुक्त प्रतिक्रिया होती है । कुसंस्कारों-दोष-दुर्गुणों का निराकरण होता है । अन्तरंग की पवित्रता बढ़ती है । अन्तःकरण में श्रेष्ठ संस्कारों का उभार होने लगता है । ऐसी स्थिति बनती चले तो आत्मिक प्रगति में

किसी प्रकार का सन्देह न रह जायेगा । मनुस्मृति एवं अमृतनादोपनिषद् में कहा भी है । "जिस प्रकार अग्नि में डालने-तपाने से सोने आदि धातुओं के मल जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के विकार दूर हो जाते हैं" अतः मनुष्य को सर्वदा प्राणायामपरायण होना चाहिए ।

पाश्चात्य जगत् के वैज्ञानिक भी अब प्राणायाम की महत्ता को समझने और उस पर गहन अनुसन्धान करने में निरन्तर लगे हुए हैं । यद्यपि उनकी पहुँच अभी 'डीप ब्रीदिंग' और उसकी फलश्रुति स्वास्थ्य सम्वर्धन तक ही सीमित है । इन विशेषज्ञों के अनुसार मनुष्य को भोजन से मिलने वाली शक्ति मात्र ३० प्रतिशत ही होती है । शेष ७० प्रतिशत शक्ति को श्वसन द्वारा स्नायुतन्त्र को प्रदान की गई क्षमता से प्राप्त होती है । प्राणायाम से स्नायुतन्त्र को पर्याप्त मात्रा में शक्ति मिलती है और वह बलिष्ठ बनता है । खाद्य पदार्थों की अपेक्षा प्राण-वायु से पोषक तत्व अधिक मात्रा में होते हैं । अनुसन्धानकर्त्ता वैज्ञानिकों ने परीक्षणोपरान्त पाया है कि जीवनदायी वायु से पोषक तत्व श्वसन द्वारा सीधे रक्त प्रवाह में घुल जाते हैं । एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति प्रतिदिन २४ घण्टे में १३००० लीटर वायु का सेवन करता है जबकि भोजन मात्र एक किलो और पानी दो लीटर उदरस्थ करता है ।

मूर्धन्य वैज्ञानिक डॉ. थ्रिसे ब्रूजे ने फेफड़ों और हृदय के क्रिया-कलापों पर प्राणायाम के प्रभावों का गहन अध्ययन किया है । उनका कथन है कि प्राण योग का साधक अपनी इच्छा शक्ति में अभिवृद्धि करके हृदय की गति को नियन्त्रित कर लेता है, साथ ही उसकी क्रिया शक्ति भी अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाती है, जिसे वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा मापा जा सकता है । उनके अनुसार सामान्य व्यक्ति की तुलना में प्राणायाम का साधक इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अपनी काया में १० प्रतिशत प्राण-वायु की अतिरिक्त मात्रा धारण करने में सक्षम हो सकता है ।

प्राणायाम की आरम्भिक क्रिया नियमित, नियन्त्रित एवं लयबद्ध तरीके से पूरी गहरी साँस लेने से आरम्भ होती है । आमतौर से व्यक्ति असावधानीपूर्वक अस्तव्यस्त तरीके से उथली साँस लेता है । इससे जीवनी-शक्ति घटती और विभिन्न प्रकार की व्यथायें प्रकट होती हैं । साँस द्वारा खींची गई वायु यदि फेफड़ों को पूर्णता से नहीं भर पाती तो इससे उसका जो हिस्सा रिक्त बना रहता है वह धीरे-धीरे निष्क्रिय हो जाती है और विषाणुओं का आश्रय स्थल बन जाता है । वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रायः व्यक्ति अपने फेफड़ों की कुल क्षमता का छठवाँ भाग ही उपयोग कर पाता है, यदि इसकी पूरी क्षमता का सदुपयोग किया जा सके तो टी. बी., जैसी प्राणघातक बीमारियों से सहज ही छुटकारा पाया जा सकता है । गहरी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से जीवनदायी प्राण-वायु की अधिकतम मात्रा का धारण करना सम्भव है । हर सामान्य श्वास के साथ जहाँ आम मनुष्य २१ प्रतिशत ऑक्सीजन की मात्रा को ग्रहण करता और १२ प्रतिशत विषाक्त 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' को निष्कासित करता है, प्राणायाम के अभ्यास द्वारा इस अनुपात को कई गुना बढ़ाया जा सकता है ।

पूरी और गहरी साँस लेने का यदि अभ्यास डाला जा सके तो इससे फेफड़े भी मजबूत होते हैं, साथ ही शुद्ध रक्त संचार से हृदय की दुर्बलता दूर होने लगती है । धमनियों में प्रवाहित रक्त कणों की प्रचुरता, लालिमा और चमक जीवनी-शक्ति को बढ़ाती है । इसकी अभिवृद्धि प्राण-वायु की अधिकता से ही सम्भव हो जाता है । शिराओं में बहने वाले रक्त में रक्त कण न्यून, धीमी गति वाले और नीले रंग के होते हैं । यह रक्त की अशुद्धता का परिचायक है जो ऑक्सीजन की कमी के कारण उत्पन्न होती है । इससे व्यक्ति में निराशा और निष्क्रियता आती है । फेफड़ों का प्रमुख कार्य वायु कोशों की सहायता से शरीर के सभी अंग-अवयवों तक चौबीस घण्टे की अवधि में ३५ हजार पिंट रक्त की मात्रा पहुँचा कर उन्हें प्राणवान एवं क्रियाशील बनाये रखना है । रक्त और ऑक्सीजन का सम्मिश्रित स्वरूप ही ऑक्सी-हीमोग्लोबिन है । व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध तरीके से ली गई गहरी श्वास-प्रश्वास का अर्थ है शरीर में ऑक्सी-हीमोग्लोबिन नामक जीवनदायी तत्व की प्रचुरता, उत्साहवर्धक स्फुरणा की सक्रियता की जागृति इसी की परिणति है । जीर्ण-शीर्ण कोशिकाओं, विषैले पदार्थों को भी निकाल बाहर करने में इससे सहायता मिलती है । प्राणायाम

द्वारा गहरी साँस लेने का अभ्यास बना लेना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक सिद्ध होगा ।

साधारणतया एक स्वस्थ व्यक्ति १८ से २० श्वास प्रति मिनट लेता है । श्वसन की गति प्राणी जगत की विभिन्न जातियों में अलग-अलग किन्तु लगभग स्थिर है जो प्राणी प्रति मिनट कम से कम साँस लेता है, उसी अनुपात में उसका जीवनकाल निर्धारित होता है । श्वसन दर का आयु से घनिष्ठ सम्बन्ध है । हृदय की धड़कन, जिस पर सामान्य स्थिति में कोई ऐच्छिक नियन्त्रण नहीं रहता, श्वास की गति से चौगुनी गति के साथ स्पंदित होती रहती है । यदि साँस की गति १८ प्रति मिनट है तो हृदय की गति ७२ स्पन्दन, प्रति मिनट होगी । इसी तरह माँसपेशियों में सन्निहित मायोग्लोबिन नामक प्रोटीन के प्रवाह की गति हृदय गति से ठीक चार गुनी अधिक होगी ।

इसे मनुष्य की मूर्खता ही कहना चाहिए कि प्रकृति में भरपूर परिमाण में जीवनदायी प्राण-वायु विद्यमान है । पर श्वास लेने और प्राण ऊर्जा के आकर्षण की सही विधि ज्ञात न होने के कारण वह प्रकृति प्रदत्त अनुदानों का लाभ नहीं उठा पाता । शारीरिक रुग्णता, मानसिक उद्विग्नता-विकार ग्रस्तता से घिरे जीवन की इति श्री करता रहता है । हम में से कितने ही लोग मुँह से साँस लेते हैं जबकि अधिसंख्य व्यक्ति 'कालर बोन ब्रीदिंग' और 'रिब ब्रीदिंग' के अभ्यस्त होते हैं । यह तीनों ही श्वसन पद्धतियाँ स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं । स्वास्थ्य विशेषज्ञों के अनुसार मुँह से साँस लेने वालों को प्रायः नजला, जुकाम, खाँसी आदि गले की बीमारियों का शिकार होते देखा गया है । नाक द्वारा साँस लेने से अन्दर प्रविष्ट होती वायु में जो भी धूल कण, गन्दगी, रोग कारक जीवाणु आदि मिले होते हैं, वे नासिका मार्ग में ही रोक लिए जाते हैं, फेफड़ों तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती । 'कालर बोन ब्रीदिंग' में फेफड़ों को पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं हो पाती क्योंकि इसमें कन्धे ऊपर उठाकर श्वास खींची जाती है । स्वास्थ्य के लिए इस प्रकार श्वसन प्रक्रिया को उत्तम नहीं माना जा सकता । इसी तरह 'रिब ब्रीदिंग' के अन्तर्गत पेट को नीचा करने के कारण कुछ ऑक्सीजन की मात्रा फेफड़ों तक पहुँचती अवश्य है पर वह भी पर्याप्त नहीं होती । प्राणायाम उक्त तीनों ही श्वसन पद्धतियों से भिन्न गहरी एवं लयबद्ध प्रक्रिया है । यह प्राण-तत्व के नियन्त्रण की जीवनी-शक्ति के सम्वर्धन की प्रक्रिया है ।

अध्ययनरत चिकित्सा विज्ञानियों ने अब प्राणायाम को उपचार हेतु प्रयोग करने की विधि-व्यवस्था अपनाई है । उनका कथन है कि त्वचा के छिद्रों तथा श्वास के साथ जो हानिकारक जीवाणु और रोगकारक विषाणु शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं उन्हें निकाल बाहर करने में प्राणायाम प्रक्रिया पूर्ण सक्षम है । जीवनी-शक्ति के सम्वर्धन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । सामान्य श्वास-प्रश्वास से मात्र जीवन चर्या चलती है पर अधिक सशक्तता प्राप्त करने के लिए हमें अतिरिक्त ऊर्जा की आवश्यकता होगी । महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक कार्य सम्पन्न करने के लिए जिस प्राण ऊर्जा की आवश्यकता होती है उसका उत्पादन अभिवर्धन प्राणयोग की साधना द्वारा ही हस्तगत होता है । श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण साधने से ही मन की एकाग्रता सधती, चित्त दृढ़ और स्थिर बनता है । मानसिक विकास इसी से होता है । वस्तुतः श्वास-प्रश्वास ही जीवन का आधार है । जो भी श्वास हम लेते हैं उसमें हवा मात्र तन्मात्रा स्पर्श वाली प्रकृति की हलचल ही नहीं होती, वरन् उसके भीतर कितने ही महत्त्वपूर्ण तत्व भरे पड़े होते हैं जो जीवन संचालन के लिए आवश्यक हैं । वे भौतिक भी हैं और चेतनात्मक भी । वायुतत्व में घुले हुए इस चेतन शक्ति को 'प्राण' कहते हैं जिसे विशेष प्रयत्न द्वारा अलग से खींचा जा सकता है और अपने प्राण में सम्मिलित करके उसे और अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है । इसे विधिवत् उत्पन्न करने, अवशोषित और अवधारित करने की प्रक्रिया 'प्राणायाम' कहलाती है । अधिक मात्रा में प्राण-वायु प्रवेश करने से फेफड़े सुदृढ़ होने, जीवनी-शक्ति में अभिवृद्धि होने जैसे शारीरिक आरोग्य के प्रत्यक्ष लाभ तो मिलते ही हैं, विशिष्ट स्तर की प्राण ऊर्जा उत्पन्न करके महाप्राण भी बना जा सकता है । ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बना जा सकता है ।

चिकित्सा क्षेत्र में प्राणायाम का उपयोग शारीरिक-मानसिक रुग्णता निवारण एवं आरोग्य सम्वर्धन के उपाय-उपचार के रूप में होता है, किन्तु अध्यात्म साधना में तो यह योगाभ्यास का एक महत्त्वपूर्ण अंग

माना गया है । इस प्रक्रिया में श्वास-प्रश्वास को क्रमबद्ध, तालबद्ध, लयबद्ध किया जाता है और साँस लेने की अनवरत प्रक्रिया की अव्यवस्था को दूर कर व्यवस्था के बन्धनों में बाँधा जाता है, तदुपरान्त ही निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राणसत्ता की अभीष्ट मात्रा खींचने और धारण करने का सुयोग बनता है । प्राणायाम की समग्र विधि को समझने से पूर्व श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया एवं उससे जुड़े तन्त्र की बारीकियों से अवगत होना नितान्त आवश्यक है । इसके बिना प्राणायाम की जटिलता को समझना और उससे सही लाभ उठाना सम्भव नहीं हो पाता ।

भौतिक चिकित्सा विज्ञानियों के अनुसार सामान्यतया एक प्रौढ़ व्यक्ति एक मिनट में ६-७ लीटर श्वास लेता है, जिसमें से लगभग २५० मि. ली. ऑक्सीजन फेफड़ों द्वारा सोख ली जाती है और उतने ही समय में करीब २०० मि. ली. कार्बन डाई-ऑक्साइड बाहर निकाल दी जाती है । व्यायाम के समय यह आवश्यकता कई गुना अधिक बढ़ जाती है और ८० लीटर प्रति मिनट तक पहुँच जाती है । परन्तु शरीर केवल ४ लीटर प्रति मिनट के हिसाब से ही ऑक्सीजन की आपूर्ति कर पाता है जबकि आवश्यकता ६ लीटर प्रति मिनट की होती है । शरीर इस आवश्यकता की पूर्ति अपने ही आन्तरिक संसाधनों-जैसे माँसपेशियों से ऑक्सीजन सोख कर करता है । विश्राम के समय पुरुष एक मिनट में १२ से १४ बार तथा महिलायें प्रायः २० बार साँस लेती हैं । शिशुओं में यह दर ६० बार प्रति मिनट होती है । नाक द्वारा ली हुई साँस में २० प्रतिशत ताजी हवा होती है, लेकिन बाहर निकली हुई गैस में अधिकांश मात्रा कार्बन डाई-ऑक्साइड की होती है । साँस द्वारा जो वायु अन्दर पहुँचती है, उसमें बहुधा ८० प्रतिशत नाइट्रोजन एवं २० प्रतिशत ऑक्सीजन होती है, जबकि प्रश्वास से बाहर निकली हवा में ८० प्रतिशत नाइट्रोजन १६ प्रतिशत ऑक्सीजन एवं ४० प्रतिशत कार्बन डाई-ऑक्साइड होती है । इस तरह हम सामान्य स्थिति में प्रतिदिन लगभग १० कि. ग्रा. वायु ग्रहण करते हैं जिसमें से फेफड़े ४०० लीटर ऑक्सीजन ही सोख पाते हैं । मूर्धन्य चिकित्सा विज्ञानी डॉ. जॉन आर. कैमेरॉन के अनुसार आराम से बैठे रहने वालों की अपेक्षा कार्यरत रहने वाले सक्रिय व्यक्तियों की माँसपेशियाँ अधिक मात्रा में प्राण-वायु ऑक्सीजन सोखती हैं । यही कारण है कि कर्मरत व्यक्तियों की अपेक्षा बैठे-ठाले व्यक्ति अधिक बीमार और रुग्ण पाये जाते हैं ।

हमारे फेफड़ों की संरचना कुछ ऐसी जटिल है कि सामान्य श्वास-प्रश्वास में उसके निचले भाग तक पूरी तरह वायु नहीं पहुँच पाती, इसलिये फेफड़ों के कुल आयतन का केवल कुछ भाग ही प्राण-वायु और ऑक्सीजन का लाभ ले पाता है । शरीर क्रिया विज्ञान में फेफड़ों के सम्पूर्ण आयतन को 'टोटल लंग केपेसिटी' या टी. एल. सी. कहते हैं अर्थात् एक गहरी साँस के बाद दोनों फेफड़ों में जितने आयतन की गैस समा जाती है वह टी. एल. सी. मानी जाती है । इसी तरह साँस निकलने के बाद भी जितने आयतन की वायु फेफड़ों में बची रहती है उसे 'एफ. आर. सी' अर्थात् फंक्शनल रिजिड्यूऑल केपेसिटी कहते हैं । इसके अलावा भी जब अधिकतम मात्रा से साँस बाहर फेंक कर फेफड़ों को रिक्त कर दिया जाता है । तब भी उसमें कुछ आयतन में वायु बची रहती है जिसे 'रिजिड्यूऑल वॉल्यूम' या आर. वी. कहते हैं ।

प्रत्येक साँस में जो हम ५०० घन सेमी. वायु ग्रहण करते हैं वह विश्राम अवस्था में 'टाइडल वॉल्यूम' या टी. वी. कहलाता है । हर श्वास के आरम्भ और अन्त में कुछ न कुछ वायु फेफड़ों में शेष रह जाती है । इस मध्य में दुबारा साँस लेने की इच्छा होती है जिससे फेफड़े वायु से भरे रहते हैं । इस अतिरिक्त श्वास को 'इन्सपाइरेटरी रिजर्व वॉल्यूम' कहते हैं । इसी तरह प्रश्वास के बाद भी अतिरिक्त वायु निकालने की स्वतः प्रक्रिया होती है जिसे 'एक्सपाइरेटरी रिजर्व वॉल्यूम' कहते हैं । भारी व्यायामों में टायडल वॉल्यूम बढ़ जाता है । जब व्यक्ति गहरी से गहरी साँस लेता है और उसी गति से उसे बाहर निकाल देता है तो इस प्रक्रिया में बाहर छोड़ी गई वायु के आयतन को वायटल केपेसिटी या वी. सी. कहते हैं । सामान्यतया पुरुषों में यह आयतन ४·८ लीटर एवं महिलाओं में ३·२ लीटर होता है । एक मिनट में अन्दर खींची गई साँस की मात्रा को आर. एम. वी. अर्थात् 'रेस्पिरेटरी मिनट वॉल्यूम' कहते हैं । १५ सेकण्ड में अधिक से अधिक खींची गई श्वास की मात्रा 'एम. वी. बी., या

एम. बी. सी. 'मैक्सिमम ब्रीदिंग केपेसिटी' कहलाती है । एक स्वस्थ युवा पुरुष में १२५ से १७० लीटर प्रति मिनट एवं महिला में १०० से १२० लीटर प्रति मिनट एम. बी. सी. होती है । ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है एम. बी. सी. घटती जाती है ।

हमारे फेफड़ों के भीतर असंख्य छोटे-छोटे फुफ्फुसीय कोश होते हैं जिन्हें 'एलविओली' कहते हैं इन्हीं में गैस परिवर्तन की प्रक्रिया सम्पन्न होती है । विभिन्न व्यक्तियों में इनकी संख्या २० से ६० करोड़ तक होती है । सामान्यतया लोग जो साँस लेते हैं वह आधी-अधूरी एवं उथली होती हैं । उससे फेफड़ों के निचले भाग की ऐलविओली पूरी तरह से वायु से नहीं भर पाती और न ही उनमें ऑक्सीजन परिवर्तन की प्रक्रिया होती है । यह क्षेत्र श्वसन क्रिया के लिए शून्य क्षेत्र होता है जिसे 'रेस्पिरेटरी डेड स्पेस' कहते हैं । पूरी तरह वायु संचार न हो पाने के कारण यह भाग क्रमशः सिकुड़ता जाता है । इस भाग में वायु दबाव कम होने से रक्त तो पहुँचता है, पर ऑक्सीजन नहीं पहुँचती । प्राणायाम प्रक्रिया क्रमिक रूप से फेफड़ों का दबाव बढ़ाती है जिससे प्राण-वायु का ग्रहण सीमा भी अधिक बढ़ जाती है और कम सक्रिय ऐलविओली-फुफ्फुस कोश भी फिर से सक्रिय हो उठती है । आयु वृद्धि के साथ ही माँसपेशियों की कार्यक्षमता घटती जाती है, किन्तु प्राणायाम उनकी सक्रियता को कायम रखती है ।

अनुसन्धानकर्त्ताओं का कहना है कि प्राणायाम करने से व्यक्ति अपने फेफड़ों के आयतन का अधिकतम् भाग उपयोग में लाता है जिसे 'वायटल केपेसिटी' कहते हैं । प्राणायाम के निरन्तर नियमित अभ्यास से फेफड़ों का रिजिड्यूअल वॉल्यूम घटता जाता है और वायटल केपेसिटी बढ़ती जाती है । इस प्रकार प्राणायाम द्वारा लगभग २५ प्रतिशत से ३० प्रतिशत तक फेफड़ों के आयतन का अधिकतम उपयोग होता है जिससे अधिक ऑक्सीजन एवं प्राण-वायु मिलने से अधिक जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है । शारीरिक कार्यक्षमता एवं मस्तिष्कीय उर्वरता में वृद्धि होती है । सुविख्यात चिकित्सा विज्ञानी रोपार्ड ने भी अपने शोध निष्कर्ष में बताया है कि प्राणायाम द्वारा मनुष्य अधिक मात्रा में वायु भीतर खींचता है जिससे फेफड़ों का आयतन बढ़ जाता है । इस आयतन के प्रति लीटर बढ़ जाने पर दो प्रतिशत शून्य क्षेत्र भी बढ़ जाता है । अतः प्राणायाम ऐसी प्रक्रिया है जिससे लयबद्ध साँस अन्दर खींचने पर न केवल फेफड़ों की क्षमता बढ़ती है, वरन् शरीर और मन भी बढ़ी हुई प्राण-वायु से अधिकाधिक सक्रिय सबल और परिष्कृत बनते हैं ।

उपासना क्षेत्र में संघर्ष के निमित्त कुछ विशेष उपक्रम अपनाने की आवश्यकता पड़ती है । सूक्ष्म शरीर को प्राण-शक्ति के आधार पर समुन्नत किया जाता है । उसकी समस्त विधियाँ प्राणायाम परक हैं । प्राणायामों की अनेक सरल-कठिन प्रक्रियाएँ और उनके प्रयोजन प्रतिफल भी अनेकानेक हैं, किन्तु चिकित्सा क्षेत्र में प्राणायाम का उद्देश्य फेफड़ों की निष्क्रियता समाप्त करके सक्रियता को जीवनी-शक्ति की मात्रा को बढ़ा देना होता है । देखा गया है कि विभिन्न प्रकार के प्राणायामों द्वारा रेस्पिरेटरी फ्रीक्वेन्सी तो घटती है, किन्तु टाइडल वॉल्यूम बहुत बढ़ जाता है साथ ही दैहिक शून्य क्षेत्र घटता है और एलविओलर वेन्टीलेशन की मात्रा दूनी से भी अधिक हो जाती है ।

चिकित्सा विज्ञानी जे. एफ. नन ने अपनी कृति 'एप्लाइड रेस्पिरेटरी फिजियोलॉजी' में कहा है कि प्राणायाम से फेफड़ों की क्षमता में असाधारण वृद्धि होती है । प्राणायाम के अभ्यास से न केवल ऑक्सीजन उपयोग की मात्रा एवं अवशोषण प्रतिशत बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है, वरन् प्राण-वायु की अभिवृद्धि करके शारीरिक मानसिक क्षमता में कई गुनी अभिवृद्धि की जा सकती है । प्राणायाम का मुख्य तत्व कुम्भक है जिसमें श्वास को अन्दर खींचकर रोका जाता है । यह प्रक्रिया रक्त में कार्बन डाई-ऑक्साइड का दबाव बढ़ा देती है जिसके कारण लम्बी और गहरी साँस लेना आवश्यक हो जाता है । जैसे-जैसे श्वास-प्रश्वास पर नियन्त्रण सधता जाता है श्वसन संख्या घटती जाती है, किन्तु प्रतिश्वसन प्राण-वायु का आयतन बढ़ता जाता है । बढ़ी हुई प्राण-वायु की इस मात्रा को फेफड़ों की सूक्ष्म रचना-ऐलविओली के सम्पर्क में देर तक रखकर उसमें से ऑक्सीजन एवं प्राण ऊर्जा को अवशोषित किया और इच्छित दिशा में नियोजित किया जा सकता है ।

चिकित्सा विज्ञानियों का कहना है कि रक्त में ऑक्सीजन की कमी या कार्बन डाई-ऑक्साइड की वृद्धि

करके श्वसन प्रक्रिया को बढ़ाया जा सकता है । फेफड़ों में प्रायः कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा स्थिर रहती है, किन्तु इसमें सूक्ष्म परिवर्तन होते ही श्वसन क्रिया पर प्रभाव पड़ता है । योग विद्या विशारद प्राचीन योगी, ऋषि इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि प्राणायाम की कुम्भक प्रक्रिया द्वारा एलविओली कार्बन डाई-ऑक्साइड का दबाव धीरे-धीरे अभ्यास क्रम से बढ़ाया जा सकता है और उससे श्वसन द्वारा अधिक गहरी साँस लेकर अधिक मात्रा में प्राण-वायु भरी और अवशोषित की जा सकती है । प्रयोग-परीक्षणों में भी देखा गया है कि प्राणायाम करते समय बाहर निकलने वाली कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाती है, जबकि सामान्य प्रश्वास में बाहर फेंकी गई वायु में इसका अनुपात ३·८ प्रतिशत होता है । उम्र बढ़ने के साथ-साथ फेफड़ों का आयतन घटने लगता है साथ ही उसके ऑक्सीजन धारण करने की क्षमता का भी ह्रास होने लगता है, किन्तु किशोरावस्था से ही प्राणायाम का नियमित अभ्यास आरम्भ कर देने पर फेफड़ों की क्षमता उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है । जिसका प्रतिफल बढ़ी हुई जीवनी-शक्ति एवं स्वस्थ दीर्घायुष्य के रूप में सामने आता है ।

प्राणायाम सम्बन्धी आधुनिक खोज

प्राणायाम से स्वास्थ्य का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है इसका महत्त्व हम भारतवासी आज भूले हुए हैं । हमारे पूर्वजों ने शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए प्राणायाम को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण बताया है । यूरोपीय विद्वानों का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ है और वे लोग जितनी अधिक दिलचस्पी इस ओर ले रहे हैं उतनी ही नई-नई बातें उन्हें मालूम होती जाती हैं ।

पिछली लड़ाई में जब अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ तो सेना के लिए भर्ती की जाने लगी, लेकिन जो नौजवान फौज में भर्ती होने के लिए आते थे उनमें से ४० प्रतिशत डॉक्टरी जाँच में शारीरिक कमजोरी के कारण अस्वीकृत होने लगे । यह खबर जब अखबारों में छपी तो सारे अमेरिका में तहलका मच गया । सैनिकों की इतनी अधिक आवश्यकता और नौजवानों के स्वास्थ्य का यह हाल ! बात वास्तव में चिन्ता करने की और घबराने की थी ।

उस समय अमेरिका के एक आध्यात्मिक महानुभाव श्री. टामसन रावर्ट गैन्सन ने सरकार को लिखा कि यदि सेना में भर्ती के लिए डॉक्टरी कारणों से अस्वीकृत नौजवानों को कुछ समय के लिए मुझे दे दिया जाय तो चन्द दिनों में ही मैं उनकी कमजोरी को दूर करके उन्हें सेना में भर्ती होने योग्य बना सकता हूँ । सरकार के उच्च अधिकारियों ने श्री गैन्सन से भेंट की और उन्हें कमजोर नौजवानों को बलवान बनाने के लिए काम करने की स्वीकृति दे दी ।

श्री टामसन रावर्ट गैन्सन ने ओहिमोस्टीट पर एक स्कूल खोला जिसमें प्राणायाम द्वारा स्वास्थ्य सुधारने की शिक्षा दी जाने लगी । वह शिक्षा ऐसी उपयोगी और जादू के समान चमत्कारपूर्ण साबित हुई कि एक ही मास में दिल, दिमाग, गुर्दे और जिगर में पहले की अपेक्षा बहुत कुछ सुधार हो गया और जिन्हें एक महीने पहले अस्वीकृत कर दिया गया था वे डॉक्टरी जाँच द्वारा धड़ाधड़ स्वीकृत होने लगे । इतनी जल्दी, इतने आश्चर्यजनक ढंग से इतना अधिक लाभ होते देखकर लोगों को दंग रह जाना पड़ा । तब अमेरिका की जनता ने जाना कि प्राणायाम साधारण-सी क्रिया है तो भी इसके लाभ असाधारण हैं । तब से वहाँ की जनता प्राणायाम की सहायता से अपने स्वास्थ्य में बहुत भारी सुधार कर रही है । वहाँ अनेकों शिक्षालय ऐसे हैं । जिनमें प्राणायाम क्रियाओं द्वारा नाना प्रकार के रोगों का इलाज किया जाता है और गिरी हुई तन्दुरुस्तियों को सुधारा जाता है ।

रावर्ट जैन्सन इस बात पर बड़ा जोर देते हैं कि साँस लम्बी और गहरी लेनी चाहिए क्योंकि पूरी साँस लेने से शरीर को उचित मात्रा में प्राणप्रद वायु (ऑक्सीजन) प्राप्त होती है जिसके प्रभाव मुर्दा और सुस्त अंगों में फिर से चैतन्यता आ जाती है और या संचार ठीक-ठीक रीति से होकर शरीर से सजीवता भर देता है । कलेजा, पेट, आमाशय, गुर्दे और मूत्राशय पर प्राणप्रद वायु की अधिकता का विशेष प्रभाव पड़ता है और उनके अन्दर जो खराबियाँ मुद्दतों से रुकी पड़ी थीं वे थोड़े ही दिनों में अपने आप निकल जाती हैं ।

फेफड़े की मजबूती का गहरी श्वास से अत्यधिक सम्बन्ध है । गहरी, पूरी और लम्बी साँस लेने का कुछ ही दिन अभ्यास किया जाय तो सीने की चौड़ाई और मजबूती में जरूर फर्क पड़ता है । प्राणायाम के अभ्यास से लोग सीने पर कई मन भारी पत्थरों को रख कर तुड़वा लेते हैं और छाती पर हाथी खड़ा कर लेते हैं ।

वैज्ञानिक जगत में प्राणायाम के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अन्वेषण हो रहे हैं । यूरोप और अमेरिका के डॉक्टर अपनी चिकित्सा में प्राणायाम को महत्त्वपूर्ण स्थान दे रहे हैं । कई स्थानों पर सुविज्ञ डॉक्टरों ने केवल प्राणायाम द्वारा समस्त रोगों को अच्छा करने के चिकित्सालय स्थापित किए हैं ।

विलियम जैसे वैज्ञानिकों का यह भी कथन है कि मनःस्थिति में श्वास-क्रिया का प्रभावित होना जिस प्रकार एक तथ्य है उसी प्रकार यह भी एक तथ्य है कि श्वास की गति में विशेष प्रकार के परिवर्तन करके मनःस्थिति को बदला जा सकता है । इससे सामयिक हेर-फेर ही नहीं इच्छा, रुचि एवं स्वभाव प्रकृति में भी अन्तर किया जा सकता है ।

भारतीय प्राण विद्या में ऐसे ही गहरे तथ्यों का समावेश करके प्राणायाम विधान बनाये गए हैं और उनका सम्बन्ध सीधा आत्मिक स्तर को ऊँचा उठाने के साथ जोड़ा गया है । यों शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य में भी उनसे सहज ही लाभ पहुँचता है । यों गायत्री उपासना में प्राणायाम की प्रक्रिया जप उपासना के साथ ही विकसित होने लगती है तो भी उच्चस्तरीय प्राण-सन्धान के लिए 'प्राणायाम' की पूरक कुम्भक क्रियाएँ भी साथ-साथ चलती हैं ।

विलियम जैसे फेरिंग ने अपने ग्रन्थ 'पर्सनल हाइजिन' में श्वास-प्रश्वास क्रिया की बारीकियों को भावनात्मक उतार-चढ़ावों के साथ जोड़ा है । विभिन्न मनःस्थितियों श्वास की गति स्थिति में परिवर्तन देखे जा सकते हैं । क्रोध, शोक, चिन्ता, भय आदि की स्थिति में श्वास की गति में ही नहीं तापमान में भी अन्तर पड़ता है ।

जिस तरह शरीर और मन की स्थिति का प्रभाव श्वास की गति, विगति, गहराई, ऊष्मा आदि पर पड़ता है उसी प्रकार श्वास की साधना में शरीर और मन के विभिन्न संस्थानों को भी प्रभावित किया जा सकता है । विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राण सत्ता को अभीष्ट मात्रा खींचने और धारण करने के लिए श्वास क्रिया के उपयुक्त उपाय उपचार काम में लाने पड़ते हैं । प्राणायाम के नाम से इसी विज्ञान का वर्णन शास्त्रकारों ने किया है और उसी को गायत्री उपासना के उच्चस्तरीय साधना विधान से जोड़ा गया है ।

प्राणायाम से जुड़ी वर्ण-चिकित्सा

रंग चिकित्सा का आधार सूर्य की किरणें, उनका प्रकाश और रंग है । सम्पूर्ण वनस्पति जगत एवं जीव जगत इन्हीं से प्रकाशित संचालित और प्रेरित होता है । प्रकृति के सन्तुलन का आधार भी यही है । तत्वों के निर्माण की अद्भुत क्षमता से युक्त रंगीन रश्मियों में जीवाणुनाशक, बलवर्धक-पुष्टिदायक गुण विद्यमान हैं । इनमें चुम्बकत्व, विद्युत, उष्णता, प्राण और ऑक्सीजन जैसे जीवनदायी तत्वों के प्रचुर परिमाण में उपस्थित होने की पुष्टि वैज्ञानिक खोजों से भी हो चुकी है । अतः स्वास्थ्य सन्तुलन का उपक्रम इनसे सहज ही बैठ जाता है । अपनी प्रकृति के अनुरूप उपयुक्त वर्णो का चुनाव किया और उनसे लाभ उठाया जा सकना सबके लिए सम्भव है । ध्यान मिश्रित प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा रंग-रश्मियों का आकर्षण अवधारण न केवल शारीरिक मानसिक व्याधियों से छुटकारा दिलाता है । वरन् अभ्यासकर्त्ता को ओजस्वी-तेजस्वी-मनस्वी भी बनाता है । गहराई में प्रवेश करने पर ब्रह्मवर्चस का, आत्मोत्कर्ष का लाभ भी हस्तगत होगा ।

योग साधनाओं अध्यात्म उपचारों में मन को वशवर्ती बनाने के लिए ध्यान-धारणा की विधा अपनाई जाती है । इससे पूर्व शारीरिक-मानसिक परिशोधन की प्राणायाम प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है जो जटिल, समय-साध्य एवं जोखिम भरी होती है, किन्तु जब इसे रंगों का ध्यान करते हुए प्राणाकर्षण प्राणायाम की तरह संयुक्त रूप से सम्पन्न किया जाता है तो वह सरल भी पड़ती है और प्रतिफल भी जल्दी सामने आते हैं । 'कलरब्रीदिंग' की विधा ऐसी ही है जो उक्त दोनों ही प्रयोजनों की पूर्ति करती है । यह हानि रहित भी है ।

इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने गहन अनुसन्धान किया है और पाया है कि वातावरण में अथवा सूर्य किरणों में घुले रंगीन परमाणु श्वास द्वारा प्राण-वायु के साथ अन्दर प्रविष्ट होते और स्वास्थ्य सन्तुलन बिठाते हैं । उथली एवं हल्की श्वास-प्रश्वास के कारण शरीर को न तो आवश्यक मात्रा में ऑक्सीजन की (प्राण-वायु) आपूर्ति हो पाती है और न ही रंगों की आवश्यक मात्रा शरीर को मिल पाती है । फलतः शरीर और मन दोनों बीमार रहने लगते हैं । विख्यात सूर्य चिकित्सा विज्ञानी डॉ. एडविन बेविट एवं डॉ. इवान बी. ह्वाइटेन के अनुसार इस असन्तुलन को गहरे श्वास-प्रश्वास के साथ रंगों के भाव भरे आकर्षण के द्वारा आसानी से दूर किया जा सकता है । इनका कहना है कि मस्तिष्कीय चेतना जहाँ श्वसन प्रक्रिया से जुड़ी हुई है वहीं रंगों का भी मन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । उचित मात्रा में उपयुक्त रंग उद्दीपन मिलने पर मस्तिष्क सक्रिय और सशक्त बनता है जबकि प्रतिकूल वर्ण उत्तेजना उत्पन्न करते और मन को विकार ग्रस्त बनाते हैं ।

मूर्धन्य चिकित्सा शास्त्री डॉ. स्टीवेनसन के अनुसार सूर्य के प्रकाश में दो हजार रंग हैं जिनमें से सात प्रमुख हैं । इनकी अलग-अलग प्रकृति और भिन्न-भिन्न प्रभाव हैं । सातों वर्ण सात प्रकार की औषधियों का काम करते हैं, परन्तु इनमें से प्रायः नारंगी, हरे और नीले रंग को ही उपचार प्रक्रिया में प्रयोग करते हैं । रक्त संचार में वृद्धि करने तथा माँसपेशियों को शक्ति प्रदान करने के साथ ही मानसिक विकास, इच्छा शक्ति सम्वर्धन, एवं इच्छाओं मनोभावों के विकास परिष्कार में नारंगी रंग का प्रयोग लाभदायक होता है । हरा रंग मध्यम प्रकृति का होता है । इसे सन्तुलन बिठाने वाला एवं शोधक बताया है । पीले और नीले रंगों के सम्मिश्रण से बना हरा रंग प्राकृतिक रंग है । अतः शरीर को स्वस्थ एवं मन को प्रसन्न रखने में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है । रक्तशोधक होने से यह रंग शरीर में से विजातीय विषैले पदार्थों को निकाल बाहर करता है मस्तिष्क सहित सम्पूर्ण तन्त्रिकातन्त्र को पोषण प्रदान करने में यह किरणें अग्रणी मानी गई हैं । मनोभावों के परिशोधन एवं त्वचा रोगों को दूर करने में इससे काफी सहायता मिलती है ।

नीला रंग शीतल, सुखद एवं संकोचक प्रकृति का होता है । इसका प्रभाव मुख्य रूप से मन मस्तिष्क पर पड़ता है । अतः मानसिक उत्तेजनाओं को शान्त करने, शमन करने मन को शीतलता प्रदान करने से लेकर मानसिक आत्मिक विकास में इस रंग का प्रमुख रूप से उपयोग होता है । ध्यान प्रयोजनों में एवं प्राण ऊर्जा के उन्नयन में नीला रंग अधिक प्रभावकारी माना गया है । मनोवैज्ञानिक एवं अध्यात्मविद् भी इसकी पुष्टि करते हैं ।

जीवनी-शक्ति के अभिवर्धन में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राणाकर्षण प्राणायाम का है लगभग उसी स्तर का प्रतिफल 'कलर ब्रीदिंग' प्रस्तुत करता है । इस सन्दर्भ में रंग चिकित्सा शास्त्री इवान बी. ह्वाइटेन ने गहन खोजें की हैं और पाया है कि प्राण ऊर्जा के सम्वर्धन में तथा शरीर की प्रतिरक्षा प्रणाली को सशक्त बनाने में "कलर-ब्रीदिंग" महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है । उनके अनुसार शारीरिक रुग्णता, मानसिक असन्तुलन और अदक्षता को साँस द्वारा रंगों का प्रयोग करके आसानी से दूर किया जा सकता है । शरीर में अथवा अंग-अवयव विशेष में जिस रंग की कमी हो, उसी रंग का ध्यान करते हुए गहरी श्वास लेने एवं पीड़ित अंग पर प्रगाढ़ भावना द्वारा आरोपित करने से धीरे-धीरे वह भाग स्वस्थ हो जाता है । इस प्रक्रिया में प्राणायाम के साथ रंग विशेष के घुले हुए की भावना की जाती है । मानसिक चेतना के विकास परिष्कार में इससे अभूतपूर्व सहायता मिलती है ।

सुप्रसिद्ध रंग चिकित्सा विज्ञानी मेरी एण्डर्सन ने भी अपनी कृति 'कलर हीलिंग' में कहा है कि 'कलर ब्रीदिंग' अर्थात् रंगों के प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा शरीर में रंग प्रकम्पनों की पूर्ति की जा सकती है । इस उपचार पद्धति में गहरी श्वास-प्रश्वास के साथ रंग विशेष को प्राण-वायु के साथ प्रवेश करने की सुदृढ़ भावना-कल्पना मन ही मन करनी पड़ती है । जिस तरह प्राणायाम प्रक्रिया में शरीर के समस्त अंग अवयवों के प्रत्येक घटकों में प्राण संचार की ऊर्जा भण्डारण की गहन कल्पना करनी पड़ती है ठीक उसी पद्धति का अनुसरण 'कलर ब्रीदिंग' में किया जाता है । पूरक, कुम्भक एवं रेचक का समय भी वही रखना पड़ता है जो प्राणायाम में रखा जाता है । अर्थात् यदि श्वास

खींचने का समय दस सेकण्ड है तो उसे अन्दर दस सेकण्ड तक रोकना होगा और इसी मध्य नथुनों द्वारा वायु प्रवेश के साथ इच्छित रंग के प्रविष्ट होने एवं अंग विशेष में प्रतिष्ठित होने और उसके स्वस्थ बनने की भावना की जाती है । इस प्रक्रिया में प्राणायाम और ध्यान दोनों साथ-साथ सम्पन्न होते हैं, फलतः परिणाम भी अपेक्षाकृत जल्दी मिलता है । कारण इससे शरीर की स्नायु प्रणाली और अन्तःस्रावी ग्रन्थि प्रणाली दोनों सक्रिय हो उठती हैं और शरीर में एकत्र विषाक्तता को निकाल बाहर करती हैं ।

'कलर ब्रीदिंग' का सर्वोत्तम समय सुबह का अरुणोदय काल होता है, जिस समय सम्पूर्ण क्षितिज स्वर्णिम आभा से परिपूर्ण रहता है । सूर्यास्त के समय भी प्रायः यही स्थिति रहती है । उस समय भी इसे किया जा सकता है । खाली पेट या भोजन करने के कम से कम दो-तीन घण्टे बाद ही इस प्रकार का रंगाकर्षण प्राणायाम करना लाभप्रद्र रहता है । इसके लिए खुले में अथवा कमरे के अन्दर खुली खिड़की के पास का स्थान उपयुक्त रहता है जहाँ रोशनी का प्रवेश और शुद्ध वायु का आदान-प्रदान हो । प्रक्रिया इस प्रकार है-सर्वप्रथम सुखासन में बैठकर शरीर को शिथिल और मन को शान्त किया जाता है । तदुपरान्त फेफड़ों की पूरी वायु नासिका छिद्रों से ब्राहर निकाल दी जाती है और लगभग दस सेकण्ड तक बाह्यकुम्भक की स्थिति में रहा जाता है । इसके पश्चात दोनों नथुनों से गहरी श्वास खींची जाती है और भावना की जाती है कि प्राण-वायु के साथ घुलकर इच्छित रंग की प्रकाश रश्मियाँ शरीर के अन्दर प्रवेश कर रही हैं । कुम्भक के समय इन रंग प्रकम्पनों को प्रभावित अंग तक संकल्प बल द्वारा पहुँचाने और उसके स्वस्थ होने-परिपुष्ट बनने की दृढ़ भावना की जाती है । तत्पश्चात विजातीय विषैले तत्वों सहित वायु कौ रेचक प्रक्रिया द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है । यह एक प्राणायाम हुआ । आरम्भ में ५ मिनट से लेकर १५ मिनट तक इसे दोहराना पर्याप्त होगा । पीछे अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर इसे आधे घण्टे तक बढ़ाया जा सकता है ।

सम्पूर्ण काया की रंगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रायः लाल, पीली एवं नारंगी प्रकाश किरणों को पृथ्वी की ओर से उठते हुए तथा नाभिचक्र में संकेन्द्रित होने की भावना करनी पड़ती है । साथ ही आसमानी, नीली एवं बैंगनी रंग रश्मियों को अन्तरिक्ष मण्डल से अपने ऊपर बरसते हुए अन्दर प्रविष्ट होने तथा हरे रंग की किरणों को समतल रूप से बहने और अपने अन्दर प्रवेश करने की भावना-कल्पना करनी होती है । इससे पूरा वातावरण ही विभिन्न रंग-रश्मियों से ओत-प्रोत दिखाई देने लगता है । अभ्यासकर्त्ता को इसका प्रतिफल न केवल स्वस्थ और दीर्घायुष्य जीवन के रूप में मिलता है वरन् अतीन्द्रिय सामर्थ्य के विकास का लाभ ही हस्तगत होता है ।

प्राणायाम : सूक्ष्म शरीर की अनुभूति

प्राणायाम की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए स्वामी विवेकानन्द ने एक बार एक कथा सुनाई । एक राजा ने किसी बात पर अप्रसन्न होकर अपने मन्त्री को बन्दी बनाकर किले में कैद कर दिया । मन्त्री किसी तरह किले से भाग निकलना चाहता था, अपनी इच्छा उसने भेंट के लिए आयी अपनी धर्मपत्नी से प्रकट की । कठोर पहरे के कारण कोई उक्ति समझ में नहीं आ रही थी ।

मन्त्राणी ने तब एक युक्ति खोज निकाली । एक गोबरैले की पीठ पर एक तिनके को इस तरह चिपकाया कि उसका एक किनारा गोबरैले के मुँह के ठीक सामने आ जाता था तिनके के सिरे पर शहद लगा कर उसे किले की दीवार पर रख दिया गया । उसकी पूँछ में रेशम का धागा बाँध दिया । शहद देखकर गोबरैले के मुँह में पानी भर आया वह शहद चाटने के लिए चल पड़ा शहद उतना ही आगे बढ़ता जाता इस तरह कीड़ा लगातार ऊपर चढ़ता चला गया । दीवार की ऊँचाई चढ़ जाने के बाद उतरने का क्रम प्रारम्भ हुआ कीड़ा किले के नीचे उतर गया इधर मन्त्राणी रेशम के धागे को क्रमशः मोटा और मजबूत लगाती गई जब धागा मन्त्री के हाथ पहुँच गया तब उसने मोटा रस्सा बाँध दिया । मन्त्री ने रस्सा खींच लिया और पहरा लगा रहा, वह उस रस्से के सहारे बाहर निकल गया ।

'प्राणायाम' वस्तुतः एक ऐसी ही साधना है जिसमें प्रारम्भ श्वास खींचने धारण करने से ही होती है और

अन्तः प्राण की अनुभूति•प्राण-तत्व के नियन्त्रण द्वारा मिलने वाली असंख्य सिद्धियों सामर्थ्यों के रूप में होती है । प्रारम्भिक प्राणायाम बहुत सरल और सर्व सुलभ ही बताये जाते हैं पर कुछ प्राणायाम ऐसे भी हैं जिनके अभ्यास से हनुमान जैसे समुद्र लाँघ जाने, उड़कर पर्वत में पहुँच जाने, अंगद की तरह पाँव टिका देने, मशक और पर्वताकार बना लेने जैसी क्षमतायें भी मिलती हैं किन्तु यदि उस कठिन स्थिति तक पहुँचना सम्भव न भी हो तो भी सामान्य जीवन में मिलने वाले लाभ भी निश्चित रूप से ऐसे मिलते हैं जिनसे सांसारिक जीवन बहुत अधिक सफल सुखद बनाया जा सकता है ।

मनुष्य की आयु, आरोग्य और स्वास्थ्य का श्वास क्रिया से बड़ा सम्बन्ध है । श्वास-प्रश्वास की क्रिया से प्राणि मात्र जीवित रहते हैं । स्वच्छ वायु फेफड़ों में जाकर रोग-बर्द्धक कीटाणुओं का नाश करती है । इसी से रक्त की सफाई होती है । जब तक रक्तकण तेज सशक्त व सजीव रहते हैं तब तक स्वास्थ्य में कोई खराबी नहीं आती । शारीरिक शक्ति, विचार-शक्ति और मानसिक दृढ़ता प्राणायाम के प्रत्यक्ष चमत्कार हैं । इससे केवल फेफड़ों का व्यायाम ही नहीं होता वरन् प्राणायाम, आयु, बल को बढ़ाने वाला, रक्त-शोधक और मन को शक्ति व स्फूर्ति प्रदान करने वाला है । यह प्रत्येक स्वस्थ जीवन की कामना रखने वालों के लिए एक उपयोगी साधन है ।

प्राणायाम की प्रारम्भिक शिक्षा यह है कि हमें पूरी और गहरी साँस लेनी चाहिए । यह साँस पूरी तौर पर यदि फेफड़ों में न गई तो फेफड़ों का एक भाग बिल्कुल बेकार पड़ा रहता है । घर के जिस भाग की सफाई नहीं की जाती वहाँ मकड़ी, छिपकली, कनखजूरे, बर्रें आदि अपना अड्डा जमा लेती हैं । फेफड़ों के जिस भाग में वायु का अभिगमन नहीं हो पाता उसमें जुकाम, खाँसी, क्षय, उरक्षत कफ व दमा आदि के कीटाणु पैदा हो जाते हैं । धीरे-धीरे ये वायु कोष्ठों में इस प्रकार अड्डा जमा लेते हैं कि इनका निकालना ही मुश्किल हो जाता है ।

भरपूर साँस लेने से फेफड़ों के सभी वायु-कोटर हवा से भर जाते हैं । यह हवा अपनी ऑक्सीजन-प्राण रक्त में छोड़ देती है और दूषित पदार्थ कार्बोनिक एसिड गैस को चूस कर बाहर निकाल देती है । यह ऑक्सीजन तत्व खून के साथ मिलकर सारे शरीर का दौरा करता रहता है जिससे शक्ति, स्वास्थ्य व आरोग्य स्थिर बना रहता है । शुद्ध खून का एक चौथाई भाग ऑक्सीजन होता है । इस मात्रा में यदि कमी पड़ जाय तो इसका पाचन-प्रणाली पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है । ऐसे व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द पड़ जाती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि दूषित पदार्थ निकालने, रक्त में ऑक्सीजन का पर्याप्त सम्मिश्रण रखने तथा पाचन-संस्थान को मजबूत बनाये रखने के लिए गहरी पूरी साँस लेना अनिवार्य है यह क्रिया प्राणायाम के द्वारा पूरी होती है ।

बाइलर की पुरानी राख गिराई न जाय तो भाप बनना बन्द हो जाता है । इससे इंजन का काम रुक जाता है । हमारे फेफड़े ठीक बाइलर का काम करते हैं । इससे इंजन अर्थात् हृदय की क्रिया प्रभावित होती है । दूषित मल विकार जो रक्त के साथ हृदय से फेफड़ों में पहुँचाया जाता है । उसकी पूरी व गहरी साँस द्वारा सफाई न कर दी जाय तो फिर वही अशुद्ध रक्त हृदय को लौट आता है । यह गन्दगी धमनियों द्वारा शरीर में फैल जाती है और बीमारी, रोग व दुर्बलता के रूप में फूट पड़ती है किन्तु पूरी साँस का यदि अभ्यास डाल लें तो इससे छाती चौड़ी होती है । फेफड़े मजबूत होते हैं और वजन बढ़ता है । शुद्ध रक्त संचार से हृदय की दुर्बलता दूर होने लगती है । इसलिये प्राणायाम द्वारा गहरी साँस लेने का अभ्यास बना लेना स्वास्थ्य के लिए अतीव लाभदायक होता है ।

साधारण अवस्था में साँस के साथ ३० घन इंच हवा फेफड़ों में पहुँचती है । इससे अधिक गहरी साँस लें तो कुल मिलाकर १३० घन इंच तक वायु फेफड़ों में पहुँच जाती है किन्तु साँस छोड़ते समय १०० घन इंच वायु छाती में रह जाती है । इस प्रकार कुल २३० घन इंच की जगह शरीर में होती है । तात्पर्य यह है कि साधारण साँस की अपेक्षा आठ गुना साँस ली जा सकती है । इससे आठ गुना ऑक्सीजन शरीर को मिलेगी तो आठ गुना स्वास्थ्य का सुधार भी होगा ही ।

जो लाभ अधिक से अधिक साँस फेफड़ों में पहुँचाने से होता है ऐसा ही एक लाभ फेफड़ों को कुछ देर वायुरहित छोड़ने से भी होता है । एक जर्मन यहूदी डॉक्टर का मत है कि इससे फेफड़ों के कीटाणु वायु न मिलने से मर जाते हैं और कार्बोनिक एसिड गैस के साथ मिल कर बाहर निकल जाते हैं ।

दूसरा अभ्यास नाक से साँस लेने का होता है । नाक से साँस लेने से वायु में मिले स्थूल गन्दगी के कण नाक के छोटे-छोटे बालों में रुक जाते हैं । इससे आगे एक पतला तरल पदार्थ स्रवित हुआ करता है, जो शेष गन्दगी को जैसे नाइट्रोजन व धूल आदि के कणों को चिपका लेता है । अब वायु पूरी तौर पर स्वच्छ होकर श्वास-नली में प्रवेश करती है । यहाँ यदि वायु गर्म थी तो शीतल और अधिक शीतल थी तो गर्म होकर सामान्य तथा सह्य ताप में परिवर्तित हो जाती है । वायु अभिगमन का यह मार्ग जो नाक से मस्तिष्क के रास्ते फेफड़ों तक पहुँचता है काफी लम्बा पड़ जाता है इतनी देर में वायु का तापमान सह्य हो जाता है । इससे फेफड़ों में पहुँचकर रक्त शुद्धि के कार्य में उसे कोई बाधा नहीं पड़ती । पर मुँह से साँस लेने से गन्दगी भी श्वास-नली के रास्ते फेफड़ों में पहुँच जाती है और ताप भी शीतल गर्म जैसा कुछ था, वैसे ही फेफड़ों को उत्तेजित करता रहता है । चेचक की बीमारी व जुकाम आदि से पीड़ित रहने वाले अधिकांश मुँह से साँस लेने वाले लोग होते हैं ।

प्राणायाम के अनेकों भेद हैं । शीतली, शीतकारी, भ्रामरी, उज्जाई, लोम-विलोम, सूर्य वेधक, प्राणकर्षक तथा नाड़ी-शोधन आदि अनेकों प्राणायाम की विधियाँ भारतीय अध्यात्म ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं । इन सबका उल्लेख तो यहाँ सम्भव नहीं है, जो सर्वसुलभ और सर्वथा हानि-रहित हैं जिन्हें बालक, वृद्ध स्त्री व पुरुष कोई भी कर लें, ऐसे ही आकर्षण, प्राणाकर्ष प्राणायाम की विधि यहाँ दी जाती है ।

प्राणायाम के चार भाग हैं—(१) पूरक, (२) अन्तर कुम्भक, (३) रेचक तथा (४) बाह्य कुम्भक । साँस को खींचकर भीतर धारण करने को पूरक कहते हैं । यह क्रिया तेजी या झटके के साथ नहीं की जानी चाहिए । धीरे-धीरे फेफड़ों में जितनी साँस भर सकें, भरें । इस क्रिया को पूरक कहते हैं । अन्तर कुम्भक वायु को भीतर रोके रहने को कहते हैं । जब तक सरलतापूर्वक रोके रख सकें उतनी ही देर अन्तर कुम्भक करते हैं जबर्दस्ती प्राण-वायु को नहीं रोकना चाहिए । धीरे-धीरे समय बढ़ाने का अभ्यास किया जा सकता है । वायु को बाहर निकालने को रेचक कहते हैं । पूरक के समान ही यह क्रिया भी धीरे-धीरे करनी चाहिए । साँस एकदम या झटके के साथ छोड़ना ठीक नहीं होता । इसके बाद बाहर भी साँस रोक कर बाह्य कुम्भक करते हैं अर्थात् कुछ देर बिना साँस के रहते हैं । पूरक और रेचक का समय, बाह्य-कुम्भक और अन्तर कुम्भक का समय समान होना चाहिए ।

अभ्यास करने के पूर्व स्वच्छ पवित्र व शान्त स्थान पर आसन, तख्त या कम्बल आदि पर पूर्वाभिमुख बैठें । स्थान जितना ही एकान्त हो उतना ही अच्छा है ताकि बाहरी शोरगुल से अपनी एकाग्रता भंग न हो । पालथी मारकर सरल पद्मासन पर बैठिये । दाएँ हाथ के अँगूठे से नासिका के दाएँ छिद्र को बन्द कर बाएँ से पूरक कीजिए । फिर मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों से बाएँ छिद्र को भी बन्द कर अन्तर कुम्भक पूरा कीजिए । अब दाएँ छिद्र से अँगूठे को हटाकर रेचक कीजिए, फिर दूसरी बार जैसी क्रिया की थी दोनों नासिका छिद्र बन्द करके बाह्य-कुम्भक कीजिए, यह आपका एक प्राणायाम हुआ आरम्भ में पाँच मिनट प्राणायाम करें धीरे-धीरे आधा घण्टा तक समय बढ़ा सकते हैं ।

स्वास्थ्य के साथ-साथ प्राणायाम आत्मोन्नति का भी एक महत्त्वपूर्ण व उपयोगी साधन है । इससे प्राण-साधना के साथ ही साथ चित्त की एकाग्रता स्थिरता, दृढ़ता और मानसिक गुणों का विकास होता है । आगे चलकर प्राणायाम से प्राण पर नियन्त्रण प्राप्त करते हैं और शरीरस्थ प्राणों को जागृत करते हैं । इनका स्वास्थ्य पर विलक्षण प्रभाव पड़ता है जिसे एक प्रकार से चमत्कार ही माना जा सकता है । हमारे यहाँ इस सम्बन्ध में बड़ी तत्परतापूर्वक खोज की गई है ।

भौतिकी के छात्र जानते हैं कि घर्षण से ऊर्जा उत्पन्न होती है । दियासलाई घिसने से लेकर विशालकाय जेनरेटरों द्वारा आग या विद्युत उत्पन्न होने के कारणों में घर्षण ही मुख्य है । निर्जन सुनसान जंगलों में कई बार भयंकर आग लगती है और विस्तृत क्षेत्र के गीले

सूखे पेड़ों को जलाकर खाक कर देती है । यह मनुष्यों द्वारा लगाई गई नहीं होती वह आग सूखे पेड़ों की टहनियों के तेज हवा से हिलने और आपस में रगड़ने के कारण उत्पन्न होती है । इस कार्य में बाँस सबसे अग्रणी है । सूखे बाँस में रगड़ खाकर पहले गरम होते हैं फिर चिनगारियाँ निकलने लगते हैं । यह आग बढ़ती फैलती चली जाती है और दावानल का रूप धारण कर लेती है । यह घर्षण के सिद्धान्त का ही चमत्कार है ।

प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि प्राणसत्ता पर नियन्त्रण से ऐसी सिद्धियाँ उपलब्ध की जा सकती हैं जहाँ तक पहुँचने में अभी भौतिक विज्ञान की अब तक कई शताब्दियाँ लग सकती हैं । प्राणायाम उसके द्वारा, प्राण नियन्त्रण नियन्त्रित प्राण का उपयोग विशुद्ध भौतिक विज्ञान है । इसे न तो किसी देव सत्ता का वरदान समझना चाहिए न परमात्मा का अनुग्रह यह विशुद्ध रूप से अपने शरीर यन्त्र का एक कारखाने की तरह का उपयोग भर है । हठयोग में ऐसे प्राणायाम बहुत प्रचलित हैं और आये दिन इस तरह के चमत्कार देखे जाते हैं ।

प्राणायाम की प्राचीन प्रणाली

वर्तमान समय में प्राणायाम के दो मुख्य उद्देश्य माने गए हैं । प्राचीन ग्रन्थों में तो प्राणायाम का वर्णन उसको योगाभ्यास के आठ अंगों में से एक अंग मानकर ही किया गया है । इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मतानुसार प्राणायाम मुख्यतः एक आध्यात्मिक साधन है जिससे आगे चलकर प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योग के अंगों के अभ्यास में सहायता प्राप्त होती है और अन्त में मनुष्य ब्रह्मानन्द की अवस्था में पहुँच जाता है । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय के ज्ञानी लोग प्राणायाम से होने वाले शारीरिक लाभों से सर्वथा अनभिज्ञ अथवा उदासीन ही थे । प्राचीन ग्रन्थों में प्राणायाम के आध्यात्मिक महत्त्व के साथ उससे शरीर पर होने वाले प्रभाव का भी स्पष्ट रूप से वर्णन किया है । यथा—

प्राणायामेन युक्तेन सर्व रोग क्षयोभवेत् ।
अयुक्ताभ्यास योगेन सर्व रोग समुद्भवः ॥
हिक्वाकासश्च श्वासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥

अर्थात्—"ठीक विधि के प्राणायाम करने पर सब प्रकार के रोगों से छुटकारा मिल जाता है और गलत विधि से करने पर अनेक प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं । इसके कारण शरीरस्थ वायु में व्यतिक्रम हो जाता है और उससे हिचकी, खाँसी, श्वास, सिर, कान और आँखों की पीड़ा आदि अनेक व्याधियाँ पीछे लग जाती हैं ।"

वर्तमान समय में जब लोगों की जानकारी और रुचि आध्यात्मिकता की तरफ से हट गई और वे प्रत्यक्ष विषयों को ही अधिक महत्त्व देने लगे तो प्राणायाम के शारीरिक लाभों की तरफ ही उनका ध्यान विशेष रूप से जाने लगा और पश्चिमीय विद्वानों ने उसे दीर्घ या गहरी श्वास (डीप ब्रीदिंग) का रूप देकर स्वास्थ्य और शक्ति वृद्धि के एक अभ्यास का रूप दे दिया । कुछ मध्यवर्गीय साधकों ने पश्चिमी और भारतीय दोनों विधियों का सम्मिश्रण करके श्वास-सम्बन्धी ऐसे अभ्यास प्रचलित किए जिनसे भीतरी अंगों पर अधिकार हो जाता है और स्वास्थ्य की आश्चर्यजनक उन्नति सहज में ही की जा सकती है । इस सब प्राचीन और नवीन विधियों का सविस्तार वर्णन तो किसी बहुत बड़े ग्रन्थ में ही किया जा सकता है, हम यहाँ इनका साधारण परिचय देकर विशेष उपयोगी और सर्व-सुलभ पाँच-सात अभ्यासों का ही विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे ।

प्राचीन समय के योग विषयक ग्रन्थ, जैसे 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरण्ड संहिता' आदि में प्राणायाम को कुम्भक के रूप में ही मान कर उसे आठ प्रकार का बतलाया है । यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भकाः ॥

अर्थात्—कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार का होता है—(१) सहित कुम्भक, (२) सूर्यभेदी, (३) उज्जायी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्छा, (८) केवली ।

इनमें से सहित कुम्भक प्राचीन विधि का सर्व परिचित अभ्यास है जिसमें पूरक (साँस को खींचने) में जितना समय लगाया जाय उससे चौगुने समय तक कुम्भक और दुगुने समय तक रेचक करना पड़ता है ।

सूर्यभेदी प्राणायाम में दाएँ नथुने से श्वास खींचकर बाएँ नथुने से निकाली जाती है । यह शरीर में उष्णता उत्पन्न करने वाला माना जाता है । दोनों नथुनों में श्वास लेकर केवल पूरक और रेचक करना उज्जायी कहा जाता है । जिह्वा को कौआ की चोंच के समान बनाकर बाहर निकाल कर मुख से श्वास खींचना शीतली प्राणायाम है । यह गर्मी की ऋतु में विशेष हितकारी होता है । भस्त्रिका में पूरक और रेचक शीघ्रतापूर्वक किए जाते हैं । जैसे लुहार की धौंकनी से वायु जोर के साथ निकलती है उसी प्रकार एक बार दाएँ नथुने से और फिर बाएँ से बलपूर्वक और रेचक करते हैं । यह प्राणायाम दुर्बल व्यक्तियों के लिए वर्जित है, क्योंकि ऐसा करने से सिर में चक्कर आ जाता है । भ्रामरी प्राणायाम में रेचक करते समय वायु को भौंरे का-सा शब्द करते हुए निकाला जाता है और उसी गुंजार में मन को लगाया जाता है । इससे धीरे-धीरे कई प्रकार के शब्द सुनाई देने लगते हैं और चित्त एकाग्र होकर शान्त हो जाता है । मूर्छा प्राणायाम में पद्मासन पर बैठकर तथा दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य में रखकर समस्त मानसिक विचारों को रोका जाता है जिससे मनुष्य का बाह्य ज्ञान शून्य हो जाता है । केवली या केवल कुम्भक में पूरक और रेचक पर ध्यान दिए बिना केवल वायु को रोकने का ही अभ्यास करते हैं । इससे दिव्य दृष्टि की प्राप्ति और आयु वृद्धि का लाभ होता है । अन्य आचार्यों ने आठ प्रकार के कुम्भकों में 'सहित कुम्भक' तथा 'केवली कुम्भक' के स्थान पर 'सीत्कारी' और 'प्लाविनी' का उल्लेख किया है । 'सीत्कारी' में शीतली के समान मुख से सीत्कार का शब्द करते हुए वायु को खींचा जाता है और 'प्लाविनी' में पूरक द्वारा अधिक से अधिक वायु को पेट में भरा जाता है, जिससे वह फूल कर मशक के समान ही हो जाता है ।

इन आठ प्रकार के प्राणायामों के अतिरिक्त योगाभ्यास करने वाले महात्माओं ने शरीर और मन को शुद्ध करने और उनको अपनी इच्छानुसार संचालित करने के उद्देश्य से और भी अनेक प्रकार की विधियों का आविष्कार किया है जिससे अनेक शारीरिक रोग मिटाये जा सकते हैं और मानसिक शक्तियों की वृद्धि की जा सकती है । हम यहाँ पर ऐसे प्राणायामों का केवल नामोल्लेख ही कर सकते हैं ।

(१) कपाल-भाति, (२) प्लाविनी, (३) वक्षस्थल-रचक, (४) मध्य रेचक, (५) अग्निप्रदीप्त, (६) अनुलोम-विलोम, (७) नाड़ी-शोधन, (८) दीर्घ श्वास-प्रश्वास, (९) लघु श्वास-प्रश्वास, (१०) प्रच्छर्दन, (११) अग्निप्रसारण, (१२) चतुर्मुखी, (१३) त्रिबन्ध-रेचक, (१४) त्रिबन्ध-कुम्भक, (१५) चन्द्रभेदन, (१६) अर्द्ध मुख भस्त्रिका, (१७) षटमुखी-रेचक, (१८) हृदय-स्तम्भ, (१९) यन्त्र गमन, (२०) वाम-रेचक, (२१) दक्षिण-रेचक, (२२) मुख प्रसारण, पूरक-कुम्भक, (२३) कण्ठवात-उदर पूरक, (२४) प्रणव-ध्वन्यात्मक, (२५) सर्वद्वार बद्ध, (२६) मुख पूरक कुम्भक, (२७) एकांग स्तम्भ, (२८) सर्वांग स्तम्भ, (२९) वायवीय कुम्भक, (३०) सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास, (३१) प्राणायाम संयुक्त, (३२) बाह्याभ्यान्तर-कुम्भक, (३३) नाड़ी अवरोध, (३४) सप्तव्याहृति प्राणायाम, (३५) उरस्थल-शुद्धि, (३६) शक्ति प्रयोग ।

अन्य लेखकों ने इनके अतिरिक्त और तरह के अनेक प्राणायामों का भी उल्लेख किया है । पर ये सब उन्हीं प्रमुख प्राणायाम विधियों की विभिन्न क्रियाओं में थोड़ा-थोड़ा अन्तर करके बनाये गए हैं । मुख्य प्राणायामों में भी समस्त विधियाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी नहीं होतीं । इसलिये अपनी शारीरिक स्थिति, आवश्यकता और उद्देश्य को समझ कर तदनुसार किसी एक विधि को ग्रहण करके अभ्यास करना ही लाभदायक होता है । तमाशे की भाँति प्रत्येक विधि को सीखने की कोशिश करना और दस-पाँच दिन बाद छोड़ देना नासमझी की बात है । प्राणायाम का अभ्यास खेल तमाशे की चीज नहीं है । इसे यदि अपने मन में उल्टे-सीधे ढंग से किया जायेगा तो उससे काफी हानि भी हो सकती है कि ऐसे ही लोगों की अवस्था देखकर यह कहावत प्रसिद्ध हो गई है कि "देखादेखी साधै योग, छीजै काया बाढ़ै रोग ।" योग की क्रियाएँ और विशेष कर प्राणायाम स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण और लाभजनक है, पर ऐसा तभी होता है जब कि इन क्रियाओं को ठीक विधि से सीखकर विचारपूर्वक किया जाय । अच्छा तो यही है कि केवल पुस्तकों के सहारे न रहकर किसी जानकार व्यक्ति से

इनकी शिक्षा ग्रहण की जाय । बाद में पुस्तकों से भी सहायता लेते रहें तो यह कोई बुरी बात नहीं है ।

प्राणायाम द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा

जैसा अन्यत्र बतलाया गया है, प्राणायाम का अभ्यास करने में कुछ लोगों का उद्देश्य शारीरिक उन्नति होता है और कुछ का आध्यात्मिक । जो लोग शारीरिक स्वास्थ्य के सुधार और शक्ति की वृद्धि के उद्देश्य से प्राणायाम करते हैं उनको किसी विशेष योगासन पर बैठने, देर तक कुम्भक करने अथवा मुद्रा आदि का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती । उसके लिए योग-शास्त्र तथा शरीर-विज्ञान के ज्ञाता विद्वानों ने कुछ ऐसी विधियाँ निकाली हैं जिनमें व्यायाम, मानसिक विचार और प्राणायाम तीनों का समन्वय कर दिया गया है । इनके द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के साथ ही मानसिक शक्ति की भी वृद्धि होती है और मनुष्य में एक आन्तरिक शान्ति की भावना स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है । प्राचीन ढंग के प्राणायामों का वर्णन करने के पहले हम कुछ ऐसी ही विधियाँ पाठकों को बतला देना चाहते हैं, क्योंकि इनके अभ्यास में खतरा नहीं होता है और इनको अपने आप करके पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त जो लोग अनुपयुक्त आहार-विहार के कारण अपने स्वास्थ्य को निर्बल कर चुके हैं अथवा रोगों के कारण जिनकी शक्ति का ह्रास हो गया है उनको भी आरम्भ में ऐसे ही अभ्यास द्वारा अपनी शक्ति की वृद्धि कर लेना आवश्यक है, क्योंकि प्राणायाम का ठीक ढंग से कर सकना अस्वस्थ अथवा शक्तिहीन लोगों के लिए सम्भव नहीं ।

प्राण-वृद्धि का अभ्यास

कमरे के फर्श, तख्त या कसी हुई चारपाई पर सीधे लेटकर समस्त शरीर को शिथिल, ढीला कर दो । दोनों हाथों को छाती के नीचे, जहाँ से दोनों तरफ की पसलियाँ अलग होने लगती हैं, रखो । यह सूर्य-चक्र का स्थान है । अब धीरे-धीरे तालयुक्त श्वास लेने लगो । जब वह ताल ठीक हो जाय तो कुछ गहरी साँस लेते हुए यह भावना करो कि प्रत्येक साँस प्राण-भण्डार से अधिक से अधिक प्राण-शक्ति खींचकर ला रही है और वह सूर्यचक्र में एकत्रित हो रही है । जब साँस को बाहर निकालो तो भावना करो कि वह प्राण-शक्ति समस्त शरीर में सिर से पैर तक फैल कर विभिन्न अंगों को जीवनी-शक्ति प्रदान कर रही है । इस अभ्यास को करते समय क्रमशः ऐसे तन्मय हो जाओ कि बाहर से प्राण-शक्ति के भीतर जाने और सूर्यचक्र द्वारा उसके शरीर के प्रत्येक अंग, प्रत्येक नाड़ी, प्रत्येक शिरा और अणु-अणु तक पहुँचने की एक मूर्ति-सी भीतरी नेत्रों से दिखाई पड़ने लगे । इस क्रिया में बहुत बल लगाने की आवश्यकता नहीं, केवल भावना और आकांक्षा करते हुए शान्तिपूर्वक प्राण-शक्ति को वैसी आज्ञा देना ही पर्याप्त होता है । कुछ दिन के अभ्यास से यह क्रिया स्वाभाविक रूप से होने लगती है । इससे समस्त नाड़ीजाल ताजा और शक्तिशाली हो जाता है और सब तरह से थकावट और निर्बलता उसी समय दूर होती जान पड़ती है । थोड़े अर्से के अभ्यास के बाद ही इससे स्वास्थ्य की आश्चर्यजनक रूप से उन्नति हो जाती है ।

रक्त-संचालन सम्बन्धी अभ्यास

जिन व्यक्तियों का रक्त-संचार ठीक दशा में नहीं होता उनको प्रायः सिर दर्द और विभिन्न अंगों में निर्बलता या थकावट जान पड़ने की शिकायत हुआ करती है । ऐसी अवस्था में अगर लेट कर या किसी साधारण आसन पर सीधे बैठ कर तालयुक्त श्वास का अभ्यास किया जाय और उसी के साथ रक्त को नीचे की तरफ जाने की प्रेरणा की जाय तो कुछ ही समय में सिर पीड़ा से छुटकारा मिल सकता है और पैरों तथा अन्य अंगों की निर्बलता भी दूर हो सकती है । यह बात चाहे सुनने में कठिन अथवा अटपटी-सी जान पड़ती हो पर रुधिर का संचालन बहुत कुछ हमारी मानसिक आकांक्षा अथवा भावना के नियन्त्रण में रहता है । इसलिये लगातार भावना करते रहने से उसका शरीर के अभीष्ट स्थान पर पहुँच सकना सम्भव होता है ।

प्राण-शक्ति की पूर्ति कैसे की जाय

त्रुटिपूर्ण आहार-विहार के प्रभाव से मनुष्य को किसी भी समय प्राणों की क्षीणता का अनुभव होने लगता है जिसके फल से उसमें उत्साह तथा साहस का अभाव हो जाता है और वह किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने में हिचकने लगता है । ऐसी अवस्था में प्राण-संचय करने का अभ्यास बहुत लाभदायक होता है । इसके लिए चित लेटकर दोनों पैरों को एक-दूसरे

से मिला लिया जाय और दोनों हाथों की उँगलियों को भी सुविधानुसार एक दूसरे में अटका कर ग्रन्थि रूप में कर लिया जाय । ऐसा करने से एक मंडल-सा बन जाता है जिसके भीतर से प्राण-शक्ति बाहर नहीं निकल सकती । इस प्रकार मंडल बाँधकर तालयुक्त साँस लेना आरम्भ करो तो प्राण शरीर में भरने लग जायेगा और कुछ मिनटों में ही जीवनी-शक्ति की वृद्धि के रूप में उसका प्रभाव शरीर में स्पष्टतः अनुभव होने लगेगा ।

मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाने की विधि

हमारे सोचने, विचारने, याद रखने के सभी कार्य मस्तिष्क द्वारा किए जाते हैं । मस्तिष्क समस्त अंगों को कार्य करने की आज्ञा देता है और समस्त शरीर की रक्षा तथा वृद्धि की योजना करता है । यदि हमारा मस्तिष्क साफ और सशक्त रहेगा और उससे निकलने वाले ज्ञानतन्तु ठीक अवस्था में रहेंगे तो हमारा शरीर और मन भी स्वस्थ बने रहेंगे । इसलिये मस्तिष्क को अच्छी अवस्था में रखना हमारा सबसे पहला कर्तव्य है । इसके लिए सबसे सरल अभ्यास यह है कि सीधे तन कर बैठकर पहले बाएँ नासापुट को अँगूठे से बन्द करके दाएँ से साँस भरो । फिर बाएँ नासापुट से अँगूठा हटा कर दाएँ नासापुट को अंगुलियों से बन्द करके बाएँ से साँस निकाल दो । तब दाएँ नासापुट को वैसे ही अंगुलियों से दाबे रह कर बाएँ से साँस लो और दाएँ से निकाल दो । इसी प्रकार की क्रिया दस-बारह बार करो । इस अभ्यास से मस्तिष्क की शक्ति काफी बढ़ेगी और वह वर्तमान अवस्था की अपेक्षा बहुत ठीक ढंग से काम करने लगेगा ।

समस्त शरीर प्राण से भरने का उपाय

ऊपर दिए गए अभ्यास कुछ विशेष अंगों पर प्रभाव डालते हैं, पर योगियों की एक खास श्वास क्रिया ऐसी है कि जिससे समस्त शरीर को एक साथ जीवन शक्ति प्राप्त होने का लाभ मिलता है । इसके लिए लेट कर शरीर को बिल्कुल शिथिल कर लिया जाता है और जब ताल-युक्त श्वास लेते हुए यह कल्पना की जाती है कि श्वास टाँगों की हड्डियों से, हाथों की हड्डियों से, जननेन्द्रिय से आ रही है और उन्हीं में होकर निकल रही है । इस कल्पना को बराबर बढ़ाते हुए यह कल्पना मूर्तिमंत कर लेनी चाहिए कि हमारे शरीर का रोम-रोम श्वास ले रहा है और निकल रहा है और इस प्रकार समस्त शरीर प्राण से भरा जा रहा है । इससे श्वास को कल्पना द्वारा और आदेश देकर ललाट, सिर के पिछले भाग, मस्तिष्क के आधार, सूर्यचक्र, गुदाचक्र, नाभिप्रदेश, जननेन्द्रिय में एक-एक करके भेजो और बराबर यह भावना करते रहो कि उनको पर्याप्त प्राण-शक्ति प्राप्त हो रही है । इस प्रकार कई बार समस्त अंगों को प्राण-शक्ति प्रदान करके अभ्यास को समाप्त कर दो और कुछ देर साधारण तालयुक्त साँस लेकर उठ बैठो ।

प्राणायाम की मुख्य विधियाँ

उज्जायी प्राणायाम

प्राचीन योग ग्रन्थों में जो आठ प्रकार के प्राणायाम बतलाये हैं उनमें उज्जायी प्राणायाम सर्वोपयोगी और सरल है । उज्जायी शब्द से सम्भवतः ऐसी विधि का आशय है जिससे 'जय' अथवा 'उन्नति' प्राप्त होनी निश्चित है । यह कुम्भक सहित और बिना कुम्भक के—दोनों प्रकार से किया जा सकता है ।

उज्जायी प्राणायाम में पूरक करने से पहले साँस को बिल्कुल निकाल देना चाहिए और फिर छाती को फुलाते हुए दोनों नथुनों से साँस को भीतर खींचना चाहिए । साँस खींचते समय ठोड़ी को कुछ झुका लेना चाहिए जिससे गले की नसें कुछ दब जाएँगी और उनसे सुबकी लेने की आवाज पैदा हो जायेगी । साँस लेते समय चेहरे को दबाव के कारण बिगाड़ लेना, जैसा कि बहुत से लोग किया करते हैं, बिल्कुल अनावश्यक और खराब है । साँस लेते समय पेट की माँसपेशियों को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है जिससे साँस छाती को ही फुलाये और पेट एक-सी पचकी हुई हालत में बना रहे । ऐसा करने से छाती में अधिक परिमाण में ऑक्सीजन ग्रहण की जाती है और इससे नाड़ी-मण्डल को विशेष लाभ पहुँचता है ।

पूरक के पश्चात कुम्भक करना चाहिए । इसके लिए श्वास की नली को बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए । यह कार्य जालन्धर बन्ध से होता है जिसमें ठोड़ी को गर्दन की तरफ झुका कर कंठकूप में बैठाने का प्रयत्न किया जाता है । यदि वह कंठकूप में न बैठ सके तो जितना बन सके उतना झुका कर गले से मिला देना

चाहिए । उज्जायी में अभ्यन्तर कुम्भक किया जाता है, जोकि भली प्रकार श्वास भर लेने के बाद होता है । जालन्धर बन्ध के साथ गले के भीतर माँसपेशियों को कड़ा कर लिया जाता है और नाक के दोनों नथुनों को अँगूठे और अंगुलियों से दबा दिया जाता है । इस प्रकार कुम्भक के समय तीन प्रकार के उपाय करके वायु बाहर निकलने के सब रास्ते रोक दिए जाते हैं, अगर वह ढीला हुआ तो शेष दोनों उपाय भी कच्चे पड़ जाते हैं ।

कुम्भक कितनी देर तक रखा जाय इसके लिए दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है । पहली बात यह है कि वायु को भीतर रोके रखने में किसी तरह की तकलीफ, जैसे दम का घुटना आदि अनुभव न हो । दूसरी यह कि कुम्भक समाप्त करने पर इतनी दम रहे कि रेचक धीरे-धीरे नियमानुसार किया जा सके । इन बातों का ध्यान रखकर प्राणायाम करने पर फेफड़ों अथवा हृदय को किसी प्रकार की हानि पहुँचने की आशंका नहीं रहती । कुम्भक को जब समाप्त करना हो तो पहले बाएँ नथुने पर से अंगुलियों को हटा लिया जाय, तब जालन्धर बन्ध खोला जाय और गले की नसों को भी ढीला कर दिया जाय ।

इसके पश्चात रेचक अर्थात् वायु को बाहर निकालना आरम्भ किया जाता है और बाएँ नथुने से साँस निकाली जाती है । पर यह ध्यान रखें कि साँस को कभी इतना रोकने का हठ न किया जाय कि रेचक करने पर हवा एकदम फेफड़ों से निकल जाय । रेचक में साँस का निकलना धीरे-धीरे और अन्त तक समान गति से होना आवश्यक है । इस समय गले की नसों को थोड़ा दबाये रखना चाहिए जिससे हवा निकलते समय लगातार प्रकार की आवाज आती रहे । रेचक के शुरू होने पर पेट भी धीरे-धीरे भीतर की ओर जाना चाहिए । इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर पर किसी प्रकार का अस्वाभाविक दबाव डाला जाय । वरन् रेचक करते समय साँस को पूरी तरह निकाल देना ही इसका उद्देश्य होना चाहिए । वैसे भी रेचक में पूरक या कुम्भक के समान शरीर पर अस्वाभाविक दबाव पड़ने की आशंका कम ही रहती है । साधारण स्वास्थ्य का व्यक्ति यदि पूरक और कुम्भक में अनुपात से अधिक शक्ति लगायेगा, दबाव डालेगा तो उसका हानिकारक प्रभाव हृदय की अपेक्षा फेफड़ों पर पड़ता है और यदि रेचक में अधिक दबाव पड़ता है तो उसका प्रभाव हृदय पर अधिक होता है ।

रेचक का एक साधारण नियम यह है कि वह पूरक से अधिक समय तक किया जाना चाहिए । इस सम्बन्ध में प्राचीन नियम यह है कि जितने समय तक पूरक किया जाय रेचक उससे दुगने समय तक किया जाना चाहिए । पर इसमें सदैव यह ध्यान रहे कि रेचक समाप्त होने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न न हो जाय कि फिर भीतर साँस लेने में जल्दी करनी पड़े । इसका अर्थ यह है कि प्राणायाम करने वाले को पूरक, कुम्भक और रेचक तीनों में अपनी शक्ति के अनुसार इतना ही समय लगाना चाहिए कि जिससे कभी साँस के लेने या बाहर निकालने में शीघ्रता न करनी पड़े । उत्तम प्राणायाम का नियम यही है कि एक बार की बैठक में पहली बार का प्राणायाम आराम के साथ किया जा सके । अभ्यांस करने वाले को चाहे आठ, दस, बारह कितने ही प्राणायाम क्यों न करने हों उनके बीच में ऐसी स्थिति कभी नहीं आनी चाहिए जबकि इस घुटन का-सा भाव उत्पन्न हो । इसलिये उसे पूरक, कुम्भक, रेचक का समय एकाएक अधिक बढ़ाने की अपेक्षा अपनी शक्ति के अनुसार ही रखना उचित है ।

कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत

जो व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम करते हैं उनको पूरक, कुम्भक आदि का समय क्रमशः बढ़ाते चलना चाहिए और साँस लेते तथा निकालते समय नाक के भीतर उस स्थान पर ध्यान जमाना चाहिए जहाँ वायु लगती हुई जान पड़ती है । इसके विपरीत जो व्यक्ति केवल स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम करते हैं, उनको पूरक, कुम्भक आदि का समय कम रखने का ही प्रयत्न करना चाहिए और गले के भीतर जहाँ वायु श्वास-नली में लगती जान पड़ती है वहाँ ध्यान रखना चाहिए ।

उज्जायी प्राणायाम का अभ्यास करने का सबसे सरल मार्ग यह है कि आरम्भ में कुम्भक को छोड़ दिया जाय, केवल पूरक और रेचक ही किया जाय । स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से प्राणायाम करने वालों को तो कुम्भक से विशेष प्रयोजन रहता ही नहीं और आध्यात्मिक उद्देश्य से करने वालों को भी आरम्भ में बिना कुम्भक

के प्राणायाम करने में ही सुविधा रहती है। जब कुम्भक आरम्भ किया जाय तो उसमें पूर्ण सावधानी रखने की बहुत आवश्यकता है।

दूसरी उपयोगी सलाह यह है कि प्राचीन नियमानुसार केवल एक नथुने से रेचक करने के बजाय दोनों नथुनों से रेचक किया जाय। इससे नये अभ्यास करने वाले को बहुत सुविधा होती है और लाभ में भी विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

प्राणायाम की मात्रा कितनी रखी जाय यह प्रश्न भी अनेक बार पूछा जाता है। यह अधिकांश में व्यक्तिगत स्वास्थ्य और शक्ति पर आधार रखता है। प्राचीन आचार्यों ने आध्यात्मिक उद्देश्य से प्राणायाम करने वालों के लिए अधिक से अधिक ३२० बार प्राणायाम करने को बतलाया है। यह संख्या दो या चार बैठकों में पूरी करनी होती है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अभ्यास करने वालों को कुल मिलाकर २४० बार प्राणायाम दो बार में करना ठीक रहता है।

ऊपर जितने नियम और प्राणायाम के परिणाम लिखे गए हैं वह सब एक सामान्य स्वास्थ्य वाले व्यक्ति की दृष्टि से समझना चाहिए। पर जिनको कोई श्वास सम्बन्धी रोग हो या जिनके हृदय अथवा फेफड़ों में किसी प्रकार की निर्बलता हो उनको प्राणायाम का कोई भी अभ्यास करने से पूर्व किसी विशेषज्ञ से सम्मति अवश्य लेनी चाहिए।

भस्त्रिका-प्राणायाम

इस प्राणायाम में अन्य विधियों की अपेक्षा कई विशेषताएँ पायी जाती हैं और एक दृष्टि से यह एक प्रकार का श्वास सम्बन्धी व्यायाम है जिससे कुछ खास रोगों को दूर भी किया जा सकता है। भस्त्रिका संस्कृत में लुहार की धौंकनी को कहते हैं जो चमड़े की बनी होती है और जिसमें हवा भरकर वे भट्ठी को लोहा गर्म करने के लिए धौंकते रहते हैं। इस प्राणायाम में साँस को लेना तथा निकालना ऐसी शीघ्रता तथा जोर से करना पड़ता है कि उससे धौंकनी का-सा सों-सों का शब्द उत्पन्न हो जाता है। इसमें कभी दोनों नथुनों से साँस लेनी और निकालनी पड़ती है और कभी एक ही नथुने से, पर उसका जल्दी-जल्दी और जोर से निकालना एक आवश्यक नियम है जैसा कि 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा गया है—

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथेव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेद्देह तथा सूर्येण पूरयेत्॥

अर्थात्—"जिस प्रकार वेग से वायु का रेचन करे, उसी प्रकार पूर्ण करे अर्थात् पूरक करे। यह रेचक और पूरक ऐसे वेग से करे जैसे लुहार की धौंकनी चलती है। उसी प्रकार अपने शरीर में स्थित पवन को भी बुद्धिपूर्वक चलावे। जब इस प्रकार रेचक और पूरक करते-करते थक जाय तब सूर्य स्वर (दाएँ नथुने) से वायु खींचकर कुम्भक करे।"

भस्त्रिका प्राणायाम चार प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार में दोनों नथुनों से लगातार शीघ्रतापूर्वक श्वास ली जाती है। इसमें छाती की पसलियों को जैसी की तैसी अवस्था में रखना होता है, केवल पेट की माँसपेशियों को फुलाने और पिचकाने से ही काम चल जाता है। जब श्वास को दोनों नथुनों से शीघ्रतापूर्वक और जोर से बाहर निकाला जाता है, तो भीतर जाने वाली साँस बिना प्रयत्न के अपने आप भीतर जाती है और पेट कुछ उठ जाता है। साँस के भीतर ले जाने मे गले की नसों को बिल्कुल खुला रखना होता है जिससे वायु के जाने में किसी प्रकार का शब्द न हो और वह सरलतापूर्वक भीतर चली जाए। इस प्रकार जब अपनी शक्ति के अनुसार पाँच-सात या अधिक बार रेचक और पूरक कर लिए जाएँ तब तक एक बार बहुत गहरा पूरक करके कुम्भक करना चाहिए और कुम्भक की वायु को जालन्धर बन्ध तथा नथुनों को अंगुलियों से दबाकर रोक देना चाहिए। जब कुम्भक को समाप्त करके वायु को बाहर निकाला जाय तो गले की नसों को बिल्कुल ढीला करके खुला रखे जिससे वायु सहज में निकल जाय। कुम्भक समाप्त हो जाने पर अंगुलियों को नाक पर से हटा कर जालन्धर बन्ध को खोल दिया जाय और तब साँस को बाहर निकाला जाय। इसके पश्चात पाँच-सात बार साधारण रूप से श्वास लेकर फिर पूर्ववत् दूसरा प्राणायाम किया जाय। स्वस्थ व्यक्ति के लिए भस्त्रिका के ऐसे तीन प्राणायाम पर्याप्त हैं।

भस्त्रिका की दूसरी विधि में साँस निकालते और खींचते समय गले की नसों को जरा कड़ा कर लिया जाता है जिससे वायु भीतर जाने की हल्की-सी आवाज सुनाई देती रहती है । जब कई बार इस तरह रेचक और पूरक कर लिया जाय तब दाहिने नथुने से गहरा पूरक करके पूर्ववत् कुम्भक किया जाय और तब बाएँ नथुने से वायु को निकाल दिया जाय । इस क्रिया में वायु को एक नथुने से भरने और दूसरे से निकालने के लिए दायाँ हाथ नाक पर रहना आवश्यक है ।

भस्त्रिका की तीसरी विधि में नथुनों से वायु भीतर खींचने और निकालने में दोनों नथुनों के बजाय एक ही नथुने का प्रयोग करना पड़ता है । इसलिये जितने प्राणायाम करने हों उनमें पहली, तीसरी और पाँचवीं बार अर्थात् उन संख्या वाले प्राणायाम दाहिने नथुने से किए जायें और दूसरा, चौथा तथा छठा अर्थात् पूर्ण संख्या वाले प्राणायाम बाएँ नथुने से किए जाएँ । कुम्भक के लिए वायु भी इसी हिसाब से दाएँ और बाएँ नथुने से खींची जाय पर रेचक दूसरे नथुने से किया जाय ।

चौथे प्रकार की भस्त्रिका में दाएँ नथुने से पूरक करके बाएँ से रेचक किया जाता है । जब कई बार यह अभ्यास कर लिया जाय तब दाएँ नथुने से गहरी साँस खींचकर और कुम्भक करके वायु को बाएँ नथुने से निकाल दें । इसके पश्चात दूसरी बार के प्राणायाम में बाएँ नथुने से साँस खींचकर दाएँ से निकाले और कुम्भक के लिए अन्तिम पूरक भी उसी नथुने से करें ।

भस्त्रिका प्राणायाम बैठकर ही किया जाता है, क्योंकि साँस को जोर से निकालने और खींचने में शरीर के अस्थिर होने की सम्भावना रहती है जो व्यक्ति इस प्राणायाम को आध्यात्मिक दृष्टि से करे उनके लिए पद्मासन पर बैंठने का ही विधान है, जिससे शरीर प्राणायाम के वेग से बिल्कुल न हिल सके ।

सूर्यभेदी प्राणायाम

इसमें किसी अभ्यस्त योगासन में बैठकर दाएँ नथुने द्वारा पूरक करना चाहिए । गले की नसों को थोड़ा कड़ा कर लें, जिससे वायु के भीतर जाने का मन्द-मन्द शब्द सुनाई पड़ता रहे । उस समय ऐसी भावना करें कि श्वास सिर से लेकर पैर के अँगूठे तक समस्त शरीर में भर गया है । जब यथाशक्ति कुम्भक कर लिया जाय तो बाएँ नथुने से उसी प्रकार मन्द शब्द करते हुए वायु को बाहर निकाल दिया जाय । इस प्राणायाम में अन्त तक दाएँ नथुने से पूरक और बाएँ से रेचक किया जाता है । इस प्रकार क्रमशः २१ या ३१ बार तक प्राणायाम किया जा सकता है । इसका भली प्रकार अभ्यास करने से वृद्धावस्था अनुभव नहीं होती और दीर्घायु प्राप्त होती है । इसके लाभों के सम्बन्ध में योगशास्त्र का कथन है—

कपाल शोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत ।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्ततम् ॥

अर्थात्—"सूर्यभेदी प्राणायाम मस्तक को शुद्ध करता है, अस्सी प्रकार के वात रोगों को दूर करता है, पेट में उत्पन्न होने वाले कृमियों को नष्ट करता है । अतः यह लाभकारी सूर्यभेदी प्राणायाम बारम्बार करना उचित है ।"

सूर्यभेदी प्राणायाम जाड़े की ऋतु में करना विशेष हितकारी है, क्योंकि उष्णता उत्पन्न करने वाला है । पर जिन लोगों की प्रकृति कफ और वात की है अथवा जो ठण्डे प्रदेश में निवास करते हैं वे ग्रीष्म ऋतु में भी कर सकते हैं ।

शीतली-प्राणायाम

यह प्राणायाम शीत प्रकृति का है, इसलिये जिनकी शारीरिक प्रकृति उष्ण है, जिन्हें पित्त प्रकोप की शिकायत रहती है, उनके लिए विशेष हितकारी है । गर्मी की ऋतु में उष्णता अधिक अनुभव होने पर भी इसका अभ्यास सुखकर होता है । इसके अन्य गुणों के सम्बन्ध में योगशास्त्र में कहा है—

गुल्म प्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधा तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुम्भिकेयं निहन्तिहि ॥
सर्वदा साधयेद योगी शीतली कुम्भकं शुभम् ।
अजीर्ण कफ पित्तञ्च न च तस्य प्रजायते ॥

अर्थात्—"शीतली कुम्भक, गुल्म, प्लीहा (तिल्ली का बढ़ना) आदि रोगों को दूर करता है, ज्वर, पित्त प्रकोप, क्षुधा, तृषा और सर्प-विष को नष्ट करता है । इससे अजीर्ण कफ, पित्त के दोषों की शान्ति होती है । शरीर सदैव शीतल रहता है, इसलिये योगाभ्यासियों के लिए इसका सदैव अभ्यास करना चाहिए ।"

शीतली प्राणायाम की विशेषता यह है कि जहाँ अन्य सब प्राणायामों में श्वास नाक द्वारा ली जाती है, इसमें मुख द्वारा श्वास लेने का नियम है । इसके लिए जीभ को बाहर निकालकर तथा बीच में से झुकाकर कौए की चौंच की तरह बना लिया जाता है और तब उससे यथाशक्ति अधिक वायु खींचकर कुम्भक करते हैं । कुम्भक में जो जालन्धर बन्ध आदि के नियम हैं वे इसमें भी पालन करने पड़ते हैं । जब कुम्भक पूरा हो जाय तो नाक के नथुनों से वायु को बाहर निकाल दें । इसी प्रकार बार-बार अभ्यास करें । यह प्राणायाम गर्मी की ऋतु में अधिक हितकारी होता है, अथवा योग की ऐसी क्रिया करने के पश्चात किया जाता है जिससे गर्मी विशेष बढ़ जाती है । जिनकी कफ प्रकृति हो उनको यह प्राणायाम लाभकारी नहीं होता है । इससे रक्तचाप (ब्लड प्रेशर) रोग में विशेष लाभ होता है ।

भ्रामरी-प्राणायाम

प्राणायाम की अब तक जो विधियाँ वर्णन की गई हैं वे प्रत्यक्ष रूप से शारीरिक विकारों को मिटाने वाली और स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से लाभदायक हैं । अब एक ऐसी विधि का वर्णन किया जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य मानसिक शान्ति की प्राप्ति है । वैसे प्राणायाम का साधारण लाभ भी उसमें है और अन्य प्राणायामों की तरह फेफड़ों को भी उससे शक्ति प्राप्ति होती ही है । इस भ्रामरी प्राणायाम की विधि योगाचार्यों ने इस प्रकार बतलाई है—

वेगाद् घोषं, पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते
काचिदानन्द लीला ॥

अर्थात्—"प्रथम भौंरे के समान कण्ठ से उच्च शब्द करते हुए पूरक करे, फिर कुछ समय कुम्भक करके भौंरी के समान मन्द शब्द करते हुए रेचक करे । ऐसा करने से योगाभ्यासी के चित्त में एक अनिर्वचनीय आनन्द का भाव उदय होता है ।"

इस प्राणायाम के अभ्यास में रेचक पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । उसे एक सुरीली गुंजार के साथ जितनी अधिक देर तक किया जायेगा उतना ही मन उसमें निमग्न होगा । इससे चित्त में एकाग्रता आयेगी और मन के इधर-उधर चलायमान होने से साधन में जो विक्षेप होता है उसकी आशंका भी न रहेगी । योग-साधन की सफलता में चित्त की एकाग्रता ही सबसे प्रधान विषय है, जैसा कि 'पातंजलि योगसूत्र' में सबसे पहले सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहकर योग का सारांश चित्तवृत्तियों का निरोध ही बतलाया है । यही कारण है कि जो योगाभ्यासी इस भ्रामरी प्राणायाम को भली प्रकार सिद्ध कर लेते हैं उनको समाधि-अवस्था में पहुँचना सुगम हो जाता है । इस प्राणायाम के अभ्यास में भ्रामरी का शब्द सुनते-सुनते ओंकार और अन्य प्रकार के दिव्य शब्द भी सुनाई पड़ने लगते हैं जिससे मन की शान्ति और तन्मयता की बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है ।

प्लावनी-प्राणायाम

प्राणायाम की क्रियाओं में से अधिकांश में वायु को छाती में ही भरा जाता है, पर 'प्लावनी' प्राणायाम में पेट में वायु भरने का विधान है और वह भी इतनी अधिक कि पेट खूब फूल जाय । इसके विषय में 'हठयोग प्रदीपिका' में कहा है—

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्य गाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्म पत्रवत् ॥

अर्थात्—"जब उदर के भीतर पर्याप्त मात्रा में वायु भर ली जाती है तो उससे योगी का शरीर ऐसा हल्का हो जाता है कि जल के ऊपर कमल के पत्ते की तरह बिना किसी प्रयत्न के तैरता रहता है ।"

प्लावनी-प्राणायाम में भी नासिका के दोनों नथुनों से वायु खींची जाती है, पर उसे चेष्टा करके निचले भाग में ले जाते हैं जिससे पेट खूब फूला दिखाई पड़ने लगता है । फिर यथा शक्ति कुम्भक करके नथुनों से ही वायु को बाहर निकाल दिया जाता है । इस प्राणायाम का भली प्रकार अभ्यास करने से उदर रोगों में विशेष लाभ होता है । पाचन-यन्त्रों पर दबाव पड़ने से वे शुद्ध होते हैं जिससे भोजन का परिपाक अधिक उत्तम रीति से होने लगता है । मलाशय पर दबाव पड़ने से कोष्टबद्धता भी दूर होती है, मल सहज में निकलने लगता है, अपानवायु की स्थिति सुधर जाती है । इस प्राणायाम के सम्बन्ध में 'हठयोग प्रदीपिका' में जो पानी पर तैरने की बात लिखी है, वह भी बिल्कुल ठीक है । योगाभ्यासी ही नहीं अनेक साधारण

व्यक्ति भी पेट में साँस भरने का कुछ अभ्यास करके बिना हाथ-पैर हिलाये पानी के ऊपर तैरते रहने की क्रिया दिखा सकते हैं ।

केवली-प्राणायाम

जब साधक विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का भली प्रकार अभ्यास कर चुकता है और पूरक, कुम्भक, रेचक आदि किसी क्रिया के करने में उसे किसी तरह की कठिनाई अनुभूत नहीं होती तब वह केवल कुम्भक का अभ्यास कर सकता है और तभी उसे प्राणायाम में वास्तविक सिद्धि मिलती है । केवल कुम्भक का अर्थ है कि पूरक और रेचक को छोड़कर केवल कुम्भक ही करते रहा जाय । यह बात सुनने में कुछ अटपटी-सी लगती है, क्योंकि इसका अर्थ श्वास-प्रश्वास का त्याग देना ही हो सकता है । 'हठयोग प्रदीपिका' में तथा 'घेरण्ड सहिता' आदि योग ग्रन्थों में इस प्राणायाम का वर्णन किया गया है, और उन्हीं के आधार पर अन्य कितने ही लेखकों ने साधारण रूप से यह लिख दिया है कि पूरक तथा रेचक को छोड़कर एकाएक वायु को जहाँ की तहाँ स्तम्भित कर देने से केवल कुम्भक होता है । इसका 'हठयोग प्रदीपिका' में दिया गया वर्णन इस प्रकार है—

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायु धारणम् ॥
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल कुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेच पूरक वर्जिते ॥
न तस्य दुर्लभं किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवल कुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥

आशय यही है कि "जब तक केवल कुम्भक का अभ्यास परिपक्व न हो तब तक सूर्यभेदी, उज्जायी आदि अन्य प्राणायाम करते रहने चाहिए । जब रेचक और पूरक को छोड़ सुख से वायु धारण करने में समर्थ हो तब उसे केवल-कुम्भक कहते हैं । जब इस प्रकार बिना रेचक और पूरक किए केवल-कुम्भक सिद्ध हो जाता है तो उसके लिए तीनों में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रह जाती और वह वायु धारण द्वारा इच्छानुसार प्रत्येक कार्य सम्पन्न कर सकता है ।"

इस प्रकार केवल-कुम्भक का प्रभाव वहुत अधिक बतलाया गया है, पर इस स्थिति में देर तक कैसे रहा जा सकता है यह एक ऐसी समस्या है जो गुरु से प्रत्यक्ष-शिक्षा प्राप्त किए और चिरकाल तक उसका अभ्यास किए बिना हल नहीं हो सकती । केवल-कुम्भक में पूर्ण सफलता पाने के लिए स्वर-शोधन तथा तत्व-शोधन की आवश्यकता होती है, जिसका वर्णन हमने इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया है जहाँ उसे देखा और समझा जा सकता है ।

कपाल-भाति

यद्यपि 'कपाल-भाति' योग की छः शोधनकारी क्रियाओं में से एक है, तथापि उसमें केवल रेचक और पूरक का विधान होने से वह एक प्राणायाम ही है जो विशेष रूप से नासिका के ऊपर के भाग को शुद्ध करने के लिए किया जाता है । इसके लक्षण और लाभों के सम्बन्ध में योगशास्त्र का कथन है—

भस्त्रावल्लोहकारस्यं रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफ दोष विशोषणी ॥

अर्थात्—"जैसे लुहार की धौंकनी तेजी से हवा को फेंकती है उसी प्रकार अत्यन्त शीघ्रता से रेचक, पूरक करते जाना 'कपाल-भाति' क्रिया कही जाती है । इससे कफ दोषों का नाश होता है ।" कहा जाता है कि इस क्रिया के करने से मस्तक का तेज बढ़ जाता है और वह चमकने लगता है इसीलिये इस क्रिया का नाम कपाल (मस्तक) और भाति (चमकना) मिला कर 'कपाल-भाति' रखा गया है ।

शारीरिक लाभ की दृष्टि से इसे किसी भी सुखासन पर बैठकर किया जा सकता । जैसे 'उज्जायी' आदि प्राणायाम खड़े रहकर भी हो सकते हैं वैसी स्थिति 'कपाल-भाति' की नहीं है, क्योंकि इसमें पेट की माँसपेशियाँ इधर-उधर खूब चलती-फिरती हैं । खड़े होने पर पेट के सामने वाली पेशियाँ कुछ खिंच जाती हैं और सहज में इधर-उधर नहीं हो सकती । पर बैठने पर पेट की सब पेशियाँ ढीली हो जाती हैं जिससे उनके घूमने-फिरने में किसी तरह की दिक्कत नहीं होती ।

जो साधक आध्यात्मिक दृष्टि से इस क्रिया का अभ्यास करते हैं उनको पद्मासन पर ही बैठकर इसका अभ्यास करना चाहिए । अन्य आचार्यों ने सिद्धासन और भद्रासन पर बैठना भी ठीक बतलाया है, पर इस

क्रिया की विधि को देखते हुए और यह जानते हुए कि इसमें शरीर काफी हिल-डुल सकता है, पद्मासन ही उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि उसमें दोनों पैरों को एक-दूसरे में इस प्रकार फँसा दिया जाता है कि कितना ही हिलना-डुलना क्यों न पड़े शरीर पर कोई असर नहीं पड़ता । पद्मासन में जालन्धर बन्ध का भी विधान है, पर चूँकि कपाल-भाति में कुम्भक नहीं करना पड़ता, इसलिये जालन्धर बन्ध की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती । इसी प्रकार आरम्भ में मूलबन्ध भी अनावश्यक है, क्योंकि इस क्रिया का अभ्यास बढ़ने पर मूलबन्ध स्वयं ही लग जाता है । यदि किसी व्यक्ति का मूलबन्ध न लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक इस बन्ध को लगाना चाहिए ।

प्राणायाम की अधिकांश विधियों में काफी गहरी साँस लेने का विधान है । रेचक और पूरक दोनों काफी गहरे होने चाहिए । पर 'कपाल-भाति' का नियम इससे भिन्न प्रकार का है । इसमें बहुत गहरी साँस खींचने की आवश्यकता नहीं होती । कपाल-भाति के अभ्यास में एक बार में इतनी ही वायु बाहर निकालने की आवश्यकता है, जितनी कि पेट के सामने की पेशियों के एक धक्के से बाहर निकल जाय । इस क्रिया में रेचक को ही मुख्य समझना चाहिए, पूरक तो उसका सहायक है जो अपने आप होता रहता है । जिस प्रकार अन्य प्राणायामों में रेचक, पूरक और कुम्भक, तीन अंग होते हैं, कपाल-भाति का मुख्य अंग रेचक ही है और अभ्यास करने वाला उसी को बार-बार करता है । जब अभ्यास हो जाय और शक्ति बढ़ जाय तो वह एक बार के प्राणायाम में बिना रुके सौ, दो सौ बार किया जा सकता है । रेचक में एक बार में जितनी वायु निकलती है वह साधारण साँस लेने से थोड़ी ही अधिक होती है, मोटे हिसाब में सवायी मान सकते हैं ।

कपाल-भाति में अन्य प्राणायामों से एक अन्तर यह भी है कि इसमें श्वास लेते और निकालते समय पसलियों के बीच की माँसपेशियाँ यथासम्भव जैसी की तैसी स्थिति में रखी जाती हैं और केवल पेट की माँसपेशियों को उठाया और गिराया जाता है । कपाल-भाति में रेचक के समय जब शीघ्रतापूर्वक और जोर से साँस निकाली जाती है और उतनी ही शीघ्र पूरक की जाती है तो पेट की माँसपेशियाँ और 'डायाफ्राम' (फेफड़ों को आमाशय से पृथक करने वाली झिल्ली) भी जोरों से फूलती और पिचकती है । इससे पेट के सब अवयवों का अच्छा व्यायाम हो जाता है स्वास्थ्य-लाभ होता है । कपाल-भाति के अभ्यास के समय गले की नसों को बिल्कुल ढीला और बिना तनाव के रखा जाता है जिससे वायु को निकलने में किसी प्रकार बाधा न हो । इस दृष्टि से कपाल-भाति की स्थिति लगभग भस्त्रिका प्राणायाम के समान ही होती है । दोनों में खास अन्तर इतना ही होता है कि भस्त्रिका में बीच-बीच में एक बार कुम्भक भी कर लिया जाता है, जबकि कपाल-भाति में कुम्भक का विधान बिल्कुल नहीं रखा गया है ।

कपाल-भाति के पूरक में भी कुछ भिन्नता है । पूरक और रेचक दोनों में यद्यपि समान परिमाण में ही वायु खींची और निकाली जाती है, पर दोनों में जितना समय लगता है उसमें बड़ा अन्तर है । उदाहरणार्थ अगर एक रेचक और एक पूरक में मिलकर एक सेकण्ड लगता हो तो रेचक में चौथाई सेकण्ड और पूरक में पौन सेकण्ड समझना चाहिए । इसका आशय यह है कि 'कपाल-भाति' में रेचक की ही मुख्यता है । उसी में बार-बार साँस को शीघ्रता से और जोर से निकालना पड़ता है । इसलिये 'कपाल-भाति' का अभ्यास करते समय रेचक की 'हुँ-हुँ' ध्वनि ही सुनाई देती रहती है । पूरक की वायु तो ऐसे धीरे और आसानी से भीतर खींची जाती है कि उसकी तरफ तो जरा भी ध्यान नहीं जाता । इसीलिये रेचक पर ध्यान देना और उसे लुहार की धौंकनी की तरह बलपूर्वक करते रहना ही 'कपाल-भाति' का मुख्य कर्तव्य है ।

'कपाल-भाति' के एक-एक प्राणायाम में कितनी बार श्वास ली जाय, यह प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक अवस्था और शक्ति पर निर्भर रहता है । पर आरम्भ में बहुत थोड़े रेचकों से अभ्यास करना ही सुरक्षात्मक है । इसलिये एक बार के प्राणायाम में अगर दस-बारह बार रेचक किया जाय तो काफी है । ऐसे तीन प्राणायाम एक बैठक में पर्याप्त समझना चाहिए । इस परिमाण को धीरे-धीरे बढ़ाया जाना चाहिए । अगर प्रति सप्ताह एक प्राणायाम में दस रेचक बढ़ाये जाएँ तो तीन महीने में अभ्यासकर्त्ता लगभग १२० रेचक तक पहुँच सकता

है । इस प्रकार बैठक के तीन प्राणायामों में वह ३६० रेचक कर सकेगा । जो लोग सामान्य से बहुत अधिक शक्तिशाली हों वे अपनी शक्ति के अनुसार रेचकों की संख्या बढ़ा सकते हैं जो साधक आध्यात्मिक उद्देश्य से अभ्यास करते हैं उनको धीरे-धीरे रेचकों की संख्या बढ़ाते रहना चाहिए । उनको अभ्यास करते-करते अपने शरीर के भीतर शक्ति के कम्प अनुभव करने चाहिए और ऐसे कम्पों का अनुभव लगातार कुछ देर तक रेचक करने से ही हो सकता है । फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि 'कपाल-भाति' का अभ्यास शरीर पर बहुत जोर डालने वाला है और किसी को एक बैठक में ५ से १० मिनट तक के समय से अधिक नहीं बैठना चाहिए और इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अभ्यास करते-करते अपने को उचित से अधिक थका न डाला जाय । शक्ति से अधिक अभ्यास कर डालना शरीर के अंगों के लिए हानिकारक सिद्ध होगा ।

कुण्डलिनी-जागरण

अध्यात्मशक्ति के इच्छुकों को कपाल-भाति का अभ्यास करते हुए यह ध्यान भी करना पड़ता है कि रेचक के समय हम जोर के साथ जो वायु निकालते हैं और उसके कारण पेट की माँसपेशियाँ जो एक साथ दबती हैं उसका धक्का नाभि के पीछे ऐसे स्थान पर लगता है, जहाँ कुण्डलिनी शक्ति सोई पड़ी है । इस प्रकार लगातार धक्के देकर उसे जागृत किया जाता है तो साधक के अन्तर में एक अपूर्व ज्ञान का उदय होता है । आजकल की वैज्ञानिक भाषा में इस बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कपाल-भाति' में रेचक के कारण जो माँसपेशियों का व्यायाम होता है उससे प्रभावतन्तुओं (स्नायु-मण्डल) के केन्द्र की शक्ति बढ़ती है, जिससे मनुष्य की बुद्धि और ज्ञान की वृद्धि होकर वह आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति कर सकता है । पर यह सब लाभ अपनी आन्तरिक विश्वास और श्रद्धा पर आधार रखता है । निर्बल विश्वास वाला ऐसी शक्ति का अनुभव शीघ्र नहीं कर सकता ।

प्राणायाम के विशेष अभ्यास

प्राचीन ग्रन्थों में प्राणायाम की जिन प्रणालियों का विधान है, उनमें सफलता प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रकार की साधन-अवस्था में रहना और उसे सदैव स्थिर रखना आवश्यक है । जो व्यक्ति पातंजलि के मतानुसार अष्टांग-योग का साधन करना चाहते हैं उनको प्राणायाम से पहले यम, नियम और आसन का दृढ़ अभ्यास कर लेना चाहिए । प्राणायाम के पश्चात वह प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करके जीवन मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकता है और अलौकिक शक्तियों का स्वामी बन सकता है । यद्यपि वर्तमान समय में विधिवत् अभ्यास करने वाले योगी बहुत कम दिखाई पड़ते हैं, इसलिये लोगों की योग-सम्बन्धी गूढ़ शक्तियों के विषय में सन्देह बना रहता है, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि योगाभ्यास द्वारा हम महत्त्वपूर्ण शारीरिक और मानसिक लाभों को प्राप्त कर सकते हैं और उनके द्वारा क्रमशः आत्मकल्याण के उच्च सोपान तक पहुँचना सहज हो सकता है ।

पर वर्तमान युग में सामाजिक, आर्थिक, रहन-सहन, खान-पान आदि के सभी क्षेत्रों में जो नवीन परिवर्तन हुए हैं उनको देखते हुए प्राचीन समय का-सा योग-जीवन बिता सकना कठिन या असुविधाजनक प्रतीत होता है । जिस समय योग-सूत्रों की रचना हुई थी, तब से अब तक देश-काल में बहुत अधिक अन्तर पड़ गया है । तब देश में जनसंख्या बहुत कम थी, जंगल और कृषि योग्य भूमि की बहुलता थी, खान-पान की प्रत्येक वस्तु शुद्ध और प्राकृतिक मिलती थी, इसलिये लोगों में प्राण-तत्व स्वभावतः ही भरा होता था । उसे थोड़े ही अभ्यास से प्रस्फुटित करना और शक्तिशाली बना लेना अधिक कठिन नहीं होता था । पर वर्तमान समय में ये सभी बातें बदल कर बहुत कुछ विपरीत हो गई हैं । अब जन्मकाल से ही मनुष्यों को जैसा कृत्रिम-जीवन बिताना पड़ता है और शुद्ध प्राकृतिक पदार्थों का जिस प्रकार अभाव होता है, उससे शरीरस्थ प्राण-शक्ति निरन्तर न्यून होती जा रही है । अब पूर्वकाल की तरह थोड़े ही परिश्रम से प्राण-जगत के अस्तित्व और उसकी शक्तियों का अनुभव करना सम्भव नहीं है ।

दूसरी बात यह भी है कि वर्तमान समय के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक वातावरण में लोगों का जीवन-क्रम पहले की अपेक्षा बहुत बदल गया है और उनको अधिकांश समय अपना और परिवार का निर्वाह करने के लिए लगाना पड़ता है । दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आजकल के अधिकांश मनुष्यों को

"कमाने-खाने" ही से फुर्सत नहीं मिलती, योगाभ्यास जैसी जीवन का जड़मूल से परिवर्तन करने वाली विधियों का अनुसरण करने का समय और सुविधा उनको मिल सकना असम्भव-सा है । इसलिये आजकल के अनुभवी विद्वानों ने प्राचीन शास्त्रों में बतलाई विधियों का सार ग्रहण करके वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध हो सकने वाली प्राणायाम की ऐसी विधियाँ निकाली हैं जिनका कर सकना आजकल के व्यस्त-जीवन में भी सम्भव और फलदायक हो सके । इन विधियों द्वारा थोड़े-से फुर्सत के समय में अभ्यास करके पर्याप्त शारीरिक और मानसिक लाभ उठाया जा सकता है और साथ ही अपने दैनिक व्यावहारिक कर्तव्यों का भी पालन करते रहना सम्भव होता है ।

प्राणाकर्षण प्राणायाम

जिन व्यक्तियों ने पहले कभी प्राणायाम की किसी विधि का अभ्यास नहीं किया है, उनके लिए सबसे पहले प्राणाकर्षण प्राणायाम का अभ्यास सबसे अधिक उपयुक्त और लाभदायक है जिस प्रकार खेती करने में सबसे पहले भूमि को हल चलाकर नर्म और पौधों की जड़ें नीचे जाने योग्य बनाया जाता है, वैसे ही इस प्राणायाम से शरीर की नाड़ियों में वायु का प्रवेश जोरदार बनाकर समस्त देह में एक चैतन्यता का संचार किया जाता है । इससे प्राण-शक्ति का कुछ अनुभव होने लगता है और शरीर इस योग्य बनता है कि आगामी शक्तिशाली विधियों के प्रभाव को ग्रहण कर सके ।

प्राणाकर्षण प्राणायाम के लिए प्रातःकाल का समय ही उत्तम रहता है । नित्य-कर्म से निवृत्त होकर किसी भी सुखासन पर स्थिर होकर बैठ जाय और नेत्रों को बन्द करके यह भावना की जाय कि हम प्राण-प्रवाह से ओत-प्रोत स्थान में बैठे हैं । सूर्य प्रकाश में प्रकाशित होते हुए श्वेत-वाष्प रूप बादलों की तरह प्राण-तत्व सर्वत्र उफनता हुआ हमारे चारों ओर व्याप्त है और हम उसके बीच में सब प्रकार से निश्चल, निश्चिन्त, शान्त, प्रसन्न अवस्था में बैठे हैं ।

अब नाक के दोनों नथुनों से साँस भीतर खींचिये । ज्यादा जल्दी करना ठीक नहीं, अपनी स्वाभाविक गति से धीरे-धीरे साँस लेना ही हितकर होता है । उस समय यह भावना करते रहना चाहिए कि जो प्राण-प्रवाह हमारे चारों ओर उफन रहा है वह नाक के छिद्रों द्वारा भीतर प्रवेश करके हमारे अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हो रहा है और उनको नव-जीवन प्रदान कर रहा है । साँस को थोड़ी देर एक मिनट, आधा मिनट तक भीतर रोके रहना चाहिए और उस समय भी यही भावना करनी चाहिए कि साँस के साथ भीतर गया प्राण-तत्व हमारे विभिन्न अंगों को शक्तिवान बनाकर हमारा कल्याण कर रहा है ।

इसके पश्चात साँस को धीरे-धीरे बाहर निकाल दीजिए । अनेक लोग साँस को अधिक देर तक भीतर रोकने को अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समझते हैं । इसलिये वे उसे अपनी शक्ति से अधिक देर तक रोके रहते हैं । नतीजा यह होता है कि जब साँस को बाहर निकाला जाता है तो वह बहुत जल्दी बाहर निकल जाती है । पर योगशास्त्र ने यह नियम बतलाया है कि साँस के बाहर निकालने (रेचक) में साँस खींचने (पूरक) की अपेक्षा अधिक समय लगाना चाहिए । इस प्राणाकर्षण अभ्यास में भी यदि रेचक में अधिक समय न लगाया जाय तो कम से कम खींचने के बराबर तो लगाना ही चाहिए । साँस निकालते समय यह भाव रखना चाहिए कि प्राण-वायु लाभकारक तत्व को शरीर के उपयोग में लगा कर वहाँ की गन्दगी और मल को साथ लेकर बाहर निकल रही है । इसलिये जब साँस निकल चुके तो जरा देर के लिए साँस का लेना बन्द रखना चाहिए अर्थात् अन्तः कुम्भक की तरह दो-चार सेकण्ड के लिए बाह्य कुम्भक भी करना चाहिए । इससे यह लाभ होगा कि भीतर से निकली हुई गन्दी साँस कुछ दूर चली जायेगी और पुनः साँस लेने में उसके दूषित तत्वों के भीतर पहुँचने की सम्भावना न रहेगी ।

इस प्रकार का प्राणाकर्षण प्राणायाम आरम्भ में ५ बार करना चाहिए, जिसमें आठ मिनट से भी कम समय लगेगा । फिर जैसे-जैसे अभ्यास पक्का होता जाय वैसे-वैसे ही प्राणायामों की संख्या बढ़ाते रहना चाहिए । एक वर्ष के अभ्यास के पश्चात प्रतिदिन २० प्राणायाम आसानी से किए जा सकेंगे, जिनमें आधा घण्टा के लगभग लग जायेगा । इतने समय से इसके लाभ आपको प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लग जायेंगे । प्राण-तत्व की वृद्धि से सुस्ती, काहिली, निरुत्साह, झिझक, संकोच आदि निर्बलता-जनित त्रुटियाँ दूर होकर अपने

भीतर एक प्रचण्ड-शक्ति का अनुभव होने लगेगा । संसार के सभी कार्यों में सफलता का मुख्य आधार यह प्राण-शक्ति ही है । जिसने इसको प्राप्त करने, वृद्धि करने की युक्ति समझ ली, उसको जीवन-संग्राम में कभी हार का अवसर उपस्थित न होगा । शारीरिक, मानसिक, आत्मिक सभी क्षेत्रों में उसकी प्रगति निश्चित है ।

लोम-विलोम प्राणायाम

प्राणाकर्षण प्राणायाम द्वारा पूरक, कुम्भक और रेचक का ठीक अभ्यास हो जाने पर और उनको बिना किसी कठिनाई के सुविधापूर्वक करते रहने पर शरीरस्थ शक्ति को जागृत करने के लिए लोम-विलोम, सूर्य-भेदन प्राणायाम किया जाता है । इसके फलस्वरूप मनुष्य का अन्तर्जगत प्रकाशित हो जाता है और वह अपनी शक्तियों को किसी विशेष केन्द्र स्थान पर एकत्रित करके महान कार्यों को पूरा करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है ।

इसके लिए किसी शान्त, एकान्त स्थान में पूर्वोक्त प्रकार से स्वस्तिकासन पर या पालथी मार कर बैठना चाहिए । आसन पर बैठते समय मेरुदण्ड को सीधा रखने का सदैव ध्यान रखना चाहिए क्योंकि शारीरिक शक्तियों का संचालन करने वाले स्नायुओं का केन्द्र स्थान वही है । नेत्रों के पलक आधे बन्द रहें और हथेलियाँ घुटनों पर सीधी रखी जायें ।

सूर्यभेदन प्राणायाम में एक बार दाएँ नथुने से साँस भरकर और थोड़ी देर रोककर बाएँ से बाहर निकाल दी जाती है और दूसरी बार बाएँ नथुने से साँस भरकर दाएँ से निकाली जाती है । इसके लिए दाएँ हाथ की अंगुलियों और अँगूठे की सहायता से प्रथम बार बाएँ नथुने को और दूसरी बार दाएँ को बन्द कर लिया जाता है । इसी प्रकार बाएँ से साँस बाहर निकालते समय दाएँ को बन्द कर देना चाहिए और दाएँ से निकालते समय बाएँ को अंगुलियों से दबा देना चाहिए ।

जितनी देर तक साँस खींची जाय और भीतर रोकी जाय तब तक यह ध्यान करना चाहिए कि उसके द्वारा नाभिस्थित सूर्यचक्र जागृत और प्रकाशित होकर शरीर के समस्त अंगों को नव-जीवन प्रदान कर रहा है । साँस को बाहर निकालने के पश्चात बाह्य कुम्भक के समय भी यह भावना करनी चाहिए कि नाभिस्थिति सूर्यचक्र से तेजयुक्त अग्नि की-सी लपटें उठ रही हैं और वे सुषुम्ना नाड़ी तथा फेफड़े, हृदय, कण्ठ आदि अवयवों को पुष्ट बना रही हैं ।

इस लोम-विलोम सूर्यभेदन प्राणायाम का अभ्यास थोड़े ही समय में सूर्यचक्र को जागृत करके शारीरिक और मानसिक स्थिति में अद्‌भुत परिवर्तन कर देता है । यह सूर्यचक्र नाभि के पीछे एक ग्रन्थि के रूप में है जहाँ बहुत से स्नायु मिले हुए हैं और वहाँ से चारों तरफ फैलकर वे हृदय, फेफड़े, आमाशय, गुर्दे आदि सब प्रधान अंगों को शक्ति प्रदान करते हैं । इस प्रकार यह सूर्यचक्र उन समस्त मुख्य-मुख्य शारीरिक क्रियाओं का संचालनकर्त्ता है जिनसे हमारा जीवन स्थिर रहता है और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है । जो व्यक्ति इस प्राणायाम द्वारा उसे जागृत करने में सफल होंगे उनके जीवन की कायापलट हो जायेगी और आलस्य, ढीलापन, निरुत्साह का भाव दूर होकर वे प्रत्येक कार्य को पूरे उत्साह और शक्ति के साथ सम्पन्न करने में समर्थ हो सकेंगे ।

नाड़ी-शोधन प्राणायाम

मनुष्य के रहन-सहन में अज्ञात अथवा प्रमादवश जो भूलें हो जाती हैं उनके कारण उसके शरीर में मल वृद्धि होती रहती है । यह मल वृद्धि केवल भोजन पचाने वाली आँतों और मलाशय में ही नहीं होती वरन् उस मल में से दूषित गैसें निकल कर रक्त-प्रवाह में मिल जाती हैं और देह के समस्त नाड़ी जाल को गन्दा और अवरुद्ध बनाया करती हैं । प्राणायाम का एक उद्देश्य यह भी होता है कि फेफड़ों में अधिक परिमाण में शुद्ध वायु खींचकर और उसमें सम्मिलित प्राण-शक्ति को रक्त के साथ मिलाकर उस मल को भस्म करके बाहर निकाल दिया जाय । इस प्रकार नाड़ियों के शुद्ध होने से रक्त का प्रवाह अबाध गति से समस्त शरीर में बहने लगता है और उसकी चैतन्यता, स्फूर्ति, शक्ति पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ जाती है । इसके लिए नाड़ी-शोधन प्राणायाम विशेष रूप से प्रभावशाली सिद्ध होता है ।

प्रातःकाल पूर्व की ओर मुख करके सुखासन पर बैठकर नाक का दायाँ नथुना बन्द करके बाएँ से साँस खींची जाय, जो इतनी हो कि केवल फेफड़े में ही न रह कर पेट भी कुछ फूल जाय । इस विधि से वह

साँस नाभिचक्र को प्रभावित करती है । बाएँ नथुने से जो साँस खींची जाती है वह इड़ा नाड़ी द्वारा भीतर जाती है जिसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं । इसलिये बाएँ नथुने से साँस लेते समय यह भावना करनी चाहिए कि वह नाभिस्थित चन्द्रमा को स्पर्श करके शीतल और प्रकाशित बना रही है । जब वह साँस बाहर निकाली जाय तो भावना कीजिए कि उसके द्वारा इड़ा नाड़ी शीतलता और प्रकाश पाकर शुद्ध और पुष्ट बन रही है । इस प्रकार का अभ्यास तीन बार करना चाहिए उसके बाद बाएँ नथुन को बन्द करके दाएँ से इसी प्रकार साँस खींची और निकाली जाय । उस समय यह भावना की जाय कि उस प्राण-वायु के द्वारा नाभिस्थित सूर्य की ऊष्मा और प्रकाश ऊपर उठकर पिंगला अथवा सूर्य नाड़ी को शुद्ध और सशक्त बना रहा है । यह क्रिया भी तीन बार करनी चाहिए । अन्त में दोनों नथुनों को खोलकर एक बार साँस भीतर खींच कर मुख से बाहर निकाल देना चाहिए । इस प्रकार सात बार साँस खींचने को एक नाड़ी-शोधन प्राणायाम कहा जाता है । क्रमशः अभ्यास करके इस प्रकार के तीन प्राणायाम प्रतिदिन करते रहने से कुछ दिनों में सभी नाड़ियाँ मल रहित और शुद्ध हो जाती हैं और साधक अपने शरीर में हल्कापन और साथ ही शक्ति की अधिकता का अनुभव करने लगता है ।

प्राणायाम का आध्यात्मिक स्वरूप

जैसा हमने पिछले अध्याय में वर्णन किया है, प्राणायाम हमारे शरीर-यन्त्र को स्वस्थ रखने तथा उसे शक्ति तथा तेज प्रदान करने का अपूर्व साधन है । पर भारत के प्राचीन योगियों का ध्यान इस ओर अधिक नहीं था । वे सांसारिक लाभों की अपेक्षा आत्मा के स्थायी कल्याण की विशेष चिन्ता करते थे और इसलिये वे प्राणायाम ही नहीं समस्त योगाभ्यास का लक्ष्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनुभव करके परमात्मा के निकट पहुँचना ही मानते थे । वे भली प्रकार जानते थे कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप अथवा मूलतत्व केवल उसका स्थूल शरीर ही नहीं है, जिसे लोग अन्नमय शरीर कहकर पुकारते हैं, क्योंकि इसी शरीर से हम खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते और विभिन्न प्रकार के कार्य करते रहते हैं, इसलिये अनेक सामान्य बुद्धि वाले इसी को मनुष्य का एकमात्र रूप समझे बैठे हैं । पर वास्तव में बात इससे उल्टी है । यह स्थूल या अन्नमय शरीर नाशवान है । किसी भी क्षण या किसी भी घड़ी इसका एक अत्यन्त तुच्छ घटना के कारण नाश हो सकता है । पर सूक्ष्म शरीर, जिसे प्राणमय शरीर भी कहा जाता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक स्थायी है, और उसका कार्य भी स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

यह प्राणमय शरीर ही मस्तिष्क द्वारा समस्त शारीरिक अंगों का संचालन या नियन्त्रण करता है, तथा उसकी चेष्टा और परिश्रम के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता । यों तो मनुष्य स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में नित्यप्रति अन्नमय क्षेत्र से प्राणमय क्षेत्र में जाता रहता है पर वह अवस्था अपने अधीन न होने से उसमें कोई कर्म नहीं किया जा सकता । उस समय हम प्राणमय क्षेत्र को अतिक्रमण करके अन्य क्षेत्र में नहीं जा सकते । इसके लिए आसन साधन करके प्राणमय क्षेत्र में जाना ही उपयोगी हो सकता है ।

जिन सब उपायों से प्राणमय क्षेत्र में जाया जा सकता है उन सबको प्राणमय-शरीर-साधन या प्राणायाम कहा जाता है । अन्नमय शरीर का साधन करके उसे अतिक्रमण कर लेने से जिस प्रकार भूख, प्यास तथा अन्य शारीरिक सुख-दुःख का बोध नहीं होता उसी प्रकार प्राणमय शरीर का साधन कर लेने पर बाह्य प्राण की आवश्यकता नहीं रहती, विषय-वासनाएँ मनुष्य को प्रभावित तथा व्यथित नहीं कर सकतीं ।

प्राणायाम का वास्तविक अर्थ

अन्नमय शरीर के निमित्त प्राणमय शरीर द्वारा जो कर्म किए जाते हैं उन सबकी निवृत्ति करने का नाम ही प्राणायाम है । दूसरे शब्दों में अन्नमय शरीर की ओर जो प्राणों का प्रवाह रहता है उसका निरोध करके प्राणमय शरीर में अवस्थान करना ही प्राणायाम कहा जाता है । बहुत से लोग प्राणायाम के नाम पर जो अनेक प्रकार की बाह्य क्रियाएँ करते रहते हैं । उनसे वास्तविक प्राणायाम नहीं होता और न उनके द्वारा आगामी कार्यक्रम प्रत्याहार आदि का कर सकना सम्भव होता है । इसलिये प्राणायाम के अभिलाषी व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह प्राणायाम साधन आरम्भ करने के पहले इस बात की जानकारी प्राप्त

कर ले कि 'प्राण' क्या है और उसका शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है ? प्राणायाम एक अतीन्द्रिय साधन है और इस कारण केवल बल प्रयोग से, अथवा इन्द्रियों को अनुचित रूप से देबाने से प्राणायाम सिद्ध नहीं हो सकता । योगी-जन केवल युक्ति द्वारा ही प्राणायाम साधन करते हैं । इसलिये प्राणायाम के सम्बन्ध में इस अत्यावश्यक युक्ति के जाने बिना प्राणायाम साधन का कोई लाभ नहीं हो सकता । इतना ही नहीं इस साधन विधि में आसन-साधन का उपयुक्त अभ्यास किए बिना भी प्राणायाम-साधन की अन्य चेष्टाएँ निरर्थक होती हैं । इस प्रकार के आसन-साधन में मुख्य बात यही है कि किसी भी सुखासन पर बैठकर कम से कम तीन या पाँच-छः घण्टे तक एक ही स्थिति में स्थिर रहा जा सके । विभिन्न प्रकार से अंगों को मोड़कर तरह-तरह के आसन करना व्यायाम की दृष्टि से ठीक हो सकता है, प्राणायाम में उनकी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

प्राण का स्वरूप

जिस शक्ति द्वारा हमारे अन्नमय शरीर के सब कार्यों की पूर्ति होती हैं, अर्थात् जिसके द्वारा हम देखना, सुनना, स्पर्श, स्वाद लेना, सूँघना, बोलना, अंगों को हिलाना, मल त्याग करना, पेशाब करना आदि कर्म करते हैं और जिसके द्वारा हमारे अन्नमय शरीर से लार, पाचक रस आदि निकलते हैं, खाये हुए अन्न का रस शोषण होता है, श्वास-प्रश्वास का कार्य होता है और हमको इनके लिए चेष्टा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती उस शक्ति को ही प्राण कहते हैं । हमारे शरीर में प्राण-शक्ति का कार्य होते रहने से ही हम जीवित कहे जाते हैं और इसी कारण से प्राण को जीवनी-शक्ति कहा जाता है ।

हमारा यह अन्नमय शरीर स्त्री-प्रधान और पुरुष-प्रधान दो विभिन्न प्रकार के जीवाणुओं के संयोग से बनता है, इसलिये उसमें प्राण भी दो प्रकार के रहते हैं—एक स्त्री शरीर से उत्पन्न (स्त्री-प्राण) और दूसरा पुरुष शरीर से उत्पन्न (पुरुष-प्राण) । हमारे बाएँ अंग में स्त्री-प्राण और दाएँ अंग में पुरुष-प्राण अवस्थित होता है । अर्ध-नारीश्वर, हर-पार्वती, लक्ष्मी-नारायण आदि युगल-भावना वाले शब्दों के प्रचार का कारण ये दो प्रकार के प्राण ही हैं । इतना ही नहीं सब भाषाओं में वामांग (वाम-अंग) को तो स्त्री-अंग, और दक्षिणांग को पुरुषांग कहा जाता है, उसका मूल भी यही है । हमारी आत्मा चैतन्य स्वरूप में आने के पश्चात अपने निर्वाण की चेष्टा करने लगती है और इसके लिए प्रथम प्रज्वलित अग्नि की तरह प्राकृतिक क्षेत्र समूह को भोग करने के लिए वासनायुक्त होती है । यह वासना अपने समान रूप वाले पदार्थों के प्रति विशेष रूप से होती है । इसी से स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के बीच परस्पर संयोग वासना जैसे प्रबल रूप में सर्वत्र दिखलाई पड़ती है, वैसे ही दोनों प्रकार के अंगों में भी संयोग की प्रबल वासना होती है । इतना ही नहीं किसी समय, किसी स्थान पर, किसी पदार्थ में जब कोई एक प्राण पृथक होकर अवस्थान करने में असमर्थ होता है तो वह देश-काल की बाधाओं का अतिक्रमण करके अन्य प्रकार के प्राण के साथ संयोग करने को आकर्षित होता है । इसी कारणवश सब प्राणियों में स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओं के बीच कामदेव का अप्रतिहत प्रभाव सब कोई अच्छी तरह अनुभव करने में समर्थ होते हैं ।

जो कुछ भी हो इन दोनों प्रकार के प्राणों के पारस्परिक आकर्षण के फलस्वरूप और दोनों की मात्रा के तारतम्यानुसार कभी तो ये दोनों प्राण जल और नमक की तरह मिलकर आदि रूप में अवस्थान करते हैं और कभी जल तथा तेल की तरह मिलकर, मिलने पर भी पृथक भाव से अवस्थान करते हैं । जिन सब पदार्थों में ये दोनों प्रकार के प्राण आदि रूप से अवस्थान करते हैं उनको जड़ पदार्थ, और जिनमें पृथक रूप से अवस्थान करते हैं उनको अजड़ पदार्थ कहा जाता है । इन दोनों प्रकार के प्राणों के पृथक अवस्थान करने से, उनके आधार स्वरूप पदार्थों के अद्‌भुत संयोग से ही हमारे शरीर में दोनों प्रकार के प्राणों का कार्य जीवनी-शक्ति के रूप में होता देखा जाता है । समस्त पंच भौतिक पदार्थों में ये दोनों प्रकार के प्राण किसी न किसी प्रकार के मिश्रण में विद्यमान रहते हैं । इसका आशय यह है कि जहाँ वे अजड़ रूप में विद्यमान न जान पड़ें, वहाँ वे जड़ रूप में विद्यमान हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए । इस सबका सारांश यही है कि सब पदार्थों में, सब समय और सब अवस्थाओं में दोनों प्रकार के प्राण उपस्थित रहते हैं ।

हमारा अन्नमय क्षेत्र इस प्राणमय क्षेत्र के भीतर ही अवस्थान करता है, इसलिये अन्नमय शरीर में प्राण को सर्वव्यापी कहा जाता है । वास्तविक तथ्य यह है कि हमारे अन्नमय शरीर के भीतर जिस प्रकार सर्वत्र प्राण अवस्थान करता है उसी प्रकार शरीर के बाहर के प्रदेश में भी उसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है ।

शरीर के मध्यस्थ प्राण का अवस्थान

ये बाएँ और दाएँ अंग के दोनों प्रकार के प्राण परस्पर में संयुक्त होते हुए भी हमारे वामांग और दक्षिणांग में पृथक रूप में रहते हैं । पर जैसे सम्पूर्ण शरीर अन्नमय शरीर के नाम से पुकारा जाता है, इसी प्रकार ये दोनों प्राण सम्मिलित रूप से प्राणमय शरीर कहे जाते हैं । तार में जैसे बिजली विद्यमान रहती है, उसी प्रकार अन्नमय पदार्थ द्वारा संगठित अन्नमय शरीर में प्राण विद्यमान रहते हैं । पर जब तक शरीर में प्राण विशेष रूप से उपस्थित रहता है तभी तक प्राणमय शरीर की संज्ञा सार्थक होती है, अन्यथा मृत शरीर में भी प्राण जड़ अवस्था में वर्तमान रहता है, पर उसे जीवित अवस्था के समान नहीं माना जाता ।

यह प्राण विशेष रूप से शरीर के मध्यस्थ सुषुम्ना-नाड़ी के पास परस्पर मिलते हैं और उसी स्थान पर विशेष रूप से अवस्थान भी करते हैं । सुषुम्ना के दोनों सिरों को दो 'मेरु' कहा जाता है । सुषुम्ना नाड़ी को भली प्रकार रक्षित रखने के लिए ही उसे मेरुदण्ड (पृष्ठवंश) के कठिन आवरण के भीतर रखा गया है । यह पृष्ठवंश मस्तक के नीचे से आरम्भ होकर गुदा पर्यन्त विस्तृत है । मेरुदण्ड की दोनों बगलों में बहुत-से छेद हैं जिनमें होकर सुषुम्ना की शाखाएँ निकली हुई हैं और उनकी प्रशाखाएँ समस्त शरीर में फैली हैं । जिस प्रकार हमारे दाएँ-बाएँ हाथ पैरों में समानता है उसी प्रकार सुषुम्ना की इन दायीं-बायीं शाखा-प्रशाखाओं में सादृश्य दृष्टिगोचर होता है । मेरुदण्ड के ऊपरी भाग में सुषुम्ना-नाड़ी विस्तृत रूप में फैली हुई है और उसको सुरक्षित रखने को मस्तक का कठिन आवरण है । सुषम्ना के ही विस्तृत अंश को मस्तिष्क अथवा ब्रह्माण्ड कहते हैं और उसके कठिन आवरण को कपाल अथवा ब्रह्माण्डाधार कहा जाता है । इस सुषुम्ना अथवा मस्तिष्क से बहुसंख्यक सूक्ष्म तन्तु निर्गत हुए हैं जो हमारे मुख-मण्डल तक फैले हुए हैं और आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों तक पहुँच गए हैं । अन्य तन्तु हाथ, पैर, यकृत, प्लीहा आदि अंगों तक फैले हुए हैं । जो ज्ञान-तन्तु नेत्र, कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों तक विस्तृत हैं वे शरीर के बाह्य प्रदेश से प्राणमय शरीर के लिए पुष्टिकारक पदार्थ आकर्षित करते हैं ।

इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं सहित सुषुम्ना-नाड़ी एक वृक्ष की तरह दिखाई देती है जिसकी जड़ ऊपर की तरफ है । इस मस्तिष्क-रूप मूल से ही अनगिनती प्रशाखाएँ निकल कर पत्ते और फूलों की तरह समस्त शरीर में फैली हैं । इस वृक्ष में प्राण रूप अश्व के वर्तमान होने से इसको अश्वत्थ वृक्ष भी कहते हैं । पर इसमें और अन्य अश्वत्थ वृक्ष में एक विशेष अन्तर यह है कि सुषुम्ना-नाड़ी के धड़ से दोनों तरफ दो विचित्र जड़ें निकली हैं जो मेरुदण्ड के समस्त बाह्य प्रदेश को अतिक्रम करके अपनी तरफ वाली मस्तिष्क से निकलने वाली नाड़ियों से मिल जाती हैं । ये दोनों प्रधान नाड़ियों इड़ा और पिंगला के नाम से पुकारी जाती हैं । इसकी दूसरी विशेषता यह है कि जिस प्रकार शीशम, सिरस आदि वृक्षों से अन्य स्वतन्त्र वृक्ष निकल आते हैं उसी प्रकार सुषुम्ना की कितनी ही मूल नाड़ियों से अन्य नाड़ियाँ निकलकर, हृदय, आमाशय, यकृत आदि अन्य निम्न भाग के अंगों में जाल की तरह फैली हुई हैं ।

प्राणों की गति

पृथ्वी के ऊपर स्थित जल-राशि अथवा वर्षा का पानी जिस प्रकार जमीन के भीतर जाकर फिर स्रोतों के रूप में बाहर प्रकट होता है, अथवा जैसे वृक्ष की जड़ से सोखा हुआ रस वृक्ष के ऊपरी भाग में खींचा जाता है और वहाँ पत्र, पुष्प, फल के रूप में प्रकट होता है, इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों तक फैली हुई सुषुम्ना की शाखाओं द्वारा जो प्राण-तत्व बाह्य प्रदेश से आकर्षित किया जाता है, वह पहले तो प्राणमय शरीर में पहुँचकर उसको पुष्ट बनाता है और फिर वहाँ से लौटकर कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रकट होकर बाह्य प्रदेश में लौटकर जाता है । बाह्य प्राण का प्राणमय शरीर द्वारा आकर्षण, और फिर उसका कर्मेन्द्रियों के मार्ग से बाहर चला जाना ही प्राण की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गति अथवा प्रवाह कहलाती है । ज्ञानेन्द्रियों द्वारा केवल मात्र प्राण का अन्तर्मुखी

प्रवाह और कर्मेन्द्रियों द्वारा केवल मात्र प्राण का बहिर्मुखी प्रवाह सम्पादित होता है । किसी स्थान पर यद्यपि ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों—जैसे नेत्र और जिह्वा के पास-पास रहने से प्राण की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी गति एक साथ होती जान पड़ती है, पर वास्तव में ऐसा नहीं होता । अन्तर्मुखी प्रवाह पहले सुषुम्ना में जाता है और वहीं से अपनी निर्दिष्ट नाड़ी द्वारा बाहर निकल सकता है । शरीर में ऐसी कोई नाड़ी नहीं है जो अकेली प्राण का अन्तर्मुखी व बहिर्मुखी दोनों प्रकार का प्रवाह करा सकने में समर्थ हो । प्रत्येक नाड़ी दोनों में से एक विशेष प्रवाह के लिए ही निर्दिष्ट होती है । फिर ये नाड़ियाँ जो बाल से भी सूक्ष्म होती हैं एक ही स्थान पर मिली हुई यद्यपि अभिन्न जान पड़ती हैं, पर वे अपना-अपना कार्य स्वतन्त्र रूप से करती रहती हैं । उनमें से एक नाड़ी द्वारा प्राण भीतर आता है और दूसरी के द्वारा बाहर की तरफ जाता है, पर इससे किसी के कार्य में कोई व्यतिक्रम नहीं होता । इसके अतिरिक्त और किसी उपाय के एक अंग द्वारा अन्तर्मुख प्राण दूसरे अंग द्वारा बहिर्मुख नहीं हो सकता । अगर एक अंग द्वारा आकर्षित किए गए प्राण को दूसरे अंग द्वारा बहिर्गत करना हो तो इसका उपाय यही है कि प्रथम उसे उस अंग की अन्तर्मुखी नाड़ी द्वारा ग्रहण किया जाय और फिर उसी अंग की बहिर्मुखी नाड़ी द्वारा निकाल दिया जाय ।

प्राण का कार्य

अन्तर्मुख रूप से प्राण को आकर्षित करने वाली नाड़ियाँ अनेक प्रकार की होती हैं । बाएँ अंग में स्थित नासिका आदि पंच इन्द्रियों से गृहीत जो प्राण शरीर के भीतर जाता है वह समस्त स्त्री-जातीय होकर स्थान भेद के अनुसार पंचतत्वाविष्ट होता है । इसी प्रकार दाएँ अंग में स्थित पंचइन्द्रियों द्वारा गृहीत प्राण भी भीतर पहुँचकर पुरुष-जातीय होकर पंचतत्वों से आविष्ट होता है । पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पंचतत्वों के गन्ध, रस, रूप आदि गुण सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं । ये पाँचों गुण एक-एक करके नासिका आदि इन्द्रियों में निवास करते हैं । योग की दृष्टि से इन्द्रियों द्वारा प्राणाकर्षण ही अपने-अपने विषय का भोग माना जाता है । समस्त इन्द्रियाँ एक ही समय में प्राणाकर्षण नहीं कर सकतीं । अर्थात् हम देखने, सुनने, सूँघने का कार्य एक ही क्षण में नहीं कर सकते, इससे अनुमान होता है प्राणाकर्षण अथवा विषय-भोग हमारे प्राणमय शरीर की वासना का परिणाम है । इस वासना को ही हम विषयवासना कहते हैं ।

विषय-समूह प्राणमय शरीर को पुष्ट करते हैं । जिस प्रकार क्षुधा (अन्नमय शरीर की वासना) से आमाशय द्वारा भोजन ग्रहण किया जाता है और उसका परिपाक होकर शरीर की पुष्टि होती है, उसी प्रकार विषय-वासना के लिए प्राणमय शरीर में आकर्षित विषयों का परिपाक होता है । जिस प्रकार अन्न का सार अंश अन्नमय शरीर में रक्षित रह जाता है और निस्सार अंश शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है उसी प्रकार ग्रहण किए गए प्राण का सार भाग प्राणमय शरीर में रक्षित रहता है और शेष भाग बाहर निकाल दिया जाता है । प्राणमय शरीर से बाहर निकाले गए प्राण को इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ उपयोगी रूप देकर अन्नमय शरीर के विविध कार्यों की पूर्ति में लगाती हैं । इस प्रकार के कार्यों में जिस-जिस स्थान में जो प्राण काम में लाया जाता है वहाँ उसका वैसा ही पृथक नाम रख दिया जाता है । फेफड़े में श्वास ली हुई वायु को निःश्वास तथा निकाली जाने वाली वायु को प्रश्वास के नाम से पुकारते हैं । इसी प्रकार आमाशय में भोज्य पदार्थों का ग्रहण करना तथा बड़ी आँत और गुर्दे द्वारा मल-मूत्रादि पदार्थों का त्याग करना, मुख, आमाशय, आँत, चर्म से क्रमशः लार, पित्त और पसीना आदि का निकलना, हाथ, पाँव, कमर, लिंगेन्द्रिय, जिह्वा, नेत्र आदि अंगों का प्रसारण और आकर्षण, राग-द्वेष व्यंजक शब्दों का मुख से उच्चारण आदि सभी कार्य प्राणमय शरीर से बहिष्कृत प्राण-प्रवाह द्वारा ही साधित होते हैं ।

कार्य की भिन्नता के अनुसार इस प्रकार के बहिर्गत प्राण को प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कृक, धनंजय, कूर्म्म और देवदत्त नामों से पुकारा जाता है । जिस प्रकार भोजन में ग्रहण किए गए खाद्य-द्रव्य और बाहर निकाले जाने वाले मल-मूत्र में बहुत अधिक भिन्नता होने पर भी तात्विक रूप से उनमें कोई अन्तर नहीं होता अर्थात् दोनों के सूक्ष्म परमाणु एक ही होते हैं, इसी प्रकार ग्रहण किए गए और बहिष्कृत होने

वाले प्राण बहुत अधिक भिन्नता होने पर भी तात्विक दृष्टि से एक ही होते हैं ।

इसके अतिरिक्त प्राणमय शरीर के दोनों अगल-बगल से जो प्राण-प्रवाह निकल कर शरीर के विभिन्न भागों में जाता है उसके द्वारा हमारे हृदय से दो प्रकार के अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्राप्त-प्रवाह उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार प्राणमय शरीर से निकलने वाला बहिर्मुख प्राण-प्रवाह हृदय में अन्तर्मुखी प्राण-प्रवाह के रूप में ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार हृदय से निकलने वाला बहिर्मुखी प्राण-प्रवाह प्राणमय शरीर में अन्तर्मुखी प्राण के रूप में ग्रहण किया जाता है । यह हृदय से निकला प्राण-प्रवाह प्राणमय शरीर का प्रधान पोषणकर्त्ता माना जाता है । गर्भाशय में रहने वाले भावी शिशु का भ्रूण-शरीर नाभि-नाल द्वारा माता के शरीर से जो प्राण-प्रवाह प्राप्त करता है वह पहले हृदय स्थान में गमन करता है वहाँ से सुषुम्ना में जाकर अन्तर्मुख होता है । वहाँ से फिर बहिर्गत होकर गर्भस्थ शिशु का पोषण करता है । इसके सिवाय हृदय से एक और प्राण-प्रवाह उत्पन्न होता है जो फेफड़ों तक जाकर वहाँ की वायु का प्रश्वसन करके फिर अन्तर्मुखी रूप में हृदय में वापस आ जाता है । इसी हृदय से लेकर फेफड़ों तक के प्राण-प्रवाह से हमारी श्वास का आना और जाना अथवा रेचक और पूरक क्रियाएँ होती रहती हैं । गर्भाशय स्थित शिशु और समाधिस्थ योगियों में ऐसा प्राण-प्रवाह सम्भव नहीं होता और इसलिये उनको श्वास-प्रश्वास की आवश्यकता भी नहीं होती ।

प्राण-प्रवाह की स्थिरता

किसी जल से भरे कुण्ड में से कई नलों द्वारा जल बाहर निकलता रहे और दूसरी ओर से उतने ही नलों द्वारा जल प्रवेश करता रहे तो कुण्ड में जल का परिमाप न तो घटेगा और न बढ़ेगा केवल एक अस्थिरता दिखाई पड़ेगी । इसी प्रकार एक ही समय में प्राण के अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवाहों के चालू रहने पर भी शरीर में प्राण के परिमाण में अन्तर नहीं पड़ता, केवल एक अस्थिरता अनुभव होती रहती है । अब यदि जल को भीतर प्रवेश कराने वाले नलों को रोक दिया जाय और बाहर निकलने वालों को यों ही छोड़ दिया जाय तो कुछ समय में कुण्ड खाली हो जायेगा । इसीलिये किसी विशेष कार्य में, विशेष परिश्रम करने से शरीर में थकावट आ जाती है और उस समय हमको प्राणों की कमी अनुभव होती है । पर जिन नलों द्वारा जल बाहर निकलता है उनको बन्द कर दिया जाय और जल को भरने वाले नल चालू रहें तो कुण्ड खूब भरा जान पड़ेगा और जल में स्थिरता दिखाई पड़ेगी । इसी प्रकार प्राण-प्रवाह की बहिर्मुखी गति को रोक कर अन्तर्मुखी प्रवाह को जारी रखने से प्राण की पूर्णता और स्थिरता दृष्टिगोचर होती है । इसीलिये साधकगण प्राण के अन्तर्मुखी प्रवाह को रोक रखने का प्रयत्न करते हैं और इसमें सफल होने पर अन्नमय शरीर से प्राणमय शरीर का सम्बन्ध लुप्त होता है । उस समय साधक प्राणमय शरीर में ही निवास करता है । प्राणायाम साधना करते समय इससे विपरीत क्रिया करनी पड़ती है । उसमें साधक बहिर्मुखी प्राण का निरोध करता है, जिससे उसका प्राणमय शरीर परिपूर्ण हो उठता है ।

प्राणायाम साधना में बाधा

जिन विविध शारीरिक कार्यों के लिए विविध प्रकार के प्राण-प्रवाह की आवश्यकता होती है, उन कार्यों को करते हुए प्राण-निरोध की चेष्टा व्यर्थ होती है । उदाहरणार्थ अगर हम मुख से उत्पन्न होने वाली लार को उत्पन्न करने में जो प्राण-शक्ति लगती है उसका निरोध करना चाहें और इस उद्देश्य से लार को सहज में ही उत्पन्न करने वाले खट्टे-मीठे पदार्थ खायें, तो इससे उक्त प्राण-प्रवाह नहीं रुक सकता । इसी कारण भोजन का परिपाक हो चुकने के पहले प्राणायाम साधन की चेष्टा व्यर्थ होती है । इसी प्रकार प्राण के अन्तर्मुखी प्रवाह को रोकने से भी प्राणायाम में बाधा पड़ती है । इस कारण नेत्र, कर्ण, नाक आदि इन्द्रियों के कार्य को रोक कर प्राणायाम में प्रवृत्त होना भी निरर्थक सिद्ध होता है । प्राण-विकार अथवा प्राण सम्मोहन भी प्राणायाम में बाधा स्वरूप है । अनेक औषधियों द्वारा प्राण-सम्मोहन की अवस्था उत्पन्न हो जाती है । उस समय यद्यपि प्राणायाम करने वाले और प्राण-सम्मोहन वाले व्यक्तियों की बाह्य अवस्था एक-सी दिखलाई पड़ती है, पर प्राणायाम वाला व्यक्ति जिस प्रकार आगामी साधनों को कर सकता है उस प्रकार प्राण-सम्मोहन वाला नहीं कर सकता । इसलिये प्राण-सम्मोहन योग-साधन की इच्छा वाले व्यक्ति के लिए त्यागने

योग्य है । किसी अन्य द्वारा प्राणाकर्षण कराने वाले व्यक्ति को प्राण-विकार उत्पन्न होता है । विशेषतः नाड़ियों के गलत तरीके से निरोध करने से भी प्राण-विकार उत्पन्न होता है । प्राण-विकार उत्पन्न करने से साधक को लाभ की अपेक्षा हानि ही उठानी पड़ती है ।

प्राण-विनिमय के कारण भी प्राणायाम में बहुत बड़ा विघ्न पड़ जाता है । अपनी उन्नति अपने श्रम द्वारा करते जाना ही एक मात्र उपयुक्त और फलदायक मार्ग है । पहले अनेक जन्मों में उचित कार्य अथवा 'पुण्य कर्म' करने से हमको मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है । यदि अब इसमें विपरीत आचरण करेंगे तो फिर अधम योनियों में पड़ना होगा । ऐसी आचरण ज्ञानवान व्यक्ति के लिए कदापि नहीं कहा जा सकता । इसलिये टेढ़े-सीधे तर्क, अस्वाभाविक दृष्टान्त और झूठे वाक् चातुर्य को त्याग कर शान्तिमन से नित्य प्रति अपनी उन्नति अथवा अवनति, प्रमाद अथवा अवसाद की स्वयं ही परीक्षा करते हुए प्राणायाम में प्रवृत्त होना चाहिए । षटकर्म अथवा आसन का अभ्यास करते समय जिस प्रकार की साधक की कार्य प्रणाली की परीक्षा अन्य व्यक्ति द्वारा की जा सकती है, उस प्रकार की अन्य द्वारा परीक्षा प्राणायाम में सम्भव नहीं है ।

प्राणायाम साधन का मूलाधार

जिन कार्यों में बहिर्मुखी प्राण-प्रवाह का उपयोग होता है उन कार्यों को रोक देने पर ही प्राणों का बहिर्मुखी प्रवाह रोका जा सकता है और बहिर्मुख प्रवाह को रोकने पर ही प्राणायाम होता है । बहिर्मुख प्रवाह मुख्यतः दो प्रकार का होने से प्राणायाम का साधन भी दो प्रकार से होता है । इनमें एक तो यह है कि हमारा बहिर्मुख प्राण-प्रवाह जिन कर्मेन्द्रियों तक जाता है और उससे हमारे स्थूल शरीर सम्बन्धी तरह-तरह के कार्य सम्पन्न होते हैं, उसको शरीर साधन (आसन) द्वारा निरोध किया जाय । प्रतिदिन शयन करने पर कर्मेन्द्रियों का निरोध और प्राण-शक्ति का भरना अपने आप पूरा हो जाता है, पर उस समय भी हृदय द्वारा ग्रहण किए प्राण का कार्य चलता रहता है और उसका निरोध किए बिना प्राणायाम नहीं हो सकता, इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि हम प्राणायाम-साधन में प्रवृत्त होने के पहले हृदय स्थान में प्राण के कार्य को खूब अच्छी तरह समझ लें । अन्यथा विपरीत मार्ग से बलप्रयोग द्वारा प्राण निरोध करने से अनेक प्रकार की दुःसाध्य व्याधियाँ उत्पन्न हो जाने का भय रहता है ।

हृदयस्थ प्राण के कार्य

प्राणमय शरीर अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के दाएँ और बाएँ ओर से बहिर्मुख प्राण-प्रवाह हृदय में पहुँचता है । इस प्रकार वहाँ दोनों प्रकार का (स्त्री और पुरुष जातीय) प्राण विद्यमान रहता है । इन दोनों प्रकार के प्राणों में जब किसी एक की अधिकता होती है तो वह दूसरी प्रकार के प्राण को प्राप्त करने के निमित्त फेफड़े की ओर जाता है । जिस प्रकार संसार के समस्त स्त्री और पुरुष जातीय प्राणियों और पदार्थों में पारस्परिक संयोग की एकान्त अभिलाषा होती है वही कारण इन प्राणों के गमन करने का भी होता है । इसी से स्त्री-प्रधान या पुरुष-प्रधान शरीर केवल किसी एक प्रकार के प्राण को ही धारण करने में समर्थ नहीं होते ।

हृदय से बहिर्गत होने वाला प्राण पहले फेफड़े की ओर ही आता है क्योंकि उस प्राण-प्रवाह के उपयुक्त नाड़ी केवल हृदय से फेफड़े तक ही फैली है । इस फेफड़े में सदैव न्यूनाधिक परिमाण में वायु विद्यमान रहती है । जैसा हम पहले बतला चुके हैं जड़ पदार्थों में दोनों प्रकार का प्राण जड़ भाव में विद्यमान रहता है । इसलिये हृदय से आया हुआ प्राण-प्रवाह फेफड़े में उपस्थित इस जड़वायु के संग मिल कर अपना अभीष्ट साधन करता है । यदि किसी पदार्थ में केवल धन या ऋण जातीय एक ही प्रकार की विद्युत हो और उससे थोड़ी दूर पर दूसरा ऐसा पदार्थ हो कि जिसमें धन और ऋण दोनों प्रकार की विद्युत धाराएँ हों, तो पहले पदार्थ के प्रभाव से दूसरे पदार्थ की दोनों प्रकार की विद्युत स्वतन्त्र हो जायेगी । इसी प्रकार हृदय से बहिर्मुख होने वाले प्राण के प्रवाह से फेफड़े की वायु में उपस्थित दोनों प्रकार के प्राण स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनमें से अनुकूल प्राण हृदय वाले प्राण-प्रवाह में मिलकर फिर हृदय को लौट जाता है । यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हृदय स्थित प्राण की इसी आने-जाने की गति के कारण हमारा दूषित रक्त शुद्ध होता है और शोधित रक्त का समस्त शरीर में संचालन होता है । इधर जब फेफड़े की वायु में केवल एक

प्रकार का प्राण रह जाता है तो वह दूसरे प्रकार के प्राण से सम्मिलित होने को व्यग्र होता है और इसके लिए बाहरी वायु में मिलने के लिए नाक द्वारा बाहर दौड़ा आता है ।

इस प्रकार भीतर की श्वास के बाहर निकलने को हम रेचक या प्रश्वसन कहते हैं । रेचक कर्म के होने पर फेफड़ा खाली हो जाता है, इसलिये प्रसारण नियत के अनुसार बाहरी वायु फिर उसमें पहुँच जाती है । इस प्रकार वायु के भीतर जाने को हम पूरक अथवा निश्वसन कहते हैं । इस तरह जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से समुद्र में ज्वारभाटा होता रहता है उसी प्रकार वायु के गमनागमन से फेफड़े की वायु में भी घटा-बढ़ी हुआ करती है । हृदय से जिस जाति का प्राण फेफड़ों में आता है उसी के अनुसार रेचक और पूरक कभी बायीं नाक से और कभी दायीं नाक से होता है । अर्थात् स्त्री-प्राण की प्रधानता होने से बायीं नाक से साँस चलती है, और पुरुष प्राण की प्रधानता होने से दायीं नाक से साँस चलती है । बायीं नासिका से श्वास-प्रश्वास चलने से उसे चन्द्र स्वर कहा जाता है और दायीं नाक से साँस चलने पर उसे सूर्य स्वर कहा जाता है । चन्द्र स्वर के उदय होने से शरीर में रात्रि और सूर्य-स्वर का उदय होने से दिवस होता है । चन्द्र स्वर के उदय एवं सूर्य स्वर के अस्तकाल में हमारा संध्या समय होता है । इस संध्या समय में शास्त्रानुसार भजन साधन कार्य उत्तम होता है । प्राचीन ऋषिगण इस अवसर को अत्यन्त मूल्यवान समझते थे और उसमें सिवाय भगवद् उपासना के कोई सांसारिक कार्य नहीं करते थे ।

सूर्य जिस प्रकार समस्त पार्थिव पदार्थों को आकाशिक अवस्था में परिणत करता है अर्थात् उनका लय करता है उसी प्रकार सूर्य स्वर भी हमारे शरीर रूपी छोटे से ब्रह्माण्ड में अनेक लयकार्य सम्पादित करता है । यही कारण है कि सूर्य स्वर में भोजन करने से उसका परिपाक उत्तम रीति से होता है । सूर्य स्वर में खाली पेट रहने से कई प्रकार की हानि की सम्भावना रहती है । फिर रात्रि जिस प्रकार समस्त पदार्थों को आकाशादि अवस्था से क्रमशः वायु आदि के रूप में बदल कर भौतिक स्वरूप में लाती है (अर्थात् सृष्टि कार्य सम्पादन करती है) चन्द्र स्वर भी उसी प्रकार शरीर में अनेक सृष्टि कार्यों की पूर्ति करता है । चन्द्र स्वर में भोजन करना कभी उचित नहीं है, क्योंकि इसमें खाये भोजन का ठीक परिपाक नहीं होता और उसका रस अशोधित अवस्था में ही शरीर निर्माण के कार्य में लगाया जाता है । इससे शरीर दुर्बल और धीरे-धीरे रोगी हो जाता है । इसी कारण से नियमित आहार-विहार वाले व्यक्तियों को भी अण्डकोष वृद्धि, ग्रन्थ स्थान में वायु विकार, सिर दर्द आदि अनेक शिकायतें पैदा हो जाती हैं । इन सबका कारण यही है कि सूर्य स्वर द्वारा हमारे खाये हुए भोजन का परिपाक होता है और चन्द्र स्वर द्वारा उस भोजन के सार को ग्रहण करके शरीर का पोषण और निर्माण कार्य होता है ।

स्वर सम्बन्धी विशेष नियम

चन्द्र और सूर्य स्वरों में जो भोजन किया जाता है और उससे शरीर के पोषणार्थ जो रस बनता है, उसी के अनुसार प्रश्वास और निःश्वास का आवागमन हुआ करता है । इस सम्बन्ध में यह नियम दिखलाई पड़ता है कि सूर्य स्वर के उदय होने के समय श्वास की गति सबसे अधिक रहती है और उसके पश्चात वह क्रमशः घटती चली जाती है और चन्द्र स्वर के उदय काल में श्वास की गति सबसे कम रहती है और तब वह पुनः क्रमशः बढ़ती जाती है । सूर्य स्वर के उदय होते समय सबसे पहले पृथ्वी तत्व वर्तमान रहता है और उसके पश्चात क्रम से जल तत्व, अग्नि तत्व आदि का आविर्भाव होकर आकाश तत्व तक का आविर्भाव हो जाता है । इसके पश्चात जब चन्द्र स्वर उदय होता है तो उस समय आकाश तत्व वर्तमान होता है और जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है वैसे-वैसे ही क्रम से अन्य तत्व जैसे वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि आते चले जाते हैं ।

चन्द्र स्वर के अस्त होने पर सूर्य स्वर उदय होता है और जब चन्द्र स्वर उदय होता है तो सूर्य स्वर अस्त हो जाता है । सूर्य स्वर के उदय होते समय श्वास की गति सबसे अधिक अर्थात् नासाग्र से १२ से १६ अंगुल तक होती है परन्तु चन्द्र स्वर के उदय होते समय श्वास की गति नासाग्र के बिल्कुल समीप रहती है । समस्त दिन और समस्त रात्रि में अर्थात् चौबीस घण्टे में ठीक स्वस्थ मनुष्य की श्वास २१६०० (इक्कीस

हजार छः सौ) बार आती है । आहार-विहार तथा शारीरिक कार्य के कारण इस संख्या में थोड़ा-सा अन्तर भी पड़ सकता है । पूर्ण स्वस्थ और मिताहारी व्यक्ति के १०८०० श्वास-प्रश्वास सूर्य स्वर में और १०८०० चन्द्र स्वर में चलते हैं । परन्तु दिन-रात के घटने-बढ़ने के साथ इसमें थोड़ा अन्तर पड़ सकता है । जब युक्ति और चेष्टा द्वारा १०८०० श्वास चन्द्र स्वर के और १०८०० श्वास सूर्य स्वर के लेने का अभ्यास कर लिया जाता है तो एक-एक तत्व का उदय और लय नियमानुसार होता है और उसका अनुभव अच्छी तरह किया जा सकता है ।

जिन व्यक्तियों का आहार-विहार अनियमित होता है उनका श्वास-प्रश्वास का परिवर्तन चौबीस घण्टे के भीतर ४-५ बार हो जाता है और उसी के अनुसार बार-बार तत्वों का परिवर्तन थोड़े-थोड़े समय में होता रहता है । रोगी, दुर्बल और अनाचारी व्यक्तियों के स्वरोदय और तत्वोदय का कोई नियम नहीं रहता । साधारणतः भोजन, सर्दी-गर्मी और हर्ष-शोक आदि कारणों से स्वर और तत्वों के उदय-अस्त होने में गड़बड़ी हो जाती है । स्वर और तत्वों के उदय और अस्त होने की दृष्टि से २१६०० श्वास-प्रश्वास में से कोई भी दो श्वास-प्रश्वास सब तरह से एक समान नहीं होते । एक स्वर तथा एक तत्व में अनेक श्वास-प्रश्वास आने पर भी प्रत्येक की गति और तत्व की सूक्ष्मता में कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है । स्वर-शोधन और तत्व-शोधन के सिवाय और किसी उपाय से इस भेद का अनुभव कर सकना सम्भव नहीं होता ।

हृदयस्थ प्राण का निरोध

हृदयस्थ प्राण का निरोध करने के लिए साधक को वहाँ रहने वाले प्राण के कार्य का निरोध करना पड़ता है । हृदयस्थ प्राण का मुख्य कार्य निश्वसन और प्रश्वसन है, यह हम पहले कह चुके हैं । यह निश्वसन और प्रश्वसन आकाश तत्व के वर्तमान होने के अवसर पर अत्यन्त मृदु अथवा मन्द गति से होता है । इसलिये जब दोनों स्वरों के आकाश तत्व का संधिकाल उपस्थित होता है तब इसका निरोध स्वतः ही हो जाता है । अर्थात् जिस समय सूर्य स्वर का अस्त होता है और चन्द्र स्वर का उदय होता है उस समय सूर्य स्वर के आकाश तत्व का अस्त होकर चन्द्र स्वर के आकाश तत्व का उदय होता है । इन दोनों आकाश तत्वों के संधिकाल में श्वास-प्रश्वास की गति अत्यन्त अल्प समय के लिए स्वतः ही निरोध को प्राप्त हो जाती है । इस अवसर पर प्राण के कार्य को समझ कर उसके बाद भी उसे उसी ढंग पर चलाते रहने से—अर्थात् चन्द्र स्वर को उदय न होने देने तथा सूर्य स्वर का निरोध कर देने से और शान्त भाव से आसन लगा कर बैठे रहने से प्राण का निरोध हो जाता है । अथवा इन दोनों स्वरों के संधिकाल में जब दोनों स्वरों में अलक्षित भाव से श्वास-प्रश्वास का गमनागमन होता है, तब दोनों स्वरों की उसी अवस्था को स्थिर कर देने से प्राण का निरोध हो जाता है । इस प्रकार हृदयस्थ प्राण का निरोध करने के लिए सर्वप्रथम स्वर-शोधन और तत्वशोधन की आवश्यकता होती है ।

स्वर शोधन

जब साधक सूर्य और चन्द्र स्वर में नियम से १०८०० बार श्वास-प्रश्वास चलते रहने का अभ्यास कर लेता है तब यह समझना चाहिए कि श्वर-शोधन हो गया । इसका आशय यह है कि बारह घण्टा तक लगातार सूर्य स्वर चलता रहे और दूसरे बारह घण्टे तक चन्द्र स्वर जारी रहे । इसमें खाया हुआ अन्न पृथ्वी तत्व के समय पृथ्वी के परमाणुओं में परिणत होता है, फिर जल तत्व के उदय होने पर जल तत्व के परमाणु के रूप में परिवर्तित होता है । इसी प्रकार खाये हुए भोजन का सारा अंश क्रमशः अग्नि, वायु और अन्त में आकाश तत्व के परमाणुओं में रूपान्तरित होकर रक्त के साथ चक्रवत् समस्त शरीर में भ्रमण करने लगता है । इसके पश्चात चन्द्र स्वर उदय होकर उन आकाश तत्व के परमाणुओं को आवश्यकतानुसार सब अंगों में ले जाकर रक्त, पित्त, लार, माँस, अस्थि, मज्जा एवं स्नायु आदि पदार्थों के रूप में परिणत करने का कार्य आरम्भ कर देता है ।

अनुपयुक्त तत्वों में खाना-पीना करने से स्वर और तत्वों के स्वाभाविक कार्य में व्यतिक्रम हुआ करता है और उसी के फल से अनेक बार भाँति-भाँति के रोगों की उत्पत्ति होती है । इसी कारण से स्वर-शोधन करने वाले साधक सूर्य स्वर के पृथ्वी तत्व में भोजन और जल तत्व में जलपान करते हैं । सूर्य स्वर के समय ऐसे साधक किसी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं

करते । वे लोग नियमानुकूल विधि से खाना-पीना करके स्वर के ऊपर ही सदा लक्ष्य रखते हैं । स्वर का अर्थ मुख्यतः शब्द समझा जाता है । वायु का स्वाभाविक गुण भी शब्द और स्पर्श होता है । इसलिये जब निःश्वास की वायु नासारंध्र में प्रवेश करती है तो एक प्रकार का अव्यक्त शब्द होता है जो 'सो' की तरह सुनने में आता है । इसी प्रकार जब प्रश्वास की वायु नाक से बाहर निकलती है तो 'हं' का-सा शब्द सुनने में आता है । यह 'सोऽहं' की ध्वनि हमारे किसी प्रयत्न के बिना स्वयं ही उच्चारित होती है इसलिये इसको सर्वत्र 'अजपा जाप' कहा जाता है । इसका साधारण अर्थ यह है कि "वृत्तियों से सम्बन्ध के कारण चैतन्य रूप में आकर मैं ही वह सर्वव्यापी आनन्दमय आत्मा हूँ ।"

जिस प्रकार किसी दुःख में पड़ जाने पर हम अपने पूर्व सुखों का स्मरण करते हैं उसी प्रकार जीवात्मा वृत्तियों से सम्बन्ध हो जाने के कारण दुःखी होकर प्रति श्वास-प्रश्वास में अपने पूर्व स्वरूप का स्मरण करता है । सूर्य और चन्द्र स्वरों में लगातार १०८०० बार 'सोऽहं' मन्त्र का जप करने से स्वर-शोधन होता है । इस 'सोऽहं' मन्त्र का सदा ध्यान लगाये रह कर यथाविधि भोजन आदि कर्म करने से स्वर में अयुक्त परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं रहती । उचित अवसर पर स्वर के बदलने की आवश्यकता होने पर करवट बदल कर सोने से बहुत सुविधा होती है । सारांश यही है कि यथाविधि आहार-विहार के बिना स्वर-शोधन किसी प्रकार सम्भव नहीं होता ।

तत्व-शोधन

स्वर-शोधन हो जाने के पश्चात अर्थात् सूर्य और चन्द्र स्वरों के उदय, अस्त एवं स्थिति काल को नियमित रूप से चलाने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेने पर साधक को तत्व-शोधन की आवश्यकता होती है । यथा नियम बारह घण्टा तक कोई एक स्वर वर्तमान रहने पर, सूर्य स्वर के उदय होने पर पृथ्वी आदि पंच तत्व और चन्द्र स्वर के उदय होने पर अकाशादि पंचतत्व क्रम से उदय और अस्त होते हैं । चूँकि सूर्य स्वर में श्वास-प्रश्वास की गति निरन्तर घटती जाती है और चन्द्र स्वर में क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होती है । इस कारण प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में अपने से पहले और पश्चात के सभी श्वास-प्रश्वासों की अपेक्षा कुछ भिन्नता रहती है । इस भिन्नता का कारण प्रत्येक श्वास की गति विशिष्टता होती है जो श्वास में आने वाली वायु की दूरी और गति में रहने वाला अन्तर होता है । श्वास में ली गई प्रत्येक वायु के भीतर अवस्थित शब्द में भी भिन्नता रहती है और अन्तःकरण में पहुँचकर वह भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार उत्पन्न करता है । इसके फलस्वरूप हमारा चित्त चंचल रहता है और हम किसी विषय पर एकाग्र भाव से विचार करने में असमर्थता अनुभव करते हैं ।

जिस प्रकार एक स्वर को लगातार बारह घण्टा स्थिर रख सकने पर स्वर-शोधन होता है उसी प्रकार एक तत्व को (अर्थात् एक तत्व के समय में लिए गए समस्त श्वासों-प्रश्वासों को) सब प्रकार से एक गति पर रखने से तत्व-शोधन होता है । तत्व-शोधन कर लेने से चित्त की एकाग्रता पर हमारा नियन्त्रण हो जाता है । तत्वों का अर्थ पृथ्वी, जल आदि पंचभूतों से है इसलिये तत्व-शोधन को 'भूत-शोधन' अथवा 'भूत-शुद्धि' के नाम से पुकारा जाता है । भूत-शुद्धि के अभाव में पूजा और जप आदि समस्त कार्य निष्फल होते हैं । जिस प्रकार तत्व-शोधन को 'भूत-शुद्धि' कहते हैं उसी प्रकार स्वर-शोधन को 'नाड़ी-शुद्धि' कहते हैं । पहले नाड़ी-शुद्धि कर लेने पर बाद में भूत-शुद्धि की जाती है । नाड़ी-शुद्धि न होने से भूत-शुद्धि किसी प्रकार सम्भव नहीं है । घर में पाले जाने वाले गाय आदि पशुओं को नियन्त्रण में रखने के लिए जिस प्रकार हम उनको केवल एक नियत स्थान में स्वच्छन्द रूप से विचरण करने की सुविधा देते हैं उसी प्रकार तत्व-शोधन के समय हमारे प्राण-कार्य को अर्थात् श्वास-प्रश्वास को एक नियत स्थान में ही विचरण करने का अधिकार देना आवश्यक है । तत्व-शोधन में श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना आवश्यक नहीं होता, केवल उसकी गति में घटा-बढ़ी होने को रोकना आवश्यक होता है ।

तत्व-शोधन का सरल मार्ग

प्रत्येक तत्व के गुण और कार्य के अनुसार अभ्यास द्वारा उसके रूप और आकृति का भी अनुभव किया जा सकता है । इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी-तत्व पीले रंग का और चौकोर होता है, जल-तत्व श्वेतवर्ण का और अष्टमी के चन्द्रमा के समान अर्द्धवृत्ताकार

होता है, अग्नि-तत्व लाल वर्ण का और अग्नि शिखा के समान त्रिकोण होता है; वायु-तत्व काले वर्ण का और वृत्त के समान गोलाकार होता है; और आकाश तत्व बहुवर्ण मिश्रित और उज्ज्वल तारागण से युक्त आकाश के समान होता है ।

जब जिस तत्व-शोधन की आवश्यकता हो तब उसी तत्व के रंग और वैसी ही आकृति का एक कल्पना-प्रसूत उज्ज्वल चित्र नासाग्र से उस तत्व के लिए नियत दूरी पर स्थापित करना चाहिए और उस पर त्राटक की तरह दृष्टि जमानी चाहिए । आरम्भ में ताम्रपत्र पर अंकित त्रिकोण यन्त्र, काले रंग का गोलाकार शालिग्राम आदि तदनुरूप विभिन्न स्थूल पदार्थों को रखकर भी तत्व-शोधन किया जा सकता है । इसके सिवा जब जिस तत्व का शोधन करने की आवश्यकता हो, तब उस तत्व के भोग-काल में जितनी श्वास-प्रश्वास लेना आवश्यक हो उतनी हीं बार 'सोऽहं' शब्द का चिन्तन करने से भी तत्व-शोधन हो जाता है । संगीत में 'सरगम' का साधन करते समय जैसे स्वर के एकतार उच्चारण की तरफ लक्ष्य रखा जाता है, उसी प्रकार अजपामन्त्र के जप के समय उसके आनुमानिक उच्चारण को एक तार रखने का पूरा ध्यान रखना चाहिए । एक अन्य उपाय यह भी है कि जिस तत्व-शोधन की आवश्यकता हो उस तत्व के समय एक स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास में बाहर की वायु को नासारन्ध्र में जाने में जितना परिमित समय लगे, तथा जितने परिमित समय तक वह वायु फेफड़े में ठहरे और फिर उसे नाक द्वारा बाहर निकालने में जितना परिमित समय लगे उसको ठीक तरह से समझकर उसके बाद के समस्त श्वास-प्रश्वासों को उतने ही समय में लेते रहने से सहज में तत्व-शोधन हो जाता है ।

इन तीनों प्रकार के समय को नाप लेने के लिए प्राचीनकाल के महात्माओं ने प्रत्येक तत्व के लिए एक पृथक मन्त्र की रचना कर दी थी । तत्व-शोधन करते समय पहले स्थूल-तत्व का शोधन करके क्रम से सूक्ष्म-तत्व का शोधन करना उचित है । अर्थात् पहले पृथ्वी-तत्व का शोधन किया जाय फिर क्रमशः जल, अग्नि, वायु और आकाश का शोधन करें । सबसे प्रथम तत्व पृथ्वी तत्व के शोधन में यदि असमर्थता जान पड़े तो साधन मात्रा को दुगुना अथवा तिगुना करके अभ्यास करें । आकाश तत्व का शोधन केवल नासारन्ध्र के भीतर 'सोऽहं' शब्द का चिन्तन करने से होता है और जिस समय आकाश तत्व वर्तमान हो तभी आकाश तत्व का शोधन किया जाता है ।

तत्व-शोधन का परिणाम

जैसा पहले समझाया जा चुका है कि बारह घण्टों में पाँच तत्वों का उदय होने से प्रत्येक तत्व को ६ घड़ी (२ घण्टा २४ मिनट) का समय मिलता है । इस बीच में श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति २१६० होती है । इन श्वास-प्रश्वास को समान गति से तुल्य रूप में ले सकने से चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है । साधारणतः संसार में दो प्रकार के कार्यों में चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है । इनमें से अगर सृष्टि विषयक (निर्माण सम्बन्धी) विचार के लिए एकाग्रता की आवश्यकता हो तो चन्द्र स्वर में और लय-विषयक विचारों के लिए एकाग्रता की आवश्यकता हो तो सूर्य स्वर में तत्व-शोधन करना आवश्यक होता है । इतना ही नहीं पहले इस बात का निश्चय करके कि हमारा अभिलाषित विचार सृष्टि विषयक है अथवा लय-विषयक है, उसी के अनुसार तत्व-शोधन किया जाय तो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं । परन्तु योग-साधन का उद्देश्य रखने वाले महात्माओं को किसी प्रकार के सिद्धि-साधन की अभिलाषा न रखना ही श्रेष्ठ है । जिसका सृष्टि और विनाश नहीं है ऐसे अनिवर्चनीय परमपद के निमित्त ही, योग-साधन वाले महात्माओं की वासना होती है । इसीलिये वे चन्द्र और सूर्य दोनों स्वरों को त्याग कर दोनों के मध्यवर्ती संधिस्थानीय आकाश तत्व के शोधन का ही प्रयत्न करते हैं ।

इस सन्धि समय में श्वास-प्रश्वास स्वभावतः नासारन्ध्र के भीतर ही अनुभव होता है । वायु का स्वाभाविक गुण 'स्पर्श' होने से बुद्धिमान साधक नासिका के भीतर ही मनोनिवेश करके नासारन्ध्र से फेफड़े तक जाने वाली वायु से स्पर्श किए जाने वाले स्थानों का ध्यान करता है । इस प्रकार अभ्यास करने से संधिस्थानीय आकाश तत्व का शोधन होता है और साधक एक अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने में समर्थ होता है । सन्धि स्थानीय आकाश तत्व को निर्बाध रूप से स्थिर

रख सकने पर श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध होता है और प्राणायाम साधन पूर्ण हो जाता है ।

प्राणायाम की पूर्णता

सन्धि स्थानीय आकाश तत्व का शोधन करते समय देखा जाता है कि उस समय श्वास-प्रश्वास को नियमित करने वाले नाक के दोनों पर्दे या आवरण प्रायः लुप्त हो जाते हैं । इसलिये कितनी ही बार केवल श्वास-प्रश्वास का कार्य होते रहने पर भी दोनों प्राणों का संयोग नहीं हो पाता और उनका पूर्णतः निरोध हो जाता है । इस समय हृदय से प्रवाहित होने वाला प्राण फेफड़े में कोई कार्य करने में समर्थ नहीं होता और थोड़े ही समय से सुषुम्ना नाड़ी के सिवाय अन्य सब स्थानों का प्राण जड़ भाव में अवस्थान करने लगता है । ऐसा होने से ही प्राणायाम का साधन पूर्ण हो जाता है । सन्धिस्थानीय आकाश तत्व को अच्छी तरह समझकर खेचरी मुद्रा के प्रयोग द्वारा जिह्वा को ऊपर की तरफ उठाकर नासिका के दोनों छेदों को बन्द कर देने से श्वास-प्रश्वास का अनायास ही निरोध हो जाता हैं । खेचरी मुद्रा द्वारा नासिका के भीतर के दोनों पर्दों को समान स्थिति में रखने से अन्य अवसरों पर भी तत्व-शोधन में विशेष सहायता प्राप्त होती है । इस कारण साधकगण पहले से ही खेचरी मुद्रा का साधन कर लेते हैं ।

प्राणायाम और खेचरी मुद्रा

खेचरी मुद्रा का साधन दो प्रकार का होता है । कुछ लोग तो जिह्वा के नीचे स्थित अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियों को काटकर खेचरी मुद्रा करते हैं और कोई-कोई केवल जिह्वा का दोहन और चालन करके उसे लम्बी कर लेते हैं और उससे खेचरी मुद्रा होने लग जाती है । जिनकी जिह्वा स्वभावतः लम्बी है और जिह्वा के नीचे की नाड़ियाँ थोड़ी हैं उनकी नाड़ियों को काटने की आवश्यकता नहीं पड़ती । खट्टा पदार्थ खाते समय जिस प्रकार अनेक बार स्वभावतः ही 'चट्-चट्' का शब्द होता है और उससे जिह्वा का चालन होता है । उसी तरह करते हुए जिह्वा को ऊपर उठाकर गले में स्थित कौआ की तरफ बार-बार ले जाने से खेचरी मुद्रा हो जाती है ।

पर इस प्रकार यह साधन बहुत अधिक समय में हो सकता है । खेचरी मुद्रा को शीघ्र करने के लिए अथवा जिनकी जीभ स्वभावतः छोटी है उनको नाड़ियों को काटने की आवश्यकता होती है । यह कार्य किसी जानकार महात्मा द्वारा कराना चाहिए नहीं तो हानि होने की सम्भावना रहती है । जाड़े के दिनों में नाड़ियों को काटना अधिक ठीक होता है । ऊपर की दन्तपंक्ति की जड़ में जिह्वा को दृढ़तापूर्वक जमाकर ऊपर की तरफ उठाने से नीचे के तालु और जिह्वा के बीच का जोड़ एक रेखा की तरह दिखाई पड़ने लगता है । यही रेखा बन्धन रूप में जिह्वा को अधिक ऊपर की तरफ उठने से रोकती है । प्रति तीसरे दिन प्रातःकाल के समय किसी तीक्ष्ण धार वाले चाकू से उक्त रेखा को दोनों तरफ से एक बाल बराबर काटना चाहिए । एक बार में अधिक काटने में हानि की सम्भावना रहती है । इसीलिये प्रति तीसरे दिन काटना ठीक रहता है । कटे हुए स्थान पर सेंधा नमक और बड़ी हर्र का पिसा हुआ चूर्ण डाल देना चाहिए जिससे खून बहना बन्द हो जाता है और घाव के जुड़ जाने की शंका नहीं रहती । इस बीच में हर्र का चूर्ण डालते समय ही प्रतिदिन जिह्वा का दोहन और चालन करना भी आवश्यक होता है ।

इस प्रकार लगभग तीन मास तक छेदन, दोहन, चालन करते रहने से जिह्वा काफी बढ़ जाती है और उसे ऊपर उठाकर तालु के ऊपर पहुँचाया जा सकता है । कभी-कभी खेचरी मुद्रा करके ५-६ घण्टे तक शान्त भाव से बैठे रहने से श्वास-प्रश्वास की गति नहीं जान पड़ती । परन्तु इससे वास्तव में प्राणायाम नहीं होता । इसलिये सन्धि स्थानीय आकाश तत्व के समय खेचरी मुद्रा का साधन करना ही श्रेष्ठ होता है । प्राणायाम के साधन में साधकगण को खेचरी मुद्रा की विशेष आवश्यकता जान पड़ती है । इसके द्वारा प्राणमय शरीर से अन्नमय शरीर में और अन्नमय शरीर से गमनागमन करने में विशेष सुविधा होती है और इससे साधकों को खेचरी मुद्रा सदैव उपयोगी पड़ती है ।

प्राणायाम के महान लाभ

प्राणायाम शरीर से बहिर्मुख प्रवाहित प्राण-प्रवाह को निरोध करने से प्राण की पूर्णता होती है और अन्तर्मुखी प्राण-प्रवाह को निरोध कर लेने पर प्राणमय

शरीर की अस्थिरता निवृत्त होती है । इस अवसर पर ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त नहीं होती । इसीलिये शीत, उष्ण आदि द्वन्द्व समूह का प्राणायाम करने वाले को बिल्कुल अनुभव नहीं होता । प्राणमय क्षेत्र की प्रधान वृत्ति निद्रा बतलाई गई है, इसलिये इस समय साधक को निद्रा आने लगती है । वैसे केवल आसन का साधन करने पर भी निद्रा आने लगती है । इस बात को हम नित्यप्रति सोते समय भी अनुभव करते हैं । केवल मात्र आसन सिद्धि से अथवा शयन काल में जो निद्रा आ जाती है, उसके द्वारा स्मृति-वृत्ति का परिहार न होने पर भी आत्म विस्मृति अवश्यम्भावी होती है । पर प्राणायाम साधन द्वारा जो निद्रा आती है वह सामान्य निद्रा से भिन्न प्रकार की होती है ।

निद्रावस्था मुख्यतः तीन प्रकार की देखने में आती है । उनमें से जिस-जिस निद्रा में हम सम्पूर्ण रूप से आत्म विस्मृत होकर अकर्मावस्था में अवस्थान करने लगते हैं उसे सुषुप्ति-निद्रा कहते हैं । जिस निद्रा में हम केवल अन्नमय शरीर को भूलकर वृथा कर्म अथवा विकर्मावस्था में अवस्थान करते हैं उसका नाम स्वप्न-निद्रा है । जिस निद्रा में हम केवल अपने अन्नमय शरीर को भूलकर प्रकृत कर्म अथवा कर्मावस्था में अवस्थान करते हैं उसका नाम योग-निद्रा है । योग-निद्रा के समय हम स्वेच्छानुसार मानसिक कर्म करने में समर्थ होते हैं । जिन्होंने प्राणायाम साधन नहीं किया है उनको ऐसी योग-निद्रा नहीं आ सकती । सम्भव है पूर्व जन्मों के संस्कार और सुकृत के फल से किसी को, बिना अभ्यास ऐसी योग-निद्रा होती हो पर ऐसे उदाहरण बहुत ढूँढ़ने पर भी नाममात्र को मिलेंगे ।

योग-निद्रा के समय साधक का अन्नमय शरीर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वह उस समय केवल प्राणमय शरीर में ही रहता है, तो भी अन्नमय शरीर को अतिक्रम करने पर साधक उसमें बीजांकुर की तरह बना रहता है । जैसा हम बतला चुके हैं कि प्राणमय क्षेत्र के भीतर अन्नमय क्षेत्र अवस्थित है, तदनुसार प्राणमय शरीर में रहते हुए भी अन्नमय क्षेत्र के सब पदार्थ साधक के सम्मुख प्रकट रहते हैं । जिस प्रकार साधारण निद्रा के समय हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ किसी प्रकार का कर्म नहीं करती तो भी स्वप्न में वे सब पदार्थों के रूप, रस आदि का अनुभव करती हैं, उसी प्रकार प्राणमय शरीर में रहते समय ज्ञानेन्द्रियों के सर्वदा निश्चल रहते हुए भी साधक रूप, रस आदि विषयों को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होता है । नेत्र और कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के सम्मुख जो विषय वर्तमान नहीं उनको साक्षात होने को 'प्रकाश' कहते हैं । सूर्य अथवा अग्नि के मौजूद होने पर हमारे नेत्र तथा दिखाई पड़ने वाले पदार्थ के बीच तक समूह के नाश होने से दृश्य पदार्थ जिस प्रकार हमारे नेत्रों के सम्मुख प्रकाशित होता है, उसी प्रकार अन्नमय शरीर का अतिक्रमण हो जाने पर उस बाधा या पर्दा के हट जाने से सब पदार्थ साधक के सम्मुख प्रकाशित हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार किसी ऊँचे स्थान पर चढ़ जाने से अनेक दूरवर्ती पदार्थ भी हमारे नेत्रों को दिखाई पड़ने लगते हैं उसी प्रकार प्राणमय शरीर में पहुँचे हुए साधक के सम्मुख से प्रकाश को रोकने वाले समस्त आवरण हट जाते हैं और वह अन्नमय क्षेत्र के दूरवर्ती पदार्थों को भी देखने और जानने में समर्थ हो जाता है ।

प्राणायाम के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

शारीरिक और वैज्ञानिक दृष्टि से यदि हम प्राणायाम की व्याख्या करें तो उसका अर्थ होता है—'श्वास की गति में स्थिरता ।' प्राण का अर्थ सामान्यतः श्वास ही किया जाता है और "आयाम" ठहरने व "रुकने" को कहते हैं । अन्य अनेक योग विषयक लेखकों ने प्राण का अर्थ श्वास के अतिरिक्त "एक सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति" अथवा "एक सूक्ष्म सृष्टि उत्पादक तत्व" भी बतलाया है । आध्यात्मिक विकास को प्रधानता देने वालों के दृष्टिकोण से यह अर्थ ठीक है, पर "पातंजलि योग सूत्र" में इसका अर्थ श्वास-क्रिया से ही लिया गया है । उनका कथन यही है कि "प्राणायाम योग के आठ अंगों में से एक अंग है, उसका अर्थ है श्वास और प्रश्वास की गति में एक नियमबद्ध स्थिरता लाना । श्वास के नियमित रूप से निकालने और ग्रहण करने से मन पर नियन्त्रण होता है ।"

"पातंजलि योग सूत्र" में चार प्रकार के प्राणायाम बतलाये गए हैं जिनमें श्वास को रोकने की विधि का ही अन्तर है । उदाहरण के लिए श्वास को बाहर निकालने के पश्चात वायु को भीतर जाने से रोका जाता है तब उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं । जब श्वास को भीतर खींचकर रोका जाता है तब उसे अभ्यन्तर

कुम्भक कहते हैं । तीसरे और चौथे का नाम "केवल-कुम्भक" है । इसका अर्थ है श्वास के आवागमन को एक लम्बे समय के लिए बिना किसी चेष्टा के स्वयमेव रुकी हुई अवस्था में रखा जाय । तीसरे और चौथे में इतना ही अन्तर है कि तीसरे में श्वास-प्रश्वास का रोकना एक साथ होता है और चौथे में कई बार श्वास को लेने और निकालने के पश्चात केवल कुम्भक किया जाता है ।

हठयोग के आचार्यों ने प्राणायाम अथवा कुम्भक के आठ भेद बतलाये हैं—सूर्य भेदन, उज्जायी, सीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी । इनमें और पातंजलि के बतलाये प्राणायाम में एक खास भेद है कि जहाँ पातंजलि ने कुम्भक की विधि की भिन्नता के आधार पर प्राणायाम के चारों भेद किए हैं वहाँ हठयोग वालों के भेद का आधार श्वास-प्रश्वास लेने की पृथक-पृथक गति है । इनमें से प्रत्येक में श्वास-प्रश्वास भिन्न रूप में निकाली और ग्रहण की जाती है ।

प्राणायाम के विभिन्न अंग और उनका प्रभाव

प्राणायाम की प्रत्येक विधि—एक मिली-जुली क्रिया है, जिसके तीन भाग पूरक, कुम्भक और रेचक होते हैं । सबसे पहले यह मालूम करना चाहिए कि इनमें से प्रत्येक का परिमाण नियत करने को प्राचीन आचार्यों ने कौन-सी मात्रा नियत की है । इसके अतिरिक्त एक प्रश्न और भी विचारणीय है कि "पातंजलि योगशास्त्र" में कहीं पर पूरक, कुम्भक, रेचक के शब्द प्रयोग में नहीं आये हैं । उसके "प्रच्च्वर्दन विधाराणाभ्यां वा प्राणस्य" (पात. सू. १—३४) सूत्र में रेचक के लिए "प्रच्छर्दन" और कुम्भक के लिए "विधारणा" का शब्द आया है, पर पूरक के लिए कोई अलग शब्द प्रयुक्त नहीं किया है केवल श्वास शब्द से ही उसे प्रकट किया है ।

जब हम कुम्भक, रेचक और पूरक को नापने की मात्राओं के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो मालूम होता है कि प्राचीन समय के योगाचार्य अपनी क्रियाओं को बिल्कुल ठीक हिसाब से करने का बहुत अधिक ध्यान रखते थे । वे हर एक बात को समय और स्थान अथवा देश और काल की दृष्टि से नापने और उनमें जरा-भी अन्तर न पड़ने देने के विषय में बहुत प्रयत्नशील रहते थे । यह तो हम जानते ही हैं कि इन प्राचीन योगियों के पास न तो घड़ी होती थी और न समय के अत्यन्त छोटे भाग को नाप सकने का कोई अन्य साधन था । इसलिये किसी शारीरिक क्रिया के करने में जितना समय लगता उसी का आधार लेकर वे समय का विभाजन करते थे । इसी प्रकार के प्रत्येक विभाग का नाम "मात्रा" था । प्राचीन ग्रन्थों में समय के विभाजन और नापने की कितनी ही विधियाँ हैं, जिनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं—

(१) आँख के पलक झपकने में लगने वाला समय ।

(२) एक छोटे स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है ।

(३) अपने घुटने को तीन बार छूने और साथ में ताली बजाते जाने में जितना समय लगे ।

(४) एक स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास में जितना समय लगे ।

(५) "ॐ" का उच्चारण करने में जितना समय लगे ।

इन मात्राओं पर विचार करने से विदित होता है ये सब समय विभाजन बहुत अनिश्चित हैं । इन मात्राओं में किसी प्रकार का समन्वय अथवा एकरूपता भी नहीं है । प्राचीन समय के योगाचार्य भी इस बात को समझते थे । कई प्रकार की मात्राओं का प्रचलन ही इस बात को प्रकट करता है कि उनमें से कोई पूर्ण रूप से ठीक काम देने वाली और निश्चित नहीं थी । दूसरी बात यह भी है कि उस समय यह शिक्षा शिष्य को सामने बैठाकर गुरु द्वारा व्यक्तिगत रूप से दी जाती थी । इसलिये योगियों के जिस सम्प्रदाय में समय को नापने के लिए जिस प्रकार की मात्रा का प्रचार था उसे शिष्य गुरु से ठीक ढंग से समझ लेते थे । इसके सिवाय प्राणायाम का अभ्यास करते समय मात्रा का निर्णय अपने मानसिक विचार द्वारा भी करना पड़ता था । इसलिये प्रत्येक साधक अपने ढंग पर समय का सही तौर पर निर्णय कर लेता था । वर्तमान समय में योग का अभ्यास करने वाले व्यक्ति को इन समय सूचक मात्राओं के लिए चिन्तित नहीं होना पड़ता,

क्योंकि वह एक-एक सेकण्ड के अन्तर से एक-दो-तीन गिनकर ठीक हिसाब से पूरक, रेचक आदि कर सकते हैं । आवश्यकता हो तो दो-चार दिन घड़ी को सामने रखकर इस अभ्यास को पक्का किया जा सकता है ।

समय-सूचक मात्रा के पश्चात देश अथवा स्थान सूचक मात्रा पर ध्यान देना आवश्यक है । इसकी आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि श्वास को कितने जोर से निकाला और खींचा जाय । इसमें इस बात पर ध्यान देना पड़ता है कि साँस निकालते समय जिसकी गति नाक से कितनी दूर तक जा सकती है । साँस जितने जोर से निकाली जायेगी उतनी ही अधिक दूरी तक उसकी गति अनुभव की जा सकेगी, इस प्रकार वायु की गति का पता लगाने के लिए पुराने समय में बहुत हल्के पंख, रुई आदि का प्रयोग किया जाता था । जहाँ तक वायु पंख के रोयों को हिला सकती थी उस दूरी को अंगुलियों से नाप लिया जाता था । इस प्रकार रेचक में निकलने वाली वायु की गति अथवा उसके दबाव का निर्णय किया जा सकता था । पूरक की गति को नापने के लिए प्राचीन ग्रन्थकारों ने कुछ नियम बतलाये हैं पर उनका समझ सकना और काम में ला सकना बहुत कठिन और अनिश्चित जान पड़ता है, इसलिये यहाँ उसका विशेष वर्णन अनावश्यक जान पड़ता है । इस सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं—

(१) पूरक को सदैव रेचक से आधे समय तक किया जाय । अर्थात् अगर रेचक एक मिनट तक करे तो पूरक आधी मिनट करनी चाहिए ।

(२) पूरक में वायु को समान गति से भीतर खींचे । इस क्रिया में कभी धीमापन और कभी तेजी नहीं आने देनी चाहिए, न कभी शीघ्रता करनी चाहिए ।

(३) हर एक पूरक शान्तिपूर्वक पूरा होना चाहिए । बहुत से लोग पूरक के अन्त में समस्त शरीर की माँसपेशियों को बड़े झटके या खिंचाव के साथ संकुचित करने की आदत डाल देते हैं, मानों साँस खींचने में उन पर बड़ा जोर पड़ रहा है । ऐसी आदत से हानि के सिवाय किसी प्रकार के लाभ की तनिक भी सम्भावना नहीं । पूरक पूर्ण शान्ति से और सहज ढंग से ही पूरा होना चाहिए ।

कुम्भक को नापने के लिए भी समय-सूचक मात्रा की आवश्यकता होती है । इस सम्बन्ध में उसी नियम से काम लेना चाहिए जो रेचक और पूरक के लिए बतलाया गया है ।

जब हम इस बात पर विचार करने लगते हैं कि समय-सूचक मात्राओं के हिसाब से पूरक, कुम्भक और रेचक में क्या सम्बन्ध अथवा अनुपात रहना चाहिए तो इसमें भी कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है । कुछ योगाचार्यों ने इनका अनुपात १ : ४ : २ का बतलाया है, अर्थात् यदि पूरक में वायु को एक मिनट तक खींचा जाय तो उसे ४ मिनट तक रोका जाय और दो मिनट तक बाहर निकाला जाय । अन्य लेखकों ने १ : २ : २ का अनुपात बतलाया है । अर्थात् अगर पूरक एक मिनट तक किया जाय तो कुम्भक २ मिनट और रेचक भी २ मिनट तक करे । एक तीसरी प्रणाली यह भी बतलाई गई है कि पूरक, कुम्भक और रेचक तीनों को बराबर समय तक किया जाय ।

इन अनुपातों को ध्यान में रखते हुए जब हम अभ्यास का ठीक समय नियत करने का प्रयत्न करते हैं, तो हमको सहज रास्ता यही जान पड़ता है कि पहले अपनी शक्ति के अनुसार कुम्भक का समय निश्चित किया जाय और फिर उसी के हिसाब से पूरक और रेचक का समय ठीक हो जायेगा । जिन्होंने अभी अभ्यास आरम्भ ही किया है उनके लिए दूसरी प्रणाली का अनुपात अर्थात् १ : २ : २ ठीक रहेगा और जब अभ्यास बढ़ जाय तो १ : ४ : २ के अनुपात को काम में लाया जाय । कुम्भक के समय का निर्णय करने के लिए प्रत्येक नये अभ्यास करने वाले को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि वह वायु को उतनी ही देर तक भीतर रोके जिसमें जरा भी परेशानी न हो । इतना ही नहीं उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह रेचक को भी वैसे ही आराम के साथ कर सके । प्राणायाम की पूरी क्रिया पूर्ण रूप से आराम और सुविधा के साथ की जानी आवश्यक है । इसमें न शरीर को किसी प्रकार झटका जाय, न जोर लगाया जाय, न किसी प्रकार का दम घुटने का भाव उत्पन्न हो ।

इस सम्बन्ध में नये अभ्यास करने वाले के लिए एक बहुत अच्छा और लाभदायक नियम यह है कि

आरम्भ में कुछ दिन तक वह कुम्भक न करे केवल १ : २ के अनुपात से पूरक और रेचक ही करता रहे । इस प्रकार पूरक और रेचक करने से वे सब शारीरिक लाभ प्राप्त किए जा सकते हैं, जो प्राणायाम से बतलाये गए हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से भी इस अभ्यास से काफी मानसिक शक्ति और शान्ति की वृद्धि की जा सकती है । इसलिये एक सामान्य श्रेणी के समझदार साधक को कुम्भक के विषय में कभी जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए और जब कुम्भक आरम्भ किया जाय तो उसे बहुत धीरे-धीरे और सावधानी के साथ बढ़ाना चाहिए । प्राणायाम में कुम्भक ही ऐसी क्रिया है जिस पर योगाभिलाषी को बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है । अगर उसे पूरी सावधानी और नियम से आगे बढ़ाया जायेगा तो प्राणायाम में किसी तरह का खतरा नहीं हो सकता ।

प्राणायाम के समय का निर्णय मानसिक रूप से करना उचित है । शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से प्राणायाम करने वालों को उसे करते समय पूर्ण रूप से ध्यानमग्न होने की आवश्यकता होती है । अभ्यास करने वाले का दिमाग पूरी तरह से वायु की गति की तरफ लगना चाहिए । पर समय-सूचक मात्राओं के गिनने से श्वास की गति पर ध्यान रखने में कुछ बाधा पड़ जाती है । इसके अतिरिक्त जो लोग प्राणायाम का अभ्यास आध्यात्मिक दृष्टि से करते हैं उनको शरीर के भीतर या बाहर अन्य कई विषयों पर भी ध्यान जमाना पड़ता है । इस कार्य में मात्राओं की गिनती करने से व्यतिक्रम होता है । इसलिये समय सूचक संख्याओं को वास्तविक रूप से गिनने का कार्य उन्हीं को करना चाहिए जो ध्यान में बाधा उत्पन्न किए बिना उसे कर सकते हैं ।

प्राणायाम और नाड़ियाँ

योग के मध्यकालीन ग्रन्थों में प्राणायाम-क्रिया में नाड़ियों का बहुत अधिक महत्त्व बतलाया गया है । पातंजलि के योग-सूत्र में तो केवल एक स्थान पर "कूकर्म-नाड़ी" का नाम आया है, पर बाद के ग्रन्थों में नाड़ियों की संख्या ७२००० (बहत्तर हजार) बतला कर उनका बड़ा विस्तार किया है । कई योग-उपनिषदों में भी नाड़ियों के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है । इनमें से कुछ नाड़ी ही विशेष महत्त्व की मानी गई है । ऐसी नाड़ियों की संख्या कहीं दस और कहीं चौदह बतलाई गई है । इनमें भी मुख्य नाड़ियाँ तीन ही मानी जाती हैं—सुषुम्ना, इड़ा और पिंगला । इन तीनों में से योगाभ्यासी को सबसे अधिक ध्यान सुषुम्ना पर ही रखना होता है ।

आधुनिक शरीर-शास्त्र के ज्ञाता अनेक प्रसिद्ध डॉक्टरों और अन्य विद्वानों ने इस बात का निर्णय करने की चेष्टा की है कि वास्तव में इन तीनों नाड़ियों से शरीर में मिलने वाली किन नाड़ियों को समझा जाय । यद्यपि विदेशी वैज्ञानिक तो इनको अभी तक काल्पनिक ही समझते हैं, पर बम्बई के डॉ. बी. जी. रेले ने जो "मिस्टीरियस कुण्डलिनी" (रहस्यमय कुण्डलिनी) नामक ग्रन्थ लिखा है उसमें इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है । इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिकन शिष्यों के सम्मुख राजयोग पर जो व्याख्यान दिए थे उनमें भी इन नाड़ियों के वैज्ञानिक स्वरूप पर बहुत कुछ कहा है । यद्यपि इन दोनों विद्वानों का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है और उनकी बातें सर्वथा विचारणीय हैं, तो भी इतना कहना पड़ेगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से जिस प्रकार जाँच करने और प्रमाण देने की आवश्यकता पड़ती है वैसी क्रियात्मक और प्रत्यक्ष जाँच कर सकने का अवसर इन दोनों में से किसी को नहीं मिल सका । डॉ. रेले ने तो अपने ग्रन्थ की भूमिका में अपने निर्णय को स्पष्टतः अनुमान पर आधारित लिखा है । कुछ अन्य अन्वेषकों ने इन नाड़ियों का मतलब ज्ञान-तन्तुओं से बतलाया है । कुछ भी हो योगिक-साहित्य में इन तीन नाड़ियों का स्थान बहुत ऊँचा है और उनको किसी न किसी रूप में मानना आवश्यक है । अब तक की खोज और प्राचीन ग्रन्थों के वर्णन का समन्वय करने से यही जान पड़ता है कि सुषुम्ना रीढ़ की हड्डी के नीचे जाता हुआ प्रधान ज्ञानतन्तु है और इड़ा तथा पिंगला उसकी कार्यकारिणी और शक्तिप्रदायिनी शक्तियाँ हैं जो अलग-बगल के तन्तुओं द्वारा प्रकटित होती हैं । इन नाड़ियों को कमल-नाल के तन्तु के समान या बाल से भी सूक्ष्म बतलाया गया है ।

प्राणायाम का स्थान और आसन

कोई भी प्राणायाम का अभ्यासी चाहे उसे शारीरिक दृष्टि से करे और चाहे आध्यात्मिक दृष्टि से, पर उसका

स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ शुद्ध और ताजा वायु निरन्तर आती रहे । इसका अर्थ यह नहीं कि उसके शरीर को तेज वायु का झोंका लगता रहे । खुले हुए स्थान में प्राणायाम करना भी बहुत लाभदायक होता है । पर जो लोग आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम करते हैं उनको इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि अभ्यास के समय ऐसी कोई बात न हो जिससे एकाग्रता में बाधा पड़े । उसके लिए ध्यान में एकाग्र होना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके लिए एक ऐसा हवादार कमरा होना आवश्यक है जो मच्छर, मक्खी, चींटी आदि कीड़े, मकोड़ों के उपद्रव से रहित हो और जहाँ वह निर्बाध रूप से अपनी क्रिया कर सके । किसी प्रकार की विघ्न बाधा की सम्भावना होने से भी एकाग्रता में कमी पड़ जाती है । अगर वह इस कार्य के लिए एक कमरे को सर्वथा पृथक रख सके और उसमें आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न कर ले तो इससे बहुत लाभ हो सकता है ।

बैठने के लिए आसन की प्राचीन व्यवस्था ही सर्वोत्तम है । सबसे नीचे कुश का आसन बिछाया जाय, उसके ऊपर नर्म-सा मृगचर्म रखा जाय और उस पर एक खद्दर का टुकड़ा हो जो नित्य प्रति धोया जा सके । यह आसन बहुत सुखप्रद होता है और योगाभिलाषियों के लिए सब दृष्टियों से सुविधाजनक होता है । आध्यात्मिक मार्ग के साधकों को इस आसन से ऐसी प्रेरणा मिलती है और यह उनको ऐसा आकर्षक जान पड़ता है जैसा कि किसी सम्राट का सिंहासन भी नहीं हो सकता ।

जो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम करते हैं उनके लिए भी इस प्रकार के आसन में कोई बाधा नहीं हो सकती, वरन् उनको भी इसमें एक अन्य प्रकार का आकर्षण जान पड़ेगा । फिर भी उनके लिए ऐसे आसन पर बैठ कर ही प्राणायाम करना अनिवार्य नहीं है । वे किसी भी चीज पर बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए भी प्राणायाम की क्रिया कर सकते हैं । योगशास्त्र में भी उज्जायी प्राणायाम को चलते हुए करने की अनुमति दी गई है ।

इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम करने वाले को आसन के सम्बन्ध में अधिक ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है, और न उसे इस बात की ही आवश्यकता पड़ती है कि आसन पर बैठकर शरीर को किस दशा में रखा जाय । तो भी अगर वह खड़े होकर प्राणायाम करता है तो उसे सीधा सीना तान कर खड़ा होना चाहिए और दोनों हाथों को कमर की दोनों हड्डियों पर रख लेना चाहिए । इसी प्रकार यदि वह बैठकर प्राणायाम करना पसन्द करे तो भी उसे रीढ़ की हड्डी को और मस्तक को सीधा रखना चाहिए । उसके लिए योगियों की विशेष प्रणाली से बैठने की आवश्यकता नहीं होती । पर आध्यात्मिक दृष्टि से अभ्यास करने वालों को ध्यान करने योग्य किसी आसन पर जैसे सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन आदि पर बैठना होता है । इनमें से पद्मासन में पैर की नसों पर अधिक दबाव पड़ता है । इसलिये सामान्यतः सिद्धासन और स्वस्तिकासन अभ्यास करने वाले को सुविधाजनक होते हैं ।

मुद्रा और बन्ध

आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम करने वालों को आसन पर बैठने के साथ मुद्रा का ध्यान रखना भी आवश्यकीय है । सिद्धासन आदि पर बैठकर दोनों हथेलियों को घुटनों पर रखकर सीधा फैला दिया जाय और फिर अँगूठे के पास वाली तर्जनी अंगुली को मोड़ कर अँगूठे से मिला दिया जाय । इसको 'ज्ञान-मुद्रा' कहते हैं और अनेक योगियों यथा महापुरुषों के चित्रों में यह ज्ञान के चिह्न स्वरूप दिखाई पड़ती है ।

इसी प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से उड्डयान, जालन्धर और मूलबन्ध आदि की भी आवश्यकता होती है जिससे वायु अपने आप बाहर न निकल जाय । इनमें जालन्धर बन्ध विशेष महत्त्व का है क्योंकि उसके बिना कुम्भक का हो सकना सम्भव नहीं होता । जालन्धर बन्ध का आशय है कि पूरक द्वारा श्वास के भर लेने पर ठोड़ी को झुका कर कंठकूप के गड्ढे में जमा दिया जाय और उसका अभ्यास न हो सके तो छाती से लगा दिया जाय । इस विधि से भीतर की साँस का बाहर आ सकना असम्भव हो जाता है । इससे मस्तिष्क पर जोर पड़ता है और रीढ़ की हड्डी भी खिंचती है और शरीर के मुख्य ज्ञानतन्तु सतेज हो जाते हैं ।

शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम करने वाले इसका अभ्यास किसी भी समय कर सकते हैं, उनको केवल

इतना ध्यान रखना चाहिए कि प्राणायाम करने पर आध घण्टा ठहर कर भोजन करें । यदि भोजन कर लिया हो तो उसके बाद साढ़े चार घण्टे तक प्राणायाम न करें । यदि हल्का जलपान किया हो तो उसके दो घण्टे बाद प्राणायाम किया जा सकता है ।

आध्यात्मिक श्रेणी वालों को दिन में दो बार—प्रातः और सायंकाल प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । आगे चलकर जब उनका अभ्यास बढ़ जाय तो आधी रात और दोपहर के समय अभ्यास करना अधिक लाभदायक होता है । उनको सदा इस बात का पूरा ध्यान रखना होता है कि आसन पर बैठने के पहले उनका पेट बिल्कुल हल्का रहे । इसके लिए उनको अपना भोजन विशेष रूप से करना पड़ता है और अच्छा तो यह है कि चौबीस घण्टे में केवल एक बार भोजन करें । उनको भोजन के छः घण्टे बाद तक प्राणायाम नहीं करना चाहिए । अगर वे दूध पिएँ तो भी कम से कम दो घण्टा ठहरकर प्राणायाम करें । प्रातःकाल का प्राणायाम धौती, वस्ति आदि की स्वच्छ करने वाली क्रियाओं के पश्चात करना चाहिए और संध्या को आसन कर लेने के पश्चात करना उचित है । यदि ध्यान भी करना हो तो प्राणायाम को उससे पहले कर लेना चाहिए ।

योगशास्त्र के अनुसार अनेक प्रकार के प्राणायामों का अभ्यास किया जाता है जिनकी विधि पिछले आध्यायों में दी जा चुकी है । ऊपर जो सामान्य नियम दिए गए हैं वे सब प्रकार के प्राणायामों में आवश्यक और उपयोगी होते हैं । अभ्यास करने वाला अपनी बुद्धि से समयानुसार उनका उपयोग कर सकता है । पर इन विविध प्रकार के प्राणायामों का अभ्यास करते समय उसे इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उत्साह अथवा अज्ञान के फलस्वरूप वह किसी क्रिया को उचित से अधिक परिमाण में बलपूर्वक न कर बैठे । प्राणायाम का ज्ञान-तन्तुओं, हृदय और फेफड़ों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । अगर प्राणायाम की क्रिया को गलत ढंग से किया जायेगा या उसमें शक्ति से अधिक जोर डाला जायेगा तो इन अंगों को स्थायी रूप से हानि पहुँच सकती है जिससे स्वास्थ्य नष्ट हो जायेगा । इसलिये प्रत्येक अभ्यास करने वाले को इस विषय में पूर्ण सावधानी से और समझ-बूझकर आगे बढ़ना ही हितकर है ।

प्राणायाम के शारीरिक और आध्यात्मिक लाभ

प्राणायाम से जो शारीरिक और आध्यात्मिक लाभ होते हैं, उन पर विचार करने में मुख्य स्थान स्वास्थ्य का ही जान पड़ता है । स्वास्थ्य का अर्थ क्या है ? मानव-शरीर के विविध अंगों का नियमपूर्वक और पारस्परिक अनुकूल स्थिति में कार्य करते रहना ही सच्चे स्वास्थ्य का लक्षण है । शरीर की मुख्य कार्य-प्रणालियाँ ज्ञान-तन्तु (स्नायु), रस निकालने वाली ग्रन्थियाँ, साँस लेने वाले अंग रक्त-संचार और पाचन-यन्त्र आदि माने गए हैं । यद्यपि इनमें से ज्ञान-तन्तुओं और विभिन्न प्रकार के रस निकालने वाली ग्रन्थियों का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है, पर वे अन्य अंगों के सुचारु रूप से कार्य-संचालन पर निर्भर रहते हैं ।

हमारी देह में ज्ञान-तन्तुओं अथवा शारीरिक कार्यों का संचालन करने वाले स्नायुओं का रूप एक बड़े बिजलीघर के समान होता है । हमारा मस्तिष्क, रीढ़ की हड्डी और उसके आस-पास की नाड़ियाँ मिलकर इस शारीरिक विद्युतघर का निर्माण करती हैं । मस्तिष्क से अथवा रीढ़ की हड्डी से जो ज्ञान-तन्तु निकलते हैं वे बिजली के चारों तरफ फैले हुए तारों के समान होते हैं । जिस प्रकार किसी कारखाने में लगी हुई विविध मशीनों को केन्द्रीय डायनमों से विद्युत की धारा मिलती है और उसके द्वारा वे चलती हैं, उसी प्रकार मानव-शरीर की समस्त क्रियाएँ भी मस्तिष्क और पृष्ठ-वंश से निकलने वाली प्राणधारा और विचारधारा से संचालित होती हैं । फिर जिस प्रकार पावर हाउस की मशीन के रुक जाने पर या तारों में खराबी आ जाने से सब मशीनों का चलना रुक जाता है, उसी प्रकार यदि मस्तिष्क अथवा पृष्ठ-वंश को किसी प्रकार हानि पहुँचती है, अथवा ज्ञान-तन्तुओं को कोई ऐसी क्षति पहुँच जाती है कि वे मस्तिष्क की प्रेरणा को अंगों के पास नहीं पहुँचा सकते तो समस्त शारीरिक क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं । इस शारीरिक क्रियाओं के बन्द होने का क्या अर्थ है इसका अनुमान करना कठिन

नहीं है । हमारी पाचन क्रिया, हमारा रक्त-संचार और हमारा साँस लेना भी ज्ञान-तन्तुओं द्वारा ही नियन्त्रित होता है । अगर मस्तिष्क विविध अंगों को कार्य-सम्बन्धी प्रेरणाएँ न भेजें, अथवा मस्तिष्क से रवाना हो जाने पर भी वे अपने ठिकाने पर न पहुँचें, तो जीवन का समस्त कार्य रुक जायेगा और जीवन की ज्योति सदैव के लिए लोप हो जायेगी । ज्ञान-तन्तुओं अथवा स्नायु-मण्डल का महत्त्व ऐसा ही अधिक है ।

अब पावर हाउस के उदाहरण को ही सम्मुख रखकर यदि हम यह कल्पना करें कि पावर हाउस की मशीन ठीक है, वह बिजली की धारा उत्पन्न कर सकती है और तार भी विद्युतधारा को निश्चित स्थान तक पहुँचा देते हैं, तो भी यदि विद्युतधारा पर्याप्त शक्ति की नहीं है तो उससे मशीनें नहीं चल सकतीं, क्योंकि मशीनों के ठीक चलने के लिए बिजली की धारा एक नियत शक्ति (वोल्टेज) की अवश्य होनी चाहिए । मानव शरीर में यह विद्युतधारा रस प्रवाहिनी ग्रन्थियों (एण्डोक्राइन ग्लैण्ड्स) पर निर्भर रहती हैं । चाहे मनुष्य का समस्त स्नायु-मण्डल बिल्कुल ठीक दशा में हो, पर उसको यदि रस प्रवाहिनी ग्रन्थियों का रस उत्तम श्रेणी का और पर्याप्त मात्रा में न मिलेगा तो शरीर भर के ज्ञा-नतन्तु निर्बल और त्रुटिपूर्ण हो जायेंगे । इसके परिणामस्वरूप मनुष्य के शारीरिक कार्यकलाप और जीवन-शक्ति में भी सुस्ती और कमी आ जायेगी । उदाहरण के लिए हमें इनमें से किसी एक ग्रन्थि के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए । मान लीजिए कि गले में स्थित 'थाइरॉइड ग्लैण्ड' खराब होकर निष्क्रिय हो गई । इसका परिणाम यह होगा कि उस मनुष्य की आँखें पीली पड़ने लगेंगी, गाल बैठ जायेंगे, माँसपेशियाँ फूली हुई अथवा पतली पड़ जायेंगी, बाल सफेद हो जायेंगे, और वह बहुत शीघ्र बुढ़ापे का शिकार हो जायेगा । यदि इस 'थाइरॉइड ग्लैण्ड' को ठीक कर दिया जाय तो मनुष्य में यौवनावस्था के चिह्न दिखाई देने लगेंगे । उसके बुढ़ापे के चिह्न मिट जायेंगे, वह सीधा होकर चलने लगेगा, सब चीजों में चमक-दमक जान पड़ेगी और जीवन आनन्ददायक लगने लगेगा । इस प्रकार विचार करने से रसवाहिनी ग्रन्थियों का भी वैसा ही महत्त्व जान पड़ता है जैसा कि स्नायु-मण्डल का है ।

प्राणायाम से रक्त-शुद्धि

फिर जब हम मानव-शरीर के अन्य अंगों पर विचार करते हैं कि यद्यपि स्नायु-मण्डल और प्रवाहिनी ग्रन्थियाँ शरीर संचालन की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व की हैं, पर वे तभी ठीक रह सकती हैं जब कि रक्त संचालन ठीक रहे । रक्त-संचालन का आधार श्वास-क्रिया और पाचन-क्रिया के उत्तम स्थिति में रहने पर है । मनुष्य के शरीर में रक्त-संचालन का कार्य हृदय, नसों, नाड़ियों और शिराओं द्वारा होता है । इन्हीं अंगों का यह कर्तव्य है कि वे शुद्ध रक्त को शरीर के प्रत्येक अणु तक पहुँचायें । अगर स्नायु-मण्डल और रस प्रवाहिनी ग्रन्थियाँ शुद्ध रक्त के अभाव से निर्बल पड़ जायेंगी तो उनके कार्य में अवश्य त्रुटि होने लगेगी और फलस्वरूप समस्त शरीर निर्बल हो जायेगा ।

इसी प्रकार यदि रक्त-संचालन करने वाले यन्त्र ठीक दशा में हों, पर उनमें होकर जो रक्त बहता हो वह उत्तम श्रेणी का न हो, उसमें विषाक्त तत्व भर गए हों तो रक्त-संचालन के यन्त्रों का कार्य भी व्यर्थ हो जायेगा । इसलिये स्वास्थ्य-रक्षा के लिए रक्त का शुद्ध और सारयुक्त रहना आवश्यक है और यह बात श्वास क्रिया और पाचन-क्रिया पर अवलम्बित रहती है ।

रक्त के शुद्ध रहने का मुख्य आधार ऑक्सीजन (प्राण-वायु) की उचित मात्रा पर आधारित है, साथ ही उनमें पोषण करने वाले तत्व भी पर्याप्त मात्रा में रहने आवश्यक हैं । रक्त को प्राण-वायु श्वास-क्रिया प्राप्त होती है और पोषक-तत्व भोजन और पेय पदार्थों से मिलते हैं । रक्त उसी परिमाण में प्राण-वायु को धारण कर सकता है जिस परिमाण में श्वास क्रिया द्वारा उसे वह प्राप्त होगी । अगर श्वास क्रिया त्रुटिपूर्ण है तो रक्त में प्राण-वायु का परिमाण घट जायेगा और शरीर के समस्त अंगों को अशुद्ध रक्त मिलने लगेगा । इसी प्रकार चाहे कोई व्यक्ति बढ़िया भोजन करे और बहुमूल्य पेय पदार्थ पिये, पर पाचक-यन्त्र यदि ठीक काम नहीं करते और उस भोजन का रस ठीक तरह से नहीं बनता तो उसका अधिकांश भाग व्यर्थ होकर मलरूप में शरीर से बाहर निकल जायेगा और रक्त में पोषक तत्वों की कमी हो जायेगी । इस प्रकार स्पष्ट जान पड़ता है कि यदि हमें अपना रक्त

शुद्ध और शक्ति प्रदायक स्थिति में रखना है तो उसके लिए पाचन-क्रिया और श्वास-क्रिया का ठीक अवस्था में रहना अत्यावश्यक है ।

श्वास-क्रिया और पाचन-क्रिया में सुधार

श्वास-क्रिया और पाचन-क्रिया की खराबी से केवल रक्त में प्राण-वायु और पोषक-तत्वों का अभाव ही नहीं हो जाता, वरन् इनके कारण रक्त ऐसे दूषित तत्वों से भी भर जाता है जो विषाक्त और हानिकारक होते हैं । जैसा हम जानते हैं हमारा शरीर सदैव 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' पैदा करता रहता है । हमारी रक्त-संचार की प्रणाली इस हानिकारक गैस को फेफड़ों में ले जाती है और उन्हीं के द्वारा इसे शरीर से बाहर निकाला जाता है । यदि हमारे श्वास-यन्त्र ठीक काम नहीं करते तो शरीर में इस कार्बन गैस का परिणाम बढ़ता जायेगा और वह रक्त में मिलकर उसे निर्बल बनायेगी । इसी प्रकार भोज्य-पदार्थों से भी बहुत-सा बेकार अंश बच रहता है जिसे छोटी और बड़ी आँतें निकालती हैं । अगर हमारा पाचन-यन्त्र ठीक दशा में न हो और इस कारण भोजन का यह बेकार अंश शरीर से समय पर बाहर न निकल सके तो वह आँतों के भीतर ही सड़ने लगता है और उससे बहुत हानिकारक विषाक्त तत्वों की उत्पत्ति होती है । आँतों की माँसपेशियों में होकर ये हानिकारक तत्व रक्त में सम्मिलित हो जाते हैं और उसके साथ समस्त शरीर में व्याप्त होकर स्वास्थ्य और शक्ति का नाश करते रहते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जब तक हमारे शरीर को शुद्ध करने वाले भीतरी अंग—मलाशय, गुर्दा, फेफड़े आदि ठीक काम न करते रहेंगे और शरीर की कार्यप्रणाली के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के दूषित तत्व, मल को समय पर बाहर निकालते न रहेंगे तब तक न हमारा रक्त शुद्ध रह सकता है, न अन्य अंगों को आवश्यकीय शक्ति प्राप्त हो सकती हैं ।

इन विभिन्न अंगों का श्वास क्रिया से जो सम्बन्ध है, उस पर विचार करने से हमको विदित होता है कि वास्तव में प्राणायाम एक ऐसा व्यायाम है कि जिसके प्रभाव से समस्त भीतरी अंगों की कार्यप्रणाली में सुधार होता है और फलस्वरूप स्वास्थ्य की उन्नति होती है । हमारे श्वास लेते समय फेफड़ों के नीचे रहने वाला पर्दा जिसे 'डायफ्राम' कहते हैं, फूलता है और श्वास निकलने पर वह पिचक जाता है । इस निरन्तर फैलने और पिचकने की क्रिया से आस-पास के सभी अवयवों पर दबाव पड़ता है और उनकी मालिश-सी हो जाती है । जब हम प्राणायाम करते हैं अर्थात् श्वास को पूरी तरह से खींचकर थोड़ी देर के लिए रोकते हैं तो यह डायफ्राम साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक फूलता है और मलाशय तथा गुर्दों की माँसपेशियाँ अधिक गतिशील हो जाती हैं । इस प्रकार जब एक बार इन दोनों अंगों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है तो वह कई घण्टे तक ठीक ढंग से काम करते रहते हैं और शरीर में उत्पन्न होने वाले मल को बाहर निकालने में संलग्न रहते हैं ।

यही बात फेफड़ों के सम्बन्ध में भी है । जब हम छाती में पूरी तरह से श्वास भरते हैं और उसे रोकते हैं तो वह फेफड़ों के उन हिस्सों को भी सक्रिय बना देती है जहाँ साधारण अवस्था में वायु नहीं पहुँचती और इससे जो निकम्मे बने रहते हैं । इस प्रकार दिन में कई बार प्राणायाम द्वारा गहरी श्वास लेकर जब फेफड़ों का कार्यक्रम बना दिया जाता है तो वे अपना काम दिन-रात ठीक ढंग से कर सकने में सक्षम हो जाते हैं ।

पाचन-यन्त्र के लिए भी प्राणायाम कम हितकारी सिद्ध नहीं होता । आमाशय, यकृत, पेंक्रियाज पर भी डायाफ्राम के फैलने और सिकुड़ने का बड़ा प्रभाव पड़ता है और उनका व्यायाम-सा होकर कार्य क्षमता बढ़ जाती है । असंख्यों मनुष्यों के पाचन यन्त्र जो अजीर्ण और कब्ज के रोगों में ग्रसित होते हैं, मल से भर जाते हैं । प्राणायाम द्वारा इन अंगों पर दबाव पड़ने से वह मल अपने स्थान से हट जाता है और शरीर की सफाई होने में सहायता मिलती है । साथ ही पेंक्रियाज व यकृत से पाचक रसों का निकालना भी बढ़ जाता है जिससे भोजन का ठीक ढंग से परिपाक होता है और इससे रक्त की शुद्धि होकर सब अंगों को जीवनी-शक्ति प्राप्त होती है ।

प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि शरीर में संचरण करने वाले रक्त को ऑक्सीजन पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होती रहे । यह ऑक्सीजन की प्राप्ति प्राणायाम से बहुत उन्नत अवस्था को प्राप्त

हो जाती है । प्राणायाम के मुख्य-मुख्य अभ्यासों से ऑक्सीजन की जैसी वृद्धि होती है वैसी और किसी उपाय से हो सकनी सम्भव नहीं है । इसका अर्थ यह नहीं कि प्राणायाम द्वारा कोई व्यक्ति अधिक मात्रा में ऑक्सीजन को खींच लेता है, वरन् इसका कारण यह होता है कि वह साँस लेने वाले अंगों से ठीक ढंग से काम लेने का अभ्यास करता है, जिससे दिन-रात अधिक हवा फेफड़ों में जाती है और उससे अधिक परिमाण में ऑक्सीजन रक्त के लिए प्राप्त हो जाती है । बहुत से लोग यह ख्याल करते हैं कि प्राणायाम करते समय ही अधिक ऑक्सीजन शरीर को प्राप्त हो जाती है और उससे स्वास्थ्य की उन्नति होती है । पर यह ख्याल बिल्कुल ठीक नहीं है । प्राणायाम में तो जितनी देर वायु को रोका जाता है उतनी देर बाहर की वायु का भीतर जाना बन्द रहता है, इसलिये प्राणायाम के समय में तो साधारण साँस लेने की अपेक्षा भी कम ऑक्सीजन प्राप्त होती है । पर उसके बाद प्राणायाम के फल से श्वास-यन्त्र की कार्यशीलता तथा साँस लेने के ढंग में जो उन्नति होती है ,उसके फलस्वरूप शेष समय में अवश्य अधिक परिमाण में ऑक्सीजन प्राप्त होने लगती है ।

इसके सिवाय प्राणायाम की कुछ विधियाँ ऐसी हैं जिनमें कुम्भक नहीं किया जाता केवल रेचक और पूरक ही करना पड़ता है । उनमें साँस जल्दी चलती है । उदाहरणार्थ उज्जायी प्राणायाम में केवल रेचक और पूरक करते हैं और एक मिनट में आमतौर पर चार बार श्वास-प्रश्वास लेते हैं । इसमें साधारण साँस लेने की अपेक्षा अधिक वायु भीतर जाती है और रक्त को अधिक ऑक्सीजन भी मिलती है ।

पाचन-तन्त्र के ठीक काम करने और मल निकालने वाले तथा साँस लेने वाले अंगों की अवस्था ठीक रहने पर रक्त की दशा सन्तोषजनक रहती है । अब इस रक्त को शरीर के प्रत्येक अंग और अणुओं तक पहुँचाना होता है । यह काम रक्त-संचारण के यन्त्र, खासकर हृदय का माना जाता है । इस विषय में पश्चिमी वैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि गहरी श्वास लेने से हृदय की मालिश और व्यायाम हो जाता है जिससे उसकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है । यह कार्य प्राणायाम में और भी उत्तम और प्रभावशाली ढंग से होता है । उससे हृदय शक्तिशाली बनता है और रक्त-संचरण का कार्य अधिक उत्तमता से करने लगता है । इतना ही नहीं भस्त्रिका प्राणायाम में खींची गई वायु के कम्पनों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से समस्त नाड़ियों, नसों और शिराओं पर पड़ता है और रक्त-संचरण के कार्य की उन्नति होती है ।

जब हम स्नायु-मण्डल और रस उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियों के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो विदित होता है कि प्राणायाम द्वारा शुद्ध हुआ रक्त जब समस्त ज्ञान-तन्तुओं और ग्रन्थियों में अधिक परिमाण में पहुँचता है तो उनका निर्दोष और शक्तिशाली होना अवश्यम्भावी है । खासकर भस्त्रिका प्राणायाम में रक्त का संचरण बहुत तीव्र हो जाता है और उसकी शुद्धता भी बढ़ जाती है । इस रक्त से सभी ग्रन्थियों और मस्तिष्क, रीढ़ की हड्डी और इनसे सम्बन्धित अन्य अवयवों को लाभ पहुँचता है ।

इसके सिवाय प्राणायाम से ज्ञान-तन्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से भी कुछ लाभ पहुँचता है । जब पूरक करने से डायाफ्राम फूलता है और नीचे की ओर फैलकर पेट की माँसपेशियों पर दबाव डालता है तो उसका असर रीढ़ की हड्डी पर भी पड़ता है और वह कुछ खिंचती है । अगर प्राणायाम करते समय जालन्धर बन्ध किया जाय तो रीढ़ की हड्डी का ऊपरी हिस्सा भी खिंचता है । पृष्ठ वंश के इस प्रकार खिंचने से वहाँ के सभी अंगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और स्नायु-मण्डल की उन्नति होती है ।

संक्षेप में प्राणायाम द्वारा हम उन समस्त शारीरिक क्रियाओं की उन्नति कर सकने में समर्थ होते हैं जो शरीर में जीवनी-शक्ति को उत्पन्न करती हैं और विभिन्न अवयवों को स्वाभाविक दशा में रखकर उन्हें पूरा कार्य करने के योग्य बनाती हैं । हमको यह बात फिर से याद कर लेनी चाहिए कि शरीर के समस्त व्यापारों का संचालन करने वाली मुख्य प्रणाली हमारा स्नायुमण्डल या नाड़ी-मण्डल है, जो समस्त अंगों को उचित अवसर पर अपना-अपना कार्य करने की प्रेरणा देता रहता है और समस्त अंगों के कार्यों का समन्वय करता है । प्राणायाम द्वारा समस्त ज्ञान-तन्तु-प्रणाली पर प्रभाव पड़ता है और वह अधिक चैतन्य तथा कार्यक्षम बनकर स्वास्थ्य की उन्नति में सहायक होती

है । इसके साथ ही पाचक-यन्त्र, मल विसर्जन करने वाले अंग और श्वास क्रिया वाले अवयवों के लिए भी प्राणायाम का व्यायाम सर्वोत्तम सिद्ध होता है और ये सब अंग प्राणायाम के अभ्यास से सशक्त होकर अपना काम पूर्वापेक्षा उत्तम प्रकार से करने से लगते हैं । इससे हमारे रक्त की शुद्धता, उसकी शक्ति और गति में सुधार होता है । शुद्ध रक्त ही जीवन का आधार है, जब तक वह उत्तम और निर्दोष अवस्था से रहता है तब तक न किसी प्रकार के रोग का भय रहता है और न किसी बाह्य परिवर्तन का स्थायी कुप्रभाव शरीर पर पड़ सकता है । शुद्ध और गतिशील रक्त समस्त दोषों को बहाकर शरीर से बाहर कर देता है और समस्त अवयवों को निरन्तर उचित पोषण देकर शरीर-यन्त्र को सब प्रकार से स्वस्थ और कार्यक्षम बनाये रखता है जिससे वह सांसारिक कार्यों को ठीक ढंग से करने और सब प्रकार के उपभोग्य पदार्थों का उचित रूप में सेवन कर सकने योग्य रहता है ।

प्राणायाम द्वारा मानसिक परिवर्तन

यह तो शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम के लाभों का वर्णन हुआ । आध्यात्मिक दृष्टि से भी प्राणायाम के लाभ बहुत अधिक हैं । अनेक व्यक्ति यह शंका किया करते हैं कि जब प्राणायाम एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम है तो उसका आध्यात्मिक जीवन से क्या सम्बन्ध हो सकता है और वह हमारी मानसिक और आत्मिक स्थिति पर कैसे प्रभाव डाल सकता है ? इस सम्बन्ध में अधिक न कहकर हम पाठकों का ध्यान केवल इस बात पर दिलाना चाहते हैं कि जब प्राणायाम स्नायु-मण्डल और ज्ञान-तन्तुओं की उन्नति करता है तो उसका प्रभाव मस्तिष्क पर भी बहुत अधिक पड़ता है और हमारी चेतना और बुद्धि की भी उन्नति होने लगती है, जिससे हम पूर्वापेक्षा अधिक सूक्ष्म विषयों को समझ सकने और ग्रहण कर सकने में समर्थ होते हैं ।

एक-दूसरी ध्यान देने योग्य बात इस सम्बन्ध में यह है कि हमारी रसोत्पादक ग्रन्थियों का भी हमारे विचारों और भावनाओं पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । इस ग्रन्थि-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ अन्वेषण करने वाले विद्वानों ने हाल में बहुत खोजें की हैं और यह सिद्ध किया है कि इन रस-ग्रन्थियों का प्रभाव जैसा मनुष्य की शारीरिक स्थिति पर पड़ता है वैसा ही मानसिक स्थिति पर भी पड़ता है । उनमें से कोई-कोई तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि हम आगे चलकर इन रस-ग्रन्थियों के नियन्त्रण द्वारा दुष्ट-प्रकृति के व्यक्तियों में मानसिक परिवर्तन करके उनको सर्वथा सज्जन और साधु बना देंगे । कुछ भी हो यह निर्विवाद सत्य है कि रस-ग्रन्थियों का प्रभाव मनुष्य की मानसिक स्थिति पर अनिवार्य रूप से पड़ता है और उनके द्वारा उसमें आध्यात्मिक परिवर्तन भी निश्चित रूप से हो सकते हैं ।

फिर इन सब बातों के साथ इस प्रत्यक्ष सत्य को भी हमें याद रखना चाहिए कि हमारा भौतिक और आध्यात्मिक जीवन सर्वथा भिन्न नहीं है, वरन् वे एक दूसरे के पूरक रूप में हैं । सदा बीमार, पीड़ित और दुःखी रहने वाले मनुष्य में परोपकार, उदारता, क्षमा, करुणा आदि सद्गुणों के विकास की आशा बहुत कम रखी जा सकती है । वह स्वयं ही दयनीय अवस्था में रहता है और उसके विचार भी दीनता और प्रायः क्षुद्रता की तरफ ही झुकते जाते हैं । इसके विपरीत जो अपने बाहरी और भीतरी स्वास्थ्य को उत्तम दशा में रखते हैं वे शारीरिक दृष्टि से ही सुखी जीवन व्यतीत नहीं करते वरन् उनके विचार भी प्रायः उत्तम विषयों की तरफ प्रेरित होते हैं और वे सत्कर्म करने में भी समर्थ हो सकते हैं । सत्कर्म ही आध्यात्मिक जीवन का सार हैं और उस मार्ग पर चलने वाला मनुष्य अवश्यमेव आत्म-सिद्धि के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है । यही कारण है कि भारतीय धर्म-ग्रन्थों में आदि काल से प्राणायाम का उपदेश दिया गया है और उसे धार्मिक क्रियाओं का अंग माना गया है ।

धर्म-शास्त्रों में प्राणायाम

यद्यपि इस समय प्राणायाम का मुख्य आशय श्वास-प्रश्वास की गति को यथोचित करके शारीरिक और मानसिक स्थिति का सुधार करना समझा जाता है और मध्यकाल में उसका उद्देश्य आध्यात्मिक उच्च स्थिति को प्राप्त करना माना गया था, पर उससे भी पहले प्राचीन काल में यह मुख्यतः धार्मिक क्रियाओं के एक अंग के रूप में ही व्यवहार में लाया जाता था । इसका सबसे प्रथम उल्लेख सूत्र-ग्रन्थों में पाया जाता है । इन ग्रन्थों को श्रौत-सूत्र, धर्म-सूत्र और गृह्य-सूत्र

इन तीन विभागों में विभाजित किया गया है । इनमें से श्रौत-सूत्र वैदिक कर्मकाण्ड से, धर्म सूत्र धार्मिक क्रिया-कर्मों से और गृह्य-सूत्र गृहस्थ सम्बन्धी धर्म कर्तव्यों से सम्बन्धित हैं और धार्मिक-साहित्य, में इनका स्थान पर्याप्त प्राचीन माना जाता है । इनमें से आश्वलायन श्रौत-सूत्र, सत्याषाढ़ श्रौत-सूत्र, आपस्तम्व धर्म-सूत्र, बौधायन गृह्य-सूत्र में प्राणायाम का उल्लेख है । पर उनमें प्राणायाम की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है, वरन् किसी मन्त्र का जप करने के साथ जो वायु को भीतर रोककर अभ्यन्तर-कुम्भक किया जाता था, वही प्राणायाम का एक रूप समझा जा सकता है । इस क्रिया का वर्णन करते हुए आपस्तम्व सूत्र में लिखा है "आ तमितोः प्राणमायच्छेदित्येके" अर्थात् मन्त्र का जप करते हुए श्वास को भीतर रोका जाय । इस प्रकार श्वास को रोकने के सम्बन्ध में भी दो प्रकार की विधियों का उल्लेख मिलता है । एक लेखक का कहना है कि "श्वास को तब तक रोका जाय जब तक कि अंग थक न जाय ।" पर दूसरे ने लिखा है—"यथाशक्ति अप्राणन" अर्थात् श्वास को अपनी शक्ति के अनुसार ही रोका जाय । बौधायन सूत्र में गायत्री, व्याहृति, प्रणव और शिरस् का मानसिक जप करते समय श्वास रोकने का स्पष्ट रूप से वर्णन किया है । यदि हम यह कहें कि धार्मिक क्रियाओं में इस प्रकार श्वास भीतर रोकने का विधान अर्थात् अभ्यन्तर कुम्भक ही प्राणायाम का मूल रूप था तो इसे सर्वथा असंगत नहीं कहा जा सकता ।

सूत्र-ग्रन्थों के पश्चात स्मृतियों में प्राणायाम का वर्णन अधिक स्पष्टता से किया गया है और उसका महत्त्व भी विशेष रूप से बतलाया गया है । इस सम्बन्ध में मनुस्मृति के ये श्लोक प्रसिद्ध हैं—

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तन्हिनस्त्यज्ञान तो यति :।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत् ॥ ६९ ॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः ।
व्याहृति प्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥
दह्यते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथान्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥
प्राणायामैर्ददेद्धोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

—मनु. अ. ६

अर्थात्—यदि संन्यासी, साधु से अनजाने में किन्हीं प्राणियों का नाश हो जाय तो उस पाप के प्रायश्चित स्वरूप उसे स्नान करके छः प्राणायाम करना चाहिए ।।६९।। व्याहृति और प्रणव से युक्त पूरक, रेचक व कुम्भक के साथ किए गए तीन प्राणायाम नित्य करना ब्राह्मण के लिए एक श्रेष्ठ तपस्या के समान होता है ।।७०।। जैसे धातु गलाने की घरिया में रखकर तपाने से सब प्रकार की धातुओं का मैल जल जाता है वैसे ही प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों के सब दोष (पाप) भस्म हो जाते हैं ।।७१।। प्राणायाम द्वारा समस्त दोषों (पापों) को जलायें, धारणा द्वारा अन्य पातकों का नाश करे, अल्पाहार द्वारा वासनाओं का निवारण करे और ध्यान द्वारा परमात्म-तत्व के विपरीत भावों से छुटकारा पाये ।।७२।।

आगे चलकर ११वें अध्याय में जहाँ विभिन्न प्रकार के पापों के प्रायश्चित का वर्णन किया गया है मनु महाराज ने अनेक प्रकार के पापों का प्रतिकार प्राणायाम द्वारा ही सम्भव बतलाया है । यद्यपि उस अध्याय में ऐसे बहुसंख्यक पापों का उल्लेख किया गया है जो देश-काल और समाज की परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने से आजकल सुनने-देखने में नहीं आते, तो भी उससे यह अवश्य विदित होता है कि अब से हजारों वर्ष पूर्व भी प्राणायाम की बड़ी महिमा थी और सर्वसाधारण उससे लाभ उठाते रहें इस दृष्टि से उसे धार्मिक क्रियाओं में एक प्रमुख स्थान दिया गया था । उदाहरण के तौर पर ऐसे कुछ श्लोक नीचे दिए जाते हैं ।

किञ्चदेवतु विप्राय दद्यादास्मिथमतां वधे ।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १५२ ॥
श्वशृगालाखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०० ॥
उष्ट्रयान समारुह्य खरयानं तु कामतः ।
स्नात्वातु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०२ ॥
सव्याहृति प्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।
अपि भ्रुणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ २४६ ॥

इस विवेचन से विदित होता है कि यद्यपि धर्मग्रन्थ होने की दृष्टि से मनुस्मृतिकार ने प्राणायाम का धार्मिक महत्त्व ही इस स्थान पर कथन किया है, तो भी धारणा, प्रत्याहार, ध्यान आदि का उल्लेख होने से सिद्ध होता है कि उस समय अष्टांगयोग का ज्ञान हो चुका था और उसे परमात्मा की प्राप्ति का एक साधन माना

जाता था । धीरे-धीरे साधना करने वाले प्राणायाम के लाभों और महत्त्व से परिचित हो गए और आगे चलकर उसने एक स्वतन्त्र साधन-प्रणाली का रूप ग्रहण कर लिया । स्मृतियों के विधान का एक लाभ यह भी हुआ कि लोगों की श्रद्धा इस सम्बन्ध में बहुत दृढ़ हो गई और सभी धर्म-क्रियाओं में इसका प्रयोग निश्चित रूप से किया जाने लगा ।

इसी प्रकार "वृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति" में लिखा है—

प्राणायाम शतं कुर्युः सूर्यस्योदयनं प्रति ।
निर्मला स्वर्गमायान्ति.................... ॥

—*वृ. या. स्मृ. ८-४०*

अर्थात्—"जो व्यक्ति नित्यप्रति सूर्योदय के समय सौ प्राणायाम करता है वह निर्मल होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है ।" पर स्मृतियों में भी प्राणायाम को गायत्री, व्याहृति, प्रणव, शिरस् के साथ करने का ही विधान है ।

पुराणों में भी अनेक स्थानों में प्राणायाम की महिमा का वर्णन किया है, पर उनमें गायत्री, व्याहृति आदि के बजाय प्राणायाम के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश का ध्यान करने का विधान है । यद्यपि पुराणों में "पूरक, कुम्भक, रेचक" के शब्दों को व्यवहार में नहीं लाया गया है, पर इनमें मात्रा सहित इन क्रियाओं को करने का स्पष्टतः वर्णन किया गया है । लिखा है कि "श्वास को भीतर खींचते समय नाभि-प्रदेश में विष्णु का ध्यान किया जाय, श्वास को भीतर रोकते समय हृदय-प्रदेश में ब्रह्मा की आकृति का ध्यान करे और श्वास को बाहर निकालते हुए ललाट में शिव का ध्यान करना चाहिए ।" श्वास को कितनी देर तक रोका जाय, कितनी देर तक बाहर निकाला जाय, इसका हिसाब भी पुराणों में ही बतलाया गया है ।

इस प्रकार सूत्र ग्रन्थ, स्मृतियों और पुराणों के कालों में प्राणायाम का धार्मिक दृष्टिकोण से क्रमशः विकास होता गया । उस समय प्राणायाम की स्वतन्त्र सत्ता और उसके लाभों का किसी ने प्रतिपादन नहीं किया, वरन् सबने उसे अपने-अपने दृष्टिकोण से धार्मिक क्रियाओं के एक अंग स्वरूप ही माना । प्राणायाम के बिना संध्याकर्म भी पूर्ण नहीं होता था और हवन, यज्ञ आदि के समय भी अभ्यन्तर कुम्भक को अनिवार्य माना गया था ।

प्राणायाम का आध्यात्मिक तथा मानसिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र रूप में वर्णन करने वाला सबसे पहला ग्रन्थ पातंजलि का "योग सूत्र" है । उसमें प्राणायाम के साथ किसी अन्य मन्त्र-जप या ध्यान आदि का जिक्र नहीं पाया जाता, वरन् योग के आठ अंगों का वर्णन करते हुए इसी को मुक्ति का एक साधन बतलाया गया है । प्राणायाम की व्याख्या करते हुए आरम्भ ही में उसमें कहा गया है ।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः ॥४६॥

अर्थात्—"श्वास के भीतर और बाहर निकलने की गति को रोकना प्राणायाम है ।" इसके आगे वे कहते हैं—

बाह्यान्यन्तरस्तंभवृत्तिर्देशकाल संख्याभिः
परिदृष्टः दीर्घ सूक्ष्मः ।

अर्थात्—" वह प्राणायाम तीन प्रकार का है बाहरी, भीतरी और रोका हुआ । जब उसे देश, काल और संख्या से युक्त कर दिया जाता है तो वह दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है ।"

प्राणायाम के लाभों का वर्णन करते हुए पातंजलि ने किसी प्रकार की शारीरिक उन्नति या स्वास्थ्य-वृद्धि की चर्चा नहीं की है वरन् कहा है कि—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥
धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

अर्थात्—"प्राणायाम के अभ्यास से रजोगुण और तमोगुण के आवरण हट कर आत्मा का प्रकाश दिखलाई पड़ने लगता है जिससे सतोगुण का आविर्भाव होता है और मनुष्य का मन (मस्तिष्क) एकाग्रतापूर्वक एक केन्द्र पर स्थिर होने की शक्ति प्राप्त कर लेता है ।" इस प्रकार पातंजलि के मतानुसार प्राणायाम किसी प्रकार की पूजा-पाठ या जप-तप से सम्बन्धित नहीं है वरन् सर्वोच्च आत्मज्ञान की प्राप्ति का एक साधन है । आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म-तत्व है और किसी प्रकार के भौतिक साधन के द्वारा उसका अनुभव प्राप्त हो सकना असम्भव है । उसको जान सकने का एकमात्र मार्ग यही है कि अपने विचारों को बाहर से हटाकर अन्तर्मुख किया जाय और एकाग्र चित्त होकर आत्मा के स्वरूप का

ध्यान किया जाय । प्राणायाम के अभ्यास में साधक का ध्यान पूर्णतः श्वास की गति को नियमित करके उसे शरीर के भीतर स्तम्भित करने में लग जाता है, जिससे एकाग्रता की वृद्धि होती है ।

इस प्रकार पातंजलि की योग पद्धति का प्रसार होने से प्राणायाम दो श्रेणियों में बँट गया । प्राचीन ढंग के साधक किसी मन्त्र या नाम अथवा ॐकार के साथ प्राणायाम करने का उपदेश देते थे और नवीन पद्धति वाले उसके अभ्यास में किसी प्रकार के मन्त्र आदि की कोई आवश्यकता नहीं समझते थे । आगे चलकर इन दोनों प्रणालियों का प्रचार दो भिन्न-भिन्न नामों से हो गया, जैसा एक लेखक के इस श्लोक से प्रकट होता है—

ध्यान मत्र समायुक्तः सगर्भः परिकीर्तितः ।
निरोधः केवल वायोरगर्भः प्राण संयमः ॥

अर्थात्—"जब प्राणायाम को ध्यान और मन्त्र सहित किया जाता है तब उसे सगर्भा कहा जाता है और जब केवल वायु का निरोध किया जाता है तब उसका नाम अगर्भा होता है ।" इस बात को 'कूर्म पुराण' में भी कहा गया है—

अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वरः ।
जप ध्यानं बिनाऽगर्भः सगर्भस्तत्पमन्वितः ॥

अर्थात्—"प्राणायाम दो प्रकार का है—एक अगर्भा और दूसरा सगर्भा । इन दोनों में से सगर्भा श्रेष्ठ है । जब उसे बिना किसी प्रकार के जप व ध्यान से किया जाता है तब वह अगर्भा कहा जाता है और जब जप-ध्यान सहित किया जाता है तब सगर्भा कहा जाता है ।"

इस प्रकार हम प्राणायाम की जो कई प्रकार की विधियाँ वर्तमान समय में देखते हैं उनका विकास हजारों वर्षों में हुआ है. । पर यदि उसके मूल रूप के सम्बन्ध में विचार किया जाय तो आरम्भिक विधि और वर्तमान तरीके में कोई तात्विक अन्तर नहीं है । जब मन्त्र अथवा जप के साथ वायु को भीतर रोक कर कुम्भक किया जाता था तब भी उससे यह लाभ होता था कि वायु फेफड़ों के भीतर भली प्रकार भर जाने से खून की शुद्धि विशेष रूप से होती थी और अब जो लोग प्राणायाम को गहरी श्वास लेने के रूप में करते हैं या उज्जायी आदि प्राणायाम की विधि से करते हैं उसमें भी कुम्भक का अंश ही मुख्य होता है जिससे वायु रक्त को शुद्ध करने और उसके समस्त शरीर में संचरण करने में सहायता देता है । जो लोग मन्त्र-जप के साथ प्राणायाम का विधान बतलाते हैं उनकी मान्यता भी इस दृष्टि से ठीक है । इस उपाय से साधारण व्यक्ति भी अपने विचारों को इधर-उधर भटकने से रोक सकते हैं और मन को सहज में एकाग्र कर सकते हैं । पर जो लोग दृढ़ चित्त वाले हैं और जिनकी मानसिक शक्ति प्रबल है वे बिना जप आदि का सहारा लिए हुए भी मन को एकाग्र और किसी भी विषय पर केन्द्रित कर सकते हैं ।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रौत-सूत्रों के युग से लगा कर पातंजलि के समय तक प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य मनुष्य आध्यात्मिक विकास रहा है, और शरीरिक लाभ उससे जो कुछ होते हों, उनकी तरफ कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया । प्राचीन काल के मनीषी भौतिक लाभों की अपेक्षा आत्मिक लाभों को महत्त्व भी अधिक देते थे, क्योंकि प्रथम प्रकार के लाभ क्षणस्थायी हैं, पर आत्मिक लाभ जन्म-जन्मान्तर तक साथ देते हैं । इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि भौतिक शक्ति आत्मिक शक्ति की अनुवर्ती है । यदि हमारी आत्मा शुद्ध और सबल बन सकी तो भौतिक लाभों के मिलने और उनकी वृद्धि होने से कोई कठिनाई नहीं हो सकती ।

भगवद् गीता में प्राणायाम

श्रीमद्भगवद्गीता के ४वें अध्याय में ईश्वर प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हुए प्राणायाम को भी आत्म-साक्षात्कार का एक मार्ग माना गया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापान गती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा ॥

—भ. गीता ४-२६

अर्थात्—"प्राणायाम में परायण अन्य योगीगण प्राण और अपान की गति को अवरुद्ध करके अपान में प्राण का हवन करते हैं और प्राण में अपान का हवन करते हैं ।" इस प्रकार की साधना करने वाले योगी भी अन्य विधियों से साधना करने वालों की तरह परमात्मा

को प्राप्त करते हैं, जैसा कि इसके आगे ही बतलाया गया है—

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपित कल्मषाः ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्त्य कुतोऽन्य कुरुसत्तमः ॥

—भ. गीता ४-३०,३१

अर्थात्—"अन्य नियमित आहार वाले योगीजन प्राणों को ही प्राणों में हवन करते हैं । इस प्रकार के यज्ञों द्वारा जिनका पाप नष्ट हो जाता है, वे सब यज्ञ के जानने वाले होते हैं । ऐसे यज्ञ द्वारा प्राप्त ज्ञानामृत का सेवन करने वाले सभी योगीजन सनातन ब्रह्म (परमात्मा) को सुख प्राप्त होते हैं । यज्ञ से रहित पुरुष न इस लोक में सुख पा सकते हैं और न परलोक में कल्याण के भागी हो सकते हैं ।"

इस प्रकार गीताकार ने स्पष्ट रूप से प्राणायाम को मुक्ति प्राप्त करने का एक साधन घोषित कर दिया है । साथ ही उन्होंने पूरक, रेचक, बाह्यकुम्भक, अन्तःकुम्भक आदि प्राणायाम के चारों अंगों का भी उल्लेख कर दिया है । जो श्वास बाहर से भीतर की तरफ खींची जाती है वह 'अपान' कहलाती है और जो भीतर से बाहर की तरफ निकाली जाती है वह 'प्राण" कही जाती है इस सिद्धान्त के अनुसार पहले "प्राण अपान में हवन करना चाहिए" अर्थात् श्वास को सामान्य क्रम में बाहर निकाल देने के बजाय उसे भीतर रोककर अभ्यन्तर कुम्भक करना चाहिए । उसके पश्चात "अपान का प्राण में हवन करना चाहिए" अर्थात् बाहर निकाली हुई श्वास को वही पर रोक कर थोड़ी देर छाती को खाली रहने देना चाहिए । ऐसा करने से बाह्य कुम्भक होता है और जब फिर श्वास भीतर ली जाती है तो फेफड़ों में भली प्रकार भर कर शरीर की शुद्धि तथा मन के विकास का कार्य अधिक शक्ति से करने लगती है ।

उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ करने में प्राचीन टीकाकारों ने 'प्राण' 'अपान' और 'गती रुद्ध्वा' का अर्थ रेचक, पूरक और कुम्भक को करके तीनों को तीन प्रकार का प्राणायाम कहा है । यह अर्थ पुराणों के मतानुसार है जिनमें विष्णु, ब्रह्मा, महेश का ध्यान करते हुए रेचक, कुम्भक और पूरक करने की विधि बतलाई गई है । पर अन्य विद्वान इन तीनों को एक प्राणायाम के रूप में ही ग्रहण करते हैं । पर इस प्रकार के अर्थ भेद से प्राणायाम की वास्तविक क्रिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

प्राणायाम का शारीरिक लाभ

अब से हजार, आठ सौ वर्ष पूर्व योग-मार्ग में एक नया परिवर्तन हुआ और राजयोग, ज्ञानयोग के स्थान में हठ-योग का प्रचार विशेष रूप से होने लगा । इसके प्रचारक मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ आदि 'नाथसम्प्रदाय' के योगी थे जिनका सिद्धान्त केवल शारीरिक क्रियाओं द्वारा समाधि की स्थिति में पहुँचना और उसी स्थिति में आत्मा का साक्षात्कार करना था । हठ योगियों ने प्राणायाम की पचासों विधियाँ भिन्न-भिन्न नाम से प्रचलित कीं । जिनके अलग-अलग शारीरिक लाभ बतलाये गए । इन विधियों में कुम्भक-क्रिया तो एक समान ही है, पर पूरक और रेचक को दाएँ और बाएँ नथुने से अथवा कभी-कभी मुँह से भी करके उन्होंने अलग-अलग प्राणायामों की कल्पना की । यद्यपि उन्होंने इस प्राणायामों का फल बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया, जमीन से उठकर हवा में अधर रहना और पानी पर चलना भी प्राणायाम द्वारा सम्भव बतलाया गया, तो भी उनका उद्देश्य प्राणायाम द्वारा शारीरिक शक्तियों का विकास ही रहा । उन्हीं के प्रचार-कार्य से आज प्राणायाम सर्व साधारण के लिए व्यवहार की क्रिया बन सका है और इसका प्रचार भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी होने लगा है । यूरोप, अमेरिका और एशिया के भी कितने ही विद्वानों ने भी प्राणायाम और व्यायाम का संयोग करके स्वास्थ्य सुधार की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित की हैं । हमारे देश में, विशेषतया महाराष्ट्र में 'सूर्य नमस्कार' द्वारा आसन, प्राणायाम और व्यायाम का समन्वय किया गया है, जिसका अनुसरण करने से स्वास्थ्य वृद्धि में चमत्कारी परिणाम दिखलाई पड़ता है । जापान में डॉ. शोजाबुरो ओटेव ने 'दी साइन्स एण्ड आर्ट ऑफ ब्रीदिंग' में अपना अनुभव प्रकट करते हुए लिखा है कि "जब मैं पाँच वर्ष का था तभी से निर्बलता का अनुभव करने लगा और तरह-तरह की बीमारियों का मेरे ऊपर आक्रमण होने लगा । मेरी बायीं जाँघ में भयंकर व्रण हो गया जिसका ऑपरेशन करके हड्डी के तीन टुकड़े निकाल दिए गए । इस

बीमारी के कारण मैं और भी कमजोर हो गया और दूर से ही पीला और रक्तहीन दिखाई देने लगा । मेरे अभिभावकों ने बहुत कुछ इलाज कराया, पर मेरी जीवनी-शक्ति का निरन्तर ह्रास होता गया और ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं कुछ समय में दुनिया से कूँच कर जाऊँगा । संयोगवश एक दिन एक व्याख्यान में सुना कि प्राणायाम द्वारा गहरी साँस लेकर ऑक्सीजन प्राप्त करके फेफड़ों को मजबूत बनाया जा सकता है । इससे जीवनी-शक्ति की वृद्धि होगी और बीमारियों को मिटाया जा सकेगा । उसी दिन से मैंने प्राणायाम आरम्भ कर दिया । कुछ ही समय में मुझे उससे कुछ लाभ प्रतीत होने लगा और मैं पूरे विश्वास और श्रद्धा के साथ उसमें लग गया । एक वर्ष के भीतर ही मेरी छाती का घेरा चार इंच बढ़ गया । तब डॉक्टरों से जाँच कराई तो उन्होंने बताया कि अब फेफड़े इतने मजबूत हो गए हैं कि तपेदिक या क्षय आदि जैसी बीमारी का कुछ भी नहीं है । अब मैं प्राणायाम का कट्टर भक्त हूँ और मेरा दृढ़ विश्वास है कि उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए यह एक संजीवनी-विद्या है ।"

यूरोप में जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक इमेंनुअल केंट ने, जिन्हें पैदा हुए लगभग २०० वर्ष हो गए, प्राणायाम के महत्त्व को बतलाते हुए यह घोषित किया था कि साँस लेने की प्रक्रिया को ठीक कर लेने से अनेक कठिन रोग सहज में दूर किए जा सकते हैं । इंग्लैण्ड के लेफ्टिनेण्ट जे. पी. मुलर ने अपनी "माई ब्रीदिंग सिस्टम" नामक पुरतक में प्राणायाम की समयानुकूल, सहज विधियों का स्कूलों में अभ्यास कराये जाने पर जोर दिया है । उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि इंग्लैण्ड के अधिकांश अध्यापक स्वयं ही प्राणायाम की विधियों और लाभों से अपरिचित हैं । अमेरिका के प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक डॉक्टर बर्नर मैकफेडन ने गहरी साँस लेने के रूप में प्राणायाम पर बहुत जोर दिया है । उनका कहना है कि स्वास्थ्य की रक्षा और वृद्धि का यह प्रथम मूलमन्त्र है । इसी कारण अब संसार के सभी देशों में प्राणायाम का महत्त्व स्वीकार किया जा चुका है और अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न रूपों और नामों से उसके द्वारा लाभ उठाया जा रहा है ।

भारतवर्ष की तो यह एक प्राचीन निधि है । आज से हजारों वर्ष पूर्व यहाँ के सभी सुसंस्कृत व्यक्ति वन, उपवन, पर्वत, नदी आदि के निकट मनोरम स्थलों में बैठकर त्रिकाल संध्या के रूप में नित्य प्रति प्राणायाम का अभ्यास करते रहते थे, जिनके फलस्वरूप वे रोगों से अधिकांश में मुक्त रहते थे और जीवन के अन्तिम दिन तक उत्तम स्वास्थ्य और शक्ति का उपभोग करते रहते थे । यहाँ के बालकों को आरम्भ में गुरुकुलों के आचार्य गुरुमन्त्र के रूप में गायत्री का उपदेश देते थे और उसको नित्यप्रति प्राणायाम के साथ जपने का विधान बतलाते थे । वर्तमान समय में जब कि देश का प्राकृतिक वातावरण बहुत बदल गया है और बड़े-बड़े शहरों तथा घनी बस्तियों में निवास करने के कारण शुद्ध वायु के अभाव से लोगों के स्वास्थ्य की हानि हो रही है, खुले हुए स्थानों में बैठकर प्राणायाम करने का प्रचार किया जाय तो वह समाज हित की दृष्टि से बहुत आवश्यक और लाभदायक सिद्ध होगा इसमें सन्देह नहीं ।

प्राणायाम के सम्बन्ध में कुछ स्फुट बातें

प्राणायाम शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा तथा वृद्धि के लिए एक उपयोगी विधान है । उसमें किसी बाह्य उपकरण अथवा व्यय आदि की कुछ भी आवश्यकता नहीं पड़ती और लाभ की दृष्टि से वह वैद्यों तथा डॉक्टरों की बहुमूल्य शक्तिवर्द्धक औषधियों (टॉनिकों) तथा पश्चिमी व्यायाम पद्धति के खर्चीले यान्त्रिक साधनों से कहीं बढ़कर और स्थायी फलदायक है । इसलिये सभी श्रेणी के व्यक्तियों—पुरुष, स्त्री तथा बालकों को भी उसके प्रयोग की सलाह दी जा सकती है । पर इसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अनेक पुराने ढर्रे वालों की तरह इसको गुप्त अथवा गृहत्यागी साधु-सन्तों के काम की ही चीज न समझ ली जाय । ऐसे लोग अनेक बार अनजान व्यक्तियों को झूठी-सच्ची बातें सुनाकर भ्रम में डाल दिया करते हैं, अथवा कोई उल्टी-सीधी विधि बतलाकर हानिकर मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे दिया करते हैं । हमने यहाँ जो विधियाँ बतलाई हैं, वे योग सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थों अथवा अनुभवी योगियों की कही हुई हैं । इसलिये उनका प्रयोग करने में किसी प्रकार का भय नहीं है, तो भी यह एक ऐसा विषय है जिसका अभ्यास क्रमशः ही बढ़ाना चाहिए

और अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों—दुर्बलता अथवा शक्ति सम्पन्नता, स्वस्थता अथवा रुग्णता, बन्धनग्रस्तता अथवा स्वच्छन्दता आदि का तालमेल बैठा लेना चाहिए प्राणायाम जिस प्रकार विधिपूर्वक करने से शारीरिक, मानसिक और अन्त में आत्मिक क्षेत्र में भी कल्याणकारी सिद्ध होता है, उसी प्रकार उल्टे-सीधे ढंग से करने पर उसमें कई प्रकार की हानियाँ भी हो सकती हैं । खासकर अतिवादी (हर एक कार्य को तुरन्त और अधिकाधिक परिमाण में करने के इच्छुक) प्रकृति के लोगों के हाथों में पड़कर वह अनेक प्रकार के दोष और खराबियों को उत्पन्न करने वाला बन सकता है । इसलिये नीचे हम कुछ ऐसे सामान्य नियमों को बतलाना चाहते हैं, जिनका ध्यान रखने से मनुष्य इस प्रकार की अनेक भूलों से बच सकता है—

(१) प्राणायाम करने का स्थान स्वच्छ, हवादार शान्तिमय और पवित्र हो । प्राकृतिक स्थान, नदी सरोवर का तट, पहाड़ आदि उत्तम हैं । फिर भी स्वच्छ हवादार कमरे या छत पर भी काम चलाया जा सकता है । दुर्गन्ध, सीलन, धुआँ, धूल युक्त स्थान पर प्राणायाम करने से हानि भी हो सकती है ।

(२) ध्यानात्मक आसन सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, वीरासन, योगासन, सुखासन, कमलासन, वज्रासन आदि की स्थिति में बैठकर प्राणायाम करने चाहिए । खासकर इस बात का ध्यान रखा जाय कि मेरुदण्ड गर्दन कमर, छाती को सीधा रखें । इससे ही अनुकूल लाभ मिल सकेंगे ।

(३) केवल पुस्तकों के आधार पर अथवा देखादेखी प्राणायाम नहीं करें । इससे प्राणायाम की सही विधि में भूल रह सकती है जिससे हानि की सम्भावना भी रहती है । अनुभवी जानकार से सीखकर प्राणायाम करना आवश्यक है ।

(४) प्राणायाम से पर्याप्त लाभ उठाने के लिए आहार विहार का सन्तुलन, व्यवस्थित जीवनक्रम होना आवश्यक है । जीवन की मर्यादाओं का व्यतिरेक करने पर किसी भी अभ्यास से लाभ नहीं मिलता ।

(५) प्राणायाम के लिए प्रातः सायं का समय उपयुक्त है । भोजन करने के ४ घण्टे बाद ही प्राणायाम किया जाय । खाली पेट प्राणायाम करना चाहिए, पर बहुत ज्यादा भूख लग रही हो तब प्राणायाम नहीं करना चाहिए ।

(६) प्राणायाम के अभ्यास करने वाले का भोजन हल्का सात्विक, स्निग्ध, पेय आदि है । इस तरह रोटी, साग, दूध, घी, दलिया, चावल, खिचड़ी, फल (सूखे भी) आदि उत्तम हैं ।

(७) किसी तीव्र रोग ज्वरादि की स्थिति में गर्भवती, स्त्रियों को प्राणायाम का अभ्यास करना वर्जित है । इससे हानि की सम्भावना रहती है ।

(८) सर्दी के मौसम में सीत्कारी, शीतली, चन्द्रभेदी, शीतकार आदि प्राणायामों का अभ्यास नहीं करना चाहिए । किन्तु पित्त प्रधान प्रकृति वाले इन्हें सर्दी में भी कर सकते हैं ।

(९) गर्मी के मौसम में, भास्त्रिका, अग्नि प्रदीप्त, मुख प्रसारण पूरक, सूर्य भेदन, सर्वांग स्तम्भ, एकांग स्तम्भ आदि प्राणायाम नहीं करने चाहिए । पर कफ प्रधान प्रकृति वाले इन्हें हिमालय आदि ठण्डे स्थानों पर कर सकते हैं ।

(१०) अशक्त और निर्बल शरीर के लोगों का भस्त्रिका, अग्निप्रदीप्त, एकांग एवं सर्वांग स्तम्भ आदि प्राणायाम नहीं करने चाहिए ।

(११) शीतली, सीत्कारी, शीतकार, कंठ वायु, उदर पूरक, प्लावती आदि प्राणायाम वात प्रधान प्रकृति के लोग न करें ।

(१२) मन की एकाग्रता के लिए तथा चित्त की चंचलता, विक्षिप्तावस्था को दूर करने के लिए षन्मुखी रेचक, भ्रामरी सवद्वार वद्ध, सूक्ष्म श्वास-प्रश्वास आदि प्राणायाम करना हितकर रहता है ।

(१३) शरीर के बल एवं सामर्थ्य की वृद्धि के लिए भस्त्रिका, एकांग स्तम्भ, सर्वांग स्तम्भ, वायवीय कुम्भक आदि प्राणायाम करना चाहिए ।

(१४) शक्ति वर्धन एवं भारी काम करने के प्राणायामों में भोजन विशेष रूप से पौष्टिक, स्निग्ध और सुपाच्य लेना चाहिए ।

(१५) शारीरिक कष्ट मानसिक द्वन्द्व के समय चिन्ता, क्रोध, भय, शोक आदि की अवस्था में प्राणायाम नहीं करना चाहिए ।

(१६) प्राणायाम के अभ्यासी को सदैव नाक से श्वास लेने की आदत डालनी चाहिए, मुँह से नहीं ।

(१७) ब्रह्मचर्य के पालन का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है ।

(१८) पेट को हल्का और मल रहित रखने का प्रयत्न करना आवश्यक है । इससे प्राणायाम के अभ्यास में सुगमता और सिद्धि मिलती है ।

(१६) प्राणायाम के अभ्यास के बाद १५-२० मिनट या जितना बने विश्राम अवश्य ले लेना चाहिए ।

(२०) तीनों बन्धों को आवश्यकतानुसार अवश्य लगाना चाहिए ।

(२१) प्राणायाम करते समय छाती को फुलाना चाहिए इससे फेफड़े और अवयवों को विकास के लिए काफी सहायता मिल जाती है ।

श्वसन क्रिया में नासिका का महत्त्व

कई लोग मुँह से साँस लेते हैं किन्तु यह आदत अस्वाभाविक, अप्राकृतिक होने से अहितकर होती है । श्वास लेने के लिए प्रकृति ने नासापुटों का निर्माण किया है । प्राणायाम के अभ्यासियों को नाक से श्वास लेने का अभ्यासी होना आवश्यक है ।

(१) मनुष्य के श्वास-प्रश्वास संस्थान, फुफ्फुस, श्वास नलिकायें आदि अत्यन्त ही कोमल और मूल्यवान होते हैं । थोड़ी बहुत भी मलयुक्त वायु, कीटाणुओं धूल आदि से इन्हें भारी नुकसान होता है । ऐसी स्थिति में इसकी आवश्यकता है कि अन्दर खींचे जाने वाली वायु छनकर जाय । इसके लिए नाक में पर्याप्त व्यवस्था है वायु स्थित मल, कीट, धूल आदि नाक के बालों से छनकर जाते हैं । इसके पश्चात आन्तरिक क्षेत्र में श्लेष्मा जैसे स्रवित द्रव में उक्त दूषित पदार्थ चिपक जाते हैं और वायु पूर्णरूपेण छनकर जाती है । मुँह से श्वास लेने पर वायु जैसी की तैसी अवस्था में श्वास संस्थान, फुफ्फुसों, वायु नलिकाओं तक पहुँच जाती है और इससे क्षय, दमा, खाँसी आदि फेफड़ों सम्बन्धी कई बीमारियों पैदा हो जाती हैं ।

(२) वायु एक निश्चित ताप की अवस्था में ही अन्दर जाने पर श्वास-संस्थान ठीक रहता है । यदि शरीर से अधिक कम ताप की वायु अन्दर चली जाय तो फुफ्फुसों की श्लेष्मिक कला में शोथ उत्पन्न होकर उन्हें निर्बल बना देगी, जिससे कोई भी कीटाणु अपनी जड़ सरलता से जमा लेते हैं । मुँह से हवा जैसी ताप की होती है उसी अवस्था में अन्दर चली जाती है और वह अस्वास्थ्यकर होती है । नासिका में इसके लिए ऊपरी भाग में तीन टेढ़ी-मेढ़ी सुरंगें सी बनी हैं । वहाँ रक्त का संचार बड़ा तीव्र होता है । ली हुई वायु इन सुरंगों में जाकर फैल जाती है और वहाँ उष्ण रक्त के सम्पर्क में आकर गर्म हो जाती है । इस तरह शीत वायु भी एक निश्चित ताप में अन्दर जाती है । प्रकृति की इसी सुविधा के कारण ठण्डे और शीत प्रधान देशों में रहना सम्भव होता है । अतः नाक से श्वास लेने पर वायु के तापमान का सन्तुलन हो जाता है । ताप के साथ वायु तर भी होती है, नहीं तो शुष्क वायु से खुश्की अनुभव होने लग जाती है ।

(३) मुँह से श्वास लेने पर बिना परिमाण के एक साथ तेजी से वायु खींच ली जाती हैं, वस्तुतः श्वास धीरे-धीरे और लम्बी लेना आवश्यक है । इसके लिए नाक उपयुक्त साधन है । नाक से एक ठीक परिमाण में क्रमशः श्वास-प्रश्वास क्रिया होती है । इस तरह नाक से श्वास-प्रश्वास करने पर परिमाण और गति में स्वाभाविकता होती है, नियन्त्रण प्राप्त होता है ।

(४) नासिका से ही श्वास छोड़ने पर श्वांस लेते समय बालों में फँसे हुए कीट धूल आदि बाहर निकल जाते हैं । मुँह से इस तरह की क्रिया नहीं होती ।

(५) नासिका से गन्ध का ज्ञान होता है । अतः ऐसी वायु जो दुर्गन्धयुक्त और गन्दी हो उससे बचा जा सकता है । मुँह से श्वास लेने पर गन्ध का ज्ञान नहीं होता ।

अतः श्वास-प्रश्वास नाक द्वारा करना ही आवश्यक है । मुँह से श्वास-प्रश्वास की क्रिया सर्वथा वर्जित है ।

प्राणायाम से होने वाली भूलें और उनका सुधार

प्राणायाम एक ठोस वैज्ञानिक क्रिया है । उसे विधिवत् किया जाय तो ठीक-ठीक परिणाम प्राप्त होते हैं, किन्तु कुछ भूलें करने अथवा पूर्ण विधि, के अभाव में इससे लाभ के बजाय हानि भी हो जाती है ।

खास कर निम्न भूलें करने पर प्राणायाम से लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना रहती है ।

(१) **प्राणायाम की पूर्व तैयारी करना**—किसी भी काम को करने से पूर्व उसकी पूर्व-तैयारी अर्थात् उसके उपयुक्त बनना, साधन जुटाना आवश्यक है । प्राणायाम के सम्बन्ध में भी उसकी पूर्व तैयारी, प्रारम्भिक क्षमता प्राप्त करना आवश्यक है । प्राणायाम के योग्य बनने पर ही प्राणायाम शुरू किया जाय । पूर्व तैयारी के बिना योग्य अनुभवी से सीखकर प्राणायाम करने पर भी किसी तरह का लाभ नहीं मिलता । प्राण की गति पृष्ठदेश में स्थित इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना में मुख्य रूप से होती है । साथ ही शरीर की विभिन्न नस-नाड़ियों में भी प्राण का प्रवाह चलकर समस्त शरीर से ओत-प्रोत होता है । प्राण प्रवाह की मुख्य प्रेरक केन्द्र तीनों नाड़ियाँ हैं उन्हीं में प्रवाहित होकर वह चक्रों तक पहुँच कर उन्हें जाग्रत करता है । किसी भी वस्तु की निर्बाध गतिशीलता के लिए मार्ग स्वच्छ और रुकावटों से रहित होना चाहिए । तीनों नाड़ियों में प्राण की गति के लिए इनकी पूर्ण शुद्धि और निर्बाध होना आवश्यक है । प्राणायाम के समय प्राण की गति ब्रह्मरन्ध्र तक होने के लिए नाड़ियों का निर्दोष होना आवश्यक है । जब नाड़ियों में मल या दोष एकत्र होते हैं तो प्राण की गति इन मलों से अवरुद्ध हो जाती है या वेग के कारण जब इन्हें टक्कर देकर प्राण आगे निकल जाते हैं तो हानि होती है । इससे जो प्राण आगे निकल गए वे दोषों के अवरोध के कारण वहीं रुक जाने से विकृति उत्पन्न कर देते हैं । जिससे अधिक हानि होने की सम्भावना रहती है । योग शास्त्र में कहा गया है—

"मला कलासु नाड़ीषु मारुतौ नैव मध्यगः ।"

दोष युक्त-मलों से दूषित नाड़ियों में प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट नहीं होते । अतः एक यह नियम है ।

"शुद्धमेति यदा सर्व नाड़ी-चक्रं मलाकुलम्
तदैव जायते योगी प्राण-संग्रहणे क्षमः ॥"

अर्थात्—दोषों, मलों से रहित होकर नाड़ी चक्र के विशुद्ध हो जाने पर ही योगी प्राणायाम का अभ्यास करने में समर्थ होता है ।

नाड़ी शुद्धि के लिए पहली सीढ़ी आसन, न्यौली वस्ती आदि क्रियाओं को नियमित रूप से करना है । इनसे शरीर की शुद्धि और स्वास्थ्य सुधार के साथ ही शरीर की नस-नाड़ियों की पूर्णरूपेण शुद्धि हो जाती है ।

इनके अतिरिक्त कुम्भक के बिना केवल रेचक पूरक वाला नाड़ी शुद्धि प्राणायाम करना चाहिए । नाड़ी शुद्धि होने पर प्राण स्थिर होने से कुम्भक स्वाभाविक ही होने लगता है । ऐसी स्थिति में कुम्भक करने की इच्छा अपने आप ही होने लगती है । फिर धीरे-धीरे प्राणायाम के विभिन्न अभ्यास करने चाहिए ।

(२) **बिना सीखे प्राणायाम करना**—कई लोग केवल पुस्तकों के पढ़े अनुसार या दूसरों के देखादेखी प्राणायाम करने लगते हैं यह एक बड़ी भूल है । इससे प्राणायाम की क्रिया में गलतियाँ हो जाती हैं और उससे स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है । अनुभवी जानकार से सीखे बिना प्राणायाम करने पर हानि की सम्भावना रहती है । अतः इस तरह के प्राणायाम करने पर कोई हानि हो तो उसे प्राणायाम की हानि नहीं वरन् अपनी भूल का परिणाम समझना चाहिए ।

पुस्तकें भी अयोग्य लोगों द्वारा लिख दी जाती हैं । उनमें प्राणायाम की ठीक जानकारी नहीं होती, केवल पुस्तक व्यवसाय की दृष्टि से ही उनको लिखा और बेचा जाता है । ऐसी पुस्तकों से गलत निर्देश पाकर कितने ही अनजान लोग अपने हाथों अपनी हानि कर लेते हैं ।

(३) **प्रकृति के अनुकूल प्राणायाम न करना**—कई प्राणायाम ऐसे हैं जो उष्णता पैदा करते हैं जैसे भस्त्रिका, उर्ध्व भस्त्रिका, अग्नि प्रदीप्त, सूर्यभेदन, आदि । इसके विपरीत शीतली, सीत्कारी, शीतकारी, चन्द्रभेदी आदि प्राणायाम, शीत उत्पन्न करते हैं । जिनकी प्रकृति उष्ण हो और वे उष्णता उत्पन्न करने वाले प्राणायामों का अभ्यास करें तो हानि होना स्वाभाविक ही है । ग्रीष्म ऋतु में तो इनसे भयंकर हानि हो सकती है । इसी तरह जिनकी शीत प्रकृति है और वे शीत उत्पन्न करने वाले प्राणायाम करेंगे तो हानि होगी । अतः अपनी प्रकृति के अनुसार अनुकूल पड़ने वाले आसन प्राणायाम करने चाहिए । उष्ण प्रकृति वालों को शीत गुण वाले आसन करने चाहिए और शीत प्रकृति वालों को उष्णता उत्पन्न करने वाले । गर्मी के मौसम में उष्णता और शीत में शीत उत्पन्न करने वाले प्राणायाम नहीं करने चाहिए ।

(४) बन्ध और आसनों की जानकारी का अभाव—विभिन्न प्राणायाम भिन्न-भिन्न आसनों में जो उनके अनुकूल होते हैं और जिनसे प्राणायाम की क्रिया में लाभ मिलता है, करने का विधान है । जब प्राणायाम बताये गए निश्चित आसनों में न करके मनचाहे जैसे किए जाते हैं तो उससे लाभ नहीं मिलता । इतना ही नहीं आसन की गड़बड़ी से प्राण प्रवाह में उत्पन्न रुकावट से हानि की भी सम्भावना रहती है । विभिन्न आसनों में शरीर की नस-नाड़ियाँ एक खास स्थिति में होती हैं । उनमें प्रवाहित प्राण खास स्थानों पर ही प्रभाव डाल कर वैसे परिणाम पैदा करता है । अतः प्राणायाम के अभ्यासी के लिए आसनों की जानकारी होना आवश्यक है ।

प्राणायाम में उड्डयन, जालन्धर, मूलबन्धों की बड़ी महत्ता है । बन्धयुक्त प्राणायाम विशेष परिणाम पैदा करते हैं । कौन-से प्राणायाम में कौन-सा बन्ध लगाना चाहिए इसके ज्ञान के अभाव में हानि भी हो सकती है ।

(५) अनुपयुक्त आहार—प्राणायाम के अभ्यास करने वाले का भोजन पौष्टिक, सुमधुर, हल्का, सात्विक और अल्प होना चाहिए । योगी के भोजन के लिए लिखा है—

पुष्टं सुमधुरं, स्निग्धं धातु प्रपोषणम् ।
मनोऽभिलषितं योग्यं योगी भोजन माचरेत् ॥

अर्थात्—"योगी को सदैव पुष्ट मधुर, स्निग्ध धातुओं के पोषण करने वाले, रुचिकर और प्रकृति अनुकूल भोजन करना चाहिए ।"

भोजन के सम्बन्ध में इस तरह का ध्यान न रखने वाले भी प्राणायाम के लाभ से वंचित रह जाते हैं । प्राणायाम करने पर जठराग्नि प्रदीप्त होती है, भूख खूब लगती है । ऐसी अवस्था में सात्विक पौष्टिक स्निग्ध भोजन मिलें तब उससे शरीर पुष्ट और स्वस्थ बनता है । धातुओं की वृद्धि होती है । इसके विपरीत कच्चा, रूखा, बासी, अधिक खाने, पर जठराग्नि विकृत हो जाती है और मन्द हो जाती है । शरीर की धातुएँ भी क्षीण और दूषित होकर सारा शरीर दोषयुक्त होकर दुर्बल, क्षयग्रस्त होने लगता है । अतः प्राणायाम के अभ्यासी का भोजन उपयुक्त होना चाहिए । त्याज्य पदार्थों जैसे चाय, बीड़ी, तम्बाकू, नशीली वस्तुएँ, सड़े-गले मसालों वाले, उष्ण, खट्टे, चरपरे, आमिष भोजन का त्याग कर देना चाहिए ।

(६) असंयमित जीवन—प्राणायाम के अभ्यासी का जीवनक्रम आहार-विहार संयमित व्यवस्थित होना चाहिए । भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—

युक्ताहारं विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

"उपयुक्त आहार-विहार, उचित कर्म करने वाले, उपयुक्त नींद लेने वाले प्रबुद्ध चित्त लोगों के लिए योग दुःखों को दूर करने वाला है । असंयमी, आहार-विहार में व्यतिरेक करने वाले लोगों के लिए प्राणायामादि योग अति कठिन और दुष्प्राप्य" बतलाते हुए कहा है ।

"असयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।"

अतः जो लोग प्राणायाम के साथ संयम से नहीं चलते, जीवन की मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं, उनके लिए लाभ के स्थान पर हानि होना स्वाभाविक ही है । खास कर वीर्यरक्षा, ब्रह्मचर्य का पालन प्राणायाम के अभ्यासी के लिए आवश्यक है । प्राणायाम से शरीर में उष्णता पैदा होती है यदि शरीर में वीर्य आदि सुरक्षित और पर्याप्त मात्रा में होते हैं तो यह उष्णता उसे विशेष निर्दोष बनाकर तेज, कान्ति, ओज में परिणत कर देती है । यदि काम वासना के व्यतिरेक से धातुएँ दुर्बल और अल्प हैं तो प्राणायाम की गर्मी उन्हें सुखाकर शरीर को कृश और निस्सार बना देती है । शरीर सूखा निस्तेज, अशक्त बन जाता है ।

(७) कई बार कठिन व्यायामों में अथवा गलत विधि से किए गए प्राणायाम में गहरा श्वास लेकर रोका जाता है । छाती में वायु भरके उसे बड़े जोर से रोकना पड़ता है । इस भारी कार्य में प्राण-वायु के संचार और कार्बन के निष्कासन की क्रिया बन्द-सी हो जाती है । साथ ही फुफ्फुसों पर अत्यधिक तनाव पड़ने से उनकी क्षति होती है और उनसे सम्बन्धित सूक्ष्म शिराओं में रक्त संचार के क्रम में अव्यवस्था उत्पन्न होती है । फुफ्फुसों में रक्त संचार बन्द हो जाने से हृदय के पास गन्दा रक्त, जिसकी शुद्धि फुफ्फुसों में होनी थी अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाता है और उसका दबाव हृदय कोष और उनकी दीवारों पर पड़ता है । इससे कई तरह की हृदय सम्बन्धी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं । अतः अपनी क्षमता और अभ्यास

से अधिक भारी व्यायाम, विधिहीन गलत ढंग से करना हानिकारक है ।

कई लोग जो अपने आपको अधिक स्वस्थ और शक्तिशाली अनुभव करते हैं और इसी भ्रम में वे ऐसे कामों को भी यदा-कदा कर बैठते हैं जिनमें अधिक बल की आवश्यकता होती है । किन्तु उनका हृदय और स्नायु संस्थान उसका अनभ्यस्त होने से इस प्रकार के आकस्मिक बल प्रदर्शन से बड़ी शारीरिक हानि होती है । हृदय को अचानक अधिक कार्य करना पड़ता है जिससे कई हृदय सम्बन्धी बीमारियाँ पैदा हो जाती हैं । हृदय की गति बन्द होने से उनकी मृत्यु तक हो जाती है । स्नायु संस्थान में विकृति पैदा होना बड़ी हानिकर बात है ।

(८) व्यायाम के समय अथवा प्राणायाम के अभ्यास में कई लोग यह भूल करते हैं कि वे उथले श्वास लेते हैं, जिससे फेफड़ों के ऊपरी भाग के फुफ्फुस ही काम में आते हैं और शेष काम में नहीं आने से नष्ट अथवा दूषित हो जाते हैं । वहाँ कई प्रकार की बीमारियों के कीटाणु अपना घर कर लेते हैं । इसके अतिरिक्त श्वास और हृदय की धड़कन में एक विशेष अनुपात रहता है । उथले श्वास ऑक्सीजन की पूर्ति के लिए जल्दी-जल्दी लेने पड़ते हैं इस तरह जल्दी-जल्दी श्वास क्रिया के साथ हृदय के धड़कन की संख्या भी बढ़ती है और उसे अधिक कार्य करना पड़ता है जिससे हृदय अपना सन्तुलन खो देता है और उसमें विकृति पैदा हो जाती है ।

(९) प्राणायाम के अभ्यासी को प्रारम्भ में कई तरह के विपरीत अनुभव होते हैं, किन्तु इनसे भयभीत होकर अपने अभ्यास का क्रम नहीं तोड़ना चाहिए । इनमें खासकर चक्कर आना प्रमुख है । इसका कारण यह है कि गहरे श्वास से दिमाग का रक्त हृदय की ओर प्रवाहित होता है । रक्त वाहक संस्थान इतना तीव्र और चुस्त नहीं होने से तत्काल मस्तिष्क में रक्त नहीं पहुँचता इससे मूर्छा चक्कर आना आदि अनुभव होता है । नियमित रूप और क्रमशः अभ्यास करते रहने पर १५-२० दिन बाद यह कठिनाई दूर हो जाती है ।

प्राणायाम कब शुरू किया जाय ?

प्राणायाम की आवश्यकता और महत्त्व को जानते हुए प्रत्येक युवा वृद्ध बालक के लिए प्राणायाम करना उपयोगी है । प्राणायाम के अभ्यास शुरू करने के लिए आठ वर्ष की उम्र उत्तम है । आठ वर्ष की आयु से विधिवत् प्राणायाम शुरू किया जाय और धीरे-धीरे उसका अभ्यास बढ़ाया जाय तो १०-१२ वर्ष की उम्र तक प्राणायाम की अच्छी तरह सिद्धि हो जाती है । इन्द्रियों का स्वामित्व और मन का संयम भी इससे प्राप्त होता है । यह ध्यान रखा जाय कि संख्या धीरे-धीरे बढ़ाई जाय । उत्साह में आकर प्रारम्भ में ही अधिक बढ़ा देना हानिकर सिद्ध हो सकता है । श्वास सम्बन्धी संस्थान फेफड़े, हृदय आदि बड़े कोमल होते हैं । साधारण से अनावश्यक दबाव से इनमें काफी टूट-फूट हो जाती है । व्यायाम करने पर अंग दुःखने लगते हैं क्योंकि उनमें टूट-फूट होने से दोष पैदा हो जाता है । कुछ समय के अभ्यास के बाद ऐसा नहीं होता क्योंकि वे मजबूत हो जाते हैं । यही बात फेफड़ों के साथ है । इसके लिए तो और भी ध्यान रखना चाहिए, क्योंकि ये बहुत ही कोमल होते हैं ।

(१) साधारणतया लोग प्राण-वायु को अन्दर खींचना, स्थिर करना, निकालना, आदि श्वास-प्रश्वास को ही प्राणायाम मानते हैं, किन्तु यह गलत है । वायु ही प्राण नहीं है । सूर्य के द्वारा विश्वव्यापी प्राण-शक्ति वायु में स्थिर की जाती है, जिसका वायु से भी सूक्ष्म रूप होता है । जिस तरह भौतिक देह में आत्मा की चैतन्य सत्ता सूक्ष्म रूप से विराजमान है उसी तरह वायु में प्राण स्थित है । इस तरह की जानकारी के अभाव में प्राणायाम का पर्याप्त लाभ नहीं मिलता । प्राणायाम करते समय इस तरह की भावना करनी चाहिए कि मैं (श्वास के साथ) विश्वव्यापी दिव्य प्राण को अपने अन्दर धारण कर रहा हूँ जो मेरी प्रत्येक नस-नाड़ियों में, शरीर के प्रत्येक अंग में प्रवाहित हो रहा है । जिसके प्रभाव और प्रसार में मेरे सारे दोष कषाय-कल्मष दूर हो रहे हैं । इस तरह की भावना के साथ किए हुए प्राणायाम से पर्याप्त लाभ मिलता है ।

(२) प्राणायाम के सम्बन्ध में नाक का महत्त्वपूर्ण स्थान है । यह प्रवेश द्वार है । किले के प्रवेश द्वार का महत्त्व कौन नहीं जानता ? इसी तरह नाक प्राणायाम के लिए नहीं सम्पूर्ण श्वास-प्रश्वास की क्रिया के लिए महत्त्वपूर्ण है ।

नासिका ही श्वास-प्रश्वास का मुख्य स्थान है । कई लोग मुँह से श्वास-प्रश्वास लिया करते हैं यह बड़ी गलत बात है और अनेक रोगों को नियन्त्रण देना है । अतः सभी लोगों को खासकर प्राणायाम के अभ्यासी को नाक से ही श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करना आवश्यक है । माँ-बाप को बचपन से ही अपने बच्चों के लिए इसका ध्यान रखना चाहिए क्योंकि बचपन की आदतें ही आगे जाकर स्थिर हो जाती हैं, उन्हें छुड़ाना मुश्किल हो जाता है । मुँह से श्वास लेने पर जुकाम खाँसी, क्षय, दमा, आदि कई रोग हो सकते हैं ।

नासिका को स्वच्छ रखें—किसी भी मार्ग की रुकावट से आवागमन की क्रिया बन्द हो जाती है । इसी तरह नाक के अवरुद्ध हो जाने पर श्वास-प्रश्वास की गति में रुकावट आ ज़ाना स्वाभाविक है । अतः नाक को स्वच्छ रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न करना चाहिए । इसके लिए नाक को पानी से भली-भाँति धोकर उससे पानी पीने का अभ्यास करना चाहिए । कुएँ का या नल का ताजा जल एक कटोरी में लेकर नाक के अन्दर खींचने का प्रयत्न करना चाहिए । प्रारम्भ में धीरे-धीरे कम मात्रा में पानी खींचते हुए अभ्यास करना चाहिए । यह बहुत सुगम है, अभ्यास करने पर धीरे-धीरे आदत पड़ जाती है । जिन्हें नक्सीर बहती हो, तो नाक के विकार हों, उन्हें नाक से पानी पीना बहुत ही लाभप्रद रहता है । सिरदर्द, नासिका रोग, खुश्की, सुस्ती आदि भी इससे दूर हो जाते हैं । नासिका की शुद्धि से श्वास-प्रश्वास की क्रिया में सुगमता रहती है ।

जिनकी नाक जुकाम आदि के कारण बन्द हो उन्हें एक मुलायम कपड़े की डोरी-सी बनकर नाक में चलानी चाहिए । इससे छींकें आयेंगी और नाक सफा हो जायेगी । नाक साफ करने के लिए नसवार, तम्बाकू आदि का कभी उपयोग नहीं करना चाहिए, इससे हानि होती है ।

प्राणायाम सहित कुछ सरल व्यायाम

जो लोग प्राणायाम से केवल शारीरिक लाभ ही उठाना चाहते हैं, उनके लिए सबसे अच्छी विधि सरल व्यायाम के साथ श्वास को खींचना और निकालना (पूरक और रेचक) करना है । इन व्यायामों में कोई विशेषता नहीं होती और ये पूर्णतः स्कूलों में लड़कों को कराई जाने वाली 'ड्रिल' की तरह ही होते हैं । दोनों में अन्तर यही है कि स्कूली ड्रिल में साँस के आवागमन पर कोई खास ध्यान नहीं दिया जाता, जबकि इन व्यायामों में बराबर श्वास को खींचने और निकालने (पूरक और रेचक) पर पूरा ध्यान दिया जाता है और नियम का पालन किया जाता है । इसके फलस्वरूप श्वास यन्त्र (फेफड़े) और हृदय की शक्ति बढ़ती है और बाहरी अंगों के साथ भीतरी अवयवों में भी मजबूती आती है ।

(१) व्यायाम करने के स्थान पर सीधे खड़े हो जायें, पैरों से सिर तक सारा शरीर एक सीध में खड़ा रहे । दोनों हाथों को तने हुए सामने ऊपर की ओर उठायें और धीरे-धीरे ऊपर ले जायें । सिर के ऊपर जाने पर धड़ भी पीछे झुकने लगेगा, किन्तु कमर से नीचे का भाग बिल्कुल सीधा रहे । हाथों को ऊपर उठाकर पीछे को ओर जितना झुकाया जा सके झुकायें । इसी क्रिया के साथ धीरे-धीरे पूरक करते जायें । ज्यों-ज्यों हाथ ऊपर उठते जायें उसी के साथ पूरक से धीरे फुफ्फुस वायु से भरते जायेंगे ।

जब हाथ पूर्ण रूपेण पीछे जहाँ बने झुकाये जायें उससे आगे फिर हाथों को वापस सामने लौटाया जाय । स्मरण रहे हाथ तने हुए रहें । दोनों हाथों को क्रमशः धीरे-धीरे झुकाते हुए भूमि पर टिका दें । पैर, हाथ, धड़ आदि सीधे रहेंगे कहीं से मुड़ेंगे नहीं । इसी क्रिया के शुरू होने के साथ रेचक करना शुरू करें और जमीन पर हाथ टिकने तक फुफ्फुसों से सम्पूर्ण वायु रिक्त हो जाय । दोनों हाथ पैर भूमि पर टिकी अवस्था में ही बाह्य कुम्भक करें । अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसी अवस्था में रहें ।

दोनों क्रियाओं से इस व्यायाम की पूर्णता होती है । दोनों मिलाकर कम से कम चार-पाँच बार यह व्यायाम करें और धीरे-धीरे बढ़ाते रहें ।

(२) सीधे खड़े हो जायें । पंजे खुले हुए रखें । एड़ियाँ मिली रहें । दोनों हाथ कमर पर रख लें । पंजों के बल भूमि से ऊपर उचकें । फिर उसी स्थान में आ जायें फिर पूर्व स्थिति में हो जायें ।

इसी तरह दूसरी विधि के अन्तर्गत उछलते हुए दोनों पंजों को चौड़ा करें और उसी अवस्था में भूमि पर स्थित करें । ऐसी हालत में लगभग डेढ़ फुट का अन्तर रहे । फिर उछलकर पूर्व स्थिति में आ जायें ।

इसी तरह कई बार करें। यह अभ्यास तीव्रगति से करना चाहिए। इसी बीच श्वास-प्रश्वास भी गहराई के साथ लिए जायें।

(३) दोनों पैरों के बीच में लगभग डेढ़ फुट का अन्तर रखकर खड़े हो जायें। दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँध लें। कोहनियों पर से हाथों को मोड़ते हुए वेगपूर्वक कन्धों से स्पर्श करें। दोनों कोहनियाँ धड़ से ८-८ इन्च दूर रहेंगी। तदन्तर वेगपूर्वक दोनों भुजाओं को ऊपर की ओर तान दें। मुट्ठियाँ पूर्ववत् बँधी रहेंगी। हाथों का अन्तर भी इसी तरह रहेगा। इस स्थिति में गहराई के साथ रेचक करें।

अब भुजाओं को तेजी के साथ ऊपर से नीचे की ओर लाकर प्रथम स्थिति में आ जायें। इसके साथ ही गम्भीरता से पूरक करें। इस व्यायाम को कई बार करें।

(४) सीधे खड़े रहें। दोनों हाथ की मुट्ठियाँ बाँधे और उन्हें वेगसहित शक्तिपूर्वक पार्श्व भाग में उठाकर कन्धों की सीध मैं स्थित करें। मुट्ठियाँ बँधी रहेंगी। इनके साथ ही पूरक करें। इसके बाद दोनों हाथों को वेगपूर्वक नीचे गिरा दें और कड़े करके बगलों में स्थित करें। इनके साथ रेचक करें।

(५) दोनों मुट्ठियों को बलपूर्वक सामने लायें और इसी के साथ रेचक करें। मुट्ठियाँ सामने एक सीध में, हाथ तने हुए रहेंगे। इसके बाद दोनों हाथों को बलपूर्वक कन्धों की सीध में दोनों पार्श्व में स्थित करें। मुट्ठियाँ बन्द रहेंगी इसके साथ ही पूरक करें। इस क्रिया को कई बार करें।

सर्वोपयोगी प्राणायाम

जिन पाठकों ने इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक पढ़ा होगा वे अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्राणायाम को चाहे एक धार्मिक कृत्य मानें चाहे योग साधन का एक अंग समझकर अभ्यास करें अथवा शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उसको अपनायें, वह प्रत्येक अवस्था में मनुष्य के लिए लाभदायक और हितकारी है। कारण यही है कि वायु, शुद्ध वायु ही हमारे जीवन का आधार है। यदि उसकी कमी होगी अथवा वह हमको दूषित रूप में मिलेगी तो हमारे स्वास्थ्य का खराब होना अनिवार्य है और उसके फलस्वरूप हमारा आर्थिक, मानसिक पतन होना भी निश्चित है। यही कारण है कि बड़े शहरों में जो लोग चारों तरफ से घिरे और बन्द स्थानों में रहने को बाध्य होते हैं उनका और उनके परिवार वालों का स्वास्थ्य कभी ठीक नहीं रहता और उनको प्रायः दीन-हीन अवस्था में ही जीवन व्यतीत करना पड़ता है। स्वास्थ्य का सही ढंग से श्वास लेने से कितना अधिक सम्बन्ध है इसका विवेचन करते हुए एक लेखक ने लिखा है—

"श्वास ही जीवन है। एक मनुष्य कुछ समय तक बिना भोजन के रह सकता है पर बिना श्वास-प्रश्वास के नहीं रह सकता। जब हम श्वास लेते हैं तो वायु हमारे शरीर में प्रविष्ट होती है और उस वायु में ऑक्सीजन मिली रहती है जो हमारे जीवन को स्थिर रखने वाला तत्व है। अगर हवा में ऑक्सीजन न हो तो समस्त प्राणी जीवन-रहित हो जायेंगे। ऑक्सीजन एक ऐसा तत्व है जो जलने में सहायता देता है, और यह धीरे-धीरे अपने भीतर जलना ही 'जीवन' का मुख्य चिह्न है।"

हमारी देह के समस्त अवयव और छोटे से छोटे अंश भी निरन्तर ऑक्सीजन के सम्पर्क में रहते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमारी देह के भीतर एक जलने की प्रक्रिया सदैव होती रहती है और कितने ही बेकार अथवा मृत अंश अथवा अणु हर समय जलते रहते हैं। इसी से हमारे भीतर सदैव उतनी गर्मी बनी रहती है जितनी शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होती है। इसके अतिरिक्त हमारा रक्त सदैव नस और नाड़ियों में चलते हुए वहाँ की गन्दगी को इकट्ठा करके फेफड़ों में पहुँचाया करता है। वहाँ ऑक्सीजन ही उस कूड़ा कवाड़ की सफाई करके उसे फिर जीवनदायक रूप में परिवर्तित करती है।

इसका आशय यह नहीं कि ऑक्सीजन ही प्राण है। नहीं, प्राण एक अन्य शक्ति है जो हमें विविध कार्यों के करने की सामर्थ्य और शक्ति देती है और हमारे जीवन क्रम को ठीक चलाने में सहायक होती है। यही कारण है कि आज से 'हजारों' वर्ष पूर्व भी अथर्ववेद के ऋषि ने कहा था—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूत सर्वस्येश्वरो यास्मिन्त्सर्व प्रतिष्ठितम्॥

—११-४-६)

अर्थात्—"यह सब जगत जिसके वश में (अधीन) है, जो प्राण सबका ईश्वर, भूतात्मा है, जिसमें यह सारा जगत प्रतिष्ठित है, उस प्राण को हम नमस्कार करते हैं ।"

"वृहदारण्यक" में भी प्राण को भगवान के तुल्य ही माना है ।

"कतम एकोदेव इति प्राणा इति"

अर्थात्—"एकदेव कौन-सा है ? वह प्राण ही है ।"

बस, जो लोग प्राण के इस रूप को हृदयंगम करके श्रद्धा और विश्वासपूर्वक 'प्राणायाम' करेंगे, वे अवश्य अपना शारीरिक, मानसिक और आत्मिक कल्याण साधित करेंगे ।

प्राण की विविध धाराएँ एवं उनके सम्वर्धन की प्रक्रिया

प्राणायाम मात्र श्वास-प्रश्वास नहीं एक विज्ञान समस्त मानसोपचार प्रक्रिया है । प्राण का स्थूल ऑक्सीजन तत्व नहीं वरन् उसकी कारण शक्ति का ही परिणाम होता है कि इस प्रक्रिया को करने के बाद साधक स्वयं को अधिक शान्त मनःस्थिति में पाता है । विधिपूर्वक खींचा गया श्वास शरीर स्थित प्राण के भण्डार में वृद्धि करता है तथा मस्तिष्क के शक्ति केन्द्रों को जागृत कर सामान्य को असामान्य बनाने तथा रोगी मनःस्थिति वाले के विकारों का शमन करने में सहायक सिद्ध होता है । इस सम्बन्ध में योग-विद्या के ज्ञाताओं का कथन है कि ऐसा करने से प्राण मस्तिष्क के स्नायुओं तथा नाड़ी केन्द्र को चक्रउपत्यिकाओं में उसी प्रकार जमा हो जाता है जैसे स्टोरेज बैटरी में संग्रहीत विद्युत समयानुसार काम आती है । अपनी योग दृष्टि से विश्लेषण कर आप्त पुरुषों ने 'प्राण' को पाँच उपविभागों तथा ५ उपप्राणों में विभाजित किया है । ऐसा माना जाता है कि प्राण शरीर प्राणमय कोष इन्हीं दत्त के सम्मिश्रण से बनता है ।

मुख्य प्राण ५ हैं—(१) अपान, (२) समान, (३) प्राण, (४) उदान, (५) व्यान । उपप्राणों को—(१) देवदत्त, (२) कृकल, (३) कूर्म, (४) नाग, (५) धनंजय नाम दिया है ।

शरीर क्षेत्र में इन प्राणों के क्या-क्या कार्य हैं ? इसका वर्णन आयुर्वेद शास्त्र में इस प्रकार किया गया है—

(१) **अपान**—अपनयति प्रकर्षेण मलं निस्सारयति अपकर्षति च शक्तिम् इति अपानः ।

अर्थात्—जो मलों को बाहर फेंकने की शक्ति से सम्पन्न है वह अपान है । मल-मूत्र, स्वेद, कफ, रज, वीर्य आदि का विसर्जन भ्रूण का प्रसव आदि बाहर फेंकने वाली क्रियाएँ इसी अपान प्राण के बल से सम्पन्न होती हैं ।

(२) **समान**—रसं समं नयति सम्यक् प्रकारेण नयति इति समानः ।

अर्थात्—जो रसों को ठीक तरह यथास्थान ले जाता है और वितरित करता है वह समान है । पाचक रसों का उत्पादन और उनका स्तर उपयुक्त बनाये रहना इसी का काम है ।

पातंजलि योग सूत्र के पाद ३ सूत्र ४० में कहा गया है—"समान जयात् प्रज्वलम्" अर्थात् समान द्वारा शरीर की ऊर्जा एवं सक्रियता ज्वलन्त रखी जाती है ।

(३) **प्राण**—प्रकर्षेण नयति प्रकर्षेण वा बलं ददाति आकर्षति च शक्तिं स प्राणः ।

अर्थात्—जो श्वास, आहार आदि को खींचता है और शरीर में बल संचार करता है वह प्राण है । शब्दोच्चार में प्रायः इसी की प्रमुखता रहती है ।

(४) **उदान**—उन्नयति यः उद्आनयति वा उदानः ।

अर्थात्—जो शरीर को उठाये रखे, कड़क रखे, गिरने न दे वह उदान है । ऊर्ध्वगमन की अनेकों प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्रियाएँ इसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं ।

(५) **व्यान**—व्याप्नोति शरीरं यः स व्यानः ।

अर्थात्—जो सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त है—वह व्यान है । रक्त संचार, श्वास-प्रश्वास, ज्ञान-तन्तु आदि के माध्यम से यह सारे शरीर पर नियन्त्रण रखता है । अन्तर्मन की स्वसंचालित शारीरिक गतिविधियाँ इसी के माध्यम से सम्पन्न होती हैं ।

पाँच उपप्राण इन्हीं पाँच प्रमुखों के साथ उसी तरह जुड़े हुए हैं जैसे मिनिस्टरों के साथ सेक्रेटरी रहते हैं, प्राण के साथ नाग, अपान के साथ कूर्म, समान के साथ कृकल, उदान के साथ देवदत्त और व्यान के साथ धनंजय का सम्बन्ध है । नाग का कार्य वायु संचार, डकार, हिचकी, गुदा वायु । कूर्म का नेत्रों के क्रिया-कलाप, कृकल का भूख-प्यास देवदत्त का जँभाई, अँगड़ाई, धनंजय को हर अवयव की सफाई जैसे कार्यों का उत्तरदायी बताया गया है, पर वस्तुतः वे इतने छोटे कार्यों तक ही सीमित नहीं हैं । मुख्य प्राणों की प्रक्रिया को सुव्यवस्थित बनाये रखने में उनका पूरा योगदान रहता है । महाप्राणों को ओजस् व उपप्राणों को रेतस् भी कहा गया है ।

इसी वर्गीकरण का उद्धरण गीता के चौथे अध्याय में भी मिलता है जहाँ श्रीकृष्ण प्राण की व्याख्या करते हुए अर्जुन से कहते हैं—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापान गती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा ॥

—गीता ४-२९

अर्थात्—"प्राणायाम में परायण अन्य योगीगण प्राण और अपान की गति को अवरुद्ध करके अपान में प्राण का और प्राण में अपान का हवन करते हैं ।" इस प्रकार की साधना करने वाले योगी भी अन्य विधियों से साधना करने वालों की तरह परमात्मा को प्राप्त करते हैं जैसा कि इसके आगे ही बतलाया गया है—

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपित कल्मषाः ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तमः ॥

—गीता ४-३०-३१

अर्थात्—"अन्य नियमित आहार करने वाले योगीजन प्राणों को ही प्राणों में हवन करते हैं । इस प्रकार से यज्ञों द्वारा जिनका पाप नष्ट हो जाता है, वे सब यज्ञ के जानने वाले होते हैं । ऐसे यज्ञ द्वारा प्राप्त ज्ञानामृत का सेवन करने वाले सभी योगीजन सनातन ब्रह्म (परमात्मा) को प्राप्त होते हैं । यज्ञ से रहित पुरुष न इस लोक में सुख पा सकते हैं और न परलोक में कल्याण के भागी हो सकते हैं ।"

इसकी व्याख्या करने से स्पष्ट करने से होता है कि जो श्वास बाहर से भीतर की तरफ खींची जाती है वह प्राण कहलाती है और जो भीतर से बाहर की तरफ निकाली जाती है, वह 'अपान' कही जाती है । इस सिद्धान्त के अनुसार पहले 'प्राण' को 'अपान' में हवन करना चाहिए अर्थात् श्वास को सामान्य क्रम में बाहर निकाल देने के बजाय उसे भीतर रोककर अन्तः कुम्भक करना चाहिए । उसके पश्चात "अपान का प्राण में हवन करना चाहिए" अर्थात् बाहर निकाली श्वास को वहीं रोककर थोड़ी देर छाती खाली रहने देना चाहिए । ऐसा करने से बाह्य कुम्भक होता है । जब फिर श्वास भीतर ली जाती है तो वह फेफड़ों में भली प्रकार प्रवेश कर शरीर शुद्धि तथा मनःशक्ति के विकास का कार्य सम्पूर्ण सामर्थ्य के साथ करने लगती है ।

प्राणायाम को अध्यात्म साधनाओं में अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है । मनःशोधन-विकारों के शमन के अतिरिक्त शरीर रूपी प्राण को ब्रह्माण्ड व्यापी महाप्राण से जोड़ने में प्राणधारण की साधक की सामर्थ्य बढ़ाने एवं उसे साधना के उच्चतर आयामों में पहुँचाने में प्राणायाम साधना को विशेष स्थान दिया गया है । इसमें क्रिया को अधिक नहीं, उस चिन्तन को प्रधानता दी जाती है जो हर बार प्रत्येक क्रिया के साथ दुहराया जाता है ।

इच्छा, भावना और संकल्प की विशेषताएँ जुड़ जाने से क्रियाओं का महत्त्व और प्रतिफल कई गुना अधिक बढ़ जाता है । सामान्य-सी दिखाई देने वाली क्रिया भी चमत्कारी फल देने वाली सिद्ध होती है जबकि उपरोक्त विशेषताओं के अभाव में पूरे किए गए क्रिया-कलापों का वह लाभ नहीं मिल पाता जैसी कि अपेक्षा की गई थी । भावना और संकल्प का चमत्कार तो सर्वत्र देखा और अनुभव किया जा सकता है । एक-सी क्रियाएँ पूरी करते हुए भी परिणाम में भारी अन्तर दृष्टिगोचर होता है । शरीर की दृष्टि से श्रम एक मजदूर भी करता है और एक पहलवान भी । पर एक अपना स्वास्थ्य गँवाता रहता है जबकि दूसरा बलिष्ठता एवं समर्थता का लाभ प्राप्त करता है । स्थूल दृष्टि से आहार आदि की अतिरिक्त विशेषता मानकर सन्तोष किया जा सकता है पर बात ऐसी है नहीं, एक

जैसा आहार दोनों के लिए जुटा दिया जाय तो भी मजदूर किसी प्रकार अपना स्वास्थ्य भले ही सन्तुलित रख लें, पहलवान की भाँति अतिरिक्त सामर्थ्य अर्जित कर लेने में समर्थ नहीं हो पाता ।

इस अन्तर की खोजबीन करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि मात्र क्रियाओं को पूरा कर लेना ही पर्याप्त नहीं है । उसमें भावना और संकल्प का पुट नहीं जुड़ा तो अभीष्ट परिणाम निकलना संदिग्ध ही बना रहेगा । अपेक्षाकृत पहलवान से अधिक श्रम करते हुए भी मजदूर द्वारा सामर्थ्य अर्जित न कर पाने का एक ही कारण होता है कि उसकी क्रियाओं में संकल्प और भावना का समावेश नहीं होता फलतः यह बलिष्ठ बनने का लाभ नहीं प्राप्त कर पाता । जबकि पहलवान की प्रत्येक क्रिया अपने लक्ष्य के लिए भावना एवं संकल्प से अनुप्राणित होती है । फलस्वरूप वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल रहता है ।

साधनात्मक क्षेत्र में क्रियाओं से भी अधिक महत्त्व भावना, इच्छा संकल्प का है । प्रायः देखा भी जाता है कि एक जैसे विधि-विधान साधना के पूरे करते हुए भी एक व्यक्ति चमत्कारी सामर्थ्य अर्जित कर लेता है जबकि कोई विशेष लाभ नहीं उठा पाता । साधना के परिणामों में भारी अन्तर का कारण स्पष्ट है । जिसे भावना एवं संकल्प के होने के रूप में समझा जा सकता है । प्रत्येक साधनात्मक क्रिया-कलापों के साथ यही नियम लागू होता है ।

प्राणायाम के चमत्कारी परिणामों का वर्णन योग-ग्रन्थों में मिलता है । उसे अनेकों प्रकार की सिद्धियों का एक समर्थ माध्यम माना गया है । योगियों में विलक्षण सामर्थ्य विकसित हो जाने का वर्णन पढ़ा, सुना और देखा जाता है । यह संकल्प युक्त प्राणायाम की ही परिणति होती है । उनमें अनेकों प्रकार की शक्तियाँ प्राण के संचय करते रहने से विकसित हो जाती हैं । वे इस तथ्य से भलीभाँति परिचित होते हैं कि प्राण का विपुल भण्डार सर्वत्र भरा पड़ा है, पर जीवधारी मात्र उस भण्डार से जीवन-यापन करने की आवश्यकता पूरी करने योग्य अल्पमात्रा ही उससे प्राप्त कर पाते हैं । जिस प्रकार बूँद-बूँद के मिलने से घड़ा भरता है, उसी तरह योगी प्राण-तत्व का संचय और अभिवर्धन करते रहते हैं तथा असाधारण शक्ति के स्वामी बन जाते हैं ।

प्राण-तत्व की प्रचुरता भौतिक सफलताओं का कारण बनती है और आध्यात्मिक प्रगति की भी । भौतिक जीवन में प्राणवान व्यक्ति का सर्वत्र वर्चस्व होता है । व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादक क्षमता सहज ही अपने अनुयायियों, सहयोगियों एवं समर्थकों की संख्या बढ़ाती है । जीवट सम्पन्न ही संसार में विजय हासिल कर पाते तथा कुछ महत्त्वपूर्ण कहा जाने योग्य काम कर पाते हैं । मनोबल, संकल्पबल की दृढ़ता प्राण-तत्व के आधार पर ही बनती है जो हर भौतिक सफलताओं का आधार बनती है । आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्राणवान ही सफल हो पाते तथा कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ अर्जित कर पाते हैं । कुछ को यह सम्पदा जन्म-जन्मान्तरों की साधना के फलस्वरूप अनायास भी जन्मजात प्राप्त होती है, पर विशिष्ट साधना प्रक्रिया अपनाकर हर कोई प्राण के लहलहाते महासागर में से अपनी झोली भर सकता और प्राणसम्पन्न बन सकता है ।

प्राणयोग की उच्चतर सिद्धिदात्री साधनाएँ

'प्राण' हवा से—ऑक्सीजन से भी सूक्ष्म है । वह एक प्रकार की सचेतन बिजली है जो समूचे ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है । प्राणी उसी के सहारे अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं । उसका सन्तुलन बिगड़ते ही बलिष्ठ काया को भी तत्काल मृत्यु के मुख में जाना पड़ता है । प्राण का तात्पर्य है—जीवट, साहस, प्रतिभा, ओजस्, तेजस्, वर्चस् । यह जिसमें जितनी मात्रा में होता है, उसकी प्रखरता, तेजस्विता उसी अनुपात से उभरती है । महामानवों, सिद्ध पुरुषों में प्राणचेतना की बहुलता ही उनके प्रति आकर्षण का केन्द्र रहती है । दीर्घायुष्य इसी की देन है ।

प्राणवान बनने के लिए लोक व्यवहार में भी कई उपाय हैं, पर अध्यात्म विज्ञान के अनुसार प्राण विद्या के सहारे ही इस क्षेत्र में बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकता है । प्राण उपचार के, प्राण प्रयोग के कितने ही मार्ग हैं, जिनका संकेत प्रश्नोपनिषद् में सूक्ष्म विवेचना

के साथ किया गया है । संक्षेप में वह साधना ''प्राणायाम'' की प्रक्रिया द्वारा सधती है । विज्ञात प्राणायामों की संख्या चौरासी है । अविज्ञात इससे भी अधिक हो सकते हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करने, साधकों को प्राणवान बनाने के उद्देश्य से कुछ ऐसे निर्धारण चुने गए हैं जो सर्वसुलभ हैं और जिनके प्रयोग से लाभ तो बहुत हैं, किन्तु कोई भूल रहने पर भी हानि होने की तनिक भी आशंका नहीं है ।

वस्तुतः प्राणायाम की योग साधना की लगभग प्रत्येक धारा में पर्याप्त महत्त्व दिया गया है । यह विद्या भारतीय योगियों की एक अतिविशिष्ट खोज है । यह सृष्टि विभिन्न स्तर के प्राण प्रवाहों से भरी हुई है । साधक उसे सहज ही प्राप्त कर सकता है, किन्तु प्राण-शक्ति ठहरती उतनी ही मात्रा में है जितने को धारण करने की साधक में क्षमता है । प्राणायाम से साधक की प्राण धारण करने की और उसको प्रयुक्त करने की क्षमता का विकास होता है ।

भौतिक विज्ञान की सीमा तीन आयामों—लम्बाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई या गहराई तक है । परन्तु वे अध्यात्म विज्ञान में इनके अतिरिक्त और भी आयाम हैं । उनमें से एक प्राण का आयाम भी है । इस आयाम से युक्त व्यक्ति देखने में काया की दृष्टि से छोटा भी हो सकता है पर उसकी प्राण सम्पदा अद्भुत होती है । दो बैट्रियाँ एक आकार की दिखे भलें, पर उनमें विद्युत विभव (इलैक्ट्रिक चार्ज) संग्रहीत करने की क्षमता में भारी अन्तर हो सकता है । दो एक से दिखने वाले जेनरेटरों को जब घुमाया जाता है तो अंदर की बाइण्डिंग के भेद से उनसे पैदा होने वाली बिजली में भारी अन्तर हो सकता है । प्राणायाम से साधक का अन्तःतन्त्र श्रेष्ठ बैट्री एवं श्रेष्ठ जेनरेटर के स्तर को बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता है ।

प्राणायाम साधना द्वारा साधक के शरीर में संव्याप्त सीमित प्राण का संयोग ब्रह्माण्ड व्यापी महाप्राण से होता है । इस संयोग से शरीरस्थ प्राण का नवीनीकरण हो जाता है । किसी यन्त्र में भरा हुआ जल कालान्तर में दूषित होने लगता है । ऐसा सिर्फ इसलिये होता है कि वह सीमित क्षेत्र में कैद है । उसे मुक्त जल प्रवाह से जोड़ दिया जाय । ऐसा करने से यन्त्र पुनः शुद्ध जल से युक्त होकर पूर्ण क्षमता से कार्य करने लगता है । प्राणायाम साधना द्वारा कुछ इसी प्रकार का लाभ साधक को प्राप्त होता है ।

प्राण को चेतन ऊर्जा कहा जाता है । भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत ऊर्जा के अनेक रूप हैं । उनमें विद्युत ऊर्जा का ऐसा रूप है जिसे एक स्थान पर से दूसरे स्थान ले जाने तथा ऊर्जा के किसी भी अन्य रूप में रूपान्तरित करने में सबसे अधिक सुविधा रहती है । चेतन जगत में ऐसी ही क्षमता प्राण की है । इसके माध्यम से योगी शरीर के अन्दर से लेकर ब्रह्माण्ड के सुदूर क्षेत्रों तक इच्छित प्रयोग करने में समर्थ होता है । प्राण-शक्ति का सम्पादन पुरुषार्थ से भी किया जाता है और अनुदानों से भी वह प्राप्त होती है । उसे धारण करने की क्षमता के विकास में प्राणायाम से पर्याप्त सहायता मिलती है ।

प्राणायाम का सम्बन्ध मनुष्य के स्वास्थ्य और आरोग्य से भी है । शरीर के अन्दर जो भी हलचलें चलती हैं उसमें प्राण की भूमिका विभिन्न रूपों में होती है । मानव शरीर में पाँच महाप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान) जिन्हें ओजस् कहते हैं तथा पाँच लघुप्राण (नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय), जिन्हें रेतस् कहते हैं का निवास होता है प्रत्येक की भिन्न-भिन्न भूमिकायें हैं, पर है यह एक ही महाशक्ति के अंग हैं । शरीर की सूक्ष्म संरचना एवं कार्य विधि की सक्षमता एवं व्यतिरेक पर ही आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य का स्वरूप बनता है । प्राण के इन स्वरूपों में किसी भी प्रकार का असन्तुलन शरीर को भी प्रभावित करता है । इसीलिये प्राणविद्या एवं प्राणायाम विज्ञान की आवश्यकता एवं महत्ता साधकों को बतलाई जाती है।

प्राणायाम की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित हैं । उन प्रणालियों को यदि वर्गीकृत किया जाय तो वह तीन मुख्य वर्गों में बाँटी जा सकती हैं—(१) सूक्ष्म व्यायाम के रूप में जिसे पाश्चात्य जगत में डीप ब्रीदिंग एक्सर्साइज कहते हैं । (२) श्वास को तालबद्ध करने का अभ्यास इससे शरीरस्थ प्राण को सशक्त बनाना तथा उसे अपने नियन्त्रण में लाना सम्भव होता है । (३) प्राणाकर्षण प्रयोग इस माध्यम से अन्तरिक्ष के प्राण भण्डार से प्राणानुदान प्राप्त किए जा सकते हैं । इनकी विशेषताओं के विवरण इस प्रकार हैं—

(१) सूक्ष्म व्यायाम—इसके अन्तर्गत गहरे श्वास-प्रश्वास के अभ्यास से लेकर, ऋतुओं एवं साधक की प्रकृति के अनुरूप अनेक प्रकार के प्राणायाम आते हैं । यह सब साधक के शरीर की क्षमता बढ़ाने एवं आरोग्य के लिए उपयोगी हैं । यही रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध करने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंग में चैतन्यता प्रवाहित करने वाली एवं पाचन क्रिया को सुसन्तुलित बनाये रखने वाली है । इसके अन्तर्गत, शीतली, शीत्कारी, सूर्यवेधन, उज्जायी, भस्त्रिका कपाल-भाति आदि प्राणायाम में आते हैं । गहरे श्वास-प्रश्वास की क्रियाएँ भी इसी की परिधि में आती हैं ।

(२) तालयुक्त श्वास द्वारा मनुष्य आरोग्य के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म लाभ भी प्राप्त कर सकता है । हठ योग के अभ्यासों की यह कुंजी है । प्रकृति के अन्तराल में ताल की ही व्यापकता है यदि अनन्त चैतन्य शक्ति को समुद्र मान लिया जाय तो—हमारा शरीर एक छोटी खाड़ी की तरह है जो समुद्र के ज्वार भाटों से सतत प्रभावित होती रहती है । तालयुक्त श्वास द्वारा सारा शरीर प्रकृति की स्फुर्णाओं, स्पन्दनों के साथ चलने लगता है । शरीर का, सुर ठीक हो जाने पर वह शरीर के किसी भी भाग में अधिक नाड़ीबल प्रवाहित कर सकता है जिससे शरीर को अधिक शक्ति मिल सके । तालयुक्त श्वास लेने में योगी का नियम यह है कि श्वास और प्रश्वास दोनों में मात्राएँ समान रहें । श्वास को भीतर रोकने तथा श्वासों के बीच बिना श्वास के रहने की मात्राएँ श्वास और प्रश्वास की मात्राओं से आधी रहें । थोड़े अभ्यास और धैर्य से साधक रूप की गति के साथ शरीर गतिमान होते अनुभव कर सकता है ।

(३) प्राणाकर्षण की प्रक्रिया द्वारा जो हर उम्र के साधक अपने अन्दर प्राण-तत्व की मात्रा को निरन्तर बढ़ाता जा सकता है । साधना स्थली पर सुविधापूर्वक आसन में पूरक, अन्तःकुम्भक, रेचक एवं बाह्य कुम्भक के सुपरिचित अभ्यासों के साथ जुड़ी भावनाओं द्वारा यह अभ्यास किया जा सकता है ।

व्यायाम के रूप में प्रयुक्त प्राणायाम साधक अपनी रुचि एवं अभ्यास के अनुसार कर सकते हैं । ब्रह्मवर्चस साधना काल में आवश्यकतानुसार साधकों को वह विधियाँ बताई जाती हैं । जिन्हें रुचि है वे किसी जानकारी से इन्हें सीख और कर सकते हैं । उसमें चार क्रियाएँ होती हैं ।

(१) पूरक-श्वास अन्दर खींचना, (२) अन्तःकुम्भक श्वास को अन्दर रोकना, (३) रेचक-श्वास बाहर निकालना, (४) बाह्य कुम्भक । व्यायाम परक प्राणायामों में बाह्य कुम्भक अनिवार्य नहीं होता । रेचक पूरी तरह करके ही अगला प्राणायाम प्रारम्भ कर दिया जाता है । तालबद्ध प्राणायाम और प्राण प्रयोग के प्राणायामों में बाह्य कुम्भक अनिवार्यतः किया जाता है ।

व्यायाम परक प्राणायामों में पूरक कुम्भक रेचक की कई तरह की मात्राएँ चलतीं हैं । सबके लिए सुगम मात्रा १:२:१ रहती है । अर्थात् जितने में पूरक उससे दूना अन्तःकुम्भक एवं उतने में ही रेचक किया जाय ।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं । विविध प्रयोगों के लिए उसकी विभिन्न प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं । उन सबके अपने-अपने विधान और अपने-अपने लाभ हैं । उन सबका उल्लेख यहाँ न करके केवल पाँच निर्धारणों का उल्लेख किया जा रहा है । यह सरल भी है, बेजोखिम भी और सर्वसाधारण के लिए उपयोगी भी ।

रक्त नाड़ियों के साथ-साथ प्राण प्रवाह भी चलता है । जिस प्रकार नालियों में कीचड़ जम जाती है, उसी प्रकार इन प्राण नाड़ियों में भी अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं । इन्हें साफ न किया जाय तो प्राण संचार प्रक्रिया अवरुद्ध होती है । इसलिये सर्वप्रथम नाड़ी-शोधन प्राणायाम करने का विधान है । इस अभ्यास के साथ-साथ प्राणाकर्षण प्राणायाम भी चलाया जा सकता है और तीसरा सूर्यवेधन प्राणायाम भी । सूर्य से प्राण-शक्ति आकर्षित करने और अपने में धारण करने की यह विधियाँ एक-एक करके या समन्वित रूप से भी की जा सकती हैं ।

प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम समय प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त का है । कारण यह है कि उस समय अन्तरिक्ष में प्राण-तत्व का प्रवाह अत्यन्त तीव्र होता है तथा विशिष्ट प्रकार की चैतन्य धाराएँ सूक्ष्म केन्द्रों से समूचे

ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती हैं । करने को तो कभी भी प्राणायाम किया जा सकता है, उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, पर प्रातःकाल जैसा लाभ अन्य समय में नहीं मिल पाता । अस्तु प्राणायाम के लिए सबसे श्रेष्ठ समय प्रातःकाल को ही माना गया है । पाँचों प्राणायामों का वर्णन आगे किया जायेगा ।

इनमें से नाड़ी-शोधन को एक प्रकार से आयुर्वेदोक्त पंचकर्म के समतुल्य माना जा सकता है । शारीरिक मलों के निष्कासन में वमन, विरेचन, स्वेदन, स्नेहन, नस्य के पाँच उपाय अपनाये जाते हैं और विभिन्न अवयवों में भरे हुए संचित मलों को निकाल बाहर किया जाता है । इसके उपरान्त ही बलवर्धक रसायन पूरी तरह काम करते और प्रभाव दिखाते हैं । नाड़ी-शोधन प्राणायाम का भी सूक्ष्म क्षेत्र में वही प्रभाव पड़ता है । पंचकर्म में प्रत्यक्ष मल इन्द्रिय छिद्रों से होकर निकलते हैं । नाड़ी-शोधन प्राणायाम में बड़ी बात सूक्ष्म मलों का निष्कासन करने के रूप में शवासन क्रिया के माध्यम से सम्पन्न होती है ।

प्राणाकर्षण प्राणायाम में ब्रह्माण्ड-व्यापी प्राण-तत्व से अपने लिए जिस स्तर का प्राण आवश्यक होता है, उसे खींचा जाता है । प्राण की अनेक धाराएँ जिस प्रकार वायु में ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, कार्बन आदि अनेकों रासायनिक सम्मिश्रण रहते हैं उसी प्रकार संव्याप्त प्राण चेतना में भी ऐसे तत्व घुले हुए हैं जो विभिन्न स्तर के हैं और विभिन्न प्रकार के प्रयोजनों में प्रयुक्त होते हैं । उनमें से जिसकी जितनी मात्रा आवश्यक हो उसे उस अनुपात में खींचकर अपने किसी अंग विशेष में प्रतिष्ठापित किया जा सकता है । इसकी पद्धति प्रक्रिया और विधा कल्पसाधना काल में बताई जाती है ।

सूर्यवेधन प्राणायाम में प्रकाशपुंज को आर-पार करने की प्रक्रिया बनती है । चीरते हुए गुजरने में मध्यवर्ती ऊर्जा के साथ सम्पर्क बनता है और सतही प्रभाव के हल्कापन से उलझे रहने के स्थान पर अन्तराल में पायी जाने वाली प्रखरता के साथ जुड़ने की बात बनती है । सूर्य को इस विश्व का प्राण माना गया है । सविता सचेतन प्राण ऊर्जा केन्द्र है ।

नाड़ी-शोधन प्राणायाम से सूक्ष्म शरीर का परिशोधन, परिमार्जन

आत्मिक प्रगति में मानसिक ही नहीं शारीरिक अवयवों की मलीनता एवं निष्क्रियता भी बाधक बनती है । स्थूल अंग-प्रत्यंगों के परिशोधन के लिए आसन, व्यायाम, बन्ध, मुद्रा के विविध योगिक उपचारों का वर्णन योग ग्रन्थों में आता है । जो शरीर को स्वस्थ और निरोग रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । सूक्ष्म शरीर नाड़ी-गुच्छकों से बना होता है । इन उपचारों की पहुँच उस तक नहीं होती । उसके परिष्कार के लिए प्राणायाम की विशिष्ट प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । प्राण प्रक्रिया द्वारा नाड़ी-शोधन होने से प्राण संचार की व्यवस्था ठीक बनती तथा मलीनताजन्य निष्क्रियता दूर होती है । फलतः आत्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है । पर यह तथ्य सदा स्मरण रखा जाना चाहिए कि योग ग्रन्थों में प्रयुक्त किया गया नाड़ी शब्द शरीर शास्त्रियों द्वारा बताये गए नसों के लिए नहीं, नाड़ियों के सम्पर्क से चलने वाले प्राण प्रवाह के लिए उपयुक्त किया गया है ।

शरीर शास्त्रियों के अनुसार शारीरिक नाड़ी संस्थान में जब गड़बड़ी होती है तो रक्त संचार में बाधा पहुँचती है तथा कई प्रकार के व्यतिरेक उत्पन्न होते हैं । ऐंठे अकड़े नाड़ी तन्तु रक्त का दबाव ठीक प्रकार न सह सकने के कारण दर्द से पीड़ित रहते हैं । संचार व्यवस्था में व्यतिरेक से शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग को समुचित परिमाण में रक्त की मात्रा नहीं मिल पाती । फलतः वे भी अशक्तता की स्थिति में अपना काम भली-भाँति पूरा नहीं कर पाते । शरीर की गन्दगी का, विजातीय तत्वों का निष्कासन न हो तो भीतर ही भीतर विषाक्तता बढ़ती है तथा क्रमशः जीवनी शक्ति घटती है । विषाक्तता के बढ़ने तथा जीवनी शक्ति के घटने से ही विविध रोगों का आक्रमण होता है तथा मनुष्य दुर्बल और रुग्ण बनता चला जाता है । ठीक इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर की विद्युत नाड़ियों में गड़बड़ी उत्पन्न होने से भी ठीक ऐसी ही अव्यवस्था उत्पन्न होती है । इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि

टेलीफोन अथवा बिजली के तारों से कहीं मध्यवर्ती अवरोध उत्पन्न हो जाने पर विद्युत प्रवाह रुकता तथा सप्लाई बन्द हो जाती है । सूक्ष्म नाड़ी मण्डल की अव्यवस्था का प्रभाव समूचे सूक्ष्म शरीर-प्राण शरीर के ऊपर पड़ता है । फलस्वरूप अनेकों प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक व्यतिरेक दिखाई पड़ते हैं जो साधक के साधना मार्ग के लिए चट्टान की भाँति अवरोधक सिद्ध होते हैं ।

मन न लगने, जी उचटने, मन के चंचलमान होने जैसी कितनी ही शिकायतें अधिकांश साधक करते रहते हैं । साधना सम्बन्धी विधि-विधानों का ठीक प्रकार पालन करते हुए भी वे आगे नहीं बढ़ पाते । अध्यात्म विज्ञानियों ने इसका प्रमुख कारण बताया है—नाड़ियों के प्राण-संचार व्यवस्था की विकृति । अस्तु यह आवश्यक हो जाता है कि योगाभ्यास आरम्भ करते हुए सूक्ष्म नाड़ी संस्थान के परिशोधन का प्रयत्न किया जाय । इसकी उपेक्षा करने से साधना के उच्चस्तरीय सोपानों पर चढ़ पाना तथा अभीष्ट लाभ उठा सकना कठिन पड़ता है । यह सच है कि मस्तिष्क में ध्यान-धारणा से, नादानुसन्धान, प्राण सन्दोह, त्राटक आदि से प्रचण्ड ऊर्जा उत्पन्न होती है, पर उपरोक्त गड़बड़ी से सूक्ष्म अवयवों में ऊर्जा का समुचित वितरण नहीं हो पाता । यह अवरोध सूक्ष्म शरीर को बलिष्ठ बनाने के उद्देश्य से किए गए प्रयत्नों को सफल नहीं होने देता, यही कारण है कि जिस प्रकार शारीरिक परिशोधन में रक्त-संचार प्रणाली को ठीक करने पर महत्त्व दिया जाता है, उसी तरह आत्मविकास की साधनात्मक पद्धतियों में सूक्ष्म नाड़ी संस्थान के परिशोधन को प्राथमिकता दी जाती है ।

आत्मवेत्ताओं के अनुसार मेरुदण्ड में अवस्थित 'ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम' यद्यपि मस्तिष्क के साथ भी जुड़ा रहता है, पर उसकी मूलभूत गतिविधियाँ स्वसंचालित हैं । मस्तिष्क के साथ उसका सम्बन्ध होते हुए भी घनिष्ठता एवं नियन्त्रण की स्थिति नगण्य है । शरीरगत महत्त्वपूर्ण गतिविधियाँ मेरुदण्ड से निकलकर सर्वत्र फैलने वाले स्नायु मण्डल से संचालित होती हैं । उनका संचालन सूत्र सुषुम्ना में अवस्थित है—मस्तिष्क में नहीं । इसलिये आत्मविज्ञान में मेरुदण्ड को भी एक तरह का मस्तिष्क मानना पड़ता है और उसे मस्तिष्क मेरु धुरी 'सेरिब्रो स्पाइनल एक्सिस' कहकर समाधान करना होता है । शरीर विज्ञानी सुषुम्ना को, मेरुदण्ड के भीतर दोनों ओर, नीचे से ऊपर तक समानान्तर चलने वाले स्नायु गुच्छकों की शृंखला मानते हैं । यह स्वसंचालित है । इसे अपना क्रिया-कलाप जारी रखने के लिए किसी बाह्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं पड़ती । इस शृंखला का वाम पार्श्व इड़ा, दाहिना पार्श्व पिंगला और मध्यवर्ती समन्वित भाग सुषुम्ना कहा जाता है । ये तीनों ही परस्पर एक-दूसरे से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध हैं, पर उनके भीतर चलने वाले विद्युत प्रवाह के आरोह-अवरोह को देखते हुए उपरोक्त वर्गीकरण किया गया है ।

यों तो योग ग्रन्थों में ७२ हजार नाड़ियों का उल्लेख किया जाता है, पर उनमें से प्रमुख १४ ही मानी गई हैं । इनके नाम इस प्रकार हैं— (१) सुषुम्ना, (२) इड़ा, (३) पिंगला, (४) गान्धारी, (५) हस्त जिह्वा, (६) कुहू, (७) सरस्वती, (८) पूषा, (९) शंखिनी, (१०) यशस्विनी, (११) वारुणी, (१२) अलम्बुसा, (१३) विश्वोधरा, (१४) पयस्विनी (योग चूड़ामणिउपनिषद) ।

इनमें भी सर्वोपरि तीन हैं—(१) इड़ा, (२) पिंगला, (३) सुषुम्ना । इन्हें तीन शरीर का और तीन लोकों का प्रतिनिधि बताया गया है । इसका नामकरण इस आधार पर किया गया है कि उनकी विशेषताएँ, कार्यपद्धति एवं दिशाधाराएँ क्या-क्या हैं ? उनकी सहायता से किन प्रयोजनों की पूर्ति तथा किन सफलताओं की प्राप्ति होती है ? उल्लेख आता है कि समुद्र-मन्थन से १४ रत्न उपलब्ध हुए थे । इन १४ नाड़ियों को उसी स्तर के अनुदानों के लिए सूक्ष्म जगत से सम्बद्ध सूत्र का काम करने वाली विद्युत धाराएँ कहा जा सकता है । इन प्राण धाराओं को सूक्ष्म शरीर के साथ ही सूक्ष्म जगत में काम करने वाली चेतन धारा कहा जा सकता है ।

शरीरस्थ सूक्ष्म केन्द्रीय नाड़ी मण्डल मस्तिष्क और मेरुदण्ड को मिलाकर बना है । इन दोनों को जोड़ने वाला एक बाल्व है जिसमें शरीर शास्त्र में मेडुला आब्लांगेटा कहते हैं । इस संस्थान का श्वास-प्रश्वास की स्वसंचालित प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध है । मेरुदण्ड में पायी जाने वाली भूरी और सफेद मज्जा में भी

वही तत्व पाये जाते हैं जो मस्तिष्क में हैं । दोनों में ही ग्रे तथा व्हाइट मैटर पाये जाते हैं । इस पदार्थ का मेरुदण्ड से सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा कि मस्तिष्क का क्रेनियल केविटी से । मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड दोनों में ही सेरेब्रो स्पाइनल द्रव्य तैरते रहते हैं । मेरुदण्ड के पोले भाग से होकर ब्रह्म नाड़ी मूलाधार से लेकर सहस्रार तक पहुँचती है । विशेष महत्त्वपूर्ण भौतिक तथा चेतन तत्वों का सूक्ष्म प्राण-संचार इसी पोले भाग में होकर होता है ।

सूक्ष्म नाड़ी मण्डल का संक्षिप्त वर्णन इसलिये करना यहाँ अभीष्ट था, ताकि उसकी उपयोगिता, उपादेयता एवं महत्ता को भली-भाँति समझा जा सके । उनसे समुचित लाभ उठा सकना तभी सम्भव है जबकि उनमें बहने वाला प्राण-प्रवाह सुव्यवस्थित बना रहे तथा जमी विकृतियों का परिशोधन हो सके । नाड़ियों की मलीनता के कारण आत्मिक प्रगति सम्भव नहीं, ऐसा उल्लेख योग ग्रन्थों में मिलता है—

मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव मध्यमः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यासिद्धिः कथं भवेत् ॥

—योग संध्या

जब तक नाड़ी मल से व्याप्त है तब तक प्राण मध्यम अर्थात् सुषुम्ना मार्ग में नहीं चल सकता किन्तु मल शुद्धि होने पर ही वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करेगा और जब तक मल नाड़ियों में विद्यमान है तब तक उन्मनी भाव कहाँ ? पुनः मोक्ष रूप कार्य की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

मलाकुलासु नाड़ीषु मारुतो नैव गच्छति ।
प्राणायामः कथं सिद्धस्त तत्वज्ञानं कथं भवेत् ॥
तस्मादादौ नाड़ी शुद्धि प्राणायाम ततोऽभ्यसेत् ।

—महायोग विज्ञान

अर्थात्—मलों से भरी हुई नाड़ियों में प्राण-वायु अवरुद्ध रहती है । ऐसे अवरोधों की स्थिति में प्राणायाम कैसे सफल हो ? इसलिये प्रथम नाड़ी-शोधन करना चाहिए पीछे प्राणायाम ।

शुद्धिमेति यदा सर्व नाड़ी चक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राण संग्रहणे क्षमः ॥

—गोरक्ष पद्धति

मलों से भरे हुए नाड़ी चक्रों की जब शुद्धि हो जाती है तो योगी प्राण संग्रह करने में समर्थ होता है ।

प्राणायाम ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकयाधिया ।
यथा सुषुम्ना नाड़ीस्था मलाः शुद्धि प्रयान्ति च ॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थात्—अतः सात्विक बुद्धि से नित्य प्रति प्राणायाम करना चाहिए जिससे सुषुम्नास्थित मल की शुद्धि होती जाय ।

यदा तु नाड़ी शुद्धिः स्याद् योगिनस्तत्वदर्शिनः ।
तदा विध्वस्तदोषश्च भवेदारम्भ सम्भवः ॥

—शिव संहिता

जब नाड़ी शुद्धि होगी तब दोष शुद्धि होगी । उसी स्थिति में योग का आरम्भ सम्भव है ।

यदा तु नाड़ी शुद्धिस्या तथाचिन्हानिवाह्यतः ।
कायस्त कृशता कान्तिस्तदा जायते निश्चितम् ॥

—हठयोग प्रदीपिका

जिस समय नाड़ियों की शुद्धि होती है इस समय के चिन्ह हैं—शरीर की कृशता और कान्ति में निश्चित रूप से वृद्धि होना ।

नाड़ी-शोधन प्राणायाम की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—

प्रातःकाल पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठें । पालथी मारकर सुखासन, पद्मासन अथवा सिद्धासन में अपने अभ्यास के अनुरूप बैठा जा सकता है । कमर सीधी हो तथा नेत्र अधखुले ।

दाहिने नासिका छिद्र को बन्द रखें । बाएँ से साँस खींचें और उसे धीरे-धीरे नाभिचक्र तक ले जायें । ध्यान करें कि नाभि स्थान में पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रमा के समान पीतवर्ण शीतल प्रकाश विद्यमान है । खींचा हुआ साँस उसे स्पर्श कर रहा है ।

जितने समय में साँस खींचा गया था उतने ही समय तक भीतर रोकें और ध्यान करते रहें कि नाभिचक्र में स्थित पूर्णचन्द्र के प्रकाश को खींचा हुआ श्वास स्पर्श करके उसे शीतल और प्रकाशवान बना रहा है ।

जिस नथुने से साँस खींचा था उसी बाएँ छिद्र से ही बाहर निकालें और ध्यान करें कि नाभिचक्र के चन्द्रमा को छूकर वापिस लौटने वाली प्रकाशवान एवं

शीतल वायु इड़ा नाड़ी की छिद्र नलिकाओं को शीतल एवं प्रकाशवान बनाती हुई वापस लौट रही है । साँस छोड़ने की गति अत्यन्त धीमी हो । कुछ देर साँस बाहर रोकिये बिना श्वास के रहें । बाएँ से ही इस क्रिया को तीन बार दुहरायें ।

जिस प्रकार बाएँ नथुने से पूरक, कुम्भक व रेचक एवं बाह्य कुम्भक किया था, उसी प्रकार दाहिने नथुने से भी करें । नाभिचक्र में चन्द्रमा के स्थान पर इस बार सूर्य का ध्यान कीजिए तथा साँस छोड़ते समय भावना कीजिए कि नाभि स्थित सूर्य को छूकर वापस लौटने वाली वायु श्वास नली के भीतर उष्णता और प्रकाश उत्पन्न करती हुई लौट रही है । बाएँ नासिका के छिद्र को बन्द रखकर दाहिने से भी इस क्रिया को तीन बार करें ।

अब नासिका के दोनों छिद्र खोल दीजिए । दोनों से सहज क्रम में लम्बा श्वास खींचियें और थोड़ी देर भीतर रोककर तथा मुँह खोलकर साँस बाहर निकाल दीजिए । यह क्रिया मात्र एक बार ही करनी चाहिए ।

इस तरह तीन बार बाएँ नासिका छिद्र से साँस खींचते और छोड़ते हुए नाभिचक्र में चन्द्रमा का शीतल ध्यान, तीन बार दाहिने नासिका छिद्र से साँस खींचते-छोड़ते हुए सूर्य का उष्ण प्रकाश का ध्यान, एक बार दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए, मुख से साँस निकालने की क्रिया, इन सबसे मिलकर एक पूर्ण नाड़ी-शोधन प्राणायाम बनता है । आरम्भ तीन प्राणायाम से करना चाहिए, हर माह एक-एक क्रमशः बढ़ाते हुए सात माह में दस तक इसकी संख्या पहुँचाई जा सकती है । इससे प्राणवाही नाड़ियाँ परिशोधित हो जाती हैं । वस्तुतः प्राण का रथ इड़ा और पिंगला दो नाड़ियों के पहियों द्वारा गतिमान होता है, सुषुम्ना उनकी धुरी है । बाएँ नथुने से चलने वाली साँस को इड़ा अथवा चन्द्र नाड़ी कहते हैं । दाहिने नथुने से चलने वाली साँस को पिंगला अथवा सूर्य नाड़ी कहते हैं ।

यों नासिका छिद्रों से श्वास-प्रश्वास क्रिया साधारणतः होती ही रहती है उसका कुछ विशेष महत्त्व नहीं है । पर योग साधना के माध्यम से जब इस श्वास घर्षण से उत्पन्न होने वाले विद्युत-प्रवाह का कुछ उपयोग किया जाने लगता है तब उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध किए जा सकते हैं ।

मनुष्य शरीर के कण-कण में एक विद्युत प्रवाह काम करता है । विभिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न प्रकार की विद्युत होती हैं । शरीर की विभिन्न हलचलों द्वारा यह विद्युत गतिशील होती है और विभिन्न प्रयोजन सिद्ध करती है । कामेन्द्रियों में एक विशेष प्रकार की चेतन विद्युत रहती है जो स्पर्श अथवा तद्विषयक कल्पना का प्रश्रय प्राप्त होते ही जागृत हो उठती है । इस जागृति के अनुकूल अन्य परिस्थितियाँ मिलें तो फिर वह विद्युत एक आवेग का रूप धारण कर लेती है और मनुष्य काम के वशीभूत होकर बेचैन बन जाता है ।

शरीर के प्रत्येक अंग में एक विद्युत प्रवाह मौजूद है । नासिका छिद्रों से आरम्भ होकर जो श्वास नलिकायें फेफड़ों तक गई हैं उनका मार्ग मस्तिष्क में होकर है । मस्तिष्क परमाण अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक सम्वेदनशील है । समस्त शरीर में फैले हुए नाड़ी संस्थान के लिए जो चेतना प्रवाह संचलित रहता है उसका उद्गम मस्तिष्क ही तो है । यह श्वास नलिकायें मस्तिष्क में होकर जाती हैं और उनका क्षेत्र भी एक विशेष चेतना से भरा रहता है । साँस जब उस नलिका में होकर गुजरती है तो नली की दीवारों से संलग्न चेतना तथा वायु के घर्षण से एक खास तरह की विद्युत तरंगें उत्पन्न होती हैं । यदि इन तरंगों का विधिपूर्वक कुछ उपयोग हो सके तो ये बड़ी मूल्यवान् सिद्ध होती हैं, अन्यथा साधारण क्रम के अनुसार पानी की लहरों की तरह उपजती और नष्ट होती रहती हैं ।

नाक के बाएँ नथुने में होकर वायु गुजरती है तो उसके घर्षण से श्वास नलिका के अन्दर जो विद्युत तरंगें उठती हैं वे शीतल गुण उत्पन्न करने वाली, नेगेटिव (ऋण) विद्युतधारा के समान होती हैं । इसलिये उसे इड़ा अथवा चन्द्र प्रवाह कहते हैं । दायीं श्वास नली में होकर बहने वाली साँस का घर्षण उष्ण, पोजिटिव (धन) विद्युत प्रवाह उत्पन्न करता है । इन दोनों का सम्मिलन जहाँ होता है उस बिन्दु को सुषुम्ना कहते हैं । सुषुम्ना में उत्पन्न बिजली ही समस्त शरीर में चेतना प्रवाह बनकर फैलती है और उसी से देह के सब अंग अपना काम कर सकने में समर्थ होते हैं ।

दिल की धड़कन से रक्त-संचार की क्रिया का संचालन होता है । वह धड़कन बन्द हो जाय तो मृत्यु निश्चित है । इसी प्रकार साँस चलना रुक जाय तो जीवन का अन्त ही समझना चाहिए । साँस लेने से केवल वायु का आवागमन या फेफड़े की सफाई ही नहीं होती वरन् प्राण का उद्भव एवं जीवन का संचार भी वहीं से होता है, श्वास-प्रश्वास के माध्यम से उत्पन्न होने वाले विद्युत प्रवाह को नियन्त्रित करके उसे अभीष्ट दिशा में प्रयुक्त करने की वैज्ञानिक पद्धति ही प्राणायाम कहलाती है । उस आधार पर मनुष्य अपने शरीर और मन के अज्ञात केन्द्रों में छिपी हुई अगणित 'हारमोन'-गुत्थियों और उपत्यिकाओं को जागृत करता हुआ योग-सिद्धियों का आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त कर सकता है । प्राणायाम साँस खींचने, छोड़ने का व्यायाम नहीं वरन् प्राणविद्या की एक सूक्ष्म और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्या है जिसकी गहरी शोध करके ऋषियों ने मनुष्य के लिए प्रसुप्त सूक्ष्म शक्तियों का जागरण करते हुए सिद्ध पुरुषों की देव स्थिति में पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया है ।

नाड़ी-शोधन प्राणायाम का उद्देश्य इड़ा और पिंगला-चन्द्र नाड़ी और सूर्य नाड़ी के भीतरी स्तरों पर जो मलीनता एवं जड़ता छाई होती है उसे हटाकर उन अंगों में स्वच्छता एवं चेतना उत्पन्न करना है ।

नाड़ी-शोधन ठीक तरह सम्पन्न हो जाने से श्वास-प्रश्वास क्रिया के साथ इड़ा-पिंगला में उत्पन्न होने वाले, विद्युत-प्रवाह के मार्ग में कोई बाधा नहीं रहती और पट् चक्र वेधन, कुण्डलिनी जागरण-ब्रह्मरंध्र का अनुच्छेदन आदि साधनायें, जो पंचकोशी साधना के साधकों को आगे चलकर करनी पड़ेंगी उनका आधार यह नाड़ी-शोधन ही होगा । प्राण को नियन्त्रित अथवा प्रताड़ित करके ही सुप्त सूक्ष्म संस्थानों को चैतन्य किया जाता है । इसके लिए यह आवश्यक है कि नाड़ी-शोधन की प्रक्रिया ठीक तरह पूरी कर ली जाय । यदि प्राण प्रवाह अवरुद्ध बना रहा तो आगे की सभी साधनायें असफल रहेंगी ।

'नाड़ी-शोधन प्राणायाम' की विस्तृत प्रक्रिया इस प्रकार है—

(१) प्रातःकाल पूर्व को मुख करके कमर सीधी रखकर सुखासन से, पालथी मार कर बैठिये । नेत्रों को अधखुले रखिये ।

(२) दाहिना नासिका छिद्र बन्द कीजिए । बाएँ छिद्र से साँस खींचिये और उसे नाभिचक्र तक खींचते जाइये ।

(३) ध्यान कीजिए कि नाभि स्थान में पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्रमा के समान पीतवर्ण शीतल प्रकाश विद्यमान है । खींचा हुआ साँस उसे स्पर्श कर रहा है ।

(४) जितने समय में साँस खींचा गया था उतने ही समय के भीतर रोकिये और ध्यान करते रहिये कि नाभिचक्र में स्थित पूर्ण चन्द्र के प्रकाश को खींचा हुआ श्वास स्पर्श करके स्वयं शीतल और प्रकाशवान् बन रहा है ।

(५) जिस नथुने से साँस खींचा था उसी बाएँ छिद्र से ही साँस बाहर निकालिये और ध्यान कीजिए कि नाभिचक्र के चन्द्रमा को छूकर वापस लौटने वाली प्रकाशवान् एवं शीतल वायु इड़ा नाड़ी की छिद्र नलिका को शीतल एवं प्रकाशवान् बनाती हुई वापस लौट रही है ।

(६) कुछ देर साँस बाहर रोकिये और फिर उपरोक्त क्रिया आरम्भ कीजिए । बाएँ नथुने से ही साँस खींचिये और उसी से निकालिये । दाहिने छिद्र को अँगूठे से बन्द रखिये । इसी को तीन बार कीजिए ।

(७) जिस प्रकार बाएँ नथुने से पूरक, कुम्भक, रेचक, बाह्य कुम्भक किया था उसी प्रकार दाहिने नथुने से भी कीजिए । नाभिचक्र में चन्द्रमा के स्थान पर सूर्य का ध्यान कीजिए और साँस छोड़ते समय भावना कीजिए कि नाभिस्थित सूर्य को छूकर वापस लौटने वाली वायु श्वासनली के भीतर उष्णता और प्रकाश उत्पन्न करती हुई लौट रही है ।

(८) बाएँ नासिका स्वर को बन्द रख कर दाहिने छिद्र से भी इस क्रिया को तीन बार कीजिए ।

(९) अब नासिका के दोनों छिद्र खोल दीजिए दोनों से साँस खींचिये और भीतर रोकिये और मुँह खोलकर साँस बाहर निकाल दीजिए । यह विधि एक बार ही करनी चाहिए ।

तीन बार बाएँ नासिका छिद्र से साँस खींचते और छोड़ते हुए नाभिचक्र में चन्द्रमा का शीतल ध्यान, तीन बार दाहिने नासिका छिद्र से साँस खींचते तथा छोड़ते हुए सूर्य का उष्ण प्रकाश वाला ध्यान, एक बार दोनों छिद्रों से साँस खींचते हुए मुख से साँस निकालने की क्रिया यह सात विधान मिलकर एक नाड़ी-शोधन प्राणायाम बनता है । ऐसे-ऐसे तीन प्राणायाम प्रतिदिन करने चाहिए । दैनिक जप से पूर्व यह तीन प्राणायाम नित्य करने का नियम प्रत्येक साधक को बना लेना चाहिए और उसे एक वर्ष तक निबाहते चलना चाहिए ।

प्राणाकर्षण प्राणायाम वीर, बलिष्ठ, पराक्रमी और तेजस्वी बनाने वाला प्राणायाम

शरीर विज्ञान के ज्ञाता प्राणायाम को फेफड़ों की कसरत मानते हैं और उसके लाभ, श्वास तथा क्षय सरीखे रोगों से छुटकारा मिलना समझते हैं । सीने की चौड़ाई बढ़ने और श्वास-प्रश्वास क्रिया में तीव्रता आने से हृदय तथा मस्तिष्क को बल मिलने एवं आयुष्य बढ़ने की बात भी डॉक्टरों द्वारा स्वीकार की गई है । कितने ही चिकित्सक प्राणायाम की विभिन्न विधियों द्वारा नाना प्रकार के रोगों की चिकित्सा भी करने लगे हैं और उसके परिणाम भी आशाजनक हुए हैं ।

शारीरिक दृष्टि से प्राणायाम का बहुत महत्त्व है पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी महत्ता अत्यधिक है । मन की चंचलता दूर करके उसमें एकाग्रता उत्पन्न करने के लिए प्राणायाम को एक अमोघ अस्त्र माना जाता है । योग का आधार ही "चित्तवृत्तियों का निरोध" अथवा एकाग्रता है । जिसका चित्त चंचलता को छोड़कर एक बिन्दु पर एकाग्र हो गया उसे तुरन्त समाधि की स्थिति प्राप्त होती है और तत्क्षण आत्मा का दर्शन होने लगता है ।

सूक्ष्म शक्तियों के गुप्त केन्द्र

मनुष्य के भीतर असीम सूक्ष्म शक्तियों के गुप्त-केन्द्र भरे पड़े हैं । इन्हें, चक्र, ग्रन्थि एवं उपत्यिकाओं के नाम से पुकारा जाता है । प्राण-शक्ति के प्रहार से ही इनमें भीतर सोई हुई सिद्धियाँ जागृत होती हैं । कुण्डलिनी जागरण से मनुष्य इसी शरीर में देवताओं जैसे सामर्थ्य का अनुभव करने लगता है । यह कुण्डलिनी जागरण प्राणायाम की सहायता से ही किया जाता है । जिसने अपने बिखरे हुए प्राण को एकत्र कर लिया उस योगी के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है । जिसका प्राण-तत्व पर जितना अधिपत्य है वह प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों को भी उतनी ही मात्रा में अपने वशवर्ती कर सकेगा । इन्द्रियों का नियन्त्रण भी प्राण निरोध के साथ सम्बन्धित है । दुष्प्रवृत्तियाँ भी इस 'प्राणग्निहोत्र' की अग्नि में जल कर भस्म होती हैं ।

प्राण-विद्या अध्यात्म क्षेत्र में एक स्वतन्त्र विद्या मानी जाती है । उसके अन्तर्गत अनेक प्रयोजनों के लिए अनेक साधनायें की जाती हैं । ८४ आसनों की तरह प्राणायाम भी ८४ प्रकार के हैं । उनके उद्देश्य, प्रयोग, लाभ तथा उपयोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं । प्राण विद्या के अन्तर्गत अनेकों साधनायें हैं जिनमें तीन बन्ध, सात मुद्राएँ एवं नौ प्राणायाम प्रमुख माने गए हैं । वैसे बन्धों की संख्या ४०, मुद्राओं की संख्या ६४ और प्राणायामों की संख्या ८४, योग ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं । उनमें से आज की परिस्थितियों में सभी तो आवश्यक नहीं हैं, पर उनमें से जो अधिक सरल, हानि रहित एवं उपयोगी हैं उन्हें अगले दस वर्षों में बताया जाता रहेगा ।

हठ योग के कई प्राणायाम ऐसे भी हैं जो अधिक शक्तिशाली तो हैं पर इनमें थोड़ी भूल होने से खतरा भी बहुत है । ऐसे विधानों को विशेष अधिकारी लोग ही अनुभवी गुरु के पास रहकर सीख सकते हैं । अपने परिवार के उन स्वजनों के लिए जो दूर रहने के कारण केवल "अखण्ड-ज्योति" द्वारा ही मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हैं केवल ऐसी ही साधनायें उपयोगी हो सकती हैं जिनमें कोई भूल होने पर भी किसी प्रकार की हानि की सम्भावना न हो, किन्तु लाभ समुचित मात्रा में प्राप्त होता रहे । ऐसे चुने हुए प्राणायामों में से ही एक प्रमुख प्राणाकर्षण प्रक्रिया है । इससे प्राण-तत्व की मात्रा साधक में बढ़ेगी और वह शरीर एवं मन दोनों ही क्षेत्रों में अधिक वीर, बलिष्ठ, पराक्रमी एवं तेजस्वी बनेगा । इसे बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी रोगी-निरोगी, नर-नारी बड़ी आसानी से कर सकते

हैं । इसमें किसी को किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं है । सबको लाभ ही होगा ।

प्राणाकर्षण प्राणायाम की विस्तृत प्रक्रिया इस प्रकार है—

(१) प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूर्वाभिमुख, पालथी मार कर आसन पर बैठिये । दोनों हाथों को घुटनों पर रखिये । मेरुदण्ड सीधा रखिये । नेत्र बन्द कर लीजिए । ध्यान कीजिए कि अखिल आकाश में तेज और शक्ति से ओत-प्रोत प्राण-तत्व व्याप्त हो रहा है । गरम भाप के, सूर्य प्रकाश में चमकते हुए, बादलों जैसी शक्ल के प्राण का उफान हमारे चारों ओर उमड़ता चला आ रहा है और उस प्राण-उफान के बीच हम निश्चिन्त, शान्तचित्त एवं प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए हैं ।

(२) नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे साँस खींचना आरम्भ कीजिए और भावना कीजिए कि प्राण-तत्व के उफनते हुए बादलों को हम अपनी साँस द्वारा भीतर खींच रहे हैं । जिस प्रकार पक्षी अपने घौंसले में, साँप अपने बिल में प्रवेश करता है उसी प्रकार वह अपने चारों ओर बिखरा हुआ प्राण-प्रवाह हमारी नासिका द्वारा साँस के साथ शरीर के भीतर प्रवेश करता है और मस्तिष्क, छाती, हृदय, पेट, आँतों से लेकर समस्त अंगों में प्रवेश कर जाता है ।

(३) जब साँस पूरी खिंच जाय तो उसे भीतर रोकिये और भावना कीजिए कि—"जो प्राण-तत्व खींचा गया है उसे हमारे भीतरी अंग-प्रत्यंग सोख रहे हैं । जिस प्रकार मिट्टी पर पानी डाला जाय तो वह उसे सोख जाता है, उसी प्रकार अपने अंग सूखी मिट्टी के समान हैं और जलरूपी इस खींचे हुए प्राण को सोखकर अपने अन्दर सदा के लिए धारण कर रहे हैं । साथ ही प्राण-तत्व में सम्मिश्रित चैतन्य, तेज, बल, उत्साह, साहस, धैर्य, पराक्रम, सरीखे अनेक तत्व हमारे अंग-अंग में स्थिर हो रहे हैं ।"

(४) जितनी देर साँस आसानी से रोकी जा सके उतनी देर रोकने के बाद धीरे-धीरे साँस बाहर निकालिये । साथ ही भावना कीजिए कि प्राण-वायु का सारतत्व हमारे अंग-प्रत्यंगों के द्वारा खींच लिए जाने के बाद अब वैसी ही निकृष्ट वायु बाहर निकाली जा रही है जैसा कि मक्खन निकाल लेने के बाद निस्सार दूध हटा दिया जाता है । शरीर और मन में जो विकार थे वे सब इस निकलती हुई साँस के साथ घुल गए हैं और काले धुएँ के समान अनेक दूषणों को लेकर वह बाहर निकल रहे हैं ।

(५) पूरी साँस बाहर निकल जाने के बाद कुछ देर बाहर साँस रोकिये अर्थात् बिना साँस के रहिये और भावना कीजिए कि अन्दर के जो दोष बाहर निकाले गए थे उनको वापस न लौटने देने की दृष्टि से दरवाजा बन्द कर दिया गया है और वे बहिष्कृत होकर हमसे बहुत दूर उड़े जा रहे हैं ।

इस प्रकार पाँच अंगों में विभाजित इस प्राणाकर्षण प्राणायाम को नित्य ही जप से पूर्व करना चाहिए । आरम्भ ५ प्राणायामों से किया जाय । अर्थात् उपरोक्त क्रिया पाँच बार दुहराई जाय । इसके बाद हर महीने एक प्राणायाम बढ़ाया जा सकता है । यह प्रक्रिया धीरे-धीरे बढ़ाते हुए एक वर्ष में आधा घण्टा तक पहुँचा देनी चाहिए ।

प्रातःकाल जप से पूर्व तो यह प्राणाकर्षण प्राणायाम करना ही चाहिए । इसके अतिरिक्त भी कोई सुविधा का शान्त, एकान्त अवसर मिलता हो तो उसमें भी इसे किया जा सकता है ।

प्राणमंथन-प्राणाकर्षण प्राणयोग का : प्रथम चरण

ब्रह्माण्ड-व्यापी महाशक्तियों में ग्रहों की गुरुत्वाकर्षण क्षमता सर्वविदित है । आकाश में अवस्थित सभी ग्रह परस्पर इसी आकर्षण शक्ति के आधार पर टिके हुए हैं और गतिशील हैं । यह गुरुत्वाकर्षण आखिर है क्या ? इसका सूक्ष्म अन्वेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह मूलतया इलेक्ट्रो मैग्नेटिक—विद्युत चुम्बकीय क्षमता का ही रूप है । जो ग्रह-नक्षत्रों की भ्रमणशीलता और आकर्षण शक्ति के उभयपक्षीय प्रयोजन पूरे करती है । प्रकाश, ताप, ध्वनि, विद्युत आदि इसी के विविध स्वरूप हैं पदार्थ में अणुओं की हलचल से लेकर रासायनिक परिवर्तनों का सरंजाम वही जुटाती है । ईथर के ब्रह्माण्ड व्यापी महासागर में इसी विद्युत चुम्बक का आधिपत्य छाया हुआ है । यह शक्ति जड़

नहीं चैतन्य ऊर्जा है जो प्रकृति के सुव्यवस्था और हलचलों का कारण है ।

यही विद्युत चुम्बक प्राण है । मनुष्य काया के इर्द-गिर्द फैले तेजोवलय की एक हल्की परत के रूप में उसे देखा जा सकता है । शरीर में जीव ऊर्जा के रूप में उसका अस्तित्व विद्यमान है । मस्तिष्क की मशीन अद्भुत है, पर वह स्वसंचालित नहीं है । यदि उसकी अपनी सामर्थ्य रही होती तो मृत शरीर का मस्तिष्क भी काम करते रह सका होता, पर ऐसा नहीं होता । प्राण ही है जो मस्तिष्क के चेतन-अवचेतन पर छाया रहता है, विविध प्रकार की हलचलों के लिए उन्हें प्रेरित करता है । ग्रहों में अपना-अपना आकर्षक होते हुए भी वह उनका निज का उत्पादन नहीं है । ब्रह्माण्ड-व्यापी विद्युत चुम्बकीय क्षमता में से वे अपना-अपना हिस्सा ले लेते हैं । यह सम्मिलित पूँजी है जिसमें से विश्व ब्रह्माण्ड के प्रत्येक घटक अपना-अपना हिस्सा पाते और गुजारा करते हैं । प्राण-शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है । विश्व-व्यापी महाप्राण के विशाल सागर में से पृथ्वी के जीवधारी भी अपनी-अपनी आवश्यकता एवं पात्रता के अनुरूप प्राण का अंश प्राप्त कर लेते हैं । सहज उपलब्ध प्राण का महत्त्व न समझने के कारण मनुष्य इसे उपेक्षापूर्वक गवाँता है । पर साथ ही यह भी सम्भव है कि वह अपने संकल्प बल का आश्रय लेकर व्यापक प्राण-शक्ति में से एक बड़ा भाग अपने लिए उपलब्ध कर ले । प्राणयोग की साधना इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए की जाती है ।

प्राण एक ऐसी चैतन्य ऊर्जा है जिसकी मात्रा बढ़ी-चढ़ी होने पर मनुष्य के भीतर चमत्कारी प्रभाव देखा जा सकता है । व्यक्तिगत जीवन में दिखाई पड़ने वाला अदम्य साहस, जीवट, उत्साह, तत्परता और दृढ़ता प्राण-शक्ति सम्पन्नता का ही परिचय देते हैं । प्रचण्ड संकल्प शक्ति का प्रादुर्भाव प्राण का ही चमत्कार है । इसी के सहारे मनुष्य अनेकानेक कठिनाइयों को चीरते हुए आगे बढ़ता और अपनी मंजिल तक जा पहुँचता है । कई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से समर्थ और मानसिक दृष्टि से सुयोग्य होते हैं, पर साहस का अभाव होने से कोई, महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठा सकते और प्रायः लोक प्रवाह के साथ बह जाते हैं । शंका-कुशंकाओं से ग्रस्त रहने-आपत्तियों असफलताओं की सम्भावना उन्हें पग-पग पर डराती रहती है । ऐसे व्यक्ति प्रगति के उपयुक्त अवसर सामने होने पर भी उन्हें गवाँते और कई-गुजरी स्थिति में आजीवन पड़े रहते हैं । इसके विपरीत साहसी व्यक्ति स्वास्थ्य, शिक्षा, साधन एवं उपयुक्त अवसर न होने पर भी दुस्साहस भरे कदम उठाते और आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त करते देखे जाते हैं । ऐसे ही दुस्साहसी इतिहास में अपना नाम अमर कर जाते हैं । यह साहसिक मनोभूमि आन्तरिक समर्थता प्राण के आधार पर ही विनिर्मित होती है ।

भौतिक सफलतायें ही नहीं आध्यात्मिक प्रगति का आधार भी प्राण-शक्ति के आधार पर ही बनता है । साधना को समर कहा गया है । एक ऐसा समर जिसमें स्वयं के शत्रुओं से युद्ध करना पड़ता है । अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए जीव जिन पशु-प्रवृत्तियों का अभ्यस्त होता है उन्हें घटाये-हटाये बिना मानवी गरिमा के अनुरूप गुण, कर्म, स्वभाव का निर्माण नहीं हो सकता । आन्तरिक अवांछनीयताओं को हटाकर उस स्थान पर उत्कृष्टताओं की स्थापना करने के प्रयोग को साधना कहते हैं । आन्तरिक साहसिकता के बिना इस साधना समर को नहीं जीता जा सकता । बाहरी शत्रुओं से लड़ने के लिए जितना युद्ध-कौशल चाहिए उतना ही शौर्य, साहस अपने भीतर घुसे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मत्सर जैसे भीतरी शत्रुओं से लड़ने और परास्त करने के लिए आवश्यक होता है । दुर्बल, मनःस्थिति के लोग अपनी भीतरी कमजोरियों को जानते हैं, उन्हें हटाना चाहते हैं, पर साहस, संकल्प के अभाव में उनसे लड़ने का पराक्रम नहीं कर पाते । फलस्वरूप आत्म-सुधार एवं आत्म-निर्माण का प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता । आन्तरिक शत्रुओं पर विजय भी प्राण-शक्ति से संचय-अभिवर्धन द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। प्राणयोग की साधना इसीलिये हर साधक के लिए अनिवार्य बताई गई है ।

शक्ति उत्पन्न करने का एक तरीका प्रख्यात है— घर्षण का । भौतिक जगत में इस प्रयोग से शक्तिशाली उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं । आत्मिक क्षेत्र में भी शक्ति संचय के लिए यही प्रक्रिया अपनाई जाती है ।

प्राणायाम साधना इस घर्षण प्रयोजन के लिए की जाती है। सुनसान जंगलों में कई बार भयंकर आग लगती है और विस्तृत क्षेत्र के वृक्षों को जलाकर खाक कर देती है। यह आग मनुष्यों द्वारा उत्पन्न की गई अथवा लगाई गई नहीं होती है। वृक्षों की टहनियाँ ही तेज हवा के कारण हिलती और बारम्बार टकराती हैं। आग इसी से पैदा हो जाती है। इस कार्य में बाँस सबसे आगे हैं। झुरमुट में प्रायः बाँस एक-दूसरे से सटकर उगे रहते हैं। तीव्र हवा के कारण वे रगड़ खाकर पहले गरम होते हैं फिर उनमें से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। यह आग क्रमशः फैलती जाती है और दावानल का स्वरूप धारण कर लेती है। चकमक पत्थर के दो टुकड़ों को रगड़कर आग पैदा करने की विद्या आदिकाल से चली आ रही है। यज्ञ कार्यों में रगड़कर—अरणि मन्थन की क्रिया द्वारा अग्नि पैदा कर ली जाती है।

प्राण-साधना में श्वास-प्रश्वास क्रिया को क्रमबद्ध-लयबद्ध बनाया जाता है, साँस लेने की अव्यवस्था को दूर करके उसे व्यवस्था के बन्धनों में बाँधा जाता है। सामान्यतः श्वास का आवागमन फेफड़ों में तथा अन्य अवयवों में सिकुड़ने-फैलने की हलचल उत्पन्न करता है। उसी से दिल धड़कता तथा रक्त-संचार होता है, माँसपेशियों के आकुंचन-प्रकुंचन का क्रम चलता है। जिस तरह घड़ी के पेण्डुलम का हिलना घड़ी को गतिशील रखने का कारण होता है उसी प्रकार श्वास-प्रश्वास क्रिया को एक प्रकार से समस्त शारीरिक हलचलों का उद्‌गम केन्द्र कहा जा सकता है। मृत्यु का मोटा ज्ञान श्वास चलना बन्द हो जाने को माना जाता है। साँस को ही जीवन कहा गया है। यह जीवन तत्व वह हवा नहीं है जो धूल कणों अथवा तिनकों को उड़ाती रहती है, पर यह अवश्य है कि प्राण का सूक्ष्म अस्तित्व उसके भीतर विद्यमान है। मोटे तौर पर हवा एक पदार्थ प्रतीत होता है, पर उसकी भीतरी परतों में महत्त्वपूर्ण चीज विद्यमान है। दूध में घी दिखाई नहीं पड़ता, पर उसमें रहता अवश्य है, उसे विशेष प्रक्रिया अपनाकर निकाला जा सकता है। वनस्पतियाँ बाहर से हरियाली के रूप में दीखती हैं, पर प्रयोगशाला में विश्लेषण करने पर उनमें से प्रोटीन, चूना, चिकनाई, नमक जैसे कितने ही तत्व पाये जाते हैं। इसी प्रकार साँस द्वारा शरीर में प्रविष्ट होने वाली हवा मात्र स्पर्श तन्मात्रा वाली प्रकृति की हलचल नहीं है। उसके भीतर कितने ही भौतिक एवं चेतनात्मक तत्व भरे होते हैं जो शरीर, मन और मस्तिष्क को परिपुष्ट करते हैं।

विज्ञान वेत्ताओं का मत है कि वायु भूत भौतिक पदार्थ आकाश की सुविस्तृत पोल में भरे पड़े हैं। आत्मवेत्ताओं का कहना है कि वायु रूपी शरीर के भीतर एक चेतन शक्ति भरी हुई है—यही प्राण है। जिस तरह साँस में रक्त घुला रहता है उसी प्रकार वायु में प्राण का अस्तित्व विद्यमान रहता है। सामान्यतया वे एकत्रित रहने पर विशेष प्रयत्नों द्वारा उन्हें अलग किया जा सकता है और जिस पदार्थ की आवश्यकता हो उसे प्राप्त किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार वायु में घुले हुए प्राण-तत्व को अलग करके खींचा जा सकता है और अपने प्राण में सम्मिलित करके अधिक सामर्थ्यवान बनाया जा सकता है।

श्वास-प्रश्वास की सामान्य प्रक्रिया में हवा के फेफड़ों में पहुँचने, उससे रक्त को ऑक्सीजन मिलने तथा भीतर की विषाक्त गैस कार्बन डाई-ऑक्साइड को बाहर निकालने पर शरीर यात्रा का सीमित प्रयोजन पूरा होता है। इस क्रिया को विशेष ढंग से, विशेष क्रम से किया जाने लगे तो भिन्न प्रकार की मन्थन प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है। मन्थन द्वारा दूध में से घी निकलता है। अनेकों वैज्ञानिक प्रयोगों में मन्थन प्रक्रिया के द्वारा अणुओं के विकेन्द्रीकरण से अणु विस्फोट जैसी स्थिति उत्पन्न होती देखी जाती है। यह मन्थन क्रिया प्राणायाम की विशेष प्रक्रिया में विशेष स्तर की होती है।

घर्षण के चमत्कार पग-पग पर देखे जा सकते हैं। विज्ञानवेत्ता इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि शीशे की छड़ एबोनाइट से घिसने पर बिजली उत्पन्न हो जाती है। चलती रेल के पहियों में जब चिकनाई समाप्त हो जाती है अथवा किसी अन्य कारण से घिसाव पड़ने लगता है तो उससे उत्पन्न होने वाली गर्मी धुरे तक को गला देती है और तब दुर्घटना की स्थिति बन जाती है। आकाश से कभी-कभी प्रचण्ड प्रकाश बिखेरते तारे टूटते दिखाई पड़ते हैं, यह तारे नहीं उल्का पिण्ड होते हैं जो धातु अथवा पाषाण के

छोटे-छोटे टुकड़े जैसे अन्तरिक्ष में छितराये रहते हैं जो कभी-कभी पृथ्वी के वायुमण्डल में आ जाते हैं । प्रचण्ड गुरुत्वाकर्षण तथा हवा के टकराव के कारण वे जल उठते हैं । उनके जलने पर जो प्रकाश निकलता है उसे देखकर तारों के टूटने का अनुमान लगाया जाता है । यह सब घर्षण का ही चमत्कार है । प्राणायाम प्रक्रिया में इसी को विशिष्ट ढंग से दुहराया जाता है । दही मन्थन में रई को रस्सी के दो छोरों के बीच पकड़कर उल्टा-सीधा घुमाया जाता है । फलतः दूध में घुला हुआ घी उभर कर बाहर आ जाता है और ऊपरी सतह पर तैरने लगता है । बाएँ-दाएँ नासिका स्वरों से चलने वाले इड़ा-पिंगला विद्युत प्रवाहों का विशेष विधि से मन्थन करने पर दूध बिलोने जैसी हलचल उत्पन्न होती है । फलस्वरूप काय चेतना में भरा हुआ ओजस् उभरकर ऊपर आता है ।

काया में संव्याप्त प्राण का मन्थन और उभार प्राणायाम का एक पक्ष है । दूसरा है, अन्तरिक्ष में संव्याप्त प्राण सम्पदा में से अभीष्ट परिमाण में प्राण-तत्व को आकर्षित करके अपने भीतर भर लेना । इस तरह प्राणयोग की साधना में दुहरी प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । एक, अपने भीतर के प्राण-तत्व का परिमार्जन करना तथा उभारना । दूसरे चरण में चारों ओर बहते हुए प्राण सागर से प्राण-तत्व को खींचना और अपने भीतर भरना पड़ता है । प्राणों के भी भेद एवं उपभेद बताये गए हैं तथा शरीर के विभिन्न कार्यों के प्राणों की अलग-अलग भूमिका होती है । आवश्यकता एवं प्रयोग के अनुरूप ही प्राणायाम की विशिष्ट प्रक्रिया अपनाई जाती है । विशेष प्रयोजन के लिए विशिष्ट प्राणायाम साधना द्वारा विशेष प्रकार के प्राण को खींचा और धारण किया जा सकता है ।

कहना न होगा प्राणयोग की साधना विधिवत् की जा सके—उत्पन्न प्राण-तत्व को धारण किया जा सके तो साधक को मनस्वी, तेजस्वी और ओजस्वी बनने का अवसर मिलता है । यह ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिनका अवलम्बन लेकर भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दिशाओं में आगे बढ़ना सम्भव है । भौतिक क्षेत्र में भी देखा जाता है कि जिनमें प्राण का बाहुल्य होता है उनमें प्रभावोत्पादक क्षमता अधिक होती है । अपने इस आकर्षण शक्ति द्वारा वे दूसरों को प्रभावित कर लेते तथा सहयोग प्राप्त कर लेते हैं । यह प्राण-शक्ति की ही विशेषता होती है कि महापुरुषों के सान्निध्य में आने वालों का चिन्तन भी उत्कृष्टता की दिशा में चलने लगता है । कितनी बार तो अप्रत्याशित परिवर्तन होते देखे जाते हैं । दुष्ट, दुराचारी भी उनकी निकटता प्राप्त करके बदलते, दुष्प्रवृत्ति को छोड़ते और सद्मार्ग पर चलने को विवश हो जाते हैं । यह प्राण ऊर्जा का ही प्रभाव है जो उन्हें जबरन श्रेष्ठता के मार्ग पर घसीट ले चलती है ।

प्राणाकर्षण प्राणायाम से संकल्प बल का अभिवर्धन द्वितीय चरण

इच्छा, भावना और संकल्प की विशेषताएँ जुड़ जाने से क्रियाओं का महत्त्व और प्रतिफल कई गुना अधिक बढ़ जाता है । सामान्य सी दिखाई देने वाली क्रिया भी चमत्कारी फल देने वाली सिद्ध होती है जबकि उपरोक्त विशेषताओं के अभाव में पूरे किए गए क्रिया-कृत्यों का वह लाभ नहीं मिल पाता जैसी कि अपेक्षा की गई थी । भावना और संकल्प का चमत्कार तो सर्वत्र देखा और अनुभव किया जा सकता है । एक-सी क्रियाएँ पूरी करते हुए भी परिणाम में भारी अन्तर दृष्टिगोचर होता है । शरीर की दृष्टि से श्रम एक मजदूर भी करता है और एक पहलवान भी । पर एक अपना स्वास्थ्य गवाँता रहता है जबकि दूसरा बलिष्ठता एवं समर्थता का लाभ प्राप्त करता है । स्थूल दृष्टि इसे आहार आदि की अतिरिक्त विशेषता मानकर सन्तोष कर सकती है, पर बात ऐसी है नहीं, एक जैसा आहार दोनों के लिए जुटा दिया जाय तो भी मजदूर किसी प्रकार अपना स्वास्थ्य भले ही सन्तुलित रख ले, पहलवान की भाँति अतिरिक्त सामर्थ्य अर्जित कर लेने में समर्थ नहीं हो पाता ।

इस अन्तर की खोजबीन करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि मात्र क्रियाओं को पूरा कर लेना ही पर्याप्त नहीं है । उसमें भावना और संकल्प का पुट नहीं जुड़ा तो अभीष्ट परिणाम निकलना संदिग्ध ही बना रहेगा । अपेक्षाकृत पहलवान से अधिक श्रम करते

हुए भी मजदूर द्वारा सामर्थ्य अर्जित न कर पाने का एक ही कारण होता है कि उसकी क्रियाओं में संकल्प और भावना का समावेश नहीं होता । फलतः वह बलिष्ठ बनने का लाभ नहीं प्राप्त कर पाता । जबकि पहलवान की प्रत्येक क्रिया अपने लक्ष्य के लिए भावना एवं संकल्प से अनुप्राणित होती है । फलस्वरूप वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल रहता है ।

साधनात्मक क्षेत्र में क्रियाओं से भी अधिक महत्त्व भावना, इच्छा और संकल्प का है । प्रायः देखा भी जाता है कि एक जैसे विधि-विधान साधना के पूरे करते हुए भी एक व्यक्ति चमत्कारी सामर्थ्य अर्जित कर लेता है जबकि दूसरा कोई विशेष लाभ नहीं उठा पाता । साधना के परिणामों में भारी अन्तर का कारण स्पष्ट है । जिसे भावना एवं संकल्प के होने के रूप में समझा जा सकता है । प्रत्येक साधनात्मक क्रिया-कृत्यों के साथ यही नियम लागू होता है ।

प्राणायाम के चमत्कारी परिणामों का वर्णन योग-ग्रन्थों में मिलता है । उसे अनेकों प्रकार की सिद्धियों का एक समर्थ माध्यम माना गया है । योगियों में विलक्षण सामर्थ्य विकसित हो जाने का वर्णन पढ़ा, सुना और देखा जाता है । यह संकल्प युक्त प्राणायाम की ही परिणति होती है । उनमें अनेकों प्रकार की शक्तियाँ प्राण के संचय करते रहने से विकसित हो जाती है । वे इस तथ्य से भली-भाँति परिचित होते हैं कि प्राण का विपुल भण्डार सर्वत्र भरा पड़ा है, पर जीवधारी मात्र उस भण्डार से जीवन-यापन करने की आवश्यकता पूरी करने योग्य अल्प मात्रा ही उससे प्राप्त कर पाते हैं । जिस प्रकार बूँद-बूँद के मिलने से घड़ा भरता है, उसी तरह योगी प्राण-तत्व का संचय और अभिवर्धन करते रहते हैं तथा असाधारण शक्ति के स्वामी बन जाते हैं ।

प्राण-तत्व की प्रचुरता भौतिक सफलताओं का कारण बनती है और आध्यात्मिक प्रगति की भी । भौतिक जीवन में प्राणवान व्यक्ति का सर्वत्र वर्चस्व होता है । व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादक क्षमता सहज ही अपने अनुयायियों, सहयोगियों एवं समर्थकों की संख्या बढ़ाती है । जीवट सम्पन्न ही संसार समर में विजय हासिल कर पाते तथा कुछ महत्त्वपूर्ण कहा जाने योग्य काम कर पाते हैं । मनोबल, संकल्पबल की दृढ़ता प्राण-तत्व के आधार पर ही बनती है जो हर प्रकार से भौतिक सफलताओं का आधार बनती है । आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्राणवान ही सफल हो पाते तथा कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ अर्जित कर पाते हैं । कुछ को यह सम्पदा जन्म-जन्मान्तरों की साधना के फलस्वरूप अनायास भी जन्मजात प्राप्त होती है, पर विशिष्ट साधना प्रक्रिया अपनाकर हर कोई प्राण के लहलहाते महासागर में से अपनी झोली भर सकता और प्राणसम्पन्न बन सकता है ।

विविध प्रयोगों के लिए प्राणायाम की विभिन्न प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं जिनमें से एक है प्राणाकर्षण प्राणायाम । कहा जा चुका है कि इच्छा, भावना एवं संकल्प का पुट जुड़ने से ही क्रियाएँ प्राणवान बनती तथा अभीष्ट परिणाम प्रस्तुत करती हैं । प्राणाकर्षण-प्राणायाम की सफलता पूरी तरह संकल्प शक्ति की दृढ़ता के ऊपर निर्भर करती है । प्रक्रिया इस प्रकार है—

प्राणायाम के लिए सर्वोत्तम समय प्रातःकाल का ब्रह्ममुहूर्त का है । कारण यह है कि उस समय अन्तरिक्ष में प्राण-तत्व का प्रवाह अत्यन्त तीव्र होता है तथा विशिष्ट प्रकार की चैतन्य धाराएँ सूक्ष्म केन्द्रों से समूचे ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती हैं । करने को तो कभी भी प्राणायाम किया जा सकता है, उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, पर प्रातःकाल जैसा लाभ अन्य समय में नहीं मिल पाता । अस्तु प्राणायाम के लिए सबसे श्रेष्ठ समय प्रातःकाल को ही माना गया है ।

प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके सहज आसन में बैठें । दोनों हाथ घुटनों पर हों । मेरुदण्ड सीधा, आँखें बन्द । ध्यान करें कि अखिल आकाश में तेज और शक्ति से ओत-प्रोत प्राण-तत्व हिलोरे ले रहा है । गरम भाप के, सूर्य के प्रकाश में चमकती हुई बादलों जैसे शक्ल के प्राण का उफान हमारे चारों ओर उमड़ता चला आ रहा है और उस प्राण उफान के बीच हम निश्चिन्त, शान्तचित्त, निर्विकार एवं प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए हैं ।

नासिका के दोनों छिद्रों से धीरे-धीरे साँस खींचना आरम्भ करें तथा भावना करें कि प्राण-तत्व के उफनते हुए बादलों को हम अपनी साँस द्वारा भीतर खींच रहे

हैं । जिस प्रकार पक्षी अपने घोंसले में, साँस अपने बिल में प्रवेश करता है उसी प्रकार अपने चारों ओर बिखरा हुआ प्राण प्रवाह हमारा नासिका द्वारा साँस के साथ शरीर के भीतर प्रविष्ट हो रहा है और मस्तिष्क, छाती, हृदय, पेट, आँतों से लेकर समस्त अंगों में प्रवेश कर जाता है । जब साँस पूरी खींच लें तो उसे भीतर रोकें और भावना करें कि—जो प्राण-तत्व खींचा गया है, उसे हमारे भीतर, अंग-प्रत्यंग सोख रहे हैं । जिस प्रकार मिट्टी पर पानी डाला जाय तो वह उसे सोख लेती है उसी प्रकार हमारे अंग सूखी मिट्टी के समान हैं और जल रूपी इस खींचे हुए प्राण को सोखकर अपने अन्दर सदा के लिए धारण कर रहे हैं, साथ ही प्राण-तत्व में सम्मिलित चेतना, तेज, बल, उत्साह, साहस, धैर्य, संकल्प, पराक्रम जैसे अनेकों तत्व हमारे अंग-प्रत्यंग में स्थिर हो रहे हैं ।

जितनी देर साँस आसानी से रोकी जा सके उतनी देर रोकने के बाद धीरे-धीरे साँस बाहर निकाल दें । साथ में यह भावना करें कि प्राण-वायु का सारतत्व हमारे अंग-प्रत्यंगों द्वारा खींच लिए जाने के बाद अब उसी प्रकार विकार युक्त वायु के माध्यम से बाहर निकाला जा रहा है, जैसा कि मक्खन निकाल लेने के बाद निस्सार दूर हटा दिया जाता है । शरीर, मन और मस्तिष्क में जो विकार थे वे सब इस निकलती हुई साँस के साथ घुल गए हैं और काले धुएँ के समान अनेक दूषणों को लेकर बाहर निकल रहे हैं ।

पूरी साँस बाहर निकल जाने के बाद कुछ देर बाहर साँस रोके रहें अर्थात् बिना साँस के रहें और भावना करें कि अन्दर के जो दोष बाहर निकाले गए थे उनको वापस न लौटने देने की दृष्टि से दरवाजा बन्द कर दिया गया है और बहिष्कृत होकर हमसे बहुत दूर उड़े जा रहे हैं ।

यह प्राणाकर्षण की पूरी प्रक्रिया हुई । जिसे आरम्भिक चरण में पाँच की संख्या में आरम्भ करना चाहिए अर्थात् उपरोक्त प्रक्रिया पाँच बार दुहराई जाय । हर महीने एक प्राणायाम बढ़ाया जा सकता है । यह प्रक्रिया क्रमशः बढ़ाते हुए एक वर्ष की अवधि में आधे घण्टे समय तक पहुँचाई जा सकती है ।

प्राणाकर्षण द्वारा प्राणबल का सम्वर्धन : तृतीय चरण

धन-बल, शरीर-बल, पद-बल आदि का उपयोग भौतिक दृष्टि से उपार्जन, प्रगति एवं सहयोग के लिए किया जाता है । आत्मिक दृष्टि से अपना विकास तथा दूसरों की सहायता कर सकने के लिए प्राणबल से सम्पन्न होना आवश्यक है । इस प्राण सम्पदा की आत्मिक समृद्धि द्वारा ही दूसरों को आत्मिक-आध्यात्मिक अनुदान देना सम्भव है ।

पर्याप्त प्राण-बल के अभाव में कोई साधक आध्यात्मिक विकास के कठिन मार्ग पर देर तक, अन्त तक चल भी नहीं सकता । प्राण-शक्ति सम्पादित करने की प्रक्रिया को प्राण-प्रक्रिया कहा जाता है । जो गायत्री साधना यानी प्राण-विद्या का अभिन्न अंग है ।

इस अनन्त विश्व, ब्रह्माण्ड में प्राण-शक्ति उसी तरह भरी पड़ी है, जिस प्रकार समुद्र में जल । वस्तुतः सूक्ष्म दृष्टि से यह सारी सृष्टि अथाह, अनन्त प्राण सागर ही है । इसी ब्रह्माण्ड व्यापी प्रचण्ड प्राण-शक्ति को शास्त्रीय शब्दावली में "ब्रह्म ऊष्मा" कहते हैं । "लेटेन्ट हीट" इसी का भौतिक विज्ञानपरक रूप है । इसी के प्रभाव ताप और प्रकाश से, विश्वव्यापी विविध हलचलें और गतिविधियाँ सम्भव हो रही हैं । संसार के जीवन इसी प्राण का प्रचण्ड पुंज हैं गायत्री-साधना में उपास्य सविता देवता । गायत्री के शाब्दिक अभिप्राय भी प्राण की संरक्षक अभिवर्धनी शक्ति की साधना, आराधना ही है । प्राणसाधना द्वारा ही वह समर्थता आती है, जिसके द्वारा सर्वतोमुखी प्रगति सम्भव होती है । आत्मकल्याण के लिए प्राणबल अनिवार्य है ।

प्रकाश पूर्ण प्राणबल के सम्वर्धन के लिए की जाने वाली साधना में प्राणायाम का केन्द्रवर्ती महत्त्व है । पातंजलि योग सूत्र में भी स्पष्ट कर दिया गया है कि—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणाम् धारणासु च योग्यता मनसः ।

अर्थात् "प्राणायाम के अभ्यास से रजोगुण और तमोगुण का आवरण हटता है और प्रकाश की प्राप्ति

होती है, जिससे मन में एकाग्रतापूर्ण धारणा की विशेष शक्ति आती है ।"

प्राणायाम के विविध प्रकारों तथा अभ्यासों में से एक सुगम एवं उत्तम लाभकारी विधि है—प्राणाकर्षण प्राणायाम की । उपासक साधना के विकास पथ में इसका अभ्यास कर लाभान्वित हो सकते हैं । यहाँ उसी की विधि बताई जा रही है—

विधि—भूमि अथवा चारपाई पर चित्त लेट जायें । शरीर एवं मन को शिथिल होने की भावना करें । दोनों हाथों को बिना कोई दबाव दिए सौर्य केन्द्र (नाभि) के ऊपर रहने दें । अब भावना करें कि चारों ओर प्राण का सागर लहलहा रहा है । धीरे-धीरे श्वास खींचें । श्वास खींचते समय भाव यह रहे कि श्वास के साथ प्रचुर मात्रा में प्राण-तत्व अन्दर प्रविष्ट कर रहा है । नाड़ी जाल के माध्यम से खींचा गया यह प्राण-तत्व सौर्य केन्द्र में एकत्रित हो रहा है । श्वास छोड़ते समय यह भाव उत्पन्न हो कि संचित प्राण-तत्व सम्पूर्ण शरीर में प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में फैल रहा है । माँसपेशी प्रत्येक कोशिका, नाड़ी, धमनी, शिरा, सिर से लेकर पैर तक की सभी कोशिकाएँ बलवती हो रही हैं, जीवन शक्ति प्राप्त कर रही हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर शक्ति से भरता एवं पुष्ट होता जा रहा है । श्वास लेते एवं छोड़ते समय प्राण की मानसिक प्रतिमूर्ति भी बना लेने से उसका प्रभाव शरीर संस्थानों पर पड़ता है । यह भावना दृढ़ता से करें कि प्राण श्वास द्वारा फेफड़े के माध्यम से आकर सौर्य केन्द्र में एकत्रित हो रहा है । छोड़ते समय प्राण का शरीर के विभिन्न अंगों में विस्तार करते समय प्रत्येक अंग में प्राण के पहुँचने का भाव चित्र भी बनना आवश्यक है । कमजोर रुग्ण स्थान, शरीर के निश्चित अंग को बलिष्ठ बनाने के लिए भी प्राण संचार की प्रक्रिया का उपयोग किया जा सकता है । उस स्थिति में कमजोर रुग्ण स्थान पर प्राण के पहुँचने से उस रोग के निवारण एवं कोशिकाओं के बलिष्ठ बनाने की भावना जितनी दृढ़ होगी उतना ही अधिक इस प्राण उपचार का लाभ मिल सकेगा ।

यह भी स्मरण रहे कि प्राणाकर्षण मात्र शारीरिक नहीं वरन् मानसिक योगाभ्यास है । मनःशक्ति पर आधारित होने के कारण आवश्यक नहीं कि प्राण-तत्व को मात्र श्वास (नासिका) के मार्ग से आकर्षित किया जाय । नासिका द्वारा लिए गए श्वास के माध्यम से प्राण-शक्ति का संचय एक सामान्य प्रक्रिया है । जिसका लाभ जाने-अनजाने सबको मिलता रहता है । इसकी एक असामान्य विधि भी है । योगिक ग्रन्थों में प्राणाकर्षण की अनेकानेक विधियाँ दी गई हैं । जिनके द्वारा शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग द्वारा प्राण को खींचा एवं ग्रहण किया जा सकता है । प्रत्येक शरीर कोशिका, हड्डी माँसपेशी नाड़ी, देहाणु, केशा, अवयव में प्राण को सीधे अन्तरिक्ष से खींचा जा सकता है । यह शारीरिक प्राण शोधन की एक स्वस्थ, उच्चस्तरीय प्रक्रिया है । जिससे शरीर की प्रत्येक कोशिका अंगों की प्राण संचार प्रक्रिया द्वारा सफाई हो जाती है तथा साथ ही अतिरिक्त प्राण-शक्ति भी एकत्र होती है । प्राण संचय एवं शारीरिक शोधन की इस असामान्य विधि के अभ्यास से साधक स्फूर्ति, साहस, उत्साह की स्पष्ट अनुभूति करता है । विधि इस प्रकार है ।

शरीर को आराम कुर्सी या बिस्तर पर ढीला छोड़ दें तथा शिथिल होने की भावना करें । कल्पना चित्र बनायें कि चारों ओर समस्त वातावरण में प्रचुर मात्रा में प्राण-शक्ति प्रवाहमान है । हम उसके मध्य में हैं । अब धीरे-धीरे क्रमबद्ध तालबद्ध श्वास खींचें । यह भावना करें कि प्राण-शक्ति पैरों की हड्डियों में आ रही हैं तथा विकारों का निष्कासन हो रहा है, हड्डियाँ मजबूत बन रही हैं । श्वास छोड़ते समय पैर की हड्डियों से श्वास के निकलने की भावना की जाय । इसी प्रकार भुजाओं की हड्डियों, आमाशय, ज्ञानेन्द्रिय, आँख, कान सभी अंगों में इसी श्वास के साथ प्राण-शक्ति को भरने तथा छोड़ते समय मल विकारों के निष्कासन एवं अंगों के बलिष्ठ होने, प्राण-शक्ति से भरा-पूरा होने की भावना की जाय । मेरुदण्ड में प्राण के भरने की दृढ़ कल्पना की जाय । शरीर की प्रत्येक कोशिका रोमछिद्र से प्राण खींचा जा रहा है । सम्पूर्ण शरीर प्राण-शक्ति लेकर नये जीवन से भर रहा है । यह धारणा करें ।

इस प्रक्रिया का अगला क्रम है शरीर के सात मर्म केन्द्रों पर प्राण को भेजना, वहाँ से संचित करना । बारी-बारी से सातों स्थानों पर प्राण भेजने की कल्पना की जाय । (१) ललाट प्रदेश, (२) सिर के पिछले भाग, (३) मस्तिष्क के आधार में, (४) हृदय स्थल में,

(५) पेट नाभि प्रदेश में, (६) जननेन्द्रिय में, (७) मूलाधार चक्र में । इन सभी केन्द्रों में प्राण को प्रवाहित करने, परिशोधित होने, बलिष्ठ बनने की भावना जितनी प्रबल प्रगाढ़ होगी, प्राण संचय का लाभ उतना ही अधिक मिल सकेगा ।

प्राणाकर्षण की इस उन्नत प्रक्रिया में प्रत्याहार तथा धारणा का भी समावेश है । इससे यह अभ्यास ध्यान-शक्ति को भी बढ़ाता है । बढ़े हुए प्राण-बल तथा अभ्यस्त ध्यान शक्ति द्वारा आध्यात्मिक उत्कर्ष सहज हो जाता है । क्योंकि प्राण-बल द्वारा ही मनोबल बढ़ता है और विकसित मनोबल का स्वामी अपनी प्राण-शक्ति के सहारे ध्येय की दिशा में बढ़ता ही चला जाता है । इसी प्राण बल के द्वारा सामर्थ्यवान गुरु अपने योग्य शिष्यों को प्राण सम्पदा से सुसम्पन्न बनाकर उन्हें उत्तराधिकार का श्रेय-वैभव प्रदान करते हैं । यही प्राण-अनुदान प्राप्त करने के लिए श्रद्धालु शिष्य गण ऋषि आश्रमों, आरण्यकों में निवास तथा तप-साधना करते हुए अपनी पात्रता का विकास करते थे । महर्षि धौम्य ने आरुणि को, गौतम ने जावालि को, इन्द्र ने अर्जुन को, यम ने नचिकेता को, बुद्ध ने आनन्द को, शुक्राचार्य ने कच को, रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को और विवेकानन्द ने सिस्टर निवेदिता को इसी प्राण-दीक्षा से दीक्षित कर उन्हें विकास में सहायता दी थी ।

अपने भीतर वैसी पात्रता विकसित करने तथा प्रगति-पथ पर बढ़ते रहने की क्षमता बनाये रखने के लिए प्राणबल का सम्वर्धन आवश्यक है और प्राणाकर्षण प्राणायाम इसका एक उपाय है ।

प्राणाकर्षण प्रयोग से तेजस् का जागरण : चतुर्थ चरण

सूक्ष्म तत्व प्राण-तत्व से विनिर्मित है । जड़ और चेतन का सम्मिश्रण प्राण है । जिस प्रकार नीला और पीला रंग मिलने से हरा रंग बनता है, पानी और मिट्टी का सम्मिश्रण स्वरूप कीचड़ के रूप में परिलक्षित होता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का, जड़ चेतन का सम्मिलन प्राण है । इसी के आधार पर जीवन स्थिर रहता है। जब वह शरीर से पृथक हो जाता है तो मरण की स्थिति बन जाती है ।

प्राण-तत्व शरीर में भी विद्यमान है और उसका विराट स्वरूप विश्व-ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है । जड़, चेतन की एक मात्रा जब आपस में गुँथ जाती है तो उसे जीव संज्ञा दी जाती है । वह शरीरगत अवयवों को गति प्रदान करता है साथ ही अहम् की ग्रन्थि बनकर चिन्तन तन्त्र के माध्यम से अपनी चेतना का परिचय देता है । चेतना का गुण है--चिन्तन । चिन्तन को ही सजीवता का चिह्न माना जाता है । आस्था, आकांक्षा, भावना, कल्पना, विवेचना आदि उसी के भेद-उपभेद हैं । प्राणवान को साहसी समझा जाता है। पराक्रमी, पुरुषार्थी और जीवट का धनी । महाप्राण प्रतिभावान होते हैं और अल्प प्राण कहकर दीन, दुर्बलों, कायरों, डरपोकों का तिरस्कार किया जाता है । वैभववान होने की तरह प्राणवान होना भी किसी के समर्थ सौभाग्यवान होने का चिह्न है । उसका वर्तमान सुव्यवस्थित होता है और भविष्य उज्ज्वल ।

जिस प्रकार जमीन पर बिखरा हुआ रेत बिना किसी अड़चन के अभीष्ट मात्रा में बटोरा जा सकता है, जिस प्रकार विशाल जलाशय से अपनी आवश्यकता का पानी उपलब्ध पात्र में भरा जा सकता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड-व्यापी महाप्राण में से अपनी सूक्ष्म सत्ता में प्राण-तत्व को इच्छित मात्रा में धारण करके अपना चेतना पक्ष बलिष्ठ बनाया जा सकता है । यह शरीर की शोभा समर्थता बढ़ाने का भी निमित्त कारण बनता है ।

सूक्ष्म शरीर किस स्थिति में रह रहा है, किस स्तर का है ? इसका अनुमान इसी आधार पर लगाया जा सकता है कि उसमें प्राण-तत्व कितना है ? स्थूल शरीर में उसकी विद्यमानता को "ओजस्" कहते हैं । सूक्ष्म शरीर में उसकी बहुलता "तेजस्" कहलाती है और कारण शरीर को जब वह ऊर्जा प्रदान करने लगता है तब उसे "वर्चस" नाम मिलता है ।

सूक्ष्म शरीर को लोक व्यवहार के लिए कुशल बनाने के लिए चिन्तन क्षेत्र की परिधि बढ़ानी पड़ती है । शिक्षा का आश्रय लिया जाता है, अनुभव एकत्रित करते हैं । साथ ही मनन-चिन्तन का उपक्रम अपनाते व मंथन करते हुए दूरदर्शी, विवेकशीलता की परिधि

तक पहुँचा जाता है । प्रज्ञा का, मेधा का, भूमि का उदय कारण शरीर में होता है, पर उसके पूर्व मानसिक सन्तुलन की परिष्कृत, दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि बनती है ।

विचारों की तीक्ष्णता किसी तथ्य की गहराई तक पहुँचती है, जब कि मंदता बनी रहने पर उथली प्रथा परम्पराओं को अपनाकर ही काम लिया जाता है । समीपवर्ती लोगों को जैसा सोचते, करते देखा जाता है, उसी का अनुकरण-अनुगमन साधारण जनों का भी चल पड़ता है । वे कोयले के ढेर में से हीरे नहीं बीन पाते । दोनों के बीच रहने वाला अन्तर भी उनकी समझ में नहीं आता । ऐसी दशा में वे स्वतन्त्र बुद्धि, उत्कर्ष के लिए आवश्यकता निर्धारण के लिए समर्थ नहीं होते । बस नर पशुओं की तरह जिन्दगी पूरी करते हैं । पेट-प्रजनन के अतिरिक्त और कुछ उन्हें सूझता ही नहीं । तृष्णा और अहंता उन्हें कठपुतली की तरह नचाती रहती है ।

प्रचलन का सम्मोहन जिन्हें वशवर्ती बनाये रहता है, जो समुदाय से प्रभावित परिचालित होते हैं—वे सामान्य जनों में ही गिने जाते हैं । उनसे न कुछ महत्त्वपूर्ण सोचते बनता है और न करते । आहार निद्रा की लहरों में डूबते-गिरते किसी प्रकार जिन्दगी पार करते हैं । जिन्हें आत्मबोध का प्रकाश मिलता है, वे इतने भर से सन्तुष्ट नहीं रहते, उन्हें महानता की आकांक्षा कचोटती है । फलतः ऐसी दिशाधारा खोजते हैं जो व्यक्ति में दैवी तत्वों का समावेश कर सके ।

इस मार्ग पर चलने, इस प्रयास में लगने के लिए लौकिक प्रयत्न तो करने ही पड़ते हैं । स्वाध्याय-सत्संग का, चिन्तन-मनन का आश्रय तो लेना ही पड़ता है । साथ ही एक कदम बढ़कर प्राण-तत्व की अतिरिक्त मात्रा का भी संचय करना पड़ता है । सामान्यतया हर किसी को प्राण-तत्व की एक सीमित मात्रा ही उपलब्ध होती है । उस विभूति को अधिक मात्रा में हस्तगत करने के लिए प्राणाकर्षण की विशेष साधना करनी पड़ती है । प्राणाकर्षण का अर्थ है—ब्रह्माण्डव्यापी महाप्राण में से खींचकर अपनी पात्रता को फुला-फैलाकर उसमें अभीष्ट वैभव को संचित-संकलित करना । इसी क्रिया विज्ञान को प्राणायाम भी कहते हैं ।

जन्म से मरण पर्यन्त हमें साँस लेने, छोड़ने का क्रम चलाना पड़ता है । वायु को नथुनों द्वारा लिया, फेफड़ों में भरा, अंग-प्रत्यंग में फैलाया जाता है । अपनी पहुँच की परिधि में वह बुहारी लगाती है और कचरे को बाहर निकाल फेंकती है । इसी प्रकार सामान्य परिशोधन होता रहता है । वायु के साथ शरीर को पोषण देने वाला ऑक्सीजन तत्व भरा रहता है । यही ईंधन बनकर जलता और शरीर संचालन के लिए आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न करता है । इतनी जानकारी हर किसी को होती है, किन्तु इस रहस्य को अध्यात्म विज्ञानी ही जानते हैं कि ऑक्सीजन के अतिरिक्त आवश्यकता प्राण-तत्व की भी रहती है । इसे ऑक्सीजन नहीं उससे उच्चस्तरीय चेतना मिश्रित धारा कह सकते हैं । यह अनायास ही नासिका मार्ग से भीतर घुसती-निकलती नहीं रहती, वरन् उसे संकल्प शक्ति को उभारकर विशेष प्रयास द्वारा खींचने और धारण करने का अभ्यास करना पड़ता है । इस अभ्यास में जितनी अधिक पकड़ होती है, उतनी ही शक्ति लगाकर वह प्राण-तत्व को उतनी ही मात्रा में आकर्षित करने, पकड़ने, धारण करने में समर्थ होती है । प्रयोक्ता इसे इच्छित मात्रा में प्रयत्नपूर्वक उपलब्ध कर सकते हैं और उसे जिस भी प्रयोजन में खर्च करना चाहें, खर्च कर सकते हैं । इसे प्राण विज्ञान कहा जाता है । अध्यात्म क्षेत्र की इसे एक बड़ी उपलब्धि माना जाता है । इस अतिरिक्त प्राण का अनेक प्रयोजनों में उपयोग होता है । ऑक्सीजन तो श्वास-प्रश्वास का प्रयोजन ही पूरा करती है, किन्तु प्राण के द्वारा साधक अपने मानस तन्त्र का स्तर भी बढ़ा सकता है और प्रभाव एवं कार्य क्षेत्र भी ।

प्राण के अधिकार पर सामान्य बुद्धि में वैसी तीक्ष्णता आती है जैसी कि दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों में देखी जाती है । प्राण के द्वारा मनोविकारों को जलाया जा सकता है । चिन्तन क्षेत्र में आदर्शवादिता एवं विवेकशीलता को उछाला-उभारा जा सकता है । प्राण का मन पर नियन्त्रण है । चित्तवृत्तियों के निरोध की, मनोनिग्रह की, एकाग्रता सम्पादन की, आध्यात्म उत्कर्ष के निमित्त पग-पग पर, पल-पल में आवश्यकता पड़ती है । मनस्वी बनने के लिए प्राण-तत्व की अधिक मात्रा संकलित करनी पड़ती है । इसके बिना ओछी

चतुरता ही हाथ रह जाती है और वह कुशलता भरे छद्म-प्रपंच ही रचती रहती है । महामानवों जैसी-विशेषताएँ उत्पन्न करने के लिए मन क्षेत्र को प्राण प्रेरणा के माध्यम से उभारना पड़ता है ।

प्राण की शक्ति बिजली की तरह धावमान भी है और विद्युत उत्पादक यन्त्र की तरह स्थिर भी । उससे आत्म विकास के हर पक्ष में अभिनव चेतना का संचार किया जा सकता है । साधक व्यक्तित्ववान, प्रतिभावान, विवेकवान और सामर्थ्यवान बन सकता है । इनकी कमी से जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनसे उबरा जा सकता है । साथ हीं यह भी सम्भव है कि इस उपार्जित चेतन सम्पदा का एक भाग किसी जरूरत मंद के लिए हस्तान्तरित किया जा सके । इसे शक्तिपात भी कहते हैं और प्राण अनुदान लाभदायक वरदान भी, जिस प्रकार आग की तपती भट्टी के निकट बैठने वाले शीत से मुक्ति पाते हैं । उस ऊर्जा का अनेकानेक कार्यों में उपयोग कर सकते हैं उसी प्रकार यह भी सम्भव है कि प्राण सम्पदा के धनी अपनी उस ऊर्जा को हस्तान्तरित करते रह सकें । रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को, चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को, समर्थ ने शिवाजी को मात्र आशीष ही नहीं दिया था, इसके साथ ही इन शिष्यों को प्राण अनुदान भी प्रदान किया था । इसी आधार पर वे व्यक्तित्व सम्पन्न बने और महान कार्यों का सूत्र संचालन कर सके । ईसा अपनी प्राण चेतना को रोगियों और पतितों में वितरित किया करते थे ।

इस शक्ति का दुष्प्रयोजन के लिए भी प्रयोग हो सकता है । तांत्रिक, कापालिक, अघोरी इसी शक्ति के बलबूते प्रतिपक्षियों को त्रास देते हैं । मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तम्भन आदि के प्रयोगों में दूसरों को हानि पहुँचा कर अपनी अहंता का पोषण किया जाता है । चाकू से फल काटने का काम भी लिया जा सकता है और किसी पर प्राणघातक आक्रमण करने का भी । यह प्रयोक्ता की मनःस्थिति पर निर्भर है कि शक्ति साधनों को किसके लिए किस प्रकार प्रयोग करे ?

प्राणाकर्षण की विधा सार्वभौम है । इसमें सम्प्रदाय भेद, भाषा भेद, लिंग भेद आदि के कोई व्यवधान आड़े नहीं आते । यों इस विज्ञान के अनेकानेक भेद-उपभेद हैं और उन्हें विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है । पर इन पंक्तियों में प्रारम्भिक स्तर की वह प्रक्रिया ही वर्णित की गई है, जिसे सर्वसुलभ और सर्वजनीन कहा जा सके ।

उस अभ्यास के लिए प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है, क्योंकि रात्रि के शान्त समय में कोलाहल प्रदूषण, अन्धड़ की सभी अनुपयुक्ततायें नीचे बैठ जाती हैं, एवं जलाशयों-वृक्ष-वनस्पतियों द्वारा सोख ली जाती हैं । प्रभात के ब्रह्म मुहूर्त में प्रकृति अपेक्षाकृत अधिक सौम्य एवं शीतल रहती है । आध्यात्मिक साधनाओं के लिए वह समय इसी कारण सर्वोत्तम माना जाता है । यों अध्ययन, व्यायाम आदि के लिए भी उस समय की अधिक उपयुक्तता है ।

प्राणाकर्षण साधना खुली जगह में करनी चाहिए । शुद्धता जितनी अधिक रह सके उतना उत्तम । आसन बिछाकर पूर्वाभिमुख बैठना चाहिए । समय सूर्योदय से एक घण्टा पहले से लेकर एक घण्टा बाद तक रखा जा सकता है । मेरुदण्ड सीधा रहे । आँखें बन्द । हाथ गोदी में । चित्त शान्त । यह ध्यान मुद्रा है । प्राणायाम में भी इसी का प्रयोग किया जाता है ।

भावना यह करनी चाहिए कि सृष्टि में संव्याप्त वायु के साथ-साथ जो प्राण-सम्पदा भरी हुई है उसी को उभारना और खींचना अपना उद्देश्य है । तालाब में जिस प्रकार मछली रहती है, अपनी स्थिति भी वैसी ही अनुभव करनी चाहिए कि प्राण समुद्र चारों ओर लहलहा रहा है और अपनी स्थिति उसके मध्य मछली जैसी है । प्राण सब ओर से अपने भीतर प्रवेश कर रहा है । अपना चुम्बकत्व उसे परिपूर्ण मात्रा में खींचकर अवशोषण कर रहा है । इसी मनःस्थिति में, भाव धारणा में प्रायः दस मिनट रहा जाय ।

इसके उपरान्त प्राणायाम का क्रम चलता है । दोनों नथुनों से धीरे-धीरे साँस खींची जाय और उसे जितनी अधिक मात्रा में भरा जा सकता हो, भरा जाय । साथ ही यह संकल्प भी उभारना चाहिए कि साँस के साथ प्रचुर मात्रा परिमाण में प्राण-तत्व भी अन्तराल में प्रवेश कर रहा है । इसी ऊर्जा अवतरण की अनुभूति किसी रूप में होती रहे, इसके लिए भावना क्षेत्र को उद्यत एवं तत्पर करना चाहिए ।

साँस खींच चुकने पर उसे भीतर रोका जाय । रोकने का समय खींचने से आधा रहे । इस समय भावना की जाय कि जो प्राण भीतर पहुँचा है, उसे जीवकोषों द्वारा खींचा-चूसा जा रहा है और काया का प्रत्येक घटक उस ऊर्जा से अनुप्राणित हो रहा है ।

अब साँस को छोड़ना आरम्भ किया जाय । मान्यता अपनाई जाय कि भीतर भरे अवांछनीय तत्वों का साँस के साथ बहिर्गमन हो रहा है और उस भार से पूरी तरह मुक्ति मिल रही है । हल्कापन अनुभव हो रहा है ।

पूरी साँस निकल जाने पर जितनी देर साँस भीतर रोकी गई थी, उतनी ही बाहर भी रोकी जाय । अर्थात बिना साँस के रहा जाय और भावना की जाय कि संसार के बाहरी प्रभाव अपने स्थान पर रुक गए और अन्तर्मुखी स्थिति सुरक्षित हो गई ।

यह एक प्रयोग हुआ । इसे आरम्भिक दिनों में न्यूनतम दस बार किया जाय । हर सप्ताह एक-एक प्राणायाम बढ़ाया जाय । अन्ततः उसकी संख्या २५ तक पहुँचाई जाय । संख्या भले ही सीमित हो, पर उसके साथ भावना का गहरा पुट लगा रहे । प्राणयोग की सफलता का यही रहस्य भरा तत्व ज्ञान है ।

प्राण-शक्ति से अनुप्राणित होने की विधा

साधारण श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से उत्पन्न ऊर्जा से मनुष्य की सामान्य जीवनचर्या चलती रहती है । शारीरिक अंग-अवयवों के अपने-अपने प्रयोजन सम्पन्न होते रहते हैं, किन्तु अधिक सशक्तता प्राप्त करने के लिए अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है । बड़ा कारखाना चलाने के लिए बड़ी मशीनें चला सकने वाली बड़ी मोटर फिट करनी पड़ती हैं । छोटी मोटरें तो छोटी मशीन ही चला पाती हैं ।

महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक कार्य करने के लिए जिस उच्चस्तरीय ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है, वह खाने-पीने या आग तपाने जैसे प्रयत्नों से नहीं, वरन् वहाँ से प्राप्त करनी होती हैं जहाँ चेतना और पदार्थ दोनों को प्रभावित करने वाली क्षमता का उद्गम है । यह उद्गम ब्रह्माण्डव्यापी 'प्राण' है । प्राण ही वह तत्व है जो अन्तरिक्ष में जीवन और पदार्थ दोनों की संयुक्त शक्ति के रूप में प्रवाहित रहता है । प्राणायाम प्रक्रिया द्वारा उसी महाप्राण के लहलाते महासमुद्र में से अभीष्ट परिमाण में प्राण-तत्व को आकर्षित करने और अपने में धारण कर महत्चेतना से परिपूर्ण बनने की प्रक्रिया अपनाई जाती है ।

विविध प्रयोजनों के लिए प्राण प्रक्रिया के अनेकों भेद-उपभेद किए गए हैं । सम्बद्ध अनेकों प्रकार के प्राणायाम का वर्णन योग ग्रन्थों में आता है । विविध प्रयोगों के लिए विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का अवलम्बन लिया जाता है, किन्तु ध्यान मिश्रित प्राणयोग दिव्य चेतना के सम्वर्धन की एक ऐसी सरल किन्तु बहुआयामी सशक्त विधा है जो जोखिम रहित भी है और सर्व साधारण के लिए उपयोगी भी । इस प्राणाकर्षण प्राणायाम के नियमित अभ्यास से आन्तरिक प्राण सम्पदा क्रमशः बढ़ती जाती है और उससे भौतिक सफलताओं एवं आत्मिक विभूतियों का अवरुद्ध मार्ग खुलता है । जीवात्मा का क्षुद्र प्राण चेतना के महाप्राण से जुड़कर उसी के समतुल्य बन जाता है ।

इस प्राणायाम को चित लेटकर शिथिलीकरण मुद्रा में आरम्भ करना होता है । शिथिलीकरण मुद्रा का तात्पर्य है—शरीर के प्रत्येक अवयव को इतना ढीला कर देना जितना वह नींद आ जाने पर होता है । प्रयत्न यह होना चाहिए कि किसी अंग पर तनाव न आने पाये । सभी अवयव इस स्थिति में हों मानो इनमें से जान निकल गई हो । मन को भी अर्ध-निद्रित स्थिति में ले जाना चाहिए । गहरी नींद तो अपने समय पर ही आती है, किन्तु खुमारी जैसी स्थिति प्रयत्नपूर्वक भी क्या आ सकती है, इस स्थिति को योग निद्रा कहते हैं । विचारों की भागदौड़ एकदम समाप्त कर दी जाती है । नशे की गहरी खुमारी जैसा अनुभव करना पड़ता है । शरीर और मन को पूरी तरह शिथिल करने में प्रायः पाँच मिनट का समय लग जाता है । इसमें स्व सम्मोहन जैसा प्रयोग करना होता है । अपने ही संकल्प बल से अपने को तंद्रा स्थिति तक पहुँचाया जा सकता है । यह समाधि का आरम्भिक अभ्यास है । मनोबल अधिक सुदृढ़ होने पर इसी आधार पर गहरी और लम्बी समाधि भी लगं सकती है ।

यह कहने को तो प्राणाकर्षण प्राणायाम है, पर वस्तुतः इसे "ध्यान योग" कहना चाहिए । इसमें एक नथुना बन्द करने दूसरा खोलने जैसा झंझट नहीं है और न श्वास को उलट-पुलट, रेचक, कुम्भक, पूरक की क्रिया करनी पड़ती है ।

इस प्रक्रिया में शरीर को शिथिल करते ही यह ध्यान करना पड़ता है कि अपने चारों ओर प्राण-तत्व का सागर लहलहा रहा है । अपना शरीर उसके बीच इसी प्रकार रह रहा है, जैसे जलाशय में मछली रहती है । प्राण मात्र हवा नहीं है । उसमें मिला हुआ ऑक्सीजन भी नहीं, वरन् एक चेतन तत्व है, जिसमें जीवट, साहस, पौरुष, पराक्रम, प्रतिभा, प्रखरता, संकल्प आदि चेतन पक्ष को प्रभावित एवं उत्तेजित करने वाले गुण प्रचुर परिमाण में भरे हुए हैं । सर्वव्यापी उस प्राण चेतना में प्रकाश की चमक और ऊर्जा भी घुली हुई है । यह प्राण ही जीवन है । उसी के कारण जीवन को सुसंचालित रख सकने वाली प्राण ऊर्जा मिलती है।

शिथिलता के उपरान्त अपने सब ओर वायु की तरह प्राण भरा होने की भावना प्रगाढ़ करनी पड़ती है । तत्पश्चात प्रयोग आरम्भ होता है । दोनों नथुनों से धीरे-धीरे साँस खींची जाती है और भावना की जाती है कि उसमें वायु के साथ प्राण भी बड़ी मात्रा में शरीर एवं मस्तिष्क के भीतर भर रहा है । श्वास धीमी गति से लेनी चाहिए । जब फेफड़े और पेट हवा से पूरी तरह भर जायें तो इस प्रथम चरण को रोक देना चाहिए । साँस खींचते समय यह धारणा बलवती होनी चाहिए कि शरीर में प्राण ने प्रवेश किया और उसके कण-कण को जीवट से भर दिया ।

साँस रोकने की—भीतर ही भरे रहने की क्रिया इस उपक्रम का दूसरा चरण है । इसे साधारणतया कुम्भक कहा जाता है । थोड़ी देर इस स्थिति में रह कर भावना करनी चाहिए कि शरीर का प्रत्येक कण ऊर्जा को सोख रहा है । जिस प्रकार मिट्टी के ढेले पर पानी डालते हैं तो मिट्टी पानी को सोख लेती है, ठीक उसी स्तर का अनुभव करना चाहिए कि जो ग्रहण किया गया था उसे अवशोषित भी कर लिया गया और काया में अभिनव चेतना का संचार हो चला ।

इसके उपरान्त साँस को धीरे-धीरे दोनों नासिका छिद्रों से बाहर निकालना चाहिए और भावना यह करनी चाहिए कि प्राण के प्रवेश करने से पूर्व शरीर में जो दुर्बलता, रुग्णता थी, मन में जो कुछ कुविचार, कुसंस्कार भरे हुए थे, उन्हें निष्कासित होना पड़ रहा है । उदाहरणार्थ—किसी गिलास में पानी भरा हो और उसमें मिट्टी भरनी शुरू कर दी जाय तो स्वभावतः पहले का भरा पानी बाहर निकल कर फैलने लगेगा । यही स्थिति अपनी भी अनुभव करनी चाहिए कि शरीर में जो प्राण-तत्व भरा गया है, उसने पूर्व संचित रोग, शोक एवं कषाय कल्मषों को निकाल बाहर कर दिया है ।

इस प्रकार पूरी साँस धीरे-धीरे बाहर निकाल देनी चाहिए और अशुभ के निष्कासन की ध्यान-धारणा परिपक्व प्रखर करनी चाहिए । इसके बाद कुछ देर बिना हवा के रहना चाहिए । साँस रोक लेनी चाहिए और भावना करनी चाहिए कि निष्कासित दोष-दुर्गुणों को वापस न लौटने देने के लिए कपाट बन्द कर दिए गए हैं । इस अवधि में धारणा यही रहनी चाहिए कि अन्तराल का हर कोना न केवल निर्दोष कलुष रहित हो गया है, वरन् उसमें सर्वत्र दिव्य चेतना का संचार हो रहा है ।

ध्यानयोग परक यह एक प्राणाकर्षण प्राणायाम हुआ । इसकी आरम्भ में पाँच बार पुनरावृति करनी चाहिए और फिर एक सप्ताह बाद एक की संख्या बढ़ाते चलना चाहिए । दस पर जाकर रुक जाना चाहिए और देखना चाहिए कि आकर्षित किए हुए प्राण की और अधिक मात्रा ग्रहण करने की गुंजाइश है या नहीं ।

प्राण धारणा से शरीर में ऊष्मा एवं उत्तेजना बढ़ने लगती है । आलस्य-प्रमाद छूटता है और आनन्द-उत्साह की अनुभूति होने लगती है । दर्पण में मुँह देखने पर चेहरा चमकता हुआ प्रतीत होता है । आँखों में आनन्द और होठों पर प्रसन्नता दौड़ती है । साथ ही मस्तिष्क पर छाई हुई उदासी दूर होती है और काम करने का उत्साह उभरता है । तनाव से छुटकारा पाने में इससे बढ़िया और कोई दूसरा उपाय नहीं ।

अति सर्वत्र वर्जित है । अधिक मात्रा में खाया हुआ पौष्टिक भोजन भी अपच उत्पन्न करता है ।

अति की ठण्ड और अति की गर्मी भी बुरा असर डालती है । ठीक इसी प्रकार प्राण की अधिक मात्रा भी उपरोक्त प्राणाकर्षण प्राणायाम के माध्यम से उतनी ही मात्रा में ग्रहण और धारण करनी चाहिए जो अनावश्यक ऊष्मा या उत्तेजना न पैदा करने लगे ।

सर्दी के दिनों में यह प्राणाकर्षण प्राणायाम धूप में अरुणोदय काल में किया जा सकता है, किन्तु कपड़े भारी और मोटे किसी भी ऋतु में नहीं पहनने चाहिए, क्योंकि प्राण का प्रवेश मात्र नासिका द्वारा ही नहीं रोम-कूपों तथा अन्यान्य छिद्रों द्वारा भी होता है । उसी मार्ग से दूषित तत्व, भी निकलते हैं । इसलिये मोटे कपड़े पहनने या बन्द घर में क्रिया करने की अपेक्षा खुले वातावरण में इसे करना और लज्जा ढकने लायक हल्के वस्त्र ही शरीर पर रहने देना चाहिए । गर्मी के दिनों में इसके लिए सर्वोत्तम समय प्रातःकाल का ब्रह्ममुहूर्त है । उस समय अन्तरिक्ष में प्राण-तत्व का प्रवाह अत्यन्त तीव्र होता है तथा विशिष्ट प्रकार की चैतन्य धाराएँ सूक्ष्म केन्द्र से समूचे ब्रह्माण्ड में प्रवाहित होती हैं । अतः प्राण योग के लिए सबसे श्रेष्ठ समय यही है ।

इच्छा, भावना एवं संकल्प का पुट जुड़ने से ही क्रियाएँ प्राणवान बनती तथा अभीष्ट परिणाम प्रस्तुत करती हैं । ध्यान प्राण योग की—प्राणाकर्षण प्राणायाम की सफलता भी इन्हीं की दृढ़ता के ऊपर निर्भर करती है । इस विशिष्ट साधना प्रक्रिया को अपनाकर हर कोई ओजस्, तेजस्, वर्चस् सम्पन्न बन सकता है ।

लोम-विलोम सूर्यविधन प्राणायाम

सूर्यविधन प्राणायाम से सूक्ष्म शक्ति केन्द्रों का जागरण

शक्ति आयामों में विभिन्न शक्तियों की चर्चा की जाती है । पदार्थ की शक्ति, विद्युत शक्ति, चुम्बकीय शक्ति, गुरुत्वाकर्षण शक्ति, शारीरिक शक्ति आदि । शक्ति का एक और भी आयाम है जो इनकी तुलना में कहीं अधिक सूक्ष्म, पर अधिक सामर्थ्यवान है । वह है प्राण की शक्ति । जीव चेतना में प्राण की एक सीमित मात्रा भरी हुई है, जिसके द्वारा वह जीवन का दैनिक व्यापार चलाता है । ब्रह्माण्ड में प्राण-शक्ति प्रचुर परिमाण में संव्याप्त है । ब्रह्माण्ड एक ऐसा विराट् सागर है जिसमें प्राण-तत्व हिलोरें ले रहा है । पिण्ड सत्ता—जीव सत्ता में समाहित प्राण-तत्व को आत्माग्नि कहा जा सकता है और ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राण को ब्रह्माग्नि । आत्माग्नि लघु है—ब्रह्माग्नि विभु । एक बूँद है—दूसरा सागर । इस प्रकार मूलतः एक होते हुए भी विस्तार भेद के कारण उसके दो रूप बन गए । तालाब में जब वर्षा होती है वह विपुल जलराशि अपने गर्भ में भरकर परिपूर्ण हो जाता है । वर्षा का यह अनुदान न मिलने पर तालाब सूखता और घटता जाता है । पानी में मलीनता भी बढ़ती है । इसलिये तालाब को स्वच्छ रखने के लिए नये वर्षा जल की आवश्यकता पड़ती है । ठीक इसी प्रकार आत्माग्नि में ब्रह्माग्नि का अनुदान सतत पहुँचते रहना आवश्यक है । जिस साधना प्रक्रिया द्वारा इस प्रयोजन की आपूर्ति होती है उसे प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम अर्थात् प्राण का आयाम जोड़ने की—प्राण-तत्व सम्वर्धन की—एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें जीवात्मा का क्षुद्र प्राण—ब्रह्म चेतना के महाप्राण से जुड़कर उसी के तुल्य बन जाय ।

योग शास्त्रों में व्यक्ति—प्राण और ब्रह्म-प्राण के एकरूपता के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख आता है—

> **प्राणावैद्वदेवत्याः एकमात्रागृह्यते । तस्मात् प्राणा एक नामान्ता द्विमात्र हूयन्ते तस्मात्प्राण द्वन्द्वम् ।**
>
> —*ऐतरेयोप. २/१७*

अर्थात्—प्राण एक है, पर वह दो देवताओं में—दो पात्रों से भरा हुआ है ।

शरीर शास्त्र की दृष्टि से यों तो 'डीप ब्रीदिंग' गहरी साँस लेने को आरोग्यवर्धक बनाया गया है । इससे फेफड़ों को अधिक ऑक्सीजन की मात्रा मिलती है जो स्वास्थ्य सन्तुलन एवं सम्वर्धन में सहायक सिद्ध होती है, पर अध्यात्म विज्ञान में जिस प्राणायाम की चर्चा की जाती है वह शरीर शास्त्रियों की प्रचलित डीप-ब्रीदिंग से भिन्न होती है । गहरी साँस से अतिरिक्त ऑक्सीजन मिलने और स्वास्थ्य सम्वर्धन का मात्र शारीरिक स्थूल प्रयोजन पूरा होता है, पर योगिक प्राणायामों में चैतन्य प्राण-तत्व का महत्त्वपूर्ण लाभ

साधक को मिलता है । उल्लेखनीय है कि ऑक्सीजन और प्राण-तत्व एक नहीं है । वायु में—निखिल ब्रह्माण्ड में दूध में घी की भाँति प्राण-तत्व घुला-मिला तो अवश्य है वह ऑक्सीजन स्वयं प्राण नहीं है—प्राण का सम्वाहक है । प्राणायाम प्रक्रिया में ब्रह्माण्डव्यापी महाप्राण के लहलहाते सागर में अभीष्ट परिमाण में प्राण-तत्व खींचकर आत्मप्राण तक पहुँचाया जाता है । इस प्रकार आन्तरिक प्राण सम्पदा की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है जिससे भौतिक सफलताओं और आत्मिक विभूतियों का अवरुद्ध मार्ग खुलता है ।

विविध प्रयोजनों के लिए प्राण प्रक्रिया के अनेकों भेद-उपभेद किए गए हैं । सम्बद्ध अनेकों प्रकार के प्राणायामों का वर्णन योग ग्रन्थों में आता है । विविध प्रयोगों के लिए विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का अवलम्बन लिया जाता है । मानवी सत्ता में शक्ति का भाण्डागार बीज रूप में विद्यमान है, जिसे कुण्डलिनी महाशक्ति के रूप में जाना जाता है । परमाणु के नाभिक में प्रचण्ड शक्ति भरी पड़ी है, पर वह दिखाई पड़ती और उपयोग में तभी आती है जब एक निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रिया अपनाकर नाभिकीय विखण्डन कराया जाता है । यह प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है और खर्चीली भी । कुण्डलिनी महाशक्ति जिसे—सरपेन्टाइन पावर—वाइटल फोर्स आदि के नाम से जाना जाता है, हर मनुष्य में सुषुप्तावस्था में पड़ी रहती है । दबे हुए खजाने की भाँति उस शक्ति का मनुष्य लाभ नहीं उठा पाता । उस महाशक्ति की एक नगण्य चिनगारी काम उभार के रूप में दिखाई पड़ती तथा विपरीत लिंगों के प्रति आकर्षण पैदा करती, प्रजनन के लिए प्रेरणा देती है । शक्ति के भाण्डागार का सामान्य मनुष्य कोई विशेष लाभ नहीं उठा पाता । प्राणायाम की विशिष्ट प्रक्रिया उस महाशक्ति के जागरण में विशेष सहयोग करती है । कुण्डलिनी जागरण के लिए प्राण-शक्ति का प्रचण्ड आघात आवश्यक होता है । शरीर में विद्यमान प्राण की मात्रा इस प्रयोजन की पूर्ति नहीं कर पाती । निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त प्राण-तत्व को आकर्षित करना तथा अपने भीतर भरना पड़ता है । सूर्यवेधन प्राणायाम इस प्रयोजन के लिए सर्वाधिक सहायक सिद्ध होता है । कुण्डलिनी जागरण की साधना में सूर्यवेधन स्तर के प्राणायाम की ही आवश्यकता पड़ती है ।

प्राण के प्रहार से जीवाग्नि के—उद्दीपन, प्रज्ज्वलन का उल्लेख साधन ग्रन्थों में अनेकों स्थान पर हुआ है । यह वही अग्नि है जिसे योगाग्नि, प्राण ऊर्जा, जीवनी शक्ति अथवा कुण्डलिनी कहते हैं । अग्नि में ऐसा ही ईंधन डाला जाता है जिसमें अग्नितत्व की प्रधानता वाले रासायनिक पदार्थ अधिक मात्रा में होते हैं । कुण्डलिनी प्राणाग्नि है उसमें सजातीय तत्वों का ईंधन डालने से ही उद्दीपन होता है । सूर्यविधन प्राणायाम द्वारा इड़ा-पिंगला के माध्यम से अन्तरिक्ष से खींचकर लाया गया प्राण-तत्व मूलाधार में अवस्थित चिनगारी जैसी प्रसुप्त अग्नि तक पहुँचाया जाता है तो वह भभकती है और जाज्वल्यमान लपटों में सारी सत्ता को अग्निमय बनाती है । अग्नि का उल्लेख शास्त्रों में मूलाधार स्थित प्राण ऊर्जा के लिए ही हुआ है—

आदेहम ध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृदम ।
तत्र सिन्दर वर्णोऽग्निर्ज्वलनंदशपंच च ॥

—*त्रिशिखोपनिषद्*

अर्थात्—कटि के निम्न भाग में अग्नि स्थापना वह सिन्दूर के रंग का है । उसमें पन्द्रह घड़ी प्राण को रोककर अग्नि की साधना करनी चाहिए ।

तडिल्लेखा तन्नीतपन शशि वैश्वानरमयी ।
तडिल्लंता समरुचिर्बिद्युल्लेखेन भास्वती ॥

अर्थात्—बिजली की बेल के समान, तपते हुए चन्द्रमा के समान अग्निमयी वह शक्ति दृष्टिगोचर होती है ।

नाभेस्तिर्यग धोर्ध्वं कुण्डलिनी स्थानम् । अष्ट प्रकृति रुपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति । यथा वद्वाय संचारं जलान्नदीनि पंरितः स्कन्धपाश्वष निरुध्यैनं मुखेनैष समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्र योगकालेऽपानेनाग्निना च स्फुरति ॥

—*शाण्डिल्योपनिषद्*

अर्थात्—नाभि के नीचे कुण्डलिनी का निवास है । यह आठ प्रकृति वाली है । इसके आठ कुण्डल हैं । यह प्राण-वायु को यथावत् करती है । अन्न और जल को व्यवस्थित करती है । मुख तथा ब्रह्मरन्ध्र की अग्नि को प्रकाशित करती है ।

मूलाधारस्थ ब्रह्मयात्म तेजोमध्ये व्यवस्थिता ।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाश तैजसी ॥

—*रुद्र तन्त्र*

अर्थात्—मूलाधार में निवास करने वाली आत्मतेजरूपी अग्नि, जीव शक्ति है । प्राणरूपी आकाश में प्रकाशवान कुण्डलिनी ही है ।

देहमध्ये ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभावर्तते । सातुमूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति । तन्मध्ये तटकोटिसमानकान्त्या मृणाल सत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धाऽस्तितां । दृष्टा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा युक्तोभवति ।

—*अद्वैत तारकोपनिषद्*

अर्थात्—देह में ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना परम प्रकाशवान है । वह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है । उसके साथ सूक्ष्म तन्तु में जुड़ी अति ज्वलन्त कुण्डलिनी शक्ति है । उसका भावनात्मक दर्शन करने से मनुष्य सब पापों से और बन्धनों से छुटकारा पा जाता है ।

प्राण का मूलाधार स्थित जीवाग्नि का प्रहार तथा उद्दीपन यही है—सूर्यवेधन प्राणायाम का लक्ष्य । सूर्यवेधन प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है—

किसी शान्त एकान्त स्थान में प्रातःकाल अथवा सायंकाल की बेला में स्थिर चित्त होकर बैठना चाहिए । आसन सहज हो, मेरुदण्ड सीधा, नेत्र अधखुले, घुटने पर दोनों हाथ, यह प्राण मुद्रा कहलाती है । सूर्यवेधन प्राणायाम के लिए इसी मुद्रा में बैठना चाहिए ।

दाएँ नासिका का छिद्र बन्द करके बाएँ से धीरे-धीरे श्वास खींचना चाहिए । भावना यह हो कि वायु के साथ प्राण ऊर्जा की प्रचुर मात्रा मिली हुई है । वह प्राण ऊर्जा को सुषुम्ना मार्ग से वाम मार्ग के ऋण विद्युत प्रवाह इड़ा धारा द्वारा मूलाधार तक पहुँचाना—यहाँ अवस्थित प्रसुप्त चिनगारी को झकझोरना, थपथपाना, जागृत करना—यह सूर्यवेधन प्राणायाम का पूर्वार्ध है । उत्तरार्द्ध में प्राण को पिंगला (मेरुदण्ड के दक्षिण मार्ग के धन विद्युत प्रवाह) में से होकर वापस लाया जाता है । जाते समय अन्तरिक्ष स्थित प्राण शीतल होता है—ऋण धारा भी शीतल मानी जाती है । इसलिये इड़ा को, पूरक को—चन्द्रवत कहा जाता है । इड़ा को चन्द्र नाड़ी कहने से यही प्रयोजन है । लौटते समय अग्नि उद्दीपन—प्राण प्रहार की संघर्ष प्रक्रिया से उष्मा बढ़ती और प्राण में सम्मिलित होती है । लौटने का पिंगला मार्ग धन विद्युत का क्षेत्र होने से उष्ण माना गया है । दोनों ही कारणों से प्राण-वायु उष्ण रहता है, इसलिये उसे सूर्य की उपमा दी गई है । इड़ा चन्द्र और पिंगला सूर्य है । पूरक चन्द्र और रेचक सूर्य है । योग ग्रन्थों में ऐसा ही वर्णन मिलता है ।

साधना में क्रिया-कृत्यों की तुलना में भावना एवं संकल्प का महत्त्व अधिक है । साधक को इसके अनुरूप ही लाभ मिलता है । श्वास द्वारा खींचे हुए प्राण को मेरुदण्ड मार्ग से मूलाधार चक्र तक पहुँचाने का संकल्प दृढ़तापूर्वक करना पड़ता है । यह मान्यता परिपक्व करनी पड़ती है कि निश्चित रूप से अन्तरिक्ष से खींचा गया और श्वास द्वारा मेरुदण्ड मार्ग से प्रेरित किया गया प्राण मूलाधार तक पहुँचता है और प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को—प्राणाग्नि को—अपने प्रचण्ड आघातों द्वारा जगा रहा है । प्रहार के उपरान्त प्राण को सूर्य नाड़ी पिंगला द्वारा लाने तथा समूची सूक्ष्म सत्ता को प्रकाशित, आलोकित करने की भावना परिपक्व करनी पड़ती है ।

दूसरी बार इससे उल्टे क्रम में अभ्यास करना पड़ता है अर्थात् दाहिने नथुने से प्राण को खींचना और बायीं ओर से लौटाना होता है । इस बार पिंगला से प्राण का प्रवेश कराना तथा इड़ा से लौटाना पड़ता है । मूलाधार पर प्राण प्रहार तथा प्राणोद्दीपन की भावना पूर्ववत् करनी पड़ती है । एक बार इड़ा से जाना—पिंगला से लौटना । दूसरी बार पिंगला से जाना इड़ा से लौटना यही है सूर्यवेधन प्राणायाम का संक्षिप्त विधि-विधान । कहीं-कहीं योगिक ग्रन्थों में सूर्यवेधन प्राणायाम को ही अनुलोम-विलोम प्राणायाम भी कहा गया है । लोम कहते हैं सीधे को, विलोम उल्टे को । एक बार सीधा, एक बार उल्टा, फिर सीधा । यह सीधा उल्टा, फिर उल्टा चक्र ही लोम-विलोम कहलाता है । लोम-विलोम की पूरी प्रक्रिया से एक सूर्यवेधन प्राणायाम होता है ।

सूर्यवेधन प्राणायाम का शास्त्रों में असाधारण महत्त्व बताया गया है । हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

कपाल शोधनं वात दोषहनं कृमि दोषंत्हतम् ।
पुनः पुनरिदं कार्यं, सूर्यवेधन मुन्त्तम् ॥

यह कपाल शोधन, वात रोग निवारण, कृमिदोष विनाशक है । इस सूर्यवेधन प्राणायाम को बार-बार करना चाहिए ।

कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण के लिए प्राण ऊर्जा की प्रचुर परिमाण में आवश्यकता पड़ती है । यह प्रयोजन सूर्यवेधन द्वारा पूरा होता है । प्राण ऊर्जा का अभिवर्धन साधक की भौतिक और आध्यात्मिक सफलताओं का मार्ग प्रशस्त करता है । सूर्यवेधन की प्रक्रिया सामान्य दीखते हुए भी असामान्य परिणाम प्रस्तुत करने वाली है ।

लोम-विलोम प्राणायाम में दाएँ बाएँ नासा-छिद्रों से वेगपूर्वक रेचक-पूरक क्रम २०-२५ बार किया जाता है । इसके अभ्यास से नासिका तथा फेफड़ों के मल की निवृत्ति होती है । शान्त प्रश्वास की गति सम-सुगम होकर मन शान्त और शरीर स्वस्थ रहता है । मस्तिष्क में हल्कापन आ जाता है ।

सूर्यभेदी प्राणायाम में पुनः सूर्यनाड़ी से (दायाँ नथुना) पूरक एवं चन्द्रनाड़ी (बायाँ नथुना) से रेचक किया जाता हैं । इसे प्रायः शीतकाल में ही किया जाता है । शरीर विज्ञान की दृष्टि से यह पित्त को बढ़ाता, कफ को नष्ट करता है; पाचन शक्ति को तीव्र करता तथा देह में स्वेद लाकर मल का निष्कासन करता है । योग विज्ञान की दृष्टि से यह योगिक चक्रों को जगाने वाला है । इसका प्रभाव विशुद्धि और आज्ञाचक्र पर पड़ता है । घेरण्ड संहिता में आया है—

कुम्भकः सूर्य भेदस्तु जरामृत्यु विनाशकः ।
बोधयेत् कुण्डली शक्तिं देहानलं विवर्धनः ॥
इतितं कथितं चण्डं सूर्यभेदनमुमत्तम् ।

बुढ़ापे और मृत्यु को देह से भगाने वाला यह प्राणायाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

यों तो प्राण विद्या के अध्येताओं ने प्राणायाम के अनेक विधान खोजे हैं जिनमें कई तो ऐसे हैं जो स्वल्प समय में अपार शक्ति देते हैं, पर वे निरापद नहीं होते । लोम-विलोम प्राणायाम कुण्डलिनी साधना का ऐसा प्राणायाम है जिनमें हानि की कतई सम्भावना नहीं ।

इस प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है—

(१) किसी शान्त एकांत स्थान में प्रातः काल स्थिर चित्त होकर बैठ जाइये । पूर्व की ओर मुख, पालथी मारकर सरल पद्मासन से बैठना, मेरुदण्ड सीधा, नेत्र अधखुले, घुटनों पर दोनों हाथ यह प्राण मुद्रा कहलाती है, इसी पर बैठना चाहिए ।

(२) बाएँ हाथ को मोड़कर तिरछा कीजिए । उसकी हथेली पर दाहिने हाथ की कोहनी रखिये । दाहिना हाथ ऊपर उठाइये । अँगूठा दाहिने नथुने पर और मध्यमा तथा अनामिका उँगलियाँ बाएँ नथुने पर रखिये ।

(३) बाएँ नासिका के छिद्र को मध्यमा (बीच की) और अनामिका (तीसरे नम्बर) की उँगली से बदल कर लीजिए । दाहिने नथुने से धीरे-धीरे साँस ऊपर खींचना आरम्भ कीजिए । साँस फेफड़े तक ही सीमित न रहे, उसे नाभि तक ले जाना चाहिए और धीरे-धीरे इतनी वायु पेट में ले जानी चाहिए जिससे वह पूरी तरह फूल जाय ।

(४) ध्यान कीजिए कि सूर्य की किरणों जैसा प्रवाह वायु में सम्मिश्रित होकर दाहिने नासिका छिद्र में अवस्थित पिंगला नाड़ी द्वारा अपने शरीर में प्रवेश कर रहा है और उसकी ऊष्मा अपने भीतरी अंग-प्रत्यंगों को तेजस्वी बना रही है ।

(५) साँस को कुछ देर भीतर रोकिये । दोनों नासिका छिद्र बन्द कर लीजिए और ध्यान कीजिए कि प्राण-वायु द्वारा एकत्रित हुआ तेज नाभि चक्र में एकत्रित हो रहा है—नाभि स्थल में चिरकाल से प्रसुप्त पड़ा हुआ सूर्य चक्र इस आगत प्रकाशवान प्राण-वायु से प्रभावित होकर प्रकाशवान हो रहा है और उसकी चमक बढ़ती जा रही है ।

(६) दाहिने नासिका छिद्र को अँगूठे से बंद कर लीजिए । बायाँ खोल दीजिए । साँस को धीरे-धीरे बाएँ नथुने से बाहर निकालिये और ध्यान कीजिए कि सूर्य चक्र को सुषुप्त और धुंधला बनाये रहने वाले कल्मष इस छोड़ी हुई साँस के साथ बाहर निकल रहे हैं । इन कल्मषों से मिल जाने के कारण साँस खींचते समय जो शुभ्र वर्ण तेजस्वी प्रकाश भीतर गया था वह अब मलीन हो गया और पीतवर्ण होकर साँस के साथ बाएँ नथुने की इड़ा नाड़ी द्वारा बाहर निकल रहा है ।

(७) दोनों नथुने फिर बन्द कर लीजिए । फेफड़ों को बिना साँस के खाली रखिये । ध्यान कीजिए कि बाहरी प्राण बाहर रोक दिया गया है । उसका दबाव भीतर प्राण पर बिल्कुल भी न रहने से वह हल्का हो गया है । नाभिचक्र में जितना प्राण सूर्य पिण्ड की तरह एकत्रित था वह तेज पुंज की तरह ऊपर की

ओर अग्नि शिखाओं की तरह ऊपर उठ रहा है । उसकी लपटें पेट के ऊर्ध्व भाग, फुफ्फुस को बेधती हुई कंठ तक पहुँच रही हैं । भीतरी अवयवों में सुषुम्ना नाड़ी में से प्रस्फुटित हुआ यह प्राण तेज अन्तःप्रदेश को प्रकाशवान बना रहा है ।

(८) अँगूठे से दाहिना छिद्र बन्द कीजिए और बाएँ नथुने से साँस खींचते हुए ध्याम कीजिए कि इड़ा नाड़ी द्वारा सूर्य प्रकाश जैसा प्राण-तत्व साँस से मिलकर भीतर प्रवेश कर रहा है और वह तेज सुषुम्ना विनिर्मित नाभिस्थल के सूर्य चक्र में प्रवेश कर रहा है । इस तेज संचय से सूर्य चक्र क्रमशः अधिक तेजस्वी बनता जा रहा है ।

(९) दोनों नासिका छिद्रों को बन्द कर लीजिए । साँस को भीतर रोकिये । ध्यान कीजिए कि साँस के साथ एकत्रित किया हुआ तेजस्वी प्राण नाभि स्थित सूर्य चक्र में अपनी तेजस्विता को चिरस्थायी बना रहा है । तेजस्विता निरन्तर बढ़ रही है और वह अपनी लपटें पुनः ऊपर की ओर अग्नि शिखा की तरह ऊर्ध्वगामी बना रही है । इस तेज से सुषुम्ना नाड़ी निरन्तर परिपुष्ट हो रही है ।

(१०) बायाँ नथुना बन्द कीजिए ओर दाहिने से साँस धीरे-धीरे बाहर निकालिये । ध्यान कीजिए कि सूर्य चक्र का कल्मष धुएँ की तरह तेजस्वी साँस में मिलकर उसे धुँधला पीला कर रहा है और पीली प्राण-वायु पिंगला नाड़ी द्वारा बाहर निकल रही है । भीतरी कषाय कल्मष बाहर निकलने से अन्तःकरण बहुत हल्का हो रहा है ।

(११) दोनों नासिका छिद्रों को पुनः बन्द कीजिए और उपरोक्त नं. ६ की तरह फेफड़ों को साँस से बिल्कुल खाली रखिये । नाभिचक्र से कंठ तक सुषुम्ना का प्रकाश पुंज ऊपर उठता देखिये । भीतरी अवयवों में एक दिव्य ज्योति जगमगाती अनुभव कीजिए ।

यह एक लोम-विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम हुआ । साँस के साथ खींचा हुआ प्राण नाभि में स्थित सूर्य चक्र को जागृत करता है । उसके आलस्य और अंधकार को वेधता है और वह सूर्य चक्र अपनी परिधि को वेधन करता हुआ सुषुम्ना मार्ग से उदर, छाती और कंठ तक अपना तेज फेंकता है । इन कारणों से इसे सूर्यवेधन कहते हैं । लोम कहते हैं सीधे को, विलोम कहते हैं उल्टे को । एक बार सीधा, एक बार उल्टा । फिर उल्टा फिर सीधा । फिर उल्टा फिर सीधा । फिर उल्टा फिर सीधा । बाएँ से खींचना, दाएँ से निकालना । दाएँ से खींचना बाएँ से निकालना । यह उल्टा सीधा चक्र रहने से इसे लोम-विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम कहा जाता है । साँस खींचने को पूरक, रोकने को अन्तःकुम्भक, निकालने को रेचक और बाहर साँस रोकने को बाह्यकुम्भक कहते हैं । बाएँ स्वर में चंद्र धारा एवं इड़ा नाड़ी और दाएँ स्वर में सूर्यधारा एवं पिंगला नाड़ी अवस्थित हैं । दोनों के मिलने के स्थान पर जो प्रकाश पुंज एवं तड़ित प्राण उत्पन्न होता है उसे सुषुम्ना कहते हैं । यह परिभाषा भी हमें स्मरण रखनी चाहिए । एक बार उल्टा, एक बार सीधा । एक बार दाएँ खींचना बाएँ से निकालना, एक बार बाएँ से खींचकर दाएँ निकालना, यह दोनों क्रियाएँ मिलने से एक पूर्ण लोम-विलोम सूर्यवेधन प्राणायाम बनता है । आरम्भ में इन्हें तीन की संख्या से करना चाहिए । फिर हर महीने एक बढ़ाते हुए सात महीनों में इन्हें दस तक पहुँचा देना चाहिए । साँस को छोड़ने निकालने की प्रक्रिया जितनी धीमी रखी जा सके उतनी ही अच्छी है । ध्यान रखिये कि भावना जितनी ही गहरी होगी उतना ही अधिक सत्परिणाम उत्पन्न होगा।

गायत्री का देवता सविता है । सविता सूर्य का एक जाज्वल्य मान रूप है । प्रथम कक्षा के साधकों को प्रतिमा के आधार पर ध्यान करना पड़ता है पर उसमें भी सूर्य मण्डल के मध्य में अवस्थित माता की प्रतिमा होती है । इससे ऊँची कक्षा में सूर्य के समान गोलाकार प्रकाशपुंज ही गायत्री माता का स्वरूप रह जाता है और उसी का ध्यान करते हैं । यह ध्यान करने योग्य प्रकाश पर्याप्त मात्रा में अपने अन्तःप्रदेश में संव्याप्त होता है तो यह प्रकाश पुंज का ध्यान ठीक प्रकार से जमता है । इस उद्देश्य की पूर्ति इस सूर्य प्राणायाम से होती है । अपने भीतर बाहर सब कुछ प्रकाशवान दीखता है । तमोगुण रूपी अंधकार तिरोहित होने लगता है और यदा-कदा आध्यात्मिक चेतनाएँ विभिन्न रंग रूप के ज्योति स्फुर्लिंगों के रूप में साधकों को परिलक्षित होती रहती हैं । प्रकाश दर्शन की अनुभूतियाँ आशा और उल्लास की प्रतीक मानी जाती हैं ।

प्राण-तत्व की एक उपयुक्त मात्रा इस प्राणायाम से साधकों को उपलब्ध होती है । यह मात्रा थोड़ी होते हुए भी अपनी शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में बहुत सहायक सिद्ध होती है । प्राण को निग्रहीत करने से मनुष्य मनचाही आयु प्राप्त कर सकता है । भीष्म की तरह शरशय्या पर पड़े हुए भी छः महीनों तक मृत्यु को टाल सकता है । इच्छानुसार जब चाहे समाधि लेकर प्राण-त्याग कर सकता है । साधारण जीवन में वह एक शक्ति पुंज बिजली घर के समान सिद्ध होता है जिसकी प्रेरणा से उसका निज का जीवन ही नहीं, सम्बन्धित वातावरण भी सुदूर देशों तक प्रभावित होता है प्राण की महत्ता असाधारण है और वैसी ही इस प्राणायाम की भी ।

भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रिका प्राणायाम एक आश्चर्यजनक प्राणायाम है । इसे वासुकी प्राणायाम भी कहते हैं । इस क्रिया को करने में न कोई अड़चन है, न कठिनाई, न किसी आसन को सिद्ध करने की जरूरत है और न अन्य कोई बाधा ही है । इस क्रिया में अन्य प्राणायामों की तरह आसन, बन्ध, मुद्रा, रेचक, पूरक का अनुपात, आहार-विहार की नियमितता आदि की पाबन्दी नहीं है । इसमें किसी प्रकार की हानि होने की भी आशंका नहीं है ।

लाभ

इस क्रिया से अधिकांश रोग दूर होते हैं । शरीर में कहीं भी रोग हो प्राणायाम से बिजली जैसा धक्का वहीं लगता है और बार-बार के प्रहार से वहाँ के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं । दिल की धड़कन के लिए यह प्राणायाम रामबाण है । धड़कन का दौरा होने पर भी यह क्रिया विधिपूर्वक करने से तुरन्त आराम होता है । खून खराबी, फोड़े-फुन्सी, दाद, खाज, खुजली, जिगर बढ़ जाना, तिल्ली, पित्ताशय, मूत्राशय, अण्डकोश आदि रोगों में इस क्रिया में बड़ा लाभ होता है । पेट की तमाम बीमारियों के लिए यह प्राणायाम एक चूरन है । खाना न पचता हो, भूख कम लगती हो, कब्ज रहता हो, अग्नि कम हो गई हो तो इस क्रिया से बढ़ जाती है । जुकाम, खाँसी, पेट का भारीपन, सिरदर्द आदि में भी इसका अच्छा असर होता है ।

गले के रोगों के लिए भी यह क्रिया लाभदायक सिद्ध हुई है । इससे स्वर बड़ा मधुर हो जाता है । बहुत से मनुष्य थोड़ा-सा भी शारीरिक या मानसिक परिश्रम करने पर थक जाते हैं । यदि वे इस क्रिया को करने लगें तो थकावट का अनुभव नहीं करेंगे । मेरे कार्यालय के अनेक व्यक्ति दिन भर काम करने के बाद शाम को बड़ी थकावट मालूम करने लगते थे । मैंने उनसे थोड़े दिन यह प्राणायाम कराया । उनको अभूतपूर्व लाभ हुआ । फिर तो चाहे जितनी देर शाम को या रात में करना पड़े वे हतोत्साह नहीं होते थे । इस क्रिया से आलस्य, सुस्ती, ढीलापन, दीर्घ सूत्रता नहीं रह जाती है ।

हमारे आयु की माप वर्षों में नहीं होती है । बल्कि श्वासों की संख्या पर निर्भर है । मान लीजिए कि एक मनुष्य की आयु पचास लाख श्वास है । वह चाहे तो इसको ५० वर्ष लेने या १०० वर्ष में लेने या जल्दी-जल्दी श्वास लेकर २० ही वर्ष में कुल संख्या पूरी कर ले । साधारण स्वस्थ मनुष्य को एक मिनट में १२-१४ श्वास लेना चाहिए । यदि इससे अधिक लेतें हैं तो आपकी आयु कम है और यदि १२-१४ से भी कम लेतें हैं तो आप दीर्घ जीवी होंगे जो प्राणी जल्दी-जल्दी श्वास लेते हैं वह थोड़े दिन ही जीते हैं । योगी लोग श्वासों की मात्रा कम करके दीर्घजीवी हो जाते हैं । यों योगी अधिकतर समाधि में रहता है उसकी श्वास उतनी देर तो चलती नहीं और उसकी उतने समय की आयु बढ़ जाती है । इस भस्त्रिका प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास की गति बहुत थोड़ी हो जाती है । कभी-कभी तो १०-१२ श्वास प्रति मिनट से भी कम हो जाती है । इसके साथ योग की कुछ गुप्त क्रियाएँ की जाती हैं जिससे श्वास-प्रश्वास की गति ३-४ प्रति मिनट हो जाती है । इस भस्त्रिका प्राणायाम से बड़ी हुई श्वास की गति सामान्य स्तर पर आ जाती है और यही कारण है कि मनुष्य की आयु बढ़ जाती है ।

यह प्राणायाम कुछ लोगों के लिए वर्जित भी है । जो लोग यक्ष्मा के दूसरे स्टेज में पहुँच गए हैं और जिनका श्लेष्मा रोग कीटाणु युक्त हो गया है, उनको यह क्रिया नहीं करना चाहिए । यह क्रिया उनके रोग

को और बढ़ाती है । इसी तरह रक्तपित्त, तीव्र ज्वर, वमन आदि के लक्षणों में यह क्रिया नहीं करनी चाहिए । जो लोग अतिरिक्त क्रिया करते हैं और संयम से नहीं रहते उनको भी यह क्रिया नहीं करनी चाहिए । रजस्वला व गर्भिणी स्त्रियों को भी यह क्रिया नहीं करनी चाहिए ।

अब इस प्राणायाम की विधियाँ देखिये—

भस्त्रिका प्राणायाम (नं. १)

पद्मासन, स्वस्तिकासन अथवा सिद्धासन में बैठना दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासिका को दबाकर बाईं नासिका से दस वक्त श्वास फेफड़े में भरना और छोड़ना ग्यारहवीं वक्त श्वास फेफड़े में भरकर यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद दायीं नासिका द्वारा धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल देना और फौरन ही दायीं नासिका से दस बार श्वास भरना और छोड़ना, दायीं नासिका से श्वास लेते समय बायीं नासिका को अनामिका तथा कनिष्ठिका अँगुलियों से दबा रखना दस बार घर्षण होने के बाद दाहिनी नासिका से श्वास भर लेना और यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद बायीं नासिका से श्वास आहिस्ते-आहिस्ते निकाल देना इस तरह दोनों नासिका से एक के बाद दूसरी से दस-दस वक्त घर्षण दो वक्त अन्दर कुम्भक करने में आवे तब एक भस्त्रिका प्राणायाम (नं. पहला) सम्पूर्ण हुआ कहलाता है । घर्षण करते समय नासिका से साधारण आवाज आनी चाहिए ।

पूर्ण पद्मासन—

पद्मासन में बैठकर दाहिने हाथ को पीठ के पीछे लाकर दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ना और बाएँ हाथ को पीठ के पीछे से लाकर बाएँ पाँव के अँगूठे को पकड़ना कदाचित् पाँव मोटा होने के कारण अँगूठे न पकड़े जाएँ तो दोनों हाथ के पंजे मिलाकर पकड़ लेना उसके बाद श्वास फेफड़े में भरकर सिर जमीन पर टिकाना । श्वास रोक सको वहाँ तक सिर जमीन से अड़ाकर रखना और फिर पूर्व असल स्वरूप में ले आने के बाद धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल देना इस तरह एक वक्त करने में आवे तब एक पूर्ण पद्मासन सम्पूर्ण होता है ।

भस्त्रिका प्राणायाम (नं. २)

पद्मासन या सुखासन में बैठकर दाहिने हाथ के अँगूठे से दाहिनी नासिका को दबाये रखना, बायीं नासिका से श्वास फेफड़े में भरना और फौरन अनामिका और कनिष्ठिका अँगुली से बायीं नासिका को दबाकर दाहिनी नासिका से श्वास फेफड़े में से निकाल देना इस तरह श्वास दस वक्त लेना और छोड़ना (एक वक्त लेकर छोड़ने में आये तब तक एक घर्षण हुआ ऐसा समझें) ग्यारहवीं वक्त बायीं नासिका से श्वास लेकर यथा शक्ति कुम्भक करके दाहिनी नासिका से धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल देना और फौरन ही दाहिनी नासिका से पूरक तथा बायीं नासिका से रेचक करना चाहिए इस प्रकार दस वक्त करने के बाद शीघ्र ही दाहिनी नासिका से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करने के बाद बायीं नासिका से शनैः शनैः रेचक करना चाहिए तब एक भस्त्रिका का प्राणायाम नं. दूसरा सम्पूर्ण हुआ कहलाता है ।

इन प्राणायामों को नित्य करने से फेफड़े मजबूत होते हैं । हृदय को बल मिलता है । दिल की धड़कन, श्वास, खाँसी आदि दुष्ट रोगों से इन प्राणायामों को करने वाला बचा रहता है और उसमें साहस, संयम, उत्साह आदि हृदय से सम्बन्ध रखने वाले गुणों की वृद्धि होती रहती है ।

भस्त्रिका प्राणायाम (नं. ३)

(१) एक बड़ी चटाई, दरी या कम्बल बिछाकर मुर्दे की तरह चित्त लेट जाओ । जमीन या तख्त पर ही लेट जाना चाहिए । चारपाई पर नहीं, हाथ दोनों बगल में आराम से पड़े रहें ।

(२) शरीर को बिल्कुल ढीला कर दो । कहीं भी किसी तरह का तनाव न रहे ।

(३) अब नाक से धीरे-धीरे साँस खींचो । पहले फेफड़े के निचले भाग को हवा से भरो । यह ऐसे होगा कि पेट व छाती के बीच वाले परदे से काम लो और उसके द्वारा नीचे के पेट के अवयवों पर थोड़ा दबाव डालो जिससे पेट आगे को थोड़ा निकल आयेगा । फिर उसी सिलसिले में जिसमें तार न टूटे, फेफड़े के मध्य भाग को भरो, जिससे निचली पसलियाँ, छाती की हड्डी और छाती बाहर को फैल जाय । फिर उसी साँस में फेफड़े के ऊपरी भाग को भरो जिससे छाती का ऊपरी भाग थोड़ा आगे निकल आये और छाती ऊपरी छः या सात जोड़ी पसलियों के साथ ऊपर उठ

जायें । अन्तिम गति में पेट का निचला भाग कुछ थोड़ा-सा भीतर दब जायेगा । साँस खींचने के अन्त में कन्धे को थोड़ा ऊपर उठा देना अच्छा रहेगा, इसमें हँसली की हड्डी उठ जाती है और दाहिने फेफड़े के ऊपर वाली ललरी में भी हवा घुस जाती है । इसी छोटी ललरी में ही कभी-कभी टयूबरक्लोसिस (क्षय) नामक बीमारी हो जाती है ।

इस प्राणायाम को करने वाला पुरुष हो या स्त्री, क्षय रोग तथा फेफड़े के अन्य रोगों से निर्भय हो जाता है । क्षय रोग शरीर का जीवट कम होने से होता है और जीवट कम हवा प्राप्त होने से हो जाता है । अस्तु ।

(४) उपरोक्त बताये गए साँस में अलग-अलग तीन गतियाँ नहीं हैं इसलिये हिचक-हिचक कर मत साँस लो लगातार धीरे-धीरे साँस पेड़ू से लेकर कन्धों तक भरो । थोड़ा-सा अभ्यास कर लेने पर कोई कठिनाई नहीं होगी । साँस भरने में जल्दी नहीं करनी चाहिए । अभ्यास को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए । और साँस की यह पूरक क्रिया जितनी लम्बी हो सके उतनी लम्बी करनी चाहिए । अभ्यास परिपक्व हो जाने पर उसमें तीव्रता लायी जा सकती है ।

(५) साँस को अन्दर मत रोको । जैसे ही पूरी साँस भर जाये बाहर निकालने की क्रिया शुरू कर दो । साँस मुँह से धीरे-धीरे निकालनी चाहिए । जिस तरह साँप फुसकार छोड़ता है उसी तरह ओठों को मिलाकर फू-फू करते हुए साँस छोड़ो । जिस क्रम से साँस भरी गई है उसी क्रम से साँस निकलेगी अर्थात् पहले फेफड़े के ऊपरी हिस्से से, फिर बीच से, फिर पेट से । साँस के निकलने वाली इस रेचक क्रिया को भी यथा शक्ति लम्बी करो । पूरक में जितना समय लगा था, उससे दुगुना रेचक में लगाना चाहिए । यदि इतना न हो सके तो रेचक व पूरक में बराबर समय लगाना चाहिए । पूरी-पूरी साँस निकल जाने पर तुरन्त पूरक शुरू कर दो ।

(६) इस प्राणायाम में केवल पूरक व रेचक हैं । कहीं कुम्भक नहीं है । साँस को न भीतर रोकना चाहिए और न बाहर । जिस तरह लोहार की धौंकनी बराबर एक गति से चला करती है उसी तरह पूरक व रेचक होते रहना चाहिए । नाक से साँस लेना व मुख से निकालना यही भस्त्रिका प्राणायाम है ।

(७) इस क्रिया को १०-१२ मिनट तक करने के बाद शरीर व मस्तिष्क में स्थित कार्बन जलना शुरू हो जायेगा और घबड़ाहट मालूम होने लगेगी । जी चाहेगा कि इस क्रिया को छोड़ दिया जाये । आराम करने को जी चाहेगा, मगर इस घबड़ाहट से मत डरो, थोड़ी आत्मशक्ति लगाकर क्रिया को जारी रखो ।

(८) दो तीन मिनट के बाद घबड़ाहट कुछ कम हो जायेगी और शरीर में बिजली दौड़ने लगेगी । हाथ पैरों में झंझनाहट मालूम पड़ेगी । शरीर का जो अंग रोगी होगा, वहाँ विद्युत के झटके अधिक तीव्रता से मालूम होंगे । किसी-किसी के हाथ पैरों में इतनी विद्युत भर जाती है कि वे अंग काँपने लगते हैं । यह लक्षण डराने वाले नहीं है । इनसे शरीर का मल जलता है और नवीन शक्ति प्राप्त होती है ।

(९) शरीर में विद्युत उत्पन्न हो जाने के बाद दो तीन मिनट तक यह प्राणायाम करते जाओ, अर्थात्, कुल २० मिनट तक यह क्रिया करो । उसके बाद बन्द कर दो । आँखों को मूँद लो और उसी तरह ३-४ मिनट तक पड़े रहो । यह जरूरी है । उसके बाद उठ जाओ ।

(१०) बीस मिनट तक प्राणायाम करने के बाद जब क्रिया बन्द कर दी जाती है तब शरीर शिथिल हो जाता है उठने का जी नहीं चाहता । मन आनन्द लोक में चला जाता है । जिस तरह मधुर संगीत सुनने के बाद मनुष्य आनन्द में बेसुध हो जाता है । उसी तरह इस क्रिया के बाद एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है । कभी-कभी अभ्यासी सो जाता है । लेखक तथा उसके मित्रों का अनुभव है कि बहुधा इस क्रिया के बाद नींद आ जाती है । यदि कोई जगावे नहीं तो कभी-कभी दो तीन घण्टे की गाढ़ी निद्रा आ जाती है । उसके बाद उठने पर शरीर में हल्कापन, फुर्ती और उत्साह मालूम होने लगता है ।

(११) इस क्रिया को सुबह व शाम खुली हवा में करना चाहिए । विशेष रोगों में अन्य समय भी किया जा सकता है । भोजन के बाद तीन घण्टे तक यह क्रिया नहीं करनी चाहिए । मगर क्रिया के आधे घण्टे बाद भोजन किया जा सकता है ।

व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ २.१५०

प्राणोन्नयन प्राणायाम (नं. ५)

(१) सीधे शुद्ध आसन पर बैठें । नेत्र बन्द करके अपने चारों ओर प्राण सरोवर का ध्यान करें ।

(२) स्वाभाविक रूप से गहरी श्वास धीरे-धीरे खीचें । भावना करें कि प्राण की धारा नासिका मूल से मूर्धाभाग में होती हुई मेरुदण्ड मार्ग से मूलाधार चक्र तक जा रही है ।

(३) श्वास पूरी होने पर उसे थोड़ा रोके तथा अनुभव करें कि प्रविष्ट दिव्य प्राण मूलाधार क्षेत्र के शक्ति बीज को उद्दीप्त कर रहा है । उस मंथन हलचल से उसमें सुप्त शक्ति उद्दीप्त हो रही है ।

(४) श्वास धीरे-धीरे निकालना प्रारम्भ करें । भावना करें मेरुदण्ड मार्ग से दिव्य प्राण वापस हो रहा है । उसके साथ शक्ति क्षेत्र की जागृत ऊष्मा सहस्रार की ओर सुषुम्ना मार्ग से बढ़ रही है ।

(५) पूरी श्वास बाहर निकाल देने पर बाह्य कुम्भक करें । ध्यान करें कि मूलाधार से सहस्रार तक मेरुदण्ड के मध्य स्थित सुषुम्ना मार्ग ट्यूब की तरह प्रकाशित हो रहा है । अधोगामी प्राण ऊर्ध्वगामी बनकर स्वयं को सार्थक अनुभव कर रहा है । उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप शरीर मन चित्त सभी दिव्य उल्लास से भर रहे हैं ।

संयुक्त प्राण प्रयोग (नं. ६)

उपरोक्त पाँचों प्राणायामों का अभ्यास साधक अलग-अलग कर सकते हैं । कहीं मर्यादा लांघने का प्रयास न किया जाय तो कोई हानि का भय इनमें नहीं है । विशिष्ट प्रयोजनों के लिए प्राणायामों के संयुक्त प्रयोग भी बतलाये जाते हैं । वह साधक की स्थिति देखकर ही कराये जाते हैं साथ ही उनमें प्रत्यक्ष मार्गदर्शन की सावधानी भी बरतनी पड़ती है ।

कुछ सावधानियाँ—

ऊपर बतलाये गए सभी प्राणायाम निरापद हैं । फिर भी इन विशिष्ट साधनाओं में कुछ सावधानियाँ बरती जानी चाहिए । वह इस प्रकार हैं ।

(१) प्राणायाम के समय पेट खाली हो । भोजन किए कम से कम ५ घण्टे तो हो चुके हों ।

(२) स्थान स्वच्छ हो तथा स्वच्छ वायु उपलब्ध हो । गन्दे और दुर्गन्धियुक्त स्थानों पर प्राणायाम न करें—

(३) प्राणायाम क्रमशः बढ़ाये या घटाये जाते हैं । प्रारम्भ में तीन प्राणायाम करें । एक प्राणायाम के लिए लगने वाला समय निश्चित हो । कभी जल्दी कभी धीरे करना गलत है । प्राणायाम की संख्या या एक प्राणायाम में लगने वाला समय धीरे-धीरे क्रमशः घटाया या बढ़ाया जाता है । इस मर्यादा का उल्लंघन करने से हानि हो सकती है ।

(४) प्राणायाम साधना के लगभग १ घण्टे बाद तक कोई भारी श्रम या काम न किया जाय ।

(५) प्राणायाम साधना अर्जित प्राण शरीर में पचने तक दूसरे व्यक्तियों का स्पर्श एवं कुचालक धातुओं का स्पर्श न करें ।

(६) साधना काल में सहवास से बचें । काम-अवयवों को उत्तेजित होने से बचाना आवश्यक है । नंगे पैर रहने की अपेक्षा कपड़े या रबड़ के जूते अथवा लकड़ी की खड़ाऊँ पहनकर रहना अच्छा है ।

(७) आहार सात्विक रखें, उत्तेजक पदार्थ न खावें । तितीक्षा पूर्वक रहें । तखत का उपयोग करें । चारपाई हो तो उस पर वस्त्र कम से कम बिछायें ।

यह थोड़ी-सी सावधानियाँ हर साधक को प्राणायाम के विशेष अभ्यास की अवधि में रखनी चाहिए । इस प्रत्यक्ष विज्ञान का लाभ हर व्यक्ति सहज ही उठा सकता है ।

प्राण संचार : साधना क्रम

(अ) प्राणाकर्षण शक्ति संचार

निखिल विश्व में दिव्य शक्ति का अजस्र भण्डार भरा पड़ा है । प्रकृति के अन्तराल से ताप, ध्वनि, प्रकाश विद्युत आदि की अगणित शक्ति धाराएँ प्रवाहित होती और अपने प्रभाव से विश्व की समस्त हलचलों का सूत्र संचालन करती हैं । उसी प्रकार ब्रह्मांण्ड में भरे हुए ब्रह्म चेतना के महा समुद्र में भी अनेकों दिव्य शक्तियाँ हिलोरें लेती रहती हैं । जीवात्मा को यह सुविधा प्राप्त है कि वह प्रकृतिगत शक्तियों को भौतिक विज्ञान के आधार पर उपलब्ध करे और सुविधा साधनों

का लाभ उठायें । इसी प्रकार उसके लिए यह भी सरल है कि आत्म विज्ञान की विधि-व्यवस्था के सहारे चेतना के महासागर में से जिस स्तर की, जो शक्ति, जितनी मात्रा में अभीष्ट हो उसे उपलब्ध करे और उस दिव्य सम्पदा के सहारे प्राणवान्, विभूतिवान् और महान बने । आत्मा के साथ महानता की जितनी मात्रा जुड़ती जाती है वह उसी अनुपात से महात्मा देवात्मा एवं परमात्मा का स्तर प्राप्त करती जाती है । इसी प्रगति क्रम पर चलते हुए जीवन लक्ष्य की पूर्णता सम्भव होती है । शान्ति, सिद्धि, स्वर्ग, मुक्ति एवं ईश्वर प्राप्ति इसी आत्मिक उत्कर्ष की प्रगति यात्रा में मिलने वाली क्रमिक सफलताएँ हैं ।

आन्तरिक बलिष्ठता के आधार पर ही व्यक्तित्व को मूल्यवान बनाने वाली विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं और उसी पूँजी से लोक मंगल के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकना सम्भव होता है । इसलिये ब्रह्म-चेतना के भाण्डागार में से अपने अन्तराल में दिव्य प्राण को अधिक मात्रा में भरने और स्थिर रखने की साधना निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिए । प्राणाकर्षण प्राणायाम की सर्वविदित साधना द्वारा इस प्रयत्न को कोई भी करता रह सकता है और आत्मिक बलिष्ठता का क्रमिक लाभ ले सकता है ।

युग शिल्पियों को इस सन्दर्भ में विशेष सुविधा प्राप्त है । उनके लिए हिंमालय के उच्च केन्द्र से विशेष स्तर का शक्ति संचार होता है । इस सूक्ष्म प्रवाह के साथ तालमेल बिठाकर वे अधिक सुविधापूर्वक, अधिक मात्रा में, अधिक उपयोगी प्राण-शक्ति उपलब्ध कर सकते हैं । महाकाल का यह विशेष अनुदान जागृत आत्माओं को अतिरिक्त रूप से इसलिये मिलता है कि वे युग परिवर्तन की महान भूमिका सम्पादित करने के लिए अधिक पवित्र और अधिक प्रखर बन सकें । इस अनुदान का लाभ उठाया ही जाना चाहिए ।

यह शक्ति संचार साधना है । इसके लिए समय सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व से लेकर सूर्योदय तक का है । महाकाल की दिव्य प्रेरणा से लाभान्वित होने के लिए इसी अवधि में सुविधानुसार पन्द्रह मिनट से लेकर आधा घण्टे तक की साधना कर लेनी चाहिए । इसका क्रम इस प्रकार है—

(१) उत्तर दिशा में मुँह करें । स्वच्छ आसन पर पालथी मार कर बैठें । कमर सीधी रखें । दोनों हाथ गोद में-बायाँ नीचे, दाहिना ऊपर, शान्त चित्त । स्थिर शरीर । आँखें बन्द । यह ध्यान मुद्रा है । इसी स्थिति में बैठें ।

(२) भावना करें—हिमालय के हृदय से दव्य प्रवाह की शक्ति धाराएँ उठती, उमड़ती हुई अपनी ओर बढ़ती आ रही हैं । वे श्वेत बादल जैसी, दूध के फ़ेन विद्युत प्रवाह जैसी, प्राण ऊर्जा से भरी-पूरी हैं । उनमें दैवी अनुदान प्रचुर परिमाण में भरे पड़े हैं ।

(३) साधक अपने हृदयाकाश में ज्वलन्त ज्योति पुंज धारण करें और उसमें शक्तिशाली चुम्बकत्व रहने की विश्वासपूर्वक अवधारणा करें ।

(४) अनुभव किया जाय कि जागृत हृदय ज्योति का चुम्बकत्व, महाकाल द्वारा प्रेषित शक्ति प्रवाह को अपनी प्रचण्ड आकर्षण शक्ति से खींचता है । दूध के फेन जैसे श्वेत बादल साधक के निकट खिंचते चले आते और उस दिव्य सम्पदा से, दिव्य प्राण से अपना काय कलेवर चारों ओर से घिर जाता है ।

(५) साधक प्राणायाम प्रक्रिया में संलग्न होता है । गहरे श्वास-प्रश्वास आरम्भ करता है और अनुभव करता है कि प्राण-वायु के साथ-साथ महाकाल का विशिष्ट शक्ति प्रवाह भी घुला है ।

(६) दोनों नथुनों में धीरे-धीरे साँस खींची जाय । जितनी अधिक वायु फेफड़े और पेट में भरी जा सकती हो भरी जाय । यह पूरक है । यह अनुभव किया जाय कि श्वास के साथ घुला हुआ महाप्राण काय कलेवर में प्रवेश करता है और उससे अन्तः क्षेत्र का कण-कण परिपूर्ण रूप से भर जाता है । साँस पूरी भरने तक यही करें ।

(७) साँस पूरी भर जाने पर उसे कुछ समय भीतर रोकें । यह कुम्भक है । इस अवधि में अनुभव करें कि काया का प्रत्येक घटक उस प्रविष्ट महाप्राण को अपने भीतर धारण कर रहा है । वर्षा के जल को जिस प्रकार मिट्टी सोख लेती है । उसी प्रकार शरीर, मस्तिष्क एवं हृदय को तीनों संस्थान उस महाप्राण को सोखते-प्रभावित होते और तदनुरूप बनते चले जाते हैं ।

(८) साँस धीरे-धीरे दोनों नथुनों से छोड़ें । भावना करें कि कुसंस्कारी विकृत प्राण साँस के साथ-साथ बाहर निकला जा रहा है । संचित मलीनताओं के निष्कासन पर इस अवधि से पूरी तरह ध्यान केन्द्रित किया जाय । यह रेचक भाग है ।

(९) साँस को कुछ समय बाहर रोके रहें । बिना साँस की स्थिति बनायें । अनुभव करें कि प्रविष्ट महाप्राण ने अपना आधिपत्य अर्न्तजगत पर जमा लिया है । उसके प्रकाश से पूरा अन्तःक्षेत्र प्रकाशवान हो रहा है । काया की स्थिति, ज्योति पिण्ड, ज्योति पुंज जैसी बन जाती है । आलोक से सारा समीपवर्ती क्षेत्र भर जाता है । यह बाह्य कुम्भक है ।

(१०) अपने में महाप्राण का—दिव्य ज्योति का बाहुल्य अनुभव किया जाय, ब्रह्म चेतना और आत्म चेतना को परस्पर सघन होते—आदान-प्रदान करते हुए देखा जाय । आत्मा का समर्पण-परमात्मा का अनुदान । समर्थता-सजगता और सरसता की अनुभूति ।

(११) मन ही मन पाँच बार ओंकार गुंजन ।

(१२) ओंकार के अन्तर्नाद के साथ—प्राण संचार साधना की समाप्ति । आँखें खोलना । ध्यान मुद्रा का समापन । सामान्य स्थिति में लौट आना ।

(ब) प्राण-शक्ति-संचार साधना

प्रस्तुत युग सन्धि-वेला में प्राण-शक्ति संचारक साधना क्रम का विशेष महत्त्व है । इस साधना के अध्ययन ने हिमालय स्थित गायत्री के परम सिद्ध देव-पुरुषों की शक्ति एवं सहायता प्राप्त की जा सकती है । इस साधना क्रम में हर कोई भाग ले सकता है ।

यह प्रवाह रविवार और गुरुवार को सूर्य उदय होने से एक घण्टा पूर्व से आरम्भ होकर ठीक सूर्य उदय होने पर बन्द हो जाता है । इसलिये उस एक घण्टे की अवधि में से अपनी सुविधा का आधा घण्टा अपनी साधना के लिए नियत रखा जा सकता है ।

उपरोक्त दोनों दिन सायंकाल यह प्रवाह ९ से १० बजे तक चलता है । जिन्हें प्रातः अवकाश न मिलता हो तो सायंकाल की शक्ति-संचार साधना कर सकते हैं । यह साधना सप्ताह में दो बार ही आधा घण्टा की जाती है । रविवार, गुरुवार में से प्रातः या रात को जो भी आधा घण्टा अपनी सुविधा का हो उसे नियत कर लेना चाहिए और फिर उसी क्रम को नियमित रूप से चलाते रहना चाहिए ।

शक्ति-संचार साधना का क्रम

(१) पालथी मारकर, मेरुदण्ड सीधा रखकर, नेत्रों को अधखुले रखकर ध्यान मुद्रा में बैठिये । दोनों हाथों को घुटनों पर रखिये । उत्तर दिशा में मुँह कीजिए ।

(२) भावना कीजिए कि हिमालय के उच्च शिखर से कोई दिव्य शक्ति हमें आशीर्वाद, प्रेरणा और प्रोत्साहन भरा प्राण-प्रवाह हमारे लिए भेज रही है और हम उसे श्रद्धापूर्वक अपने अन्तःप्रदेश में धारण कर रहे हैं ।

(३) धारणा कीजिए कि अन्तरिक्ष से एक शुभ्र पीत आभा वाला भाप के बादलों जैसा प्राण-प्रवाह उमड़ता चला आता है । धुनी हुई रुई या हल्की बरफ या दूध के झाग सरीखी एक मृदुल विद्युतधारा अपने चारों ओर फैली हुई है । कुहरे की तरह उसने हमारी सब ओर की परिधि घेर ली है और हम उसके मध्य बैठे हुए आनन्द एवं उल्लास का अनुभव कर रहे हैं ।

(४) ध्यान कीजिए कि किसी दिव्य चेतना द्वारा प्रेरित प्राण-प्रवाह अपने सब इन्द्रिय छिद्रों के रोम-कूपों द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करके अपने अंग-प्रत्यंगों में संव्याप्त हो रहा है । उस प्रवाह के साथ-साथ अपने भीतर उच्च आस्था, श्रेष्ठ श्रद्धा, आशा, उत्साह, उदारता, दया, विवेक, आनन्द-उल्लास, नीति, धर्म, त्याग, संयम, परमार्थ आदि की उच्च-भावनाएँ भी घुसी चली आ रही हैं और उन्हें उपलब्ध करके अपना अन्तःकरण महापुरुषों जैसा उदार, महान, दूरदर्शी एवं आदर्शवादी बन रहा है ।

(५) विश्वास कीजिए कि यह प्रवाह ईश्वरीय है । ऋषियों जैसी पवित्रता इसमें ओत-प्रोत है । यह शक्ति अपने भीतर प्रविष्ट होकर परमात्मा का पुण्य प्रकाश उत्पन्न कर रही है ।

शक्ति संचार का यह बहुमूल्य क्रम जिन लोगों ने नियमित रूप से अपनाया है उनकी आशाजनक आत्मिक प्रगति हुई है । उनके गुण, कर्म स्वभाव में स्वयमेव परिवर्तन हुआ है । शरीर मन और आत्मा पर इस शक्ति संचार का आश्चर्यजनक लाभ साधकों

ने पिछले दिनों अनुभव किया है । इस महान लाभ से किसी को वंचित नहीं रहना चाहिए ।

प्रतिदिन उक्त प्राणायामों का सम्मिलित अभ्यास तथा शक्ति संचार साधना का सप्ताह में एक बार आधा घण्टा यह क्रम चलाते रहने से प्राणमय कोश के जागरण में आशाजनक सफलता मिलती है । साधक की प्राण-शक्ति बढ़ती है । उसका साहस, धैर्य, पौरुष और प्राण तेज कई गुना अधिक बढ़ जाता है ।

(स) प्राण-संचार साधना

युग अवतरण के संचालक सूत्र हिमालय के ध्रुव केन्द्र में हैं । वहाँ से युग सन्धि के बीस वर्षों में एक विशिष्ट स्तर का प्राण प्रवाह हर दिन दो बार एक-एक घण्टे के लिए निःसृत होगा । (१) सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व से लेकर सूर्योदय तक, (२) सूर्य अस्त के एक घण्टा बाद से लेकर दो घण्टा पूरे होने तक । प्रातःकाल नैष्ठिक साधकों को अपने स्थान पर रहने के लिए, सायंकाल जहाँ सामूहिक ध्यान व्यवस्था बन पड़े केवल वहाँ के लिए । दोनों प्रवाहों के स्तर भी उनके उद्देश्यों के अनुरूप भिन्न-भिन्न हैं । प्राण प्रवाह तो दोनों समय एक-एक घण्टा चलेगा पर इसमें से न्यूनतम पन्द्रह मिनट और अधिकतम तीस मिनट ही ग्रहण किया जाना चाहिए ।

दोनों समय की प्राण संचार साधना का उपक्रम इस प्रकार है—

(१) स्थिर शरीर, शान्त चित्त, सुखासन (पालथी) कमर सीधी, हाथ गोद में, आँखें बन्द, ध्यान मुद्रा । (२) साँस धीरे-धीरे खींचें । अनुभव करें कि हिमालय केन्द्र से प्रेरित विशिष्ट प्राण प्रवाह साँस के साथ घुसकर शरीर में भीतर पहुँच रहा है । (३) यह प्राण युक्त साँस, मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र तक पहुँच कर उससे टकराता है । (४) प्राण-वायु के टकराने से मूलाधार में सोई पड़ी सर्पिणी के सदृश्य कुण्डलिनी शक्ति में हलचल उत्पन्न होती है । (५) कुण्डलिनी श्वास में घुले प्राण-प्रवाह को पीकर जागृत और परिपुष्ट होती है । उस जागरण से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों को बल मिलता है । (६) साँस को खींचते समय प्राण के मूलाधार चक्र तक पहुँचने की और रोकते समय मूलाधार से टकराने तक कुण्डलिनी जागने की धारणा की जाय । (७) छोड़ते समय यह किया जाय कि प्राण-वायु मेरुदण्ड मार्ग से ऊपर उठती हुई मस्तिष्क के मध्य केन्द्र तक पहुँचती है और वहाँ से वह नासिका द्वारा अनन्त अन्तरिक्ष में बिखर जाती है । यह समस्त प्राण-प्रवाह ब्रह्माण्ड में फैलता है । उसके प्रवाह से विभीषिकायें निरस्त होती हैं और अनुकूलतायें बढ़ती हैं ।

यह एक प्राणायाम हुआ । इसमें पूरक, कुम्भक और रेचक तीन ध्यान हैं । तीनों के तीन उद्देश्य हैं— धारणा, जागरण एवं संचार । इससे आत्म सत्ता की प्रखरता बढ़ती जाती है और वातावरण के अनुकूलन में सहायता मिलती है ।

युग शिल्पियों को इन दिनों इतना अवकाश नहीं मिलेगा कि वे अभीष्ट आत्मबल उपलब्ध करने के लिए लम्बी एकान्त साधना एवं कठिन तपश्चर्यायें कर सकें । किन्तु विशिष्ट उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अतिरिक्त सामर्थ्य तो चाहिए ही । यह उपलब्धि इस साधना द्वारा मिल सकेगी । इस साधना का एक प्रयोजन है आत्मबल का सम्वर्धन और दूसरा है, अदृश्य जगत में संव्याप्त वातावरण का अनुकूलन । दूसरे प्रयोजन को विश्व कल्याण के निमित्त प्रस्तुत किया गया साधक का योगदान कह सकते हैं । दूषित और विक्षुब्ध वातावरण पृथ्वी के इर्दगिर्द छाया हुआ है । विपत्तियों और विभीषिकाओं के बरसने की आशंका इसी काली घटा से है । इसे धकेल कर अनन्त ब्रह्माण्ड में तिरोहित करना है इस प्रयोजन के लिए संचार-साधना द्वारा छोड़ा गया प्राण-प्रवाह अभीष्ट उद्देश्य को पूरा कर सकेगा ।

प्राणायाम सम्बन्धी कुछ जानकारियाँ

छाती से पसली के भीतर दोनों ओर दो फेफड़े (फुफ्फुस) फैले हुए हैं । श्वास-प्रश्वास क्रिया के ये प्रधान अंग हैं । इनकी बनावट शहद की मक्खियों के छत्ते की तरह हैं । हवा भरने के लिए इनमें छोटे-छोटे कोठे बने हुए हैं । इन वायु मन्दिरों की संख्या १६ से १८ करोड़ के लगभग होती है । यदि इन कोठरियों को खोलकर उनकी दीवारें पृथ्वी पर बिछा दी जा सकें तो इनका क्षेत्रफल १३० से १५० वर्ग गज होगा ।

छाती की कोठरी में दोनों फेफड़े अलग-अलग हैं पर जहाँ पसलियों का जुड़ाव है उसी स्थान पर हृदय, रुधिर और स्वर की बड़ी नाड़ियाँ इन्हें आपस में जोड़ते हैं और रक्तोपवाहक धमनियाँ तथा रक्तोपवाहक शिराएँ फेफड़ों को हृदय से सम्बन्धित करती हैं । यह फेफड़े एक बहुत ही पतली किन्तु मजबूत झिल्ली के अन्दर रखे हुए हैं जिसे अंग्रेजी में 'हेल्यूरल सैक' कहते हैं । जब साँस इन फेफड़ों में भरती है तो ये फैलते हैं और जब साँस बाहर निकलती है तो ये सिकुड़ जाते हैं ।

आप जानते ही होंगे कि हृदय दिन-रात रक्त को फेंकता रहता है । जब हृदय द्वारा रक्त फेंका जाता है तो वह धमनियों और फिर पतली धमनियों में होता हुआ शरीर के हर एक भाग में पहुँचता है और फिर दूसरे रास्ते से पतली शिराओं में होता हुआ मोटी शिराओं में आकर हृदय में वापस पहुँच जाता है आरम्भ में जब यह रक्त शरीर में घूमने लगता है तो स्वच्छ एवं शुद्ध होता है किन्तु जब वापस लौटता है तो शरीर में हर घड़ी उत्पन्न होते रहने वाले विष उसमें मिल जाते हैं । शहर की गन्दी नालियों की भाँति काला नीला होकर यह रक्त हृदय की दाहिनी कोठरी (Auricle) में जमा होता है यहाँ से उसे एक दूसरी कोठरी (Ventricle) में होकर शुद्ध होने के लिए वह बालों से भी बारीक नलियों द्वारा फेफड़ों की उन हवा वाली लाखों कोठरियों में पहुँचता है जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ।

साँस द्वारा फेफड़ों में जो शुद्ध हवा पहुँचती है वह इस विष को अपने साथ बाहर उड़ा लाती है । चौबीस घण्टे में मनुष्य के शरीर से साँस द्वारा इतना विष बाहर निकलता है कि उससे १२ हाथियों की मृत्यु हो सकती है । यदि साफ हवा पर्याप्त मात्रा में फेफड़ों में न पहुँचे तो शरीर प्राणु वायु के जीवनदायक लाभों से वंचित तो रहेगा ही साथ ही अशुद्ध रक्त की गन्दगी भी ठीक तरह शुद्ध न हो सकेगी और परिणाम यह होगा कि वह थोड़ी-थोड़ी अशुद्धता धीरे-धीरे जमा होकर स्वास्थ्य बिगाड़ देगी और नाना प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न करेगा ।

इसलिये गहरी और पूरी साँस लेने की आवश्यकता है जिससे वायु फेफड़े के हर भाग में जाकर सम्पूर्ण वायु मन्दिरों में से रक्त की सफाई कर सके । अधूरी और उथली साँस लेने से कुछ थोड़े से वायु मन्दिरों की सफाई हो पाती है क्योंकि उथला साँस का दबाव इतना नहीं होता कि वह हर एक कोठे तक पहुँच सके, जब हवा वहाँ तक पहुँचेगी ही नहीं तो सफाई किस प्रकार होगी ? साँस का सम्पर्क होने पर रक्त की अशुद्धता—कार्बोनिक एसिड गैस—बाहर निकल जाती है और साँस का प्राण—ऑक्सीजन—रक्त में घुल जाती है । यह प्राण-शक्ति उस शुद्ध हुए रक्त के दूसरे दौरे के साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पहुँच कर उन्हें ताजगी और स्फूर्ति प्रदान करती है । शुद्ध रुधिर में एक चौथाई भाग—ऑक्सीजन का होता है । यदि इसमें न्यूनता हो जाय तो उसका प्रभाव पाचन-क्रिया पर अनिवार्य रूप से पड़ता है ऐसे व्यक्तियों की जठराग्नि मन्द होने लगती है ।

इन सब प्रक्रियाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें पूरी और गहरी साँस लेने की आवश्यकता है । जिससे रक्त की सफाई अच्छी तरह होकर अशुद्धता शेष न रहने पावे और शुद्ध हुए रक्त में पर्याप्त—ऑक्सीजन मिल जाय जिससे अंग-प्रत्यंगों में ताजगी एवं स्फूर्ति पहुँचती रहे और पाचन शक्ति में निर्बलता न आने पावे । जठराग्नि मन्द होने से अन्य अंगों में शिथिलता आने लगती है और वे अपने काम को अधूरा एवं दोषपूर्ण छोड़ते हैं, यह क्रम यदि कुछ समय जारी रहे तो जीवन यात्रा में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं और विविध भाँति के रोगों का सामना करना पड़ सकता है ।

अधूरी साँस लेने वालों के फेफड़े का बहुत-सा भाग निकम्मा पड़ा रहता है । जिन मकानों की सफाई नहीं होती उनमें गन्दगी, मकड़ी, मच्छर, छिपकली, कीड़े-मकोड़े आदि का जमघट होने लगता है इसी प्रकार फेफड़ों के जिन वायु कोष्ठों में साँस की वायु नहीं पहुँचती उनमें क्षय, खाँसी, जुकाम, उरक्षत, कफ, दमा आदि के रोग कीट जड़ जमा लेते हैं धीरे-धीरे वहाँ वे निर्बाध रीति से पलते रहते हैं और भीतर ही भीतर अपना इतना आधिपत्य जमा लेते हैं कि फिर उनका निकाल बाहर करना कठिन या असम्भव हो जाता है ।

प्राणायाम विज्ञान का सबसे पहला और आरम्भिक पाठ यह है कि हमें पूरी और गहरी साँस लेनी चाहिए ।

यह आदत डालने का प्रयत्न करना चाहिए कि सदैव इस प्रकार साँस ली जाय कि वायु से पूरे फेफड़े भर जायें । यह कार्य झटके से या उतावली में नहीं होना चाहिए धीरे-धीरे इस प्रकार पूरी साँस खींचनी चाहिए कि छाती भरपूर चौड़ी हो जाय और फिर उसी धीरे के क्रम से वायु को बाहर निकाल देना चाहिए । यह रीति फेफड़ों को स्वस्थ रखने वाली, रक्त को शुद्ध रखने वाली, शरीर के अंग-प्रत्यंगों में चैतन्य देने वाली, पाचन शक्ति ठीक बनाये रहने वाली है इसलिये आरोग्य और दीर्घ जीवन देने वाली भी है ।

छाती का कमजोर और कम चौड़ा होना स्वास्थ्य के लिए एक खतरनाक अभिशाप है जिसकी ओर हर व्यक्ति को जागरूक होने की आवश्यकता है । जापान के प्रसिद्ध डॉक्टर शोजाबुरो ओटेव ने अपनी पुस्तक "दी साइन्स एण्ड आर्ट ऑफ डीप ब्रीदिंग एज ए प्रोफिलैक्टिक एण्ड थीराप्यूटिक एजेण्ट इन कंजम्पशन" नामक पुस्तक में असंख्य प्रमाणों के साथ यह सिद्ध किया है कि तपेदिक का प्रधान कारण फेफड़ों का कमजोर होना है । उपरोक्त डॉक्टर साहब ने वेक्टीरियो लॉजिकल इंस्टीट्यूट, वेगुली सेनिटोरियम, नेशनल सेनिटोरियम चैरिटी मेडीकल कालेज आदि विख्यात अस्पतालों के प्रमुख पदों पर रहकर जो प्रामाणिक अनुभव एकत्रित किए हैं उससे यह भली प्रकार प्रकट होता है कि अधूरी साँस लेने से जिन व्यक्तियों ने अपनी छाती को निर्बल बना लिया है वे संक्रामक रोगों के शिकार होकर अक्सर अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं और जिन्हें गहरा एवं पूरा साँस लेने की आदत हैं वे अन्य कठिनाइयों के होते हुए भी इतनी सहन शक्ति रखते हैं कि कठिन रोगों से बहुत समय तक युद्ध करते रहें एवं उन पर विजय प्राप्त कर सकें ।

शरीर विज्ञान पर नूतन प्रकाश डालने वाले यूरोप के ख्याति नामा डॉक्टर बर्नर मेकफेडन ने अपनी पुस्तकों में गहरी साँस लेने की आवश्यकता पर अत्यधिक जोर दिया है और स्वस्थता से पूरी साँस लेने का बहुत घना सम्बन्ध बताया है । जबकि अन्य डॉक्टर प्राणायाम के अद्‌भुत शारीरिक लाभों से अपरिचित थे तब आज से करीब २०० वर्ष पूर्व एक जर्मन पण्डित इमैनुएल केण्ट ने अपना पुस्तक में घोषित किया था कि साँस लेने की प्रक्रिया में सुधार कर लेने से कठिन रोगों से छुटकारा पाया जा सकता है । क्षय रोग के विशेषज्ञ डॉक्टर मुथू ने अपने अस्पताल में अन्य उपचारों के साथ-साथ रोगियों को प्राणायाम करना अनिवार्य रखा है । अमेरिका के योगी रामाचरक ने "साइन्स ऑफ ब्रेथ" पुस्तक लिखकर अपने देश की जनता को प्राणायाम की उपयोगिता भली प्रकार समझाई है । उनके विचारों से अंग्रेजी भाषी लोगों का ध्यान प्राणायाम की ओर विशेष रूप से खिंचा है और जगह-जगह श्वास-प्रश्वास क्रियाएँ सिखाने वाली संस्थाओं का जन्म हो रहा है ।

पूरी साँस लेने का अभ्यास डालने से छाती की चौड़ाई बढ़ती है, फेफड़ों की मजबूती और वजन में वृद्धि होती है, हृदय की कमजोरी में सुधार होकर रक्त संचार की प्रक्रिया में एक चैतन्यता दिखाई देने लगती है । पाठकों को श्वास विज्ञान के इस तथ्य को गम्भीरता पूर्वक विचारना चाहिए और अविलम्ब पूरी एवं गहरी साँस लेने की आदत डालने का प्रयत्न आरम्भ कर देना चाहिए । कुछ दिन श्वास क्रिया पर ध्यान रखने से और भूल सुधारते रहने से यह आदत भली प्रकार पड़ जाती है ।

प्राणायाम विज्ञान की दूसरी शिक्षा 'नाक से श्वास लेना' है । यद्यपि मुँह से भी साँस ली जा सकती है पर वह उतनी उपयोगी कदापि नहीं हो सकती जितनी कि नाक से लेने पर होती है । एक बार एक जंगी जहाज के यात्रियों में चेचक बड़े उग्र रूप से फैली । डॉक्टरों ने इनकी विशेष सावधानी से इनकी जाँच करते रहने का प्रयत्न किया । मृतकों के बारे में उनकी रिपोर्ट थी कि यह लोग मुँह से साँस लेते थे । उस जहाज में एक भी मनुष्य ऐसा न मरा जिसे नाक से साँस लेने की आदत थी । जुकाम और सर्दी के रोगों के बारे में भी डॉक्टरी जाँच का यही निष्कर्ष है कि मुँह खोलकर साँस लेने से इनका प्रकोप विशेष रूप से होता है और भी अनेक छोटे बड़े रोग इसी बुरी आदत के कारण होते देखे गए हैं ।

नाक से फेफड़ों तक जो हवा पहुँचाने वाली नाड़ी गई है उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि वायु का उचित रूप से संशोधन परिमार्जन करके भीतर पहुँचाये । नासिका के छिद्रों में छोटे-छोटे बाल होते हैं यह एक प्रकार की चलनी है जिनमें धूल गन्दगी के अणु अटके रह जाते हैं और छनी हुई वायु भीतर जाती है ।

जब आप नासिका के छिद्रों में अँगुली डालकर उनकी सफाई करते हैं तो उनमें से कुछ मैल निकलता है । यह मैल वह कचरा है जो वायु के छानने से जमा हुआ है । नासिका में एक प्रकार का तरल पदार्थ स्रवित होता रहता है, बालों में अटकने के सिवाय जो कचरा बच रहता है वह इस स्राव में चिपक जाता है । वायु का इतना संशोधन नासिका के छिद्रों में हो जाने के उपरान्त वह आगे चलती है । श्वास नली जो फेफड़ों तक मस्तिष्क में होती हुई गई है काफी लम्बी है, इतनी लम्बाई में यात्रा करते हुए वायु का तापमान सह्य हो जाता है यदि वह गरम हुई तो श्वास नली के ताप के अनुसार ठण्डी हो जाती है और यदि ठण्डी हुई तो गरम हो जाती है । इस प्रकार फेफड़ों तक पहुँचते-पहुँचते वह सब प्रकार सह्य और संशोधित हो जाती है, किन्तु यदि मुँह से साँस ली जाय तो परिणाम बिल्कुल दूसरे ही प्रकार का होता है । मुँह में नासिका की तरह बाल नहीं हैं जो वायु को छानें । दूसरे मुँह का छिद्र इतना बड़ा है कि उसमें वायु का गर्द-गुवार बिना रुकावट के चला जा सकता है । तीसरे मुँह से फेफड़ों की दूरी बहुत कम है, इसलिये वायु की सर्दी-गर्मी में भी विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता । इस प्रकार बिना छनी, गर्द-गुवार युक्त, सद-गर्म हवा मुँह के द्वारा जब फेफड़ों में पहुँचती है तो उन्हें हानि पहुँचाती है और बीमारियों की उत्पत्ति करती है । देखा गया है कि जो लोग रात में मुँह से साँस लेते हैं सबेरे उनका मुँह सूखा हुआ, दाहयुक्त, कड़वा और बदबूदार होता है । रोगियों को यह लत हो तो उनके स्वस्थ होने में अनावश्यक देरी लग जाती है ।

योगियों की प्राणायाम के अभ्यासियों को यह कड़ी ताकीद होती है कि वे सदा नाक से साँस लिया करें । यदि नासिका भाग में कुछ रुकावट हो जिसके कारण मुँह से साँस लेने के लिए बाध्य होना पड़ता हो तो नासिका रन्ध्रों की सफाई कर लेनी चाहिए । यदा-कदा इस सफाई को अभ्यास की तरह कर लिया जाया करे तो इस प्रकार की रुकावट उत्पन्न ही नहीं होने पाती ।

हठयोग के अन्तर्गत षट् कर्मों में 'नेति' क्रिया का प्रमुख स्थान है । नासिका की सफाई का यह साधन है । सूत की डोरी द्वारा, जल द्वारा, घृत द्वारा, नासा रन्ध्रों की सफाई करके वायु मार्ग में जमा हुआ मैल साफ किया जाता है ताकि साँस लेने में कोई विघ्न उपस्थित न हो । सूत की डोरी से नाक की सफाई करने का तरीका विशेष अनुभवी लोगों की देख-रेख में ही किया जा सकता है अन्यथा भयानक खतरा उपस्थित हो सकता है । असावधानी से डोरी यदि नासा रन्ध्र में अनुचित रीति से धँस जाय तो मृत्यु तक की नौबत आ सकती है । इसलिये जल नेति का तरीका बरतने की ही हम अपने पाठकों को सलाह देते हैं ।

प्रातःकाल शौच आदि से निवृत्त होकर अच्छी तरह कुल्ला, दातौन करनी चाहिए और नासिका के छेदों को अँगुली के सहारे खूब अच्छी तरह सफाई कर डालनी चाहिए । तदुपरान्त छना हुआ, स्वच्छ, निर्मल, ताजा जल कटोरी या अंजलि में लेकर धीरे-धीरे नासिका द्वारा ऊपर खींचना चाहिए । अभ्यास के आरम्भ में कुछ दिन थोड़ी ही दूर तक पानी खींचना चाहिए और फिर नाक से ही लौटा देना चाहिए । फिर क्रमशः अधिक दूरी तक पानी खींचने का अभ्यास करते चलना चाहिए यहाँ तक कि नाक द्वारा खींचा हुआ पानी मुँह में होकर निकल जाय । इस जल नेति को सप्ताह में एक दो बार कर लेने से नासिका से वायु मार्ग की सफाई होती रहती है और श्वास सम्बन्धी रुकावटें दूर हो जाती हैं । यह स्वस्थ दशा के लिए है यदि रोग ग्रस्त दशा हो तो स्वच्छ पिघले हुए गौ घृत की नेति करनी चाहिए । कभी-कभी 'नक छिकनी' बूंटी के रस आदि को सूँघकर छीकें ले लेनी चाहिए । इस प्रकार श्वास मार्ग की रुकावटें दूर होती रहती हैं और नासिका द्वारा साँस लेने की आदत डालना सरल हो जाता है ।

संगीत से फेफड़े बहुत मजबूत होते हैं । गायन में जिन्हें रुचि होती है उन्हें छाती सम्बन्धी रोग बहुत कम होते देखे गए हैं । अत्यधिक गाने से या अनुचित अवस्था में अविधिपूर्वक गाने से बीमारियाँ हो सकती हैं परन्तु साधारणतः संगीत की गणना, फेफड़े को मजबूत बनाने वाले अभ्यासों में है । कंठ, हृदय, पसली, आमाशय, आँत, यकृत आदि सभी धड़ के अन्तर्गत रहने वाले अंगों पर संगीत से अच्छा व्यायाम होता है । यदि अच्छे बाजे के साथ ध्वनिपूर्वक गाया बजाया जाय तो एक प्रकार की विद्युत तरंगें उत्पन्न होकर स्नायु-तन्तुओं को तरंगित करती हैं, जिससे संचालन क्रिया में विशेष रूप से सहायता

मिलती है और मन्द एवं शिथिल गति से कार्य करने वाले अंगों में गतिशीलता तथा स्फूर्ति का आविर्भाव होता है । जिन्हें गाना-बजाना आता है उन्हें भोजन के पश्चात कम से कम दो तीन घण्टे बचाकर सुविधानुसार अपना अभ्यास करना चाहिए । जो बजा न सकते हों उन्हें केवल गाना ही चाहिए । सुविधानुसार यदि वाद्य गायन सुनने का अवसर मिले तो उससे भी लाभ उठाना चाहिए क्योंकि संगीत से उत्पन्न होने वाली विद्युत लहरें सुनने वालों को भी प्रभावित करती हैं । प्रातः-सायं गायन, वाद्य तथा नृत्य के साथ संकीर्तन करने की धार्मिक प्रथा का स्वास्थ्य से बड़ा घना सम्बन्ध है । संकीर्तन में सम्मिलित होने वालों का अनायाम ही फेफड़े सम्बन्धी व्यायाम हो जाता है और बहुत अंशों में प्राणायाम का लाभ मिलता है ।

व्यायाम और प्राणायाम के सम्मिलित अभ्यास

नीचे कुछ ऐसे प्राणायाम दिए जाते हैं जिनमें आसन और प्राणायाम दोनों की आवश्यकता पूरी होती है अर्थात् व्यायाम और श्वास-प्रश्वास क्रिया दोनों साथ-साथ हैं ।

अभ्यास १

(१) सीधे खड़े हो जाओ । बाहें नीचे बगल में लटका लो ।

(२) भुजाओं को कड़ी रखकर धीरे-धीरे ऊपर उठाते जाओ जब तक कि सिर के ऊपर जाकर दोनों हाथ एक-दूसरे को छू न जावें । साथ ही नासिका द्वारा वायु खींचते जाओ ।

(३) हाथों को कुछ क्षण ऊपर ही उसी अवस्था में रोके रखो और साथ ही साँस को भी रोके रहो ।

(४) हाथों को धीरे-धीरे फिर नीचे लाओ और साथ ही साँस को खाली करते जाओ । हाथ बगल में आने तक पूरी साँस खाली हो जाय ।

अभ्यास २

(१) सीधे खड़े हो जाओ । दोनों हाथों को नाक की सीध में ठीक सामने कर लो । हाथ कड़े तने हुए, इस प्रकार रहें मानों हाथ जोड़ रहे हो ।

(२) दोनों हाथों को कानों की सीध में फैलाओ । सीने को जरा आगे की ओर तानते हुए हाथों का पीठ की तरफ थोड़ा पीछे की ओर ले जाने की कोशिश करो, साथ ही नाक द्वारा साँस खींचते जाओ ।

(३) कुछ देर हाथों को उसी दशा में तना हुआ रोके रखो और साँस भी रोके रहो ।

(४) हाथों को फिर पहली स्थिति में लाओ जैसे हाथ जोड़े हुए थे, साथ ही साँस को खाली करो ।

अभ्यास ३

(१) सीधे खड़े हो जाओ । दोनों हाथों को सिर के ऊपर ले जाओ और साँस खींच लो ।

(२) तने हुए हाथों में लचक न आने पावे उन्हें कड़े और सीधे रखते हुए धीरे-धीरे नीचे की ओर झुको और पैरों की अँगुलियाँ छूने की कोशिश करो । पैरों के घुटने भी लचकने न पावें । यदि इस प्रकार इतना न झुका जा सके कि पैरों की अँगुलियाँ छू जायें तो ज्यादा से ज्यादा जहाँ तक झुक सकते हो वहीं तक झुको । साथ ही साँस खाली करते जाओ ।

(३) कुछ क्षण इसी दशा में ठहरो और साँस रोको ।

(४) हाथों को ज्यों के त्यों सीधे और कड़े रखते हुए ऊपर को उठो और धीरे-धीरे हाथों को सिर के ऊपर तक ले जाओ । साथ ही साँस भरते जाओ ।

अभ्यास ४

(१) सीधे खड़े हो जाओ । दोनों हाथों को कमर पर रख लो ।

(२) पैर जहाँ के तहाँ अपनी जगह पर अड़े रहें और कमर से ऊपर का धड़ जितना पीछे की ओर झुक सके तना हुआ रखते हुए झुकाओ साथ ही साँस खींचते जाओ ।

(३) कुछ देर इसी दशा में ठहरो और साँस रोको ।

(४) अब धड़ को पूर्व अवस्था में वापस लाकर सीधे हो जाओ और साँस खाली कर दो ।

अभ्यास ५

(१) फौजी कवायद या ड्रिल करने में शरीर को सीधा रखकर जिस प्रकार चलते हैं उस तरह एक से

कदम उठाते हुए मध्यम गति से टहलो और मन ही मन कदमों की गिनती करते रहो ।

(२) कदमों की संख्या जितनी देर में १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ हो उतनी देर में साँस खींचो ।

(३) १, २, ३, ४, की गिनती के कदमों तक साँस रोको ।

(४) फिर १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ कदमों में साँस खाली कर दो ।

यदि कमजोरी के कारण ८ तक की संख्या ज्यादा मालूम पड़ती हो तो ६ कर सकते हैं । धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाते हुए इस गिनती को आगे बढ़ाना चाहिए । आरम्भ में यदि ८ से शुरू किया है तो आगे चलकर १०, १२ आदि क्रम से बढ़ते चलना चाहिए । सभी कसरतों में यही बात है । आरम्भ की अपेक्षा धीरे-धीरे अभ्यास का दबाव बढ़ाते हुए उसे कठिन करते चलना चाहिए । परन्तु ध्यान रहे सामर्थ्य से अधिक न बढ़ना चाहिए, एक अभ्यास को कई-कई बार शक्ति के अनुसार दुहराना चाहिए ।

प्राणायाम की कुछ विधियाँ

प्राणायाम करने के लिए प्रातःकाल का समय अच्छा है । किसी स्वच्छ, खुले, एकान्त एवं शान्त स्थान में आसन बिछाकर बैठना चाहिए । सुखकर रीति से पालथी मारकर सादा पद्मासन से इस प्रकार बैठना चाहिए कि छाती, गला और मस्तिष्क तीनों एक सीध में रहें । मेरुदण्ड सीधा रखना प्राणायाम के समय आवश्यक है ताकि रीढ़ के साथ रहने वाली इड़ा और पिंगला नाड़ियों में होकर निर्बाध गति से प्राण का आवागमन हो सके ।

प्राणायाम को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) रेचक, (२) कुम्भक, (३) पूरक । कुम्भक के दो भेद हैं : (अ) बाह्य कुम्भक, (ब) आभ्यान्तरिक कुम्भक । रेचक वायु बाहर निकालने को, आभ्यान्तरिक कुम्भक भीतर वायु रोकने को, बाह्य कुम्भक बाहर बायु रोकने को, पूरक साँस खींचने को कहते हैं । अब कुछ प्राणायामों के अभ्यास नीचे बताये जाते हैं ।

(१) प्रारम्भिक अभ्यासियों के लिए साधारण प्राणायाम

(१) छाती में भरी हुई सारी वायु नाक के रास्ते धीरे-धीरे बाहर निकालो ।

(२) जितनी देर में वायु निकाली है उसके एक चौथाई समय तक साँस को बाहर ही रोके रखो ।

(३) फिर धीरे-धीरे साँस लेना शुरू करो और पेट तथा फेफड़ों को पूरी तरह वायु से भर लो ।

(४) पहले जितनी देर साँस को बाहर रोके रखा था अब उतनी ही देर वायु को भीतर रोक रखो ।

(५) इस अभ्यास को पहले दिन कम से कम ७ बार करो और फिर नित्य एक दो की संख्या में बढ़ाते जाओ ।

(६) उपरोक्त प्रत्येक क्रिया के साथ मन ही मन 'ॐ' का जप करते रहें । एक बात विशेष ध्यान रखने की है कि कुम्भकों को उतनी ही देर करना चाहिए जितनी देर आसानी से साँस रोकी जा सके । जबर्दस्ती अधिक समय तक कुम्भक करने से लाभ के बदले हानि की आंशका रहती है ।

(२) फुफ्फुस के हर भाग में वायु पहुँचाने के लिए प्राणायाम

(१) नासिका द्वारा धीरे-धीरे वायु खींचकर इच्छा शक्ति द्वारा पहले उसे फेफड़े के निचले भाग में भरो । इससे पेट का ऊपर वाला भाग भी कुछ फूल जायेगा ।

(२) इसके पश्चात उसी साँस को फेफड़ों के मध्य भाग में भरो । इससे छाती का बीच वाला भाग कुछ फैलेगा ।

(३) साँस के तीसरे भाग से फेफड़ों का ऊपरी भाग भरो । इससे छाती का ऊपरी भाग फैलता है ।

(४) अब थोड़ी देर वायु को भीतर रोके रखो और भावना करो कि फेफड़ों के समस्त कोषों में साँस भली प्रकार भरपूर मात्रा में भरी हुई है ।

(५) फिर धीर-धीरे वायु को बाहर निकाल दो ।

(३) पेट और आँतों तक प्राण पहुँचाने के लिए प्राणायाम

(१) वायु को खींचते हुए सीधे पेट तक ले जाओ जिससे पेट भली-भाँति फूल जाय ।

(२) बिना कुम्भक किए ही वायु को बाहर निकालो और पेट जहाँ तक पिचक सकता हो पिचकाते जाओ ।

(३) बिना भीतर बाहर का कोई कुम्भक किए लगातार इस क्रिया को कई बार करो ।

(४) अभ्यास के समय नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि रखो ।

(५) थक जाने पर अन्त में एक कुम्भक करके अभ्यास को समाप्त कर दो ।

(४) शक्ति बढ़ाने के लिए प्राणायाम

(१) ठोड़ी को कंठ कूप (हँसली की पसलियों के बीच में जो गड्ढा है) से चिपकाओ और थोड़ी देर कुम्भक करो ।

(२) बाएँ नथुने को अँगूठे से दबाकर बन्द करो और दाएँ नथुने से वायु खींचो ।

(३) अँगूठे से दाहिने नथुने को दबाकर बन्द करो और बाएँ नथुने से वायु को निकालो ।

(४) दूसरे प्राणायाम में इसका उल्टा करो । अर्थात् बाएँ से वायु खींचो और दाएँ से निकाल दो ।

(५) हर प्राणायाम के बाद उपरोक्त बदलने का क्रम रखो । अर्थात् एक बार दाहिने से खींचना बाएँ से छोड़ना, दूसरी बार बाएँ से खींचना दाएँ से छोड़ना, तीसरी बार फिर दाएँ से खींचना बाएँ से छोड़ना ।

(५) मानसिक शक्ति बढ़ाने के लिए प्राणायाम

(१) दाहिने पैर की एड़ी बाएँ पाँव की जाँघ पर और बाएँ पैर की एड़ी गुदा पर रखो । ठोड़ी को कंठ-कूप से चिपकाओ और नेत्र बन्द कर लो ।

(२) गहरा और लम्बा श्वास खींचो ।

(३) थोड़ी देर भीतर रोक कर वायु को बाहर निकाल दो ।

(६) शरीर में उष्णता बढ़ाने के लिए प्राणायाम

(१) पहले साधारण रीति से धीरे-धीरे पूरक और रेचक करो ।

(२) इस अभ्यास में कुम्भक की आवश्यकता नहीं ।

(३) क्रमशः श्वास-प्रश्वास क्रिया की तेजी बढ़ाते जाओ यहाँ तक कि साँस लुहार की धौंकनी की तरह चलने लगे ।

इस प्राणायाम से शीत जन्य गठिया, दर्द आदि रोग दूर होते हैं ।

(७) ब्रह्मचर्य पालन के लिए प्राणायाम

(१) इस प्रकार बैठो कि बाएँ पैर की एड़ी सीवन (गुदा और अण्डकोषों के बीच का स्थान) पर रहे और दाहिने पैर की एड़ी मूत्रेन्द्रिय के ऊपर की जड़ पर रहे ।

(२) आसानी के लिए चूतड़ों के नीचे पतला नकिया लगा लो ।

(३) जो स्वर चल रहा हो उससे साँस खींचो, दूसरे को अँगूठे से बन्द कर लो ।

(४) थोड़ी देर कुम्भक करके, जिससे साँस खींची थी उस नथुने को अँगूठे से बन्द करके दूसरे से निकाल दो ।

(५) साँस खींचते समय गुदा को खूब सकोड़ो कुम्भक के समय उसे सुकड़ी हुई ही रुकी रहने दो रेचक के साथ-साथ उसे धीरे-धीरे ढीला करो ।

(८) चित्त की एकाग्रता के लिए प्राणायाम

(१) शवासन—शिथिलासन से लेट जाओ । शरीर को बिल्कुल ढीला कर दो ।

(२) कानों को रुई लगाकर बन्द कर लो जिससे बाहर के शब्द सुनाई न पड़ें । दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर रखो ।

(३) साधारण रीति से गहरे साँस लेते और छोड़ते रहो, बीच में थोड़ा कुम्भक भी करते रहो ।

(४) फिर नेत्रों की पुतलियों को ऊपर चढ़ाकर दोनों भवों के मध्य-त्रिकुटी में दिव्य तेज का ध्यान करो ।

(५) कुछ निद्रा सी आवे तो आने दो उसे तोड़ो मत ।

(६) इस अवस्था में 'अनहद' शब्द सुनाई पड़ते हैं और ज्योतिः स्वरूप परमात्मा के दर्शन होने से चित्त की एकाग्रता दिन-दिन बढ़ती जाती है ।

(९) थकान मिटाने के लिए प्राणायाम

(१) साधारण रीति से पूरक करो, और वैसा ही थोड़ा कुम्भक करो ।

(२) रेचक मुँह से करो । मुँह को सिकोड़ कर इस प्रकार हवा बाहर फेंको जैसे सीटी बजाते हैं ।

(३) पूरी वायु एक बार में ही बाहर न निकाल दो वरन् रुक-रुक कर तीन बार में बाहर निकालो ।

उपरोक्त नौ प्राणायाम इस पुस्तक के पाठकों के लिए पर्याप्त हैं । यों तो अनेक प्रकार के प्राणायाम विभिन्न योग्यता वाले व्यक्तियों के लिए हैं परन्तु सर्व-सुलभ प्राणायाम जिनमें किसी प्रकार का खतरा नहीं है और जो इस पुस्तक के आधार पर आसानी

से किए जा सकते हैं ऊपर लिख दिए गए हैं । साधकों को इनका नित्य अभ्यास करना चाहिए । एक प्राणायाम को जितनी बार करना हो, उतनी बार कर चुकने के उपरान्त जब दूसरा करें तो बदलाव के समय थोड़ा सुस्ता लेना चाहिए और नौवाँ थकान मिटाने वाला प्राणायाम एक-दो बार कर लेना चाहिए । यह आवश्यक नहीं कि इन सबका नित्य अभ्यास करना चाहिए । अपनी रुचि और आवश्यकता के तीन-चार प्राणायाम चुन लेने चाहिए और उन्हीं का अभ्यास करते रहना चाहिए । व्यायाम और प्राणायाम का समय यदि साथ-साथ ही रखना हो तो दोनों के बीच में इतना अन्तर रहना चाहिए कि शरीर की उत्तेजना और उष्णता शान्त हो जाय ।

प्राणायाम का स्थान और आसन

कोई भी प्राणायाम का अभ्यासी चाहे उसे शारीरिक दृष्टि से करे और चाहे आध्यात्मिक दृष्टि से, पर उसका स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ शुद्ध और ताजा वायु निरन्तर आती रहे । इसका अर्थ यह नहीं कि उसके शरीर को तेज वायु का झोंका लगता हो । खुले हुए स्थान में प्राणायाम करना भी बहुत लाभदायक होता है पर जो लोग आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम करते हैं उनको इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि अभ्यास के समय ऐसी कोई बात न हो जिससे एकाग्रता में बाधा पड़े । उसके लिए ध्यान में एकाग्र होना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । इसके लिए एक ऐसा हवादार कमरा होना आवश्यक है जो मच्छर, मक्खी, चींटी आदि कीड़े-मकोड़ों के उपद्रव से रहित हो और जहाँ वह निर्बाध रूप से अपनी क्रिया कर सके । किसी प्रकार विघ्न-बाधा की सम्भावना होने से भी एकाग्रता में कमी पड़ जाती है । अगर वह इस कार्य के लिए एक कमरे को सर्वथा पृथक रख सके और उसमें आध्यात्मिक वातावरण कर ले तो इसमें बहुत लाभ हो सकता है ।

बैठने के लिए आसन की प्राचीन व्यवस्था ही सर्वोत्तम है । नीचे कुश का आसन बिछाया जाय, और उस पर एक खद्दर या कपड़े का टुकड़ा हो जो नित्य प्रति धोया जा सके । यह आसन बहुत सुखप्रद होता है और योगाभिलाषियों के लिए सब दृष्टियों से सुविधाजनक होता है । आध्यात्मिक मार्ग के साधकों को इस आसन से ऐसी प्रेरणा मिलती है और यह उनको ऐसा आकर्षक जान पड़ता है जैसा कि किसी सम्राट का सिंहासन भी नहीं हो सकता ।

⌘⌘⌘
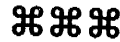
|| प्रत्याहार और धारणा ||

राजयोग : मनोनिग्रह

राजयोग के आठ अंगों में से पहले चार—यम, नियम, आसन और प्राणायाम का वर्णन पिछले अध्यायों में स्वतन्त्र रूप से किया जा चुका है । अब प्रत्याहार और धारणा, का वर्णन यहाँ किया जा रहा है ।

यम नियम और आसन प्राणायाम की विधि-व्यवस्था शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता के लिए है । योग-शास्त्र का सुदृढ़ मन्तव्य है कि किसी महान कार्य का सम्पादन करने से पूर्व शरीर और मन का निरोग और स्वस्थ होना आवश्यक है । पहले बाहरी स्थूल सफलता प्राप्त करनी चाहिए फिर भीतरी आत्मिक उन्नति की साधना करनी चाहिए । जो लोग शरीर को बीमार, व्यसनी, जर्जर, आलसी बनाये हुए हैं, मन को कुसंस्कारी, कुविचारी, ऊजड़, निष्ठुर एवं उजड्ड बनाये हुए हैं । उनके लिए किन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों में सफलता प्राप्त कर सकना कठिन है, खासतौर से योग साधन जैसा महान कार्य तो और भी दुस्तर है । इसलिए योग की आधी साधना यम, नियम, आसन, प्राणायाम द्वारा शारीरिक, मानसिक स्वस्थता में निहित है । बाहरी साधना के पश्चात् भीतरी साधना का नम्बर आता है जो लोग बाह्य व्यावहारिक जीवन में सुधार करना छोड़ देते हैं और एक दम योगी होने की सोचते हैं वे एक निरर्थक प्रयास करते हैं उन्हें सिद्धि प्राप्त होना दुस्तर है । आँखें मूँद कर ध्यान लगाने तो बैठते हैं परन्तु व्यवहारिक जीवन को घृणित बनाये हुए हैं वे ऐसा कार्य करते हैं जैसे नीचे की चार सीढ़ियों को छोड़कर कोई एकदम उछल कर पाँचवीं सीढ़ी पर चढ़ना चाहे, अथवा आरम्भिक बाल कक्षाओं की पढ़ाई की उपेक्षा करके कोई बालक एक दम मिडिल की किताबें पढ़ने लगे । ऐसे प्रयास उपहासास्पद ही कहे जायेंगे । ठीक रास्ता यह है कि सबसे पूर्व और सबसे अधिक ध्यान शारीरिक और मानसिक निरोगता के ऊपर लगाया जाय, और साथ ही नित्य कुछ समय मानसिक समय के लिए लगाया जाय ।

प्रत्याहार से लेकर समाधि तक सारी साधना एक ही है । प्राचीन शास्त्रों से इस सम्पूर्ण प्रणाली के लिए "संयम" शब्द व्यवहार हुआ है । जैसे बढ़े वाक्य को सुबोध बनाने के लिए चतुर साहित्यिक लोग छोटे-छोटे वाक्यों में उसका विभाजन कर देते हैं, उसी प्रकार मन को वश में करने की प्रक्रिया जिसे 'संयम' नाम से पुकारा जाता था पातंजलि ऋषि ने प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन चार अंगों में बाँट दी है । यह विभाजन होते हुए भी मूल तत्व एक ही है, मनोलय, आत्म-निग्रह, एकाग्रता, चित्त संयम, यह एक ही बात है । शब्दों का हेर-फेर होते हुए भी अर्थ में अन्तर नहीं आता ।

मनुष्य तत्व के अन्तर्गत 'मन' ही सार वस्तु है । इसी औजार के सहारे वह छोटे बड़े कार्यों का सम्पादन करता है, पाप, पुण्य, उन्नति, अवनति, सफलता, असफलता, स्वर्ग-नरक की रचना करता है । जिस औजार के ऊपर सारा सुख-दुःख निर्भर है उसका ठीक प्रकार से प्रयोग करना हर व्यक्ति को जाना चाहिए, परन्तु कितने लोग हैं जो अपने मन की शक्तियों का प्रयोग करना जानते हैं, बन्दर के हाथ में तलवार हो, घोड़े की दुम से राज सिंहासन बँधा हो तो वे दोनों पशु उससे कुछ लाभ न उठा सकेंगे वरन् उल्टे आफत में फँस जायेंगे । जिसे बन्दूक के कल-पुर्जों का ज्ञान न हो, चलना न आता हो, वह गोली बारूद सहित बढ़िया राइफल लिए फिरे तो उससे लाभ तो कुछ न उठायेगा यदि कुछ भूल हुई तो उल्टा मुसीवत में पड़ जायेगा । अनेक मनुष्यों को हम नाना प्रकार की आपत्तियों, कठिनाइयों और वेदनाओं में तड़पता हुआ देखते हैं । इनमें से अधिकांश कष्ट उनके अपने पैदा किए हुए और काल्पनिक होते हैं इन दुःखों का सारा कारण मन का कुसंस्कारी होना है । यदि मन रूपी औजार को लोग ठीक तरह प्रयोग करना जानते और

कर सकते तो दुनिया के आधे से अधिक कष्टों का अपने आप अन्त हो जाता है ।

राजयोग की उत्तरार्द्ध साधना इसी उद्देश्य से है कि मन के ऊपर ठीक प्रकार का काबू पाने और उसकी मर्जी के मुताबिक उपयोग कर सकने की कला हस्तगत हो जाय । मूर्ख से मूर्ख मनुष्य में इतनी पर्याप्त मात्रा में मानसिक शक्ति होती है कि यदि उसका उपयोग ठीक रीति से किया जा सके तो आश्चर्यजनक कार्य हो सकते हैं । योग का उद्देश्य मन को ऐसा लचकदार बनाना है कि उसे जिधर भी लगाना चाहें इच्छानुसार लगा सकें । जिन व्यक्तियों ने संसार में बड़े-बड़े कार्य किए हैं । अपने जीवन को नियत दिशा में और नियत कार्यों में दिलचस्पी के साथ खपाया है वे सब एक प्रकार के योगी ही थे, भले ही गेरुआ कपड़ा और कमण्डलु उनके हाथ में न रहा हो । उस जेम्स वाट, एडीसन, मार्कोनी, प्रभृति जिन वैज्ञानिकों ने भाप तथा बिजली के असंख्य यंत्रों का निर्माण किया है, जिन्होंने प्रकृति के असंख्य गुप्त रहस्यों का पता लगाया है, महानुभावों को एक प्रकार का योगी ही कहा जायेगा । एक ही प्रयोगशाला में, एक ही विषय का एकसी दिलचस्पी के साथ जिनका चित्त एकाग्रतापूर्वक वर्षों लगा रहा, बार-बार असफलता और निराशा आने पर भी जिनमें उदासीनता न आने पायी वरन् सब बुरी-भली परिस्थितियों में एक-सी गति से विचारधारा को जुटाये रहे यह कार्य योगियों का ही है । कोई अपनी मानसिक योग्यता को ईश्वर प्राप्ति में लगाता है, कोई भौतिक तथ्यों की प्राप्ति में, प्रयोग के मार्ग पृथक हैं पर वस्तु एक ही है ।

देखते हैं कि लोगों का मन घड़ी भर एक जगह नहीं ठहरता, अभी यह सोचते हैं तो कभी वह सोचने लगे । अभी यह चाहते हैं तो कभी यह चाहने लगे, आज इसमें दिलचस्पी है कल उसमें लग गए । इस प्रकार की डाँवाडोल अवस्था, अधूरी दिलचस्पी, आधे मन से सोचना, आधी लगन से जुटना असफलता का प्रधान कारण है । यदि नियत लक्ष्य में सारी शक्तियों को जुटा दिया जाय तो निःसन्देह मनुष्य बड़ी से बड़ी इच्छा तो पूर्ण कर सकता है ।

मन की एकाग्रता का महत्त्व पाठक जानते हैं अनेक लेखों और अभिवचनों में इसकी महत्ता पढ़ और सुन चुके हैं । चाहते भी हैं कि सारी दिलचस्पी एक कार्य पर जुट कर उसमें सफलता प्राप्त करें पर अपनी इस इच्छा को पूरा नहीं कर पाते हैं, कारण यह है कि मन को एक उजड्ड बछड़े की तरह सदा से छुट्टल छोड़ रखा गया है उसे अच्छी तरह बढ़िया चाल चलने को कभी शिक्षा नहीं दी गई । जो घोड़े अच्छी तरह सिखाये जाते हैं वे बढ़िया चाल चलते हैं, किन्तु छुट्टल बिना लगाम के बछेड़े को नियत दिशा में ठीक तरह से चलने की आशा सफल नहीं होती । मन की भी यही दशा है । कुसंस्कारी और असंयमी मन चाहे किधर भी उड़ सकता है । उसे परवाह नहीं कि आपकी अन्तरात्मा क्या चाहती है, किस लक्ष्य तक पहुँचना चाहती है । ऐसा मन जिनके पास है उनके लिए कोई बहुत बड़ी सफलता प्राप्त करना कठिन है । यदि गम्भीर अन्वेषण करने वाले विचारकों, खोजियों, वैज्ञानिकों, कलाकारों के पास ऐसे ही मन हों तो भला वे कोई कहने लायक काम कैसे कर सकते हैं ? 'मन का संयम' वह वरदान है जिसमें पशु, मनुष्य बनते हैं और मनुष्य देवता बन जाते हैं अष्टसिद्धि, नवनिद्धि इसी के अन्तर्गत हैं । भौतिक और आत्मिक जगत में जादू जैसे चमत्कार दिखाई पड़ते हैं वह मनोनिग्रह की ही करामातें हैं । गीता में कहा है कि "मन ही मनुष्य का सब से बड़ा मित्र है ।" सचमुच निग्रहीत हुआ मन पारस है, अमृत है, कल्पवृक्ष है, सब कुछ है । जिसे यह प्राप्त है उसे सब कुछ प्राप्त है । संयमी मन में जो अद्भुत शक्तियाँ हैं उनका ठीक प्रकार प्रयोग करके कुछ प्राप्त किया जा सकता है ।

राजयोग जीवन को सच्चे अर्थों में जीवन बनाने की विद्या है । उसका उत्तरार्ध मन के संयमित करने का एक विधान है । इसके द्वारा ऐसा अभ्यास हो जाता है कि मन को जिस कार्य पर चाहें पूरी दिलचस्पी, लगन और उत्साह के साथ इस प्रकार जुटाया जा सकता है कि उसके उचटने, उकताने और भागने का प्रसंग ही न आवे । मन को ऐसा उत्तम उच्चकोटि का बनाकर भारतीय तत्ववेत्ता उसे आत्मा की, परमात्मा की प्राप्ति में लगाते रहे हैं । भारतीय योगी अधिकांश में ब्रह्म भूत हुए हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि उससे सांसारिक उन्नति नहीं हो सकती । हम बार-बार कह चुके हैं कि निग्रहीत मन से सब कुछ हो सकता है,

जितने भी भले-बुरे तथ्य इस संसार में हैं उनमें से किसी में भी इस शक्ति को लगा दिया जाय उधर ही सफलता मिलेगी । बिजली का करेण्ट जिसमें भी चालू कर दिया जाय वही मशीन काम करने लगेगी । पूर्व काल में जहाँ ब्रह्म परायण योगी हुए हैं, वहाँ कालनेमि, रावण अहिरावण, मारीचि, मेघनाद जैसे खल योगी भी हुए हैं ।

इस भेद को समझ लेना आवश्यक है कि योग और ईश्वर प्राप्ति दो पृथक् विषय हैं । योग एक विज्ञान है, साधन है, विद्या है, कला है । जिसके द्वारा मानसिक शक्तियों को काबू में करके उनका प्रयोग करना आता है । इस विद्या द्वारा ईश्वर प्राप्ति की जाय या भौतिक कार्य किए जायें यह रुचि का विषय है । योग के अन्तर्गत जो साधनाएँ इस पुस्तक में बताई जायेंगी उनमें आध्यात्म तथा ईश्वर पर झुकाव अधिक होगा क्योंकि हम इस महा विज्ञान द्वारा मनुष्य के सात्विक तत्वों को बढ़ाना चाहते हैं । परन्तु ऐसा न समझना चाहिए कि यह एक मार्ग है भौतिक विज्ञानी एटकिंसन, टी. बीवेन्स, ओ. हष्णुहारा, मैडम ब्लेटस्की प्रभृति पाश्चात्य योगी दूसरे ही साधन उपस्थित करते हैं । हठ योगियों की तान्त्रिक साधनाएँ अलग ही हैं । यहाँ तक कि हर एक योग परायण शिक्षक अपने अनुयायियों को अपने स्वतन्त्र ढंग से शिक्षा देता और अभ्यास बताता है । यह सभी मार्ग मन को एकाग्र और आज्ञा पालक बनाने के हैं इसलिए विभिन्नता में भी एकता है । हम आस्तिक हैं और सत तत्व की उन्नति में श्रद्धा रखते हैं इसलिए आध्यात्मिक पहलू को छूती हुई साधनाएँ इस पुस्तक में बताई जायेंगी, फिर भी पाठकों को यह भेद स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि योग एक विज्ञान है, साधना है और ईश्वर प्राप्ति तथा भौतिक सुख एक उद्देश्य है । साधन और उद्देश्य कभी-कभी एक से दिखाई पड़ते हैं तो भी वास्तव में वे एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं । योगी हर व्यक्ति हो सकता है चाहे वह गेरुये कपड़े पहनता हो या कोट पतलून ।

प्रत्याहार क्या है ? और उससे मनोनिग्रह कैसे साधा जाय ? मन को परिष्कृत परिशोधित करने की इस विधा को जानने से पूर्व 'मानस' अर्थात्—मन, बुद्धि और चित्त के बारे में जान लेना आवश्यक है ।

'मनस' इस विश्व वसुधा का प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष

मानवी काया पाँच तत्वों और पाँच प्राणों की समन्वित सामग्री से बनी है । तत्वों से काया का और प्राणों से मन का निर्माण हुआ है । दो धाराओं के मिलने से चलने वाले विद्युत प्रवाह की तरह दो पहियों के सहारे गतिशील रथ की तरह जीवन-चक्र अपनी धुरी पर परिभ्रमण करता है । दोनों का योगदान अद्‌भुत है । शरीर की ज्ञात और अविज्ञात संरचना पर दृष्टिपात करते हुए जितनी गहराई में उतरा जाय उतने ही चकित करने वाले रहस्य सामने आते जाते हैं । कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों की बनावट कार्य पद्धति और उपलब्धि को देखते हुए लगता है कि जड़ पदार्थों की संरचना कितने स्तर के कृत्य करती और कितने प्रकार के उपार्जन प्रस्तुत करती है । जीव कोशों, ज्ञान तन्तुओं, गुच्छकों, रस-स्रावों, हारमोनों, गुण-सूत्रों की रहस्यमयी गतिविधियों को देखकर किसी रहस्य लोक के दृश्य देखने जैसी अद्‌भुत होती है । हृदय, वृक्क, यकृत आदि छोटे-छोटे अन्तःअवयव जो कमाल करते हैं उन्हें देखने से प्रतीत होता है कि प्रकृति की ज्ञात और अविज्ञात शक्तियों और गतिविधियों का सार तत्व समेट कर किसी कुशल कारीगर ने इस जादुई संयन्त्र की रचना की है और अपनी प्रबीणता की, इस सृजन को उत्कृष्ट बनाने में बाजी लगा दी है । शरीर सामान्यतया जीवन-निर्वाह की आवश्यकताएँ जुटाता भर दीखता है पर यदि उसे अवसर दिया जाय, प्रशिक्षण और अभ्यस्त किया जाय तो इसी संयन्त्र से ऐसे अद्‌भुत काम लिए जा सकते हैं कि मनुष्य को असीम सामर्थ्य का पुंज कहा जाने लगे । ऐतिहासिक महामानवों द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में सम्पन्न किए गए पराक्रमों और उनके परिणामों को देखने पर पता चलता है कि इस छोटे से माँसपिण्ड में क्षमताओं का विचित्र भाण्डागार भरा पड़ा है । प्रसुप्त स्थिति में रहने के कारण ही इस विशिष्टता का पता नहीं चलता । उभारने पर वह बीज से वृक्ष बनने की तरह अपना विकास विस्तार इस प्रकार करती है कि सम्भावनाओं की दृष्टि से इस सामान्य के कण-कण को असामान्य कहा जा सके ।

यह पंच तत्व से बने काय कलेवर की बात हुई । पाँच प्राणों से बनी चेतना का स्वरूप और क्रिया-कलाप देखने पर पता चलता है कि काया को संरचना की

सामान्यतया मस्तिष्क का कार्य जीवन यात्रा के साधन जुटाने में शरीर की गतिविधियों का निर्धारण संचालन भर होता है । प्राणियों की चेतना इसी परिधि में काम करती रहती है । मस्तिष्क के विशाल भाण्डागार में से उतना ही अंश प्रयुक्त होता रहता है । जिससे जीवन संकट अपनी यात्रा पूरी करने, आवश्यक साधन जुटाने में होता रहे, यह सामान्य हुआ । असामान्य वह है जो दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में असंख्य गुना अधिक है, विस्तार की दृष्टि से भी और स्तर की दृष्टि से भी । स्पष्ट है कि जिसका प्रयोग होगा वही सूक्ष्म रहेगा । प्रयुक्त न होने पर मूर्छना छाई रहती है और प्रसुप्त और असमर्थ की स्थिति बनी रहती है । प्रकृति के अन्तराल में भौतिक शक्तियों के ज्ञात और अविज्ञात भाण्डागार का बीज रूप में मानवी काया में परिपूर्ण समावेश है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड व्यवस्था चेतना प्रवाह में परब्रह्म में जो भी विशेषताएँ हैं उनका सूक्ष्म संस्करण जीव में विद्यमान है । जीव का केन्द्र संस्थान शासन दुर्ग मस्तिष्क में रखा हुआ है । उसकी संरचना और कार्य पद्धति को देखकर जाना जा सकता है कि जड़ और चेतन का यह सम्मिश्रण किस प्रकार विलक्षण धारा प्रवाहों का निर्झर बनकर अपनी विलक्षणता का परिचय देता है । दैनिक जीवन में मस्तिष्क के योगदान निरन्तर के अभ्यास में आने में कुछ प्रतीत नहीं होता अन्यथा इतने भर का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि संसार भर के सर्वोत्तम कम्प्यूटरों के मिलाने पर यदि कोई विशिष्ट कम्प्यूटर बन सकता हो तो उससे भी अधिक कार्यक्षमता मानवी मस्तिष्क में विद्यमान है । दैनिक जीवन में उसी के उपयोग से वे क्रिया-कलाप चल पाते हैं जो सामान्य दीख़ने पर भी वस्तुतः असामान्य हैं ।

विलक्षणताओं की बात इससे आगे की है । बुद्धिमानों द्वारा उसी मस्तिष्क तन्त्र के सहारे ऐसे काम कर दिखाये गए हैं जिनके कारण उन्हें ऐतिहासिक, चिरस्मरणीय एवं वन्दनीय माना गया है । अपनी कृतियों और उपलब्धियों से वे स्वयं ही धन्य नहीं बने हैं वरन् असंख्यों को लाभान्वित किया है । साहित्यकार, कलाकार, कवि दार्शनिक, विज्ञानी, ऋषि, योगी, सिद्ध पुरुष, अवतारी क्षेत्रों की प्रतिभाएँ जो कुछ कर सकीं उन्हें उनके मनःक्षेत्र से उत्पन्न हुई सम्पदा ही कहा जा सकता है ।

दिशा में और नियन्त्रण करने का पूरा उत्तरदायित्व इस चेतना ने ही सँभाला हुआ है । सवार और वाहन की उपमा और चेतना के समुच्चय जीवन पर पूरी तरह लागू होती है । जड़ को चेतना की तरह चित्र-विचित्र क्रिया-कलाप करते हुए देख कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि संरचना और क्षमता की दृष्टि से काया कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो उसका संचालन पूरी तरह चेतना ही सँभालती है । संचालन सूत्रों में तनिक भी व्यतिक्रम होने पर सदा ढाँचा लड़खड़ा जाता है । मूर्खों, विक्षिप्तों एवं अनगढ़ व्यक्तियों की काया तो अन्य सभी लोगों की तरह ही होती है । पर चेतना और काया के मध्य काम करने वाले सूत्र गड़बड़ा जाने से जीवन क्रम निरर्थक ही नहीं अस्त-व्यस्त एवं आपत्तिजनक भी बन जाता है । यह सम्बन्ध सूत्र टूटने लगे तब तो सारा खेल ही समाप्त हो जाता है।

जड़ प्रकृति और चेतना प्रवाह का स्तर, स्वरूप और क्रिया-कलाप भिन्न स्तर का है तो भी दोनों के समन्वय से ऐसी उपलब्धि सामने आती है जिसे एक तीसरी शक्ति कहा जा सके । दो पदार्थों के मिलने से तीसरा बनता है और उसका गुण स्वभाव दोनों से भिन्न स्तर का होता है । इस नियम को रसायनशास्त्र के सभी विद्यार्थी भली प्रकार जानते हैं । जड़ और चेतना सम्मिश्रण भी अपनी विलक्षणता से विवेचनकर्त्ताओं को हतप्रभ बना देता है ।

चेतना यों अपना कार्य तो शरीर के कण-कण में करती है पर उसका केन्द्रक संस्थान मस्तिष्क के सुदृढ़ दुर्ग में बना हुआ है । मस्तिष्क के रासायनिक पदार्थ अणु और उपक्रम तो शरीर के अन्य अवयवों से ही मिलते-जुलते हैं पर उनके भीतर प्राण विद्युत की हलचलें जिस प्रकार की चलती हैं और संरचना की अनुकूलता से उन हलचलों से जो उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं उसे तिलस्म ही कहा जा सकता है । मस्तिष्क को जादू का (भानुमती का) पिटारा कहा जा सकता है । बाजीगर अपनी टोकरी में से ऐसी-ऐसी वस्तुएँ निकाल कर दिखाता है जिसकी सम्भावना पर सामान्य बुद्धि विश्वास नहीं कर सकती । सृष्टा की बाजीगरी देखनी हो तो मस्तिष्क की पिटारी से हर घड़ी निकलने वाले कौतूहलों को देखकर लौकिक के अन्तराल में अलौकिकता का चत्मकार प्रत्यक्ष देखा जा सकता है ।

३.५ व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ

लौकिक क्षेत्र में कितने ही व्यक्ति विलक्षण विशेषताओं और प्रतिभाओं से सम्पन्न देखे जाते हैं । ऐसा दृश्य आँख आदि की अनुभूति में किसी भी रूप में सामने आये वस्तुतः वह उनकी मस्तिष्क की क्षमता का ही उभार होता है । शरीर से तो परिपुष्ट, पहलवान, निरोग, दीर्घजीवी परिश्रमी आदि ही बना जा सकता है किन्तु मस्तिष्क की उपलब्धि और सम्भावनाएँ अनन्त हैं । उन्हें जो जितना जीवन्त प्रयुक्त कर सका वह उतना ही बड़ा चमत्कारी कहलाया । मनःशास्त्र विज्ञान के निष्णातों का कथन है कि मस्तिष्क की समग्र क्षमता का मात्र सात प्रतिशत भाग ही जाना और काम में लाया गया है । शेष ९३ प्रतिशत भाग एक प्रकार से प्रसुप्त एवं अविज्ञात स्थिति में ही पड़ा रहता है । इस उपेक्षित में से जो जितना जगाने, काम में लाने का प्रयत्न करता है वह उतना ही विलक्षण के रूप में अपनी वरिष्ठता सिद्ध करता है ।

प्रकृति स्वभावतः अनगढ़ है । पदार्थ में बुद्धि न रहने से वह अस्त-व्यस्त स्थिति में पड़ा रहता है । परमाणुओं और तरंग प्रवाहों में सामर्थ्य भी है और गतिशीलता भी किन्तु बुद्धि के अभाव में उसके लिए व्यवस्था बनाना सौन्दर्य निखारना और कुछ उपार्जन कर दिखाना सम्भव नहीं । इस तथ्य को वन्य क्षेत्रों, मरु प्रदेशों की भयावह स्थिति को देखकर भली प्रकार जाना जा सकता है । अन्य ग्रह नक्षत्रों की स्थिति भी ऐसी ही अनगढ़ है । बुद्धिमान प्राणी न रहने से वहाँ निस्तब्धता और नीरसता का ही वातावरण बना हुआ है । इसके विपरीत धरती के मनुष्यों ने अपने पराक्रम से धरती को इस प्रकार संजो दिया है कि वह कामधेनु की तरह शोभा और सम्पदा से स्वयं कृतकृत्य हुई और प्राणियों को भी सुख-सुविधा से सम्पन्न कर दिया । धरातल की भू-गर्भ से समुद्र और आकाश से मिलने वाले असंख्यों अनुदान खोदे पाये, कहीं से भी पाये जाते हैं वस्तुतः उसे बुद्धि वैभव ही कहा जायेगा । विज्ञान की उपलब्धियों ने सुविधा-साधनों के पर्वत खड़े कर दिए हैं और मानव-जीवन की गतिविधियों से कुछ ही शताब्दियों में जमीन-आसमान जैसा अन्तर उत्पन्न कर दिया है । यह सब कैसे सम्भव हुआ ? इसका उत्तर एक ही है—बुद्धि वैभव का चमत्कार । मनुष्य का मस्तिष्क ही है जिसने नीति, दर्शन, धर्म अध्यात्म समाज, शासन, विधान, अनुशासन जैसे निर्धारणों के सहारे सभ्यता और संस्कृति का सृजन किया । यदि आदिम अनगढ़ता यथावत् बनी रहती तो मनुष्य की स्थिति आज भी वन-मनुष्यों से अधिक अच्छी न बन पाती । कृषि, पशुपालन, उद्यान, शिल्प, व्यवसाय, शिक्षा, चिकित्सा, वाहन, संचार, शास्त्र, विद्युत आदि की जिन उपलब्धियों के सहारे मनुष्य आज सृष्टि का मुकटमणि बना हुआ है ये मस्तिष्क रूपी कल्पवृक्ष के ही अनुदान हैं । कहने वाले तो यहाँ तक कहते हैं कि ईश्वर और परलोक तक मानवी मस्तिष्क का ही उत्पादन है । उनका तर्क है कि सृष्टि में जो कुछ रहा होगा, सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध रहना चाहिए । अन्य प्राणी ईश्वर, परलोक धर्म आदि को न तो जानते हैं और न मानते हैं । मात्र मनुष्य का ही उनसे सम्बन्ध है । ऐसी दशा में ईश्वर अनुग्रह कहा जाय अथवा बुद्धि-कौशल का, इस प्रश्न का निर्णय करना वस्तुतः अति जटिल हो जाता है ।

जो हो, तथ्यों से स्पष्ट है कि बुद्धि-कौशल की सामर्थ्य प्रकृतिगत सामर्थ्य से कम नहीं अधिक ही है । वायुयान कितना ही मूल्यवान क्यों न हो वस्तुतः पायलेट ही उड़ान की सफलता के लिए प्रमुख श्रेयाधिकारी माना जायेगा । धरती, आसमान, सूर्य, समुद्र, पवन आदि के रूप में दृष्टिगोचर होने वाले प्रकृति वैभव का महत्त्व स्वीकार करने पर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे आज जिस रूप में अपनी उपयोगिता का परिचय दे रहे हैं तथा सम्मान पा रहे हैं वह सब कुछ मानवी बुद्धि का सहयोग न मिलने पर कदाचित सम्भव न हो पाता । अन्य ग्रह, उपग्रहों की स्थिति साक्षी है कि वहाँ बुद्धिमता के अभाव में सब कुछ नीरस, निस्तब्ध, कुरूप एवं अनगढ़ ही दृष्टिगोचर होता है भले ही पृथ्वी की तुलना में उनका वैभव विस्तार कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो ?

व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य को सरसता सम्वेदना, सद्भावना, शिष्टता, सभ्यता, प्रगतिशीलता, महत्त्वाकांक्षा, पुरुषार्थ परायणता देखते ही बनती है, सुरुचि और सौन्दर्य दृष्टि के कारण ही उसका शरीर परिधान और ठाठ-वाट इस स्थिति तक पहुँचा है जिसे शोभा सुसज्जा के नयनाभिराम रूप में देखने और प्रसन्न होने का अवसर मिल सका । ऐसा न होता तो आदिम काल

की तरह नर-नारी नंग-धड़ंग ही फिर रहे होते। केशों ने दोनों को और भी अधिक कुरूप बना दिया होता। केश प्रकृत अवस्था में मनुष्य के लिए विशेषतया पुरुषों के लिए कुरूप ही नहीं भयंकर बना देते हैं। कला ही है जिसने भार-भूत केशों को शोभा-शृंगार का साधन बनाकर रख दिया। परिवार का मानवी ढाँचा अन्य प्राणियों से भिन्न है। मकान बनाने से लेकर परिवार बसाने तक की प्रक्रिया प्रकृति प्रदत्त नहीं मानवी बुद्धिमता की देन है।

किसी भी क्षेत्र पर दृष्टि डाल कर देखा जाय। मानवी बुद्धिमत्ता का चमत्कार ही अपनी वरिष्ठता का प्रमाण-परिचय देता देखा जाता है। मस्तिष्कीय क्षमता की उपयोगिता सर्वविदित है। इसलिए स्कूल, कॉलेजों से लेकर सभा, सत्संगों तक के अनेकानेक उपक्रम इसीलिए चलते रहते हैं कि बुद्धिमत्ता की अभिवृद्धि में जो भी उपाय उपचार सहायक सिद्ध हो सके उसे काम में लाया जाय। प्रेस ओर रेडियो अपने-अपने ढंग से इसी प्रयोजन की पूर्ति में रत रहते हैं। पर्यटन से लेकर परीक्षा प्रतियोगिताओं के आयोजन इसीलिए होते रहते हैं कि बुद्धिमत्ता बढ़ाने के लिए जो भी बन पड़े उन सबका उपयोग किया जाय। तथ्य भी यही है कि धन सम्पदा से हजारों लाखों गुना महत्त्व और परिणाम बुद्धिमत्ता का होता है। उससे सम्पन्न व्यक्ति अपना ही नहीं अपने समाज का भी भला करता है। वर्तमान की समस्याओं का समाधान भविष्य का उज्ज्वल निर्धारण दूरदर्शी विवेकशीलता के सहारे ही बन पड़ता है। अध्यात्म विज्ञान में ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रतीक प्रतिनिधि गायत्री मन्त्र को माना है। प्रज्ञा की प्रतिष्ठा ही मानवी सुख-शान्ति की आधारशिला की सुनिश्चित गारण्टी है।

मनः संस्थान के व्यावहारिक पक्ष को समुन्नत बनाकर किस प्रकार विश्व वसुधा एवं व्यक्ति का लौकिक विकास सम्भव हो सका या हो रहा है, इसकी चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की गई है। यह मस्तिष्क को सात प्रतिशत में आँकी जाने वाली क्षमता का परिचय है। उससे आगे की अधिक गहरी परतें वे हैं जो काम में न आने के कारण प्रसुप्त एवं अविज्ञात स्थिति में पड़ी रहती हैं। इनका अनुपात ६३ प्रतिशत है। अर्थात् व्यवहार पक्ष की तुलना में प्रायः १४ गुना अधिक है। यह आकार विस्तार का मूल्यांकन हुआ। स्तर की दृष्टि से उसका अनुपात १४ नहीं १४०० गुना भी हो सकता है क्योंकि उच्च स्तरीय तत्व उसी में सन्निहित है। वे ही साधारण श्रेणी पाते हैं जो उनके सुख साधन जुटाने में सहायता कर सकें। चेतना का स्तर ऊँचा उठने पर भी महानता पर दृष्टि जाती है और उसके लिए आवश्यक अन्तःक्षमता उभारने की आवश्यकता अनुभव होती है। ऐसे व्यक्ति कितने हैं जो उसकी उपयोगिता समझें और उसके लिए प्रयत्न करें। बाल-बुद्धि ही सर्वत्र आच्छादित है अस्तु बुद्धि का उपयोग भी उसी क्षेत्र में होता है और मस्तिष्कीय विकास की दृष्टि से इसी परिधि का मनःसंस्थान सक्रिय एवं सक्षम बन पाता है। कुछ अधिक महत्त्वाकांक्षा जागी तो वैभव वर्चस्व की अभिवृद्धि में बुद्धिमत्ता का प्रयोग होने लगता है। निर्वाह की तुलना में महत्त्वाकांक्षा का स्तर कुछ ऊँचा अवश्य है पर उसके लिए भी मनःसंस्थान का व्यावहारिक पक्ष ही थोड़ा समुन्नत कर लेने पर काम चल जाता है महत्त्वाकांक्षी भी मन लोक की उन गहरी परतों तक प्रवेश नहीं कर पाते जिनका उपयोग तत्व ज्ञानी, दिव्यदर्शी, महामनीषी, योग साधना के आधार पर बनते और उस स्थिति तक पहुँचते थे जिसे सिद्ध पुरुषों, ऋषियों एवं देवताओं का स्तर कहा जाता है।

अध्यात्म विशुद्ध रूप से मनःशास्त्र है। उसमें चित्त बुद्धि, मन की गहराई में प्रवेश करके उन्हें कुरेदने, उभारने एवं समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया जाता है। चित्त आस्थाओं सम्वेदनाओं का क्षेत्र है। बुद्धि में दूरदर्शिता एवं मन्थन निष्कर्ष की क्षमता रहती है। मन कल्पना करना और चित्त को व्यावहारिक जामा पहनाकर परिस्थितियों की अनगढ़ सी प्रतिमा गढ़ता है। इन तीनों को मिलाकर समग्र मनस बनता है। मनोविज्ञान में इनका वर्गीकरण दूसरे ढंग से किया है ये व्यवहार बुद्धि को सचेतन, आदतों को अचेतन और उत्कृष्टता को अतिचेतन की संज्ञा देते हैं। इस विभाजन क्रम में मतभेद और वर्गीकरण भी अनेकानेक हैं। इन सबकी चर्चा करते हुए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मनःतत्व को प्राचीन काल की तरह अब नये सिरे से एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में मान्यता मिल गई है। मध्यकाल में उसकी उपेक्षा होने लगी थी

और साधनों को ही सब कुछ माना जाने लगा था। उस अन्धकार युग में न शिक्षा का कोई महत्त्व था न संस्कृति का। आतंक उत्पन्न करने वाली बलिष्ठता और आकर्षण उत्पन्न करने वाली सम्पन्नता ही सब कुछ थी। अब सूक्ष्मदर्शिता बढ़ी है तो यह स्वीकारा गया है कि व्यक्ति अभ्युदय और समाज का उत्कर्ष यदि वस्तुतः ही अभीष्ट हो तो चेतना को सुसंस्कृत बनाना, दृष्टिकोण को परिष्कृत करना आवश्यक है। जन-मानस का परिष्कार-विचार, क्रांति अभियान, रानभरा प्रज्ञावतार आदि के जो प्रयास चल रहे उन्हें प्रकारान्तर से चिन्तन का स्तर उभारना ही कह सकते हैं। लगती तो यह समाज सुधार जैसी ही है पर वस्तुतः उसे मनःक्षेत्र में उत्कृष्टतावादी तत्वों का समावेश सम्वर्धन ही कह सकते हैं।

जन-जीवन से सम्बन्धित सभी पक्षों का सुनियोजन भावना एवं विचारणा में श्रेष्ठता का समावेश होने से ही सम्भव हो सकता है। सामयिक परिस्थितियों में से प्रतिकूलता का निवारण और अनुकूलता का निर्धारण अन्ततः इसी एक उपाय द्वारा बन पड़ेगा कि लोक-चिन्तन में शालीनता का अधिकाधिक समावेश किया जाय। यह विशुद्ध रूप से मनःशास्त्र का विषय है। भले ही प्रयोजन की पूर्ति के लिए उपाय उपचार किसी भी स्तर के नाम में क्यों न बनाये जायें परिवर्तन दण्ड विधान के आधार पर होता है या दार्शनिक सम्वेदनाओं का प्रभाव सफल हो जाता है अथवा दोनों का समन्वय काम देता है यह प्रयोक्ताओं की सूझ-बूझ और परिस्थितियों के तालमेल से सम्बन्धित है। इससे आगे की गहराई पर दृष्टिपात करने पर ये सारा खेल मनोविज्ञान की क्रिया-प्रक्रिया की परिधि में आता है। परिवर्तन चिन्तन की दिशाधारा का ही होता है। युग परिवर्तन का तात्त्विक स्वरूप यही है। एक शब्द में सुधार परिवर्तन के लिए चल रहे प्रयत्नों को जड़ में मनःतत्व के परिमार्जन को ही नवसृजन का केन्द्र बिन्दु माना जा सकता है। उत्थान और पतन के समस्त स्रोत इसी मर्मस्थल पर केन्द्रीभूत हो रहे हैं।

योगाभ्यास में अतीन्द्रिय क्षमताओं के विकास को एक महत्त्वपूर्ण विषय माना जाता रहा है। कौतुक कौतूहल सभी को आकर्षित करते हैं। ऐसे प्रदर्शनकारी प्रायः आकर्षण के केन्द्र होते हैं। ऐसी विलक्षणता देखकर कोई भी दूसरों को चमत्कृत कर सकता है। भले ही उस प्रदर्शन की कुछ विशेष उपयोगिता न हो। बाजीगर कई प्रकार के कौतूहल दिखाते हैं। उस प्रदर्शन से किसी की ज्ञान वृद्धि होती हो या जो कमाया गया है वह किसी के काम आता हो ऐसा भी कुछ नहीं है, फिर भी लोग बाजीगरों का तमाशा मजे में देखते हैं। अतीन्द्रिय क्षमताओं का स्तर बाजीगरी से ऊँचा है। बाल-बुद्धि के लोगों को चमत्कृत करके उन पर अपनी विशिष्टता की छाप डालना और उस छाप से प्रभावित लोगों से मनमर्जी पूरा करा लेना सरल है। इस लोभ को सम्वरण न करने से भी कितने ही लोग चमत्कारी सिद्धियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यह उसका स्तर अध्यात्म क्षेत्र में सदा हेय माना जाता रहा है। यद्यपि अधिकांश की प्रयत्नशीलता इसी दृष्टि से होती है। इतने पर भी एक तथ्य तो स्पष्ट है कि मनुष्य के अन्तराल में कुछ विलक्षण शक्तियाँ विद्यमान हैं। कार्यान्वित न होने के कारण वे मूर्छित स्थिति में पड़ी रहती हैं, यदि उन्हें विकसित किया और काम में लाया जा सके तो निश्चय ही उस विकसित स्थिति का व्यक्ति कई दृष्टि से कहीं अधिक सामर्थ्यवान माना जाय। उस विशिष्ट सामर्थ्य का यदि प्रयत्नपूर्वक किन्हीं उच्च प्रयोजनों में उपयोग हो सके तो यह भी स्पष्ट है कि उसका प्रतिफल व्यक्ति और समाज के सामने अधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ उपस्थित करता दिखाई देगा। अतीन्द्रिय क्षमताओं का क्षेत्र इन्द्रिय शक्ति के सहारे चल रहे क्रिया-कलाप की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें प्रवेश और उपार्जन का प्रबन्ध हो जाता है तो भौतिक विज्ञान के द्वारा जैसे अद्भुत लाभ इन दिनों उठाये जा रहे हैं अगले दिनों उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन अध्यात्म विज्ञान के सहारे उठाये जाने लगेंगे।

प्रगति की हर दिशा में इन दिनों भाग दौड़ हो रही है। शक्ति के नये स्रोत ढूँढ़ने में प्रतिभावान वर्ग का पूरा उत्साह है। खर्चीले और कष्टसाध्य प्रयत्नों में शोधकर्त्ता जुटे हुए हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मानवी अन्तराल की गहरी परतों का अनुसन्धान करना है। प्राचीन काल में अनेकों द्वारा अतीन्द्रिय क्षमताओं के माध्यम से असम्भव जैसे कठिन कार्य को सम्भव कर दिखाने के उदाहरण हैं। कथा पुराणों का पन्ना-पन्ना

इस प्रकार की क्षमताएँ मनुष्य में होने की साक्षी देता है । इसके अतिरिक्त इतिहास के प्रामाणिक उल्लेख भी उतने अधिक हैं कि उनके सहारे यह विश्वास किया जा सकता है कि सामान्य मनुष्य जितनी सामर्थ्य का उपयोग करता है वस्तुतः उससे कहीं अधिक उसके अन्तराल में विद्यमान हैं । जो एक के लिए सम्भव हुआ वह दूसरे के लिए भी सम्भव हो सकता है । इतिहास में पुराणों की बात छोड़ भी दें तो भी वर्तमान में ऐसी कितनी प्रतिभाएँ मौजूद हैं जिन्होंने प्रयत्नपूर्वक अथवा अनायास ही अतीन्द्रिय क्षमता विकसित कर ली है और वे इस सम्भावना के सन्दर्भ में शंका सन्देहों का निवारण करते हैं, कि दिव्य क्षमताओं का आधार मानवी अन्तराल में है या नहीं ।

प्रयत्नपूर्वक जब प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों का पता लगाने और उन्हें उपयोग में लाने में जब सफलता मिल सकती है तो कोई कारण नहीं कि अतीन्द्रिय शक्तियों के क्षेत्र में खोजने और वहाँ से ऐसा कुछ पाने में सफलता न मिले जो मनुष्य का स्तर एवं भविष्य ही बदल दे । सर्वविदित है कि कुछ आविष्कारों ने परिस्थितियों में क्रांतिकारी परिवर्तन किए हैं । अग्नि का आविष्कार, मुद्रा का प्रचलन, बिजली का उपयोग, भाषा और लिपि का उद्भव जैसी आज सामान्य दीखने वाली समस्त बातें अपने आरम्भ काल में महान क्रांतिकारी आँकी गई होंगी । इन आविष्कारों ने आदिम काल की विपन्न परिस्थितियों को आज की सुसम्पन्नता तक पहुँचाने में भारी योगदान दिया है । अतीन्द्रिय क्षमताओं के विकास का क्षेत्र इन सबसे बड़ा है । साधन कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो व्यक्तित्व की समर्थता की तुलना में उनका मूल्य नगण्य ही माना जायेगा । असामान्य स्तर की अतीन्द्रिय क्षमताओं की उपलब्धि से मनुष्य आज की तुलना में कहीं अधिक सामर्थ्यवान हो सकता है और उस उपलब्धि से मानवी प्रगति का एक नया अध्याय आरम्भ हो सकता है ।

अतीन्द्रिय क्षमताएँ किसी देवी-देवता की अनुग्रह उपहार नहीं है । उनकी सुनिश्चित सम्भावना मनःक्षेत्र की संरचना के साथ जुड़ी हुई है जो काम में नहीं लाया जायेगा वह निष्क्रिय बन जायेगा । यह—सिद्धान्त पदार्थों और प्राणियों पर समानरूप से लागू होता है । अन्तराल का असामान्य यदि खोजा और प्रयुक्त किया जा सके तो उस क्षेत्र की उपलब्धियाँ भी उसी प्रकार सामान्य हो सकती हैं जिस प्रकार कि प्राचीन काल में थीं । इस देश के नागरिक संसार भर में देव मानव कहे जाते और सम्मानित होते थे । इनमें उनके गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता तो कारण थी ही साथ ही विकसित मनोबल भी सम्मिलित था जो कौतूहलवर्धक सही प्रतिभा और क्षमता को नये स्तर पर उभारने में तो निश्चित रूप से समर्थ होता है । अधिकाधिक सम्पदा और समर्थता प्राप्त करने के लिए आतुर मनुष्य के लिए यह कम आवश्यक और कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वह अन्तराल में छिपे विशिष्ट को खोजे, उपलब्ध करे और उस उपार्जन के सहारे आज की तुलना में कहीं अधिक ऊँचे स्तर पर जा पहुँचे ।

अतीन्द्रिय क्षमता की कार्य संरचना मौलिक संरचना से सम्बन्धित है । इससे आगे का क्षेत्र है—चेतनात्मक-आध्यात्मिक । उसकी विशिष्टता-ऋद्धि सिद्धियों के क्षेत्र से भी अधिक वरिष्ठ है । सिद्धियाँ पदार्थों, शारीरिक गतिविधियों एवं मनोबल के सहारे उपार्जित की जाती हैं । उस समूचे क्षेत्र को प्रकृति विस्तार के अन्तर्गत ही माना जायेगा । ऋद्धि, सिद्धियों के नाम से जानी जाने वाली उपलब्धियाँ वरिष्ठ होते हुए भी भौतिक जगत की समर्थता एवं सफलता ही गिनी जायेगी । इन्द्रियाँ स्थूल हैं । उनकी सामर्थ्य को इन्द्रिय शक्ति कहा जाता है । इसी की सूक्ष्म परतें अतीन्द्रिय हैं । दिव्य श्रवण-दिव्य दर्शन आदि को कर्णेन्द्रिय एवं नेत्रेन्द्रिय की सूक्ष्म क्षमता तन्मात्रा का विकास कहा जायेगा । चेतना और प्रकृति का समन्वय ही मस्तिष्क है । मस्तिष्कीय क्षमताओं की स्थूल उपलब्धियाँ बुद्धिमत्ता एवं प्रतिभा के नाम से जानी जाती हैं और उनकी सूक्ष्म परतें अतीन्द्रिय क्षमता का परिचय देती हैं ।

चेतना का अधिक उच्चस्तरीय क्षेत्र अन्तःकरण है । आस्थाएँ, आकांक्षाएँ एवं सम्वेदनाएँ समन्वित होकर अन्तःकरण का स्तर बनाती हैं । वस्तुतः यही असली व्यक्तित्व है । इसी की प्रेरणा से मस्तिष्क को चिन्तन और शरीर को कार्य करने के लिए विवश होना पड़ता है । ड्राइवर की इच्छानुसार गाड़ी की चाल और दिशा बनती है । इसी प्रकार अन्तःकरण तो अपने इच्छित प्रसंग के समर्थन में तर्क गढ़ने और उपाय खोजने में संलग्न होता है । मन का आज्ञानुवर्ती शरीर है ।

असुविधा अनुभव करने प्रर भी शरीर और मन का, अन्तःकरण का अनुशासन मानना पड़ता है । इन दोनों वफादार नौकरों की गतिविधियाँ अपने संचालक की इच्छानुसार ही चलती हैं । थोड़ा झाड़ भले ही लें, पर अवज्ञा कभी नहीं करते । अन्तःकरण के अनुशासन में चलने वाला शरीरगत और मनोगत क्रिया-कलाप को ही व्यक्तित्व और पुरुषार्थ के नाम से जाना जाता है । मनुष्य का मूल्यांकन उसी स्तर के आधार पर होता है । उत्थान-पतन की, सम्मान-अपमान की, जय-पराजय की धुरी यही है । स्वयं की विशिष्टता इसी के साथ जुड़ी हुई है ।

यशस्वी एवं श्रद्धास्पद महामानवों का अन्तःकरण उदात्त उच्चस्तरीय होता है । उनकी आकांक्षाओं में जो उमंगें उभरती हैं उसी के सहारे दृष्टिकोण विकसित होता है और पुरुषार्थ को दिशा-निर्देश मिलता है । उत्कृष्ट अन्तःकरण की परिणति मनुष्य को महामानव के स्तर तक पहुँचा देती है । ऋषियों, मनीषियों, देवदूतों में अन्तःकरण की विशिष्टता ही वह कारण होती है जिसके कारण वे सांसारिक दृष्टि से सामान्य होते हुए भी स्तर की दृष्टि से असामान्य बनते हैं । अपनी वरिष्ठता से समूचे समाज को प्रभावित करते और स्वयं श्रद्धास्पद बनते हैं ।

अन्तःकरण यों चिरकालीन संचित संस्कारों से बना होता है और सहज ही बदलने के लिए सहमत नहीं होता, फिर भी अध्यात्म प्रयत्नों में ऐसे आधार विद्यमान हैं जो इस मर्मस्थल को कुरेदने और बदलने में सफल हो सकें । योगाभ्यास और तप साधना के छोटे-बड़े अनेक स्तर हैं । उन दोनों के सहारे शरीर की समर्थता और मस्तिष्क की प्रखरता को बढ़ाया जा सकता है । इतना ही नहीं उच्चस्तरीय साधना से अन्तःकरण का काया-कल्प कर सकना भी सम्भव हो सकता है । इस स्तर की सफलता सम्पादित करने वाले ही महामानवों की भूमिका निभाते हैं । भले ही उनकी परिस्थितियाँ कितने ही व्यवधान उत्पन्न करती रहें ।

आध्यात्म विज्ञान की चरम उपलब्धियों में स्वर्ग-मुक्ति की—ब्रह्मानन्द परमानन्द की—ऋद्धि-सिद्धि की चर्चा होती रहती है । इस क्षेत्र के सफल व्यक्तियों को दैवी वरदान और ईश्वरीय अनुदान मिलने के वर्णन मिलते हैं । उनकी सहायता से अनेकों अवरोध हटाने और उत्कर्ष का अवलम्बन वरदान पाने का अवसर मिलता है । समय की समस्याओं का समाधान करने में उनकी प्रचण्ड क्षमता, असाधारण भूमिका निभाती है । यह स्तर प्राप्त करने के लिए अन्तःकरण में जमी हुई कुसंस्कारिता उखाड़ना और उत्कृष्टता जमानी पड़ती है । योग और तप की साधनाएँ इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए करनी पड़ती हैं । इतने भर से सभी प्रयोजन पूरे हो जाते हैं जो आध्यात्म साधना की सफलता के फलस्वरूप विभिन्न उपलब्धियों के रूप में शास्त्रकारों ने अलंकारिक एवं आकर्षक भाषा में बताये समझाये हैं । परिष्कृत दृष्टिकोण से विनिर्मित मनःस्थिति को प्रतीत होता है कि संसार में सुन्दरता, सज्जनता, उदारता एवं सद्भावना की कमी नहीं । उसके साथ घनिष्ठता बढ़ाना और आदान-प्रदान का द्वार खोलना ही स्वर्ग है । उसे प्राप्त करने के लिए मरणोत्तर समय आने की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती । परिष्कृत दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न आत्म-सन्तोष, निष्कर्ष निर्धारण और सुखद आदान-प्रदान वास्तविक स्वर्ग है । जिस अन्तःकरण को परिष्कृत करने से सफल व्यक्ति हर घड़ी, हर स्थिति में रसास्वादन करता रह सकता है । मुक्ति वह स्थिति है जिससे घटिया आकर्षणों, दबावों तथा परामर्शों को अस्वीकृत करने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती । भीतरी कुसंस्कार और प्रलोभन ही भव बन्धन हैं । इन्हें तोड़ने और मात्र उत्कृष्टता को ही अपनाने की साहसिकता मुक्ति है । क्षुद्रता के बन्धन टूटने और महानता के स्तर तक पहुँचने पर नर को अपना स्तर नारायण जैसा प्रतीत होता है । वेदान्त दर्शन का छात्र इसी स्थिति की यथार्थता स्वीकार करते हुए शिवोहं-मुक्तोहं की अनुभूति का आनन्द लेता है ।

परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा है । अतिमानस-अतिमानव का उल्लेख इसी स्तर की विवेचना में होता रहता है । अन्तराल में देवत्व का उदय यही है । देवताओं के वरदान, ईश्वर के अनुदान मिलने के घटनाक्रमों में वस्तुतः अपने ही अन्तराल की महान उपलब्धियाँ उभर कर आती हैं । देखने वाले इन्हें किसी दिव्य सत्ता का अनुग्रह, अनुदान मानते हैं । पेड़ पर पल्लव, पुष्प और फल वस्तुतः जमीन में दबी जड़ों के ही अनुदान होते हैं । देखने वाले भले ही उन्हें आसमान से टपकने का अनुमान लगाते रहे । उत्कृष्टता

के साथ अन्तःकरण की बढ़ी-चढ़ी घनिष्ठता ही ब्रह्मानन्द-परमानन्द का रसास्वादन करती है । आत्म सत्ता के वास्तविक स्वरूप, लक्ष्य और सदुपयोग को यदि अन्तराल के आस्था क्षेत्र में स्थान मिल सके तो भ्रान्तियों का, माया का पर्दा हटा और आत्म साक्षात्कार लाभ मिल गया । ईश्वरी अनुशासन को सच्चे मन से स्वीकार करने का नाम ही शरणागति है । समर्पणकर्त्ता को तत्काल ईश्वर दर्शन होता है, अर्थात् उस आग में घुस पड़ने वाली लकड़ी की तरह अपने में ईश्वरीय सत्ता ओत-प्रोत होने की सुनिश्चित अनुभूति होती है-यही ईश्वर प्राप्ति है । आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार के नाम से इसी स्थिति का वर्णन विवेचन होता रहता है । कहना न होगा कि परिष्कृत चेतना का प्रभाव और पराक्रम जिस क्षेत्र में भी मुड़ पड़ेगा उसी में ऋद्धि-सिद्धियों की वर्षा होने लगेगी । इसी स्तर तक पहुँचना जीवन लक्ष्य माना जाता है । इसी को पूर्णता की उपलब्धि कहा गया है ।

व्यष्टि और समष्टि को बहिरंग और अन्तरंग परिस्थितियों को हेय स्तर से ऊँचा उठाकर चरम उत्कर्ष तक पहुँचा देने का अवलम्बन एक ही है—चेतना का परिष्कार । इसी को शरीर क्षेत्र में ओजस् मनःक्षेत्र में तेजस् और अन्तःकरण में वर्चस् कहते हैं । मनःशक्ति की सही जानकारी ब्रह्म विद्या के सहारे उपलब्ध की जाती है और उसको उत्कृष्ट प्रयोजनों में जुटाकर स्वर्गीय उपलब्धियाँ प्राप्त करना साधना के सहारे सम्भव होता है । मनस को धरती का ईश्वर ही कहना चाहिए । उसी के चमत्कार से यह समस्त संसार चमत्कृत हो रहा है । योगाभ्यास की प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यानपरक क्रियाएँ इसी क्षेत्र के परिशोधन के लिए अपनाई जाती हैं ।

अन्तर्जगत का देवासुर संग्राम ही अष्टांग योग का प्रत्याहार

चिन्तन पर आसुरी सत्ता के आक्रमण का प्रतिकार अष्टांगयोग में 'प्रत्याहार' नाम से जाना जाता है । यह दैनन्दिन जीवन में अनिवार्य रूप से सबके द्वारा सम्पन्न की ज़ाने वाली एक प्रक्रिया है, अन्यथा अवांछनीय तत्व चढ़ाई करके अपने स्वत्व अधिकार का ही अपहरण करते रहेंगे । देवता सदैव शान्तिप्रिय और नीतिवान माने जाते हैं । वे परमार्थ-परोपकार में ही लगे रहते हैं व उसी की प्रेरणा देते हैं । व्यक्तित्व उत्कृष्ट व देवत्वमय बनाते हैं तो भी आसुरी तत्व देवत्व को कभी चैन से नहीं बैठने देते । कोई दोष या कारण न होने पर भी वे अवसर पाते ही आक्रमण करते रहते हैं । क्षमा और सहनशीलता के सहारे बात टालते रहने पर भी काम नहीं चलता । तब उन्हें प्रत्याक्रमण की योजना बनानी पड़ती है । बार-बार देवासुर-संग्राम होते रहे हैं और वे विभिन्न क्षेत्रों में अभी तक जारी हैं । अन्तर्जगत का देवासुर संग्राम वह है जिसमें चिन्तन क्षेत्र में प्रत्याहार द्वारा असुरता के आक्रमण से लड़ा जाता है ।

आततायी, आतंकवादी हर क्षेत्र में भरे पड़े हैं । घात लगाने से चूकते नहीं । आवश्यक नहीं कि वे खून खच्चर वाली लड़ाई ही लड़ें । दूसरा और भी एक तरीका है जिसमें बाहर से आघात के चिह्न दिखाई नहीं पड़ते पर भीतर ही भीतर रक्त चूस लिया जाता है । रोगों के विषाणु यही करते हैं । वे क्षय जैसे रोगों के रूप में प्रवेश करते हैं । चुपके-चुपके अपने वंश बढ़ाते रहते हैं और कुछ ही समय में समूचे शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं । तब मरण के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता । मजबूत शहतीर में घुन लग जाने से वह भीतर ही भीतर उसे खोखला करता रहता है । एक दिन ऐसा आ जाता है कि जरा-सा धक्का लगने पर वह खोखला शहतीर जमीन पर पसर जाता है, सड़ जाता है ।

इसी प्रकार कुविचारों का भी एक वर्ग है जो कल्पना क्षेत्र में उतरता है । देर तक मानस पक्का करने के कारण वह ललक लालसा का छद्म वेश धारण कर सामने आता है । अभिलाषा, आकांक्षाओं का छलिया रूप धारण करता है और विचारों को कार्य रूप में परिणित होने के लिए विवश कर देता है । वासनाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ, लिप्साएँ बीज रूप में विचार क्षेत्र में अंकुर उगाती हैं । उन्हें पोषण मिलते रहने पर तेजी से बढ़ती हैं और अमरबेल की तरह समूचे जीवन को अपनी पकड़ में कस लेती हैं । कोई कृत्य अनायास ही नहीं बन पड़ता । उसकी भूमिका लम्बे समय से मनः क्षेत्र में अपना ताना-बाना बुनती रहती

है । जड़ें पकड़ लेने पर पौधा मजबूत हो जाता है । तब यह उखड़नें में नहीं आता है । अंकुर उगते समय उसे सरलतापूर्वक चौट कर हटाया जा सकता है, पर यदि पुष्ट होते रह कर गहराई तक जड़ें प्रवेश कर लेने पर उसे उखाड़ना सरल नहीं रहता । कुविचारों के सम्बन्ध में तो वस्तुतः यही होता है सद्‌विचार तो प्रयत्नपूर्वक उगाने, बढ़ाने पड़ते हैं पर दुष्प्रवृत्तियाँ कँटीले बबूल की तरह कहीं भी जम जाती हैं और खाद पानी की परवाह किए बिना अपने आप बढ़ने लगती है । पीपल को परिपक्व होने में वर्षों का समय चाहिए पर बबूल तो कुछ ही महीनों में चुभने वाले काँटों से लद जाता है । कुविचार भी प्रायः ऐसे ही होते हैं ।

जीवन को उज्ज्वल-उत्कृष्ट बनाना हो तो उसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन आदि का आश्रय लेना पड़ता है अच्छे वातावरण और सम्पर्क के साथ जुड़ना होता है पर दुष्प्रवृत्तियाँ तो खरपतवार की तरह हर खेत में उगी रहती हैं । बिना पानी के भी हरियाती हैं । जल-कुम्भी की तरह उन्हें किसी भी जलाशय पर छा जाने में देर नहीं लगती । व्यक्तियों का समुदाय अवांछनीय प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है । कुकृत्यों का सर्वत्र प्रचलन है । उनकी छूत रास्ता चलतों को लगती चली जाती है ।

इनका प्रतिकार न किया जाय तो अवांछनीयताएँ टिड्डी दल की तरह बढ़ती हैं । मकड़ी, मच्छरों की तरह पनपती हैं और अपनी चपेट में उन्हें भी ले लेती हैं, जो चैन से रहने के इच्छुक हैं जो किसी को नहीं सताते । इतने पर भी वे मात्र इसलिए बचे नहीं रह सकते कि वे सज्जनता निबाहते हैं, किसी को त्रास नहीं पहुँचाते । खटमल, पिस्सू, जुएँ, चूहे इस तेजी के साथ बढ़ते हैं कि यदि उनकी रोकथाम के बारे में न सोचा जाय तो उनका मंदगति आक्रमण भी अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर देगा । चोर-उचक्कों से बेखबर रहा जाय तो कहीं भी जेब कट सकती है । कहीं भी पोटली उठ सकती है । घर के पिछवाड़े कहीं भी सेंध लग सकती है । स्वयं चोर न होना अच्छी बात है, पर इतने भर में चोरों के हथकण्डे रुक नहीं सकते । सतर्कता से लेकर चौकीदारी तक का प्रबन्ध करने पर ही अपने सामान को बचाया जा सकता है ।

कुविचार, कुकरमुत्तों की तरह बिना बोए ही उगते हैं । जन्म-जन्मान्तरों के कुसंस्कार तनिक-सी नमी पाते ही उद्‌भिजों की तरह उपज पड़ते हैं । सूखी घास की जड़ें पहली वर्षा होते ही धरती पर फैल जाती हैं । कूड़ा-करकट हवा के साथ उड़कर कहीं से भी घर आँगन में घुस पड़ता है । इस आधार पर उत्पन्न होते रहने वाली गन्दगी को बुहारी से बुहारने, पानी से धोने के अतिरिक्त और भी कई काम करने पड़ते हैं । अध्यात्म क्षेत्र में इसी प्रकार के प्रयत्नों को 'प्रत्याहार' या 'प्रतिकार' कहते हैं ।

कुविचारों से जूझने के लिए सद्‌विचारों की ऐसी पुलिस-फौज की व्यवस्था करनी चाहिए जो आक्रामकों को देखते ही उनसे भिड़ पड़े । ऐसी बहादुरी से लड़े कि दुश्मन के पैर उखाड़ कर ही दम ले । लाठी का जवाब लाठी से, घूँसे से घूँसे का जवाब दिया जाता है । विष की औषधि विष बताई गई है । कुविचारों को कुकर्म के रूप में परिणत होने से पहले ही उनके छत्ते में पलने वाली विषैले डंक वाली बर्रों की बढ़त बन्द करनी चाहिए । सड़े जानवर में बिच्छू पनपे उससे पहले ही उस सड़ाँध को हटाकर दूर पहुँचा देना चाहिए ।

मन में जमी जन्म-जन्मान्तरों की कुसंस्कारिता और वातावरण में भरी-पूरी अवांछनीयता किसी भी क्षण छूत की बीमारी की तरह आक्रमण कर सकती है । इसलिए अच्छा हो, समय से पहले ही रोकथाम का प्रबन्ध कर लिया जाय । लक्षण उभरने ही लगें तब तो उपेक्षा बरतनी ही नहीं चाहिए । प्रतिरोध के लिए जो आवश्यक हो उसे अविलम्ब करना चाहिए और दमन में पूरी कठोरता बरतनी चाहिए ।

कुविचार तब पनपते हैं जब उन्हें विरोध का सामना नहीं करना पड़ता ? जहाँ सुरक्षा की दीवार कमजोर दीखती है । कच्चे मोर्चे पर दुश्मन हमला करता है । यदि सुरक्षा पंक्ति समय रहते मजबूत बना ली जाय, सद्‌विचारों का भण्डार इतना भर लिया जाय कि उस भरी तिजोरी में कुविचारों को कहीं भी प्रवेश ही न मिल सके । यदि किसी प्रकार किसी सीमा तक वे घुस ही पड़ें तो उपेक्षा बरतने, जो हो रहा है उसे होने देने की ढील देनी ही नहीं चाहिए । खूनी साँड़ सामने से दौड़ा आ रहा हो तो दो ही प्रतिकार हैं एक तो लाठी लेकर उसे खदेड़ा जाय या फिर भागकर किसी ऐसी आड़ में छिपा जाय कि उसके पैने सींगों से बचाव हो सके । कुकर्म का अवसर चुका देना भाग खड़े होने जैसी बुद्धिमत्ता है । पर यदि सम्भव हो तो कुविचारों को सद्‌विचारों के पक्षधर तर्कों,

तथ्यों, प्रमाणों, उदाहरणों से इस प्रकार चुनौती देनी चाहिए कि उन्हें हार ही माननी पड़े । भविष्य के लिए निर्लिप्तता अर्जित होने का यही चिरस्थायी तरीका है । कुविचारों को बार-बार परास्त करने उन्हें दुष्कर्मों के रूप में परिणत होने देने से पहले ही यदि प्रतिकार के लिए कमर कस ली जाय तो समझना चाहिए कि भविष्य का अन्धकार के गर्त में गिरने वाले कुयोग से पीछा छूटा ।

कोई अचानक कुकर्मी नहीं होता । उस पर पहले ही कुविचारों का आक्रमण होता है । इन उगते लक्षणों को देखते ही सतर्क हो जाना चाहिए । उन्हें उपेक्षा का प्रश्रय नहीं मिलने देना चाहिए । समर्थन जैसा कुछ सोचने लगने पर तो उसे तिल से ताड़ बनते देर नहीं लगती जिसके मन में अचिन्त्य चिन्तन आश्रय पाता है उसे उस स्थिति तक पहुँचने में देर नहीं लगती जिसमें दुर्व्यसनों का, दुष्प्रवृत्तियों का घेरा घिरता चला जाय और फिर उस शिकंजे से छुटकारा पा सकना कठिन हो जाय ।

गीता का महाभारत मात्र द्वापर में कुरुक्षेत्र के मैदान में ही नहीं लड़ा गया था । उसे हर व्यक्ति को अपने चिन्तन और चरित्र की आत्म-रक्षा के लिए हर किसी को निरन्तर लड़ना पड़ता है । अर्जुन को शिथिल पड़ते देख कर कृष्ण ने उसे युद्धरत होने के लिए प्रोत्साहित किया । उस प्रोत्साहन का तत्व दर्शन ही गीता ज्ञान है । यह जीवन में विजय श्री वरण करने का पहला चरण है । इस प्रत्याहार, परिष्कार में संघर्षरत होने का साहस दिखाये बिना कोई उस स्थिति तक नहीं पहुँच सकता जिसमें अन्तरात्मा तक पहुँचाने का लक्ष्य प्रतीत होता है । जिसमें लौकिक प्रगति और प्रामाणिकता का श्रेय सम्मान एवं सन्तोष भरा दैवी अनुदान भी सम्मिलित है ।

प्रत्याहार साधना का स्वरूप और उद्देश्य

प्रत्याहार का अर्थ है प्रतिरोध । जीवन प्रक्रिया के हर क्षेत्र में इसकी भी आवश्यकता पड़ती है । मलीनता लोक प्रवाह का एक प्रचलन है । शरीर में भीतर से पसीना निकलता है और बाहर से धूल जमती है । कपड़े अभी धुले हुए पहने थे अभी धूल-धक्कड़ से मैले होने लगते हैं । कमरे की बुहारी लगाते देर नहीं हुई कि खिड़कियों, जंगलों में से उड़ते हुए गन्दगी के कण कमरे में प्रवेश करने लगते हैं और कुछ ही समय में मैल की परत जम जाती है । दाँत रात में साफ किए थे दूसरे दिन फिर बदबू आने लगती है । स्वच्छता को स्थिर न रहने देने के लिए अस्वच्छता का दौर हमेशा चलता रहता है । हेमन्त में पेड़ों के पत्ते गिरते हैं और वे ओस से सड़कर धूल में सनकर समूचे उद्यान को गन्दा कर देते हैं ।

इस प्रकृति परम्परा को प्रयत्नपूर्वक बुहारना हटाना पड़ता है । यदि ऐसा न किया जाय तो सर्वत्र गन्दगी का ढेर लग जाय । मरते रहने वाले पशु-पक्षियों के अस्थि-पंजर अच्छे-खासे वनों को दुर्गन्धित कर दें । वन्य पशु-पक्षी हरितिमा को चट कर डालें । हिंस्र प्राणियों की बढ़ोत्तरी चल पड़े तो एक भी शाकाहारी पशु जीवित न बचने पाये । प्रकृति की गन्दगी को मनुष्य सुधारता है । मल-मूत्र की गन्दगी को खाद में बदल कर उपयोगी फसल उगाता है । यही है मनुष्य की सौन्दर्य दृष्टि जिसके अनुसार मलीनता को ढकने और सौन्दर्य को उजागर करने का प्रयत्न चलता रहता है । सत्यं, शिवं, सुन्दरम् में से प्रथम मनुष्य का सरल उपक्रम सौन्दर्य अपनाना होता है । सौन्दर्य अपनाने का तात्पर्य होता है गन्दगी को हटाना । जो इस कार्य में तत्परता बरत सकेगा । वही सौन्दर्य का आनन्द ले सकेगा ।

बच्चा जन्म से ही गन्दगी में लिपटा हुआ आता है और शरीर छोड़ते ही गन्दगी का उद्भव करने लगता है । यदि मरे शरीर को कुछ देर ऐसे ही पड़े रहने दिया जाय तो वह फूलने सड़ने लगेगा और भीतर से ही कृमि कीटक उत्पन्न होकर उसे खा पीकर साफ कर देंगे । कौए, कुत्ते उस गन्दगी को साफ करने के लिए दौड़ पड़ेंगे । माली न हो तो बगीचा झाड़-झंखाड़ मात्र बनकर रह जायेगा वही है जो उसे काँट-छाँट कर खाद पानी देकर सौन्दर्य से भरपूर बनाता है ।

हमारे मन की भी यही स्थिति है । उसमें पूर्व जन्मों के कुसंस्कारों से प्रेरित दुर्भाव उठते रहते हैं । समाज में सब ओर हेय प्रवृत्तियों का ही प्रचलन है । सज्जनता बड़ी कठिनाई से ढूँढ़ने पर जहाँ-तहाँ मिलती है । घर परिवार, पड़ौसी, मित्र, स्वजन, सम्बन्धी भी

अपने मतलब की ताक में रहते हैं और ऐसा परामर्श देते हैं, जिससे अधिक वैभव उपार्जित हो और उन्हें भी उसका लाभ मिले । सच्चाई, ईमानदारी पुण्य-परोपकार की बात चलने पर तो वे सभी प्रसन्न होते और विरोध करते हैं ।

संसार के प्रचलन की भाँति ही हमारी मानसिक संरचना है । सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोपभोग माँगती हैं । सीमित नहीं असीमित । भले ही इसके लिए अनीति अपनानी पड़े और अपराधी तक बनना पड़े । स्वादेन्द्रिय और जननेन्द्रिय तो मर्यादाओं का उल्लंघन करने के लिए सदा उद्यत रहती हैं ।

मन की अपनी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं । क्रिया आरम्भ होने से पहले विचार मन में उठते हैं । उन्हीं बीजों से कर्म कुकर्मों के अंकुर फूटते हैं । इसलिए कुकर्म बन पड़ने के उपरान्त बदनामी या दण्ड सहने अथवा प्रायश्चित करने की अपेक्षा यह अच्छा है कि विष वृक्ष का जैसे ही जहाँ से भी अंकुर उठे उसे वहीं कुचल दिया जाय । तात्पर्य यह है कि कुविचारों के उदय होते ही उनके विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया जाय । इस संघर्ष के लिए पहले से ही उतनी मजबूत किलेबन्दी या सैन्य-व्यवस्था जुटा ली जाय कि शत्रु को बढ़ने और फूलने-फलने का, जीतने का अवसर न आने पाये ।

यथा मन में काम वासना के विचार अक्सर उठते हों तो उन कार्यों को क्रियान्वित करने की हानियों पर उदाहरणों पर विचार किया जाय । साथ ही ब्रह्मचर्य पालन करने पर शारीरिक, मानसिक, आत्मिक प्रगति के फलितार्थों की लम्बी शृंखला बनाई जाय । साथ ही हनुमान, शंकराचार्य, विवेकानन्द, दयानन्द आदि को हस्तगत हुई उपलब्धियों की सचित्र रूपरेखा मानस पटल पर अंकित की जाय । इस प्रकार दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्कों-लाभों हानियों को सुनाते समझते हुंए निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह निर्णय करना चाहिए कि किसे निरस्त किया जाय और किसे प्रश्रय दिया जाय ।

इसी प्रकार लोभ, मोह, अहंकार आदि की लिप्साएँ मन में उठती हैं, और उन्हें रोक-टोक का व्यवधान आड़े न आये । खुली छूट मिले तो वे कार्य रूप में प्रकट हुए बिना नहीं रह सकतीं । ऐसी स्थिति आने से पहले ही अनौचित्य के विरोध और औचित्य के समर्थन में इतना गोला बारूद इकट्ठा कर लेना चाहिए कि अवांछनीयता का उत्साह ठण्डा पड़ जाय उसकी हिम्मत पश्त हो जाय ।

ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, आतुरता, भय, चिन्ता, निराशा जैसे मनोविकार भी स्वभाव का अंग बन जाने पर उद्दण्ड हो जाते हैं कि रोके नहीं रुकते और अपना अनर्थकारी प्रभाव दिखा कर रहते हैं । ऐसी स्थिति आने से पूर्व ही सतर्क होने और कुविचारों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने की आवश्यकता है । इसमें आलस्यवश देरी नहीं करनी चाहिए अन्यथा अवांछनीयता की चढ़ बनेगी और वह ऐसा कुछ कर गुजरेगी जिसके लिए पीछे पछताना ही पड़े ।

अनुचित विचारों के पक्ष में तात्कालिक लाभों का सबसे बड़ा तर्क और उदाहरण यह है कि वैसा ही अनौचित्य असंख्यों लोग अपनाते हैं साथ ही हितैषी बन कर वैसी ही सलाह देने आ जाते हैं । इतने बड़े परिवार के विरुद्ध जो मोर्चाबन्दी करनी है उसके साथ अनेकों तर्क, तथ्य, प्रमाण तथा उदाहरण होने चाहिए । इन्हें तत्काल एकत्रित नहीं किया जा सकता और न इतना प्रबल बनाया जा सकता है कि डटकर टक्कर ले सके । इसलिए उस योजना को लगातार चिन्तन के उपरान्त, इस प्रकार क्रमबद्ध प्रशिक्षित बना लेना चाहिए कि बिगुल बजते ही मोर्चे पर आ डटें और शत्रु को परास्त करके रहें ।

प्रत्याहार इसी को कहा गया है । इसमें प्रतिपक्ष को पछाड़ना पड़ता है । यह लड़ाई विचार क्षेत्र में होती है । पानी फूट पड़ने से पहले ही छेद बन्द करना पड़ता है । आक्रमण हो जाने से पहले ही ऐसा प्रबन्ध करना पड़ता है कि अनर्थ को हावी हो जाने का अवसर न मिलने पाये ।

इस तैयारी के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता पड़ती है । साथ ही चिन्तन-मनन की भी । अनौचित्य की हानियों को जितने विस्तार सहित सोचा जा सके । उन्हें अपनाने पर जिन्हें जो संकट सहना पड़ा है । उसका चित्र इतना स्पष्ट होना चाहिए कि उस दिशा में कदम बढ़ाना आग से खेलने के समान भयावह प्रतीत होने लगे । ठीक यही बात औचित्य के समर्थन के लिए भी है । चतुर वकील जिस पर अपना पक्ष प्रतिपादित करते हैं और इसके लिए कानून की पुस्तकों

को बारीकी से उलटते हैं इसी का अनुकरण हमारे अन्तराल में विद्यमान औचित्य के समर्थन के लिए भी मिलना चाहिए । तर्कों से भी अधिक उदाहरणों की आवश्यकता पड़ती है । हो सकता है कि समीप के आज के जैसे उदाहरण न मिलें या कम मिलें पर इतिहास के पृष्ठ उलटने पर महामानवों के व्यक्तित्व और कर्तत्व उनको ऐसे मिल सकते हैं जो हमारी सदाशयता का, आत्मा की पुकार का, न्याय नीति का समर्थन कर सकें ।

अतः अष्टांगयोग प्रकरण में जहाँ 'प्रत्याहार' का प्रसंग आता है वहाँ उसका तात्पर्य 'प्रतिरोध' से ही है । अन्तः क्षेत्र अनेकानेक अनगढ़ताओं से भरा बताया जाता है । मनुष्य अनेकानेक योनियों में परिभ्रमण करते हुए इस सुरदुर्लभ काया में प्रविष्ट होने का सुयोग उपलब्ध करता है । इतने पर भी क्षुद्र स्तर के जीवधारियों में पायी जाने वाली प्रवृत्तियों का प्रभाव अन्तर्जगत पर बना ही रहता है । मानवी गरिमा की उत्कृष्टता को दृष्टिगत रखकर अनुपयोगी व अवांछनीय ये कुसंस्कार चेतना के साथ किसी न किसी रूप में चिपके रहते हैं, अवसर पाते ही उभर उठते हैं । उनके प्रभाव से मनुष्य ऐसा कुछ सोचने और करने लगता है, जो उसके लिए कभी भी हितकर नहीं होता । प्रतिरोध इन्हीं से जब किया जाता है तो अधोगामिता से उबरकर ऊर्ध्वगामी होने की प्रेरणा मिलने लगती है । पतन सहज व उत्थान कठिन प्रतीत होते हुए भी उससे उबरकर प्रगति पथ पर चल पड़ना सहज ही रुचिकर लगने लगता है ।

इन दिनों एक ही प्रश्न सबके समक्ष है कि अनौचित्य की दिशा धारा में चल पड़े प्रवाह को कैसे रोका जाय ? मर्यादाओं का परिपालन एवं वर्जनाओं का अनुशासन किस प्रकार निभ सके ? इस सन्दर्भ में यही होना चाहिए कि मदोन्मत्त हाथी पर अनुशासन का अंकुश लगाया जाय । बहाव को बाँध लगाकर रोका जाय । आक्रमणों को रोकने के लिए आत्मरक्षा का समुचित प्रबन्ध किया जाय । कुकल्पनाओं और दुष्प्रवृत्तियों को सद्विचारों और सत्संकल्पों के सामने खड़ा किया जाय । उद्वेग का समाधान कर सकने वाली विवेकशीलता को जगाया जाय । लाठी का जवाब लाठी से, घूँसे का जवाब घूँसे से देने की, जैसे को तैसा वाली नीति अपनाई जाय । दुष्प्रवृत्ति के उभरने से पहले ही सत्प्रवृत्ति के समुच्चय द्वारा उसे कुचल दिया जाय ।

दुष्प्रवृत्तियाँ तभी सक्रिय होती हैं जब उन्हें प्रतिरोध सामने अड़ा हुआ दिखाई नहीं पड़ता । मैदान खाली देखकर ही टिड्डी दल बढ़ता चला आता है । प्रत्येक विचारशील को अपने ज्ञान भण्डार में इतनी सद्विचार सम्पदा भर रखनी चाहिए जो अनौचित्य अपनाने की हानियाँ और औचित्य के पक्षधर लाभों को भली प्रकार प्रतिपादन करने में समर्थ हो । व्यभिचार की ओर झुकने वाले को इसके दुष्परिणाम समझाये जाने चाहिए । नशे जैसे व्यसनों के दलदल में जो फँसता जा रहा है । उसे बाँह पकड़ कर भी गर्त में गिरने से रोकना चाहिए । उसकी भयंकर परिणति का स्वरूप पूरी छवि उभार कर दर्शाना चाहिए । इतने पर भी जो न रुके उसकी राह रोक कर खड़े हो जाना चाहिए । यही है 'प्रत्याहार' ।

निजी जीवन में कितनी ही बुरी आदतें जड़ पकड़ लेती हैं । अवांछनीयताएँ, अनैतिकताएँ भ्रान्तियाँ, कुरीतियाँ स्वभाव का अंग बन जाती हैं । इन्हें सहन करते रहा जाय तो वे दिन-दिन अधिक गहराई तक जड़ पकड़ती चली जायेंगी और पीछे सुदृढ़ होने पर हटने का नाम न लेंगी । इसलिए जब भी होश आवे, तभी सँभल जाना चाहिए । दुर्बलता और अवांछनीयताओं से कमर कसकर जूझना चाहिए । संकल्पपूर्वक उन्हें हटा कर ही चैन लेना चाहिए । यही है 'प्रत्याहार' अर्थात् अनीति के विरुद्ध संघर्ष । महाभारत का आध्यात्मिक स्वरूप यही है । स्वजन जैसे दीखने वाले अनौचित्यों से भिड़ जाने के लिए अर्जुन की तरह गाण्डीव सँभालना चाहिए । गीताकार ने इसी संदर्भ में कहा है 'उद्धरेदात्मानात्मानं' अर्थात् अपने द्वारा अपना उद्धार करें । अपने को स्वभाव जन्य दुर्बलता के कारण गिरने न दें । इस प्रकार की प्रतिरोधी चिन्तन व्यवस्था और संकल्प भरी साहसिकता को प्रत्याहार कहा गया है । यह आत्मोत्कर्ष की साधना में निरत होने वाले प्रत्येक मनस्वी के लिए नितान्त आवश्यक है ।

उन्मूलन के कारण उत्पन्न हुई रिक्तता को आरोपण प्रयास द्वारा भरा जाना चाहिए । गिलास में भरे गँदले पानी को फेंक देना तो ठीक है पर उसे खाली ही रहने देने पर अगले क्षणों प्यास बुझाने की आवश्यकता

किस प्रकार पूरी हो सकेगी ? खालीपन ठीक नहीं है । खाली दिमाग को शैतान की दुकान कहा गया है । दुष्प्रवृत्तियों का हटाया जाना ही उचित है पर यह उससे भी अधिक आवश्यक है कि उस स्थान की पूर्ति सद्विचारों और सत्कर्मों के समुच्चय द्वारा की जाय । रिक्तता तो पूरा किया जाना चाहिए । दुर्गुणों का स्थान सद्गुण ले सकें, इसके लिए रचनात्मक स्तर के प्रबल प्रयास किए जाने चाहिए ।

अनौचित्य से बच जाना पर्याप्त नहीं । चट्टान, पर्वत किसी का कुछ बुरा नहीं करते किन्तु उनकी समुचित उपयोगिता भी तो नहीं होती । ऐसी दशा में वे निरर्थक रूप से जगह घेरते भर प्रतीत होते हैं । किसी उच्चस्तरीय उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते । ऐसी दशा में उनका न तो गौरव बढ़ता है और न सम्मान होता है । ऊसर बंजरों के सम्बन्ध में भी यही बात है । रेगिस्तान भी ऐसे ही होते हैं । उनका अस्तित्व किसी को प्रसन्नता प्रदान नहीं करता है । वरन् एक बड़े भूखण्ड को घेरे पड़े रहने का लांछन ही लगता है । जो यों ऊसर बंजर किसी पर आक्रमण नहीं करते । न उन्हें शोषण, अपहरण जैसे कुकृत्य करते देखा जाता है, फिर भी उनका दुर्भाग्य जहाँ-तहाँ कोसा ही जाता है । यदि वे उपजाऊ स्तर के होते तो कितनी सुन्दरता उभरती, कितनी सम्पन्नता हस्तगत होती । दोनों परिस्थितियों की तुलना करने पर निष्कर्ष निकलता है कि उर्वरता का न होना भी एक अभिशाप है । सद्गुणों से रहित होना भी एक लांछन है, किन्तु भले ही उन अनगढ़ों, अपंगों द्वारा किसी का अनहित न किया जाता हो । नशा छोड़ देने भर से स्वास्थ्य नहीं बनता, उसके लिए व्यायाम जैसे उपचार भी आवश्यक हो जाते हैं । उचित आहार-विहार का अभिनव प्रबन्ध भी तो होना चाहिए । इस प्रयास का नाम धारणा है ।

योग दर्शन में प्रत्याहार और धारणा का युग्म साथ-साथ चलता है । शरीर पर चिपकी मलिनता तो धोनी चाहिए ही पर इसका अर्थ यह नहीं है कि स्नान के उपरान्त नंगे फिरा जाय । साफ-सुथरे वस्त्र पहने जायें उस स्नान करने वाले को कौन सराहेगा ? जिसने शरीर और वस्त्र तो धो डाले, पर नंगे शरीर फिरने लगा । सभ्य समाज की यह भी मर्यादा है कि मैले-कुचैले न रहने की आधी बात पूरी कर लेने के उपरान्त इतना और किया जायें कि वैसे वस्त्र भी पहने जायँ, जो सभ्य समाज में मर्यादा पालन की दृष्टि से आवश्यक समझे जाते हैं । खेत की जुताई करके खरपतवार उखाड़ना आवश्यक है, पर इस जोते गए खेत में कुछ बोया भी तो जाना चाहिए जिससे जोतने में लगे श्रम की भरपाई हो सके । दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन मात्र एक पक्ष है । दूसरा पक्ष तब बनता है जब उसके पूर्वार्ध के साथ-साथ सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन का उत्तरार्ध भी बन पड़े । इस दूसरे प्रयास का नाम धारणा है ।

प्रत्याहार अर्थात् दोष-दुर्गणों को स्वभाव का अंग बनकर न रहने देना तथा जो जम गए हों उन्हें उखाड़ फेंकना, यह महाभारत जीतने या लंका विजय प्राप्त करने के समान है । सराहना तो इस पराक्रम की भी की जायेगी, पर इसमें भी चार चाँद लगने चाहिए । सोने के धागे में मोती पिरोये जाने चाहिए । जीवन निर्मल निश्छल होना ही चाहिए पर इतने भर से कोई गौरव गरिमा का अधिकारी नहीं बन जाता । पुण्य परमार्थ के लिए पराक्रम भी किया जाना चाहिए । संयमशीलता उचित है पर उसकी शोभा तभी बनती है जब दूरदर्शी चिन्तनशीलता और सदाशयता भरी उदारता का भी उसमें सुयोग हो । प्रत्याहार और धारणा का सार्थक समन्वय इसी प्रकार होना बताया गया है । इसके उपरान्त अपनाई गई ध्यान धारणा निश्चित ही सत्परिणाम देती है ।

अन्तर्चेतना का अध्ययन प्रत्याहार साधना से

महात्मा गौतम बुद्ध ने एक बार अपने शिष्यों से कहा "भिक्षुओ ! अपने अन्दर देखना सीखो, बाहरी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का तुम्हें बहुत अनुभव है । इन अनुभवों से तुम कुछ भी न पा सके, कहीं विश्राम और शान्ति न पा सके, अब बाहर की दौड़ बन्द करके अन्तः के दर्शन करो ।" सामान्यतः हमारे आन्तरिक विचारों एवं बाहरी क्रिया-कलापों में अन्तर पाया जाता है । सोचते कुछ हैं—करते कुछ हैं । भावनाएँ कुछ और ही हैं । इन अन्तरों को ही शास्त्रों की अलंकारिक भाषा में अविद्या अथवा भवसागर कहा गया है । वास्तविकता को जाने बिना अविद्या की

तमिस्रा से निकलना सम्भव नहीं । भवसागर को पार करना इसलिए कठिन लगता है कि हम सत्य से अनभिज्ञ बने रहते हैं ।

योग साधनाओं का मूल प्रयोजन मनुष्य को अन्तर्वर्ती बनाना है । संक्षेप में इसे ही अध्यात्म कहते हैं । दूर से दूर की वस्तु को समीपतम वस्तु के माध्यम से देखा जा सकता है । सन्त इमर्सन कहा करते थे कि, विराट् जगत और नितान्त एकान्त—जब अपना अन्तःकरण अपने पाप तक को स्वीकार करने लगे, दोनों ही परिस्थितियों में मुझे बहुत भय लगता है । इससे मैं अनुभव करता हूँ कि दोनों में कहीं न कहीं सादृश्य है । लघुतम में विराट् का दर्शन के सिद्धान्त को विज्ञान ने शरीर संरचना की इकाई कोश (सेल) के विशद् अध्ययन से सिद्ध कर दिया है । विराट् को जाने बिना मनुष्य का अज्ञान नष्ट नहीं होता । अज्ञान सबसे बड़ा दुःख है, विराट् को जानने की क्रिया को ही आध्यात्म और अन्तर्दर्शन को उसकी साधना मानते हैं ।

योगाभ्यास आठ खण्डों में विभक्त हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि । वस्तुतः इनमें से सात को सहायक कहें और प्रत्याहार को प्रधान कहें तो इसमें आंश्चर्य नहीं होना चाहिए । इन सभी क्रियाओं का एक मात्र उद्देश्य, जीवात्मा को अन्तर्दर्शी बनाना, आत्मानुभूति प्राप्त करना है । प्रत्याहार को इन सबका एक समूहवाची नाम कह सकते हैं ।

योग की क्रियाओं में जब व्यक्ति अपने को बाह्य-चिंतन बाह्य-सुख से सिकोड़ता है, तब उसकी अन्तर्चेष्टाएँ जागृत होती हैं । चेतना की उस जागृत अवस्था को शास्त्रीय भाषा में प्रत्याहार कहा जाता है । निद्रा की अवस्था में भी बाह्य दुनिया से मनुष्य विमुख हो जाता है । अन्तर्जगत में प्रवेश करता है परन्तु साथ ही अपनी सजगता को भी बनाये नहीं रखता है । प्रत्याहार में पूरी तरह अन्तर्जगत में सजगता रहती है यद्यपि बाहरी स्थिति निद्रा जैसी ही लगती है ।

प्रत्याहार की अवस्था का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए एण्डर्सन एवं एण्डर्सोन ने १९६८ में यह कहा था—मस्तिष्क के 'सेरिब्रल कार्टेक्स', 'थालमोकोर्टिकल कोआर्डीनेटिंग सिस्टम' एवं 'सवकोर्टिकल रिद्म जनरेटर' के मध्य परिधि जैसी स्थिति का हो जाना ध्यान की प्रत्याहार अवस्था का लक्षण है । उस अवस्था में मस्तिष्क अधिक सक्रिय हो जाता है । स्वतः ही वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने लगता है ।

यह स्थिति शारीरिक, मानसिक विक्षोभों से मुक्त होने पर ही सम्भव होती है । यह अनवरत प्रयास से शनैः-शनैः ही होता है । धैर्यशीलता-तत्परता के साथ संलग्न रहने पर प्रत्याहार की आन्तरिक सजगता की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है । हथेली पर सरसों उगाने जैसी जल्दबाजी करने वाले प्रायः असफल ही रहते हैं । शारीरिक दुःख-दर्द, मानसिक तनाव, संस्कार आदि मुख्य बाधा उपस्थित करते हैं । शरीर व मन की शुद्धि एवं कुसंस्कारों का उन्मूलन धीरे-धीरे होता है । प्रत्याहार साधना के लिए शरीर में तीनों गुणों सत्व, रज एवं तमस में सन्तुलन समन्वय हो । तीनों तत्वों की साम्यावस्था में ही दिव्य चेतना का अवतरण सम्भव हो पाता है । यम-नियम आसनादि को देशकाल परिस्थितियों के अनुसार अपनाकर शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य का आनन्द अनुभव किया जा सकता है ।

प्रत्याहार के अभ्यास से उच्चतर चेतना का विकास होता जाता है । हम अपने आन्तरिक एवं बाह्य जीवन को शान्ति एवं आनन्ददायक अनुभव करेंगे । अपने अन्तर में ही प्रकाश (सद्ज्ञान) की स्फुरणा होगी और दूसरों के साथ व्यावहारिक जीवन में समन्वय-सन्तुलन स्थापित करने में सुगमता होगी ।

वैज्ञानिक परीक्षणों से इस तथ्य को कसौटी पर सत्य पाया गया है । मैकगिल यूनिवर्सिटी में एक बार कुछ लोगों को साउण्ड प्रूफ कमरे में रखा गया, उन्हें काला चश्मा पहनाकर दृश्य रूप से, बाह्य जगत से सम्बन्ध-विच्छेद किया गया । कानों से वह उस कमरे में पहले ही बाह्य ध्वनियों से अलग-थलग पड़ गए थे । स्पर्श की अनुभूति को कुछ रासायनिकों द्वारा नष्ट कर दिया गया । बैठने की सुविधा इस प्रकार की गई कि त्वचा की सम्वेदनशीलता बिल्कुल न रही । उस कक्ष में मात्र विकृत प्रकाश का ही प्रवेश होने दिया जाता था । विकृत प्रकाश के लिए परावर्तन, अपवर्तन, विवर्तन एवं व्यतिकरण जैसी प्रकाशिक प्रविधियों का प्रयोग किया गया । ऐसे ही 'प्रिन्स्टोन' में साउण्ड प्रूफ कक्ष में कुछ व्यक्तियों को रखा गया । कक्ष को

३.१७ व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ

प्रकाशरोधी बनाया गया था तथा उसका तापमान भी एक-सा रखा । 'ओकला होमा' में एक प्रकाश रहित गहरे टैंक के अन्दर व्यक्तियों को रखकर देखा गया । उस स्थिति में जागृत अवस्था में जो व्यक्ति रखे गए थे उनमें से कई लोग अत्यधिक भयभीत हो गए, उन्हें अपने ही हृदय की गति ऐसी लगी जैसे कोई डाकगाड़ी धड़धड़ाती हुई चल रही हो । पाचन संस्थानों से निकलने वाले स्राव तथा शरीर की विभिन्न क्रियाएँ बहुत बड़े शहर के कोलाहल तथा किसी भारी कारखाने जैसी लगीं ।

जो लोग इस स्थिति में सो गए, उन्होंने देखा कि उन्हें इतने विलक्षण स्वप्न दिखे जो सामान्य श्रेणी का व्यक्ति सचमुच भी आँखों से देखने को तरसता रहे । प्रसुप्त प्राय स्मृतियाँ कल हुई घटना की तरह सजीव हो उठीं । कुछ दृश्य तो ऐसे थे जो ठीक अपने साथ घटित हुए पर उनका कोई तारतम्य नहीं बैठाया जा सका । मात्र उसे मस्तिष्क के न्यूरॉन की साधारण अवस्था कह कर छोड़ दिया गया । भारतीय दर्शन में पूर्व-जन्मों की अनुभूतियों का सत्य सम्भव है किसी दिन इसी तथ्य से वे प्रतिपादित हो जायें । अभी तो वैज्ञानिक 'न्यूरॉन' की ही पूरी तरह जाँच नहीं कर पाये हैं ।

इस स्थिति में मिले मस्तिष्क के विश्राम को अमृतोपम पाया गया है । इससे प्रत्याहार साधनाओं का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है ।

प्रत्याहार की विवेचना इस प्रकार की जा सकती है—'प्रति' और 'आहार' इन दो शब्दों के जोड़ से प्रत्याहार शब्द बना है । आहार का अर्थ 'खाना' । प्रत्याहार का अर्थ है 'उगलना' । साँस लेना, ग्रहण करना, आहार हुआ और साँस को बाहर निकालना, प्रत्याहार हो गया । योग साधना में धारणा ध्यान और समाधि के अभ्यास किए जाते हैं, इससे पूर्व प्रत्याहार की बड़ी भारी आवश्यकता है क्योंकि स्थान खाली किए बिना नई चीज रखना असम्भव है । एक कटोरे में पानी भरा हुआ है उसे जब तक न फैला देंगे उसमें दूध नहीं भरा जा सकेगा । पेट में पुराना मल जमा हो रहा हो तो नया भोजन खाना कठिन है फेफड़ों की पुरानी हवा जब तक बाहर न निकाली जायेगी नई वायु का प्रवेश कैसे होगा ? बुद्धिमान लोग त्याग के महत्त्व को समझते हैं, इसलिए विचारक लोग सदैव त्याग की शिक्षा दिया करते हैं । किसी भी धर्म कार्य को लीजिए उसमें समय, बुद्धि या पैसे का दान करने का विधान होगा । पुण्य का फल सुखदायक होता है पर वह पुण्य तभी हो सकता है जब कुछ त्याग किया जाय । कोई प्रभावशाली औषधि देने से पूर्व वैद्य लोग हल्का जुलाब देते हैं, एक दो दस्त हो जाने के बाद जब पेट साफ हो जाता है तो दवा ठीक असर करती है । होली, दिवाली जैसे बड़े त्यौहार आते हैं तो घरों की सफाई बड़े जोरों से होती है । कोई उत्सव समारोह, प्रीतिभोज होता है तो सफाई की धूम मच जाती है । आपने देखा होगा कि जब लाट साहब या बड़े अफसर किसी शहर में आते हैं तो म्युनिसपैलिटी वाले कितनी मुस्तैदी से सड़कों को साफ कराते हैं । स्वागत का सफाई से बड़ा सम्बन्ध है । योग साधन जैसे महान कार्य से पूर्व भी कुछ सफाई होनी चाहिए यही सफाई प्रत्याहार है । प्रत्याहार का तात्पर्य मनोभूमि को इस योग्य बनाना है कि उस पर खड़े होकर इस महान सम्पदा का स्वागत किया जा सके ।

मनुष्य के मन में भले-बुरे, उचित-अनुचित, ग्राह्य-त्याज्य सभी प्रकार के संस्कार भरे पड़े रहते हैं इनमें से कुछ नये होते हैं, कुछ बहुत पुराने । कुछ अपने आप पैदा किए हुए होते हैं कुछ दूसरों के द्वारा डाले हुए तथा कुछ पैतृक होते हैं । इन सबका भली प्रकार निरीक्षण करना चाहिए, एक तीक्ष्ण दृष्टि वाले निष्पक्ष एवं कठोर समालोचक की निग्रह से अपने समस्त गुणों, स्वभावों-विश्वासों और विचारों को अच्छी तरह टटोल-टटोल कर देखना चाहिए कि इनमें से कौन उचित एवं आवश्यक है तथा कौन अनुचित एवं अनावश्यक है । यह परीक्षण यदि अपने आप ठीक प्रकार न हो सके तो किसी विश्वासी एवं सच्चरित्र मनोविज्ञान वेत्ता से इस कार्य में सहायता लेनी चाहिए । ऐसी सहायता लेने की प्रायः दस में से नौ व्यक्तियों को जरूरत पड़ती है । कारण यह है कि जितनी आसानी से दूसरों की समालोचना की जा सकती है उतनी आसानी से अपनी नहीं होती, स्वभावतः मनुष्य अपने साथ पक्षपात किया करता है । अपनी बुरी वस्तुओं के लिए भी मोह ममता की अधिकता रहती है । इसलिए किसी दूसरे श्रद्धास्पद पुरुष की सहायता से अपना

परीक्षण भली प्रकार कराया जा सकता है । ऐसे सहायक को योग शास्त्र की भाषा में 'गुरु' कहते हैं । यदि कोई विश्वासपात्र गुरु मिल जाय तो उसकी सहायता लेने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए । कनफूँका, अविवेकी गुरुओं से तो सदा सर्प की तरह बचना चाहिए, ऐसे लोगों के चक्कर में पड़कर, गुरुदीक्षा की लकीर पीटने से तो बिना गुरु के रहना कहीं अधिक अच्छा है ।

सहायक के सहयोग से अथवा स्वतन्त्र रूप से अपने स्वभाव, विश्वास और विचारों का परीक्षण करना चाहिए। उनमें से जो अनावश्यक हों उन्हें छोड़ देना चाहिए और जो अच्छे हों उन्हें सुरक्षित रखना चाहिए । कुछ नये स्वभाव और विश्वासों को ग्रहण करने की भी आवश्यकता होती है । अपने में जो कमियाँ हों उन्हें पूरा करने के लिए नये गुणों को हृदयंगम करना चाहिए । सफाई आवश्यक है, स्वागत के लिए सफाई होनी ही चाहिए । अपने अन्दर योग से उत्पन्न हुआ आत्मिक तेज धारणा करने के लिए सड़े-गले, फटे-पुराने, गन्दे-सन्दे अनावश्यक एवं असामयिक विचारों को तिलांजलि देना अत्यन्त आवश्यक है । योग शास्त्र कहता है कि अपने कुविचारों को दूर करो, कुसंस्कारों को मार भगाओ, दुःस्वभावों को पीछे धकेल दो, दुर्गुणों को निकाल बाहर करो, इसी सफाई का नाम प्रत्याहार है ।

इस अध्याय के आरम्भ में ही कहा गया है कि खाने को आहार और उगलने को प्रत्याहार कहते हैं । जिन चीजों को उगला जाता है उनसे घृणा की जाती है, गंदा समझा जाता है, अस्पश्य माना जाता है । बमन, बिष्ठा, मूत्र, थूक, नाक, मैल, पसीना, रज, वीर्य आदि जो भी वस्तु शरीर से बाहर निकल जाती है अस्पश्य बन जाती है, उससे हम स्वभावतः घृणा करते हैं, जहाँ तक बन पड़ता है, उन्हें फिर नहीं छूते, छूना ही पड़े तो जल आदि से शुद्धता करते हैं । यह बात मानव स्वभाव में बड़ी दृढ़ता के साथ जुड़ी हुई है कि वह त्याज्य वस्तुओं से घृणा करता है । यदि घृणा न रहे या कम हो जाय तो उन वस्तुओं से दूर रहने की प्रकृति शिथिल हो जायेगी । जिसे जिस वस्तु से जितनी अधिक घृणा हैं वह उससे उतनी ही दूर रहेगा और बचता रहेगा । घृणा के अभाव में बचने का उतना निश्चय नहीं रहता । प्रत्याहार किए हुए दुर्गुणों से उसी प्रकार घृणा करना आवश्यक है, जैसे कि वमन, विष्ठा आदि से करते हैं । उगलने का तो कुछ प्रयोजन ही न रहा यदि उससे घृणा न हुई, क्योंकि घृणा के अभाव में उस बुरी बात को फिर किसी समय ग्रहण किया जा सकता है ।

'थूककर चाटना' इस मुहावरे को बातचीत के सिलसिले में वहाँ प्रयोग किया जाता है, जहाँ एक बार कोई व्यक्ति किसी वस्तु का त्याग करके फिर उसे ग्रहण करता है । यह मुहावरा अत्यन्त घृणास्पद घटनाओं के साथ प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह मुहावरा स्वयं बहुत घृणित है । वैसे मद्य, माँस आदि बहुत-सी घृणित और पाप पूर्ण पदार्थ मनुष्य खाता रहता है परन्तु इन्हें चाटना कहकर किसी को चिढ़ाया नहीं जाता । इस कहावत. में थूक को चाटना, इसलिए घृणित नहीं बताया गया है कि वह अखाद्य है । चेचक का टीका पशुओं के पीप से लगाया जाता है वह भी तो वैसा ही अखाद्य है जिसे सब लोग शरीर में प्रवेश करते हैं । यहाँ तो थूक को घृणित इसलिए ठहराया गया है कि वह उगली हुई वस्तु है । निःसन्देह उगली हुई वस्तु से घृणा की ही जानी चाहिए, मानव स्वभाव उनसे घृणा करने की प्रबल प्रेरणा किया करता है ।

ईश्वर ने एक भी गुण हमें ऐसा नहीं दिया है जो अनावश्यक हो । उसने हमारे शरीर और मन में वही अंग रखे हैं जिनकी जीवन निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यकता है । घृणा-द्वेष जैसे स्वभाव भी अपने स्थान पर अत्युत्तम है, बुराई तब होती है जब उनका दुरुपयोग किया जाता है । जिन बातों को आप अपने अन्दर नहीं देखना चाहते, जिन बातों से अपने को बचाना चाहते हैं, उनसे घृणा कीजिए, द्वेष कीजिए । चहार-दीवारी खड़ी करके बाग में घुसने से जंगली पशुओं को रोका जाता है, आप अपनी मानसिक वाटिका को बुराइयों से बचाना चाहते हैं तो घृणा और द्वेष की दीवारें खड़ी कर दीजिए, इसके बिना उनका रुकना कठिन है, बुराइयों से, पापों से, दुर्गुणों से, दुष्कर्मों से घृणा कीजिए, खूब घृणा कीजिए, अत्यन्त तीव्र घृणा कीजिए, यह तीव्रता इतनी होनी चाहिए कि उन बुराइयों को सदा आप शत्रु के रूप में देखें, जब भी उनका ध्यान आवे यही समझें कि यह हमारे जानी दुश्मन हैं, ऐसे दुश्मन जिनसे कभी भी, किसी प्रकार भी सन्धि नहीं हो सकती ।

भ्रम में मत पड़िये, यहाँ बुराइयों से घृणा करना सिखाया जा रहा है, न कि व्यक्तियों से । आप व्यक्ति और बुराई के बीच के अन्तर को भली प्रकार समझ लीजिए । बुराई सदा बुराई ही रहेगी परन्तु व्यक्ति बदल सकता है, सुधर सकता है । व्यक्तियों से घृणा या द्वेष करने से अशान्ति, कलह, मनो-मालिन्य बढ़ते हैं, अपना मन भारी होता है और अनुचित मार्ग पर कदम उठते हैं । किसी आदमी से आपको द्वेष हो तो उससे बदला लेने उसे मजा चखाने, नीचा दिखाने, नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न किया जायेगा, इसके लिए अनुचित मार्गों का भी अवलम्बन किया जायेगा । जिस प्रकार आपको उस व्यक्ति से द्वेष किसी अनुचित व्यवहार के कारण हुआ है उसी प्रकार उसे भी आपके अनुचित व्यवहार के लिए द्वेष होगा । यह द्वेष दोनों ओर बढ़ता जायगा, दोनों ही पक्ष एक-दूसरे पर आक्रमण करेंगे और क्लेश बढ़ेगा, मनों की मलीनता बढ़ेगी, किन्तु यदि व्यक्ति के लिए द्वेष नहीं है बुराई के लिए द्वेष है तो बुरे मनुष्य की बुराई छुड़ाने का आपका प्रयत्न होगा । यह प्रयत्न 'उचित' मार्ग के आधार पर ही होंगे, और उचित काम करने से मानसिक पवित्रता स्थिर रहेगी । आपके विरोधी को भी ईश्वर ने थोड़ी बहुत बुद्धि दी है वह देखेंगे कि आप अनीति के खिलाफ लड़ रहे हैं, व्यक्तिगत रूप से नहीं तो वह आपके साथ पूरे बल से द्वेष न कर सकेगा । अधूरा द्वेष पंगु होता है उससे उतना अधिक अहित नहीं हो सकता । किसी दिन उसे सुबुद्धि प्राप्त हुई तो आपकी कर्तव्यनिष्ठा से प्रभावित होकर वह आपके चरणों पर गिर सकता है किन्तु यदि व्यक्तिगत द्वेष के कारण अनुचित मार्ग भी ग्रहण किए गए हैं तो परास्त होकर भी वह जन्म भर आप से घृणा करेगा और विरोधी बना रहेगा ।

आध्यात्मशास्त्र कहता है कि आत्मा-परमात्मा का ही अंश है, जीव ईश्वर का पुत्र है । सूर्य पवित्र है उसकी किरणें भी पवित्र हैं । ईश्वर के अंश जीव भी स्वभावतः अपने पिता के समान निर्मल हैं । आत्मा स्वयं अपने आप में पापी नहीं है वह तो सत् स्वरूप है । पाप और बुराइयाँ माया की खिलवाड़े हैं । इन खिलवाड़ों का ही पर्दा-फाश करना है । बीमारी को नष्ट-भ्रष्ट कर डालना है और बीमार को बचाना है । बीमारी दूर करने के लिए बीमार को भी मार डालने वाला वैद्य बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता । यदि आप बुराई देखकर बुरे आदमी को भी नष्ट करना चाहते हैं तो बिल्कुल उस नादान वैद्य की ही नकल करते हैं । किसी आत्मा से घृणा मत कीजिए, किन्तु बुराइयों के जानी दुश्मन रहिये । दुर्गुण, दुर्भाव, दुस्वभाव, कुविचार, कुसंस्कार यह मनुष्य के दुश्मन हैं, आप इनसे पूरी-पूरी दुश्मनी ठाने रहिये । इन्हें अपने घर में मत घुसने दीजिए, अपने मित्रों के घर में मत घुसने दीजिए, अपने परिचित या अपरिचित सजातियों के यहाँ प्रवेश मत करने दीजिए हर जगह इनका बहिष्कार कराइये, जहाँ यह दीख पड़ें वहीं इनसे लड़ पड़िये दूसरों को लड़ा दीजिए, बेखबरों को खबर कर दीजिए कि—"असली दुश्मन यह हैं, इन्हें पहचानो, बचो, लड़ो और मार भगाओ ।"

धर्म ग्रन्थों में मनुष्य जाति के एक सबसे बड़े दुश्मन का उल्लेख है । इस्लाम और ईसाई धर्म में उसे 'शैतान' कहा गया है । हिन्दू धर्म में उसका नाम 'असुर' है । यह शैतान ईश्वर का विरोधी और मनुष्य जाति को बहकावे में डालकर नरक की ओर ले जाने वाला है । इस शैतान या असुर से घृणा एवं द्वेष करने के लिए विविध प्रकार से शास्त्रों में आदेश दिए गए हैं । यह शैतान कोई भूत पलीत या अदृश्य जीव नहीं वरन् हर समय हर घड़ी साथ रहने वाला एक तत्व है इसे कठोर भाषा में 'पाप' और हलकी भाषा में 'अज्ञान' कहा जाता है । योगशास्त्र कहता है कि हर एक साधक पाप से घोर घृणा करे, उसे अछूत समझे, अपने को उसका स्पर्श होने से भली प्रकार बचावे । जहाँ भी पाप की लीला दिखाई पड़े वहीं घृणा की लपलपाती हुई नंगी तलवार उसकी गरदन पर बरस पड़े । एक क्षण के लिए भी इस दुश्मन से सन्धि नहीं होनी चाहिए । अज्ञान के पंजे से छूटकर ज्ञान प्राप्त करने का जब भी, जहाँ भी, जितना भी, अवसर आवे उसे अविलम्ब ग्रहण किया जाय । क्षत्रिय लोग अपने दुश्मन को परास्त करने में अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते थे । योगशास्त्र कहता है कि हे बहादुर अभ्यासियो ! उठो !! अपने अन्दर से और दूसरों के अन्दर से पाप तथा अज्ञान रूपी शत्रुओं को मार भगाने के लिए घोर संहार करो, अपने सर्वस्व की बाजी लगा दो ।

प्रत्याहार की अन्तर्ध्वनि यह है कि—"बुराइयों को उगल दो, बुरे विचारों को उगल दो, ढूँढ़-ढूँढ़ कर एकोएक अनावश्यक तथा असामयिक स्वभाव तथा विश्वासों को झाड़ू लेकर बुहार डालो । कूड़े-कचरे को घर से बाहर फेंक देते हैं और फिर उन्हें घर में नहीं आने देते इसी प्रकार कुसंस्कारों का परित्याग कर दो इनसे सारा सम्बन्ध छोड़ दो और फिर भूलकर भी उन्हें ग्रहण न करो । त्यागे हुए मल, मूत्र या बमन के प्रति जैसे घृणा होती है वैसे ही पापों से घृणा करो ।" योग साधन के पथिकों को यह ध्वनि भली प्रकार कान खोलकर सुन लेनी और हृदयंगम कर लेनी चाहिए ।

रबड़ की गेंद जितने जोर से खींच कर जमीन में मारी जाती है उतने ही जोर से वह ऊपर को उछलती है । जिससे जितनी घृणा की जाती है उसकी विरोधी भावनाएँ उतनी ही प्रबलता से उभरती हैं । जो गंदगी से जितनी घृणा करेगा सफाई से उसे उतना ही प्रेम होगा, इसी प्रकार जिस व्यक्ति के जिस जाति के, जिस सिद्धान्त के विरुद्ध, जिस कार्य के विरुद्ध जितनी अधिक घृणा होगी उससे बचने, उसे नष्ट करने के भाव उतने ही प्रबल होंगे । जो पाप से द्वेष करता है, निश्चय ही उसके मन में पुण्य संचय के लिए बहुत उत्साह होगा, जो अज्ञान से कुढ़ता है, उसे ज्ञान की उन्नति में अधिक रुचि होगी । झूला झुलाने में इधर से जितना धक्का दिया जाता है उधर से भी उतने ही जोर से वापसी आती है । बुराइयों से क्रोध करने वाले ही अच्छाइयों का संचय और प्रसार कर सकते हैं । जो मटियंल साँप की तरह मुर्दा मन के हैं उनके लिए सब धान बाईस पसेरी रहेंगे । उपेक्षा, निराशा, आलस्य, अनुत्साह उन्हें घेरे रहेंगे, ऐसे लोगों को 'जीवित मृतक' कहा जाता है । पृथ्वी माता का बोझ बढ़ाने वाले, अन्न की टट्टी करने वाले ये मुर्दे मनुष्य जीवन निरर्थक करते हुए जैसे-तैसे अपनी इह लीला समाप्त कर जाते हैं ।

आध्यात्म विद्या का आविष्कार इसलिए नहीं हुआ है कि वह इस प्रकार के भू-भार मुर्दों की संख्या बढ़ावे उसका उद्देश्य सतेज, सक्षम, क्रिया, कुशल, उत्साही एवं सच्चे अर्थों में मनुष्यता धारणा करने वाले मानवों की वृद्धि करना है इसलिए मानसिक जगत की शुद्धि करने, मनोवृत्तियों को सुसंस्कृत बनाने, मन को वश में करने के अभ्यासों से पूर्व यह आवश्यक समझा गया है कि उच्च गुणों की ओर चित्त को प्रवृत्त किया जाय । स्थिरता और शान्ति, श्रेष्ठता में ही हैं, तामसिक अधम मार्ग पर चलने से तो मन की अशान्ति एवं अस्थिरता कई गुनी बढ़ जाती है ऐसी दशा में उसे एकाग्र करना कठिन होता है । सतोगुण की वृद्धि तभी हो सकती है जब तमोगुण से घृणा की जाय । ऊँची दीवार उठाने के लिए कहीं दूसरी जगह गड्ढा होगा, जहाँ की मिट्टी से ईंट बनेंगी वहाँ की जमीन नीची हो जायेगी । पुण्यात्मा बनने के लिए पापों को हटाना आवश्यक है यह तभी हो सकता है जब उनसे घृणा हो, छोड़ देने की, अलग हटाने की प्रबल भावना हो, इन्हीं सब तथ्यों पर विचार करते हुए प्रत्याहार को मनोनिग्रह की साधना में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । कुछ ग्रहण करने से पहले त्याग करने की परम्परा को ही अपनाया गया है ।

मन में कोई अनावश्यक विचार मत आने दीजिए । रोकने और उगलने का अभ्यास कीजिए । बेकार और अवांच्छनीय विचारों को मस्तिष्क में प्रवेश मत होने दीजिए, वे बाहर ही रुक जाने चाहिए मन को नियत दिशा में ही दिलचस्पी होनी चाहिए, इधर-उधर के प्रलोभनों और चित्त को उचटाने वाले संस्मरणों को अपने पास मत फटकने दीजिए । पुराने जमा किए हुए स्वभाव और विश्वासों को मार भगाइये और फिर उनके लिए सदा को किवाड़ें बन्द कर दीजिए यही प्रत्याहार है । न तो त्याज्य विचार मन में आने चाहिए और न निषिद्ध कर्म शरीर से होने चाहिए । यह तभी हो सकता है जब त्याज्य वस्तुओं के प्रति शत्रु दृष्टि रहे । यह शत्रु दृष्टि वास्तव में मित्रों को बढ़ाने वाली है । घृणा और द्वेष का यही सदुपयोग है, इसीलिए परमात्मा ने यह वृत्तियाँ मनुष्य को दी हैं । योग साधकों को प्रत्याहार की सीढ़ी पर कदम धरते हुए घृणा और द्वेष को सतेज करना चाहिए और इन प्रबल हथियार के द्वारा आध्यात्म मार्ग के सारे झाड़-झंखाड़ों को काटकर साफ कर देना चाहिए ।

अभ्यास

(१) प्रतिदिन प्रातःकाल अथवा सायंकाल एकान्त स्थान में शान्त चित्त से नेत्र मूंदकर किसी सरल आसन पर बैठिये, शरीर और मन को शिथिल कर दीजिए । सब ओर से चित्त हटाकर एकाग्र कीजिए । अब ऐसा ध्यान कीजिए कि निखिल आकाश में केवल मैं ही एक

हूँ और दूसरी कोई भौतिक वस्तु कहीं नहीं है । कुछ समय अपने एकाकीपन पर भली प्रकार ध्यान जमाइये ।

(२) "नीले आकाश में अकेला मैं" यह ध्यान जब ठीक तरह जमने लगे तब अपनी आत्मा में से एक तेज-पुंज निकल कर अपने चारों ओर घेरे की तरह फैल जाते हुए अनुभव कीजिए । एक चक्रव्यूह, घेरा, बाड़ा, सूर्य के समान तेज वाला अपने चारों ओर अकेला फैला हुआ है । इस दुर्ग के अन्दर मैं सब प्रकार सुरक्षित बैठा हुआ हूँ । इस ध्यान की दृढ़ता के साथ-साथ दिव्य नेत्रों से ऐसा भान होना चाहिए कि प्रकाश की बहुत ऊँची, असीम ऊँची दीवारें अपने चारों ओर खड़ी हुई हैं, यह इतनी सुदृढ़ हैं कि इन्हें बेधकर कोई भीतर नहीं आ सकता ।

(३) जो विचार, संस्कार, विश्वास आपने त्याज्य ठहरा रखे हैं, उन्हें उस अग्नि सी जाज्वल्यमान दीवार से बाहर खड़ा हुआ देखिये और अनुभव कीजिए कि अब वे किसी भी प्रकार आप तक नहीं पहुँच सकते । इन दुष्टों की पहुँच अपने तक किसी भी प्रकार नहीं हो सकती ।

(४) तेज पुंज अभेद्य दुर्ग के बीच में स्फटिक मणि से जगमगाते हुए आसन पर अपने को बैठा हुआ अनुभव कीजिए और इन मंत्रों का जप कीजिए ।

—मैंने सब कुविचारों और कुसंस्कारों का सर्वथा त्याग कर दिया है ।

—मुझ तक वे अब किसी भी प्रकार नहीं पहुँच सकते । मैं अब उन्हें कदापि स्पर्श न करूँगा ।

—मैं निषिद्ध कर्म और विचारों से घोर घृणा करता हूँ, उन्हें अपना प्रधान शत्रु मानता हूँ ।

—मैं कभी भी इन शत्रुओं से सन्धि न करुँगा इनके विरुद्ध सदा ही युद्ध जारी रखूँगा ।

—मैं पवित्र आत्मा हूँ इसलिए पवित्र तत्वों को ही ग्रहण करूँगा । अपवित्र, अधम तत्वों को मैंने पूर्णरूप से बहिष्कृत कर दिया है ।

धारणा

विद्वान वक्सटन कहा करते थे कि —मैंने अपनी वृद्धावस्था तक मनुष्य तत्व के बारे में बहुत अधिक अनुभव एकत्रित किए हैं । उनमें यह अनुभव सर्वोपरि है कि—"विश्वासों के आधार पर जीवन का स्थूल रूप तैयार होता है ।" महापुरुष चार्ल्स डिक्सन का कथन है कि—जिस मनुष्य की जैसी आन्तरिक भावनाएँ होंगी उसकी सारी बाह्य रूपरेखा वैसी ही बन जायेगी । महर्षि वशिष्ठ का मत है कि—बीज की जाति का ही पौधा उगता है और संकल्पों की जाति की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं । गीता कहती है—"यो यच्छ्रद्धः स एवं स" अर्थात्—जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही हो जाता है । सचमुच विश्वासों के आधार पर ही मनुष्य अपने लिए सुख-दु:ख, उन्नति-अवनति, वन्ध-मोक्ष की भूमिका तैयार करता है जो सोचता है कि मैं शिव हूँ, वह शिव है, जिसका विश्वास है कि मैं जीव हूँ वह जीव है । अपने को दीन-दुःखी, दरिद्र, अयोग्य, असमर्थ, अभागा, अशक्त मानते हैं, वे वास्तव में वैसे ही हैं किन्तु जिनका विश्वास है कि हम अपने भाग्य के निर्माता हैं, ईश्वर के अंश हैं, सब शक्तिमान आत्मा हैं, वे निःसन्देह वैसे ही हैं । जैसा फूल होगा वैसी ही उसकी गन्ध होगी, जैसे विश्वास होंगे वैसी ही परिस्थितियाँ मिल जायेंगी ।

एक सिंह का बच्चा भेड़ों के झुण्ड में रहता था, वह अपने को भेड़ ही समझता था और वैसे ही घास चरता था । जब दूसरे सिंह ने उसे सचेत किया तब कहीं उसे आत्म-बोध हुआ । भृंग नाम की मक्खी छोटे कीड़े को पकड़ ले जाती है, उसे अपने घर में रखती है, कीड़ा हर समय भृंग की आवाज सुनता है उसी का रूप देखता है, धीरे-धीरे उसके चित्त में भृंग का रूप जम जाता है तदनुसार उसके शारीरिक अंगों में परिवर्तन शुरू होता है और कुछ ही समय में वह कीड़ा हुबहू भृंग बन जाता है । तितली जिस प्रकार के फूलों पर रहती है प्रायः उन्हीं फूलों के रंग की हो जाती है । संगति के प्रभाव से आदमी के गुण कर्म स्वभाव बदल जाते हैं । एक मनुष्य बहुत सदाचारी है किन्तु दुष्टों की संगति में अधिक दिन रहे तो उसी ढाँचे में ढल जायेगा, पहले ये बातें उसे बुरी लगती थीं, वही अच्छी लगने लगेंगी । अंग्रेजी भाषा में मन और मैन (मनुष्य) एक ही प्रकार लिखे जाते हैं (Man) शब्द को आप मन भी पढ़ सकते हैं और मैन (मनुष्य) भी । इससे प्रतीत होता है कि मन और मनुष्य में कुछ अन्तर नहीं । जिसका जैसा मन है वह मनुष्य भी उसी प्रकार का होगा ।

राजयोग की छठवीं सीढ़ी 'धारणा' का तात्पर्य उस प्रकार के विश्वासों की धारणा करने से है जिनके द्वारा मनोवांछित स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है । भौतिक वस्तुएँ सुपात्रों को भी मिल जाती हैं, परन्तु आत्मिक सम्पदाओं में एक भी ऐसी नहीं है जो अनधिकारी को मिल सके । प्रसन्नता, निरोगता, सुख, शान्ति, सन्तोष, तृप्ति, आनन्द प्रभूति आत्मिक सम्पदाएँ हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य भौतिक वस्तुएँ ढूँढता रहता है, इन्द्रिय भोग तथा धन सम्पदा द्वारा तृप्ति, प्रसन्नता और शान्ति को उपलब्ध करने का प्रयत्न किया जाता है पर हाथ कुछ नहीं आती । जैसे-जैसे धन जमा होता है, भोगों को भोगते हैं वैसे ही वैसे अग्नि में घृत डालने से बढ़ती हुई ज्वाला की भाँति, तृष्णा, चिन्ता, व्याकुलता, झुँझलाहट, अशान्ति बढ़ती जाती है । वास्तव में आत्मिक सम्पदाएँ भौतिक वस्तुओं से खरीदी नहीं जा सकतीं वह तो आत्मिक प्रयत्नों से ही प्राप्त हो सकती हैं । यदि अपने विचार, विश्वास, स्वभाव श्रेष्ठता की ओर झुके हुए होंगे, उच्च श्रेणी के सात्विक विषयों में दिलचस्पी होगी तो शारीरिक और मानसिक यन्त्रों में उसी कार्य प्रणाली का संचार होगा जिसके द्वारा वे मानसिक सम्पदाएँ प्राप्त की जा सकती हैं जिनको प्राप्त करने के लिए व्याकुल होकर सारा संसार उल्टे-सीधे कार्य कर रहा है ।

आपने अपने मन में यदि सात्विकता धारणा कर रखी है तो आपको सज्जनोचित गुण, कर्म, स्वभाव तथा बाह्य अवसर प्राप्त होंगे । यदि तामसिकता को मन में भर रखा है, तमोगुण को अपना रखा है तो दुष्ट दुर्जनों के गुण कर्म होते हैं वह आपमें प्रकट होंगे और बाहरी ठाठ-बाट, रंग-ढंग, साज-सामान उसी तरह का इकट्ठा हो जायेगा । पाठकों को हजार बार यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिए कि मनुष्य भाग्य का गुलाम नहीं, भाग्य का निर्माता है । वह आत्मिक तथा सांसारिक परिस्थितियाँ अपने बाहुबल से उपार्जित करता है । कोई भी दूसरी शक्ति उसे हानि नहीं पहुँचा सकती । अपने आप ही अपने लिए वह आम, बबूल बोता है और खुद ही उनके परिणामों से हँसता रोता है । आध्यात्म शास्त्र इस स्वयं सत्य सिद्धान्त को पूर्णरूप से स्वीकार करता है, इसलिए उसने साधकों को आदेश किया है कि वैसा बीज बोओ जैसे फल खाना चाहते हो तो मन में उस प्रकार के संस्कारों को धारण करो जिससे मनोकामना पूरी हो सके । यही 'धारणा' का अभिप्राय है ।

'प्रत्याहार' के अन्तर्गत आपको घृणा करना सिखाया गया है, कुविचार और कुसंस्कारों को उगल देने की शिक्षा दी गई है । मन को स्वच्छ एवं सुसंस्कृत करने की शिक्षा का वह पूर्वार्ध था बर्तन को खाली कर देने के बाद उसमें कुछ भरना भी होगा । खेत में से झाड़-झंखाड़ उखाड़ देने के उपरान्त उसमें अच्छा बीज बोया भी जाता है । सफाई के बाद सजावट भी चाहिए । फोड़े को चीर देने के बाद उस पर मरहम भी लगेगा । खर्च करने के बाद कुछ कमाया भी जायेगा । दोनों पलड़े बराबर कर लेने पर ही काँटे का संतुलन ठीक होगा । प्रत्याहार अधूरा है यदि उसके बाद धारणा का प्रयत्न न किया जाय । कुविचारों का परित्याग करके उनके स्थान पर उत्तम विचारों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए । महर्षि पातंजलि ने इस प्रकरण में एक बहुत ही उत्तम बताया है, वह है—'प्रति पक्षी भावना ।

जो बातें आपने त्याज्य ठहराई हैं उनके विरोधी कार्यों को करने में तत्पर रहना चाहिए । शरीर और मन में कोई शत्रु प्रवेश कर रहा है तो तुरन्त ही किसी मित्र को उसका मुकाबला करने के लिए अड़ा दीजिए । मन में यदि क्रोध के भाव आ रहे हों तो उनके विरोधी प्रेम के भाव उत्पन्न कीजिए, कामुकता की तरंगें उठ रही हों तो प्रबल प्रयत्न के साथ ब्रह्मचर्य का मनन आरम्भ कीजिए । इसी प्रकार हिंसा का मुकाबला दया से, निराशा का आशा से, कंजूसी का त्याग से, पांखण्ड का सत्य से, क्रूरता का करुणा से मुकाबला करना चाहिए । जब आप देखें कि कोई कुविचार उठ रहा है, कुसंस्कार जागृत हो रहा है तो तुरन्त ही सावधान हो जाइये और उसे भगा देने के लिए उत्तम भावों को सतेज कीजिए । एक म्यान में दो तलवारें नहीं आ सकती, प्रकाश के साथ अंधेरा नहीं रह सकतीं, जब आप सात्विक भावनाओं से अपने अन्तःकरण को भरने लगेंगे तो स्वभावतः दुर्भाव अपने आप पलायन करने लगेंगे । शरीर में जब तामस बढ़ रहा हो तो सत के चाकू से उसे खुरच डालिए । आलस्य को परिश्रम से, अजीर्ण को उपवास से, चटोरेपन को नियमबद्धता से, इन्द्रिय लिप्सा को स्वाध्याय से दबाया जा सकता है । प्रतिपक्षी भावना को प्रोत्साहन देने में जरा-सा विलम्ब न करना चाहिए । युद्ध-नीति यह है कि शत्रु

को आगे बढ़ने का जरा भी मौका न मिलना चाहिए। यदि वह आगे बढ़ आया, घर में घुस आया तो निकाल बाहर करने में बहुत कठिनाई पड़ेगी। मन या शरीर में तामस तत्वों को देखते ही उनका मुकाबला करने के लिए तत्क्षण तत्पर हो जाना चाहिए, इसमें जरा भी विलम्ब न करना चाहिए। वरना जितनी देर शत्रुओं को ठहरने का मौका मिलेगा उतनी ही मजबूती से वे पैर जमा लेंगे। प्रतिपक्षी भावनाएँ लड़ाकू सेना सदैव कमर कसे तैयार खड़ी रहें, जैसे ही दुश्मन को देखें कि टूट पड़ें और ऐसी गोलाबारी करें कि दुश्मन भागते ही बने।

मन को स्वच्छ एवं सुसंस्कृत करने की शिक्षा की उत्तरार्ध 'धारणा' में निहित है। अच्छे, आवश्यक सामयिक एवं उपयोगी गुणों को चुन-चुन कर अपने अन्दर धारण करना चाहिए। उनकी महत्ता पर विचार करना चाहिए, उनके महात्म्य को रुचि एवं विस्तार के साथ मनन करना चाहिए। इन गुणों को ग्रहण कर लेने के उपरान्त अपनी जो उच्च स्थिति हो जायेगी उसका सुनहरा चित्र आशा भरी दृष्टि से देखना चाहिए। उन्हीं गुणों को प्राप्त करने के उपायों को सोचना चाहिए। उस प्रकार के लोगों से मित्रता और घनिष्ठता बढ़ाने का उद्योग करना चाहिए। जब भी अवसर मिले साहस के साथ रुकावटों को तोड़ते हुए अपने विश्वासों को चरितार्थ करने का प्रयत्न करना चाहिए। स्मरण चिन्तन, कीर्तन इसी दिशा में हो, मन, वचन और कर्म से इसी दिशा में कदम आगे बढ़े। अपने प्रिय गुण, स्वभावों को अधिकाधिक मात्रा में धारण करने की लगन लगी रहे। रामायण कहती है कि "जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू।" जिसका जिस पर सच्चा स्नेह है उसे वह वस्तु मिलने में कुछ सन्देह नहीं है। यदि आपने मन में यह ठान ली है कि हम अपने अन्तःकरण को स्वच्छ निर्मल एवं पवित्र बनावेंगे तो विश्वास रखिये आप बहुत शीघ्र वैसे ही बन जायेंगे आपमें अनेक उच्च गुणों की भरमार होने में अधिक समय न लगेगा। धारणा का ऐसा ही महात्म्य है जिसका जैसा विश्वास है वह वैसा ही बन जाता है।

बुराइयों से बचने और अच्छाइयों की तरफ बढ़ने का मार्ग यह है कि आप अपने को श्रेष्ठ, सद्गुणी, पवित्र, पुण्यात्मा, विवेकवान, अनुभव करें। बेशक आप में कुछ दोष हैं, दुर्गुण हैं, दुःस्वभाव हैं, पिछले दिनों बहुत पाप बन चुके हैं अब भी बनते रहते हैं और शायद अभी कुछ समय तक आगे भी बनते रहेंगे इस कड़ुवे सत्य को स्वीकार करने से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि आपमें अनेक सद्गुण, सत् स्वभाव, सद्भाव मौजूद हैं, बहुत से शुभ कर्म पीछे कर चुके हैं, अब कर रहे हैं और आगे करते रहेंगे। मनुष्य का सुर दुर्लभ शरीर पापात्मा एवं पतित नारकीय कीड़ों को नहीं मिल सकता है। सृष्टि का यह सर्वोच्च पद सुयोग्य अधिकारियों को ही दिया जाता है। हम घोषणा करते हैं कि आप अधिकारी हैं, पुण्यात्मा हैं, सद्गुणी हैं। हम शपथपूर्वक कहते हैं कि आप श्रेष्ठ हैं। आप हम पर विश्वास कीजिए, हमारी बात का भरोसा कीजिए, बिना किसी हिचकिचाहट के अपनी श्रेष्ठता और महत्ता स्वीकार करने के लिए तैयार रहिये। थोड़ी-सी कालिमा सूर्य और चन्द्रमा में भी मौजूद है, थोड़ा दोष होना कोई ऐसी भयंकर बात नहीं है कि आप उससे घबरा कर अपनी सारी अच्छाइयों की हड़ताल कर दें। आप परमात्मा के पवित्र अंश आत्मा हैं, अपने पिता के समान ही श्रेष्ठ उच्च और शक्तिशाली हैं। अपनी महानता का तिरस्कार मत कीजिए वरन् उसे भले प्रकार विश्वासपूर्वक अपने अन्दर धारण कीजिए। राजयोग की छठवीं मंजिल से साधकों को वह आदेश दिया जा रहा है कि—"अपनी श्रेष्ठता स्वीकार करो। विश्वास करो कि हम परमात्मा के पवित्र अंश हैं। अनुभव करो कि हमारे अन्दर योग्यता और शक्ति की कुछ भी कमी नहीं है। भली आदतें, ताकतें और लियाकतें हमारे अन्दर काफी तादाद में हैं उन्हें हम मनचाही मात्रा में बढ़ा सकते हैं, बढ़ा रहे हैं और बढ़ाकर रहेंगे।" यह आदेश जितनी मात्रा में आप ग्रहण कर लेते हैं समझिये कि उतनी ही मात्रा में धारणा का अभ्यास कर लिया।

अभ्यास

(१) प्रतिदिन प्रातःकाल अथवा सायंकाल एकान्त स्थान में शान्त चित्त से नेत्र बन्द करके पद्मासन से बैठिये, शरीर और मन को शिथिल कर दीजिए। सब ओर से चित्त हटाकर एकाग्र कीजिए।

(२) ध्यान मग्न होकर अपने शरीर का स्वरूप इस प्रकार देखिये मानो कोई दूसरा उसे देख रहा हो

अथवा आप स्वयं ही अपने शरीर का प्रतिबिम्ब किसी बड़े दर्पण में देख रहे हों ।

(३) बहुत ध्यानपूर्वक सामने खड़े हुए अपने शरीर का अवलोकन कीजिए । हर एक अंग पर ध्यान जमाइये और उस अंग को स्वस्थ, बलवान, सतेज, अनुभव कीजिए । उनके अन्दर पर्याप्त शक्ति है, पूर्ण स्वस्थता है, रक्त संचार ठीक प्रकार हो रहा है, स्फूर्ति छलकी पड़ रही है, तेज जगमगा रहा है ।

(४) यह भावना हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख, पेट, छाती आदि अंग-प्रत्यंगों में करने के बाद कुछ देर सारे शरीर को एक साथ ध्यान से देखिये और अनुभव कीजिए कि वह सब प्रकार स्वस्थ, सुन्दर, सशक्त एवं सतेज है, एक अच्छे शरीर के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं ।

(५) अब मन का ध्यान कीजिए, मस्तिष्क स्थान में तीव्र बुद्धि, स्मरण शक्ति, चतुरता, ज्ञान, विवेक आदि मस्तिष्क शक्तियों की प्रचुरता का ध्यान कीजिए और हृदय स्थान में सत्य, प्रेम, न्याय, दया, साहस, त्याग, उत्साह, कर्मनिष्ठा आदि सद्गुणों की बाहुल्यता देखिये । मस्तिष्क में बौद्धिक और हृदय में आत्मिक गुणों की अधिकता देखिये ।

(६) प्रतिदिन अधिक सतेज अधिक स्पष्ट और अधिक गहरा ध्यान करने का प्रयत्न कीजिए । शरीर और मन की स्वस्थता एवं सबलता की धारणा ध्यान द्वारा साधन के समय में तथा शेष समय में अधिक से अधिक मात्रा में धारण करना चाहिए ।

(७) ध्यान के साथ-साथ मन ही मन इन मंत्रों का जप करते जाइये ।

—मैं स्वस्थता और सबलता का केन्द्र हूँ ।

—मैं शक्ति और तेज का पुँज हूँ ।

—मैं अपने भाग्य का स्वामी हूँ ।

—मैं पवित्रता और श्रेष्ठता से परिपूर्ण हूँ ।

—मैं सुसम्पन्न शरीर, मस्तिष्क और अन्तःकरण धारण किए हुए हूँ ।

⌘⌘⌘
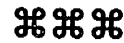
|| ध्यान ||

प्रत्याहार और धारणा के प्रकरण में हमने कुविचारों और कुसंस्कारों को छोड़ने तथा अपनी श्रेष्ठता को स्वीकार करने एवं सद्भावों को धारण करने की शिक्षा दी गई है । हमें आध्यात्मिक शिक्षण के साथ उच्च सात्विक गुणों का विकास करना अभीष्ट है । इसीलिए शिक्षा का तारतम्य उस ढंग से बाँधा गया है । दूसरे लोग जिन्हें दूसरे उद्देश्यों की पूर्ति करनी है इस शिक्षा को दूसरे ढंग से देते हैं । जिस काम में मनोयोग की आवश्यकता है, दिलचस्पी के साथ ध्यानपूर्वक, एकाग्रता के साथ जो भी कार्य करना होगा उसमें प्रत्याहार और धारणा की जरूरत होगी । मान लीजिए कि आपको एक लेख लिखना है, यह कार्य आरम्भ करने के साथ दो प्रकार की तैयारी करनी पड़ेगी । एक तो यह कि उस लेख से असम्बद्ध, असामयिक विचारों का त्याग करना पड़ेगा । यदि नाना प्रकार के संकल्प विकल्प मन में आते रहें, तरह-तरह की उधेड़बुन उत्पन्न होती रहें तो लेख की सामिग्री जुट न सकेगी । इसलिए उस समय अनावश्यक और विघ्नकारक विचारों को बाहर ही रोक देना पड़ेगा । यह प्रत्याहार हुआ । लेख आरम्भ करते हुए उसी तारतम्य की विचारधारा में विचरण करना होगा । उसी प्रसंग की गहराई में उतरकर तदविषयक प्रसंगों को ढूँढ़ना और स्मरण करना होगा । यह स्मरण और अन्वेषण जितना अधिक एवं स्पष्ट होगा उतना ही अच्छा लेख लिखा जा सकेगा । जो लेखक इधर-उधर की बातों को दूर हटाकर अपने विषय में तल्लीन हो जाता है, सारी बुद्धि को उसी में सराबोर कर देता है, उसी की प्रतिभा चमकती है, उसी के लेख ऊँचे दर्जे के होते हैं ।

यही बात उन सब कामों के ऊपर लागू होती है जिनमें ध्यान देने की अधिक आवश्यकता है । जीवन के अधिकांश कार्यों के साथ सोचने-विचारने का बहुत सम्बन्ध रहता है इन सबमें सफलता प्राप्त करने के लिए प्रत्याहार और धारणा की आवश्यकता है । यदि आप नाई हैं और किसी की हजामत बनाते समय जगह-जगह चित्त दौड़ाते हैं, आधे मन से काम करते हैं तो हजामत अच्छी न बनेगी कहीं उस्तरा फिसलेगा कहीं बाल छूटेंगे, किन्तु यदि सारा ध्यान उसी पर लगा दें उसी विषय पर सोचें तो पिछले अनुभव याद हो जावेंगे, तरह-तरह की नई सूझें उत्पन्न होंगी, हजामत बढ़िया बनेगी और अपनी होशियारी दिन-दिन बढ़ती जायेगी । प्रत्याहार और धारणा की ऐसी ही महिमा है । यह कला हर मनुष्य को सीखनी चाहिए चाहे वह कुछ भी काम क्यों न करता हो । चोर भी यदि इनका प्रयोग करे तो अच्छी चोरी कर सकता है । केवल योगियों को ही नहीं भोगियों को भी मनोनिग्रह की आवश्यकता है । अपने-अपने ढंग से वे करते भी हैं क्योंकि इस साधना के बिना किसी भी कार्य में कहने लायक सफलता नहीं मिल सकती ।

योग विद्या द्वारा आत्म-शुद्धि के पथ पर, परम-पद प्राप्ति के मार्ग पर हम अपने पाठकों को अग्रसर कर रहे हैं । इसलिए प्रत्याहार और धारणा की शिक्षा इसी मर्यादा में दे चुके हैं, परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यही एक तरीका है । तथ्य एक है पर उद्देश्य भिन्नता के कारण तरीके अनेक हैं और हो सकते हैं । इसी प्रकार ध्यान भी है । ध्यान भी अनेक प्रकार से होते हैं और हो सकते हैं पर हम अपने पाठकों को उसी आधार का अवलम्बन कर सकते हैं, जो हमें अभीष्ट हैं ।

प्रत्याहार और धारणा से मन इतना संयमित हो जाता है कि उसे नियत विषय पर बिना अधिक कठिनाई के लगाया जा सके । कुम्हार बर्तन से पहले मिट्टी को बड़ी मेहनत के साथ गूँथता है और जब वह लोच पर आ जाती है तब बर्तन बनाना शुरू करता है । मनोनिग्रह का विषय भी ऐसा ही है । प्रत्याहार और धारणा से मन लोच पर आ जाता है तब ध्यान और समाधिकी और आसानी के साथ कदम बढ़ने लगते हैं, राजयोग की सातवीं सीढ़ी 'ध्यान' है । नियत विषय में अधिकाधिक मनोयोग के साथ जुट जाना, तन्मय हो

जाना, सारी सुध-बुध भूलकर उसी में निमग्न हो जाना ध्यान है ।

एक बार गुरु द्रोणाचार्य ने बाण-विद्या सिखाते हुए अपने शिष्यों को एक चिड़िया का निशाना मारने का आदेश दिया । वे यह देखना चाहते थे कि देखें लड़के लक्ष्यवेध में सफलता प्राप्त करने के रहस्य को अभी समझे हैं या नहीं । एक-एक करके सब शिष्यों को बुलाया जाने लगा । लक्ष्यवेध के लिए शिष्य जब बाण खींचता तो गुरु जी पूछते कि—अब तुम्हें क्या-क्या दिखाई पड़ता है ? शिष्य कहते हैं—"पेड़, उसकी टहनियाँ, पत्ते और चिड़िया ।" गुरु उनके धनुष-बाण रखवा लेते और अनुत्तीर्ण ठहरा देते । सभी लड़कों ने प्रायः ऐसे ही उत्तर दिए उन्हें चिड़िया के साथ-साथ दूसरी-दूसरी चीजें भी दिखाई पड़ती थीं । अन्त में अर्जुन की बारी आयी, उसने कहा गुरु जी, चिड़िया की गरदन के सिवाय मुझे और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । गुरु ने कहा—तुम उत्तीर्ण हुए बेटा । अन्य सब शिष्यों को एकत्रित करके द्रोणाचार्य ने समझाया कि—'लक्ष्यवेध का गुप्त रहस्य अपने उद्देश्य में इस प्रकार तन्मय हो जाना है कि लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई न पड़े ।'

द्रोणाचार्य ने जो उपदेश अपने शिष्यों को दिया था, वह हर एक पुरुषार्थी को हृदयंगम कर लेना चाहिए । कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य तब हो सकता है जब करने वाले की उसमें तन्मयता है । संसार में जिन महापुरुषों ने जो महान कार्य किए हैं वे एकाग्रता द्वारा ही हो सके हैं । उन्होंने सदा अपने लक्ष का ध्यान रखा और केवल लक्ष्य का ही ध्यान रखा, तभी वे विघ्न-बाधाओं में टकराते हुए अपने मंजिले-मकसूद तक बढ़े चले गए । डाल-डाल पर उड़ने वाले और पात-पात पर डोलने वाले लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त करके दिखा सकेंगे । छोटे आतिशी-शीशे के द्वारा सूर्य किरणें एक स्थान पर एकत्रित करने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वैसे उतने घेरे की बिखरी हुई किरणें कुछ अधिक गर्मी उत्पन्न नहीं करती । मानसिक शक्तियाँ भी यदि छितरी हुई तथा बिखरी हुई इधर-उधर फैली रहें तो उनसे कुछ अधिक कार्य नहीं हो सकता किन्तु यदि वे एकत्रित हो जायें तो आतिशी-शीशे की तरह अग्नि उत्पन्न कर सकती हैं । अधिक योग्यता वाले लापरवाह की बजाय कम योग्यता वाला सावधान मनुष्य अधिक काम कर सकता है । सारा मनोयोग लगाकर किए हुए कार्य तो सफल होते ही हैं साथ में अपनी योग्यता भी बढ़ती जाती है ।

इन्हीं सब बातों का विचार करते हुए आध्यात्म शिक्षा के अन्तर्गत अनेक प्रकार के ध्यानों का विधान किया गया है । ध्यान से रहित कोई भी साधना नहीं है, सभी साधनाओं में किसी न किसी प्रकार ध्यान करना पड़ता है । साकार, निराकार सभी उपासनाएँ ध्यान से परिपूर्ण हैं । राम, कृष्ण, शिव, हनुमान, दुर्गा, गणेश आदि देवताओं की भक्ति करने वाले उनकी मूर्तियों का ध्यान करते हैं । विराट् स्वरूप की भक्ति करने वाले निखिल ब्रह्माण्डों में चराचर व्यापी परमात्मा का ध्यान करते हैं । अपने-अपने प्रिय इष्ट का ध्यान करने की सब जगह आवश्यकता अनुभव की जाती है । यह इष्ट देवता एक ध्येय प्रतिमाएँ हैं । मनुष्य जैसा बनना चाहता है, उसी आदर्श का एक चित्र बनाकर उसका ध्यान करता रहता है फलस्वरूप वह कीट-भृंग की तरह वैसा ही बन जाता है जैसा कि उसने अपना इष्ट देवता नियत किया था । राजयोग के अन्तर्गत 'ध्यान' की साधना इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है, मनुष्य जो कुछ चाहता है उस आकांक्षा का एक दृश्यचित्र बनाकर उसको मानसिक चेतना के सम्मुख रखने के लिए कहा जाता है ताकि ध्यान करते-करते तदाकार अवस्था प्राप्त होने लगे ।

एक जड़ बुद्धि का व्यक्ति किन्हीं योगी के पास गया और प्रार्थना की कि मुझे योगाभ्यास कराइये । योगी ने उसे श्रीकृष्ण के चित्र का ध्यान करने को कहा । कुछ देर प्रयत्न करने के बाद वह मनुष्य बोला कि गुरुजी यह तो बहुत कठिन है मुझसे श्रीकृष्ण जी का ध्यान नहीं बन पड़ता । तब गुरु ने और भी कई सुगम से ध्यान बताये परन्तु वह हर एक में असफल रहा किसी भी प्रतिमा पर वह चित्त को न जमा सका । तब योगी ने उससे पूछा अच्छा यह बताओ कि तुम्हें सबसे प्रिय वस्तु क्या लगती है ? उसने कहा—मेरी भैंस मुझे सबसे प्यारी लगती है । मुद्दतों मैंने उसे चराया है, बहुत दिनों साथ-साथ रहे हैं, खूब इसका दूध-घी खाया है, अपनी भैंस से अधिक और

कोई वस्तु मुझे प्रिय नहीं है । गुरु जी ने कहा—अच्छा, तब ठीक है तुम उस एकान्त कोठरी में जाकर भैंस का ध्यान करो । वह व्यक्ति भैंस का ध्यान करने लगा । कुछ समय बाद गुरु जी ने पूछा—कहो बच्चा ! क्या हाल है ? उसने कहा—गुरु जी अब मैं भैंस ही हो गया हूँ, मुझे बिल्कुल यही मालूम होता है कि मैं भैंस हूँ । तब गुरु जी ने सन्तोष की साँस ली और कहा—अब तुम्हें ध्यान करना आ गया । पीछे उसे इष्टदेव का ध्यान करके योगाभ्यास सिखाया गया ।

इस कथा के दो निष्कर्ष हैं—एक यह कि प्रिय विषय में ध्यान लगता है, दूसरा यह कि ध्यान करते-करते मनुष्य तदाकार हो जाता है । धारणा द्वारा नियत लक्ष में रुचि उत्पन्न की जाती है उसे भैंस के समान प्रिय बनाया जाता है और ध्यान द्वारा तन्मय होने का प्रयत्न किया जाता है । उपास्य के ढाँचे में उपासक भी ढल जाता है जैसा खिलौना बनाना होता है वैसे ही साँचे में गीली मिट्टी को भर देते हैं, इसी तरह जीवन को जिस प्रकार का बनाना होता है उसी प्रकार का ध्यान साधना करनी होती है । उपास्य और उपासक का घना सम्बन्ध है जो जैसे विचार करता है वह वैसा बन जाता है अथवा यों कहना चाहिए कि जो जैसा बनना चाहता है उसे वैसे विचार करने चाहिए ।

ध्यान का यही अभिप्राय है कि साधक को लक्ष के समीप ला खड़ा किया जाय । हम अपने अनुयायियों को विकास की ओर, उन्नति की ओर प्रोत्साहित करना चाहते हैं इसलिए वैसा ही ध्यान करने की सलाह देंगे । शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्रों में से आपकी जिसमें अधिक दिलचस्पी हो, आपको जिसमें उन्नति करना अधिक इष्ट हो उसका निर्णय कीजिए । जो जिस कक्षा का है उसे अपने विषय में अधिक रुचि होगी, और यह निश्चित है कि रुचिकर विषय में ही भली प्रकार ध्यान जमता है । अपने इष्ट विषय के अनुसार इष्ट देवता नियुक्त कीजिए । शारीरिक उन्नति के लिए हनुमान, मानसिक उन्नति के लिए कृष्ण, या राम, आत्मिक उन्नति के लिए शंकर का इष्ट करना चाहिए । यदि स्त्री शरीर में रुचि है तो बल के लिए दुर्गा, वैभव के लिए लक्ष्मी और ज्ञान के लिए सरस्वती का इष्ट ठीक है । सत, रज, तम तीन गुणों में से जिसकी अपने में प्रधानता होगी उसी के अनुसार इन देवी-देवताओं में से इष्ट का चुनाव रुचेगा ।

इस स्थान पर एक बड़ी भारी गड़बड़ी की गुंजायश है, उससे हम आपको सावधान किए देते हैं । उपरोक्त पंक्तियों में जिन देवताओं को इष्ट नियुक्त करने को कहा गया है उन्हीं के नाम के ऐतिहासिक महापुरुष भी हुए हैं । उनका जो जीवन-चरित्र धार्मिक पुस्तकों में मिलता है, उससे उनमें गुण और दोष दोनों ही प्रकट होते हैं जैसा कि अपूर्ण मनुष्य में प्रायः हुआ करते हैं । उन आदरणीय महापुरुषों का तथा इष्ट देवों का नाम एक ही है इसलिए उन दोनों को जोड़ कर एक कर देने की गलती हो सकती है । जो साधक इस गलती को करते हैं वे उन महापुरुषों के ढाँचे में ढलते हैं, यदि उनमें चोरी, व्यभिचार, विलास, मायाचार आदि दोष रहे होंगे तो वे साधक के भी पल्ले बँधेंगे, इसलिए सावधान किया जाता है कि इष्टदेव, विशुद्ध इष्टदेव हैं । वह एक 'ध्येय प्रतिमा' है, आदर्श की मूर्ति हैं । उसका रज-वीर्य के संयोग से कभी जन्म नहीं हुआ है और न उसका कोई जीवन-चरित्र है ।

जिधर बढ़ना आपको पसन्द हो, शारीरिक उन्नति में बल, मानसिक उन्नति में सम्पदा और आत्मिक उन्नति में ज्ञान प्राप्त होता है । जो अभीष्ट हो उसका आदर्श चित्त के सामने रखने के लिए उसकी 'ध्येय प्रतिमा आदर्श मूर्ति' नियुक्त कर लीजिए बल के लिए हनुमान या दुर्गा, सम्पदा के लिए विष्णु (राम, कृष्ण) या लक्ष्मी, ज्ञान के लिए शंकर (गणेश) या सरस्वती का चुनाव होना चाहिए । इष्टदेव का एक बड़ा-सा सुन्दर चित्र या मूर्ति घर के किसी ऐसे पवित्र स्थान में स्थापित करनी चाहिए जहाँ बार-बार दृष्टि पड़ती रहे । एक समय में एक मनुष्य का एक ही इष्टदेव होना चाहिए ।

वस्तुतः अपने व्यक्तित्व को श्रेष्ठ विचारों का स्नान करा देना ही ध्यान कहलाता है । न जाने हमें क्यों समझ में नहीं आता, कि हमारी समस्त समस्याओं का मूल कारण व्यक्तित्व के गठन में संव्याप्त कमियों में छिपा हुआ है । दुःख, सुख जो भी हमें बहिरंग में अनुभूत होता है, इस व्यक्तित्व में आये बिखराव के कारण ही । व्यक्तित्व को सही ढंग से निखार लेना, उसका सुनियोजन करना जिस दिन मनुष्य को आ जाता

है । उसकी सारी समस्याओं-कष्टों-परेशानियों का अन्त हो जाता है । जीवन जीने की कला के नाम से जिस विधा को पुकारा जाता है, वह यही अध्यात्म-साधना है, जिसकी ध्यान एक क्रिया है ।

ध्यान मात्र एकाग्रता नहीं है । वह तो मात्र इसकी पहली अवस्था है जब व्यक्ति का व्यक्तित्व व्यवस्थित ही नहीं, पूर्णतः प्रकाशित भी होने लगता है—परमात्म चेतना के दिव्य प्रकाश से, तब ध्यान सम्पन्न हुआ माना जाता है । प्रकाशवान व्यक्तित्व का प्रमुख लक्षण है—शान्त विचारशील मन जो सतत श्रेष्ठ विचारों में निमग्न रहता है, आदर्शों के लिए स्व को खपा देने वाला चरित्र तथा सभी से सामंजस्य स्थापित कर लेने वाला व्यवहार ।

ध्यान को भी जनसाधारण ने एक कर्मकाण्ड-सा मान लिया है, कुछ ने विशेष बाह्योपचार समझ लिया है । कर्मकाण्ड यदि हैं तो श्रृंगार मात्र, यदि नहीं है तो भी ध्यान का मर्म समझ में आ जाय तो अनिवार्य भी नहीं । व्यक्तित्व की सुव्यवस्था-आमूलचूल परिष्कार-व्यक्ति को मूर्च्छना से जगाकर उसको आत्म-जागृति की स्थिति में लगाकर व्यक्तित्व के विस्तार की जानकारी कराना ही ध्यान का मूल उद्देश्य है । चाहे यह प्रयोग निराकर परब्रह्म की चेतना से एकाकार होने के रूप में सम्पन्न हो अथवा त्राटक के माध्यम से दीपक की लौ पर ध्यान द्वारा-इष्ट पर केन्द्रित लययोग की साधना द्वारा-नादयोग के माध्यम से, दिव्य ध्वनियों के श्रवण द्वारा अथवा सौर चेतना पर केन्द्रित आत्मचेतना द्वारा-लक्ष्य सभी का एक है आन्तरिक सुव्यवस्था व बहिरंग के साथ सामंजस्य ।

ध्यान धारणा का आधार और प्रतिफल

भूमि का उर्वर और रत्नगर्भा होना सर्वविदित है । आकाश से जल और जीवन बरसने की बात भी सभी जानते हैं । समुद्र के उत्पादनों, अनुदानों का कोई पारावार नहीं । मानवीसत्ता इन सबसे बढ़ कर है । यदि व्यक्तित्व की गुप्त प्रकट परतों को ठीक तरह समझा और सँजोया जा सके तो इस हाड़-माँस की काया में देवताओं और अवतारों की झाँकी हो सकती है । पराक्रम और पुरुषार्थ के आधार पर ही सम्पदाएँ कमाई और सफलताएँ पायी जाती हैं ।

काया का प्रत्येक अवयव अद्भुत है । उसकी संरचना और क्रिया-शक्ति को जितना ही गहराई से देखा जा सकता है, उतना ही उसे रहस्यमय और आश्चर्यजनक पाया जाता है । यह सब अवयवों में मस्तिष्क सर्वोपरि है । उसके चेतन, अचेतन और उच्च चेतन की गतिविधियों को देखने से पता चलता है कि इसका अधिष्ठाता सूत्र संचालक जीवात्मा कितना महान होना चाहिए । लोक-व्यवहार की कुशलता, शिक्षा, अनुभव, कला, शिल्प आदि की अर्थ उपार्जन, यश सम्पादन, सुख-साधन जैसी क्षमताओं से सभी परिचित हैं । फलतः प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति अपनी और अपने स्वजनों की बौद्धिक क्षमता विकसित करने के लिए समुचित प्रयत्न करता है । शरीर सभी के लगभग एक जैसे—मिलते-जुलते हैं । विशेषता मानसिक धरातल की है जो उसे विकसित कर लेते हैं, वे अनेकानेक सफलताएँ पाते हैं जो इस क्षेत्र में पिछड़े रह जाते हैं उन्हें अभावग्रस्त, कष्टसाध्य एवं घटिया स्तर पर गुजारा करना पड़ता है । जीवन की प्रगति अवगति का बहुत कुछ आधार मनुष्य के बौद्धिक स्तर पर निर्भर रहता है ।

यह सचेतन मस्तिष्क की प्रक्रिया हुई । अचेतन के आधार पर अवयवों की आन्तरिक गतिविधियाँ चलती हैं । भली-बुरी आदतें उसी में जड़ें जमाये पड़ी रहती हैं । रुचियों एवं आकांक्षाओं की पटरी जिधर भी मुड़ती है, जीवन की रेल उसी भली-बुरी दिशा में दौड़ती चली जाती है । काय कलेवर का स्वरूप, आकर्षण, उसका पौरुष, कौशल बहुत करके अचेतन मस्तिष्क का निर्माण कौशल होता है । विधि का विज्ञान और भाग्य निर्धारण किन्हीं अज्ञात शक्तियों द्वारा बना कहा जाता है । यह रहस्यमय अज्ञात-व्यक्तित्व का सृष्टा और कोई नहीं, मात्र अचेतन ही है जो मस्तिष्क की गहन कन्दराओं में बैठा जीवन की दिशा धाराओं का निर्धारण-सूत्र संचालन करता रहता है । मस्तिष्क विज्ञान के ज्ञाता कहते हैं कि मनःसंस्थान के रहस्यों का बहुत थोड़ा अंश अभी जाना जा सकता है । ज्ञात की तुलना में अविज्ञात कहीं अधिक विस्तृत है । मस्तिष्कीय क्षमताओं का एक अति स्वल्प भाग ही काम

में आता है, यदि उसकी मूर्च्छाग्रस्त परतें जगाई और काम में लायी जा सकें तो सामान्य दीखने वाली मानवी काया में दैत्याकार शक्ति-सत्ता के दर्शन हो सकते हैं । यदि अचेतन पर नियन्त्रण कर सकना सम्भव हो सके तो उक्ति अक्षरशः सत्य सिद्ध हो सकती है, जिसमें मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं निर्माता कहा गया है ।

चेतन और अचेतन से ऊपर की परत उच्च चेतन (सुपर कांशस) की है । यह ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ अपना सम्पर्क साधती और आदान-प्रदान का द्वार खोलती है । सूक्ष्म-जगत में भरे हुए पदार्थ और चलते हुए प्रवाह अपने इस स्थूल जगत की तुलना में अत्यन्त उच्चकोटि के हैं । उनके साथ आदान-प्रदान का सिलसिला चल पड़े तो मनुष्य उन रहस्यमय जानकारियों से परिचित हो सकता है जो सर्वसाधारण को विदित नहीं, उन दिव्य सहायताओं को प्राप्त कर सकता है । जो सर्वसाधारण को उपलब्ध नहीं स्थूल शक्तियों के सहारे, स्थूल जगत के कुछ पदार्थ साधन ही उपलब्ध हो पाते हैं, पर सूक्ष्म शक्तियों के सहारे सूक्ष्म जगत से ऐसे अनुदान प्राप्त किए जा सकते हैं । जिन्हें देव वरदान की संज्ञा दी जा सके । अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आत्मबल के सहारे कितने ही चमत्कारी व्यक्तित्वों एवं घटना-क्रमों के विवरण देखने-सुनने में आते रहते हैं । यह अपने ही उच्च चेतन मन की विशिष्टता है जो सक्रिय होने पर अलौकिकता का परिचय देती है ।

मस्तिष्कीय नियन्त्रण अति कठिन है । आत्मसत्ता सर्व समर्थ होते हुए भी असहायों, अनाथों, असमर्थों और अभावग्रस्तों जैसा जीवनयापन करती है, इसका सर्व प्रमुख कारण एक ही है । आत्म-नियन्त्रण का अभाव । प्रवृत्तियाँ उच्छृंखल घोड़े की तरह मनमानी उछल-कूद मचाती रहती हैं । जब मनःस्थिति पर ही नियन्त्रण नहीं तो परिस्थितियों पर काबू कैसे पाया जाय ? परिस्थितियों में सुधार तो हर कोई चाहता हैं, पर मनःस्थिति में हेर-फेर करना बन नहीं पड़ता, ऐसी दशा में सुख-शान्ति के मनोरथ अधूरे ही बने रहते हैं । तत्वदर्शी कहते रहे हैं जिसने 'आत्म-विजय कर ली उसने संसार जीत लिया ।' इस उक्ति में इतनी सच्चाई तो है ही कि आत्म-नियन्त्रण कर सकने पर अपने व्यक्तिगत संसार को इच्छानुकूल ढालना, इच्छानुरूप बनाना सम्भव हो जाता है । आत्म-नियन्त्रण का अर्थ है अपने चिन्तन तन्त्र पर अपना अधिकार, अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेना । यह कार्य विचारों की अनियन्त्रित उछल-कूद को इच्छित दिशा धारा में लगा सकने के रूप में सम्पन्न होता है । इसका अभ्यास ध्यानयोग के द्वारा किया जाता है । मन के सामने कुछ स्वरूप कुछ विचार किए जाते हैं और उस पर दबाव डाला जाता है कि वह उसी केन्द्र तक अपनी गतिविधियाँ सीमित रखे । अनियन्त्रित उछल-कूद बन्द करे । यों यह कार्य अति कठिन है, पर सुदृढ़ संकल्प एवं सतत प्रयत्न से इसमें भी धीरे-धीरे सरलता होती और सफलता मिलती जाती है मनोनिग्रह की आदत कभी रही नहीं । मन के पीछे ही अपना व्यक्तित्व घिसटता रहा है । कुसंस्कारी इन आलस्य प्रमाद से लेकर दुर्व्यसनों, दुष्कर्मों और दुष्प्रवृत्तियों में रस लेने का अभ्यस्त रहा है । उसे रोका, सँभाला, साधा गया होता तो कब का सुसंस्कृत बन गया होता और अपनी गणना श्रद्धास्पद सज्जनों में हो चुकी होती । अजस्र सहयोग और सम्मान सब ओर से बरस रहा होता है । मन का अनगढ़पन ही है, जिसने प्रवृत्तियों और गतिविधियों को हेय स्तर का बनाकर पिछड़ेपन की वर्तमान दुर्दशा में पड़े रहने के लिए विवश कर दिया । परिस्थितियों में यदि चिर स्थायी सुधार करना हो तो मनःस्थिति में घुसी हुई विकृतियों का परिमार्जन करना होता है । इस परिमार्जन के लिए अपने ऊपर आप नियन्त्रण स्थापित करने की कला सीखनी होती है । ध्यानयोग का समूचा शास्त्र इसी उद्देश्य के लिए गढ़ा गया है ।

ध्यान में कई उद्देश्य हैं—(१) अनगढ़ दिमागी उछल-कूद को नियन्त्रित करना, (२) नियन्त्रित विचार शक्ति को अभीष्ट प्रयोजन में नियोजित कर सकना, (३) एकाग्रता द्वारा बौद्धिक प्रखरता उत्पन्न करना, (४) संकल्प शक्ति को किसी भी केन्द्र पर केन्द्रित करके वहाँ चमत्कारी हलचलें उत्पन्न करना, (५) चेतना की रहस्यमयी परतों को अपने ही मनोबल से उभारना, उछालना, (६) अवांछनीय कुसंस्कारों का उन्मूलन, (७) सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन, (८) प्रतिकूलताओं के बीच भी सन्तुलन बनाये रहना, (९) हर स्थिति में आनन्द और उल्लास भरी मनोभूमि बनाये रहना,

(१०) अपनी विचार विद्युत से सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करना और वातावरण में सुख-शान्ति सम्वर्धक तत्वों को बढ़ा कर लोक-मंगल का पथ-प्रशस्त करना ।

यह ध्यान धारणा के लौकिक-बौद्धिक प्रयोग हैं । यह लाभ थोड़ी-सी सावधानी एवं तन्मयता के सहारे कोई नास्तिक समझा जाने वाला व्यक्ति भी उठा सकता है । यह ध्यान प्रक्रिया के सामान्य एवं माध्यमिक स्तर का प्रयोग मात्र है, किन्तु आज के बुद्धि एवं तर्क प्रधान व्यक्ति भी इसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं कर सकते । यह लाभ सामान्य श्रद्धा सम्वेदना युक्त व्यक्ति भी प्राप्त कर सकता है ।

इससे आगे ध्यान के उच्चस्तरीय लाभ हैं । उसके लिए विशिष्ट श्रद्धा एवं भाव-सम्वेदनाओं से सम्पन्न अन्तःकरण की आवश्यकता पड़ती है । उसके अन्तर्गत साधक अपनी चेतना को महत् चेतना से जोड़ सकता है । गुरु एवं इष्ट की शक्तियों को आकर्षित करना, उन्हें धारण करना उसी स्तर के ध्यान प्रयोग से सम्भव होता है । आत्मतत्व को परमात्म तत्व से एकाकार करना इसी के सहारे सम्भव होता है । यह बात ठीक है कि मनुष्य में स्वतः ही अद्भुत शक्तियों का भण्डार विद्यमान है और वह उन्हें अपने ही प्रयत्न पुरुषार्थ से जागृत भी कर सकता है । प्राथमिक, माध्यमिक स्तर का ध्यान प्रयोग इसीलिए है । किन्तु उच्चस्तरीय ध्यान प्रयोग में दिव्यात्माओं का प्रत्यक्ष संयोग पा सकना, मनुष्य की सीमित सत्तां से असीमसत्ता का योग-संयोग सम्भव है । ईश्वर प्राप्ति, जीवन-लक्ष्य प्राप्ति, आत्मा का परमात्मा से योग आदि ध्यान धारणा के उच्चस्तरीय उद्देश्य हैं ।

जिस प्रकार शारीरिक, बौद्धिक, आर्थिक, सुसम्पन्नता के सम्वर्धन में अपने-अपने सम्पर्क क्षेत्र की और सार्वजनिक हित साधन की संगठना बढ़ती है, उसी प्रकार मनःसंस्थान के परिष्कृत और प्रखर बनने से भी व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारक परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । स्थूल जगत से हम अनेकों प्रकार के लाभ अपने प्रत्यक्ष पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करते रहते हैं । सूक्ष्म जगत की विभूतियाँ और भी बढ़ी-चढ़ी हैं । उन्हें आकर्षित कर सकना जिस प्रचण्ड मनोबल द्वारा सम्भव होता है । उसे उत्पन्न करने के लिए ध्यान योग की प्रक्रिया अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध होती है । अनियन्त्रित वन्य पशु अपने लिए हानिकारक ही बने रहते हैं, पर जब उन्हें पालतू प्रशिक्षित कर लिया जाता है तो अनेक प्रकार के लाभ देने लगते हैं । ठीक इसी प्रकार अपनी अनेकों क्षमताओं को जब इच्छानुसार नियन्त्रित एवं नियोजित करने की कुशलता हस्तगत हो जाती है तो उतने भर से व्यक्तित्व असाधारण रूप से समर्थ एवं सुसंस्कृत दृष्टिगोचर होने लगता है । बिना किसी दूसरे की सहायता के अपनी ऐसी आन्तरिक प्रगति कर सकना मानवी जीवन की बहुत बड़ी सफलता है । इस उपलब्धि के सहारे कितने प्रकार की, कितनी अधिक मात्रा में सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, इसे देखते हुए ध्यानयोग को किसी चमत्कारी देवता की सुनिश्चित आराधना करने के समतुल्य ही ठहराया जा सकता है ।

ध्यान से भगवान प्राप्त होते हैं, आत्म-साक्षात्कार का अवसर मिलता है, निरोगता और बलिष्ठता का लाभ मिलता है, गुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं, ऋद्धि-सिद्धियों भरे वरदान प्राप्त होते हैं जैसे अनेकों लाभ साधना शास्त्र में गिनाये गए हैं । यह कथन यथार्थ है । चेतना की सामर्थ्य अनन्त है । उसे लाभान्वित होने में एक ही बाधा है कि मनोनिग्रह की कला हस्तगत नहीं होती । जिसने इस कौशल में प्रवीणता प्राप्त कर ली समझना चाहिए कि उसने अनेकों देव-दानव वशवर्ती कर लिए ।

ध्यान धारणा का लक्ष्य और प्रयोजन

ध्यानयोग का प्रधान उद्देश्य मन की उड़ानों को केन्द्रीभूत कर एकाग्रता के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना है । यह एकाग्रता भौतिक क्षेत्र में प्रगति के और आत्मिक क्षेत्र में सिद्धि के साधन जुटाती है । अपने प्रभाव से साधक को विभूतिवान बनाती है ।

इसलिए आत्म-विज्ञान के क्षेत्र में सभी साधनाओं को एकाग्रता का अभ्यास करने के रूप में आरम्भिक कदम बढ़ाने के लिए प्रशिक्षण दिया जाता है । इसके लिए अनेक उपाय, अनेक विधान प्रचलित हैं । उनकी संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है । योगशास्त्र में राजयोग, हठयोग, लययोग, बिन्दुयोग, मन्त्रयोग आदि विशिष्ट हैं । दार्शनिक योगों में ज्ञानयोग, कर्मयोग और

भक्तियोग का निर्धारण है । इनमें से किसी का भी अवलम्बन लिया जाय, आश्रय लिया जाय, एकाग्रता की साधना तो अनिवार्य रूप से करनी होगी । ध्यानयोग का आधार यही है । इसी कल्पवृक्ष पर कामनाएँ पूर्ण करने वाले अनेकानेक मधुर फल लगते हैं ।

इष्टदेव की छवि ध्यान, त्राटक साधना, नाद, श्रवण, खेचरी मुद्रा, बिन्दु केन्द्र, प्रेक्षा ध्यान, भावातीत ध्यान आदि अनेक विधि-विधानों का विभिन्न मंचों से प्रचलन है । दक्षिण मार्गी वैदिक और वाममार्गी तांत्रिक मार्गों में से कोई भी मार्ग या विधान ऐसा नहीं है जिसमें एकाग्रता साधने के लिए अपने-अपने ढंग के विधि-विधान नहीं बताये । ध्यानयोग का प्रारम्भ न कराया जाता हो आगे की साधनाएँ उसके उपरान्त ही आरम्भ होती है । मुख्य द्वार खुल जाने के उपरान्त ही भवन में प्रवेश मिलता है और उसके भीतर बने हुए, कमरों, कोठों, दालानों, तलघरों में जा सकना सम्भव होता है । जब तक ध्यान की एकाग्रता न सधे तब तक अन्तर्जगत के प्रवेश के लिए प्रतीक्षापूर्वक ठहरना पड़ता है । ताकि ध्यान धारणा को अपने स्वाभाविक क्रम में विकसित एवं परिपक्व होने का अवसर मिल जाय । इस प्रसंग में हथेली पर सरसों नहीं बैठती । मन सहज काबू में नहीं आता । रीछ, बन्दर पालने वाले जानते हैं, उन अनगढ़ प्राणियों को कलाकारों जैसी भूमिका निभाने के लिए प्रशिक्षित करना कितना कठिन होता है, फिर मन तो पूरा उस्ताद है । वह चकमा देना भली-भाँति जानता है । बिठाया ध्यान के लिए, जाय पर वह सैर गली-कूचों की करता है और आकाश, पाताल की खबर लाता है । इस स्थिति में धैर्य और प्रयत्नपूर्वक स्थिर रहने का अभ्यास कराना पड़ता है । विचारों की शक्ति बड़ी है, संकल्प की क्षमता असीम है । यदि उसे दृढ़तापूर्वक करते रहा जाय तो मनोनिग्रह जैसे कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं ।

एकाग्रता साधने के अनेक उपाय तथा उपचार हैं । उन्हें योगाभ्यास से भी किया जाता है और बिना योगाभ्यास के सामान्य कला-कौशलों में भी नट, बाजीगरों की समस्त कलाएँ एकाग्रता पर निर्भर हैं । मुनीम, वैज्ञानिक साहित्यकार, जेबकट सभी अपने कौशल में यथासम्भव इसी विशेषता का प्रयोग करते हैं । योगाभ्यास स्तर की ध्यान धारणाओं से भी मन सध जाता है । अनेकों क्षेत्रों में भाग दौड़ करने की अपेक्षा एक निश्चित प्रसंग पर लगने लगता है । यह तो प्रथम चरण है जैसा कि छोटे बालक का घुटने के बल चलने की अपेक्षा उसका पैरों पर खड़े होना और चलने के लिए ठुमकना । पौरुष तो तब आरम्भ होता है जब मनुष्य बड़ा होकर समझदार बनता और उपयोगी कार्यों में संलग्न होता है । घिसटने के स्थान पर ठुमकना सफलता तो है उसे प्रगति भी कह सकते हैं पर यह ऐसी प्रगति नहीं है जिस पर सन्तोष या गर्व किया जा सके ।

ध्यान धारणा की क्रिया में कई लोग अभ्यस्त हो जाते हैं । मन को भागदौड़ करने के स्थान पर एक खूँटे से बँधा रहने पर बाधित कर देते हैं । यह इस बात का प्रमाण है कि साधक ने अभीष्ट दिशा में तत्परतापूर्वक प्रयत्न किया है और मानसिक उछल-कूद को प्रतिबन्धित अनुशासित कर दिया है । पर देखना यह है कि बच्चे को खेल-खिलवाड़ करने से रोक कर घर में बैठे रहने के लिए ही बाधित किया गया या उससे पढ़ने-लिखने जैसे किसी काम में भी लगाया गया । अनुबद्धता की उपयोगिता तभी है जब दौड़ धूप से बचाये गए समय का कोई श्रेष्ठ उपयोग होने लगे, अन्यथा आकाश में उड़ने वाले तोते को पिंजड़े में कैद कर देने जैसी बात हुई । अपना मनोरंजन भले ही हुआ हो, पर तोते की स्वाभाविक प्रवृत्ति रोक देने पर उसे तो व्यथा ही हुई । पिंजड़े की खिड़की जब खुली रह जाती है तो तोता अवसर पाते ही उड़ जाता है और फिर उस कैद खाने में बन्द होने के लिए स्वेच्छापूर्वक नहीं लौटाता । चंचल मन का भी यही प्रयास रहता है कि दबाव देकर एकाग्र किए जाने की प्रक्रिया जब ढीली पड़े तो उड़ने के प्रयत्न में लगने और मनमानी करने की पुरानी आदतें प्रबल होंगी ।

एकाग्रता साधने के साथ ही यह निश्चय भी करना चाहिए कि इस उपलब्धि का प्रयोग किस काम में किया जायेगा । हाथी पर अंकुश घोड़े पर लगाम, ऊँट पर नकेल, बैल पर नाथ का दबाव इसलिए डाला जाता है कि उसे इच्छित दिशा में चलाया जाय । उससे उपयोगी काम लिया जाय । यदि ऐसा कुछ न करना हो तो फिर बँधनों में प्राणी को बाधित करना बेकार है ।

धन का उद्देश्य संयम साधना होना चाहिए । एकाग्र मन से अपने गुण, कर्म स्वभाव में घुसे हुए दोष दुर्गुणों को ढूँढ़ा जाना चाहिए और इसके बाद जहाँ भी गन्दगी दिखाई पड़े उसे बुहारना चाहिए । टूट-फूट की मरम्मत करनी चाहिए । बिगाड़-सुधार में परिवर्तित करना ध्यान धारणा द्वारा उत्पादित सूक्ष्म-बुद्धि का प्रधान कार्य है । मनुष्य देवत्व की प्रतिमा है । उसकी अन्तराल में समाहित विशिष्टता इसी कुसंस्कारी कूड़े-करकट के नीचे दबी पड़ी रहती है । उसे स्वच्छ किया जा सके और सद्गुणों को अलंकार उपकरणों से सुसज्जित किया जा सके तो समझना चाहिए कि नया देवजन्म धारण किया । मनुष्य मूर्खताएँ करता है तो पशु कहलाता है और जब भ्रष्ट चिन्तन दुष्ट आचरण अपनाता है तो उसे पिशाच कहते हैं । यह दोनों ही लानतें अधिकांश मनुष्यों पर लदी होती हैं । वे अपने दोष दुर्गुणों को समझ तक नहीं पाते और न यह विदित होता है कि हेय को हटा कर उसके स्थान पर श्रेय की स्थापना कैसे की जाय ? ध्यान धारणा का दूसरा चरण यही है कि आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का प्रयत्न किया जाय । व्यक्तित्व को सदगुणों के ऐसे अलंकारों से सजाया जाय कि उसकी शोभा सुषमा देखते ही बने । दुर्गुणी व्यक्ति कोयले के समान जलावन मात्र बनकर रहता है पर यदि उसकी परिणति हीरे के रूप में हो सके तो समझना चाहिए कि उसका मूल्य और सम्मान बढ़ गया ।

यह कार्य अन्तर्मुखी होने से हो सकता है । ध्यान पूर्वक उसकी कड़ी समीक्षा की जाय । मानवी गरिमा की कसौटी पर कसकर अपने आपके हर पक्ष का देखा जाय, तो वे छिद्र सहज ही बन्द किए जा सकते हैं जिनमें होकर बहुमूल्य जीवन तत्व टपकता है बिखरता रहता है । सज्जनता अर्जित करने के लिए कुछ विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है । दुर्गुणों को पहचाना और हटाया जा सके तो फिर रिक्तता को भरने के लिए सद्गुणों की सेना दौड़ पड़ती है और व्यक्तित्व को प्रामाणिक और प्रखर बना कर रहती है ।

ध्यान धारणा का तीसरा चरण वह है जिसमें हाथ में हुए कामों को समूची तत्परता और तन्यमता के साथ किया जाता है । काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न माना जाय और उसे पूरे मनोयोग के साथ रुचिपूर्वक किया जाय । काम में रस लिया जाय तो उसकी मिठास अनुपम होती है । कर्तव्यपालन वह गुरुता है जिसे करते रहने पर हर घड़ी सन्तोष और आनन्द उपलब्ध होता रहता है । परिणाम की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती ।

मन को निग्रहीत करना उत्तम तो है पर समग्र नहीं उसका समुचित लाभ तभी मिलता है । जब मानसिक चेतना को उच्चस्तरीय प्रयोजनों में नियोजित करने का निश्चय कर लिया जाय ।

ध्यान साधना का प्रथम चरण बिखराव का एकीकरण

मानवी मस्तिष्क असीम शक्तियों का भण्डार है, पर कठिनाई एक ही है कि उनमें बिखराव बने रहने और एक स्थान पर केन्द्रित न हो पाने से अभीष्ट लाभ नहीं मिल पाता । यदि उन्हें एकाग्र किया जा सके तो सामान्य व्यक्ति भी असामान्य मस्तिष्कीय शक्ति का स्वामी बन सकता और उसके सहारे आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है । बिखरी हुई सूर्य की किरणें गर्मी और ताप का सामान्य प्रयोजन मात्र ही पूरा कर पाती हैं । आतिशी-शीशे द्वारा एक छोटे से केन्द्र पर वे एकत्रित की जा सकें तो मात्र दो इन्च घेरे की धूप में से ही अग्नि प्रकट होकर दावानल का स्वरूप ग्रहण कर सकती है । मस्तिष्क की क्षमताओं के विषय में भी यही बात है । उन्हें एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जा सके तो सामान्य मस्तिष्क भी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दे सकने में सक्षम है ।

शक्ति को उपलब्ध कर लेना बड़ी बात नहीं, उसे बिखरावजन्य हानि एवं अपव्यय की बर्बादी से बचाया जाना चाहिए । शक्ति का समुचित लाभ तभी मिल पाता है जब कि उसे संग्रहीत करने और सत्प्रयोजनों में लगाने की बात बने । धूप एवं गर्मी के प्रभाव से समुद्र, तालाबों, नदियों का पानी भाप बनकर उड़ता रहता है, किन्तु रेल इन्जन में थोड़ा-सा पानी ही भाप बनकर शक्तिशाली बन जाता है । उसे हवा में उड़ने से बचाकर एक टंकी में एकत्रित कर लिया जाता है फिर उसका शक्ति प्रवाह एक छोटे से छेद से होकर पिस्टन तक पहुँचा दिया जाता है । मात्र इतने से

रेलगाड़ी का भारी इन्जन अपने साथ सैकड़ों टन वजन लेकर तीव्र गति से दौड़ने लगता है । ढेरों बारूद यदि जमीन पर फैला दी जाय और उसमें माचिस से आग लगा दी जाय तो वह मात्र थोड़ी ही चमक और आवाज के साथ तुरन्त जल जायेगी, पर जब उसे ही किसी बन्दूक की छोटी-सी नली के भीतर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर दिया जाय और बन्दूक का घोड़ा दबा दिया जाय तो एक तोले से भी कम बारूद की मात्रा गजब ढाती दिखाई पड़ने लगती है । अपने साथ प्रचण्ड गति से लोहे की गोली और छर्रों को भी घसीटती ले जाती है और जहाँ टकराती है ध्वंस पैदा कर देती है । बिखरी हुई बारूद की निरर्थकता और उसकी संग्रहीत शक्ति को एक दिशा विशेष में प्रयुक्त किए जाने की सार्थकता में कितना अन्तर होता है, इसे सहज ही देखा और समझा जा सकता है ।

बाँधों में पानी भरा रहता है पर जब उसे एक छोटे से छेद से होकर गुजारा जाता है तो पानी के दबाव से उस धारा की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है । इस धारा में असाधारण शक्ति हो जाती है । धारा के प्रहार से कितने ही शक्तिशाली टर्बाइन्स घुमाये जाते हैं और उनके घूमते ही कितने ही प्रकार के यन्त्र चलने लगते हैं । बड़े-बड़े बिजलीघरों का निर्माण जलाशय के बाँधों पर ही होता है तथा उसी भौतिक सिद्धान्त के आधार पर विपुल परिमाण में विद्युत उत्पन्न की जाती है । छोटे-छोटे जल-प्रपातों में भी पनचक्की जैसी मशीनें चलाई जाती हैं । यह एकाग्रता की शक्ति का ही परिणाम है कि फैले हुए विशाल क्षेत्र को छोटा कर देने से सहज ही उसकी प्रखरता बढ़ जाती है । किसी मोटे लोहे को किसी कड़ी वस्तु में धँसाया जाय तो इसमें भारी कठिनाई होगी, पर यदि उसकी नोंक पतली पर दी जाय तो साधारण दबाव से भी वह गहराई तक धँसता चला जायेगा । मोटे तारों एवं सुई की नोंक का अन्तर सहज ही देखा और अनुभव किया जा सकता है, तार को कागज अथवा कपड़ों की तह में ठूँसना कठिन पड़ता है जबकि पतली नोंक वाली सुई उनके भीतर सरलता से प्रवेश करती चली जाती है । पत्थर, लोहा, लकड़ी जैसे कड़े पदार्थों में छेद करने के लिए नोंकदार बरमे का प्रयोग होता है । जमीन की गहरी खुदाई करके बहुमूल्य खनिज सम्पदाएँ प्राप्त कर पाना नोंकदार बरमे के सहारे ही सम्भव हो पाता है ।

स्थूल भौतिक शक्तियों की तरह सूक्ष्म शक्तियों का लाभ भी तभी मिल पाता है जब उन्हें एकत्रित करके दिशा विशेष में लगा दिया जाय । मस्तिष्क एक सशक्त बिजलीघर है । इसमें से निरन्तर प्रचण्ड विद्युत प्रवाह उत्पन्न होता है । उसके शक्तिशाली विद्युत कम्पन्न ऐसे ही अनन्त आकाश में उड़ते-बिखरते एवं नष्ट होते रहते हैं । यदि उस प्रवाह को केन्द्रित करके किसी विशेष लक्ष्य पर नियोजित किया जा सके तो चमत्कारी परिणाम निकल सकते हैं । ध्यानयोग की साधना में उसी एकाग्रता सम्पादन का अभ्यास किया जाता है । विचारों के एक लक्ष्य विशेष पर केन्द्रीकरण में सफलता तभी मिलती है जबकि चेतना का मस्तिष्कीय हलचलों पर नियन्त्रण सध जाय । ध्यान एक ऐसा व्यायाम है जिसके द्वारा विचारों पर नियन्त्रण करना सम्भव होता है । इसके अनेकों उपयोग हैं जिनमें से एक यह है कि मन में आवेशों, उत्तेजनाओं, भावुकताओं का अवांछनीय उभार जब भी उठे तब उसे रोककर प्रवाह को दूसरी दिशा में उलट सकना सम्भव किया जाय । सामान्यतः अनगढ़ मन मनुष्य को कहीं भी घसीट ले जाता है और कुछ भी करा लेता है किन्तु सुसंस्कृत एवं नियन्त्रित मन अन्तःकरण का निर्देश एवं अनुशासन मानता है तथा उसका निर्देश मिलते ही अपनी हलचलें निर्देशित दिशा में मोड़ लेता है । ऐसी दशा में मस्तिष्कीय तन्त्र रचनात्मक उपयोगी और विवेकपूर्ण कार्य ही करता है । अवांछनीयता के प्रवाह में वह नहीं बहेगा । विचारों की सामर्थ्य को भटकाव से रोककर एक निश्चित लक्ष्य की ओर नियोजित कर देना ध्यानयोग साधना की एक सफल एवं विलक्षण परिणति है ।

सर्वविदित है कि शोक क्रोध, व्यामोह, ईर्ष्या चिन्ता, भय, निराशा आदि मानसिक विक्षोभ निषेधात्मक विचारों की प्रतिक्रिया मात्र है । जिनके कारण जीवन की सरसता और आनन्द नष्ट हो जाते हैं और पग-पग पर जलने-झुलसने जैसा कष्ट सहना पड़ता है । ध्यान द्वारा विचारों को पकड़ने और एक दिशा से हटाकर दूसरे उपयोगी कार्यों में नियोजित करने की क्षमता उत्पन्न होती है । यदि कोई व्यक्ति अपने प्रचण्ड

मनोबल के सहारे आवेगों को यशवर्ती करने में समर्थ हो जाय तथा चिन्तन की धारा को सृजनात्मक दिशा में नियोजित कर लेने की विशेषता प्राप्त कर ले तो समझना चाहिए अपने स्वयं के भव बन्धनों को काटने का एक सशक्त आधार बन गया । सभी जानते हैं कि सफलताओं में साधनों की कमी अथवा परिस्थितियों की प्रतिकूलता उतनी बाधक नहीं होती जितनी कि चित्त की चंचलता और मन की अस्त-व्यस्तता । इन दोनों अवरोधों को दूर करने में ध्यानयोग की प्रक्रिया विशेषरूप से सहायक सिद्ध होती है । ध्यान का लक्ष्य होता है चंचल चित्त को मजबूत रस्सों से कसकर नियत प्रयोजन में लगा देने की दक्षता प्राप्त कर लेना । इसी को आध्यात्मिक भाषा में मनोनिग्रह के रूप में सम्बोधित किया गया है । योग शास्त्रों में मनोनिग्रह का असाधारण महत्त्व बताया गया है । निग्रहीत मन को कल्पवृक्ष कहा गया है तथा उसकी चमत्कारी उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक वर्णन शास्त्रों में मिलता है ।

निग्रहीत मन ही प्रचण्ड संकल्पशक्ति के उभार का कारण बनता है । मन की अस्त-व्यस्तता रुकने एवं एकाग्रता बढ़ने से संकल्प शक्ति अभिवर्धित और परिपक्व होती है । संकल्प बल को ही आत्मबल कहा गया है । इसी विद्युत धारा को अन्तरंग को प्रसुप्त क्षमताओं के ऊपर फेंका जाता है और उन्हें जागृत किया जाता है । मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों में एक से एक अद्भुत शक्ति संस्थान छिपे पड़े हैं । इन्हें ढूँढ़ निकालना और परिष्कृत कर सकना, संकल्प शक्ति के सहारे ही सम्भव हो पाता है । जन्मजात तो मनुष्य की उतनी ही क्षमताएँ जागृत रहती हैं, जिससे पेट और प्रजनन का सामान्य निर्वाहक्रम सरलतापूर्वक चलता रह सके । शेष दिव्य क्षमताओं का भण्डार प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है ।

व्यायामशाला में जाकर शरीर बल उपार्जित किया जाता है और फिर उससे निरोग काया तथा दीर्घ जीवन के अनेकों लाभ प्राप्त किए जाते हैं ठीक इसी प्रकार ध्यान की मानसिक व्यायाम प्रक्रिया से संकल्प शक्ति प्रखर एवं परिपक्व होती है और उससे चेतना की विशिष्टता का परिचय देने वाले अनेकानेक सत्परिणाम सामने आते हैं । जीवन को समृद्धियों एवं विभूतियों से सुख सम्पदा—शान्ति सन्तोष से, वैभव वर्चस्व से भर देने वाले अवसर जिस आधार पर मिलते हैं उनमें शरीर बल से भी बढ़कर संकल्प बल का स्थान है । इस महान उपलब्धि को करतलगत करने में ध्यान साधना से बढ़कर और कोई दूसरा सरल एवं सफल उपाय नहीं है । धान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के सातवें खण्ड में ध्यानयोग की महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन है । ध्यान-योग को उपासना की उच्च कक्षा माना गया है । नामोच्चार से बढ़कर वाक्, वाक् से बड़ा मन, मन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण संकल्प और संकल्प से भी अधिक बलवान चित्त को कहा गया है । चित्त से भी बढ़कर सामर्थ्यवान ध्यान को बताया गया है । नाम-जप, वाक् संयम, मनोनिग्रह, संकल्पोद्भव, चित्त निरोध ये सभी उपासना के क्रमिक सोपान हैं । ध्यान इन सबके ऊपर है ।

ध्यान का आरम्भ विचारों पर नियन्त्रण और उनके सुनियोजन से किया जाता है । पर ध्यान की पूर्णता परमात्म सत्ता के साथ आत्म सत्ता को जोड़ देने पर ही निर्भर है । इस योग साधन से उच्चस्तरीय अध्यात्म चुम्बकत्व की उत्पत्ति होती है । यह चुम्बकत्व चमत्कारी भूमिका सम्पन्न करता है । अनन्त अन्तरिक्ष में—दिव्य लोकों में विद्यमान दिव्य चेतना के विभिन्न घटकों को, देवताओं को अपनी ओर आकर्षित कर सकना इस चुम्बकत्व द्वारा ही सम्भव हो पाता है । साकार एवं निराकार ध्यानों में परमात्मा को प्रतीक मानकर उसके साथ एकत्व स्थापित करने का प्रयास किया जाता है । आरम्भ में तो यह मात्र कल्पना ही रहती है, पर पीछे उसके साथ सघन आत्मीयता जुड़ते जाने की भक्ति भावना बढ़ने लगती है और एकाग्रता के अभ्यास में सरसता की अनुभूति होती है । पीछे यही सरसता दिव्य आनन्द की अनुभूति कराती है और आगे चलकर दीप-पतंग जैसी, दूध-पानी जैसी, आग-ईंधन जैसी, नदी-नाले जैसी, पति-पत्नी जैसी एकता की—अद्वैत की अनुभूति कराती है । इस स्तर पर साधना में पहुँचे हुए साधक को अहम् ब्रह्मास्मि का—तत्त्वमसि का—शिवोऽहम्—सच्चिदानन्दोहम् का आभास ही नहीं अनुभूति भी होने लगती है । यही एकात्म भाव है जहाँ पहुँचने पर भक्त भगवान एक हो जाते हैं ।

आग के गुण समीपवर्ती ईंधन में उत्पन्न हो जाते हैं । बिजली की धारा का स्पर्श होते ही विद्युत एक घटक से दूसरे घटक में दौड़ने लगती है । भगवान की समीपता का अभ्यास ध्यान धारणा के माध्यम से किया जाता है । आस्था और अनुभूति के स्तर पर

पहुँची हुई कल्पना अथवा भावना अन्ततः यथार्थता की स्थिति तक जा पहुँचती है । ध्यान की यह चरम परिणति है जिसमें साधक को जीव ब्रह्म की एकरूपता की प्रत्यक्ष अनुभूति अपने अन्तःकरण में होने लगे । अनुभूति ही नहीं साधक में यह विशेषताएँ भी परिलक्षित होने लगती हैं जिन्हें दैवी स्तर का कहा जा सके । उसमें ऋद्धि-सिद्धियों की चमत्कारों की-झलक देखी जा सकती है ।

ध्यान की सामान्य साधनाओं में ज्योति अवतरण की धारणा का और उच्चस्तरीय विशिष्ट साधनाओं में त्राटक का अभ्यास किया जाता है । त्राटक साधना भी विभिन्न माध्यमों से की जाती है । बिन्दु त्राटक, दीपक त्राटक, सूर्य त्राटक आदि का अभ्यास मनःस्थिति के अनुरूप अपनाया जाता है । त्राटक की क्रिया तो सामान्य होती है, पर उसके साथ जुड़ी हुई कल्पनाओं एवं भावनाओं का अधिक महत्त्व होता है । उन्हें ही अधिक बलिष्ठ और परिपक्व बनाने का प्रयास किया जाता है ।

यह बात भली-भाँति हृदयंगम कर लेना चाहिए कि दीपक और सूर्य जड़ हैं उनमें चेतना भावना का अभाव है इसलिए मात्र उनके प्रकाश का ध्यान करते रहने से ध्यान का लक्ष्य पूरा नहीं होता । चैतन्य सविता ही उपास्य है । उसी सद्‌भावनाओं, सत्प्रेरणाओं और विभूतियों का भाण्डागार सन्निहित है । सूर्य त्राटक करते समय अन्तरिक्ष से दिव्य चेतना की वर्षा होने का ध्यान करते रहना चाहिए । दीपक त्राटक में भी यही भाव-भूमिका सम्पन्न करनी पड़ती है । कहना न होगा कि त्राटक में प्रकाश दर्शन के साथ-साथ अन्तःक्षेत्र में दिव्य प्रेरणाओं के अवतरण की बात जितनी गहरी श्रद्धा के साथ हृदयंगम की जायेगी, ध्यान का लक्ष्य उतनी ही मात्रा में पूरा होता चलेगा ।

एकाग्रता की शक्ति और उसका सुनियोजन

शक्ति को उपलब्ध करना बड़ी बात नहीं, उसे बिखराव की निरर्थक एवं अपव्यय की अनर्थ मूलक बर्बादी से भी बचाया जाना चाहिए । शक्ति की उपलब्धि का लाभ तभी मिलता है जब उसे संग्रहीत रखने और सत्प्रयोजन में लगाने की व्यवस्था बन पड़े ।

धूप, गर्मी से ढेरों पानी समुद्र, तालाबों में से भाप बनकर उड़ता रहता है चूल्हों से कितनी ही भाप उत्पन्न होती है और उमड़ती है उसका कोई उपयोग नहीं । किन्तु इन्जन में थोड़ा-सा पानी भाप बनाया जाता है । उस भाप को हवा में उड़ जाने से बचाकर एक टंकी में एकत्रित किया जाता है और फिर उसका शक्ति प्रवाह एक छोटे छेद में होकर पिस्टन तक पहुँचा दिया जाता है । इतने मात्र से रेलगाड़ी का इन्जन चलने लगता है । चलता ही नहीं दौड़ता भी है । उसकी दौड़ इतनी सामर्थ्ययुक्त होती है कि अपने साथ-साथ बहुत भारी लदी हुई रेलगाड़ी के दर्जनों डिब्बे घसीटता चला जाता है ।

सेरों बारूद यदि जमीन पर फैलाकर माचिस से जलाई जाय तो थोड़ी-सी चमक दिखाकर भक् से जल जायेगी । उसका कुछ भी उपयोगी परिणाम न निकलेगा न कोई आवाज होगी । किन्तु यदि उसे बन्दूक की छोटी-सी नली के भीतर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर दिया जाय और घोड़ा दबाकर नन्हीं सी चिंगारी से स्पर्श कराया जाय तो वह एक तोले से भी कम वजन की बारूद गजब ढाती है । सनसनाती हुई एक दिशा-विशेष की ओर प्रचण्ड गति से दौड़ती है । अपने साथ लोहे की गोली और छर्रों को भी घसीटती ले जाती है और जहाँ टकराती है, वहाँ सफाया उड़ा देती है । बिखरी हुई बारूद की निरर्थकता और उसकी संग्रहीत शक्ति को दिशा विशेष में प्रयुक्त किए जाने की सार्थकता में कितना अन्तर होता है इसे सहज ही समझा जा सकता है ।

सूर्य की किरणें सुविस्तृत क्षेत्र में बिखरी पड़ी रहती हैं । रोज ही सूर्य निकलता और अस्त होता है । धूप थोड़ी-सी गर्मी रोशनी पैदा करने जितना ही काम कर पाती है, पर यदि उन किरणों के एक-दो इन्च के बिखराव को आतिशी-शीशे द्वारा केन्द्र पर केन्द्रित कर लिया जाय तो देखते-देखते आग जलने लगेगी और उसे किसी बड़े जंगल में डाल दिया जाय तो दावानल बनकर भयंकर विनाश लीला प्रस्तुत कर सकती है ।

स्थूल शक्तियों की तरह सूक्ष्म शक्तियों का लाभ भी उन्हें एकत्रित करके किसी दिशा विशेष में लगा देने से ही सम्भव हो सकता है । मस्तिष्क एक सशक्त

बिजलीघर है । इसमें निरन्तर प्रचण्ड विद्युत प्रवाह उत्पन्न होता है और उनके शक्तिशाली कम्पन्न ऐसे ही अनन्त आकाश में उड़ते, बिखरते नष्ट होते रहते हैं । यदि इस प्रवाह को केन्द्रित करके किसी विशेष लक्ष्य पर नियोजित किया जा सके तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम हो सकते हैं । एकाग्रता की चमत्कारी शक्ति कहीं भी देखी जा सकती है । सरकस में एक से बढ़कर एक आश्चर्यजनक खेल होते हैं । उनमें शारीरिक शक्ति का उपयोग कम और एकाग्रता का अधिक होता है । एक पहिये की साईकिल-एक तार पर चलना, एक झूले से दूसरे झूले पर उछल जाना, तश्तरियाँ एक हाथ से तेजी से लगातार उछालना और दूसरे से पकड़ना जैसे खेलों में एकाग्रतापूर्वक कुछ अंगों को सधा लेने का अभ्यास ही कौतूहल उत्पन्न करता है ।

द्रौपदी स्वयंवर में चक्र पर चढ़ी नकली मछली की तीर से आँख भर वेध देना विजेता होने की शर्त थी । द्रोणाचार्य उसका पूर्व अभ्यास अपने शिष्यों को करा रहे थे । निशाने पर तीर छोड़ने से पूर्व वे छात्रों से पूछते तुम्हें क्या दीखता है ? शिष्यगण मछली के आसपास का क्षेत्र तथा उसका पूरा शरीर दीखने की बात कहते । द्रोणाचार्य उनकी असफलता पहले से ही घोषित कर देते थे । जब अर्जुन की बारी आयी तो उसने प्रश्न के उत्तर में कहा—मुझे मात्र मछली की आँख दीखती है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं । गुरुदेव ने उसके सफल होने की पूर्व घोषणा कर दी और सचमुच वही स्वयंवर में मत्स्य वेध की शर्त पूरी करके द्रौपदी-विवाह का अधिकारी बन सका ।

एकाग्रता की शक्ति असाधारण है । भौतिक प्रयोजनों में उसका चमत्कारी उपयोग नित्य ही देखा जाता है । बहीखाता सही रखने और मीजान ठीक जोड़ने में एकाग्रता के अभ्यासी ही सफल होते हैं—अन्यथा सुशिक्षितों से भी पन्ने पर भूल होने और काट-फाँस करने की कठिनाई उत्पन्न होती रहती है । वैज्ञानिकों की यही विशेषता है कि वे अपने विषय में तन्मय हो जाते हैं और विचार समुद्र में गहरे गोते लगाकर नई-नई खोजों के रत्न ढूँढ़ लाते हैं ।

लोकमान्य तिलक के जीवन का एक संस्मरण प्रसिद्ध है कि उनके अँगूठे का ऑपरेशन होना था । डॉक्टर ने दवा सुँघाकर बेहोश करने का प्रस्ताव रखा तो उन्होंने कहा—'मैं गीता के प्रगाढ़ अध्ययन में लगता हूँ आप बेखटके ऑपरेशन कर लो ।' डॉक्टर को तब बहुत आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने बिना हिले-डुले शान्तिपूर्वक ऑपरेशन करा लिया । पूछने पर तिलक ने इतना ही कहा-तन्मयता इतनी प्रगाढ़ थी जिसमें ऑपरेशन की ओर ध्यान ही नहीं गया और दर्द भी नहीं हुआ ।

बिखराव को रोकने की—उपलब्ध शक्ति को संग्रहीत रखकर अभीष्ट प्रयोजन में प्रयुक्त कर सकने की कुशलता को आध्यात्मिक एकाग्रता कहते हैं । अध्यात्म शास्त्र में मनोनिग्रह अथवा चित्त-निरोध इसी को कहते हैं । 'मेडीटेशन' की योग प्रक्रिया में बहुत चर्चा होती है । इसे एकाग्र हो सकने की कुशलता भर ही समझना चाहिए । सुनने, समझने में यह सफलता नगण्य जैसी मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह बहुत ही बड़ी बात है । इस प्रयोग में प्रवीण होने पर मनुष्य अपनी बिखरी चेतना को एकत्रित करके किसी एक कार्य में लगा देने पर जादू जैसी सफलताएँ—उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है ।

बाँधों में पानी भरा रहता है, पर जब उसे एक छोटे छेद में होकर निकाला जाता है तो पानी के दबाव से वह धारा बड़ी तेजी से निकलती है । इस धारा में असाधारण शक्ति होती है, उसके प्रहार से अमुक मशीनों के पहिये घुमाने जाते हैं और उनके घूमते ही कई प्रकार के यन्त्र चलने लगते हैं । बड़े-बड़े बिजलीघरों का निर्माण बँधे हुए जलाशय बाँधों पर ही होता है । इन्जन या मोटर चलाकर बिजली पैदा करना महँगा होता है । पर बाँध के सहारे तो यह उत्पादन काफी सस्ता पड़ता है । छोटे-छोटे जल-प्रपातों से भी पनचक्की जैसी उपयोगी मशीनें चल पड़ती हैं । यह जल-धारा की—झरनों की नहीं एकाग्रता की शक्ति है । फैले क्षेत्र को छोटा कर देने से सहज ही उसकी प्रखरता बढ़ जाती है ।

जमीन देखने में मिट्टी, धूल की निरर्थक-सी वस्तु प्रतीत होती है, पर यह उसकी ऊपरी परत का ही मूल्यांकन है । उसे खोदने पर एक से एक बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती चली जाती हैं । थोड़ा खोदने पर पानी निकल आता है । उससे दैनिक उपयोग के सारे काम चलते हैं । पेड़-पौधों की सिंचाई तथा कल-कारखाने चलते हैं । इससे गहरे उतरने पर अनेक रासायनिक

पदार्थ, धातुएँ, रत्न, गैस, तेल जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ हाथ लगती हैं । स्मरण रखा जाना चाहिए कि यह गहरी खुदाई नोंकदार बरमे ही कर सकते हैं । एकाग्रता को कई शक्तियों का एकीकरण कह सकते हैं । इससे अन्तः क्षेत्र में छिपी हुई विभूतियाँ और बाह्य क्षेत्र में फैली हुई सम्पत्तियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो सकती हैं और सामान्य-सा जीवन असामान्य विशेषताओं और तज्जनित सफलताओं से भरा-पूरा दृष्टिगोचर हो सकता है ।

अक्सर लोगों को अपनी स्मरण शक्ति की कमी एवं बुद्धि मन्दता की शिकायत रहती है । इसका छोटा कारण तो मनःसंस्थान की संरचना में तत्किंचित अन्तर का होना भी हो सकता है, पर प्रधान कारण है अन्यमनस्कता अरुचि एवं उपेक्षा । बहुत करके वे ही बातें होती हैं जो महत्त्वहीन समझी जाती हैं और जिन्हें हल्की दृष्टि से देखा जाता है । जीवन में महत्त्वपूर्ण लगने वाली घटनाएँ कभी विस्मृत नहीं होतीं । विवाह दिन का घटना-क्रम—कन्वोकेशन में उपाधि-पत्र मिलने का सम्मान जैसे उत्साहवर्धक अथवा किसी प्रियजन की मृत्यु, बड़ी चोरी, बड़ा घाटा, आक्रमण जैसे त्रासदायक घटना-क्रम मुद्दतों तक मस्तिष्क में घूमते रहते हैं और उन्हें कभी भी क्रमबद्ध रूप से सुनाया जा सकता है । यदि सचमुच ही स्मरण शक्ति कम रही होती तो वे विशेष घटनाएँ भी विस्मृत ही हो जातीं ।

इतिहास में असंख्य लोगों के ऐसे विवरण हैं जो बड़ी आयु तक मन्द बुद्धि समझे जाते रहे किन्तु जब उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विकसित करने की ओर ध्यान दिया, उत्तरदायित्वों को समझा—अपने को कसा और पूरा ध्यान देकर अध्ययन करना आरम्भ किया तो उनकी बौद्धिक न्यूनता सहज ही दूर हो गई । वे तीव्र बुद्धि माने गए और क्रिया कुशल भी । स्वास्थ्य, धन, प्रभाव, यश, वर्चस्व, आदि के क्षेत्रों में भी यही होता रहा है । उपेक्षाजन्य आलस्य प्रमाद के कारण ही पिछड़ापन उत्पन्न होता है, पर जब सजग सक्रियता का दौर आरम्भ होता है तो प्रगति का चक्र दस गुने वेग से घूमने लगता है । महत्त्वपूर्ण सफलताएँ केवल उन्हें मिलती हैं जिन्हें अपने कार्य में पूरी दिलचस्पी होती है, और अभीष्ट प्रयोजन के लिए समग्र तत्परता समेटकर मिल पड़ने में आनन्द आता है । यह सब रुचि का केन्द्रीकरण और मानसिक क्षमता के एकत्रीकरण का ही चमत्कार है । इस प्रयोग से कोई भी मन्द बुद्धि, दुर्बल शरीर, उपेक्षित अभावग्रस्त, मनुष्य अपना काया-कल्प कर सकता है ।

एकाग्रता का एक चमत्कार मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म भी है । प्रयोगकर्त्ता अपनी दृष्टि को एकबिन्दु पर एकत्रित करने का अभ्यास करता है । अपनी इच्छा शक्ति को समेटकर लक्ष्य केन्द्र में समाविष्ट करता है । फलस्वरूप जादुई शक्ति उत्पन्न होती है और उससे दूसरों को सम्मोहित करके उन्हें इच्छानुवर्ती बनाया जा सकता है । उनमें मानसिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं तथा प्रखरता के नये बीज बोये जा सकते हैं । प्राण विद्या के द्वारा शारीरिक मानसिक चिकित्सा के अनेक कठिन कार्य पूरे किए जाते हैं । यह सब एकाग्रता का ही चमत्कार है ।

ध्यानयोग का उद्देश्य मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने की प्रवीणता प्राप्त करना है । इस प्रयोग में जिसे जितनी सफलता मिलती जाती है उसकी अन्तःचेतना में उसी अनुपात से वेधक प्रचण्डता उत्पन्न होती जाती है । शब्दवेधी बाण की तरह लक्ष्यवेध कर सकना उसके लिए सरल हो जाता है । यदि अध्यात्म उसका लक्ष्य होगा तो उस क्षेत्र में आशाजनक प्रगति होगी और विभूतियों से—दिव्य ऋद्धि-सिद्धियों से उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा दिखाई पड़ेगा । यदि लक्ष्य भौतिक उन्नति है तो भी इस एकाग्रता का समुचित लाभ मिलेगा और अभीष्ट प्रयोजनों में आशाजनक सफलता मिलती चली जायेगी । शक्ति का जब-जिस भी दिशा में प्रयोग किया जायेगा उसी में सत्परिणाम प्रस्तुत होते चले जायेंगे ।

एकाग्रता मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को निग्रहीत करना है । छोटे से बरसाती नाले का पानी रोक कर बाँध बना लिए जाते हैं और उसके पीछे सुविस्तृत जलाशय बन जाता है । इस जलराशि से नहरें निकाल कर दूर-दूर तक क्षेत्र हरा-भरा बनाया जाता है । वही नाला जब उच्छृंखल रहता है तो किनारों को तोड़-फोड़कर इधर-उधर बहता है और उस बाढ़ से भारी बर्बादी होती है । मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विचारधारा को किसी विशालकाय विद्युत निर्माण कारखाने से कम

नहीं आँका जाना चाहिए । बिजलीघरों की शक्ति सीमित होती है और वे अपनी परिधि के छोटे से क्षेत्र को ही बिजली दे पाते हैं, पर मस्तिष्क के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । उसकी आज की क्षमता अगले दिनों अनेक गुनी हो सकती और प्रभाव क्षेत्र, जो आज घर-परिवार तक सीमित है, वह कल विश्वव्यापी बन सकता है । बिजलीघर के तार निर्धारित वोल्टेज की क्षमता ही धारण किए रहने को बाध्य हैं, पर मस्तिष्क की प्रचण्ड सत्ता परिस्थिति के अनुसार इतनी अधिक क्षमता सम्पन्न हो सकती है कि क्षेत्र, समाज की सीमा को पार करते हुए अपने प्रभाव से समस्त संसार को प्रभावित कर सके और वातावरण बदल देने में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सके ।

विज्ञानी, दार्शनिक, कलाकार, विद्वान, शिल्पी, साहित्यकार व्यवस्थापक, संयोजक, नेता, जैसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के निबाहने वाले व्यक्ति भी प्रायः सामान्य लोगों जैसे ही होते हैं । न उनके शरीर में कोई अतिरिक्त कलपुर्जा होता है और न मस्तिष्क में जादू की छड़ी गढ़ी होती है । अन्य लोगों से भिन्नता और श्रेष्ठता का जितना कुछ चमत्कार दीखता है वह उनकी उस आन्तरिक विशेषता का परिणाम है जिसका प्रथम चरण एकाग्रता और दूसरा लक्ष्य निष्ठा कहा जा सकता है । मस्तिष्कीय ऊर्जा हर किसी में प्रचुर परिणाम में होती है—यहाँ तक कि मन्द बुद्धि समझे जाने वाले लोगों में भी मूल प्रतिभा की कमी नहीं होती । अन्तर प्रसुप्त और जागृत स्थिति के परिमाण का होता है । सोती हुई स्थिति में बुद्धिमान मनुष्य भी अर्धमृतक की स्थिति में पड़ा रहता है किन्तु जागने पर अपना वर्चस्व सिद्ध करता है । यही बात मस्तिष्क के सम्बन्ध में है । परिस्थितिवश किन्हीं-किन्हीं के मस्तिष्कीय कण प्रसुप्त स्थिति में पड़े होते हैं और वे मन्द बुद्धि जैसे लगते हैं किन्तु यदि उन्हें प्रयत्नपूर्वक जागृत किया जाय तो वे न केवल प्रतिभाशाली लोगों की पंक्ति में जा बैठते हैं, वरन् कई बार तो उनसे भी आगे निकल जाते हैं ।

विद्या के क्षेत्र में कालिदास, वरदराज जैसे असंख्य लोगों के उदाहरण ऐसे हैं जिनमें वे युवावस्था तक मन्द मति समझे जाते रहे और लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे । किन्तु अन्तःस्फुरणा के प्रचण्ड रूप में आते ही उनका मनःसंस्थान भी तिलमिला उठा और वे देखते-देखते विद्वानों की प्रथम पंक्ति में जा बैठे । बचपन में जिन्हें प्रतिभाशून्य मान लिया गया था ऐसे असंख्य लोग आगे चलकर अपने-अपने विषय में मूर्धन्य बने हैं ऐसे उदाहरण यदि संग्रह करने आरम्भ किए जायें तो हर क्षेत्र में सहस्रों प्रमाण सरलतापूर्वक मिल सकते हैं । इससे इतना ही सिद्ध होता है कि मन्द बुद्धि होना जितना मस्तिष्कीय विकास की कमी पर निर्भर रहता है उससे अधिक इस बात पर अवलम्बित है कि एकाग्रता और आकांक्षा का समन्वय करके किसी दिशा में बढ़ चलने की बात बनी या नहीं बनी ।

एकाग्रता के लिए, ध्यानयोग की साधना

मनुष्य का मस्तिष्क अनन्त शक्तियों का भण्डार है, पर कठिनाई एक ही है कि वे बिखरी रहती हैं और एक स्थान पर केन्द्रित नहीं हो पातीं; इसलिए उनका अभीष्ट लाभ नहीं मिलता । यदि उन्हें एकाग्र किया जा सके तो सामान्य स्तर का समझा जाने वाला मस्तिष्क भी तीक्ष्ण हो सकता है और आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है ।

सूर्य की बिखरी हुई किरणें यदि आतिशी-शीशा द्वारा एक छोटे केन्द्र पर एकत्रित की जा सकें तो दो इंच घेरे की धूप में ही अग्नि प्रकट हो सकती है और अवसर पाकर दावानल का रूप धारण कर सकती है । एकाग्रता की भी ऐसी ही शक्ति है, मस्तिष्क का बिखराव यदि एक बिन्दु पर इकट्ठा किया जा सके तो कोई भी व्यक्ति अपने सामान्य मस्तिष्क से अद्भुत प्रतिभा का परिचय दे सकता है ।

वैज्ञानिक, दार्शनिक, योगी, गणितज्ञ तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करने वाले एकाग्रता के अभ्यस्त होते हैं । यह अभ्यास उन्होंने किन्हीं विशेष साधना व्यायामों के सहारे पूरे किए हैं या दैनिक सामान्य कार्यों को ही दत्त चित्त होकर करते रहने से इस विशेषता का विकास कर लिया है, यह अलग बात है; पर इतना निश्चित है कि एकाग्रता का अभ्यास किए बिना कोई प्रतिभाशाली मस्तिष्क में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकने में समर्थ नहीं हो सकता । क्या आध्यात्मिक क्या भौतिक दोनों ही

क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा विकसित करने के लिए एकाग्रता का आश्रय लेना नितान्त आवश्यक है । अस्त-व्यस्त, चंचल और बिखरी हुई मनःस्थिति के व्यक्ति न किसी बात पर गहराई से विचार कर सकते हैं—न प्रयासों के बीच आने वाले उतार-चढ़ावों के पक्ष-विपक्ष को समझ सकते हैं । तन्मय होकर अभीष्ट प्रयोजन में जुट जाने की विशेषता भी उनमें नहीं होती अस्तु कोई कहने लायक सफलता भी किसी क्षेत्र में उनके पल्ले नहीं पड़ती ।

भौतिक और आध्यात्मिक जगत में समान रूप से एकाग्रता को महत्त्व दिया जाता रहा है । योग की चित्तवृत्तियों के निरोध के रूप में महर्षि पातंजलि ने व्याख्या की है । योग साधना में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह चार अंग विशुद्ध रूप से एकाग्रता की प्रगति के चार चरण हैं । भाव, चिन्तन और कर्तृत्व की तीन धाराएँ, जहाँ समन्वित होती हैं । वहाँ मनुष्य तीर की तरह सनसनाता हुआ निकलता है और किसी भी लक्ष्य को वेध कर रख देता है । वैज्ञानिकों से लेकर तत्व दार्शनिकों तक की उपलब्धियों में मात्र एकाग्रता के अनुदान उपहार हैं ।

हम अपने बिखराव को रोक कर नियत लक्ष्य की ओर द्रुतिगति से बढ़ सकें, इसके लिए प्रत्येक कार्य को पूर्ण जागरूकता, अभिरुचि, तन्मयता और प्रसन्नता के साथ करने की आदत डालनी चाहिए । कर्मयोग के व्याख्याताओं ने श्रेष्ठ कर्म को ईश्वर की पूजा कहा है । श्रेष्ठ का अर्थ है सदुद्देश्यपूर्ण और सुव्यवस्थित रीति से किया हुआ काम । यह एकाग्रता की अनवरत साधना ही होगी यदि हम जागने से लेकर सोने तक के प्रत्येक कार्य को ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिए अपना श्रद्धा-सिक्त उपहार मानें और उसे लाभ-हानि के तराजू पर तौल कर अपनी मानसिक एवं शारीरिक स्तर की समीक्षा करते हुए परखें । यदि कोई कार्य पूरी जिम्मेदारी और सद्भावना के साथ करने पर भी असफल रहता है तो उसके कर्त्ता को तनिक भी खिन्न होने की आवश्यकता नहीं । उसने अपना कर्तव्य पूरी तरह निबाहा इतना भर होना किसी के लिए गर्व और गौरव की बात है, भले ही उसे सफलता न मिले ।

विज्ञानी ऐडीसन अपने किसी प्रयोग में असफल होने पर इतना ही कहते थे—मैंने एक और ऐसा अनुभव बढ़ा लिया, जिसके आधार पर भविष्य में असफलता से बचा जा सकेगा ।

आशावादी यदि दुर्घटना ग्रसित होगा तो ईश्वर को धन्यवाद देगा कि उसका जीवन बच गया, मात्र थोड़ी-सी चोट लगी । इसके विपरीत निराशावादी थोड़ी-सी चोट के लिए भी अपने आपको, ईश्वर को और भाग्य को कोसता दिखाई पड़ेगा । इस प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति हानि और लाभ दोनों ही परिस्थितियों में प्रसन्न रह सकता है और अपने लक्ष्य में बिना विचलित हुए एकान्त निष्ठा बनाये रह सकता है ।

एकाग्रता ईश्वरीय देन नहीं है और न वह वरदान की तरह किसी को प्राप्त होती है । उसे विशुद्ध रूप से एक 'अच्छी आदत' कहा जा सकता है जो अन्य आदतों की तरह चिरकाल तक नियमित रीति-नीति अपनाने के कारण स्वभाव का अंग बनती है और व्यक्तित्व के साथ घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाती है ।

एकाग्रता के दो पक्ष हैं, अभीष्ट विचारों से भिन्न प्रकार के विचारों को मस्तिष्क से हटाना और इच्छित विचारधारा का मनः क्षेत्र में अनवरत रूप से प्रवाहित रहना । आरम्भ थोड़े समय से करना चाहिए । प्रयोग १५ मिनट से भी आरम्भ किया जा सकता है । लेखन, अध्ययन, ध्यान आदि जो भी प्रयोजन हो उसके आकर्षक पक्षों को सामने रखना चाहिए और पूर्ण उत्साह के साथ अभीष्ट विचारों में मन की गहराई तक डुबोना चाहिए । मन तब भागता है जब अभीष्ट प्रयोजन में गहरी दिलचस्पी नहीं होती और उसके लिए पूरे उत्साह के साथ तन्मय होने की आवश्यकता नहीं समझी जाती । बेगार भुगतने जैसी उदास मनःस्थिति में ही मन बेसिलसिले इधर-उधर भागता है यदि चिन्तन के विषय को उपयोगी, लाभदायक एवं आवश्यक मान लिया जाय तो मन उसमें जरूर लगेगा । इतने समय तक पूरी तन्मयता रखी ही जानी है यह संकल्प यदि पूरी दृढ़ता के साथ प्रयोग से पूर्व कई बार दुहरा लिया जाय और उसी उत्साह से चिन्तन में अपने आपको खो देने का प्रयत्न किया जाय तो जल्दी ही सफलता मिलने लगती है ।

लगातार बहुत समय तक एक ही विचार में डूबे रहने की अपेक्षा यही अच्छा है कि बीच-बीच में

विश्राम ले लें और चिन्तन की धारा में जो छोटे-मोटे मोड़ या विभाजन लाये जा सकते हों, उनमें तन्मयता को विभक्त कर लिया जाय । किसी विषय के कई पक्ष होते हैं । उनका पहले से ही वर्गीकरण कर लिया जाय और एकाग्र साधना के लिए जितना समय निर्धारित किया है उसे उन खण्डों के विभाजित क्रम के अनुसार काम में लाया जाय । स्वास्थ्य सम्वर्धन के प्रश्न पर विचार करना हो तो बिगड़ने के कारण, सुधार के लिए परिवर्तन—परिवर्तन के साधन आदि वर्गों में उसे बाँटा जा सकता है और निर्धारित क्रम से उन बातों पर विचार करते हुए, चिन्तन की शृंखला की जा सकती है ।

मानसिक व्यायाम के रूप में एकाग्रता की साधना को ध्यान योग कहते हैं । इसके दो भाग हैं । एक वह जो आमतौर से पूजा प्रयोजनों में काम आता है । किसी देवी-देवता के चित्र को आँखों से देखने और फिर नेत्र बन्द करके सुदूर आकाश में अथवा मस्तिष्क के मध्य में प्रतिष्ठित देखना । ऐसे देव चित्रों के साथ तेजोवलय जुड़ा हुआ होने की भावना की जाती है । निराकार उपासना वाले मात्र सूर्य का या दीपक की लौ जैसे प्रकाश बिन्दु का ध्यान करते हैं । इस आधार पर की गई साधना में चिन्तन के बिखराव को एकत्रित करने का अवसर मिलता है । इष्टदेव के वाहन, आयुध, अलंकार, उपकरण आदि की विविधता यह मन को एक सीमित क्षेत्र में चाहे जितनी दौड़ लगाते रहने का अवसर देती है । भाव निष्ठा जुड़ी होने से वह लाभ और भी अधिक बढ़ा-चढ़ा बन जाता है । उसके सत्परिणाम कई प्रकार की चमत्कारी अतीन्द्रिय सिद्धियों के रूप में दृष्टिगोचर होती है ।

ध्यानयोग का दूसरा पक्ष है किन्हीं विचारों में ऊहापोह में गहराई तक उतरते जाना । एकाग्रता में उभय पक्षीय पर्यवेक्षण की—समुद्र मंथन जैसे विचार मंथन की पूरी गुंजायश है । वैज्ञानिक और तत्वदर्शी अपने लक्ष्य चिन्तन में निमग्न हो जाते हैं । इसका अर्थ मस्तिष्क को ठप्प करके किसी नियत बात को ही निरन्तर सोचते रहना नहीं वरन् यह है कि उस प्रसंग की सीमाओं में रह कर जितना अधिक विवेचन विश्लेषण किया जा सकता हो किया जाय । विषय की निर्धारित सीमा से बाहर न भागना ही ध्यान का प्रधान उद्देश्य है । यह सोचना मूर्खतापूर्ण है कि ध्यान में मस्तिष्क जड़ हो जाता है और किसी एक ही प्रतिमा अथवा विचार में डूबा रहता है । ऐसा मस्तिष्कीय संरचना को देखते हुए किसी सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं हो सकता । अर्धमूर्छित स्तर की तथाकथित सामान्य अवस्था में किसी के लिए ऐसा होना सम्भव होता होगा तो होता ही होगा; पर एकाग्रता को ध्यान साधना के साधकों को वैसा सम्भव नहीं होता ।

प्रतिमा पर अथवा किसी विचार प्रक्रिया पर ध्यान एकाग्र करने के लिए नियत स्थान, नियत समय एवं नियत साधन प्रक्रिया अपनानी चाहिए । किसके लिए कौन समय, कैसा स्थान और क्या साधना विधान उपयुक्त रहेगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । यह व्यक्ति की मनःस्थिति और परिस्थिति पर निर्भर है उसमें भिन्नताएँ रह सकती हैं । अपने परिवार में गायत्री मन्त्र के जप और प्रकाश ज्योति के ध्यान की परम्परा चल रही है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य कोई साधना सफल हो ही नहीं सकती । श्रद्धा और निष्ठा का समन्वय किसी भी प्रकार एवं विधान को सफलता के स्तर तक पहुँचा सकता है ।

एकाग्रता में कई बार तो परिस्थितियाँ ही बाधक बन जाती है । बैठने का स्थान अथवा ढंग असुविधाजनक हो तो उस कठिनाई के कारण चित्त बार-बार उचटता रहेगा । मैले, कुचैले, दुर्गन्ध युक्त, सीलन, सड़न, अनुपयुक्त, तापमान के स्थान प्रायः मन नहीं लगने देते । जहाँ बैठ कर एकाग्र चित्त में भजन अध्ययन आदि करना हो उसे अधिक से अधिक सुविधाजनक बनाया जाना चाहिए । कोलाहल, खटपट न हो, भगदड़ एवं हलचलों वाले दृश्य न दीखें, सर्दी-गर्मी, असह्य न हो, अस्वच्छता न छाई हो तो ऐसे शान्त और उपयुक्त स्थान में सहज ही मन को काम में लगाया जा सकेगा । शरीर को सहारे और आराम की बैठक मिलनी चाहिए । पैर, पीठ, गरदन आदि को तोड़-मरोड़ कर, उकडू-मुकडू बैठना शरीर पर दबाव डालता है और चित्त उचटता है । स्थान एवं बैठने के साधन एकाग्रता साधन के लिए नितान्त आवश्यक हैं ।

स्थिति, समय, स्थान और प्रयोग काल का सन्तुलन एकाग्रता प्राप्त करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं । शरीर बैठने में सुविधा अनुभव न करे, स्थान, शान्त और

स्वच्छ हो—प्रयोग का समय निर्धारित हो, जिस समय प्रयोग करना है वह घड़ी के अनुसार नियत-नियमित रहे तो मन जरूर लगेगा । जितने समय एकाग्र रहना और संकल्प भी निर्धारित हो तो उतने समय तक अभीष्ट प्रयोजन में संलग्न रहने की सूक्ष्म तैयारी अन्तःचेतना अपने आप कर लेगी और उतने समय बहुत ही कम विक्षेप होगा । पन्द्रह मिनट का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ाया जा सकता है । हर सप्ताह एक-दो मिनट भी बढ़ाते रहें तो साल भर में एक घण्टा तन्मय रहने की आदत पड़ सकती है । अभ्यास जितना पुराना होता जाता है, उतनी ही प्रखरता उसमें आती जाती है । कुछ समय उपरान्त वह एक स्वाभाविक आदत बन जाती है । वैज्ञानिक, कलाकार, योगी तथा दूसरे बुद्धिजीवी प्रगाढ़ एकाग्रता में डूबे हुए अपने विषय का गहरा चिन्तन करते रहते हैं और बहुमूल्य मोती ढूँढ़कर लाते हैं । चिन्तन के सत्परिणामों एवं सम्भावनाओं पर विचार करते रहने में दिलचस्पी बढ़ती है और उसके साथ सुदृढ़ संकल्प एवं नियमित प्रयत्न जुड़ जाने पर एकाग्रता सरल एवं सम्भव होती है और क्रमशः अधिक लम्बी एवं गहरी बनती जाती है ।

शारीरिक स्वस्थता के लिए किए जाने वाले व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि का जो महत्त्व है, वही मानसिक स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए ध्यान साधना का है । यदि अपनी स्थिति के अनुसार कुछ समय इस प्रयोजन के लिए नियत रखें तो क्रमशः एकाग्रता की शक्ति बढ़ती जायेगी और उसे प्रगति के किसी भी क्षेत्र में प्रयुक्त करके उत्साहवर्धक लाभ प्राप्त किया जा सकेगा ।

तन्मयता-तल्लीनता की उच्चस्तरीय उपलब्धियाँ

एकाग्रता एक उपयोगी सत्प्रवृत्ति है । मन की अनियन्त्रित कल्पनाएँ अनावश्यक उड़ानें उस उपयोगी विचार शक्ति का अपव्यय करती हैं, जिसे यदि लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित किया गया होता तो गहराई में उतरने और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करने का अवसर मिलता । यह चित्त की चंचलता ही है तो मनः संस्थान की दिव्य क्षमता को ऐसे ही निरर्थक गँवाती और नष्ट-भ्रष्ट करती रहती है । संसार के वे महामानव जिन्होंने किसी विषय में पारंगत प्रवीणता—हासिल की है या महत्त्वपूर्ण सफलताएँ उपलब्ध की हैं उन सबको विचारों पर नियन्त्रण करने—उन्हें अनावश्यक चिन्तन से हटाकर उपयोगी दिशा में चलाने की क्षमता प्राप्त रही है । इसके बिना चंचलता की वानर वृत्ति के ग्रसित व्यक्ति न किसी प्रसंग पर गहराई से सोच सकता है और न किसी कार्यक्रम पर देर तक स्थिर रह सकता है ।

शिल्प, कला, साहित्य, शिक्षा, विज्ञान, व्यवस्था आदि महत्त्वपूर्ण सभी प्रयोजनों की सफलता में एकाग्रता की शक्ति ही प्रधान भूमिका निभाती है । चंचलता को तो असफलता की सगी बहिन माना जाता है । वयस्क होने पर भी यदि कोई चंचल ही बना रहे—विचारों की दिशाधारा बनाने और चिन्तन पर नियन्त्रण स्थापित करने में सफल न हो सके तो समझना चाहिए कि आयु बढ़ जाने पर भी उसका मानसिक स्तर बालकों जैसा ही बना हुआ है । ऐसे लोगों का भविष्य उत्साह-वर्धक नहीं हो सकता ।

मनीषी डब्लू. आर. इन्ज के ग्रन्थ 'मिस्टिसिज्म इन रिलीजन' के शब्दों में सोचें तो आत्मिक प्रगति के लिए तो एकाग्रता की और अधिक उपयोगिता है । इसीलिए 'मेडिटेशन' के नाम पर उसका अभ्यास विविध प्रयोगों द्वारा कराया जाता है । इस अभ्यास के लिए कोलाहल रहित ऐसे स्थान की आवश्यकता समझी जाती है जहाँ विक्षेपकारी आवागमन या कोलाहल, न होता हो । एकान्त का तात्पर्य जनशून्य स्थान नहीं वरन् विक्षेप रहित वातावरण है । सामूहिकता हर क्षेत्र में उपयोगी मानी जाती है । उपासना भी सामूहिक हो तो उसमें हानि नहीं लाभ ही है । मस्जिदों में नमाज—गिरजाघरों में प्रेयर—मन्दिरों में आरती सामूहिक रूप से करने का रिवाज है । इसमें न तो एकान्त की कमी अखरती है और न एकाग्रता में कोई बाधा पड़ती है ।

एक दिशा धारा का चिन्तन हो रहा हो तो अनेक व्यक्तियों का समुदाय भी एक साथ मिल-बैठकर एकाग्रता का अभ्यास भली प्रकार कर सकता है । नितान्त एकान्त में बैठना वैज्ञानिक, तात्विक शोध अन्वेषण के लिए आवश्यक हो सकता है, उपासना के सामान्य सन्दर्भ में एकान्त ढूँढ़ते फिरने की कोई खास आवश्यकता नहीं है । सामूहिकता के वातावरण में ध्यान-धारणा और

भी अच्छी तरह बन पड़ती है । सेना का सामूहिक कार्य साथ-साथ कदम मिलाकर चलना-सैनिकों में से किसी का ध्यान नहीं बँटाता वरन् साथ-साथ चलने की पग-ध्वनि के प्रवाह में हरेक के पैर और भी अच्छी तरह अपने आप नियतक्रम से उठते चले जाते हैं । सहगमन से पगक्रम को ठीक रखने में बाधा नहीं पड़ती वरन् सहायता ही मिलती है । सहगान की तरह सहध्यान तथा सहभजन भी अधिक सफल और अधिक प्रखर बनता है ।

'अन्तरयोग' पुस्तक के लेखक महायोगी अनिर्वाण के अनुभव के अनुसार उपासना के लिए जिस एकाग्रता का प्रतिपादन है उसका लक्ष्य है—भौतिक जगत की कल्पनाओं से मन को विरत करना और उसे अन्तर्जगत की क्रिया-प्रक्रिया में नियोजित कर देना । उपासना के समय यदि मन सांसारिक प्रयोजनों में न भटके और आत्मिक क्षेत्र की परिधि में परिभ्रमण करता रहे तो समझना चाहिए कि एकाग्रता का प्रयोजन पूरा हो रहा है । विज्ञान के शोध कार्यों में—साहित्य के सृजन प्रयोजनों में वैज्ञानिक या मनीषी का चिन्तन अपनी निर्धारित दिशा धारा में ही सीमित रहता है । इतने भर में एकाग्रता का प्रयोजन पूरा हो जाता है । यद्यपि इस प्रकार के बौद्धिक पुरुषार्थों में मन और बुद्धि को असाधारण रूप से गतिशील रहना पड़ता है और कल्पनाओं को अत्यधिक सक्रिय करना पड़ता है तो भी उसे चंचलता नहीं कहा जा सकता ।

अपनी निर्धारित परिधि में रहकर कितना ही द्रुतगामी चिन्तन क्यों न किया जाय, कितनी ही कल्पनाएँ, कितनी ही स्मृतियाँ, कितनी ही विवेचनाएँ क्यों न उभर रही हों वे एकाग्रता की स्थिति में तनिक भी विक्षेप उत्पन्न नहीं करेंगी । गड़बड़ तो अप्रासंगिकता में उत्पन्न होती हैं । बेतुका—बेसिलसिले का अप्रासंगिक अनावश्यक चिन्तन ही विक्षेप करता है । एक बेसुरा वादन पूरे आरकेस्ट्रा के ध्वनि प्रवाह को गड़बड़ा देता है, ठीक इसी प्रकार चिन्तन में अप्रासंगिक विक्षेपों का ही निषेध है । निर्धारित परिधि में कितनी ही, कितने प्रकार की कल्पनाएँ—करते रहने की पूरी छूट है ।

महात्मा नरहरि "बोधसार" में कहते हैं—कई व्यक्ति एकाग्रता का अर्थ मन की स्थिरता समझते हैं और शिकायत करते हैं कि उपासना के समय उनका मन भजन में एकाग्र—स्थिर नहीं रहता । ऐसे लोग एकाग्रता और स्थिरता का अन्तर न समझ पाने के कारण ही इस प्रकार की शिकायत करते हैं । मन की स्थिरता सर्वथा भिन्न बात है । उसे एकाग्रता से मिलती-जुलती स्थिति तो कहा जा सकता है, पर दोनों का सीधा सम्बन्ध नहीं है । जिसका मन स्थिर हो उसे एकाग्रता का लाभ मिल सके या जिसे एकाग्रता की सिद्धि है—उसे स्थिरता की स्थिति प्राप्त हो ही जाय यह आवश्यक नहीं है ।

स्थिरता को निर्विकल्प समाधि कहा गया है और एकाग्रता को सविकल्प कहा गया है । सविकल्प का तात्पर्य है उस अवधि में आवश्यक विचारों को मनःक्षेत्र में अपना काम करते रहना । निर्विकल्प का अर्थ है एक केन्द्र बिन्दु पर सारा चिन्तन सिमटकर स्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो जाना ।

यहाँ मनः संस्थान की संरचना को ध्यान में रखना होगा । एक वैज्ञानिक की दृष्टि रखकर साधना की गहराइयों में प्रवेश करने पर मन की बनावट एक प्रचण्ड विद्युत भण्डार जैसी अनुभव की जा सकती है । उसके भीतरी और बाहरी क्षेत्र में विचार तरंगों के आँधी तूफान निरन्तर उठते रहते हैं । यह तरंग-तूफान जितने तीव्र-गति सम्पन्न होते हैं उसकी मानसिकता उतनी ही उर्वर और कुशाग्र बुद्धि मानी जाती है । जहाँ इन तरंगों में जितनी मन्दगति हो समझना चाहिए वहाँ उतनी ही जड़ता, दीर्घसूत्रता, मूर्खता छायी रहेगी । हारे-थके मस्तिष्क को निद्रा घेर लेती है अर्थात् उसकी गतिशीलता शिथिल हो जाती है । यह कृत्रिम निद्रा नशीली दवाएँ पिलाकर, क्लोरोफार्म आदि सुँघाकर उत्पन्न की जा सकती है । मूर्छा की स्थिति में मस्तिष्क की गतिशीलता ठप्प हो जाती है ।

स्थिरता लगभग ऐसे ही स्तर की है । गड्ढे में बन्द होने की प्रदर्शन वाली जड़ समाधि में ऐसी ही स्थिरता होती है । मनस्वी लोग अपनी संकल्प शक्ति से हृदय की धड़कन और मानसिक सक्रियता को ठप्प कर देते हैं । स्थिरता जड़ समाधि के वर्ग में आती है । वह संकल्प शक्ति से उत्पन्न की जा सकती है । स्थिरता का लाभ विश्राम मिलना है । इससे आन्तरिक थकान दूर हो सकती है और जिस तरह निद्रा के उपरान्त जागने पर नई चेतनता एवं स्फूर्ति का अनुभव

होता है, वैसा ही मन की स्थिरता का लाभ मिल सकता है । सामान्य रूप से इस स्थिति को शिथिलीकरण मुद्रा का एक प्रकार कहा जा सकता है । उसमें भी शरीर और मन की स्थिरता शिथिलता का ही अभ्यास किया जाता है । मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म प्रयोगों में भी इसी का अभ्यास काले गोले के माध्यम से करना पड़ता है । नेत्रों में वेधक दृष्टि उत्पन्न करने के लिए एकाग्र मनःशक्ति को एक ही स्थान पर केन्द्रित करते हैं । ऐसे ही सामान्य चमत्कार उस स्थिरता से उत्पन्न किए जा सकते हैं जिसके लिए आम-तौर से अध्यात्म साधना के विद्यार्थी ललचाते रहते हैं और जिसके न मिलने पर अपने अभ्यास की असफलता अनुभव करके खिन्न होते हैं ।

मन की स्थिरता अति कठिन है । तीन मिनट की स्थिरता मिल सके तो साधक शून्यावस्था में पहुँच जाता है । जिन्हें निर्विकल्प समाधि अभीष्ट हो उन्हें ही स्थिरता की अपेक्षा और चेष्टा करनी चाहिए । सविकल्प साधना में स्थिरता की नहीं एक दिशाधारा में मन को नियोजित किए रहने की आवश्यकता है । पर ब्रह्म में आत्म-समर्पण और उस पराशक्ति का आत्म-सत्ता में अवतरण ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन है । उसके लिए कितने ही प्रकार की साकार-निराकार ध्यान-धारणाएँ विद्यमान हैं । उनमें से जो उपयोगी एवं रुचिकर लगे उसे अपनाया जा सकता है ।

स्थिरता-स्तर की एकाग्रता हिप्नोटिज्म प्रयोगों में तो काम आती है । सरकस के अनेक खेलों में मानसिक सन्तुलन ही चमत्कार दिखा रहा होता है । स्मरण शक्ति के धनी भी प्रायः एकाग्रता के ही अभ्यासी होते हैं । शोधकर्त्ताओं की सफलता का आधार यही है । इतने पर भी इसे आत्मिक प्रगति की अनिवार्य शर्त नहीं माना जा सकता । अधिक से अधिक इसे सहायक कहा जा सकता है । यदि ऐसा न होता तो ये सब एकाग्रता सम्पन्न लोग आत्मबल सम्पन्न हो गए होते । इनकी गणना सिद्ध योगियों में की जाने लगती । इसके विपरीत प्रायः सभी भावुकभक्त भावावेश जन्य चंचलता से ग्रस्त रहे हैं । मीरा, चैतन्य, रामकृष्ण—परमहंस आदि इसी वर्ग के थे, जिन पर प्रायः भावावेश छाया रहता था ।

आत्मसाधना में निमग्न साधक एवं मनीषी गोपीनाथ—कविराज अपने सम्पादित ग्रन्थ 'श्री श्री सद्गुरु प्रसंग' में स्पष्ट करते हैं कि मन की स्थिरता एवं एकाग्रता का सार तत्व 'तन्मयता' में आ जाता है । तन्मयता का अर्थ है इष्ट के साथ भाव सम्वेदनाओं को केन्द्रीभूत कर देना । यह स्थिति तभी आ सकती है जब इष्ट के प्रति असीम श्रद्धा हो । श्रद्धा तब उत्पन्न होती है जब किसी की गरिमा पर परिपूर्ण विश्वास हो । साधक को अपनी मनोभूमि ऐसी बनानी चाहिए जिसमें इष्ट और मार्गदर्शक सद्गुरु की चरम उत्कृष्टता पर, असीम शक्ति सामर्थ्य पर सम्पर्क में आने वाले के उत्कर्ष होने पर गहरा विश्वास जमता चला जाय ।

यह कार्य शास्त्र वचनों का अनुभवियों द्वारा बताये गए सत्परिणामों का, उपासना विज्ञान की प्रामाणिकता का, अधिकाधिक अध्ययन अवगाहन करने पर सम्पन्न होता है । आशंकाग्रस्त अविश्वासी मन, उपेक्षा भाव से आधे-अधूरे मन से उपासना में लगे तो स्वभावतः वहाँ उसकी रुचि नहीं होगी, मन जहाँ-तहाँ उड़ता फिरेगा । मन लगने के लिए आवश्यक है कि उस कार्य में समुचित आकर्षण उत्पन्न किया जाय । व्यवसाय उपार्जन में, इन्द्रिय भोगों में, विनोद मनोरंजनों में, सुखद कल्पनाओं में, प्रियजनों के सम्पर्क सान्निध्य में मन सहज ही लग जाता है ।

इसका कारण यह है कि इन प्रसंगों के द्वारा मिलने वाले सुख, लाभ एवं अनुभव के सम्बन्ध में पहले से ही विश्वास जमा होता है । प्रश्न यह नहीं है कि वे आकर्षण दूरदर्शिता की दृष्टि से लाभदायक हैं या नहीं । तथ्य इतना ही है कि उन विषयों के सम्बन्ध में अनुभव-अभ्यास के आधार पर मन में आकर्षण उत्पन्न हो गया है । उस आकर्षण के फलस्वरूप ही मन उसमें रमता है और भाग-भाग कर जहाँ-तहाँ घूम-फिर कर वहीं जा पहुँचता है । हटाने से हटता नहीं, भगाने से भागता नहीं ।

मानसिक संरचना के इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमें उपासना के समय मन को इष्ट पर केन्द्रित रखने की आवश्यकता पूरी करने के पहले से ही मन को प्रशिक्षित करना चाहिए । गायत्री महाशक्ति के सम्बन्ध में सूर्य तत्व के सन्दर्भ में जितना अधिक ज्ञान-विज्ञान संग्रह किया जा सके मनोयोगपूर्वक करना

चाहिए । विज्ञ व्यक्तियों के साथ उसकी चर्चा करनी चाहिए । जिन्होंने लाभ उठाये हों उनके अनुभव सुनना चाहिए । यह कार्य तद् विषयक स्वाध्याय एवं मनन चिन्तन के एकाकी प्रयत्न से भी सम्भव हो सकता है ।

चेतना शक्ति के उत्थान परिष्कार में तन्मयता सबसे बड़ा आधार है । शरीर से किए जाने वाले कर्मकाण्डों का प्रयोजन इतना ही है कि उनके कारण अन्तःकरण को साथ-साथ चलने का आधार मिल जाय । चिन्तन का गहरा पुट लगने पर ही आत्मिक भूमिका में हलचलें होती हैं और प्रगति का सरंजाम जुटता है । यदि मन इष्ट पर जमे नहीं-मन्त्र देने वाले गुरु पर श्रद्धा में कमी हो-ऐसी दशा में मन्त्रोच्चारण का श्रम-जीभ की कसरत भर बनकर रह जायेगा ।

तन्मयता की स्थिति उत्पन्न करने के लिए धैर्यपूर्वक देर तक प्रयत्न करना होता है । यह एक दिन में सम्पन्न होने वाले काम नहीं हैं । मन का पुराना अनुभव अभ्यास-भौतिक आकर्षणों के साथ खेल करते रहने का है । उसे इससे विरत करने के लिए यदि उससे अधिक नहीं तो कम से कम उतना बड़ा आकर्षण तो प्रस्तुत किया जाना ही चाहिए । अरुचिकर प्रयोजन पर जमने की उसको आदत है ही नहीं । आकर्षण के अभाव में उसे बुरी तरह ऊब आती है और वहाँ से उचटने भागने की ऐसी धमा-चौकड़ी मचाता है कि देर तक उस कार्य को चलाते रहना कठिन हो जाता है । तरह-तरह की बहानेबाजी बनाकर वहाँ से उठने के लिए अचेतन मन कितनी-कितनी तरकीबें खड़ी करता है, यह सब देखते ही बनता है । खुजली उठना, जम्हाई आना, कोई साधारण-सा खटका होते ही उधर देखने लगना, पालथी बदलना, कपड़े सँभालना, जैसी चित्र-विचित्र क्रियाओं का होना यह प्रकट करता है कि मन यहाँ नहीं रहा । उसे उस काम को छोड़कर जल्दी-जल्दी भाग निकलने के लिए हड़बड़ी हो रही है ।

इस स्थिति का सामना करने के लिए उपाय यही है कि श्रद्धा उत्पन्न करने वाले स्वाध्याय और सत्संग का मनन चिन्तन का ऐसा क्रम बनाया जाय, जिससे कि उस दिशा में चलने के सत्परिणामों के सम्बन्ध में तर्क, तथ्य, प्रमाण एवं उदाहरणों के आधार पर अपनी इष्ट निष्ठा और गुरुभक्ति को प्रगाढ़ किया जाय । यह प्रगाढ़ता ही साधक में—तन्मयता को जन्म देती है । शनैः-शनैः इस तन्मयता का ही रूपान्तरण ध्यान में होता है । फिर ध्यान की प्रगाढ़ गम्भीरता को सविकल्प समाधि-आत्म-बोध के क्षणों में बदलते भला कितनी देर है ?

ध्यान सम्बन्धी गुत्थियाँ व उनका समाधान

जड़ें जमीन में न हों, ऐसे पेड़ की कल्पना करना कठिन है । ठीक इसी तरह जीवन अपना अस्तित्व, कर्म बिना भी बचाये रख सकता है, सोच पाना कठिन है । निठल्ले-निकम्मे समझे कहे जाने वालों को भी भोजन आदि शरीर की अनिवार्य जरूरतों को पूरा करने के लिए हाथ पैर हिलाने के लिए विवश होना पड़ता है । फिर जिनका मन सतेज, शरीर सबल है उनका कहना ही क्या ? आठों प्रहर उन्हें कर्म की कठोर दीवारों और कर्म सम्बन्धी विचारों के तन्तु जाल में बँधे फँसे रहना पड़ता है । कर्म की तपती भूमि से मानव ध्यान के शीतल सरोवर में प्रवेश कैसे करें ? रोज नये कामों की नई-नई उलझनों के चक्रव्यूह में फँसे, इसकी तप्त ज्वाला में सुलगते-झुलसते उसके मन को बचाव का एक ही उपाय सूझता है जैसे-तैसे ध्यान की शीतलता में कूद जाय । लेकिन इसके प्रवेश द्वार पर लटकी आवश्यक सूचनाओं की पट्टिका में शीर्ष स्थान पर उत्कीर्ण अक्षर समूह की चमचमाहट में स्पष्ट निषेध सुनाई देता है । 'कर्म नहीं इसे छोड़ना अनिवार्य है, यदि ज्यादा देर तक न छोड़ सको तो कम से कम उतनी देर के लिए तो छोड़ना ही पड़ेगा जितनी देर ध्यान करना है ।

मनीषी ए. एस. कुआ के चिन्तनकोश 'दि यूनिटी ऑफ मेडिटेशन एण्ड एक्शन' के अनुसार "ध्यान और कर्म के एक गहरे असामंजस्य के दो छोर लगाते हैं प्रबल विरोधाभास की यह अन्तर्वर्ती मरुभूमि मानवीय सामर्थ्य को निश्चेष्ट करती रही है । अपने अस्तित्व की शुरुआत से मानव समाज यह धारणा सँजोये रहा है जिसे ध्यान करना है उसे कर्म का त्याग करना पड़ेगा, जिसे काम करने का मोह है उसे ध्यान का लाभ नहीं मिलेगा ।" बात सिर्फ हिन्दू धर्म-आर्य भूमि

की नहीं, जहाँ कहीं जिस किसी भूखण्ड, जाति समूह में आस्तिक भावनाएँ पनपीं व्यक्तित्व विकास को चरम स्तर पर ले जाने की ललक उमगी है । इन भावों का विकास हुए बिना नहीं रहा । ईसाई, मुस्लिम, पारसी, यहूदी, बौद्ध, जैन सभी को इन दो मनोभावों में बाँटा जा सकता है । मानव की प्रवृत्तियों और प्रकृति के इस विभाजन में कितनी ही निराशा की वेदना क्यों न सहनी पड़ी हो, पर होना इसकी मजबूरी रही है ।

ऐसा नहीं कि इस गहरे असामंजस्य के बीच सेतु निर्माण की कोशिशें नहीं हुईं । हर समाज ने अपनी रचना और परिवेश के अनुरूप प्रयास किए हैं । कर्मयोगी और संन्यासी दोनों के द्वारा स्वयं को अपूर्व ठहराना और परस्पर पूरक होकर रहने की प्रतिज्ञा में बँधना इसी का एक रूप है । अब तक के सामंजस्य प्रयासों की यही सीमा रेखा है । इसे प्रमाण का अन्तिम मानदण्ड मान लिए जाने के कारण लोक-मानस में यह धारणा बद्धमूल हो गई कि जो ध्यानी है उसे संन्यासी हो जाना चाहिए और जो गृही है उसे ध्यान से क्या लेना-देना, एक का स्वधर्म दूसरे का विधर्म बन कर रह गया, विधर्म के प्रति अधिक से अधिक सम्वेदनाजन्य सहानुभूति भर हो सकती है । उसे अंगीकार किया जाने से तो रहा, संन्यासी, गृही, भिक्षु, श्रमण के रूप में दो समूह स्थायित्व पा गए ।

इस बँटवारे का परिणाम यह रहा कि कर्मशक्ति और ध्यानशक्ति मिल नहीं पायी । इन दोनों महाशक्तियों का मिलन मनुष्य को जिस परम शक्ति की उपलब्धि कराता उससे उसे वंचित रहना पड़ा । कर्म में ऊर्जा की जो प्रचण्डता समाई है ध्यान में उससे कहीं कम नहीं । आज संसार में अपने आस-पास से दूर-दूर तक हलचलों की जो तीव्रता, सृजन और विनाश का नित नया उद्दाम प्रवेग दिखाई देता है वह और कुछ नहीं कर्म शक्ति के महासागर में उठने वाले बबूले लहरें-तरंगें भर हैं । ध्यान शक्ति की ऊर्जस्विता को आज थोड़े ही अंशों में समझा जा सकता है । वैयक्तिक रूप में यदा-कदा इसकी झलक भले दिखाई पड़ जाय । पर सामूहिक रूप में इसकी व्यापकता के बारे में सोच पाना भी कठिन है । जबकि भारत की पुरासम्पत्ति पूर्व संस्कृति में इसके एक से एक अनूठे प्रयोगों की चर्चा भरी पड़ी है । यथार्थ कहा जाय तो ध्यान शक्ति की प्रबलता और प्रचण्डता कर्मशक्ति से कहीं बढ़ कर है । मनोविज्ञान के इस युग में उपर्युक्त कथन सर्वथा अनजाना नहीं है । जब शरीर की तुलना में मन की सामर्थ्य अजेय और अपराजित मानी जाने लगी है, तब कर्म की तुलना में ध्यान की महत्ता को बड़ा स्वीकारने में आपत्ति क्यों ?

इन शक्तियों की ऊर्जस्विता कितनी ही क्यों न हो, पर जब तक इनका मिलन नहीं होता परिपूर्ण लाभ की कल्पना कठिन है । मिलन के लिए जरूरी है इनकी प्रक्रिया और परिणामों से परिचित हुआ जाय । साथ ही उस बिन्दु की शोध हो जहाँ ये दोनों एकाकार हो सकें । आर्यभूमि के अध्यात्म ने हमेशा इस शोध परम्परा का अनुशीलन-अनुसरण किया है ।

ध्यान महज एकाग्रता नहीं ठीक उस तरह जिस तरह कर्म क्रिया कर्त्ता का योग भर नहीं, एकाग्रता ध्यान का आवश्यक किन्तु प्राथमिक चरण भर है । इसे पूरा कर लेने पर मनोलोक की सूक्ष्मताओं में अनेकों घटनाएँ, घटती हैं । मन पंचम स्थूल इन्द्रिय पदार्थों से सूक्ष्म तन्मात्राओं में प्रवेश करता है । स्वयं सूक्ष्म होकर प्रकृति की सूक्ष्मताओं को भेदता चेतना के एक के बाद दूसरे सोपानों में पहुँचने लगता है । इनमें से प्रत्येक स्तर अपने आप में समूचा एक लोक ही है, प्रत्येक की अपनी अनुभूतियाँ अपना जीवन है, एक लोक के वासी दूसरे लोक की कल्पना नहीं कर सकते, करेंगे भी तो विकृत प्रायः । सामान्य व्यक्ति और ध्यान योगी के बीच ऐसा ही अन्तर है । ये रूप आकृति की बाह्य दृष्टि से एक-सा दिखते हुए भी अन्तर चेतना के धरातल पर धरती और आकाश जैसी दूरी पर निवास करते हैं ।

ख्याति लब्ध विचारक आर. ए. स्ट्रेकर के चिन्तन संग्रह 'डिस्कवरिंग अवरसेल्वस' के अनुसार ध्यान मानव के चरम और परम विकास का सीधा, सरल और लघुतम मार्ग है । कर्म इस विकास की अभिव्यक्ति का माध्यम । यों किसी न किसी रूप में इनका थोड़ा-बहुत सम्पर्क बना रहता है पर इतना काफी नहीं । अनिवार्यता इस बात की है कि शुरू से ही दोनों शक्तियाँ एकाकार हो चलें । ध्यान के प्रथम चरण में धारणा या एकाग्रता की गहरी जरूरत समझी जाती है । इसके लिए आचार्यों ने आलम्बन की आवश्यकता सुझाई है । मार्ग विशेष

के अनुसार इनमें भिन्नता सम्भव है । वास्तविक अर्थों में यह विभेद मार्गों का नहीं मानव रुचियों का है । बौद्ध, पूर्णिमा के चाँद को ध्यान का अवलम्बन मानता है, तो आर्य सूर्य का शैव-वैष्णव और शाक्तों में यह अपनी-अपनी इष्ट मूर्तियों का है, पर यह अन्तर, अन्तर नहीं है । इसी कारण सूत्रकार पातंजलि प्रथम पाद के ध्यानयोग प्रकरण में 'यथाभिमत ध्यानाद्धा' का उनतालीसवाँ सूत्र प्रतिपादित करते हैं । जो भी मनोनुकूल और तुम्हारे जीवन को ऊँचा उठाने वाला लगे उसे आलम्बन के रूप में स्वीकार कर लो ।

आलम्बन की उपयोगिता और महत्ता इतनी भर है कि वह चित्तवृत्तियों को एकाग्र करे । यह एकाग्रता साधन मात्र है, साध्य नहीं । साकारवादी हो या निराकारवादी हर किसी को इस रूप में कुछ न कुछ स्वीकारना पड़ता है । आखिर कहीं न कहीं तो मन को टिकाना ही है और यह आलम्बन के वगैर होने से तो रहा, फिर यह आन्तर हो या बाह्य—दीपशिखा, तारा, सूर्य, गुरुमूर्ति, इष्टमूर्ति, मन्त्र, भाव, विचार कुछ भी क्यों न हो रुचि विभेद के अनुसार फेर बदल सम्भव है । इसके लिए ऐसा सहारा क्यों न लिया जाय जहाँ सारी रुचियाँ एकाकार होती हों, जो सभी को एक साथ सन्तुष्ट करे । वह आलम्बन है कर्म ।

फ्रेंच विचारक 'देहलिन द यारदें' के विचारकोश 'द मेकिंग ऑफ माइन्ड' के अनुसार समूची सृष्टि में एक भी ऐसा मनुष्य न होगा जिसका मन किसी न किसी काम में न टिके । फिर काम किए बिना रहा भी नहीं जा सकता । इसी कारण योगेश्वर कृष्ण को 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातुतिस्ठस्यकर्मकृत्' का सूत्र रचना पड़ा । कर्म ध्यान का सहज और श्रेष्ठ आलम्बन है ।

पर ध्यान के आलम्बन का निर्दोष-निष्कलुष रहना जरूरी है । यहाँ पर रह गया तनिक सा कलुष साधनामय जीवन के भविष्य और विकास समूचे को तहस-नहस कर देता है । इष्ट और गुरुमूर्तियों को स्वीकारने के पीछे पूर्णता और पवित्रता का भाव ही रहा है । सूर्य को भी सु+इर पवित्र प्रेरणादायक होने के कारण स्वीकारा गया है । सामान्य कर्म दोषों से भरा रहता है । दोष जहाँ भरे रहते हैं वह कर्म का स्वरूप नहीं, उसके पीछे रहने वाला भाव है । शुरुआत करते ही जो दोष चढ़ दौड़ते हैं वे हैं यही काम करेंगे कर्म विशेष, के प्रति आसक्ति । मेरे द्वारा किया गया काम श्रेष्ठ बाकी सब कनिष्ठ । मुझसे कर्म किए बिना रहा नहीं जाता इसलिए मैं चौबीसों घण्टे काम करूँगा भले औरों का काम छीनना पड़े ।

इस तरह का दूषित कर्म ध्यान का आलम्बन नहीं बन सकता यह बात नहीं कि सिर्फ कर्म ही दोषयुक्त और अनाध्यात्मिक है और ध्यान सर्वथा दोषमुक्त और आध्यात्मिक । यह धारणा यदि त्रुटि पूर्ण न होती, तो ध्यान के गहरे आयामों को छूने वाले रावण, रासपुटिन अनाध्यात्मिक न होते, ध्यान के द्वारा उनका शक्ति-संचय कुछ इसी तरह का था जिस प्रकार हिटलर, मुसोलिनी जैसों का कर्म के द्वारा शक्ति संचय । अध्यात्म के अभाव में ये सभी स्वयं की शक्ति के द्वारा ही बुरी तरह तबाह हो गए ।

इनमें आध्यात्मिक का समावेश उस समय नितान्त जरूरी हो जाता है जब दोनों महाशक्तियों का मिलन और मिलन के रूप में परम शक्ति की उपलब्धि सोची जा रही हो, ध्यान के आलम्बन के रूप में कर्म के होने पर तन्मयता की उपलब्धि होती है, शरीर और मन की सामर्थ्य अनेक गुना बढ़ जाती है लेकिन यह प्रथम चरण है । अध्यात्म के सिंहद्वार का दर्शन मात्र, प्रवेश नहीं । प्रवेश तो उस भाव के साथ होता है जिसमें हम भगवान की उपस्थिति को हृदय में अनुभव करते हैं । भावों के इस प्रवाह में भीग चुके अस्तित्व से यह निरन्तर स्पन्दित होता रहे कि यह काम भगवान अपने एक यन्त्र के द्वारा स्वयं के लिए कर रहे हैं ।

प्रक्रिया के इस सिलसिले में अनुभूतियों का वैसा ही दौर शुरू होता है जो ध्यान के अन्य साधक को मिलती हैं । क्रिया, कर्म, कर्त्ता का अलगाव ध्याता ध्येय के अलगाव की भाँति है । साधना की प्रगाढ़ता में अलगाव की रेखाएँ मिट जाती हैं साधक साकार से निराकार भाव में प्रवेश करता है । चित्त के परिपूर्ण समाधान की यही दशा समाधि की है ।

ध्यानयोग अष्टांग योग में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है । भक्ति, ज्ञान और कर्म की तीनों धाराएँ यहाँ आकर मिल जाती हैं । यदि ध्यान का मर्म हृदयंगम किया जा सके तो सहज ही सिद्धि की उपलब्धि भी सम्भव है ।

एकाग्रता के सम्पादन के लिए त्रिविध योग साधन

उथली जानकारियाँ तो आँखों से देखकर या अन्य इन्द्रियों के सहारे प्राप्त की जा सकती हैं किन्तु किसी विषय का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता होती है । इसके बिना गहराई में गोता लगा सकना और कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं होता । रसायन शास्त्री, पदार्थ विज्ञानी, खगोलवेत्ता साहित्यकार, दार्शनिक किन्हीं महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर अपनी एकाग्रता शक्ति के सहारे ही पहुँच सकते हैं । सामान्य जीवन में भी इसका बड़ा उपयोग है । विद्यार्थी, यदि ध्यानपूर्वक न पढ़ें, श्रोता यदि मन लगाकर न सुनें, दर्शक ऐसे ही अन्य मनस्क होकर देखें तो जो कुछ सामने प्रस्तुत हुआ उसका छोटा अंश भी पल्ले न पड़ेगा । अपने-अपने कामों में प्रवीण पारंगत कहलाने वाले व्यक्तियों की वे विशेषताएँ कहीं से उपहार-अनुदान में प्राप्त नहीं की होतीं । वे उन्होंने एकाग्रता द्वारा उपार्जित मनोयोग के सहारे ही उपलब्ध की होती हैं । इसका अभाव रहने पर जो भी काम किया जायेगा । उसमें अस्त-व्यस्तता, अपूर्णता और कुरूपता ही दृष्टिगोचर होती रहेगी । विभिन्न क्रिया-कलापों में मिलने वाली असफलता सफलता के पीछे अन्य कारण उतने प्रमुख नहीं होते जितनी कि एकाग्रता की कमी-वेशी काम करती है ।

मस्तिष्कीय चेतना की समुचित मात्रा हर किसी के भीतर प्रचुर परिमाण में मौजूद है । जन्मजात मानसिक अपंगता या दुर्बलता भी किन्हीं अविकसित संरचना के रोगियों में पायी जाती है, पर वह अपवाद है सामान्य नियम नहीं । औसत मनुष्य की मानसिक संरचना ऐसी होती है जिसके आधार पर उसे बुद्धिमान घोषित किया जा सके । प्रश्न इस बुद्धिमत्ता को अविकसित स्थिति में पड़े रहने देने या विकसित करने का है । यह मनुष्य के अपने प्रयत्नों पर निर्भर है । यदि एकाग्रता की क्षमता बढ़ा ली जाय और अपने चिन्तन या कर्म में तन्मयतापूर्वक संलग्न हुआ जाय तो निश्चय ही गहरी जानकारी और कुशल प्रवीणता हस्तगत होती चली जायेगी । यही है प्रगति और सफलता का आधार अवलम्बन ।

एकाग्रता, अभ्यास साध्य है । जिस प्रकार अभ्यास से खेल-कूद में अथवा शिल्प संगीत में मनोयोगपूर्वक लगने से उनमें प्रवीणता प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार अन्य विषयों में भी तन्मय हो सकना सम्भव हो सकता है । दिलचस्पी का इस सन्दर्भ में बड़ा योगदान रहता है । किसी विषय में रुचि हो तो मन का आकर्षण सहज ही उस पर केन्द्रित रहेगा । उदासीनता अथवा उपेक्षा बुद्धि रहने से महत्त्वपूर्ण कार्य भी निरर्थक लगते हैं और उन्हें करने के लिए जी नहीं होता ।

एकाग्रता का घेरा बना देने से अभीष्ट एवं आमन्त्रित विचारों का ही प्रवेश मस्तिष्क में हो पाता है । यदि ऐसा घेरा न हो तो फिर खुले खेत में जिस प्रकार हर दिशा से पशु-पक्षी घुस पड़ते हैं उसी प्रकार अनावश्यक और अवांछनीय विचार मस्तिष्क में घुस पड़ते हैं और मानसिक क्षमता की खेती को ऐसे ही खा-पीकर समाप्त कर देते हैं । असम्बद्ध और अनर्गल विचारों में उलझा हुआ व्यक्ति चिन्तन प्रवाह का रचनात्मक उपयोग कर नहीं पाता । फलतः मानसिक उत्पादन भाप की तरह उड़ता और अन्तरिक्ष में विलीन होता रहता है । इस अपव्यय को यदि रोका जा सके और निहित प्रयोजन के लिए लगाया जा सके तो शक्ति के नये स्रोत खुलते हैं और प्रतीत होता है कि प्रवीणता प्राप्त कर सकने की सामर्थ्य का किसी दिव्य लोक से अभिनव वरदान प्राप्त हुआ है ।

भाप नित्य ही चूल्हे पर चढ़े बर्तनों से उड़ती रहती है । इस भाप को अवरुद्ध कर देने पर उससे प्रेशर कुकर के सहारे मिनटों में अच्छी रसोई बन जाती है । थोड़ी-सी भाप रेलगाड़ी के विशालकाय ढाँचे को सहज ही द्रुतगति से घसीटती चली जाती है । इंजन में दृष्टिगोचर होने वाली प्रचण्ड शक्ति वस्तुतः कुछेक बाल्टी पानी को गरम एवं एकाग्र करके प्राप्त की जाती है । जमीन पर ऐसे ही बिखरी पड़ी रहने वाली धूप साधारणतया थोड़ी-सी गर्मी और रोशनी भर दे पाती है किन्तु वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे सूर्य बैटरी—सूर्य चूल्हा आदि बनते हैं । निकट भविष्य में उसी के सहारे विशालकाय बिजलीघर चलाने की योजना है । जो धूप, समुद्र में बादल उठाने में समर्थ है उसी का सदुपयोग करने पर ऊर्जा की मानवी आवश्यकता सहज ही पूरी की जा सकती है । दो इन्च जगह की धूप

को आतिशी-शीशे के सहारे केन्द्रित करके उससे क्षणभर में ऐसी आग उत्पन्न की जा सकती है, जिसे दावानल के रूप में परिणत किया जा सके । बन्दूक से निकलने वाली गोली मात्र बारूद का चमत्कार नहीं है उसे गर्मी तथा एक दिशा देने से ही लक्ष्य वेध होता है । यह एकाग्रता की ही शक्ति की महत्ता है जिससे बाण सही निशाने पर लगता है और मनुष्य अभीष्ट सफलताएँ उपलब्ध करता है । संसार में वैज्ञानिक आविष्कारों से लेकर अनेकानेक आश्चर्यजनक अनुसन्धानों, आविष्कारों एवं निर्माण में यह एकाग्रता की शक्ति ही छाई हुई देखी जा सकती है । मूर्तिकार, चित्रकार, कलाकार अपनी इसी एकाग्रता शक्ति द्वारा अपना कौशल प्रकट कर सकते हैं । मन का बिखराव रहने पर समस्त साधन होते हुए भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि सम्भव न हो सकेगी ।

एकाग्रता की शक्ति भौतिक सफलताओं की तरह आत्मिक प्रगति के लिए भी अनिवार्य रूप से आवश्यक है । ध्यान को अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है । ध्यान की उपयोगिता, महत्ता एवं आवश्यकता को साधना विज्ञान के अन्तर्गत बहुत ही महत्त्वपूर्ण बताया गया है । साधना के प्रत्येक उपचार में मन को एकाग्र रखने पर जोर दिया जाता है । अपने अन्तर की प्रसुप्त शक्तियों को जागृत और उसे उपयोगी प्रयोजनों के लिए प्रशिक्षित करने के लिए उस एकाग्रता की शक्ति का ही उपयोग करना पड़ता है । नोंकदार सुई को ही ठीक तरह चुभाया जा सकता है । नोंक पैनी न होने पर छेद करने वाला कोई भी उपकरण अपना काम ठीक तरह न कर सकेगा । चिन्तन को नोंकदार बनाने के लिए उसे एकाग्रता के पत्थर पर घिसना पड़ता है । मानसिक बिखराव को फैली हुई सूर्यकिरणों के समतुल्य समझा जा सकता है । आतिशी-शीशे के सहारे उनका केन्द्रीकरण किया जाता है । यह प्रखर एकाग्रता मनः संस्थान के जिस भी केन्द्र पर अपना प्रभाव डालती है उसमें गर्मी उत्पन्न होती है । गर्मी से हर चीज फैलती और उठती है । अन्तःक्षेत्र की संकीर्णता और प्रसुप्त स्थिति को सक्रिय बनाने में ध्यान जन्य एकाग्रता बहुत काम करती है । मुख्यतया इसी के सहारे आन्तरिक जागरण के—आत्मोत्कर्ष के अनेक आधार खड़े होते हैं और उच्चस्तरीय सफलताओं का प्राप्त कर सकना सम्भव होता है ।

एकाग्रता का प्रमुख आधार है दिलचस्पी । मन वहीं केन्द्रित होता है जहाँ दिलचस्पी होती है । किसी वस्तु के प्राप्त होने पर क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं । इस पर विचार करने से उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है । इसी आकर्षण के चुम्बकत्व से मन उसमें संलग्न रहने के लिए सहमत होता है । ईश्वर भक्ति इसी प्रयोजन की पूर्ति करती है । परमात्मा कितना महान है उसका सान्निध्य अनुग्रह कितना श्रेयस्कर है । यह तथ्य जितनी अच्छी तरह हृदयंगम किया जा सकेगा उतना ही आकर्षण बढ़ता चला जायेगा । यह आकर्षण ही प्रेम है । प्रेम का ही दूसरा नाम भक्ति है । भक्ति भावना द्वारा ही ईश्वर के प्रति आत्मीयता बढ़ती है और आकर्षण उत्पन्न होता है । नाम महात्म भजन प्रभाव, भगवान की भक्तवत्सलता जैसी भक्ति भावनाओं के प्रति प्रगाढ़ता उत्पन्न करने वाले स्वाध्याय, सत्संग, मनन, चिन्तन से ईश्वर प्राप्ति के लिए उत्सुकता बढ़ती है । यह उत्सुकता जितनी ही प्रगाढ़ होगी उतना ही मन उसमें सरसता अनुभव करने लगेगा और उसी के इर्द-गिर्द छाया रहेगा । एकाग्रता का यह प्रथम सौपान है । भौतिक प्रयोजनों में भी मन लगाने के लिए यही करना पड़ता है । शिक्षा, शिल्प, खेल, धन, यश, शोध, अध्ययन आदि का माहात्म्य जितनी अच्छी तरह समझ लिया गया होगा । उसके प्रति जितना आकर्षण उत्पन्न कर लिया गया होगा उतना ही मन उसमें लगेगा । मनुष्यों के परस्पर सम्बन्धों में भी चित्त से न उतरने वाली घनिष्ठता उसी आधार पर उत्पन्न होती है । दाम्पत्य प्रेम या अन्य लोगों के प्रति जितना प्रेम-भाव होगा उतना ही उनके सम्बन्ध में मन रमता रहेगा । यह कार्य उदासीनता की स्थिति में सम्पन्न हो नहीं सकता । मन को यदि किसी केन्द्र पर गहराई के साथ नियोजित करना हो तो सर्वप्रथम उस संदर्भ में आकर्षण बढ़ाने की दिशा में ही कदम बढ़ाना चाहिए । भक्ति योग का यही उद्देश्य है ।

मनोनिग्रह एवं मनोलय योगाभ्यास का केन्द्र बिन्दु है । उसका उद्देश्य एकाग्रता का उत्पादन है । यह बहुत बड़ी उपलब्धि है । इसके सहारे ही भौतिक सिद्धियाँ और आत्मिक ऋद्धियाँ हस्तगत होती हैं ।

मनोलय का प्रथम चरण भक्तियोग है, द्वितीय चरण ज्ञानयोग और तृतीय कर्मयोग ज्ञानयोग में ध्यान करना पड़ता है । ध्यान का तात्पर्य है चिन्तन को एक ही प्रवाह में बहने देना । उसे अस्त-व्यस्त उड़ानों में भटकने से रोकना । यह कार्य किसी एक ही लक्ष्य पर कुछ समय तक विचार तरंगों को केन्द्रीभूत किए रहना । वैज्ञानिक अपनी शोध परिधि में, साहित्यकार अपने सृजन क्षेत्र में, उपासक अपने इष्टदेव में सारी विचार शक्ति को नियोजित करते हैं । एक बिन्दु पर केन्द्रीयकरण आरम्भ में ही सम्भव नहीं । इसलिए उपासना में कोई साकार दृश्य निर्धारित करना होता है । इष्टदेव की प्रतिमा—प्रभात कालीन सूर्य, दीप शिखा, विराट् ब्रह्माण्ड आदि कुछ भी प्रतीक बनाया जा सकता है पर होना उसका आकार चाहिए । ध्यान में प्रधानतया किसी आकृति का ही निर्माण करना होता है । पंचतत्वों में अग्नि प्रधान है । उसकी तन्मात्रा रूप है । रूप के द्वारा मन पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना अन्य किसी प्रकार नहीं । यों उसके दूसरे प्रकार भी हैं । शरीर पंचतत्वों से बना है । उनकी पाँच तन्मात्रा हैं । पाँच ज्ञानेन्द्रिय उन्हीं का प्रतिनिधित्व करती हैं । शब्द पर दिव्य कर्णेन्द्रियों द्वारा ध्यान केन्द्रित हो सकता है । नाद योग में शब्द श्रवण का यही उद्देश्य है । नासिका द्वारा गन्ध को—जीभ द्वारा स्वाद को—त्वचा द्वारा सर्द-गर्म या किसी अन्य प्रकार के स्पर्श को माध्यम बना कर ध्यान योग का अभ्यास किया जा सकता है । सांसारिक विषयों, योजनाओं में अन्वेषणों, कल्पनाओं में भी एक सीमाबद्ध क्षेत्र बना कर उसमें तन्मय हुआ जा सकता है । इसमें एक निर्धारित रूप न होकर अनेकों आकृतियाँ मस्तिष्क में होकर गुजरती रहती हैं पर होती एक क्षेत्र की ही हैं । सीमित परिधि का सभी चिन्तन ध्यानयोग के अन्तर्गत आ जायेगा । दिशा धारा का अतिक्रमण न करने से काम चल जाता है । नदी एक दिशा में बहती रहे तो काम चल जाता है । उसमें लहरें उठती रहें, भँवर पड़ते रहें तो इससे कोई विशेष हर्ज नहीं है । एक केन्द्र बिन्दु पर यदि एक मिनट मन स्थिर हो जाय तो योगनिद्रा का आनन्द मिल सकता है और यदि तीन मिनट स्थिरता रहने लगे तो समाधि की स्थिति बन जायेगी । वह स्थिति समय साध्य है । मध्यवर्ती ध्यान प्रयोजन तो इतने से ही सध जाता है कि विचारों की दिशा धारा अपने निर्धारित सीमाबन्धनों में बंध कर प्रवाहित होती रहे । ज्ञानयोग का माध्यम ध्यान है । भक्तियोग द्वारा गहरी दिलचस्पी, प्रेम भावना, सघन आकर्षण उत्पन्न कर लेने के उपरान्त चिन्तन प्रवाह को एक दिशा धारा में प्रवाहित करने वाली ध्यान धारणा कुछ कठिन नहीं रह जाती ।

योगाभ्यास का तीसरा चरण है—कर्मयोग । अन्तःकरण की, कारण शरीर की, आकांक्षाएँ, भाव सम्वेदनाएँ मस्तिष्क को उत्तेजित करती हैं और प्रस्तुत अभिरुचि को पूरा करने के लिए ताना-बाना बुनने का निर्देश करती हैं । वह उत्साही वकील की तरह तर्क-कुशल, आर्कीटेक्ट की तरह नक्शे बनाना और चतुर व्यवस्थापक की तरह साधन जुटाने के लिए आवश्यक दौड़धूप आरम्भ कर देता है । जिस प्रकार भावनाओं को ज्ञान संस्थान के सहारे अपनी आकांक्षा पूरी करने का अवसर मिलता है उसी प्रकार चिन्तन को मूर्तरूप दे सकना क्रिया-कलापों के द्वारा ही बन पड़ता है । कार्यरूप में परिणत किए बिना तो मस्तिष्कीय भाग-दौड़ मात्र कल्पना या योजना बना कर रह जायेगी ।

विचार और कार्य के संयोग से प्रवीणता उत्पन्न होती—संस्कार बनते हैं । अभ्यास से स्वभाव बनता है । उसी के फलस्वरूप व्यक्तित्व का ढाँचा खड़ा होता है । साधनों का जुटाना इसी प्रखरता के लिए सम्भव होता है । तन्मयता जब तत्परता का रूप धारण करती है तो विचारों को मूर्तिमान बनने का अवसर मिलता है । सफलता इसी स्थिति का नाम है । भाव का वाहन—मस्तिष्क और मस्तिष्क का वाहन-शरीर है । वे अपना-अपना योजन अपने सेवकों से पूरा कराते हैं । शरीर के भी दस सेवक हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ । क्रिया-कलाप इसी की सहायता से सम्भव होते हैं । कर्म के फलस्वरूप जो उपलब्धियाँ होती हैं, उन्हीं को सिद्धि या सफलता कहा जाता है ।

आत्मिक प्रगति के प्रयोजनों में क्रिया योग का विस्तार धर्मानुष्ठान एवं कर्मकाण्डों के रूप में हुआ है । जप, पूजन, अभिषेक, आसन, प्राणायाम परिक्रमा, हवन, स्नान, तीर्थ-यात्रा, दान-पुण्य, व्रत-उपवास आदि शरीर तथा वस्तुओं की सहायता से बन पड़ने वाले सभी क्रियाकृत्य इसी श्रेणी में आते हैं । इनमें विचार और कार्य का समन्वय होने से अन्तः क्षेत्र में तदनुरूप संस्कारों

की स्थापना होती है । वे ही परिपक्व होकर आत्मिक प्रगति के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं ।

सामान्य जीवन में श्रम की महत्ता से सभी परिचित हैं । साधनों और श्रम का समन्वय होने से प्रत्येक प्रकार का उत्पादन होता है और उस उपार्जित वैभव द्वारा ही विभिन्न प्रकार के सुख साधन खरीदे जाते हैं । तरह-तरह की सफलताएँ मिलने का श्रेय मिलता है । कर्म की महत्ता से हर कोई परिचित है । कर्म की उपेक्षा करने वाले को कर्महीन, अकर्मण्य, निकम्मा कहकर भर्त्सना की जाती है । आलस्य को शारीरिक और प्रमाद का, मानसिक-शिथिलता को दरिद्रता एवं दुर्गति का आधारभूत कारण माना गया है । कर्म लेख की चर्चा भाग्यवादी करते रहते हैं । उसमें भी देर-सबेर के कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख मिलने का ही प्रतिपादन है । गीता के कर्मयोग में विकास की सर्वतोमुखी सम्भावनाओं के लिए कर्तव्य परायणता को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है ।

योग का अर्थ है जोड़ना, मिलना, घुलना । आत्मा को परमात्मा के साथ घुला देने की तुच्छता को महानता में परिणत कर देने का उद्देश्य जिस प्रक्रिया से पूरा होता है उसी का नाम योग है । मन को अन्तःकरण से व्यक्ति को समाज से तथ्य को आदर्शों से जोड़ देने वाले महान प्रयास को योग कहा गया है । योग द्वारा भौतिक क्षेत्र में समृद्धियाँ और आत्मिक क्षेत्र में विभूतियाँ उपलब्ध करने का जो माहात्म्य बताया गया है वह शास्त्र सम्मत भी है और विज्ञान संगत भी । योग साधक को भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की समन्वित साधना करनी पड़ती है । इस प्रयास में सच्चे मन से संलग्न होने वाले लौकिक और पारलौकिक उभय पक्षीय सुख-शान्ति का लाभ प्राप्त करते हैं और स्वर्ग मुक्ति का इसी जीवन में रसास्वादन करते हैं ।

ध्यान धारणा का स्वरूप और उद्देश्य

ध्यान धारणा के अनेकानेक प्रकार और प्रयोग हैं । उनमें से किसी को अपनाने से पूर्व उसकी प्रतिक्रिया और परिणति के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना चाहिए । अन्ध श्रद्धा से प्रेरित होकर किसी तथा कथित मार्ग-दर्शक के कथन प्रोत्साहन को आँखें बन्द करके अपना नहीं लेना चाहिए, अन्यथा अनुपयुक्त चयन हानिकारक भी हो सकता है । जिस लाभ की कल्पना की गई थी उसका मिलना तो दूर उल्टे हानिकारक परिस्थितियों में फंसना पड़ सकता है ।

ध्यान के प्रथम चरण में साधक को अपना समर्पण भाव अपने इष्ट के साथ तादात्म्य करना पड़ता है । द्वैत को अद्वैत में बदलना पड़ता है । ईंधन अपने को आग में झोंकता है तो वह कुछ ही देर में अग्नि रूप हो जाता है । इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करने पर उस दिव्य केन्द्र की दिव्य क्षमता का अवतरण साधक की समग्र सत्ता में होने लगता है । समर्पण की प्रतिक्रिया अवतरण है । रबड़ की गेंद जिस कोण से जिस स्थान पर जितने जोर से फेंकी जाती है, वह लक्ष्य से टकराने के बाद उतनी ही तेजी से उसी मार्ग से वापस लौटती है । ध्यान के साथ जुड़ी हुई श्रद्धा, शक्ति बन कर प्रयोक्ता के पास शब्द बेधी बाण की तरह वापस लौटती है । लौटते समय वह अधिक परिष्कृत स्तर की होती है । उसमें इष्ट की विशेषता भी जुड़ी होती है । इसका प्रयोग किस हेतु किया जाय, यह निर्णय करना साधक की अपनी विवेक बुद्धि पर निर्भर है । भागीरथ, पार्वती, दधीचि, विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि ऋषिगणों ने अपनी तपश्चर्या का प्रतिफल पुण्य प्रयोजनों के लिए किया था । किन्तु आत्म शोधन किए बिना जो आतुर साधना प्रयोजन में जुट गए, उनकी दुर्बुद्धि उपलब्ध सामर्थ्य का सदुपयोग न कर सकी । वृत्तासुर, भस्मासुर, रावण, हिरण्यकश्यप, मारीचि आदि ने उसका दुष्ट प्रयोजन के लिए उपयोग किया । फलतः उनके ऊपर विनाश बरसा और अपयश भी । इसलिए साधना से पूर्व आत्म शोधन के प्रथम चरण को पूरा कर लेने के लिए जोर दिया जाता रहा है । साधना से सिद्धि का मिलना तो निश्चित है । पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी साथ में जुड़ा हुआ है कि उसे किसलिए प्रयुक्त किया जाय ? उपलब्धि के पीछे क्या आकांक्षा रही और जब कुछ हाथ लगा तो उसका किस निमित्त उपयोग बन पड़ा ? यह सब परिष्कृत दृष्टिकोण पर निर्भर है । यदि उद्देश्य के पीछे उत्कृष्टता का समावेश न हो तो अध्यात्म मार्ग पर चलकर हस्तगत की गई उपलब्धियाँ भी भौतिक सम्पदा के दुरुपयोग करने पर

उपलब्ध होने वाले दुष्परिणाम की तरह अनर्थकारी ही सिद्ध होती हैं ।

आमतौर से देवी-देवताओं के ध्यान ही किए जाते हैं । अध्यात्म साधना में वही पुरातन प्रचलन है । पर देव वर्ग में से किसी को चुनने से पूर्व यह निरख-परख लेना चाहिए कि उपास्य की प्रकृति क्या है ? अनेक देवी-देवता तमोगुणी भी हैं । उनके स्वभाव, व्यवहार, प्रयास चरित्र जैसे पक्षों में अनैतिकता की भरमार होती है । इसमें से कई माँसभोजी, मद्यपायी, आक्रमणकारी, युद्ध प्रिय होते हैं । इनकी उपासना साधक में उन्हीं दुर्गुणों का आविर्भाव करेगी । कुछ दिन में उसकी प्रकृति में उन्हीं दुर्गुणों की भरमार होने लगेगी । तन्त्र साधना में यही होता है । उसमें तमोगुणी देवताओं को सिद्ध किया जाता है और उस आधार पर मिले अनुदानों को मारण, मोहन, उच्चारन, वशीकरण, स्तम्भन जैसे हेय प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाता है । कर्म अपना प्रतिफल निश्चित रूप से देते हैं और लौट कर प्रयोक्ता के पास देर-सबेर में वापस लौट आते हैं, इसमें दूसरों का अनिष्ट करने वाले स्वयं भी उस कुकृत्य के दुष्परिणाम से बचे नहीं रह सकते । इस तथ्य को समझते हुए प्रारम्भिक चयन में समुचित सावधानी बरती जानी चाहिए । सात्विकता का अवलम्बन ही श्रेयस्कर समझा जाना चाहिए । आदर्शवादी उदार चेताओं में हनुमान, नारद, बुद्ध जैसों की गणना होती है और देवियों में सरस्वती, पार्वती, गायत्री जैसे इष्टों को उच्चस्तरीय माना जाता है । उनमें आदर्शवादी विभूतियों की विशिष्टता गिनी जाती है ।

जिन्हें देवी-देवताओं में रुचि नहीं, वे किन्हीं आदर्शों को अपने में विकसित करने के लिए उनका प्रतीक कमल पुष्प भी मान सकते हैं । इस मान्यता में मात्र छवि का ही ध्यान नहीं करना चाहिए वरन् उन पर आरोपित विभूतियों, का भी समन्वय रखना चाहिए । यह तथ्य प्रत्येक ध्यान केन्द्र के सम्बन्ध में लागू होता है । यदि मात्र छवि को ही आधार माना गया है और उसके साथ अभीष्ट गुणवत्ता का आरोपण नहीं किया गया है तो छवि दर्शन मात्र कौतूहल की ही पूर्ति करता है । साधक को वह अनुदान प्रदान नहीं कर सकता, जो गुणवत्ता का समन्वय रखे रहने पर मिल सकता था ।

महामानवों को भी इष्ट मानकर चला जा सकता है और उनके अनुकरण के लिए आतुर रहा जा सकता है । विवेकानन्द, दयानन्द, गाँधी बिनोवा जैसे आदर्शों के धनी भी यदि अपनी ध्यान धारणा का केन्द्र रहे तो हर्ज नहीं । गाय जैसे पशु, हंस जैसे पक्षी, पीपल जैसे वृक्ष भी आराधना के केन्द्र रखे जाने पर अपनी सत्ता में समाहित विशेषताएँ साधक को प्रदान करते रह सकते हैं ।

वेदान्त दर्शन में अन्तरंग की उत्कृष्टता को ही परमब्रह्म माना गया है सोऽहम्, शिवोऽहम्, सच्चिदानन्दोऽहम्, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म जैसे सूत्रों में आत्मा और परमात्मा की एकता का सिद्धान्त स्वीकारा गया है । पर यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि आत्मा का शुद्ध श्रेष्ठ, उत्कृष्ट स्तर ही इस प्रतिपादक के अनुरूप बनता है । यदि दोष, दुर्गुणों, दुर्व्यसनों की कीचड़ से सनी हुई चित्त चेतना को अपना स्वरूप मानने की भूल की गई तो जुड़े हुए दुर्गुण भी परब्रह्म के स्वरूप बन जायेंगे और साधक निष्कृष्टता को भी अपनाये रहेगा और उनके निराकरण की आवश्यकता न समझेगा । वेदान्त का वास्तविक प्रतिपादन है आत्मा में संव्याप्त परमात्मा की दिव्य चेतना के साथ सम्बन्ध साधना । उसके साथ माया जाल की तरह गुंथ गई निष्कृष्टता के प्रति तो तिरस्कार एवं परिशोधन का भाव रखना ही है । स्मरण रहे, दुष्प्रवृत्तियाँ बिना संघर्ष के हटती नहीं हैं । इसके लिए तप तितीक्षा भी, समय साधना और परमार्थ परायणता के त्रिविध अभ्यास भी अनिवार्य रूप से करने होते हैं ।

सोऽहम् साधना यों प्राणायाम के माध्यम से चलती हैं । साँस खींचने के साथ 'सो' और छोड़ते समय 'हम्' की ध्वनि पर ध्यान एकाग्र करने के साथ यह भाव भी सघन रखना पड़ता है कि वह (परमात्मा) एवं ऽहम् (आत्मा), दोनों के बीच सघन समन्वय और आदान-प्रदान का जो उपक्रम चलता है, उसे अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाय । इस प्रकार प्राण योग द्वारा भी अद्वैत एकात्मता की साधना हो सकती है । जप काल में दिव्य प्रतिमा की अन्तरात्मा के साथ अपनी आत्मा का समर्पण विलय अनुभव करते रहने से भी वही परिणाम उपलब्ध किया जा सकता है ।

छाया पुरुष या दर्पण साधना के पीछे भी यह उद्देश्य जुड़ा हुआ है । धूप में या प्रकाश की ओर पीठ करके खड़ा होने पर शरीर की छाया सामने आ जाती है । उसे अपना शुद्ध स्वरूप सामने उपस्थित समझा जा सकता है । इससे भी अधिक सुगम दर्पण साधना है । समस्त शरीर का प्रतिबिम्ब दिखा सकने वाला आदम कद दर्पण हो तो उत्तम । अन्यथा उसका आकार इतना तो होना ही चाहिए जिसमें बैठने पर चेहरे की प्रतिच्छाया समान आकार में दीख पड़े । इसको विशुद्ध आत्म सत्ता की प्रत्यक्ष छवि माना जाय । उसमें दिव्य सद्गुणों का सघन समावेश अनुभव किया जाय । साथ ही इसके दुर्गुण कषाय कल्मष हिम ऋतु में झड़ जाने वाले पत्तों की तरह झड़ते जाने की मान्यता को अधिकाधिक प्रखर किया जाय । यही आत्म दर्शन है । इसकी महिमा भी देव दर्शन के समतुल्य है ।

छवि निर्धारण एकाग्र समर्पण का अवधारण एवं उत्कृष्टता का आरोपण इन तीनों का समन्वय होने पर ही ध्यान की पूर्णता बनती है । मात्र छवि पर कल्पना को केन्द्रित करने से अध्यात्म प्रगति का उद्देश्य पूरा नहीं होता । उतने भर से तो मात्र एकाग्रता सम्पादन में थोड़ी सहायता भर मिलती है । यों एकाग्रता साधना भी भौतिक और आत्मिक प्रगति के काम आने वाली आवश्यक उपकरण जैसी उपलब्धि ही है । पर उतने तक सीमित रहकर आत्मोत्कर्ष का महान प्रयोजन पूरा नहीं होता ।

परब्रह्म को सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय मानना और उन विभूतियों का भक्ति भावना के माध्यम से जीवन-चर्या में समावेश होना, यही है ध्यान-धारणा का वास्तविक स्वरूप । यही है दैवी अनुग्रह और आत्मिक प्रगति का स्पष्ट चिह्न । इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेक आकार-प्रकार की विविध विधि ध्यान धारणाएँ की जाती हैं । इस तथ्य को कभी भी विस्मृत नहीं करना चाहिए ।

सर्वथा निराकार का ध्यान जिन्हें अभीष्ट हो, वे नाद योग की साधना कर सकते हैं । कानों को बन्द करके अनाहत दिव्य ध्वनियाँ सुनी जाती हैं । गहराई में उतरने और अन्तराल में उठती दिव्य ध्वनियों के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर कई प्रकार के चित्र-विचित्र शब्द सुनाई पड़ते हैं । शंख, घण्टा, घड़ियाल, मृदंग, नफीरी गर्जन, बंसी आदि से मिलते-जुलते वे शब्द होते हैं । आरम्भ में ध्वनियाँ अतीव मन्द होती हैं और रुक-रुक कर सुनाई पड़ती हैं । पर अभ्यास करते रहने से उनमें स्पष्टता, समस्वरता आती जाती है । यह शब्द श्रवण भी साथ में सोऽहम् की अनुभूति होने के सदृश्य है । छवियों को नेत्र बन्द कर लेने पर भी आभास होते रहने में भी तथ्य का समावेश है । इस स्तर की कोई भी साधना क्यों न हो, उनके साथ उत्कृष्टता की पक्षधर भाव सम्वेदनाओं का जुड़ा रहना आवश्यक है । क्योंकि आत्मपरिष्कार की बात इसी समन्वय के आधार पर बनती है । आत्म परिष्कार की प्रवृत्ति दो स्वरूप धारण करती है । एक प्रत्यक्ष और परोक्ष दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और आदर्शवादी दिव्य सत्प्रवृत्तियों का सम्वर्धन । परमकल्याण का, ईश्वर साक्षात्कार का स्वर्ग मुक्ति का यही आधार है । इस गन्तव्य तक पहुँचने के लिए ही अनेक स्तर की ध्यान धारणाओं में से किसी एक का या किन्हीं का चयन किया जाता है ।

ध्यान साधना की आवश्यकता व उपयोगिता

कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर सब कुछ पाया जा सकता है, ऐसा कहा जाता है । पता नहीं यह कहाँ तक सच है, पर यह जरूर सच है कि ईश्वरीय सत्ता से सम्पर्क सन्निध्य, घनिष्ठता बना लेने के बाद भी ऐसा कुछ शेष नहीं रह जाता जिसे अभाव दारिद्रय अथवा शोक संताप कहा जा सके । क्योंकि मनुष्य की सारी पीड़ा असन्तोष और वेदनाओं का एक मात्र कारण जीव-सत्ता का ब्रह्म-सत्ता से पृथक होना है ।

उस पृथकता को अभिन्नता में बदलने के लिए उपासना ध्यान धारणा का विधि-विधान है । इसके लिए लोग उपासना साधना का कुछ क्रम चलाते भी हैं पर आमतौर से उपासना करने वालों को यह शिकायत रहती है कि भजन करते समय उनका मन स्थिर नहीं रहता, अनेक जगह भागता रहता है । साधना में मन न लगे, चित्त कहीं का मारा कहीं भागा फिरे तो उसमें वह आनन्द नहीं आता जो आना चाहिए ।

इस कठिनाई का उपाय सोचने से पूर्व यह विचार करना होगा कि मन क्यों भागता है ? और भागकर कहाँ जाता है ? हमें जानना चाहिए कि मन प्रेम का गुलाम है । जहाँ भी जिस वस्तु में भी प्रेम मिलेगा वहीं मन उसी प्रकार दौड़ जायेगा जैसे फूल पर भौंरा जा पहुँचता है । साधारणतया लोगों का प्रेम अपनी स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, व्यवसाय, यश, मनोरंजन आदि में होता है । इन्हीं प्रिय वस्तुओं में मन दौड़-दौड़कर जाता है । भजन को हम एक चिह्न पूजा की तरह पूरा तो करते हैं पर उसमें सच्चा प्रेम नहीं होता । इष्टदेव को भी हम कोई बहुत दूर का अपने से सर्वथा भिन्न तत्व मानते हैं, उससे कुछ चाहते तो हैं पर अपने तथा उसके बीच में कोई प्रेम और आत्मीयता का सम्बन्ध सूत्र नहीं देखते । राजा और भिखारी के बीच जो अन्तर होता है वही हमें अपने और इष्टदेव के भीतर लगता रहता है । ऐसी दशा में मन यदि भजन में न लगे और अपने प्रिय विषयों में भागे तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं । यह स्वाभाविक ही है ।

भजन में मन लगे इसके लिए बलात्कारपूर्वक मन को रोकने का प्रयत्न निष्फल ही रहता है । यह एक तथ्य है कि मन प्रेम का गुलाम है । वह वहीं टिकेगा जहाँ प्रेम होगा । यदि भजन के साथ प्रेम-भावना का समावेश कर लिया जाय तो निश्चित रूप से मन उसमें उसी प्रकार लगा रहेगा । जैसे संसारी मनुष्यों का अपने स्त्री-पुत्र, धन आदि में लगा रहता है ।

किसी भी वस्तु या लक्ष्य के प्रति राग या प्रेम उत्पन्न होता है, जबकि उसके महत्त्व को जान लिया जाय अथवा उससे कोई लाभ होता दिखाई दे । इसलिए ध्यान, एकाग्रता के लाभ को समझ लिया जाय तो फिर उस दिशा में मन लगना कोई समस्या न रहेगी ।

मानवी मस्तिष्क कई शक्तियों का भण्डार है । मस्तिष्क ही क्यों मनुष्य का पूरा अस्तित्व ही शक्तियों का अजस्र भण्डार है । ध्यानयोग का उद्देश्य उन शक्तियों को उपलब्ध करने के साथ-साथ उनके बिखराव तथा अपव्यय को रोकना है ।

शक्ति को उपलब्ध करना बड़ी बात नहीं, उसे बिखराव की निरर्थक एवं अपव्यय की अनर्थ मूलक बर्बादी से भी बचाया जाना चाहिए । शक्ति की उपलब्धि का लाभ तभी मिलता है जब उसे संग्रहित करने और सत्प्रयोजन में लगाने की व्यवस्था बन पड़े ।

धूप, गर्मी से ढेरों पानी समुद्र तालाबों में से भाप बन कर उड़ता रहता है, चूल्हों से कितनी ही भाप उत्पन्न होती और उड़ती है । इसका कोई उपयोग नहीं । किन्तु इन्जन में थोड़ा-सा पानी भाप बनाया जाता है । इतने मात्र से रेलगाड़ी का इन्जन चलने लगता है । चलता ही नहीं दौड़ता भी है । उसकी दौड़ इतनी सामर्थ्ययुक्त होती है कि अपने साथ-साथ बहुत भारी लदी रेलगाड़ी के दर्जनों डिब्बे घसीटता चला जाता है ।

सेरों बारूद यदि जमीन पर फैलाकर माचिस से जलाई जाय तो थोड़ी-सी चमक दिखाकर भक् से जल जायेगी । किन्तु यदि उसे बन्दूक की छोटी-सी नली के भीतर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर दिया जाय और घोड़ा दबाकर नन्हीं-सी चिनगारी से स्पर्श कराया जाय तो वह एक तोले से भी कम वजन की बारूद गजब ढाती है । सनसनाती हुई एक दिशा विशेष की ओर प्रचण्ड गति से दौड़ती है । अपने साथ लोहे की गोली और छर्रों को भी घसीटती ले जाती है और जहाँ टकराती है वहाँ सफाया उड़ा देती है ।

धूप थोड़ी-सी गर्मी, रोशनी पैदा करने जितनी ही काम कर पाती है । पर यदि उन किरणों का २-२ इंच के बिखराव के आतिशी-शीशे द्वारा एक केन्द्र पर केन्द्रित कर लिया जाय तो देखते-देखते आग जलने लगेगी ।

बिखराव को रोकने की—उपलब्ध शक्ति को संग्रहीत रखकर अभीष्ट प्रयोजन में प्रयुक्त कर सकने की कुशलता को आध्यात्मिक एकाग्रता कहते हैं । अध्यात्म शास्त्र में मनोनिग्रह अथवा चित्त निरोध इसी को कहते हैं । 'मेडीटेशन' की योग प्रक्रिया में बहुत चर्चा होती है । इसे एकाग्र हो सकने की कुशलता भर ही समझना चाहिए । सुनने, समझने में यह सफलता नगण्य जैसी मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह बहुत ही बड़ी बात है । इस प्रयोग में प्रवीण होने पर मनुष्य अपनी बिखरी चेतना को एकत्रित करके किसी एक कार्य में लगा देने पर जादू जैसी सफलताएँ—उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है ।

बाँधों में पानी भरा रहता है पर जब उसे एक छोटे छेद में होकर निकाला जाता है तो पानी के दबाव से वह धारा बड़ी तेजी से निकलती है । इस धारा में असाधारण शक्ति होती है, उसके प्रहार से अनेक मशीनों के पहिये घुमाये जाते हैं और उनके घूमते ही कई प्रकार के यन्त्र चलने लगते हैं । बड़े-बड़े बिजलीघरों का निर्माण बँधे हुए जलाशय बाँधों पर ही होती है । इन्जन या मोटर चलाकर बिजली पैदा करना महँगा होता है पर बाँध के सहारे तो यह उत्पादन काफी सस्ता पड़ता है । छोटे-छोटे जल प्रपातों से भी पनचक्की जैसी उपयोगी मशीनें चल पड़ती हैं । यह जल धार की—झरनों की नहीं एकाग्रता की शक्ति है । फैले क्षेत्र को छोटा कर देने से सहज ही उसकी प्रखरता बढ़ जाती है ।

एकाग्रता मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को संग्रहीत करना है । विज्ञानी, दार्शनिक, कलाकार, विद्वान, शिल्पी, साहित्यकार, व्यवस्थापक, संयोजक, नेता जैसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के निबाहने वाले व्यक्ति भी प्रायः सामान्य लोगों के जैसे ही होते हैं । न उनके शरीर में कोई अतिरिक्त कलपुर्जा होता है और न मस्तिष्क में जादू की छड़ी गढ़ी होती है । अन्य लोगों से भिन्नता और श्रेष्ठता का जितना कुछ चमत्कार दीखता है वह उनकी उस आन्तरिक विशेषता का परिणाम है जिसका प्रथम चरण एकाग्रता और दूरदर्शी लक्ष्य निष्ठा कहा जा सकता है । मस्तिष्कीय ऊर्जा हर किसी में प्रचुर परिमाण में होती है—यहाँ तक कि मन्द बुद्धि समझे जाने वाले लोगों में भी मूल प्रतिभा की कमी नहीं होती । अन्तर प्रसुप्त और जागृत स्थिति के परिणाम का होता है । सोती हुई स्थिति में बुद्धिमान मनुष्य भी अर्धमृतक की स्थिति में पड़ा रहता है, किन्तु जगाने पर अपना वर्चस्व सिद्ध करता है । यही बात मस्तिष्क के सम्बन्ध में है । परिस्थितिवश किन्हीं-किन्हीं के मस्तिष्कीय कण प्रसुप्त स्थिति में पड़े होते हैं और वे मन्द बुद्धि जैसे लगते हैं, किन्तु यदि उन्हें प्रयत्नपूर्वक जागृत किया जाय तो वे न केवल प्रतिभाशाली लोगों की पंक्ति में जा बैठते हैं, वरन् कई बातों में तो उनसे भी आगे निकल जाते हैं ।

कच्चे धागे मिलकर मजबूत रस्सी और कमजोर सींकें इकट्ठी होने से बुहारी बनने की बात सभी को मालूम है । बूँद-बूँद जोड़ने से घड़ा भरता है । यह उदाहरण मस्तिष्कीय बिखराव को रोक कर विचार तरंगों को एक केन्द्र पर निग्रहीत करने पर लागू होता है । अस्त-व्यस्त, अनियन्त्रित निरुद्देश्य चिंतन से मानसिक शक्ति की कितनी बर्बादी होती है और उन्हें एकाग्र करके दिशा विशेष में निरत कर देने पर कितने चमत्कार उत्पन्न होते हैं इस तथ्य को पग-पग पर परखा और सही पाया जा सकता है ।

ध्यान योग से इस तरह की मानसिक अस्त-व्यस्तता और 'मस्तिष्कीय बिखराव रुकता है' मन को एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित करने की प्रवीणता प्राप्त होती है । इस प्रयास में जिसे जितनी सफलता मिलती जाती है उसकी अन्तः चेतना में उसी अनुपात से बेधक प्रचण्डता उत्पन्न होती जाती है और शब्दबेधी बाण की तरह उसके लिए लक्ष्यवेध कर सकना सरल हो जाता है । यदि अध्यात्म उसका लक्ष्य होगा तो इस क्षेत्र में आशाजनक प्रगति होगी और विभूतियों से, दिव्य ऋद्धि सिद्धियों से उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा दिखाई देगा । यदि लक्ष्य भौतिक आयु का है तो भी इस एकाग्रता का समुचित लाभ मिलेगा और अभीष्ट प्रयोजनों में आशाजनक सफलता मिलती चली जायेगी । शक्ति का जब भी जिस दिशा में प्रयोग किया जायेगा उसी में सत्परिणाम प्रस्तुत होते चले जायेंगे ।

परन्तु भारतीय ऋषियों मुनियों ने ध्यान साधना को ईश्वरीय चेतना के साथ सम्पर्क स्थापना के लिए ही प्रयुक्त करने का निर्देश दिया है । इससे साधक-ईश्वरीय सत्ता की उन तमाम विशेषताओं को आत्मसात् कर लेता है । कहते हैं कि भृंगी नाम का उड़ने वाला कीड़ा झींगुर पकड़ लाता है और उसके सामने निरन्तर गुंजन करता रहता है । उस गुंजन को सुनने और छवि देखते रहने में झींगुर की मनःस्थिति भृंगी जैसी हो जाती है । वह अपने को भृंग समझने लगता है अस्तु धीरे-धीरे उसका शरीर भी भृंग रूप में बदल जाता है । कीट विज्ञानी इस किंवदन्ती पर सन्देह कर सकते हैं, पर यह तथ्य सुनिश्चित है कि एकाग्रतापूर्वक जिस भी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति का देर तक चिन्तन करते रहा जाय, मनुष्य की सत्ता उसी

ढाँचे में ढलने लगती है । परमात्मा की विशेषताओं व शक्तियों पर जितना ध्यान एकाग्र किया जाता है, उतनी ही वे विशेषताएँ साधन में अवतरित होती जाती हैं । अन्य प्रयोजनों के लिए की जाने वाली ध्यान साधना भी तभी फलीभूत होती है जबकि उसके लिए किसी न किसी रूप में ईश्वर का अवलम्बन किया जाय । फिर क्यों नहीं एकमात्र ईश्वर को ही अपना लक्ष्य आराध्य बनाया जाय, जिससे सम्बन्ध स्थापित होने पर सभी प्रयोजनों की पूर्ति हो जाती है ।

ध्यान के महत्त्व और लाभों को भली-भाँति समझने सुनने और स्वीकार करने के बाद किसी को यह शिकायत नहीं रहनी चाहिए हमारा ध्यान में मन नहीं लगता ।

ध्यानयोग की व्यावहारिकता

बिखरे ध्यान को अन्तर्मुखी करने के उपरान्त भीतरी क्षेत्र में भी उसे नुकीला बनाना चाहिए जिसके आधार पर अन्वेषण पर्यवेक्षण सम्भव हो सके । साथ ही अभीष्ट की उपलब्धि के लिए जो किया जाना चाहिए उसके एक नहीं अनेक विकल्प खोजे जा सकें ।

वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में यही हलचलें गतिशील रहती हैं । वे जिस विषय का अन्वेषण करते हैं, आविष्कार में निरत होते हैं उनकी कल्पनाएँ मोटे रूप में नहीं वरन् बारीकी से करते हैं । वस्तुओं की जोड़ तोड़ से निकलने वाले परिणामों की आधे से अधिक जाँच पड़ताल मस्तिष्क क्षेत्र में ही कर लेते हैं । जब कोई बात तर्क, तथ्य और कल्पना के सहारे सही बैठती है तो ही उसे प्रयोगशाला में बनाते बिगाड़ते हैं । प्रयोगशाला का आधा काम तो उनके भीतर कल्पना क्षेत्र में ही पूरा हो चुका होता है । वे यथार्थ कल्पना कर सकने के अभ्यासी बन जाते हैं । इस क्षेत्र में जो जितनी सफलता संचित कर सका होता है उसका पासा उसी अनुपात में सही पड़ता है ।

यह विशेषता किसी को भी अनायास नहीं मिलती । इस दिशा में एक-एक कदम आगे बढ़ाते हुए लक्ष्य तक पहुँचना पड़ता है । आरम्भ में छोटा आधार अपनाने और उस पर अभ्यास करते हुए कल्पना को तीखा किया जाता है । उसके साथ आत्मीयता जोड़नी पड़ती है । उस कल्पना में रहने वाली पूर्णता-अपूर्णता में अपनी व्यक्तिगत हानि लाभ होने वाली बात ध्यान में रखनी पड़ती है । पशुओं के मेले में बहुत जानवर बिकते हैं पर उनमें से अपनी दृष्ट उसी पर जमती है जो अपनी इच्छा या आवश्यकता के अनुरूप हो । उसकी बारीकियों पर अधिक मनोयोगपूर्वक जाँच-पड़ताल करने की इच्छा होती है और ऐसी बातें सूझती हैं जिनके आधार पर पसन्दगी वाली वस्तु के हर पक्ष पर गम्भीर विचार किया जा सके और इस निर्णय पर पहुँचा जा सके कि इसको खरीद कर ले जाना उचित होगा ।

ध्यान में रूप की प्रमुखता रहती है । जैसा प्रत्यक्ष देखा गया है कल्पना में ठीक उसी आकृति और प्रकृति का समन्वय देखना चाहिए । यह कार्य तस्वीरों की सहायता से आरम्भ करना उपयुक्त रहता है । यह किसी श्रद्धास्पद महापुरुष या आत्मीय परिजन का होना चाहिए ताकि उसके प्रति आत्मभाव का समन्वय सहज ही हो सके । जिसके प्रति प्रीति होती है उसका स्मरण जल्दी हो आता है ।

चित्र को सरसरी नजर से नहीं वरन् गम्भीरतापूर्वक देखना चाहिए । उसके चेहरे के नखशिख, केश, वस्त्र, मुखाकृति, मुद्रा आदि को पहले खुली आँखों से गम्भीरतापूर्वक देखा जाय । इसके उपरान्त आँखें बन्द करके उसी छवि को ध्यान क्षेत्र में उतारा जाय । सूक्ष्म नेत्रों में वह छवि इस प्रकार बस जानी चाहिए मानो वह प्रत्यक्ष ही देखी जा रही हो । इसके उपरान्त आँखें खोल कर देखा जाय कि प्रत्यक्ष और कल्पना के बीच क्या अन्तर रहा । इसमें आभूषणों और वस्त्रों में बेलबूटे के स्वरूप में अन्तर रह सकता है । दूसरी बार के, तीसरी बार के ध्यान में यह अन्तर निकालते-निकालते इस स्थिति पर पहुँचा जाय, मानो वह नेत्र बन्द रहते हुए भी प्रत्यक्ष देखा जा रहा हो । चित्र की ही तरह यह प्रयोग किसी प्रतिमा को माध्यम बनाकर भी किया जा सकता है । जिनकी देवता, महापुरुष आदि में रुचि न हो वे अपने किसी सम्बन्धी प्रियजन का चित्र सामने रख सकते हैं ।

आर्किटेक्ट अपने मस्तिष्क को ऐसा ही प्रशिक्षित कर लेते हैं । अपने द्वारा बनाई जाने वाली इमारत का कल्पना चित्र उनके मन में इतना स्पष्ट होता है कि वे उसमें लगने वाली खूँटियों तक की ठीक गणना

कर लेते हैं । बिजली की लाइन कहाँ से जायेगी और बल्ब पंखे आदि कहाँ-कहाँ लगेंगे, इसकी कल्पना इतनी अच्छी तरह कर लेते हैं कि उसमें बनने के उपरान्त कहीं कोई भूल न निकाली जा सके । नदियों के पुल सड़कों के मोड़, उतार-चढ़ाव आदि को सही रूप में अंकित कर सकना उन्हीं इन्जीनियरों के लिए सम्भव होता है, जो कार्य क्षेत्र की स्थिति को ऐसी तरह नोट कर लेते हैं कि नक्शा बनाते समय कहीं कोई अन्तर न रहे । अच्छे सर्जनों की मनःस्थिति भी ऑपरेशन करने से पूर्व ऐसी बन जाती है कि अनावश्यक कतर-ब्यौंत न करना पड़े और न अनावश्यक समय लगे । इसी आधार पर उनकी वरिष्ठता समझी जाती है । रंगमंच पर पात्रों को भेजने से पूर्व जो व्यक्ति उनकी सजधज करता है । मेकअप बनाता है उसकी बुद्धि भी ऐसी ही तीक्ष्ण होती है जिससे उनकी कृति में कोई खोट न निकाला जा सके । ऐसा तभी सम्भव है जब क्रिया से पूर्व कल्पना का सही स्तर पर ढाँचा खड़ा कर सकें ।

यह अभ्यास उस विषय के प्रवीण पारंगतों का निर्धारण और क्रियाकलाप देखते रहने पर भी होने लगता है । फिर भी जिज्ञासा और अभिरुचि तो सीखने वाले की ही होनी चाहिए अन्यथा कुशलता का वातावरण रहने पर भी भोंडी बुद्धि का व्यक्ति हाथ-पैर से सहायता करने वाला मात्र बनकर रह जायेगा ।

यही बात लम्बी यात्रा की या किसी बड़ी दावत की तैयारी करने से पूर्व करनी होती है । विवाह शादियों में अनेक प्रकार के छुट-पुट सामान जमा करने पड़ें तो अनेकों अवसरों पर अनेकों वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है । यदि वह सब परिस्थितियाँ मस्तिष्क में समय से पूर्व न आ सकें तो जब उनकी जरूरत पड़ती है तब भागदौड़ करनी पड़ती है और एक-दूसरे पर दोषारोपण करने का सिलसिला चल पड़ता है ।

प्रबन्धक का पद सबसे ऊँचा है उसे वेतन भी अधिक मिलता है और अधिक सम्मान भी । जिस कारखाने में व्यवसाय में अच्छे प्रबन्धकों का हस्तक्षेप होता है । वे कच्चा माल खरीदने, बने माल की हाथोंहाथ खपत करने, कार्य विस्तार को देखते हुए उपयुक्त मशीनों का चयन करने, कुशल कर्मचारी ढूँढ़ने, अयोग्यों को हटाने माल का स्टोर करने, बैंकों से व्यवहार रखने, पूँजी रुकने न देने आदि की अनेकों सम्बन्धित बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और व्यवसाय की उन्नति करके दिखाते हैं । जिनकी कल्पना भोंडी होती है वे पग-पग पर चूक जाते हैं, अपमानित होते हैं और मालिक को डुबाने के साथ स्वयं भी बदनाम होते हैं । इस क्षेत्र में जो लोग सफल हुए हैं उनकी कल्पना शक्ति सही समय पर सही काम करती रही है । इसे व्यवसाय क्षेत्र का ध्यानयोग ही कह सकते हैं ।

ध्यानयोग को यों पारलौकिक, आध्यात्मिक प्रसंग माना जाता है । क्षेत्र कोई भी क्यों न हो प्रक्रिया एक ही काम करती है । कल्पना और यथार्थता को इस प्रकार मिला देना, जिसके आधार पर व्यक्ति को दूरदर्शी विवेकवान कहा जा सके । साथ ही व्यवहार कुशल भी ।

कार्य पहले कल्पना क्षेत्र में आते हैं, बाद में क्रिया रूप में परिणत होते हैं तदुपरान्त वह स्थिति आती है जिसमें परिणति का कडुवा मीठा रसास्वादन करना पड़े । बीज से अंकुर, अंकुर से पौधा, पौधे से पेड़ और पेड़ पर फल लगने का क्रम है । यही बात यथार्थवादी कल्पना के सम्बन्ध में भी है । उसी को 'ध्यान' कहलाने का श्रेय मिलता है । अन्यथा शेखचिल्ली जैसी कल्पनाएँ तो कोई भी करता रह सकता है जिसमें स्थिति के साथ वास्तविकता का सही तारतम्य न हो । मूढ़मति तो मात्र अनगढ़ अप्रासंगिक कल्पनाएँ करते हैं पर जिन्हें इस क्षेत्र की कुशलता प्राप्त है वे अपने क्षेत्र के ध्यान योगी कहे जाते हैं ।

ध्यान धारण क्रिया छोटी प्रतिक्रिया बड़ी

योग साधना के अनेक क्रिया प्रयोगों में ध्यान की महत्ता सर्वोपरि है । साधना पद्धतियों में अनेकों अन्तर पाये जाते हैं पर ध्यान प्रक्रिया की महिमा को सर्वत्र मान्यता दी गई है आत्मिक शान्ति और शक्ति प्राप्त करके भौतिक जीवन को समुन्नत और सुव्यवस्थित बनाने की प्रक्रिया को ही योग विद्या कहते हैं । इस सांधना के अन्यान्य उपाय उपचार भी हैं किन्तु उन सबमें ध्यान किसी न किसी रूप में जुड़ा रहता है ।

ध्यान का मोटा नाम एकाग्रता है । मन की अव्यवस्थित और निरुद्देश्य घुड़दौड़ में मस्तिष्कीय क्षमता

का बुरी तरह अपव्यय होता है । इस बिखराव को रोका जा सके तो उस विद्युतीय क्षमता की बर्बादी रुकती है । जिसे किसी उपयोगी दिशा में लगा देने से चमत्कारी प्रतिफल उपलब्ध हो सकते हैं । सर्वविदित है कि किसी भी काम की सफलता में श्रम का जितना मूल्य है उससे अनेक गुना रुचिपूर्वक लगाये गए मनोयोग का है । आधे अधूरे मन से जो भी काम किए जाते हैं वे सदा कुरूप अस्त-व्यस्त और असफल कहे जाने योग्य स्थिति के बनकर रह जाते हैं । विज्ञानी, कलाकार, साहित्यकार, मनीषी, दूरदर्शी स्तर के लोगों में सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वे अपने निर्धारित लक्ष्य में पूरा मनोयोग लगाये रहने में अभ्यस्त होते हैं । मस्तिष्कीय रचना सामान्य होने पर भी मनोयोग का अभ्यासी उच्चस्तरीय सफलताएँ प्राप्त कर लेता है जबकि असाधारण मानसिक क्षमता सम्पन्न व्यक्ति भी चित्त की चंचलता में ग्रसित होकर अपने सभी कामों को अधूरे छोड़ते, और असफल रहते देखे गए हैं ।

एकाग्रता एक ऐसी उपलब्ध है जो देखने में साधारण प्रतीत होती है किन्तु उसका प्रयोग किसी भी क्षेत्र में करने से चमत्कारी सफलताएँ प्राप्त हो सकती हैं । बुद्धि की वृद्धि के लिए शिक्षा की आवश्यकता सभी मानते हैं किन्तु यदि भुला यह दिया जाता है कि शिक्षित बन जाने पर भी यदि चंचलता छाई रही तो उस क्षमता का सदुपयोग सम्भव न हो सकेगा । फलतः काम चलाऊ स्थिति में निर्वाह करना पड़ेगा और कोई महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर सकना कठिन ही बना रहेगा ।

एकाग्रता का अभ्यास क्रिया कुशलता और अभीष्ट प्रयोजनों में उत्साहवर्धक सफलता उत्पन्न करता है । यह भौतिक उपलब्धि हुई । आत्मिक प्रगति के लिए ध्यान की गरिमा इससे भी अधिक है । मनोविज्ञानी जानते हैं कि मस्तिष्क का चिन्तन में प्रयुक्त होने वाला भाग बहुत थोड़ा है अधिकतर तो उस समूचे क्षेत्र पर आदतें ही छाई रहती हैं । शरीर पर क्रिया परक आदतों का ही साम्राज्य छाया रहता है । अभ्यास के ढर्रे पर ही दैनिक गतिविधियाँ चलती रहती हैं अचेतन मन की प्रेरणा से रक्ताभिषण, आकुंचन-प्रकुंचन, श्वास-प्रश्वास निमेष, निद्रा जागृति—ग्रहण विसर्जन जैसे अनेकों अनैच्छिक क्रिया-कलाप चलते रहते हैं । इन्हें एक प्रकार की आदतें ही कह सकते हैं जो चेतना की गहरी परतों तक अपनी जड़ें जमाये बैठी रहती हैं । शरीर की तरह ही मन पर भी मान्यताओं का ही अधिकार होता है । आस्थाएँ रुचियाँ-इच्छाएँ विवेकपूर्वक नहीं जमतीं और न तर्क में उनके उपयोगी, अनुपयोगी ठहरा देने पर भी उनमें हेर-फेर उत्पन्न होता है । मन कहने भर के लिए ही स्वतन्त्र है । वस्तुतः इसकी भारी भाग-दौड़ उन आकांक्षाओं और आस्थाओं के खूंटे से बँधी रहती है जो चिर संचित संस्कारों का ही प्रतिफल होती है । चिन्तन में हर व्यक्ति स्वतन्त्र है यह बात मोटे रूप से ही सही कही जा सकती है तथ्य यह है कि हर व्यक्ति के चिन्तन की दिशा धारा उसके अभ्यस्त वातावरण से प्रभावित रहती है ।

सामाजिक क्षेत्र में परम्पराओं की जड़ें कितनी गहरी होती हैं यह सभी जानते हैं । कुप्रथाओं और अन्ध परम्पराओं की हानि समझते हुए भी समय आने पर लोग उन्हीं को अपनाते पाये जाते हैं । साम्प्रदायिक मान्यताओं से लोग इतने अधिक प्रभावित पाये जाते हैं कि वाणी से उनका विवेक औचित्य तर्क तथ्य आदि के पक्ष में किया गया समर्थन उपहासास्पद प्रतीत होता है । पक्षपात अपने ही वर्ग की मान्यताओं के प्रति चलता रहता है । पूर्वाग्रह कहें या दुराग्रह पूर्व मान्यताओं के पक्ष में ही बना रहता है । कई बार तो यह भेद समझ तक में नहीं आता और आस्थाओं का दुराग्रह, औचित्य जैसा लगने लगता है और बुद्धि संस्थान उसके पक्ष में अन्धा समर्थन बड़े-बड़े तर्क और प्रमाण उपस्थित करते हुए देखा जाता है ।

जीवन की सबसे बड़ी सफलता और उपलब्धि यह है कि अपनी शारीरिक और मानसिक आदतों को औचित्य के अनुरूप नये सिरे से ढाला जाय । शारीरिक स्वास्थ्य का संरक्षण और दीर्घ जीवन पूर्णतया इस बात पर निर्भर है कि आहार-विहार की आदतों को इस प्रकार ढाल लिया जाय कि वे प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप गतिशील रहने में सरलता और प्रसन्नता अनुभव करने लगें । ठीक इसी प्रकार मानसिक सुसंस्कारिता भी सन्तुलन, विवेक और बुद्धिमत्ता का मूलभूत आधार माना जा सकता है । सुसंस्कारिता के पक्ष में धर्म, अध्यात्म, नीति और सामाजिकता के आधार पर समर्थन आये दिन पढ़ने-सुनने को मिलता

रहता है पर हठी मन अपनी पूर्व मान्यताओं पर ही अड़ा रहता है । कहने-सुनने की बात दूसरी है पर गतिविधियाँ उसी ढर्रे पर चलती रहती हैं, जो अनुपयुक्त होते हुए भी अभिरुचि के रूप में परिपक्व हो गई हैं ।

आत्मनिर्माण की पुनर्निर्माण प्रक्रिया ही पुनर्जीवन है । उसी को कायाकल्प कहते हैं । इसी को देवत्व में परिणति, पुनर्जन्म आदि नामों से पुकारा जाता है । भवबन्धनों से मुक्ति का आनन्द धर्मशास्त्रों में अत्यधिक रोचक आकर्षक शब्दों में कहा गया है । यह भवबन्धन और कुछ नहीं अपने वे कुसंस्कार ही हैं जो शरीर पर अवांछनीय आदतों के रूप में और मन पर अनुपयुक्त मान्यताओं के रूप में जड़ जमा कर बैठ गए हैं । इनसे छुटकारा पा लेना ही देव योनि में प्रवेश करना है । यह सफलता यदि प्राप्त की जा सके तो भीतर सन्तोष भरी पुलकन उत्पन्न होगी और बाहर उत्साह भरा आचरण बन पड़ेगा । इस शालीनता की सुखद प्रतिक्रिया स्वर्गीय परिस्थितियाँ बनकर सामने आ खड़ी होती है । पूर्णता का लक्ष्य यही है इसी का पथ प्रदर्शन करने के लिए तत्व दर्शन और साधन विधान का विशालकाय ढाँचा खड़ा किया गया है ।

प्रश्न एक ही सामने रहता है कि यह आत्म परिवर्तन की आत्म परिष्कार की प्रक्रिया सम्पन्न कैसे हो ? इसके लिए क्या उपाय किया जाय ? किन साधनों का सहारा लिया जाय ? इसका उत्तर एक ही हो सकता है कि मन को ही इस रूप में प्रशिक्षित किया जाय कि वह बिखराव को रोक कर केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया का अभ्यास करने लगे और उस आधार पर किसी महत्त्वपूर्ण प्रयोजन को पूरा कर सकने योग्य सामर्थ्य प्राप्त कर ले ।

लोहे की छड़ किसी लकड़ी या जमीन में ठोकनी होती है तो उसका एक सिरा नुकीला बना लिया जाता है । यह नोंक ही आगे धँसती है पीछे उस कील की फिट होने की व्यवस्था बना ली जाती है । मन का बिखराव रोकने और उसे अभीष्ट प्रयोजन के लिए ठूंस देने योग्य नुकीला बनाने के दोनों ही काम ध्यान धारण के अभ्यास से सम्पन्न होते हैं । मन को केन्द्रीभूत करने के लिए किसी एक लक्ष्य के साथ उसे देर तक जुटाये रहने—भागने पर पकड़-पकड़ कर बार-बार उसी सीमा बन्धन में बाँधते रहने की प्रक्रिया का नाम ही ध्यान है । भौतिक दृष्टिकोण रखकर ध्यान करना हो तो किसी पदार्थ विशेष पर, सुन्दर आकृति पर अभ्यास प्रिय प्रसंग पर-मन को केन्द्रित किया जा सकता है । मेस्मेरिज्म हिप्नोटिज्म आदि के अभ्यास में कोई चमकदार वस्तु को ध्यान का आधार मान लिया जाता है । उसी से आँखों में बेधक दृष्टि उत्पन्न करने और इच्छा शक्ति को केन्द्रित करने का लाभ मिल जाता है । परामनो विज्ञानी ऐसे ही अवलम्बन एकाग्रता की क्षमता उत्पन्न करने के लिए किया करते हैं ।

एकाग्रता और मन को नुकीला होने की प्रखरता भी भौतिक प्रयोजनों की सफलता में भारी सहायता करती है अस्तु उसका उपार्जन स्वस्थता, शिक्षा, कुशलता, प्रतिभा, प्रतिष्ठा, समृद्धि, सुविधा आदि सम्पन्नताएँ उपलब्ध करने की तरह ही महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है । इस प्रयत्न में दुहरा लाभ यह उठाया जा सकता है कि आत्मिक प्रगति का लक्ष्य भी साथ-साथ जुड़ा रखा जाय और एकाग्रता सम्पादन की पूर्णता की प्रक्रिया से जोड़ दिया जाय । पूर्णता का लक्ष्य ही परमेश्वर है । उसे मानवी प्रगति की चरम सीमा कह सकते हैं । परमात्मा में सद्गुणों और शक्तियों का उतना ऊँचा आरोपण किया जाता है जितना कि मानवी कल्पना के लिए सम्भव है । इसी स्थिति तक पहुँचना आत्मा का लक्ष्य है । ईश्वर की प्राप्ति इसी को कहते हैं । उपासना द्वारा इसी स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है जिस पर कि अपना ईश्वर विराजमान है । सालोक्य सामीप्य, सारूप्य-सायुज्य-मुक्ति की मान्यता यही है कि ईश्वर के निकटतम पहुँचकर उसी की स्थिति के अनुरूप बना जाता है । उसी में अपना विलय विसर्जन करता है । बूँद समुद्र में अपना विसर्जन करती है और समुद्र ही बन जाती है । ईंधन आग के समीप जाता है और उसी की आभा एवं क्षमता में परिपूर्ण हो जाता है । ईश्वर उपासना में इसी लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है । ध्यान को ईश्वर की समीपता से आरम्भ करके उसी परमतत्व के साथ अपने को विलीन करने की धारणा परिपक्व की जाती है ।

ध्यान जन्य एकाग्रता के साथ-पूर्णता के परम लक्ष्य परमेश्वर के साथ जोड़ने का प्रयत्न ऐसा है जिससे उच्चस्तरीय अध्यात्म चुम्बकत्व की उत्पत्ति होती है ।

४.३५ व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ

यह चुम्बकत्व की प्राण शक्ति आत्मबल एवं अतीन्द्रिय क्षमताओं की ऋद्धि-सिद्धियों की भूमिका सम्पन्न करता है । अनन्त अन्तरिक्ष में, दिव्य लोकों में विद्यमान दिव्य चेतना के विभिन्न घटकों को, देवताओं को, अपनी ओर आकर्षित कर सकना इसी चुम्बकत्व के माध्यम से सम्भव होता है । दैवी अनुग्रह सहयोग-वरदान प्राप्त करने वाले प्रायः इसी आत्मिक चुम्बकत्व से लाभान्वित होते हैं ।

ध्यान एक प्रकार का तप है शारीरिक तपश्चर्या में शरीर की आलसी, विलासी, व्यसनी आदतों का प्रतिरोध किया जाता है और मनोबल इतना बढ़ाया जाता है कि उसके द्वारा प्रगतिशीलता के पक्ष पर बाधा उत्पन्न करने वाली अभ्यस्त कुसंस्कारिता से जूझना और परास्त कर सकना सम्भव हो सके । मानसिक तपश्चर्या में मन की चंचलता और उच्छृंखलता से जूझना पड़ता है । उसकी भाग दौड़ को किसी आकृति विशेष पर केन्द्रित रखने का प्रयत्न किया जाता है । साथ ही उस आकृति को परमेश्वर का प्रतीक मानकर उसकी गरिमा के साथ आत्म सत्ता का एकत्व स्थापित किया जाता है । आरम्भ में यह कल्पना मात्र ही रहती है, पर पीछे उसके साथ सघन आत्मीयता जुड़ते जाने से भक्ति भाव बढ़ने लगता है । फलतः आकर्षण की मात्रा बढ़ती है और एकाग्रता की साधना में सरसता, का अनुभव भी होने लगता है । पीछे यही सरसता आनन्द का रसास्वादन कराती है और मन उसमें सहज ही रस लेने लगता है । आगे चलकर दीप-पतंग जैसी, धूप-पानी जैसी, आग-ईंधन जैसी, नदी-नाले जैसी, पति-पत्नी जैसी एकता की अनुभूति, अद्वैत की अनुभूति कराती है । इस स्तर पर पहुँची हुई साधना में अहम् ब्रह्मास्मि का तत्वमसि का, शिवोऽहम्-सच्चिदानन्दोऽहम् का आभास ही नहीं अनुभव भी होने लगता है । यही एकात्म भाव है जिसमें पहुँचकर मान्यता से ही नहीं वास्तविकता से भी भक्त और भगवान एक हो जाते हैं । अभिन्नता और अविच्छिन्नता का भान होने लगता है ।

आग के गुण समीपवर्ती ईंधन में उत्पन्न हो जाते हैं बिजली का करैण्ट स्पर्श होते ही एक से दूसरे घटक में दौड़ने लगता है । भगवान की समीपता का अभ्यास ध्यान धारण के माध्यम से आरम्भ किया जाता है । आस्था और अनुभूति की स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते यह कल्पना अथवा भावना यथार्थता की स्थिति तक जा पहुँचती है । इसमें मनः सन्तोष की अनुभूति ही नहीं रहती उसमें वास्तविकता के लक्षण और प्रमाण भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगते हैं । महात्मा, देवात्मा और परमात्मा तीन स्तर आत्मिक प्रगति के माने गए हैं । यह होती तो आस्थाएँ ही हैं पर यदि वे बनावटी या उथली न हों तो उसमें उपयुक्त स्तर की क्षमताएँ विभूतियाँ भी दृष्टिगोचर होने लगती हैं । महात्मा महामानव अपनी विशिष्टता सिद्धि करते हैं और लोक श्रद्धा के भाजन बनकर जन-सहयोग से लोकहित के ऐतिहासिक कार्य कर गुजरते हैं । देवात्मा आत्मिक दृष्टि से इतने समृद्ध होते हैं कि स्वयं आन्तरिक आनन्द से ओत-प्रोत रहने के अतिरिक्त सम्पर्क क्षेत्र में अजस्र अनुदान बिखेरते रहते हैं । अपने कन्धे पर बिठाकर अपनी नाव पर चढ़ाकर असंख्यों को ऊँचा उठाते, आगे बढ़ाते एवं पार लगाते रहते हैं । परमात्मा अवतारी आत्माओं को कहते हैं । भगवान राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, आदि अवतारों की आत्मा परम होती हैं । नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, अण्ड से विभु, तुच्छ से महान बनने की स्थिति प्राप्त करने वालों को भगवान कहा जाता रहा है । वे ईश्वरीय प्रयोजनों के लिए अवतरित होते हैं और धर्म की स्थापना तथा अधर्म का विनाश करने के लक्ष्य में तन्मय बने रहते हैं । सामयिक विकृतियों का निराकरण करने में इन अवतारी आत्माओं का नेतृत्व उभरता और सफल होते देखा जाता रहा है ।

इस स्थिति तक पहुँचने के लिए जीवन की दिशाधारा का निर्धारण आवश्यक होता है । चरित्र की पवित्रता और प्रयासों में उदारता का समन्वय करके ही कोई सच्चा ईश्वर भक्त अथवा देव मानव कहला सकता है । इस स्थिति तक पहुँचाने में ध्यान धारणा की अभ्यास साधना नितान्त उपयोगी सिद्ध होती है ।

यह बड़े लक्ष्य की प्राप्ति में ध्यान धारण की बड़ी भूमिका की परम मंगलमय झाँकी है । आरम्भिक प्रयत्नों में मिलने वाली सामान्य उपलब्धियाँ भी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । मन की चंचलता छुड़ा कर उसे अभीष्ट प्रयोजनों में तन्मय होने के लिए ध्यान धारणा द्वारा सधा लिया जाता है तो सामने प्रस्तुत हर कार्य में रुचिपूर्वक मनोयोग लगाया जा सकता है और अधिक

कुशल एवं सफल लोगों में अपनी गणना हो सकती है । लौकिक प्रगति की दृष्टि से इस उपलब्धि के सौभाग्य का सूर्योदय अथवा उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन कहने में तनिक भी अत्युक्ति नहीं समझी जानी चाहिए ।

आत्म-निर्माण इतना बड़ा काम है जिसे भगवान द्वारा किए गए गोवर्धन धारण और सेतु बन्ध के समतुल्य माना जा सकता है । जीव और ब्रह्म के अन्तर को देखते हुए मनुष्य का आत्म-निर्माण और ईश्वर के विश्व-निर्माण के सदृश्य ठहराया जा सकता है । कितने ही साधन सम्पन्न लोगों ने अद्भुत भवन-निर्माण किए हैं । ताजमहल से लेकर मिस्र के पिरामिडों तक की अनेक विशालकाय इमारतें आश्चर्यचकित करती हैं । आत्म-निर्माण का कार्य देखने में भले ही सामने खड़ा-दीखता हो पर वस्तुतः वह है इतना विशाल और महान जिसके ऊपर संसार के सभी भव्य निर्माणों को निछावर किया जा सकता है । ताजमहल की तुलना से गाँधी का और लाल किले की तुलना से बुद्ध का मूल्य लाखों गुना अधिक है । जिन्होंने अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर लिया वे अपने लिए और अपने समय तथा देश के लिए अविस्मरणीय सौभाग्य बन कर रहे हैं । इमारत का निर्माण ईंट चूने से होता है और व्यक्तित्व को विनिर्मित करने में शारीरिक आदतें और मानसिक आकांक्षाएँ बदलनी पड़ती हैं । यह परिवर्तन मन के नुकीले केन्द्र द्वारा ही सम्पन्न होते हैं । औजारों और हथियारों की सफलता उनकी तेज धार के स्तर पर निर्भर रहती है । मनुष्य वही है जिसे मनस्वी और तेजस्वी कहा जा सके । अनगढ़ मन की कुसंस्कारिता और चंचलता को गला कर नये ढाँचे में ढालने की प्रक्रिया जिन उपायों से सम्भव हो सकती है उनमें धारणा का ऊँचा स्थान है । यह प्रक्रिया सरल भी है और अपना प्रयोजन पूरा कर सकने में समर्थ भी है ।

ध्यान धारणा का प्रभाव-परिणाम

श्रद्धा-विश्वास का समग्र सम्पुट लगी हुई एकाग्रता ध्यान कहलाती है । ध्यानयोगी इस विधान का महत्त्व समझते और अपनाते हैं । यदि कार्य उचित रीति से किया गया है तो उसका समुचित लाभ भी मिलता है ।

पुरातन काल में ध्यान देवताओं की निकटता पाने और उनके अनुग्रह, वरदान से लाभान्वित होने के लिए किया जाता था । जिस देवता पर श्रद्धा होती उसकी छवि की कल्पना लोक में झाँकी करते रहने और उसके प्रति अपना प्रेम भाव जताते हुए मानसिक अभिव्यंजना की जाती थी । इसे ध्यान की सफलता का बड़ा चिह्न यह समझा जाता था कि कल्पित प्रतिभा की झलक झाँकी मिल सके । यों यह होती तो एकाग्रता के परिपाक समेत भाव विभोरता की स्थिति में ही थी । पर इतने भर से ही साधक का मनोबल बढ़ता था और विश्वास होता था कि यह देवानुग्रह का आरम्भिक चरण है । आगे चलकर इष्टदेव से प्रत्यक्ष भेंट होने लगेगी और आदान-प्रदान का क्रम चलने लगेगा । पर गाड़ी जहाँ की तहाँ रुक जाती थी, क्योंकि कल्पित देवता का प्रकटीकरण और उसके अनुग्रह का अकारण अभिवर्षण सृष्टि की क्रम-व्यवस्था के अनुरूप नहीं है । यों आयेदिन जीवन में सफलता, असफलता के चलते चक्र में से सफलता वाले अंश को देवता की अनुकम्पा मानकर किसी प्रकार सन्तोष कर लिया जाय तो मन को इसी आधार पर प्रसन्न कर लेने का इसे सहज तरीका भी माना जा सकता है । मध्यकालीन अन्धविश्वासों के युग में ध्यान-योग का उपयोग प्रायः इसी रूप में इसी प्रयोजन के निमित्त होता था । बढ़ी-चढ़ी फलश्रुति बताकर गुरुजन अपने भक्त शिष्यों को भी इस निमित्त आकर्षित करते थे । वस्तुतः उनका उद्देश्य अनेक शिष्य बटोरना और उनसे सम्मान तथा अर्थसहयोग का लाभ अर्जित करना होता था । इस तथाकथित साधक समुदाय में से किसी के हाथ कुछ लगता था या नहीं ? अथवा आत्म प्रवंचना ही उनके पल्ले पड़ती थी, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता ।

ध्यान का बुद्धि संगत एवं वैज्ञानिक स्वरूप यह है कि किसी कल्पित या प्रत्यक्ष चमकीले बिन्दु पर अपनी अन्तर्दृष्टि को इच्छा शक्ति के समन्वय सहित एकत्रित किया जाय । इस प्रयोग का प्रतिफल यह होता है कि मन की घुड़दौड़ रुक जाती है और वह किसी एक प्रसंग पर समाहित होने लगती है । सूर्य किरणों को आतिशी-शीशे पर एकत्रित करने से आग जलने लगती है । उसी प्रकार मन की भगदड़ को किसी विषय विशेष पर केन्द्रीभूत कर लेने से उसकी वेधक शक्ति

अत्यधिक हो जाती है । उसे जिस भी काम में नियोजित किया जाय, उसे अधिक सशक्तता और विशेषता के साथ सम्पन्न करती है । वैज्ञानिक, कलाकार, शिल्पी, शोधकर्त्ता इसी आधार पर अपनी एकात्मकता को विकसित करके अभीष्ट प्रयोजन में लगाते हैं और आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त करते हैं । सरकस के कलाकारों की विशिष्टता इस एकाग्रता की साधना पर ही अवलम्बित रहती है ।

शारीरिक और मानसिक रोगों के निवारण में भी ध्यानयोग की परिपक्वावस्था अच्छा लाभ दिखाती है । रुग्ण अवयव को यदि विश्वास भरा संकेत, निर्देश दिया जाय और उसके रोग मुक्त होने की स्थिति तेजी से सुधर रही है तो उस कथन पर विश्वास करने वाला निश्चय ही आरोग्य लाभ करता है । यह लाभ अपने को भी दिया जा सकता है और दूसरों को भी । मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म में यह इच्छा शक्ति युक्त एकाग्रता से ही अनेक प्रयोजन सिद्ध किए जाते हैं । मानसिक रोगों में तो इसका उपचार अधिक परिमाण से उत्साहवर्धक होता देखा गया है ।

मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों में अतीन्द्रिय क्षमताओं के भण्डार भरे पड़े हैं पर वे प्रायः प्रसुप्त स्थिति में ही पड़े रहते हैं । इनमें से कुछ को भी किसी अंश में जागृत किया जा सके तो साधक को दूरदर्शन, दूर श्रवण, पूर्वाभास, आदि अनेकों ऐसे लाभ मिल जाते हैं जिनके कारण व्यक्ति अपना और दूसरों का बहुत भला कर सकता है । शारीरिक, मानसिक क्षमताओं का लोग अनेक प्रकार से अधिकाधिक लाभ उठाते और देते हैं । इस सन्दर्भ में कोई आगे बढ़ता है और भौतिक सम्पदाओं की तरह आत्मिक सम्पदा भी अर्जित कर सकता है । यह कमाई अन्य किसी कमाई से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

कीट, भृंग का उदाहरण प्रख्यात है । दोनों के बीच एकात्मकता संव्याप्त हो जाती है तो उसका प्रभाव आदान-प्रदान के रूप में सामने आता है । ध्यान की यही विशेषता है कि जिसके साथ भी तादात्म्यता, स्थापित की जाय उसकी विशेषताएँ अपनी ओर हावी होने लगती हैं । इसका हल्का-सा प्रभाव संगति के फल से उत्पन्न होते देखा जाता है । चन्दन वृक्ष के समीप उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी सुगन्धित हो जाते हैं । यह प्रक्रिया अन्यत्र भी चरितार्थ होती है । ध्यान में शारीरिक समीपता न होने पर भी भावनात्मक समीपता से भी बहुत कुछ उपलब्ध किया जा सकता है ।

इन दिनों कितने ही ऐसे भी व्यक्ति हैं जो देववाद को नहीं मानते । उन पर विश्वास नहीं करते । जैन, बौद्ध, वेदान्ती आदि ईश्वर की वैसी सत्ता स्वीकार नहीं करते जैसी कि सर्वसाधारण में प्रचलित है । निराकारवादी भगवान को तो मानते हैं, पर उसका कोई रूप होने का विश्वास नहीं करते हैं । नाद, बिन्दु, लय के आधार पर अपनी साधनाएँ चलाते हैं । इनके लिए साकार, ध्यान, देव परक भूमिका में कर सकना कठिन है । इतने पर भी यह प्रतिबन्ध नहीं है कि ध्यान का लाभ उठाने में अड़चन है ।

कलाकार, वैज्ञानिक एवं मेस्मेरिज्म के प्रयोक्ता ध्यान को उपलब्धियों के मात्र भौतिक प्रयोजन के लिए प्रयुक्त करते हैं । उन्हें आत्मोत्कर्ष का गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता के समावेश वाला प्रयोजन समझ में नहीं आया । इस विधा से रहित मात्र भौतिक विशेषता हस्तगत कराने वाला प्रयोग काम-काजी या लोक-व्यवहारी कहा जा सकता है । उससे वह लाभ नहीं मिलता जिससे पवित्रता एवं प्रतिभा का सम्वर्धन हो सके ।

इसके लिए नया तरीका यह है कि सद्गुणों से अभिप्रेरित किसी पदार्थ या व्यक्ति का नियत समय पर समग्र एकाग्रता के साथ ध्यान प्रयोजन पूरा किया जाय । पदार्थ में गुलाब जैसे फूल और आम्र जैसे वृक्ष की निजी विशेषता की अनुभूति को अपने में उतारने का प्रयत्न किया जा सकता है । व्यक्तियों में विवेकानन्द, गाँधी, सुभाष, बिनोवा, दयानन्द, प्रताप, भामाशाह, हरिश्चन्द्र, भागीरथ जैसों को इष्टदेव के समतुल्य मानकर उनके गुणों का, सेवा कार्यों का ध्यान किया जा सकता है और साथ ही यह विश्वास भी जोड़ा जा सकता है कि उन सद्गुणों के प्रवेश अपने व्यक्तित्व में होता है ।

यह चिन्तन जितना सघन होगा उतना ही उसका प्रभाव पड़ेगा । उसी अनुपात से ध्यान एवं विभूतियाँ अपने भीतर प्रवेश करती चली जायेंगी और गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि में अपने उत्कर्ष का क्रम उभरता चलेगा ।

ध्यान का प्रभाव कभी भी प्रत्यक्ष देखा जा सकता है । भूत-प्रेतों की कथा या कल्पना में जो लोग निरत रहते हैं उनमें डरने या डराने की प्रवृत्ति उभरती है । अश्लील चिन्तन से मस्तिष्क तद्नुरूप में उलझ जाता है और शरीर में स्वप्नदोष जैसी उत्तेजना अपना काम करने लगती है । अच्छा यही है साधना की दृष्टि से अथवा चिन्तन को परिष्कृत करने की दृष्टि से हम श्रेष्ठता को साथ लिए रहें और उसी का ध्यान किया करें ।

व्यावहारिक जीवन का ध्यानयोग

खोई हुई वस्तु को ढूँढ़ने का एक ही तरीका है-ध्यान । जेब में सबेरे चले थे तब पचास रुपये थे । रात को जेब पर हाथ गया तो देखा जेब खाली है । चिन्ता हुई और हो हल्ला मचा । किसने रुपये निकाले ? किसने चोरी की ? उत्तेजित और अशान्त मन किसी पर दोषारोपण करने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता ।

पर जब चित्त शान्त हुआ तब याद किया कि सबेरे से लेकर किन-किन से भेंट हुई और कब, कहाँ रुपयों की आवश्यकता पड़ी । सबेरे से शाम तक का तारतम्य मिलाया तो याद आया कि मकान मालिक रास्ते में मिला था । उसने किराया माँगा सो जेब में रखे पचास रुपये निकाल कर उसे दे दिए थे । चिन्ता का समाधान हो गया ।

छाता लेकर चलना था । देखा तो वह खूँटी पर नहीं था । चिन्ता हुई । सभी से पूछा । बच्चों को डाँटा । पर चिन्ता शान्त होने पर सोचा कि कल कहाँ-कहाँ गए थे और कहाँ तक छाता साथ रहा । कहीं छूट तो नहीं गया । याद आया कि दोस्त के घर गए थे वहाँ किवाड़ पर छाता टांगा था । पीछे चले तो शाम हो गई । छाते की जरूरत नहीं रही सो याद भी भूल गई । सम्भवतः वहीं रह गया । दोस्त के यहाँ पहुँचे तो उसने जाते ही कहा—"कल छाता तो यहाँ छोड़ गए थे । जूता और टोपी तो किसी के घर नहीं छोड़ गए । बड़े भुलक्कड़ हैं ।" छाता मिल गया और सबेरे घर पर जो समस्या हैरान कर रही थी उसका समाधान हो गया ।

इसे कहते हैं अन्तर्मुखी होना । मन की-आँखों की बनावट ऐसी है जिसमें बाहर की वस्तुएँ ही दीखती हैं । बाहर से भी सिकुड़ कर वे सामने ही केन्द्रित रह जाती हैं । जो चीजें सामने नहीं हैं, वह ध्यान में ही नहीं रहतीं । फोड़ा उठता है तो दीखता है । अपच में क्या हानि हो सकती है यह समझ में नहीं आता क्योंकि पेट का भारीपन प्रत्यक्ष नहीं है । सच बात यह है कि प्रत्यक्ष की उत्पत्ति परोक्ष में होती है जो भीतर है वही उबलकर बाहर आता है और जब उस उफान का स्वरूप सामने आता है तब प्रतीत होता है कि समय से पहले ध्यान देने की बात याद ही नहीं रही । नशेबाजों से लेकर आलसी प्रमादी तक अनगढ़ लोग ऐसी ही भूलें करते रहते हैं ताला खुला छोड़ देने पर जब वस्तुएँ गायब हो जाती हैं तब अफसोस होता है ।

होना यह चाहिए कि हम सर्वथा बहिर्मुखी न रहें । प्रत्यक्ष भर को देखने वाले नर पशु कहलाते हैं । परोक्ष को देखने के लिए अन्तर्मुखी होना चाहिए और ज्ञान चक्षुओं में यह भीतर का परोक्ष निरीक्षण-परीक्षण सतत करना चाहिए । शरीर के भीतर क्या व्यथा है ? इसे चिकित्सक बतायें, इससे पूर्व अंग अवयवों की स्थिति पर ध्यान देकर स्वयं अधिक अच्छी तरह जाना जा सकता है और जिस भूल के कारण संकट उत्पन्न होने जा रहा था उसे समय रहते रोका सुधारा जा सकता है । यही बात स्वभाव के बारे में है । अपना स्वभाव क्रोधी कटुभाषण करने का है, इस बात को दूसरे लोग कहें तो बुरा लगेगा किन्तु वह विद्वेष तो बढ़ता ही रहेगा जो आवेशग्रस्तता के कारण उत्पन्न होता ही रहता है । आये दिन की इस कठिनाई से बचने का एक ही तरीका है कि आत्म निरीक्षण किया जाय और जो बुरी आदत पड़ गई है उसे छुड़ाया जाय पर यह हो तभी सकता है जब अन्तर्मुखी होना सीखा जाय । ध्यानयोग की साधना अन्तर्मुखी होने से आरम्भ होती है ।

अन्तर्मुखी होने के लिए यह आवश्यक है कि मन का फैलाव जो बाहर बिखरा पड़ा है उसे समेटा जाय । यदि दृष्टि बाहर ही घूमती रही तो जलवायु को, खाद्य पदार्थों को, स्वास्थ्य संकट को कारण मानते रहने के अतिरिक्त और कोई बात न सूझेगी । पर जब अन्तर्मुखी हुआ जायेगा तब चोर पकड़ा जा सकेगा कि असंयम बरतने के कारण अस्वस्थता है । यदि जलवायु कारण

रही होती तो उस क्षेत्र में रहने वाले सभी को बीमार हो जाना चाहिए था । उपचार चिकित्सकों के हाथ नहीं, अपने हाथ है । नई परिस्थितियों के अनुरूप अपना रहन-सहन नये ढंग से बदल लिया जाय तो बिगड़ी बात बनने में देर न लगे पर यह सूझ-बूझ उत्पन्न तभी होगी, जब आत्म निरीक्षण किया जाय और परिस्थितियों के साथ तालमेल न बिठा पाने के अपने दोष को समझा एवं सुधारा जाय ।

अध्यात्म प्रयोजनों में लोग अक्सर बाहरी क्षेत्र में ढूँढ़ कर खोज करते हैं । ईश्वर का अनुग्रह पाना है, देवताओं से वरदान लेना है, समर्थ गुरु ढूँढ़ना है, किसी साधन सम्पन्न का सहयोग लेना है तो उसी की खुशामद की जाती है और काम नहीं बनता तो उन्हीं की निष्ठुरता बताई जाती है । अन्तर्मुखी होकर यह नहीं देखा जाता कि इन सब उपलब्धियों के लिए जिन पात्रता की आवश्यकता थी वह अपने भीतर है या नहीं है । यदि नहीं है तो फिर उसे प्रदान किया जाय । यदि ईश्वर निष्ठुर होता, देवता स्वार्थी होते तो उनका व्यवहार सभी के साथ वैसा होना चाहिए था । जब दूसरों पर अनुकम्पा होती है तो अपने उच्चस्तर के अनुरूप उन्हें हमारे ऊपर भी कृपा करनी चाहिए थी । यदि उनके व्यवहार में अन्तर है तो देखा जाना चाहिए कि अपने व्यक्तित्व में ही ऐसे दोष दुर्गुण तो नहीं घुसे हुए हैं, जो उन्हें पीछे हटने और असहयोग करने के लिए बाधित करते हों । यह आत्म निरीक्षण तभी हो सकता है जब व्यक्ति अन्तर्मुखी हो ।

ऋद्धि-सिद्धियाँ किन्हीं देवी-देवताओं के पास हैं और वे किसी पूजा पाठ से प्रसन्न होकर उड़ेलते रहते हैं, इस प्रकार का बहिर्मुखी दृष्टिकोण हमें भटकाता ही रहेगा । वास्तविकता से कोसों दूर रखेगा । पर जब अपना दृष्टिकोण बदलकर परिस्थितियों के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराने की अपेक्षा अपनी कमियों को खोजना और उन्हें पूरा करना आरम्भ किया जायेगा तो विकट दीखने वाली समस्या नितान्त सरल हो जायेगी ।

ध्यान लगने का प्रथम उपाय यह है कि उतने समय के लिए बाहर की धातुओं और व्यक्तियों, परिस्थितियों से ध्यान हटाकर हम अपने भीतर केन्द्रित हों और सुधार क्रम की आवश्यकता समझें, व्यवस्था बनायें ।

दृश्यों में तल्लीन रहने की अपेक्षा हमें उस कल्पना शक्ति को प्रखर करना चाहिए जो अन्तर्मुखी होने पर विकसित होती है । कल्पनाएँ बेतुकी उड़ानें नहीं होनी चाहिए वरन् उनकी संगति यथार्थता के साथ जुड़नी चाहिए । यह यथार्थता ध्यान चेतना को समुन्नत करने से ही उपलब्ध होती है । आर्कीटेक्ट जब किसी इमारत का ढाँचा एवं नक्शा बनाते हैं तब उनका चित्त उसका स्वरूप मस्तिष्क में इस प्रकार खड़ा करते हैं मानो वह उन्हीं के द्वारा बनाई जा रही हो और उसके लिए जिन कठिनाइयों का समाधान या वस्तुओं का संग्रह किया जाना है, वह किया जा रहा हो । कलाकारों के मस्तिष्क में उनकी कृतियों का प्रारूप बनता है बाद में साकार बनती हैं । यह अन्तर्मुखी होने, भविष्य की कल्पना करने, समाधानों को खोजने की आदत पड़ जाने पर भी सम्भव होता है । व्यावहारिक जीवन का यही ध्यान योग है ।

ध्यान सार्थक कब बनता है ?

योगाभ्यास में ध्यान प्रक्रिया की प्रमुखता है । लययोग, राजयोग, हठयोग, नादयोग, बिन्दुयोग आदि अनेकों योग हैं । उनकी प्रक्रिया संख्या ८४ बताई जाती है । इन सबकी जो क्रियाएँ कर्मकाण्ड निर्धारित हैं, वे तभी तक पहुँचते हैं जब उनमें मनोयोग का गहरा पुट लगा हुआ हो । उपेक्षापूर्वक, अन्यमनस्क भाव से उन कृत्यों की लकीर पीटते रहा गया या उनमें गहरी श्रद्धा विश्वास न हो और रसानुभूति उत्पन्न करने की स्थिति न बन पड़े तो समझना चाहिए कि प्रयास में कदाचित ही कुछ आंशिक सफलता मिल सके ।

चक्रवेधन, कुण्डलिनी जागरण आदि में जिस स्थान पर जो स्थिति बताई गई है उसे करना पड़ता है । दिवा स्वप्नों के व्याख्याकार कहते हैं कि भूत-प्रेत जैसी कल्पनाएँ विश्वास का गहरा पुट लग जाने पर ठीक वैसी ही बन जाती है जैसी कि मान्यता रखी गई थी । न केवल उनका स्वरूप वैसा दीखता है वरन् त्रास या उल्लास भी वैसा ही मिलता है । भूत-प्रेतों के सम्बन्ध में जैसी अशुभ कल्पना की जाती है, ठीक देवी-देवताओं

के सम्बन्ध में भी वैसी ही होती है । एक काला पक्ष है एक उज्ज्वल । देवी-देवता या भूत-प्रेत होते हैं या नहीं । उनके सम्बन्ध में यथार्थता का तो अभी सर्वसम्मत समाधान नहीं हो सका पर इतना निश्चित रूप से सच है कि मान्यताओं के आधार पर व्यक्ति वैसा ही अनुभव करता है और डरावने तथा लुभावने ऐसे साक्षात्कार करता है जो श्रद्धा के अनुरूप प्रतिफल दे सके ।

इस विज्ञान को 'साइकोमैट्री' के आधार पर मान्यता मिली है । क्रिश्चियन साइंस में प्रार्थना द्वारा रोग निवारण का प्रयोग चलता है और उसकी सफलता भी वैसी ही देखी गई है । मस्तिष्क विज्ञान के आधार पर कितनी ही क्षमताओं, विशेषताओं के कतिपय केन्द्र निर्धारित किए गए हैं । वहाँ तक किसी बाह्य सामर्थ्य का प्रभाव पहुँचने के लिए 'इलेक्ट्रोड्स' काम में लाये जाने लगे हैं । पर साथ ही यह भी देखा गया है कि वैसा ही प्रतिफल विश्वासपूर्वक किए गए ध्यान का भी होता है । 'स्वसम्मोहन' ऑटो सजेशन या हिप्नोटिज्म का आधार ही संकल्पबल या इच्छा शक्ति का प्रयोग है । इनका उपयोग चमत्कारी प्रतिफल प्रस्तुत करता देखा गया है । संगीत माध्यम के साथ विश्वास का संयोग हो जाने पर कितने ही शारीरिक और मानसिक रोगों पर प्रभाव पड़ता देखा गया है । उन केन्द्रों या अंग अवयवों को विकसित एवं क्रियाशील भी किया जा सकता है । इनका प्रयोग विज्ञान जगत में अब गंभीरतापूर्वक हो रहा है और पाया गया है कि औषधि चिकित्सा या शल्य चिकित्सा की तरह इन प्रयोगों का भी समुचित प्रभाव होता है । जापान के डॉक्टर हिरोशी मोटोयामा ने अपने योगों से सिद्ध किया है कि विश्वास उपचार भी अन्य चिकित्सा पद्धतियों से कम फलप्रद नहीं है । इस आधार पर निष्क्रियता को सक्रियता में बदला जा सकता है और संचित विकृतियों को निकाल बाहर किया जा सकता है ।

व्यक्तित्व के उत्थान-पतन में अपने सम्बन्ध में बनाई गई मान्यता ही फलित होती है । योग-वशिष्ठ का यह कथन सर्वथा सत्य है कि जो अपने सम्बन्ध में जैसी धारणा बनाता है वह क्रमशः उसी ढाँचे में ढलता जाता है । इस मान्यता के आधार पर ही लोग ऊँचे उठते और नीचे गिरते हैं । सामान्यतया मनुष्य भी अन्य जीवों की तरह एक प्राणी है पर जब अपने सम्बन्ध में श्रेष्ठ, सामान्य या निकृष्ट होने की मान्यता बना लेता है तो वह मान्यता उसमें उसी स्तर की विशेषताएँ पैदा कर देती हैं और वह उसी दिशा में बढ़ते-बढ़ते अन्ततः पूरी तरह वैसा ही बन जाता है ।

ईश्वर या देवताओं के सम्बन्ध में इन मान्यताओं को भी सृजन का श्रेय प्राप्त है । अन्यथा एक ही ईश्वर के इतने चित्र-विचित्र प्रकारों की आकृतियाँ कैसे हो सकती हैं ? इन मान्यताओं में यथार्थता रही होती तो हर धर्म और देश में उसी प्रकार की समान अनुभूति होती । दार्शनिक के इस कथन में बहुत कुछ सत्य है कि मनुष्य को ईश्वर ने गढ़ा है तो यह भी झूठ नहीं है कि ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओं का सृजनकर्त्ता मनुष्य ही है । जिस प्रकार भक्तजनों की मान्यता है ईश्वर अपने को उसी रूप और स्वभाव का बना लेता है । यहाँ प्रधानता ईश्वर की नहीं भक्त की ही ठहरती है ।

भावना अर्थात् ध्यान । परिपक्व मान्यता और परिपुष्ट ध्यान में कोई अन्तर नहीं है । प्रधान किसे कहा जाय, गौण किसे ? यह प्रश्न उतना ही उलझा हुआ है जितना कि बीज से वृक्ष हुआ या वृक्ष से बीज ? पहले स्त्री उत्पन्न हुई या पुरुष ? वस्तुतः ये अन्योन्याश्रित हैं । मकान, सड़क, पुल आदि की तरह पहले व्यक्तित्व या देवी-देवता कल्पना क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं पीछे वे आकृति और प्रकृति के रूप में प्रत्यक्ष परिचय देने लगते हैं ।

ध्यान ही योजना है । योजना ही ध्यान । उन्हें प्रतिपादन और निर्धारण की तरह अन्योन्याश्रित भी कह सकते हैं । वस्तुतः ध्यान का उपयोग अप्रत्यक्ष जगत की संरचना में उतना सार्थक नहीं होता जितना कि प्रत्यक्ष जीवन को योजनाबद्ध बनाने में । अच्छा हो अपने जीवन-यापन की अब से लेकर अन्त समय तक की एक सार्थक कल्पना करें और उसे किस प्रकार व्यतीत करें इसकी रूपरेखा बनाये । जीवन प्रत्यक्ष देवता है उसका उच्चतम अनुग्रह किस प्रकार की साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, इसकी रूपरेखा बनाने में दिशाधारा विनिर्मित करने में ध्यान योग का उपयोग कर सकें तो वह प्रयास अधिक सार्थक और अधिक प्रत्यक्ष हो सकता है ।

लोग जिन्दगी को किसी प्रकार जीते और मौत के दिन पूरे करते हैं । न उसका कोई उद्देश्य निर्धारित कर पाते हैं और न कार्यक्रम । बिना लगाम के घोड़े की तरह अनियन्त्रित मन की तरह जीवन भी जिधर-तिधर बहता और ज्यों-त्यों करके बीतता है । इसकी परिणति प्रत्यक्ष है । खीजते-खिजाते, डरते-डराते श्मशान में रहने वाले भूत-पलीतों की तरह नीरस और निरर्थक जीवन जीना । यह कल्पना शक्ति के अभाव का कारण है । लाटरी खुलने पर मिलने वाली राशि को ऐसे ही लोग एकाध वर्ष के भीतर बर्बाद कर देते हैं । फण्ड, बोनस में जिन्हें लम्बी रकमें मिलती हैं, उनके पास भी वह राशि अधिक समय नहीं ठहरती । कारण एक ही है कि उस उपलब्ध धन को व्यय करने का कोई सारगर्भित कार्यक्रम नहीं बन पाता । यही बात जीवन सम्पदा के सम्बन्ध में भी है । वह जिस-तिस प्रकार खर्च होता और समय कटता रहता है ।

अच्छा होता हमारा ध्यान जीवन का महत्त्व समझने और उसे किसी उच्च उद्देश्य के लिए नियोजित करने में लगता और उसके सदुपयोग की कोई कारगर योजना बन पाती । सोचा जाता कि बुढ़ापे की कठिनाइयों का समय रहते बचाव कर लिया जाय और मौत के उपरान्त जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है । उनसे निपटने के लिए ऐसा प्रबन्ध कर लिया जाय जिससे समय निकल जाने पर पश्चात्ताप न करना पड़े ।

निज का जीवनयापन करने और भविष्य का भला-बुरा निर्धारण करने की बात जिस तरह अपने हाथ में है । उसी प्रकार यह भी अपना ही दायित्व है कि पत्नी को भी ऐसी स्थिति में रखा जाय कि वह अच्छा साथी मिलने के लिए भाग्य को सराहती रहे और कृतज्ञता व्यक्त करती रहे । बच्चों का दायित्व इससे भी अधिक बढ़कर है । उन्हें बुला कर दुर्गति में फँसा देने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा था कि उन्हें बुलाया ही न जाता ।

ध्यान उस विश्व चेतना का भी रखना है जिसके प्रत्येक घटक का असीम अहसान अपने ऊपर लदा हुआ है । व्यक्ति एकाकी स्थिति में तो असहाय अनाथ है । उसे इस विश्व की असंख्य इकाइयाँ मिल कर जीवित रह सकने की स्थिति बनाती हैं । उनके प्रति भी अपना कुछ कर्तव्य है क्या ? जीवन किसी प्रयोजन विशेष के लिए मिला है क्या ? ध्यान रखने योग्य यह सब बातें भी हैं । इन्हें भुला देने पर मात्र पूजापाठ परक ध्यान अधूरा एवं खिलवाड़ भर रह जाता है ।

सफल साधना, शान्त मनःस्थिति पर निर्भर

शारीरिक और मानसिक उत्तेजनाएँ आत्मिक-साधनाओं में अत्यन्त बाधक होती हैं । उनके कारण महत्त्वपूर्ण साधना विधानों के लिए किया गया भारी प्रयास पुरुषार्थ भी निरर्थक चला जाता है । इसलिए तत्वदर्शी आत्मिक प्रगति की दिशा में बढ़ने के लिए प्रयत्नशील पथिकों को सदा से यही शिक्षा देते रहे हैं कि शरीर को तनाव रहित और मस्तिष्क को उत्तेजना रहित रखा जाय ताकि उस पर दिव्य चेतना का अवतरण निर्बाध गति से होता रह सके ।

क्रिया-कलापों की भगदड़ से माँसपेशियों में—नाड़ी-संस्थान में तनाव रहता है । बाहर से स्थिर होते हुए भी यदि शरीर के भीतर आवेश छाया रहा, तो उस उफान के कारण मन को स्थिर एवं एकाग्र रह सकना भी सम्भव न होगा । हठयोग में शरीर को जटिल स्थिति में डाले रहने की आवश्यकता हो सकती है पर ध्यान योग की दृष्टि से वह सर्वथा अवांछनीय है । वद्धपद्मासन, शीर्षासन, एक पैर से खड़ा होना, जल में बैठना, धूप में तपना, शीत में काँपना, ठण्ड के दिनों में ठण्डे जल से नहाना, गर्मियों में धूनी तपना जैसे शरीर पर दबाव डालने वाले साधन-क्रम हठयोग एवं तान्त्रिक साधनाओं के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, पर यदि कोई चाहे कि इस स्थिति में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि जैसे लययोग परक, अभ्यास कर सके तो उसे असफलता ही मिलेगी । इस सन्दर्भ में बहुधा खेचरी मुद्रा, नासिका पर दृष्टि जमाना, उड्डयन बन्ध, जालन्धर बन्ध, यहाँ तक कि मन्त्रोच्चारण के साथ किया गया माला जप भी व्यक्तिरेक उत्पन्न करता है । इन विधि-विधानों के साथ ध्यान नहीं हो सकता, क्योंकि चित्तवृतियाँ इन शरीरगत हलचलों में लगी रहती हैं, एकाग्रता हो तो कैसे हो ?

आरम्भिक साधना प्रयास में केवल आदत डालने नियमितता अपनाने एवं रुचि उत्पन्न करने जितना ही

लक्ष्य रहता है, इसलिए उपासना में मनोरंजक-चित्त को एक नियम विधि-व्यवस्था में लगाये रहने वाली विधियाँ उपयुक्त रहती हैं । शंकर जी पर बिल्वपत्र चढ़ाना, परिक्रमा करना, धूप, दीप आदि से देव प्रतिमा का पंचोपचार पूजन, स्तवन, पाठ, जप आदि शारीरिक हलचलों के साथ की जाने वाली साधनाएँ इसी स्तर की होती हैं, उनमें रुचि उत्पन्न करने, स्वभाव का रुझान ढालने का लक्ष्य जुड़ा रहता है । आरम्भ में इस लाभ का भी अपना महत्त्व है । किन्तु जब ध्यान योग की उच्च भूमिका में प्रवेश करना होता है तो शरीरगत हलचलें बन्द करके निःचेष्ट होने की आवश्यकता पड़ती है । माँसपेशियों और नाड़ी संस्थान को जितना अधिक तनाव रहित शान्त रखा जा सके उतना ही लाभ मिलता है ।

मन-मस्तिष्क के बारे में भी यही बात है । उसमें हलचलें चल रही होंगी, तरह-तरह के विचार उठ रहे होंगे तो जल में उठती हुई हिलोरों की तरह अस्थिरता ही बनी रहेगी । स्थिर जलराशि में चन्द्र, सूर्य, तारे आदि का प्रतिबिम्ब ठीक प्रकार दृष्टिगोचर होता है पर हिलते हुए पानी में कोई छवि नहीं देखी जा सकती । विचारों की हड़कम्प यदि मस्तिष्क में उठती रहे—तरह-तरह की कल्पनाएँ घुड़दौड़ मचाती रहें तो फिर ब्रह्म सम्बन्ध की प्रगाढ़ता में निश्चित रूप से अड़चन पड़ेगी । मस्तिष्क जितना अधिक विचार रहित, खाली होगा उतनी ही तन्मयता उत्पन्न होगी और आत्मा परमात्मा का मिलन संयोग अधिक प्रगाढ़ एवं प्रभावशाली बनता चला जायेगा ।

आकाश में जब बिजली कड़क रही हो या आँधी-तूफान का मौसम चल रहा हो तो हमारे रेडियो में आवाज साफ नहीं आती कड़कड़ जैसे व्यवधान उठते रहते हैं और प्रोग्राम ठीक से सुनाई नहीं पड़ते । अन्तरिक्ष से भौतिक शक्तियों एवं आत्मिक चेतनाओं का सुदूर क्षेत्र से मनुष्य पर अवतरण होता रहता है । ब्राह्मी चेतना एक प्रकार का ब्रोडकास्ट केन्द्र है जहाँ से मात्र संकेत, निर्देश, सूचनाएँ ही नहीं वरन् विविध प्रकार की सामर्थ्य भी प्रेरित की जाती रहती हैं । सूक्ष्म जगत में यह क्रम निरन्तर चलता रहता है । जहाँ सही रेडियो यन्त्र लगा है—जहाँ व्यक्ति ने अपने आपको इसी अन्तःस्थिति में बना लिया है वहाँ यह सुविधा रहेगी कि ब्रह्म चेतना की विविध सूचनाओं को ग्रहण करके अपनी ज्ञान चेतना को बढ़ा सके । इतना ही नहीं प्रेरित दिव्य शक्तियों को ग्रहण करने और धारण करने का लाभ उठाकर अपने को असाधारण आत्मबल सम्पन्न बना सकें ।

परन्तु यह सम्भव तभी है जब मनुष्य अपने मस्तिष्क को तनाव रहित शान्त स्थिति में रखे । आँधी-तूफान कड़क और गड़गड़ाहट उथल-पुथल रेडियो को ठीक से काम नहीं करने देती । मनुष्य का शरीर और मन उत्तेजित—तनाव की स्थिति में रहे तो फिर यह कठिन ही होगा कि वह ब्रह्म चेतना के साथ अपना सम्बन्ध ठीक से जोड़ सकें और उस सम्मिलन की उपलब्धियों का लाभ उठा सकें ।

ध्यान भूमिका की साधना में शरीर को ढीला और मन को खाली रखना चाहिए । इसके लिए शिथिलीकरण मुद्रा तथा उन्मनी मुद्रा का अभ्यास करना पड़ता है । शिथिलीकरण का स्वरूप यह है कि देह को मृतक-निष्प्राण मूर्छित, निद्रित, निःचेष्ट स्थिति में किसी आराम कुर्सी या किसी अन्य सहारे की वस्तु से टिका दिया जाय और ऐसा अनुभव किया जाय मानो शरीर प्रसुप्त स्थिति में पड़ा हुआ है । उसमें कोई हरकत, हलचल नहीं हो रही है । यह मुद्रा शरीर को असाधारण विश्राम देती और तनाव दूर करती है । ध्यानयोग के लिए यही स्थिति सफलता का पथ प्रशस्त करती है ।

मन-मस्तिष्क को ढीला करने वाली उन्मनी मुद्रा यह है कि इस समस्त विश्व को पूर्णतया शून्य रिक्त अनुभव किया जाय । प्रलय के समय ऊपर नील आकाश, नीचे नील जल स्वयं अबोध बालक की तरह कमल पत्र पर पड़े हुए तैरना अपने पैर का अँगूठा अपने मुख से चूसना, इस प्रकार का प्रलय चित्र बाजार में भी बिकता है । मन को शान्त करने की दृष्टि से यह स्थिति बहुत ही उपयुक्त है, संसार में कोई व्यक्ति, वस्तु, हलचल, समस्या, आवश्यकता है ही नहीं, सर्वत्र पूर्ण नीरवता ही भरी पड़ी है—यह मान्यता प्रगाढ़ होने पर मन के लिए भोगने, सोचने, चाहने का कोई पदार्थ या कारण रह ही नहीं जाता । अबोध बालक के मन में कल्पनाओं की घुड़दौड़ की कोई गुंजायश नहीं रहती । अपने पैर के अँगूठे में से निसृत अमृत का जब आप ही परमानन्द उपलब्ध हो रहा है तो बाहर कुछ ढूँढ़ने

खोजने की आवश्यकता ही क्या रही ? इस उन्मनी मुद्रा में आस्था पूर्वक यदि मन जमाया जाय तो उसके खाली एवं शान्त होने की कोई कठिनाई नहीं रहती । कहना न होगा कि शरीर को ढीला और मन को खाली करना ध्यानयोग के लिए नितान्त आवश्यक है । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ध्यान योग का चुम्बकत्व ही आत्मा और परमात्मा की प्रगाढ़ घनिष्ठता को विकसित करके द्वैत को अद्वैत बनाने में सफल होता है । आत्मा और परमात्मा का मिलन संयोग जितना गहरा होगा उतना ही परस्पर लय होने की-सम्भावना बढ़ेगी । इस एकता के आधार पर ही बिन्दु को सिन्धु बनने का अवसर मिलता है । जीव के ब्रह्म बनने का अवसर ऐसे ही लय समर्पण पर, एकात्म भाव पर निर्भर रहता है ।

जटिल संरचना वाले कोमल तारों एवं पुर्जों से बने यन्त्रों का उपयोग बहुत साज सँभाल के साथ किया जाता है । उन्हें झटके, धक्के लगते रहें तो कुछ ही समय में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है । ट्रांजिस्टर, रेडियो, टेप-रिकार्डर, घड़ी आदि सम्वेदनशील यन्त्र भारी उठक-पटक बर्दाश्त नहीं कर सकते । उन्हें ठीक रखना हो तो सावधानी के साथ उठाने, रखने, बरतने का क्रम चलाना चाहिए । यही बात शरीर और मस्तिष्क के बारे में है, यदि उन्हें स्वस्थ स्थिति में रखना हो तो तनावों और आवेशों से उनकी समस्वरता को नष्ट होने से बचाना ही चाहिए ।

शरीर को मृत समान निर्जीव करने, काया से प्राण को अलग मानन, अर्धनिद्रित स्थिति में माँसपेशियों को ढीला करके आराम कुर्सी जैसे किसी सुविधा-साधन के सहारे पड़े रहने को शिथिलीकरण मुद्रा कहते हैं । ध्यानयोग के लिए यही सर्वोत्तम आसन है । शरीर को इस प्रकार ढीला करने के अतिरिक्त मन को भी खाली करने की आवश्यकता पड़ती है । ऊपर नील आकाश, नीचे अनन्त नील जल, अन्य कोई पदार्थ, कोई जीव, कोई परिस्थिति कहीं नहीं, ऐसी भावना के साथ यदि अपने को निर्मल निश्चिन्त मन वाले बालक की स्थिति में एकाकी होने की मान्यता मन में जमाई जाय तो मन सहज ही ढीला हो जाता है । इन दो प्रारम्भिक प्रयासों में सफलता मिल सके तो ही समझना चाहिए कि ध्यानयोग में आगे बढ़ने का पथ-प्रशस्त हो गया ।

संसार व्यापी शून्य नीलिमा की तरह ध्यानयोग में अपने हृदयाकाश को भी रिक्त करना पड़ता है । कामनाएँ, वासनाएँ, ऐषणाएँ, आकांक्षाएँ, प्रवृत्तियाँ, भावावेश परक उद्विग्नताएँ मन में जितनी उभर-उफन रही होंगी उतना ही अन्तःक्षेत्र अशान्त रहेगा और एकाग्रता का, तन्मयता का, लय स्थिति का आधार अपनाकर हो सकने वाला ध्यान प्रयोजन पूरा न हो सकेगा ।

मस्तिष्क पर क्रोध, शोक, भय, हानि, असफलता, आतंक आदि के कारण आवेश आते हैं, पर वे स्थायी नहीं शिथिल एवं विस्मृत हो जाते हैं । उनका प्रभाव चला जाता है, पर कामनाओं की उत्तेजना ऐसी है जो निरन्तर बनी रहती है और दर्द की तरह मनः संस्थान में आवेश की स्थिति बनाये रहती है । घृणा, द्वेष, प्रतिशोध, आशंका जैसे निषेधात्मक और लोभ, मोह, अहंता, वैभव, सत्ता, पद, यश, भोग, प्रदर्शन जैसी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की विधेयात्मक कामनाएँ यदि उग्र हों तो दिन-रात सोते-जागते कभी चैन नहीं मिल सकता और अपना अन्तःकरण निरन्तर उद्विग्न उत्तेजित बना रहता है । यह स्थिति ध्यान के लिए, ब्रह्म सम्बन्ध के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है ।

शरीर मन और भाव संस्थान को जितना अधिक शिथिल, शान्त, रिक्त किया जा सके उतनी ही आत्म-साधना के उपयुक्त मनोभूमिका निर्माण होता है ।

ध्यान साधना से अन्तःचेतना की प्रखरता

अनियन्त्रित विचार कुसंस्कारों की प्रेरणा से प्रायः अवांछनीय अनुपयुक्त दिशाओं में दौड़ते रहते हैं । उनमें सामर्थ्य तो बहुत है पर वह दिशाबद्ध न होने के कारण ऐसे ही अस्त-व्यस्त नष्ट होते रहते हैं । और निरर्थक होते चले जाते हैं । विचारों को नियन्त्रित करना—उन्हें अनुपयुक्त चिन्तन से हटा कर उपयोगी दिशा में लगा सकने की क्षमता प्राप्त कर लेना वस्तुतः बहुत बड़ी उपलब्धि है । मन एक महाशक्ति है । उसे रचनात्मक दिशा में नियोजित करके अभीष्ट प्रयोजनों में लगाकर असाधारण सफलताएँ प्राप्त की जा सकती

हैं । मन एक दैत्य है जिसे सिद्ध कर लेने पर उससे अद्‌भुत काम कराये जा सकते हैं ? किन्तु यदि वह अनियन्त्रित कुमार्गगामी ही बना रहे तो उसके परिणाम हर प्रकार हानिकारक ही होंगे ।

एकाग्रता का तात्पर्य एक क्षेत्र पर ध्यान केन्द्रित करना है । वैज्ञानिक अपने शोध प्रयत्नों में, कवि भाव अभिव्यंजना में, कलाकार कलाकृति में, साहित्यकार, सृजन संदोह में तन्मय होता है तो उसका उतना ही अर्थ है कि उन्होंने अपने चिन्तन के अनावश्यक बिखराव को रोक कर अपने निर्धारित लक्ष्य तक सीमित रहने की प्रक्रिया अपना ली । इस क्षेत्र में असंख्य विचार अत्यन्त तीव्र गति से उभारे जा सकते हैं । वैज्ञानिक का मस्तिष्क तन्मय तो अपने सीमित लक्ष्य पर ही है पर उस दायरे में अनेक प्रकार के पक्ष-विपक्ष की असंख्य विचार तरंगें उत्पन्न कर रहा होता है । उपासना में भी ऐसा ही होता है साधक अपने इष्टदेव के साथ असंख्य प्रकार की भावाभिव्यंजनाएँ प्रस्तुत करता रहता है । वह विचार तन्त्र को बिखराव से बचा कर एक सीमित परिधि में ही चिन्तन करते रहने के लिए प्रशिक्षित करता है । इस क्षेत्र में जितनी ही सफलता मिलेगी व्यक्ति उसी अनुपात में मस्तिष्कीय प्रखरता सम्पन्न होता चला जायेगा ।

परिस्थितियों, घटनाओं का कितना प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ने दिया जाय और उसे कितने समय तक टिकने दिया जाय यदि इस स्तर का नियन्त्रण प्राप्त हो सके तो समझना चाहिए कि एक अति महत्त्वपूर्ण सिद्धि उपलब्धि हो गई । आमतौर को घटनाओं में मस्तिष्क उपयुक्त मात्रा की अपेक्षा असन्तुलित स्तर का प्रभाव ग्रहण करता है । महत्त्व की दृष्टि से कोई बात सामान्य-सी है पर कई बार उतने से ही मस्तिष्क इतना अधिक भयभीत या उत्तेजित हो जाता है कि मौत जैसी विपत्ति सामने खड़ी लगती है । हत्या-आत्महत्या कर बैठने काम को समेट देने या कहीं भाग खड़े होने को जी करता है । सामान्य-सी हानि ऐसी प्रतीत होती है मानो वज्रपात हुआ अथवा सब कुछ गुम हो गया । भविष्य की अशुभ आशंका भर से कितने ही व्यक्ति अपना रक्त सुखाते रहते हैं । दुष्कल्पनाएँ इतनी उत्तेजना उत्पन्न करती हैं कि मुद्दतों नींद आना बन्द हो जाता है । किसी प्रियजन की मृत्यु का कइयों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं ही उसमें घुलकर अपना सन्तुलन बिगाड़ लेते रुग्ण रहते और अकाल मृत्यु का ग्रास बनते देखे गए हैं । यह सब घटनाओं की अनावश्यक उग्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होने का परिणाम है । इस अवांछनीय उत्तेजना से उतनी हानि होती है जितनी वस्तुतः उस प्रतिकूलता से अप्रिय घटना से किसी भी प्रकार होने वाली नहीं थी । विचार सन्तुलन के अभाव से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम इतने अधिक हैं जिनका कोई पारावार नहीं ।

किसी प्रकार का असन्तुलन प्रिय पक्ष सामने आने पर भी दुर्बल मस्तिष्कों में विभ्रम उत्पन्न होता है । नई उम्र के लड़के-लड़कियों में आपस की तनिक-सी हँसी मजाक उन्हें इतना प्रभावित करती है कि वे पति-पत्नी बनने के स्वप्न देखने लगते हैं । कुछ ही कदम आगे बढ़ने पर वे मोहान्ध हो जाते हैं । विवाह के लिए क्या उपयुक्त क्या अनुपयुक्त है यह सब कुछ वे भूल जाते हैं और कुछ ऐसा कर बैठते हैं जिसका परिणाम आजीवन पश्चात्ताप करने के रूप में ही सामने आता है । ठगों के जाल में फँसने वाले ऐसे ही लोग होते हैं जो बताये गए लाभों पर पूरा विश्वास करते और बिना तर्क-बितर्क किए विश्वास कर लेते हैं और जाल में फँसकर भारी हानि उठाते हैं । एक छोटी सफलता मिल जाने पर गर्वोन्नत हो उठते और सोचते हैं वे कोई बहुत बड़े पराक्रमी हैं और जो कुछ करेंगे उसी में सफलता प्राप्त कर लेंगे । साधनों की तत्परता की सहयोग की-परिस्थितियों की भी कुछ आवश्यकता पड़ती है यह उन्हें सूझता ही नहीं । कल्पनाओं की पतंग बिना डोरी के साधनों के कैसे ऊँची चढ़ सकती है, यह सोचने की उन्हें फुरसत ही नहीं होती । ऐसी दशा में उनके मनोरथ तुर्त-फुर्त पूरे न हो सके तो फिर निराशा भी इतनी गहरी बढ़ती है कि भविष्य में कुछ ऊँचा सोच सकना ही उनसे नहीं बन पड़ता । एक व्यक्ति अविश्वासी सिद्ध हुआ तो हर किसी पर वे अविश्वास ही करते हैं । एक बार हानि हुई तो हर बार वैसा ही होने की आशंका करते रहते हैं ।

अतिवादी असन्तुलन हानि और लाभ के-अतिभय और अति आवेश के रूप में सामने आता है । बहुत बार कुछेक असफलताओं से निराशावादी मनःस्थिति बन जाती है । सब कुछ नीरस दीखता है और उदासी

छाई रहती हैं । आलस्य अवसाद, उपेक्षा, नीरसता, की गई-गुजरी स्थिति में किसी प्रकार का उत्साह ही नहीं जगता न कोई बड़ा संकल्प उठता है और न साहस करने के लिए जी करता है । अर्ध मृतक की तरह किसी प्रकार ढर्रे की जिन्दगी जीते रहना और मौत के दिन पूरे करते रहना ही उन्हें पर्याप्त लगता है ।

अति उत्साह, अतिभय एवं उदासीनता की तीनों ही मनःस्थिति असन्तुलन वर्ग की हैं । तीनों ही हानिकारक हैं । उनसे प्रगति का पथ अवरुद्ध होता है, जीवन का आनन्द चला जाता है और भयभीत रहकर शारीरिक एवं मानसिक व्यथाओं का त्रास सहना पड़ता है । यह अपना निज का अवांछनीय उत्पादन है । मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थितियाँ बनती चली जाती हैं । साधन और सहयोग भी उसी स्तर के उपलब्ध होते हैं । अपने भाग्य का निर्माणकर्त्ता मनुष्य आप हैं यह उक्ति अक्षरशः इसी आधार पर सत्य सिद्ध होती रहती है कि अपने ही मस्तिष्क का अधिपति स्वयं होने पर भी उसे उच्छृंखल अनगढ़ और अनियन्त्रित रहने दिया जाता है तो पतनोन्मुख शोक सन्ताप भरी परिस्थितियों का प्रस्तुत होते चलना निश्चित है । इसी प्रकार यदि विचार तन्त्र के नियन्त्रण का अधिकार अपने हाथ में है तो घटनाओं की उतनी ही प्रतिक्रिया स्वीकार की जायेगी जितनी कि विवेक बुद्धि के आधार पर आवश्यक है ऐसी दशा में हानियों से बचना और लाभों को उपलब्ध करना तनिक भी कठिन नहीं रह जाता । मानसिक सन्तुलन के फलस्वरूप मिलने वाली सुखद सफलताएँ असीम ही होती हैं । सफल जीवन कहलाने वाले व्यक्तियों की महान उपलब्धियाँ प्रायः इसी आधार पर उपार्जित होती रही हैं ।

शरीर पर मन का नियन्त्रण होना सर्वविदित है । मन जैसा निर्देश देता है वैसा ही क्रियाएँ शरीर द्वारा होती रहती हैं । अचेतन मन रक्तभिषरण-आकुंचन-प्रकुंचन—श्वास-प्रश्वास जैसे अनवरत गति से होते रहने वाले क्रिया-कलापों का नियन्त्रण करता है । चेतन मन के आदेश से ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ एवं दूसरे अवयव काम करते हैं । मन और शरीर का सम्बन्ध जब गहरा नशा पी लेने के कारण अस्त-व्यस्त हो जाता है तो हरकतें, हलचलें विभिन्न प्रकार की बेढंगी-होने लगती हैं । शरीर को निरोग एवं परिपुष्ट रखने के लिए मन को संयमी और सदाचारी बनाना पड़ता है । अब विज्ञान ने यह तथ्य पूरी तरह स्वीकार कर लिया है कि शारीरिक दुर्बलता एवं रुग्णता की जड़ें मानसिक क्षेत्र में घुसी रहती हैं । मानसिक विकृतियाँ ही शरीर और मस्तिष्क को रुग्ण विक्षुब्ध बनाती हैं । अस्तु आरोग्य समस्या का समाधान करने के लिए औषधि उपचार भर से काम नहीं चल सकता उसके लिए मानसिक परिशोधन भी आवश्यक है । इसी प्रकार जीवन की अन्यान्य समस्याओं के समाधान में भी सन्तुलित मनोयोग का समावेश आवश्यक है ।

ध्यान साधना का स्वरूप यह है कि विचारों का केन्द्रीकरण करके किसी एक तथ्य पर नियोजित किया जाय । इसमें सफलता तभी मिलती है । जब चेतना का मस्तिष्कीय हलचलों पर नियन्त्रण सध जाय । इष्टदेव के, प्रकाश मण्डल के अथवा अन्य किसी केन्द्र पर मस्तिष्क को सीमाबद्ध किए रहने का तात्पर्य यही हुआ कि विचार प्रवाह को स्वेच्छाचार बरतने से छोड़ने के लिए, अनुशासन में रहने के लिए सहमत कर लिया गया । ध्यान एक व्यायाम है जिससे विचारों पर नियन्त्रण करना सम्भव होता है । इसके अनेकों उपयोग हैं । उन्हीं में एक महत्त्वपूर्ण उपयोगी यह है कि आदेशों उत्तेजनाओं भावुकताओं का अवांछनीय उभार जब भी उठे तब उसे रोक कर प्रवाह को दूसरी दिशा में उलट सकना सम्भव किया जाय । अनगढ़ मन मनुष्य को कहीं भी घसीट ले जा सकता है और कुछ भी करा सकता है किन्तु सुसंस्कृत मन विधेक का अनुशासन मानता है और अन्तःकरण का निर्देश मिलने पर अपनी हलचलें बताई हुई दिशा में मोड़ देता है । ऐसी दशा में मस्तिष्कीय तन्त्र-रचनात्मक उपयोगी, विवेकपूर्ण कार्य ही करता रहेगा । अवांछनीयता के प्रवाह में वह बहेगा ही नहीं । यदि कुछ भटकाव आया तो ध्यानयोग के समय जो प्रबल अन्तःचेतना मनः संस्थान पर नियन्त्रण रखने में सफल हुई थी । वही अपनी प्रखरता से उस भटकाव को सुधार कर सहज ही सुव्यवस्थित बना लेगी । गलती तुरन्त ही सुधर जायेगी ।

मन सही तो शरीर सही । विचारों को अभीष्ट लक्ष्य में नियोजित किए रहना जिसके लिए सम्भव हुआ

वह अपनी क्षमता को निर्धारित दिशा में लगाये रहेगा। जैसा कि कछुये द्वारा खरगोश से बाजी जीत लेने की तरह सामान्य व्यक्तियों द्वारा असामान्य कार्यकर गुजरने की तरह चमत्कार उत्पन्न कर सकना सम्भव हो सका। दिशाबद्ध चिन्तन और क्रियाकलाप जिनसे भी बन पड़ेगा वे भटकाव की अस्त-व्यस्तता से अपनी वर्बादी को बचा लेंगे और उस बचत के सहारे उच्चकोटि की सफलताएँ प्राप्त कर सकेंगे। सफल जीवन ऐसे ही लोगों का होता है। यशस्वी वे ही बनते हैं। ध्यानयोग की छोटी-सी चेष्टा, अन्ततः कितना बड़ा सत्परिणाम उत्पन्न करती है। सफल जीवन की कितनी बड़ी भूमिका बनाती है। इसे देखते हुए उसकी तुलना बीज के माध्यम से वृक्ष बनने जैसी उपमा दी जा सकती है।

साधारणतया ध्यान साधना को पूजा उपासना के साथ जोड़ कर रखा गया है। देवाराधन एवं योगाभ्यास का प्रयोग ही उसमें सम्मिलित रहता है। यह उचित भी है क्योंकि इसका दुहरा लाभ है—जीवन सम्पदा के सदुपयोग के लिए मनोनिग्रह जैसी महान उपलब्धि साथ ही उपासनात्मक लाभ किन्तु ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि देवाराधन या योगाभ्यास के अतिरिक्त और कोई उपाय ध्यान साधना का है ही नहीं। ऐसी भी साधनाएँ हैं जो अनीश्वरवादी-उपासना में अरुचि रखने वाले-अध्यात्म सिद्धान्तों से असहमत लोगों के लिए भी उपयोगी रहेगी। आस्तिक प्रवृत्ति के लोग भी उनसे समुचित लाभ उठा सकते हैं।

एकान्त कोलाहल रहित शान्तिदायक स्थान में बैठ कर ध्यान का अभ्यास करें। एक चौकी पर हरे या नीले रंग का कपड़ा बिछाएँ। उस पर खिला हुआ गुलाब का एक फूल रखें। फूल की पंखुरियों की बनावट तथा रंगों के चढ़ाव-उतार और उसके मध्यवर्ती पराग केन्द्र को गहराई के साथ देखें। इतनी बारीकी से उसे निरखें-परखें मानो कुछ समय बाद परीक्षा में वे सारे विवरण पूछे जाने वाले हैं। फूल को देखने से जब मन ऊबने लगे तो उसके द्वारा बनने वाली वस्तुओं की कल्पना करें। गुलाबजल, इत्र, गुलकन्द, फूलमाला आदि के स्वरूप और निर्माण विधान पर कल्पना दौड़ायें। गुलाब-पुष्प के गुणों पर विचार करें। सुगन्ध, शीतलता कब्ज निवारण, वायुविकार नाश आदि का विचार करें। गुलाब की खेती, उस उपार्जन का लाभ आदि भी चिन्तन का विषय बनाया जा सकता है पीछे गुलाब की आध्यात्मिक प्रकृति हँसना और हँसाना, खिलना और खिलाना, सौन्दर्य की अभिवृद्धि, सुगन्ध का वितरण, सम्मान साधक, प्रभु-समर्पण, काँटों के बीच सन्तोषपूर्ण-निर्वाह भ्रमर, तितली, मधुमक्खी आदि मधुदान जैसी गुणपरक विशेषताओं पर और उनकी प्रतिक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। इस प्रकार घण्टों गुलाब पुष्प में सम्बद्ध विस्तार का चिन्तन किया जा सकता है। इससे मन की अस्त-व्यस्त घुड़-दौड़ रुकेगी और एक सीमित परिधि के अन्दर चिन्तन करने के लिए वह अभ्यस्त होता चला जायेगा। तथ्यों पर जितनी गहराई और सजगता के साथ विचार किया जायेगा, उतनी ही एकाग्रता बढ़ेगी और मन के भागने का अनुपात घटता जायेगा। कुछ ही समय के अभ्यास से ऐसा समय आ जायेगा कि परिधि चिन्तन की आरम्भिक ध्यान भूमिका में सफलता मिल जाय।

जिस प्रकार गुलाब के फूल को लेकर ध्यान अभ्यास की बात ऊपर कही गई है, उसी प्रकार किसी महापुरुष के जीवन-वृत्तान्त को चिन्तन की परिधि बनाकर सम्बन्धित घटना क्रमों पर गहराई से विचार करते रहा जा सकता है। किसी गीत या श्लोक के भावार्थ पर भी देर तक चिन्तन को केन्द्रित रखा जा सकता है। संगीत की कोई ध्वनि इसके लिए चुनी जा सकती है। किसी मनुष्य या प्राणी की काया पर भी ध्यान केन्द्रित नियत किया जा सकता है।

किसी गुण विशेष के सिद्धान्त, स्वरूप, अभ्यास एवं परिणाम को लेकर भी चिन्तन को देर तक सीमित किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, संयम उदारता जैसे गुणों की व्याख्या, प्रयोग, पद्धति एवं प्रतिक्रिया के अनेक पक्ष हो सकते हैं और उन सब पर क्रमशः विचार करते हुए देर तक मन को उसी परिधि में प्रतिबन्धित रहने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

परमेश्वर का विराट् रूप भी ध्यान के लिए उपयुक्त प्रकार है स्वर्ग उसका शीर्ष, पृथ्वी उसके पाद, दिशाएँ हाथ, सूर्य, चन्द्र, नेत्र, वायु, श्वास, अग्नि, पाचन, धर्म, हृदय, वनस्पति, केश, पर्वत, अस्थियाँ, नदियाँ, नाड़ियाँ, समुद्र, मूत्राशय जैसी कल्पना विराट् ब्रह्म की की जा

सकती हैं और उन क्षेत्रों के प्रस्तुत दृश्यों में मन को उलझाये रहा जा सकता है ।

मैं शरीर नहीं हूँ । शरीर मेरा नहीं है । शरीर के साथ जुड़ा हुआ अहम् भाव मिथ्या है । शरीर और सम्पत्ति की दृष्टि से मेरापन निरर्थक है । यह जड़-पदार्थ मुझसे भिन्न हैं । मैं सत्चित आनन्द का अविनाशी अंश हूँ । इस प्रकार चिन्तन करते हुए, जब भौतिक अहम् विलीन हो जाय तो समझना चाहिए, मैं और तू से ऊपर उठा हुआ, परब्रह्म परमात्मा उपलब्ध हो गया ।

प्राणि जगत तथा पदार्थ मात्र में एक ही चेतन-तत्व भरा है । उस व्यापक चेतना के साथ एकाग्रता करने पर समस्त विश्व-चेतन सत्ता का स्वरूप दिखाई पड़ता है । ऐसी स्थिति को भगवत् प्राप्ति कहते हैं ।

ध्यान धारणा से दिव्य क्षमताओं का आकर्षण

ध्यान का तात्पर्य है बिखरे हुए विचारों को एक केन्द्र पर केन्द्रीभूत करना । यह एकाग्रता का अभ्यास, चिन्तन को नुकीला बनाता है । मोटे तार से कपड़ों को नहीं सिया जा सकता है, पर जब इसकी पैनी नोंक निकाल दी जाती है तो कपड़े की सिलाई का प्रयोजन भली-भाँति पूरा हो सकता है । बिखराव में शक्तियों की अस्त-व्यस्तता रहती है, पर जब उन्हें बटोरकर एक केन्द्र के साथ बाँध दिया जाता है तो अच्छी बुहारने वाली झाडू बन जाती है । धागों को इकट्ठा करके कपड़ा बुना जाता है और तिनके रस्सी बन जाते हैं । मेले ठेलों की बिखरी भीड़ गन्दगी फैलाती और समस्या बनती है पर जब उन्हीं मनुष्यों को सैनिक अनुशासन में बाँध दिया जाता है तब वे ही देश की सुरक्षा सँभालते हैं, शत्रुओं के दाँत खट्टे करते हैं और बेतुकी भीड़ को नियम मर्यादाओं में रखने का काम करते हैं । बिखरे घास-पात को समेटकर चिड़ियाँ मजबूत घोंसले बना लेती हैं और उनमें बच्चों समेत निवास करती हैं ।

बिखरी धूप मात्र गर्मी रोशनी पैदा करती है पर जब उसे आतिशी-शीशे द्वारा केन्द्र पर केन्द्रित किया जाता है तो आग जलने लगती है । गर्मी आते ही तालाबों का पानी तेजी से भाप बनकर आसमान में उड़ जाता है । पर व्यवस्थित और केन्द्रित की हुई भाप रेलगाड़ी जैसे वाहनों को घसीट ले जाती है । यह केन्द्रीकरण के चमत्कार है । विचार शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है । वह निरर्थक कल्पनाओं में उलझी रहती है और शेखचिल्ली जैसे अनगढ़ ताने-बाने बुनती रहती हैं । बन्दर इस डाली पर से उस डाली पर अकारण उचकते-मचकते रहते हैं । पर क्रमबद्ध काम करने वाली मधु-मक्खियाँ अपने छत्ते में ढेरों शहद जमा कर लेती हैं । मकड़ी अच्छा-खासा घर बना लेती है । क्रमबद्धता इसी को कहते हैं ।

विचारों को दिशाबद्ध रखने वाले विद्वान, साहित्यकार, कलाकार, वैज्ञानिक, शिल्पी, विशेषज्ञ, दार्शनिक बन जाते हैं । पर जिनका मन उखड़ा-उखड़ा रहता है वे समस्त सुविधा साधन होते हुए भी आवारागर्दी में जीवन बिता देते हैं । अर्जुन के द्रौपदी स्वयंवर जीतने की कथा प्रसिद्ध है । उसकी समूची एकाग्रता मछली की आँख पर जमाई थी और लक्ष्य वेध लिया था । जब कि दूसरे राजकुमार चित्त के चंचल रहने पर वैसे ही धनुष-बाण रहने पर असफल होकर रह गए थे । निशाने वहीं ठिकाने पर बैठते हैं जो लक्ष्य के साथ अपनी दृष्टि एकाग्र कर लेते हैं ।

कल्पनाओं की शक्ति असाधारण है । बरसात के दिनों में टिड्डे हरे रंग के रहते हैं और गर्मी में घास सूख जाने पर वे पीले हो जाते हैं । कारण एक ही है कि वर्षा में उन्हें अपने चारों ओर हरियाली दीखती है और गर्मी की सूखी घास, सूखी जमीन पीली पड़ जाती है । उसे देखते-देखते टिड्डा भी पीला पड़ जाता है । कीट भृंग का उदाहरण प्रसिद्ध है । भृंग का गुंजन सुनते और स्वरूप देखते-देखते झींगुर भी तद्रूप हो जाता है ।

कल्पनाओं की एकाग्रता में असाधारण शक्ति है । झाड़ी में से भूत निकल पड़ता है और जान लेकर हटता है । कुछ मित्रों ने शर्त बदी कि जो कोई मरघट में रात को मुर्दे के कफन में कील गाड़ आवे उसे वह अपनी भैंस उपहार में दे देगा । जो तैयार हो गया वह चला तो गया पर मन में डरता रहा । रात के अन्धेरे में उसने मुर्दे के कफन में कील गाड़ने की अपेक्षा अपनी धोती में कील गाड़ ली जब उठा तो कील ने

उलझा लिया । उसने समझा भूत ने पकड़ लिया । जोर से चीखा और उसी समय उसका हार्ट फेल हो गया । भावी आशंकाओं की कल्पना करके कितने ही लोग इतने भयभीत रहते हैं कि नींद उड़ जाती है और जीना हराम हो जाता है ।

यह कल्पना का निषेधात्मक स्वरूप है । उसका विधेयात्मक स्वरूप भी है कि शुभ और उच्च कल्पनाओं, मान्यताओं के आधार पर मनुष्य का मस्तिष्क ही नहीं जीवन क्रम भी उसी ढाँचे में ढलने लगता है और वह अनन्तः वैसा ही बन जाता है ।

अध्यात्म प्रयोजन में कल्पना और भावना का एकीकरण करते हुए किसी उच्च केन्द्र पर केन्द्रीभूत करने का अभ्यास कराया जाता है इसे ध्यान कहते हैं । ध्यान की क्षमता सर्वविदित है । कामुक चिन्तन में डूबे रहने वालों को स्वप्नदोष होने लगते हैं । टहलने के साथ स्वास्थ्य सुधार की भावना करने वाले तगड़े होते जाते हैं पर दिन भर घूमने वाले पोस्ट मैन या उसी कार्य को भारभूत मानने वाले उस अवसर का कोई लाभ नहीं उठा पाते । पहलवान की भुजाएँ मजबूत हो जाती हैं किन्तु दिन भर लोहा पीटने वाले लुहार को कोई लाभ नहीं होता । इस अन्तर का एक ही कारण है भावनाओं का सम्मिश्रण होना और दूसरे का वैसा न कर पाना ।

योगाभ्यास की ध्यान धारणा में अनेकों प्रयोग हैं । देववादी बहुधा अपने-अपने मान्य देवता का ध्यान करते हैं । जप के साथ ध्यान का जुड़ा रहना उपयुक्त भी है । इसमें मुख से नामोच्चार का अवसर मिलता है पर मस्तिष्क खाली रहता है । वह अनगढ़ कल्पनाओं में इधर-उधर भागता रहता है । जप के साथ मनोयोग भी जुड़ना चाहिए । यह तभी हो सकता है जब मस्तिष्क को ध्यान जैसी प्रक्रिया में नियोजित कर दिया जाय । देवताओं की गणना नहीं, जिसे जो सुहाता है वह उसे इष्ट मान लेता है और साधना काल में उसका ध्यान करने का प्रयत्न करता है पर वह भी निभता नहीं क्योंकि मात्र छवि पर देर तक चित्त को एकाग्र नहीं रखा जा सकता । उसके साथ आत्मीयता भरी भावनाएँ भी जुड़नी चाहिए । उन्हें अपना कोई घनिष्ठ स्वजन सम्बन्धी माना जाना चाहिए । इसलिए 'पितु, मातु, सहायक, स्वामी, सखा' जैसी भावनाओं का आरोपण इष्ट छवि में आरोपित किया जाता और उसके साथ घनिष्ठतम आत्मीयता एकता जोड़नी पड़ती है । इस भाव चेतना का समावेश होने पर ही देवी-देवताओं की, छवि की भाव कल्पना करने पर उनके साथ मन एकाग्र होता है अन्यथा भटकता ही रहता है । इस प्रयोग में इष्टदेव के सम्बन्ध में समझी गई भली-बुरी विशेषताएँ भी अपने में अवतरित होने लगती हैं । कामुक देवता की काम वासना, क्रोधी एवं युद्ध परायण देवी का आक्रोश भी भक्त के स्वभाव में सम्मिलित होने लगता है ।

इसलिए चरित्र गाथा वाले देवताओं की अपेक्षा बिना चरित्र का इष्ट अधिक निर्दोष है उस पर चाहे जैसी ऊँची से ऊँची भावनाएँ आरोपित की जा सकती हैं । उसमें उनके चरित्र दोष बाधक नहीं होते ।

निराकार साधना में सविता देवता का ध्यान सर्वोत्तम माना गया है । सविता अर्थात् प्रातःकाल का उदीयमान स्वर्णिम सूर्य । यही गायत्री शक्ति का देवता भी है । छन्द विनियोग में गायत्री का देवता 'साविता' कहा गया है । सविता की शक्ति सावित्री भी गायत्री ही है ।

सविता ध्यान का विधान यह है कि अपने को निर्वस्त्र निश्छल बालक जैसा माना जाय । पूर्व दिशा में प्रातःकाल के उदीयमान सूर्य को अपना इष्ट माना जाय और ध्यान किया जाय कि उसकी धीमी किरणें अपने सम्पूर्ण शरीर पर बिखर रही हैं । मात्र बिखरती ही नहीं शरीर के ऊपरी बाहरी क्षेत्र अवयवों में प्रवेश भी करती हैं ।

स्थूल शरीर में किरणों का प्रवेश बलवर्धन करता है । सूक्ष्म शरीर मस्तिष्क प्रदेश में उनका प्रवेश बुद्धि, वैभव और प्रज्ञा अनुदान की वर्षा करता है । कारण शरीर—हृदय देश भावना क्षेत्र को श्रद्धा, सहृदयता और सद्भावना से सराबोर करता है । इसी प्रकार काया के भीतर वाले सभी छोटे-बड़े अंग-प्रत्यंग सविता की किरण प्रवेश द्वारा लाभान्वित होते हैं । सभी को उनकी आवश्यकता के अनुरूप बल मिलता है । सभी परिपुष्ट और क्रियाशील बनते हैं उनके भीतर जो अन्धकार रूपी विकार थे वे इस प्रकाश के प्रवेश से तिरोहित होते हैं । अपना व्यक्तित्व निखरता है और स्थूल शरीर को ओजस्, सूक्ष्म शरीर को तेजस् और कारण

शरीर को वर्चस् उपलब्ध होता है । जैसे सूर्योदय होते ही कमल पुष्प खिलने लगते हैं । वैसे ही अपनी समग्र सत्ता इस सविता साधना से विकसित, उल्लसित, प्रफुल्लित एवं तरंगित होती है ।

यह ध्यान नेत्र बन्द करके कहीं भी किया जा सकता है । यदि इसे प्रत्यक्ष करना हो तो जहाँ प्रातःकालीन उदीयमान सूर्य सर्वप्रथम दिखाई पड़ता हो वहाँ ऊँचे स्थान पर बैठना चाहिए । लज्जा-वस्त्र लंगोट भर पहन कर समस्त शरीर खुला रखना चाहिए । सूर्य की ओर मुख रखना चाहिए । पर उसे लगातार देखना नहीं चाहिए । क्षणभर के लिए उसकी झाँकी इस प्रकार करनी चाहिए कि उस क्षणिक दर्शन का अभ्यास देर तक बना रहे । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दर्शन योग्य प्रातःकालीन स्वर्णिम सूर्य ही होता है जब उसमें तेजी सफेदी आने लगे तो फिर उसका खुली आँख से देखना हानिकारक होता है । नेत्रों की ज्योति क्षीण करता है ।

यहाँ सविता को निर्जीव अग्निपिण्ड मात्र नहीं मानना चाहिए जैसा कि भौतिक विज्ञान की दृष्टि से माना जाता है । आध्यात्मिक भाव मान्यताओं के अनुरूप वह परब्रह्म का तेजस्वी प्रतीक है—प्राण शक्ति का सृजेता । प्राणियों का प्राण और पदार्थों का गति धर्म । भौतिक विज्ञानी मानते हैं कि पृथ्वी पर जो जीवन है वह सब सूर्य का ही अनुदान है । इसी प्रकार पदार्थों में जो विशेषताएँ पायी जाती हैं वे सूर्य किरणों में से अविभूति होती हैं । यदि सूर्य बुझ जाय तो पृथ्वी का अस्तित्व भी न रहेगा । वह अन्धेरी हिमाच्छादित तो हो ही जायेगी, साथ ही किसी अन्य ग्रह की आकर्षण शक्ति से खिंचकर कहीं अन्यत्र चली जायेगी तब उसका स्वरूप भी नहीं रहेगा । यह वैज्ञानिक मान्यता हुई ।

अध्यात्म मान्यताओं के अनुसार सूर्य परब्रह्म की प्रत्यक्ष प्रतीक प्रतिमा है । वह मात्र भौतिक पदार्थ का ही उपहार नहीं देता अपितु चेतना को जीवन्त बनाये रखने वाले पाँच प्राण भी उसी में आते हैं । उसकी आराधना से हम अपने आन्तरिक चुम्बकत्व संकल्प शक्ति से अभीष्ट मात्रा में अभीष्ट स्तर के प्राण आकर्षित और धारण कर सकते हैं सूर्य में असीम ऊर्जा है । उस ऊर्जा का चेतना पक्ष जितना अभीष्ट हो, जितना धारण करने की क्षमता हो उतना प्राप्त कर सकते हैं ।

सविता का ध्यान सर्वोत्तम है । वह प्रत्यक्ष देव है । उसकी ध्यान धारणा से हम प्रत्यक्ष लाभ भी प्राप्त करते हैं । भौतिक सिद्धियाँ भी और आत्मिक ऋद्धियाँ भी ।

ध्यान धारणा का उपयोग और अभ्यास

चित्तवृत्तियों के बिखराव को रोक कर उन्हें निग्रहीत करना और किसी महत्त्वपूर्ण लक्ष्य पर केन्द्रीभूत कर देना यही ध्यान प्रक्रिया का उद्देश्य है । आमतौर से इसके लिए कोई दृश्य पदार्थ या व्यक्तित्व को माध्यम बनाया जाता है । दृश्यों से प्रकाश ज्योति को कल्पना क्षेत्र में प्रतिष्ठापित करना और श्रद्धासिक्त भावना से उसका अवलोकन करना, अधिक प्रचलित है । प्रकाश का ध्यान सार्वभौम है । विश्व के समस्त साधना सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में इसे मान्यता दी है । दीपक की ज्योति अथवा प्रभातकालीन सूर्य-मण्डल की आभा को ध्यान में लाया जाता है । अन्य प्रकार के श्वेत रंग के अतिरिक्त अन्य रंग के भी छोटे या बड़े प्रकाश बिन्दु ध्यान के माध्यम बनाये जाते हैं ।

साकार उपासना में देव प्रतीकों पर श्रद्धा जमाई जाती है । उनकी समीपता का अनुभव किया जाता है । समीपता के साथ-साथ भावनात्मक आदान-प्रदान चलता है । इष्टदेव को किसी स्वजन सम्बन्धी के रिश्ते में माना जाता है और उसी स्तर का प्रेम किया जाता है । पितु, मातु, सहायक, स्वामि, सखा आदि में से जो भी हृदयग्राही होता है वह रिश्ता जोड़ लिया जाता है और तदनुरूप उच्चस्तरीय भाव-भरे आत्म-समर्पण का संकल्प परिपक्व किया जाता है ।

इष्टदेव की प्रतिमा पर ध्यान एकाग्र करने का प्रधान लाभ यह है कि मन की दौड़ का एक परिधि में सीमाबद्ध होने का अभ्यास होता है । इष्टदेव की छवि, वस्त्र, आभूषण, आयुध, वाहन आदि का इतना बड़ा परिष्कार होता है कि मन को उतनी परिधि में दौड़ते रहने का अवसर मिल जाता है और एकाग्रता की उपलब्धि के लिए क्रमिक प्रगति का द्वार खुल जाता है । जंगली जानवर पकड़े जाते हैं तो बड़े बाड़े में कैद रखा जाता है । छोटे कटघरे में बन्द कर दें तो

वे छुट्टल अभ्यास के लिए व्याकुल होकर हाथ-पैर तोड़ सकते हैं । चिड़ियाघरों में हर जानवर को उसकी प्रकृति के अनुरूप खुली जगह दी जाती है । पकड़े गए जंगली हाथी, हिरन, नीलगाय आदि पहले बड़े बाड़े में रखे जाते हैं ताकि उन्हें भाग-दौड़ का अवसर न मिले । पीछे उनके दायरे छोटे करते जाते हैं । अन्त में खूँटे से रस्सी के सहारे बाँधने की स्थिति आ जाती है । यही बात मन के सम्बन्ध में भी है । आरम्भ में छोटे बिन्दु पर पूर्ण एकाग्रता सम्पादित करना कठिन पड़ता है । अस्तु इष्टदेव की छवि, वस्त्र, आयुध वाहन आदि के विस्तार में मन को दौड़ने की छूट दी जाती है । साकार ध्यान में यही होता है साधक का चित्त इष्टदेव के अंग-प्रत्यंगों को निहारता है—वस्त्रों की बनावट, रंग, किनारे आदि निरखता है, आयुधों की चित्र-विचित्र बनावटों पर नीचे से ऊपर तक दृष्टि दौड़ाता है, पशु-पक्षी आदि के रूप में निकट ही विद्यमान वाहन के अंग-प्रत्यंगों को रुचिपूर्वक देखता है । इस प्रकार उतनी ही परिधि में दौड़-धूप करते रहने से सीमित एकाग्रता का अभ्यास चलता रहता है । क्रमशः यह परिधि छोटी की जाती रहती है । अभ्यास बढ़ने पर इष्टदेव के केवल मुख-मण्डल पर ध्यान सीमित करते हैं । अन्य अंग, अलंकार, वाहन आदि को छोड़ दिया जाता है । इसके अगली सीढ़ी पर इष्टदेव की दाहिनी आँख पर पीछे उसकी मध्यवर्ती पुतली पर ध्यान जमाया जाता है । इष्टदेव की पुतली पर अपना प्रतिबिम्ब देखता है अन्ततः उसी को ध्यान का लक्ष्य बनाया जाता है और आत्म साक्षात्कार की स्थिति प्राप्त की जाती है ।

यह तो हुई मन की दौड़ का सीमा बन्धन—एकाग्रता का परिपाक । पर बात इतने से ही पूरी नहीं हो जाती । इष्टदेव के साथ अपना भावनात्मक सम्पर्क प्रगाढ़ करना पड़ता है । प्यार-दुलार, मनुहार की, श्रद्धा वात्सल्य की, घनिष्ठता और समीपता की, आन्तरिक एकात्मता की इस प्रकार की अनुभूतियाँ उभारनी पड़ती हैं कि हम दो ही एक शरीर दो प्राण हैं । दाम्पत्ति-जीवन में कभी-कभी ऐसी घनिष्ठता की बिजली कोंधती है, इस अभिन्न आत्मीयता का प्रगाढ़तम मनोभाव इष्टदेव के साथ सँजोना पड़ता है । इस घनिष्ठता को प्रत्यक्ष करने वाले तरह-तरह के शारीरिक, मानसिक आदान-प्रदानों के कल्पना चित्र गढ़ने पड़ते हैं । घनिष्ठ मित्रों के बीच, माता और पुत्र के बीच, जो भाव भरे क्रीड़ा-विनोद सम्भव हैं, उनकी अनुभूतियाँ भावलोक में गढ़नी होती हैं । दृश्य की दृष्टि से इष्टदेव का बहिरंग परिकर और भाव की दृष्टि से प्रगाढ़ आत्मीयता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अनुभूतियों और सम्वेदनाओं की गहराई इन दोनों स्थूल एवं सूक्ष्म तत्वों का समन्वय हो जाने से साकार उपासना की ध्यान प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है । इससे एकाग्रता का लाभ ही नहीं विश्वव्यापी दिव्य सत्ता के साथ घनिष्ठता बना लेने और उसके साथ सम्पर्क साध सकने वाले आत्मिक चुम्बकत्व का भी विकास होता है । इस मार्ग पर चलते-चलते मनोनिग्रह और मनोलय की स्थिति प्राप्त हो सकती है । समाधि का, आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वर साक्षात्कार का लाभ मिल सकता है ।

निराकार उपासना में सूर्य, दीपक अथवा किसी अन्य वर्ण आकार के प्रकाश का ध्यान किया जाता है । वह प्रकाश सुदूर अन्तरिक्ष में उदय हो रहा है और साधक एक छोटे बालक की तरह उसका दिव्य-दर्शन कर रहा है । उसकी धूप सेक कर शरीर को गरम कर रहा है । इष्टदेव की ऊष्मा और तेजस्विता साधक के शरीर में भीतर प्रवेश करके स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों में नव-चेतना का संचार कर रही है, ऐसी भावना की जाती है । प्रकाश ऊर्जा के साधक में प्रवेश करने के साथ-साथ उसके स्थूल शरीर में ओजस्विता, सूक्ष्म शरीर में मनस्विता, कारण शरीर में तेजस्विता की वृद्धि होती अनुभव की जाती है । बल, ज्ञान और भाव के संचार की आस्था जितनी प्रगाढ़ एवं परिपक्व होगी उतनी ही निराकार प्रकाश ध्यान की सार्थकता मानी जायेगी । भाव रहित ध्यान से तो मात्र एकाग्रता का लाभ मिलता है । आत्मिक प्रगति के लिए ध्यान के साथ भावनाओं का गहरा पुट रहना चाहिए । सूक्ष्म शरीर में मस्तिष्कीय एकाग्रता की ओर कारण शरीर के अन्तरात्मा परत में दिव्य भाव सम्वेदनाओं की विभूतियाँ रहती हैं । स्थूल शरीर को ध्यान धारणा का उपक्रम बनाते समय यह समझना होता है कि ध्यान चाहे साकार का हो चाहे निराकार का, उसमें भाव सम्वेदना का गहरा पुट लगा रहना आवश्यक है । यदि नीरस मन से उपेक्षापूर्वक प्रकाश अथवा आकृति का दर्शन

मात्र किया जा रहा है तो उस स्थिति में सरसता उत्पन्न ही न हो सकेगी और हजार प्रयत्न करने पर भी मन के बार-बार उचटने का व्यवधान दूर न हो सकेगा । जीव बँधता तो सरसता के साथ है । ध्यान में यदि भाव सरसता मिली हुई होगी तो फिर मनोनिग्रह से लेकर मनोलय के समस्त प्रगति चरण अनायास ही उठते चले जायेंगे और लक्ष्य तक पहुँचना सरल हो जायेगा ।

ध्यान—कल्पना और भावना के आधार पर किया जाता है । कल्पना मस्तिष्क करता है और भावना अन्तरात्मा से उठती है । यह दोनों ऊँचे स्तर हैं और प्राय: आत्मिक क्षेत्र में वे प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं । यों सांसारिक कार्यों की कल्पनाएँ तो कितनी ही उठती हैं और लोभ, मोह से सम्बन्धित राग-द्वेष के भाव भी उठते रहते हैं । उनका सहज अभ्यास भी होता है, पर आत्मिक क्षेत्र की न तो कल्पनाएँ ही अभ्यास में आती रही होती हैं और न उस प्रकार की भावनाओं का ही अनुभव होता है । अस्तु इसके लिए प्रतीकों के सहारे चलना पड़ता है । छोटे बच्चों को तीन पहिये की गाड़ी के सहारे अथवा अँगुली पकड़ कर चलना सिखाया जाता है । ज्ञान सम्वर्धन के लिए प्राथमिक कथाओं में वर्णमाला याद कराने के लिए चित्रों, खिलौनों एवं उपकरणों का प्रयोग किया जाता है । ऐसा ही कुछ करना आत्मिक प्रगति की दिशा में बढ़ने वाले आरम्भिक छात्रों के लिए भी आवश्यक होता है ।

मूर्ति पूजा के माध्यम से प्रतीकों की छवि खुले नेत्रों के सामने रखी जाती है ताकि उसी से मिलती-जुलती जीवन्त आकृति मस्तिष्क में जम सके और ध्यान धारणा के काम आ सके । देव प्रतिमा की पूजा, आरती करते हुए श्रद्धा, भावना का उद्‌भव किया जाता है । ध्यान में इष्टदेव की छवि देखते रहने भर से भी तो कुछ काम नहीं चलता उसके साथ श्रद्धा का गहरा पुट रहना ही चाहिए । प्रतिमा पूजन से छवि भी कल्पना क्षेत्र में अपना स्थान बनाती है और पूजा उपचार के साथ श्रद्धा की अभिव्यक्ति का जो उपक्रम चलता है उससे भावना क्षेत्र में श्रद्धा सम्वेदना को विकसित होने का अवसर मिलता है । अस्तु प्रतीक पूजा को स्थूल के क्षेत्र में की जाने वाली ध्यान धारणा ही माना गया है ।

निराकार ध्यान में प्रकाश धारणा की प्रमुखता है । छोटे बिन्दु से आरम्भ करना हो तो दीपक की लौ के त्राटक को निमित्त बनाते हैं । हर पूजा प्रकरण में दीपक जलाने का विधान इसी दृष्टि से रखा गया है । उसकी ओर बार-बार ध्यान जाते रहने से दीपक की लौ आँखों के आगे घूमती रहती है और उस आकृति का कल्पना चित्र मस्तिष्क में उतारना सरल पड़ता है । दीपक पर त्राटक करने का विधान आत्म-साधना में प्रचलित है । साधक पालथी मार कर बैठता है । तीन फुट दूर छाती की ऊँचाई से किसी चौकी आदि पर दीपक रखता है । उसे हलकी दृष्टि से दस सेकण्ड देखता है, फिर आँखें बन्द कर लेता है और मस्तिष्क के मध्य त्रिकुटि स्थान पर उसी दीपक की लौ के जलने की कल्पना करता है । आँखें खोलकर दीपक की लौ देखने और फिर आँख बन्द करके मस्तिष्क के मध्य में जलती लौ की कल्पना करने की प्रक्रिया चलती रहती है । शास्त्रकारों ने चालीस दिन तक इस प्रकार दीपक त्राटक करने का विधान नये साधकों के लिए रखा है । इस आधार पर प्रकाश बिन्दु का ध्यान कर सकने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है । छोटे बिन्दु से दिव्य प्रकाश की किरणें निकलती हैं और वे बाहर फैलती हुई सम्पूर्ण शरीर क्षेत्र में आलोक उत्पन्न करती हैं । यह भीतर से बाहर की ओर प्रकाश विस्तार का उपक्रम है ।

बाहर से भीतर के प्रवेश का उद्देश्य सूर्य ध्यान से पूरा होता है । सुदूर अन्तरिक्ष में प्रभातकालीन स्वर्णाम् बाल सूर्य को ही उपयुक्त समझा गया है । मध्याह्नकालीन सूर्य में प्रचण्डता होती है और अस्तकाल में उसकी आभा धूमिल हो जाती है । अस्तु ध्यान के लिए उसी को उपयुक्त माना गया है । प्रारम्भिक अभ्यास के लिए दीपक की तरह प्रभातकालीन सूर्य पर भी त्राटक करने की आवश्यकता पड़ती है । धारणा इसी से परिपुष्ट होती है और कल्पना इसी से उभरती है । प्रात:काल अरुणोदय के समय कोई ऐसा स्थान नियत करना चाहिए, जहाँ पेड़ों, मकानों आदि की आड़ न हो, तो धरती से ऊपर उभरता हुआ बाल सूर्य बिना किसी अड़चन के दृष्टिगोचर हो सके । कुशासन अथवा कम्बल बिछाकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए पालथी मारकर बैठना चाहिए आँखें अधखुली

रखना, ध्यान मुद्रा है । हाथों को गोदी में रखना चाहिए । बाईं हथेली नीचे और दाहिनी ऊपर रहे । बैठने का यही तरीका उत्तम है । यों आँखों को तर्जनी के पोरुओं से लगाकर—हथेली ऊपर रखते हुए-दोनों हाथ दोनों घुटनों पर रखकर ध्यान के लिए बैठने की भी एक परिपाटी है, पर अधिक उपयोगी गोदी में हाथ रखकर बैठने की विधि ही है । शरीर पर लज्जा निवारण के न्यूनतम कटि वस्त्र ही पहने जायें, पूरा शरीर नंगा रहे ।

सूर्य त्राटक में दीपक त्राटक से अधिक सतर्कता बरतनी होती है । दीपक का प्रकाश मन्द होता है और सूर्य का तीव्र । दीपक को खुली आँख से निहारने की अवधि मर्यादा दस सेकण्ड की है । इससे अधिक समय तक उसे लगातार न देखा जाय । दस सेकण्ड निहारना और बीस सेकण्ड मस्तिष्क के मध्य में लौ की कल्पना करना यह दीपक त्राटक का उपक्रम है । सूर्य का तेज प्रचण्ड होता है । इसलिए उसका दर्शन एक या दो सेकण्ड भर का होना चाहिए । खुले प्रकाश को अधिक देर देखते रहने से आँखों को हानि पहुँचती है, इस तथ्य से शरीर विज्ञान का हर विद्यार्थी परिचित है । त्राटक के नाम पर भी उस प्रकृति मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना रहेगी । मन्द प्रकाश होने के कारण दस सेकण्ड तक दीपक को लगातार देखने से आँखों को हानि नहीं होती । इसी प्रकार प्रभातकालीन सूर्य एक या दो सेकण्ड खुली आँख से देखा जा सकता है । श्वेत वर्ण सूर्य को देखना सर्वथा निषिद्ध है । पीला रंग समाप्त होते ही सूर्य ध्यान के योग्य नहीं रह जाता । इसी प्रकार लगातार अधिक देर खुली आँख से देखने पर भी सूर्य त्राटक से अहित होता है । मर्यादित मात्रा में ही हर वस्तु का लाभ है । अति बरतने पर तो अमृत भी विष हो सकता है ।

सूर्य को एक दो सेकण्ड खुली आँख से देखने के उपरान्त आँखें बन्द कर लेनी चाहिए और तीस सेकण्ड तक उसी स्थान पर जहाँ सूर्य उगा हुआ है । अरुणोदय के दर्शन की कल्पना की जाय । दो सेकण्ड देखना—तीस सेकण्ड कल्पना करना यह क्रम प्रायः दस-पन्द्रह मिनट चलता रह सकता है । इतने में सूर्य की स्वर्णिमा धूमिल पड़ जाती है और श्वेत वर्ण की प्रौढ़ता आने लगती है । तब उस पर त्राटक करना व्यर्थ है । सूर्य दर्शन त्राटक का यह उपक्रम बीस दिन करने से प्राथमिक आवश्यकता पूरी हो जाती है । दीपक और सूर्य त्राटकों के समय में अन्तर रहना स्वाभाविक है । दीपक अभ्यास चालीस दिन करना पड़ता है और सूर्य अभ्यास बीस दिन ही पर्याप्त होता है । दीपक दर्शन दस सेकण्ड चलता है और सूर्य दर्शन दो सेकण्ड । दीपक अभ्यास बीस मिनट प्रतिदिन चलता रह सकता है । किन्तु सूर्य अभ्यास के लिए दस या पन्द्रह मिनट पर्याप्त हैं ।

दीपक को आत्मा का प्रतीक माना गया है और सूर्य को परमात्मा का । इसीलिए दीपक की आभा बिन्दु से विस्तार की ओर चलती है । आत्मा को अपना विकास विस्तार करना पड़ता है । दीपक की लौ मध्य मस्तिष्क में अवस्थित होकर अपना विस्तार करती है । और उसके आलोक से शरीर के अंग-प्रत्यंगों में आत्म-चेतना का संचार होता है । असुर अच्छादनों का कलाष-कल्मष घेरा तिरोहित होता जाता है और आत्म-भावना की स्थापना होती है । यही दीपक त्राटक की परिचेतना है । सूर्य प्रतीक है । सविता उसका देवता । सविता का अर्थ है—तेजस्वी परमात्मा । ऊर्जा, आभा, गति, जीवन, मर्यादा यह पाँच प्राण सूर्य से निस्तृत होते हैं । उन्हीं को प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान नामों से पुकारा जाता है । सूर्य त्राटक करते समय साधक की भावना प्रस्तुत प्रकाश पिण्ड के सहारे तेजस्वी सविता-देवता की अभ्यर्थना करने की होनी चाहिए ।

सूर्य जड़ है उसमें चेतना एवं भावना का अभाव है । इसलिए मात्र सूर्य के प्रकाश का ध्यान करने भर से आध्यात्मिक प्रगति का उद्देश्य पूरा नहीं होता । चैतन्य सविता ही उपास्य है । उसी में सद्भावनाओं, सत्प्रेरणाओं और विभूतियों का भाण्डागार सन्निहित है । सूर्य त्राटक करके कुछ समय अन्तरिक्ष से दिव्य-चेतना की वर्षा होने का ध्यान करना चाहिए । किरणें वर्षा की जलधारा की तरह साधक के शरीर पर बरसती हैं और सूखी मिट्टी में जिस तरह वर्षा का जल प्रवेश करता है और उसे गीला बनाता है, उसी प्रकार यह अनुभव किया जाना चाहिए कि सविता-देवता की अनुग्रह किरणें साधक की समग्र सत्ता

के ऊपर बरसती हैं और उसके अन्तराल की गहराइयों तक प्रवेश करती चली जाती हैं ।

सविता देवता शरीर में बलिष्ठ श्रमशीलता, मन में प्रखर विचारणा और अन्तःकरण में उदात्त सम्वेदनाओं की बौछार करते हैं । एक्सरेज की विद्युत किरणें शरीरों और पदार्थों में होकर आर-पार निकल जाती हैं, उसी प्रकार सविता के अनुदान साधक के तीनों शरीरों में प्रवेश करते और उन पर अपनी गहरी छाप छोड़ते हैं । यह भावना यदि सूर्य ध्यान के साथ जोड़कर रखी जायेगी और उस मान्यता को वास्तविकता स्तर की प्रतिष्ठापना की जायेगी तो ही वह समग्र लाभ मिलेगा जो इस महान साधना के साथ सन्निहित है । प्रकाश दर्शन के साथ-साथ अन्तःक्षेत्र में दिव्य-प्रेरणाओं के अवतरण की बात जितनी गहरी श्रद्धा के साथ हृदयंगम की जायेगी, ध्यान का उद्देश्य उतनी ही मात्रा में उपलब्ध होता चला जायेगा ।

स्मरण रखा जाय । प्रभातकालीम सूर्य या दीपक का त्राटक आरम्भिक अभ्यास भर है । ध्यान तो कल्पना एवं भावना के सम्मिश्रण से 'सूक्ष्म' एवं 'कारण' शरीरों के माध्यम से ही सम्भव होता है । अस्तु त्राटकों की आवश्यकता अधिक समय तक नहीं रहती । बीच-बीच में कभी ध्यान की प्रखरता में शिथिलता होने लगे तो एकाध सप्ताह के लिए उसका अभ्यास दुहरा लिया जाता है ।

कायकलेवर को—शरीर को व्यायाम, संयम, पौष्टिक आहार के माध्यम से परिपुष्ट किया जाता है । अन्तःचेतना को परिपुष्ट करने के लिए किए जाने वाले व्यायामों में ध्यान प्रक्रिया का महत्त्व सर्वोपरि है । जप को भूमिशोधन और ध्यान को बीज बोने की उपमा दी गई है । जप की पुनरावृत्ति से जो रगड़ की जाती है उससे कषाय-कल्मषों के परिशोधन का प्रयोजन पूरा होता है । यह सोने को तपा कर खरा बनाने भर की बात हुई । अलंकार आभूषण बनाने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है, उसकी तुलना ध्यान से की जा सकती है । ध्यान के फलस्वरूप जो संकल्प शक्ति प्रखर होती है उसी के सहारे अन्तः शक्तियों के जागरण और दिव्य-लोक से विभूतियों के अवतरण के दोनों उद्देश्य पूरे होते हैं । ध्यानयोगी व्यक्तित्व सम्पन्न भी बनता है और दिव्य-शक्तियों का कृपा पात्र भी । भीतर से सिद्धियाँ उदय होती हैं और बाहर से ऋद्धियाँ उपलब्ध होती हैं । इन उभय-पक्षीय अनुदानों से लाभान्वित होकर साधना क्षेत्र में दूरदर्शी संकल्प लेकर उतरने वाला इतना कुछ प्राप्त करता है । जितना अन्य किसी क्षेत्र में किए जाने वाले पुरुषार्थों से सम्भव नहीं हो सकता है ।

ध्यान को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) अनैच्छिक ध्यान (नान वालेन्टरी अटैन्शन) जिन विचारों की इच्छा या आवश्यकता अनुभव नहीं होती फिर भी वे किसी पूर्व मनःस्थिति या कल्पना के आधार पर आ धमकते हैं । (२) ऐच्छिक ध्यान (वालेन्टरी अटैन्शन) विचारों एवं कल्पना चित्रों को इच्छापूर्वक उत्पन्न करके मस्तिष्क में जमाया जाता है । (३) इच्छा विरुद्ध ध्यान (नान वालेन्टरी फोर्स्ड अटैन्शन) सामान्य इच्छा से प्रतिकूल बलात् किसी दिशा में आकर्षण उत्पन्न करने वाले विचार । (४) स्वाभाविक ध्यान (हैविचुअल अटैन्शन) अभ्यस्त गतिविधियों की स्मृति दिलाने वाले ध्यान ।

बारीकी में न जाया जाय तो इन्हें दो भागों में भी बाँटा जा सकता है—एक वे जिन्हें उपयोगी आवश्यक समझ कर इच्छानुसार मनःक्षेत्र में उत्पन्न किया जाता है । दूसरे वे जिनकी प्रत्यक्ष इच्छा से आवश्यक नहीं होती फिर भी मस्तिष्क क्षेत्र में घुस पड़ते हैं । साधारण स्तर के हों तो अभीष्ट चिन्तन प्रक्रिया को गड़बड़ाते हैं और ध्यान को कहीं से कहीं उड़ा ले जाते हैं । यह अवांछनीय एवं अनावश्यक विचार कई बार इतने तीव्र होते हैं कि सारे विचार तन्त्र में हलचल खड़ी कर देते हैं और असामान्य प्रबलता के कारण विवेक को विरोध करने तक में असमर्थ कर देते हैं । आवेश की तरह छाते हैं और मनुष्य को कहीं से कहीं घसीट कर ले जाते हैं । ऐसी ही आवेशग्रस्त स्थिति में व्यक्ति कुछ से कुछ अनचाहा कर बैठता है और पीछे उस कृत्य पर पछताता है ।

क्रोध और काम के आवेश ऐसे ही उग्र होते हैं । उनके वशीभूत व्यक्ति अक्सर ऐसा कर गुजरते हैं, जिनको सामान्य मनःस्थिति आने पर अपने आप ही लज्जा, दुःख और पश्चात्ताप का अनुभव होता है ।

ध्यान द्वारा विकसित अन्तःचेतना आत्म-निरीक्षण कर सकती है । अपनी विपन्न स्थिति का मूल्यांकन

कर सकती है और उसे सुधार सकने के लिए समुचित सामर्थ्य सँजोये रहती है । ऐसी दशा में मनोविकारों से निपटना उसके लिए कुछ कठिन हीं रह जाता । यह बहुत ही सन्तोषजनक और समुन्नत स्थिति है । ध्यान का अन्य कोई लाभ न होता हो तो उतनी उपलब्धि भी बहुत बड़ी कही जा सकती है कि व्यक्ति अपना स्तर ऊँचा रखकर सम्पर्क क्षेत्र में समुचित सम्मान प्राप्त कर और आन्तरिक स्थिति को सज्जनोचित बनाये रहकर हर स्थिति में हर घड़ी हर्षोल्लास का रसास्वादन करता रहे । ध्यान अपने आप में तो एक व्यायाम मात्र है, पर उसके द्वारा जो आत्म-बल प्राप्त होता है वह निःसन्देह मानव जीवन का सर्वोपरि लाभ है । उसके सहारे इसी काया में देवत्व का उदय और अपनी दुनिया में स्वर्ग का अवतरण सम्भव हो सकता है ।

ध्यानमुद्रा साधक का निजी पुरुषार्थ

जागृत आत्माओं को—नव सृजन की समर्थता प्राप्त करने के लिए दैवी अनुदानों का जो सहज वितरण इन दिनों हो रहा है, उसका लाभ उठाने की सुविधा प्रत्येक सत्पात्र को मिल सकती है । इसकी पृष्ठभूमि पिछले पृष्ठों पर प्रस्तुत की जा चुकी है । वही समझने और ध्यान देने योग्य है दिशाधारा का तालमेल बैठ जाने पर आदान-प्रदान की क्रिया-पद्धति को समझने और उसका लाभ मिलने में फिर कोई बड़ी कठिनाई शेष नहीं रह जाती ।

प्रसारण ही कठिन होता है । उसे उपलब्ध करने के लिए छोटे से ट्रांजिस्टर में सही नम्बर पर सुई घुमा देने भर से काम चल जाता है । प्रसारण समर्थ सत्ता का है । उसे इसके लिए क्या करना पड़ रहा होगा, इसकी चिन्ता करने या जानकारी की गहराई में जाने की आवश्यकता नहीं है । अपना रेडियो ठीक रखने और समय पर सही जगह सुई घुमा देने भर की छोटी-सी प्रक्रिया अभीष्ट आनन्द दे सकती है । युग सृजन की पुण्य-प्रक्रिया में निरत महाकाल ने इस प्रसारण का प्रबन्ध किया है । सूक्ष्म होने के कारण उसे इन्द्रियों से—यन्त्रों से तो अनुभव नहीं किया जा सकता किन्तु जागृत अन्तरात्मा की भाव-सम्वेदना उसकी अनुभूति भली प्रकार कर सकती है ।

इस प्रसारण का समय और उद्देश्य निर्धारित है—प्रातःकाल दिन निकलने से एक घंटा पूर्व से लेकर ठीक सूर्योदय तक । रात्रि को दिन छिपने से दो घंटा उपरान्त से लेकर तीन घंटा रात्रि गए तक । दोनों समय मात्र एक-एक घंटा ही इस वितरण और ग्रहण के लिए नियत हैं । प्रातः एकाकी ध्यान धारणा के लिए और रात्रि की सामूहिक साधना के लिए । जहाँ जैसी आवश्यकता और सुविधा समझी जाय वहाँ वैसा प्रबन्ध किया जाय । चूँकि दिन घटते-बढ़ते रहते हैं और सर्दी-गर्मी के बीच-घड़ी घण्टों के समय की स्थिति में काफी अन्तर पड़ जाता है, इसलिए समय का निर्धारण सूर्योदय एवं सूर्यास्त के अनुरूप ही करते रहना चाहिए । इसमें घण्टे-मिनटों का अन्तर प्रायः हर महीने या हर सप्ताह करते रहने की आवश्यकता पड़ेगी ।

स्नान करके उपासना पर बैठने की उपयोगिता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते । किन्तु इस ध्यान धारणा में उसकी अनिवार्यता नहीं है । नित्य कर्म से निपट कर बिना स्नान के भी इसे किया जा सकता है । रात्रि की सामूहिक साधना में तो हाथ-पैर धोकर बैठ जाना ही पर्याप्त है । आसन बिछा कर बैठा जाय । खुली जमीन पर न बैठें । ऊपर से आने वाली बिजली शरीर में प्रवेश करने के उपरान्त धरती में न उतर जाये-इसके लिए अवरोध आसन बिछाया जाना आवश्यक है । कुशा, चटाई, जूट, ऊन का हो तो और भी उत्तम है, अन्यथा कपड़े का आसन भी काम दे सकता है ।

साधक पालथी मारकर बैठें । पंच पात्र आदि अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं है । स्थान जहाँ तक हो सके खुला हवादार ही ढूँढ़ा जाय । बन्द और घुटन के स्थान में दीवारों का अवरोध उत्पन्न होता है ।

सभी प्रकार की ध्यान साधना में 'ध्यान मुद्रा' बनाने का नियम है । उसका पालन इस विशिष्ट ध्यान धारणा में तो अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए । ध्यान मुद्रा के पाँच अनुशासन हैं—(१) स्थिर शरीर, (२) शान्त चित्त, (३) कमर सीधी, (४) हाथ गोदी में, (५) आँखें बन्द । शरीर और मन की स्थिति इस स्तर की बना लेने के उपरान्त ही ध्यान योग की साधना सधती है ।

स्थिर शरीर का तात्पर्य है—देह को लकड़ी, पत्थर की बनी प्रतिमा जैसी बना लेना । अंगों का ऐन्द्रिक संचालन रोक देना । श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन, निमेष-उन्मेष जैसी अनैच्छिक क्रियाएँ भर चलने देना । ऐसी स्थिति लाने के लिए शिथिलासन, शवासन, अर्धमृतक मूर्छित जैसी भावना करनी पड़ती है । शरीर की हलचलें जितनी कम होंगी—ध्यान उतना ही अच्छी तरह लगेगा । हिलते-डुलते, मटकते-फरकते रहने से मन की चंचलता बनी ही रहती है ।

शान्त चित्त का अर्थ है—कल्पनाओं की उड़ानें बन्द करना-एकाग्रता । यह स्थिति तभी प्राप्त होती है । जब किसी श्रेष्ठ के साथ अपने को गुथा देने की—घुला देने की भावना की जाय । स्व को किसी विशिष्ट से तादात्म्य बना देने को ही समर्पण या लययोग कहते हैं । एकता ही एकाग्रता है । तन्मयता से ही चित्त शान्त होता है । इसका भोंडा उदाहरण समर्पित रतिक्रिया है । विषयानन्द की उपमा देकर ब्रह्मानन्द की सरसता का परिचय दिया जाता है । अपने 'स्व' को इष्टदेव की सत्ता में भाव्यतिरेक के साथ गुथा दिया जाये—मन में मन को, प्राण में प्राण को, आत्मा में आत्मा को घुला देने का अभ्यास करें तो भक्ति-भाव की उच्च भूमिका उत्पन्न होती है और शान्त चित्त की मनःस्थिति बन जाती है । ईंधन का आग में, बूँद का समुद्र में, नमक का पानी में—जिस प्रकार विलय हो जाता है । दो शरीर जिस प्रकार एक प्राण बन जाते हैं उसी स्तर की भावना इष्टदेव के साथ करने में जितनी, सफलता मिलेगी वह उतना ही 'शान्ति चित्त' का अनुभव करेगा । द्वैत ही चंचलता और अद्वैत ही एकाग्रता की भूमिका है । इष्टदेव का प्रथम निर्धारण सदगुरु के रूप में भी हो सकता है और प्रत्यक्ष परिचय होने के कारण उस माध्यम से अभ्यास और भी सरल पड़ता है ।

मेरुदण्ड सीधा रखना इसलिए आवश्यक है कि ब्रह्मरन्ध्र उत्तरी ध्रुव और मूलाधार-कुण्डलिनी केन्द्र दक्षिणी ध्रुव । दोनों के मध्य प्रवाहक्रम जारी रहने से ही इस संसार में समर्थता एवं सम्पन्नता विद्यमान है । इसमें अवरोध होने से सुव्यवस्था लड़खड़ाती है और विश्व-व्यवस्था में कई प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न होती है । ठीक यही बात मेरुदण्ड के सम्बन्ध में भी है । इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के विविधि प्राण प्रवाह उसी में होकर चलते हैं । षटचक्रों के दिव्य भण्डार इसी मार्ग में सन्निहित हैं । इस मार्ग को सीधा और साफ रखने के लिए मेरुदण्ड सीधा रखना योगाभ्यास का आवश्यक नियम है । कमर में दर्द होता हो तो सहारा लेकर जितना सम्भव हो, सीधा रखने का प्रयत्न करना चाहिए ।

हाथ गोदी में रखने के साथ दोनों हाथ खुले रहें । बाईं हथेली के ऊपर दाहिना हाथ रहे । कर्मेन्द्रियों में हाथ ही सबसे अधिक सक्षम हैं, वे दोनों मिलते हैं तो नमस्कार से लेकर पुरुषार्थ तक के समस्त काम मिलकर भली प्रकार सम्पन्न करते हैं । साधना में दोनों के साथ होने से अन्तः विद्युत का एक उपयोगी सर्किल बनता है । ध्यान मुद्रा में यह स्थिति अतीव उपयोगी मानी गई है ।

आँखें बन्द करने के दो उद्देश्य हैं—एक है बहुर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना । दूसरा है आँखों से निरन्तर निसृत होने वाले विद्युत प्रवाह को इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर बाहर बिखरने न देना । वाणी की मौन तपश्चर्या की तरह आँखों को बन्द रखना भी नेत्र-तप माना गया है । चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी होने से अन्तर्जगत के वैभव को समझना और कहाँ क्या छिपा है ? इस जानकारी के आधार पर उसे प्राप्त करना तभी सम्भव होता है जब उस क्षेत्र का पर्यवेक्षण किया जाय । बहिर्मुखी वृत्तियाँ बाहर ही उलझी रहती हैं । अतएव उस दिव्य भाण्डागार को देखने, समझने और उखाड़ने के लिए कुछ बन ही नहीं पड़ता । नेत्र बन्द करना, अन्तर्मुखी होना अर्थात् अन्तर्जगत में प्रवेश करना है । आत्मोत्कर्ष के लिए की जाने वाली ध्यान धारणा में सदा नेत्र बन्द रखे जाते हैं ।

अकेली ध्यान मुद्रा में भी यदि आत्मिक उत्कृष्टता और श्रेष्ठता के प्रति समर्पण की धारणा जारी रखी जाय तो उतने से भी ध्यान योग का सामान्य प्रयोजन भली प्रकार पूरा होता रह सकता है । इसके साथ यदि हिमालय के अनुदानों का ग्रहण और धारण करने का उपक्रम भी चल पड़े तो सोने में सुगन्ध की स्थिति बन पड़ती है । पुरुषार्थ के रूप में ध्यान मुद्रा और अनुग्रह के रूप में अनुदान उपलब्धि का सुयोग बनने पर तो प्रगति का क्रम अनेक गुने वेग से द्रुतगति से चल पड़ता है ।

अभ्यास

(१) प्रतिदिन प्रातःकाल अथवा सायंकाल एकान्त स्थान में शान्त चित्त से नेत्र बन्द करके पद्मासन से बैठिये, शरीर और मन को शिथिल कर दीजिए । सब ओर से चित्त हटाकर एकाग्र कीजिए ।

(२) इष्टदेव के नियत चित्र का ध्यान कीजिए । उस मनोहर छवि को मानस नेत्रों से एकाग्रतापूर्वक देखते रहिये ।

(३) वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मन एक जगह कुछ सेकण्ड से अधिक नहीं ठहर सकता । इसलिए उसे इष्टदेव की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का निरीक्षण करने के लिए चलने-फिरने दीजिए ।

(४) आपकी कल्पना इष्टदेव का सौन्दर्य, वैभव तथा स्वभाव जितना उच्च कोटि का अनुभव कर सकती है, करने दीजिए । उच्चतम सौन्दर्य, वैभव तथा स्वभाव से इष्टदेव को सुसज्जित करते रहिये ।

(५) इस इष्टदेव में अपने को आत्मसात करने की भावना करिये । पानी में घुलने पर नमक भी पानी हो जाता है । इस प्रकार अपनी सत्ता को इष्टदेव में घोलकर अपने को तदाकार हुआ देखिये ।

(६) तदाकारता इतनी बढ़ती जानी चाहिए कि आंपको वर्तमान शरीर का विस्मरण हो जाय और अपना स्वरूप इष्टदेव में ही भाषित हो । ध्यान में ऐसी एकाग्रता होनी चाहिए । इष्टदेव के अतिरिक्त और कोई वस्तु यहाँ तक कि अपना व्यक्तित्व भी दिखाई न पड़े । द्वैत मिटकर अद्वैत रह जाय । 'मैं' और 'इष्टदेव' दो अलग वस्तु न रहकर एक ही सत्ता हो जावें ।

(७) ध्यान में रुचि, एकाग्रता और तदाकारता बढ़ाइये और मन ही मन निम्न मन्त्रों को दोहराइये ।

१—मैं महत्ता की ओर बढ़ रहा हूँ ।

२—मैं महत्त्व प्राप्त कर रहा हूँ ।

३—मैं अपनी शक्तियों को महान बना रहा हूँ ।

४—मेरा बल वैभव और ज्ञान उन्नत हो रहा है ।

५—मैं महान हूँ, मेरी सत्ता महान है ।

सर्वसुलभ, सर्वोपयोगी ध्यान धारणा

मनुष्य अनेक कल्पनाएँ करता है । कई आदर्शों को अपनाने की बात सोचता है । कई निर्णयों को आवश्यक मानकर उनके निमित्त पुरुषार्थ का प्रयास भी करता है । पर देखा गया है उच्चस्तरीय प्रयोजनों का उत्साह थोड़े से ही समय में ठंडा पड़ जाता है । जो उमंगें उठी थीं वे उड़ने वाले बुलबुलों की तरह समाप्त हो जाती हैं । उच्चस्तरीय प्रयोजन के लिए उठने वाला उत्साह प्रायः शिथिल होते-होते समाप्त हो जाता है । पर अवांछनीय दिशा में उठाये गए कदम सहज विस्मृत नहीं होते, वे अपनी जगह दृढ़तापूर्वक जमे रहते हैं । नशेबाजी की लत एक बार लग जाने पर फिर उससे पीछा नहीं छूटता । तलब उठती है तो बेचैन कर देती है । मस्तिष्क उसी प्रिय पदार्थ को पाने के लिए ताने-बाने बुनता रहता है । चैन तब लेता है जब अभीष्ट को हस्तगत कर लिया जाता है ।

किन्तु उत्कृष्ट स्तर के निर्धारणों में यह प्रक्रिया कम ही चलती है । पानी ढलान की ओर सहज ही बहता है । वस्तुएँ ऊपर से नीचे की ओर गिरती हैं । यह कार्य तो धरती की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ही कर लेती है । पर किसी वस्तु को ऊँचा उछालना हो तो उसके लिए अतिरिक्त शक्ति लगानी पड़ती है । आदर्शों का परिपालन ऐसा ही उच्चस्तरीय प्रयास है, जिसके लिए विशेष रूप से प्रेरणाप्रद प्रयत्न करने पड़ते हैं ।

ऐसे प्रयत्नों में 'ध्यान' का बहुत महत्त्व है । वह विस्मरण-जन्य कठिनाइयों की रोकथाम करता है । विस्मरण यों उपयोगी भी हैं । उसके कारण विछोह जैसे आघात क्रमशः हलके होते जाते हैं । लोग पिछली बातों को भूलकर नई जानकारियों को स्मृति पटल पर अंकित करते जाते हैं । यदि ऐसा न होता तो स्लेट पर एक ही हिसाब सदा लिखा रहता । पुराने को मिटाकर ही उस स्थान पर नया अंकन किया जाता है । यही लोकाचार है ।

आदर्शों के क्षेत्र में प्रवेश करने पर महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मन संसार के मेले में भ्रमित होकर मूल अवलम्बन दो विस्मृत कर देता है । नये-नये

४.५७ व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ

आकर्षक जाल-जंजालों में फँस जाता है । ऐसी दशा में यही उपयुक्त है कि आदर्शों के परिपालन में कर्तव्यों के निर्वाह की बात को प्रमुखता दी जाय और उनका बार-बार स्मरण करते रहकर विस्मृति जैसा कुयोग न बनने दिया जाय ।

द्वेष-दुर्गुणों को भुला दिया जाय । इसका तो कुछ तुक है किन्तु जिन आधारों पर जीवन का उत्कर्ष-अभ्युदय अवलम्बित है । उन्हें तो प्रयत्नपूर्वक स्मृति पटल पर अंकित किए जाते रहना चाहिए । इसका सरल उपाय यह है कि उसे दिनचर्या का अविच्छिन्न अंग बना लिया जाय । जो काम नित्य किए जाते हैं, उनकी आदत पड़ जाती है और फिर समय पर उन्हें पूरा करने की एक बेचैनी उठती है । शौच, स्नान, भोजन-शयन आदि की स्मृति नियत समय पर अनायास ही उठती है और जब तक वह कार्य पूरा न हो जाय तब तक शान्ति नहीं मिलती । ठीक इसी आधार पर आत्म-चिन्तन को भी दिनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाना चाहिए । इसी को ईश्वर स्मरण पूजा पाठ, दैनिक उपासना, संध्यावन्दन आदि नामों से जाना जाता है ।

वस्तुतः ईश्वर को किसी खुशामद या रिश्वत की रत्ती भर भी आवश्यकता नहीं है । उस पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अनुशासन में रहना, मर्यादाओं का अपनाना, वर्जनाओं से बचना यही ईश्वर-साधना है । सादगी, सज्जनता, संयम, सेवा, के प्रयासों को जीवन व्यवहार के साथ जोड़कर ईश्वर उपासना का प्रयोजन भली प्रकार पूरा हो जाता है । सृष्टि में इतने जीवधारी हैं पर कोई पूजा पाठ नहीं करता । इन दिनों आधी आबादी नास्तिक वर्ग की है । उन्हें न ईश्वर की मान्यता के प्रति विश्वास है और न पूजा पाठ से सम्बन्ध । फिर भी ईश्वर उन सबका भरण-पोषण और अनुदान सहयोग करता रहता है । इससे स्पष्ट है कि ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नहीं वरन् अपने आत्मशोधन की प्रक्रिया पूरी करने के लिए उपासना करनी होती है । उसकी यथार्थता इसी में है कि आदर्शों के परिपालन तथा कर्तव्यों के निर्वाह में कहीं चूक न होने पाये । इसका ध्यान उपयुक्त समय पर किया जाय । उसमें चूक न होने दी जाय । जब हर दिन कमरे में बुहारी लगती है । नहाने, कपड़े धोने, रसोई बनाने आदि का क्रम बिना नागा किया जाता है तो फिर आत्म-परिशोधन की बात को क्यों भूला जाय ? ईश्वर को हमारी पूजा की आवश्यकता भले ही न हो, पर हमारे लिए उसका प्रयास नित्य—नियमित रूप से करना चाहिए । यह हमारी व्यक्तिगत आवश्यकता है, जिसके बिना आत्मोत्कर्ष के मार्ग में भारी व्यवधान आ खड़ा होता है ।

उपासनात्मक अनेकों क्रिया-कलापों में ध्यान-धारणा ऐसी है, जिसे उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए । ध्यान भी कई प्रकार के हैं । उनमें से अधिकांश में ईश्वर की छवि की कल्पना की जाती है, साथ ही उसके सान्निध्य की अपेक्षा भी । इस सही प्रक्रिया के साथ इतना और जोड़ना चाहिए कि परमात्मा और आत्मा के अविच्छिन्न सम्बन्ध को स्मरण रखा जाय । उसे सर्वव्यापी व न्यायकारी माना जाय । मानव जीवन प्रदान करने की अनुकम्पा और उसके साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारी को एक क्षण के लिए भुलाया न जाय । स्मरण के लिए यह तारतम्य भी जुड़ा रखा जाय कि आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है, उसका निर्वाह बिना प्रयास के किया जाता रहे । यह सब ठीक तरह हो रहा है या नहीं ? इसके लिए चिन्तन-मनन किया जाता रहे वस्तुतः आत्म सुधार और आत्म परिष्कार की प्रक्रिया जिस आधार पर पूरी होती है, वही सच्चा 'भजन' एवं सच्चा 'ध्यान' है ।

जीवन के स्वरूप, उद्देश्य एवं सदुपयोग का ताल-मेल अपनी विचारणाओं एवं गतिविधियों के साथ ठीक प्रकार बैठ रहा है या नहीं, इसका ध्यान हर घड़ी रखना चाहिए । जहाँ चूक हो रही हो उसे सँभालने, सुधारने की चेष्टा सतर्कतापूर्वक की जानी चाहिए । ऐसा न हो कि इस सन्दर्भ में उपेक्षा चलती रहे और चिन्तन में भ्रष्टता का, चरित्र में दुष्टता का अनुपात बढ़ता जा रहा हो । जो सब करते हैं, उसी का अनुकरण किया जा रहा है ।

अधिकांश व्यक्ति प्रमाद में समय गुजारते हैं और अकरणीय कृत्य करने के अभ्यस्त होते हैं । उनमें अपनी पहचान अलग रहनी चाहिए । नर पशुओं के झुण्ड में उन्हीं का एक सदस्य बनकर रह गया तो यह मानवी गरिमा का संरक्षण कहाँ हुआ ? अपना स्तर घटिया तो नहीं बनता जा रहा है, इसकी जाँच-पड़ताल हर घड़ी ध्यानपूर्वक होती रहनी चाहिए ।

बहिर्मुखी ध्यान एवं उसका प्रयोग-व्यवहार

मनःक्षेत्र के विकास-परिष्कार के लिए ध्यान-धारणा का उपचार अमोघ माना गया है। उसे अध्यात्म क्षेत्र में प्रमुख मान्यता मिली है और उपासना प्रयोगों में सर्वत्र स्थान दिया जाता है। उन अभ्यासों को अनीश्वरवादी भी मानसिक तनाव दूर करने एवं स्फूर्ति प्राप्ति के उद्देश्य से किया करते हैं। ध्यान को यों धर्मधारणा की परिधि में भी गिना जाता है, पर वह यहाँ तक सीमाबद्ध नहीं है। जिन्हें धर्म प्रसंगों में आस्था नहीं है, वे भी इसे अनुभव के लिए अपनाते हैं और उसके लाभदायक परिणाम देखते हैं।

ध्यान क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? यह बताते हुए मनीषी कहते हैं कि कल्पनाशील मन की निरन्तर, निरर्थक भगदड़ करते रहने की आदत छुड़ायी जाने, बहुमूल्य मानसिक शक्ति का अपव्यय रोकने के लिए ध्यान अनिवार्य है। अन्तः की सामर्थ्य को केन्द्रीभूत करके किसी उपयोगी प्रसंग में लगाया जाकर उससे असाधारण लाभ उठाया जा सकता है। इस लाभ से अस्थिर मन वाले वंचित ही बने रहते हैं। उनकी प्रगति में यह एक बड़ी बाधा बन जाती है। एकाग्रताजन्य लाभों का प्रत्यक्ष अनुभव करने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता।

कॉनवेक्स लैन्स (आतिशी-शीशे) की एक छोटी-सी परिधि पर फैली हुई सूर्य किरणें, यदि एक केन्द्र पर एकत्रित कर दी जायें तो देखते-देखते आग जलने लगती है। वाष्प-ऊर्जा बिखरी स्थिति में हवा में उड़ती रहती है। पर उसे सीमाबद्ध करके पिस्टन के साथ जोड़ दिया जाता है तो भारी वजन वाले डिब्बों को घसीटता हुआ रेल इंजन द्रुतगति से दौड़ने लगता है। बन्दूक चलने में भी यही होता है। बारूद को बिखरी स्थिति में जला दिया जाय तो उससे साधारण-सी ज्वाला भर उठेगी पर कारतूस कलेवर में सीमाबद्ध करके नली की मर्यादा में रहने के लिए उसे अनुबन्धित कर दिया जाय तो निशाने पर करारी चोट करती है और लक्ष्य वेध कर रख देती है। वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार, नट, सरकस के पात्र यही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि एकाग्रता के अभ्यास द्वारा साधारण से असाधारण

ध्यान की एक प्रक्रिया एकाग्रता साधना के लिए की जाने वाली कसरत की तरह भी है। चंचल मन वानर जैसी उछल-कूद करते रहने, अपनी शक्ति गँवाने की छूट नहीं मिलनी चाहिए। असंयम को जीवन के किसी भी पक्ष पर हावी नहीं होने देना चाहिए। इन्द्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम की घेराबन्दी करते रहने से शक्तियों का अपव्यय रुकता है। एकाग्रता सधती है और मन को ज्ञान-साधना, कर्म-साधना एवं भाव-साधनाओं की उच्चस्तरीय क्रिया-पद्धति में नियोजित किया जा सकता है। किसी देव प्रतिमा या महामानव के चित्त पर चित्त जमाकर उसके साथ तन्मय होने की भाव साधना कहलाती है। ऐसा आये दिन कई-कई बार करते रहने से मनोनिग्रह की सिद्धि मिलती है। निग्रहीत मन वाला लक्ष्य के साथ तन्मयता अपना कर बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त करता है।

एक ध्यान, शक्ति संयम का है। इसके लिए उदीयमान स्वर्णिम सूर्य को ध्यान का माध्यम बनाया जाना चाहिए। आँखें बन्द करके भावना करनी चाहिए कि प्रभातकालीन उदीयमान सूर्य की किरणें अपने शरीर पर पड़ रही हैं। शरीर को बल, मस्तिष्क को ज्ञान और हृदय को भाव सम्वेदनाओं से भर रही हैं। नाभि चक्र को स्थूल शरीर का, हृदय को सूक्ष्म का, मस्तिष्क मध्य-ब्रह्मरन्ध्र को शरीर का केन्द्र-बिन्दु माना गया है। इन तीनों को सूक्ष्म स्तर की तीन ग्रन्थियाँ हैं, जिन्हें कमल भी कहते हैं। सूर्य के उदय होने पर कमल खिलते हैं और सुगन्ध तथा शोभा से समूचे क्षेत्र को भर देते हैं। यह ध्यान प्रातःकाल ही किया जाना चाहिए। तीनों कमल चक्रों को विविध विधि से शरीर के केन्द्र बिन्दुओं को विकसित होने की भावना करनी चाहिए। यह साधना प्रक्रिया तीनों शरीरों को विकसित करती है, उन्हें ओजस्, तेजस् एवं वर्चस् से सराबोर करती हैं।

ध्यान की अनेकानेक विधियाँ हैं और उनके विभिन्न स्तर के प्रयोजन भी हैं। उनमें से उपर्युक्त कुछ ऐसे हैं, जिन्हें सर्वसुलभ और सर्वोपयोगी कहा जा सकता है।

बना जा सकता है । द्रौपदी स्वयंवर जीतने में अर्जुन इसीलिए सफल हुआ था कि उसने अभ्यास द्वारा एकाग्रता सम्पादित कर ली थी ।

ध्यान एकाग्रता सम्पादन की अनुभूति प्रक्रिया है । उसकी गुणवत्ता सर्वत्र स्वीकार की जाती है और अभ्यास द्वारा उसमें प्रवीणता प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है । ध्यान का उद्देश्य आत्म-विश्वास तो है ही मनःक्षेत्र को शक्ति-सम्पन्न करना भी है ।

ध्यान की दो धाराएँ हैं—एक बहिर्मुखी दूसरी अन्तर्मुखी । आमतौर से प्रारम्भिक स्तर पर बहिर्मुखी ध्यान किए जाते हैं क्योंकि वे अपेक्षाकृत सरल पड़ते हैं । मन को बाहरी क्षेत्र में दौड़ लगाते रहने की चित्र-विचित्र दृश्य देखने की आदत होती है । वह रमता भी ऐसे ही प्रसंगों में है । इसीलिए ध्यान प्रयोग में भी उसी अवलम्बन को आसानी से ग्रहण करता है । जबकि अन्तर्मुखी ध्यान में मन को दबाव पूर्वक लगाना होता है । प्रगति भी धीरे-धीरे होती है । इतने पर भी अधिक लाभ अन्तर्मुखी प्रयोगों का ही होता देखा गया है ।

बहिर्मुखी ध्यान से केन्द्र-बिन्दु के रूप में किसी सांसारिक वस्तु को माध्यम बनाया जाता है । सामान्यतया सूर्य, चन्द्र, दीपक आदि को माध्यम बनाते हैं । किसी देवी-देवता की छवि भी इसी में निमित्त अपनायी जाती है । किसी भी सुरम्य प्राकृतिक दृश्य या निखिल ब्रह्माण्ड को परब्रह्म के रूप में किसी भी धर्म-मत को मानने वाले प्रतीक मानकर ध्यान सम्पादन कर सकते हैं । प्रत्यक्ष दीखने वाले आकार को प्रथम खुले नेत्रों से निहार कर पीछे आँखें बन्द कर ली जाती हैं और आधार बिन्दु का मानसिक चित्र बनाकर उसके साथ तन्मय होने का प्रयास किया जाता है । इसके साथ निकटवर्ती रिश्ता जोड़ा जाता है । मात्र कल्पना करते रहने भर से ध्यान-धारणा पूरी नहीं हो जाती वरन् सघन श्रद्धा-विश्वास अपनाते हुए ध्येय के साथ तन्मय होने का प्रयत्न किया जाता है । अग्नि-ईंधन का दीपक पतंगे का उदाहरण ध्येय और ध्याता के बीच पनपना चाहिए । ध्येय के उच्चस्तरीय गुणों के क्षमताओं का पुंज होने की मान्यता का परिपाक करना चाहिए । छवि के साथ अपरिमित विशेषताओं से युक्त होने वाली बात को गहरी मान्यता देनी चाहिए । छवि और विशिष्टता के बीच सुदृढ़ एवं सुनिश्चित सम्बन्ध बनना चाहिए । इसके बिना कोई ध्येय मात्र 'स्वरूप' बन कर रह जाता है, और यदि वह खुली आँखों से या बन्द आँखों से दिवास्वप्नवत दीखने भी लगे तो इससे बनेगा नहीं । मात्र दृश्य-दर्शन ही चलता रहेगा, चाहे वह खुले नेत्रों से देखा जाय या बन्द नेत्रों से ।

ध्येय को उच्चस्तरीय गुणवत्ता से सम्पन्न होना चाहिए । ऐसी स्थापना हृदयस्थ हो चले तो इष्ट के साथ तादात्म्य होने की भावना करनी चाहिए । इसे समर्पण भाव कहते हैं, द्वैत को हटाकर अद्वैत क्षेत्र में प्रवेश करना भी । आग और ईंधन के बीच यही सम्बन्ध बन पड़ता है । फलतः एक के घटिया और दूसरे के बढ़िया होने पर भी दोनों में एक-दूसरे की विशेषता समाहित हो जाती है । ईंधन जलने लगता है, पर आग भी धुँआ उगलने लगती है, जो ईंधन का ही वायुभूत स्वरूप है । नदी-नाले के मिलन का उदाहरण भी समर्पण की स्थिति का प्रत्यक्ष उदाहरण है । नाला अपनी सत्ता का समापन करके नदी में मिल जाता है । अपना गंदलापन नदी में बहा देता है । साथ ही मिलन के उपरान्त नदी की स्वच्छता को आत्मसात कर लेता है । नदी और नाले की स्वच्छता, को आत्मसात कर लेता है । नदी नाले का मिलना दुर्बल पक्ष के लिए वरदान सिद्ध होता है । सबल पक्ष भी इससे कुछ घाटे में नहीं रहता । उसका आकार और बहाव अभिवृद्ध करता चला जाता है । महिमा और गरिमा तो बढ़ती ही है । उसे वरिष्ठ की उदारता-अनुकम्पा भी माना जाता है । पर यह उपलब्धि तब तक सम्भव नहीं होती जब तक कि ध्याता ध्येय के साथ एकभूत होने के लिए उसकी विशिष्टताओं को अपने अन्दर अवधारण करने के लिए तैयार नहीं होता ।

बहिर्मुखी ध्यान-धारणा के लिए कोई दृश्य बाह्यावलम्बन चाहिए । यह प्रतीक किसी देवी-देवता के आकार, वाली प्रतिमा के रूप में भी हो सकता है और किसी दिवंगत महामानव के रूप में भी । यह ध्येय सजीव भी हो सकता है और निर्जीव भी । वस्तुतः साधक की श्रद्धा ही उसमें प्राण भरती है और शब्द बेधी बाण की तरह छवि से टकरा कर रबर की गेंद की तरह वापस लौटती है । गुम्बद में अपनी ही

प्रतिध्वनि गूँजती है, दर्पण में अपनी ही छाया दीखती है । ध्येय निर्जीव है या सजीव, वास्तविक है या काल्पनिक, उसका कोई महत्त्व नहीं क्योंकि आधार तत्व तो साधक की श्रद्धा होती है । जब आस्था मात्र से झाड़ी का भूत और रस्सी का साँप बन सकता है, तब कोई कारण नहीं कि उच्चस्तरीय आध्यात्मिक आस्थाएँ विश्वासपूर्वक आरोपित किए जाने पर फलित न हो । चमत्कारी प्रतिफल न प्रस्तुत करें । एकलव्य का उदाहरण इसका साक्षी है । मिट्टी के बने द्रोणाचार्य उसे बाण-विद्या में कुशल पारंगत बनाने में समर्थ हुए थे । यह प्रतिमा का नहीं, आरोपणकर्त्ता की सघन भाव-श्रद्धा का चमत्कारी परिणाम है । बिना आदर्शवादी स्थापना और ध्याता की एकात्मता स्थापित हुए कोई कल्पित या दृश्यमान छवि उस दृश्य की पूर्ति नहीं कर सकती जो देवदर्शन या ध्यान-धारणा के माहात्म्य के रूप में बताया गया है ।

ध्यान के लिए देवताओं की छवि अपनाये जाने की अनिवार्यता नहीं है । उस स्थान पर कोई आकर्षक फूल भी चुना जा सकता है । गुलाब, कमल के पुष्पों में अन्यों से अधिक आकर्षण, सौन्दर्य एवं सुगन्ध का बाहुल्य होता है । पक्षियों में हंस, मयूर जैसे को देव-वाहन माना गया है । शंकर का वाहन नन्दी, लक्ष्मी का वाहन हाथी है । ये भी अपनी सौम्यता के कारण प्रसिद्ध हैं । कठिनाई तब आती है जब आक्रामक, हिंसक, पशु-पक्षियों को ध्यान का माध्यम बनाया जाता है । उनकी प्रकृति ध्याता पर भी अपना प्रभाव छोड़ सकती है ।

ध्यान सन्दर्भ में एक और भी प्रचलन है । गोल या अण्डाकार प्रतिमा के शिवलिंग-शालिग्राम इसी आकार के होते हैं । उन्हें विश्व वसुधा का प्रतीक माना जाता है । पृथ्वी गोल है, ब्रह्माण्ड भी गोल । इस प्रतीक को विराट-विश्व का भाव दर्शन कहा जा सकता है । अर्जुन, यशोदा, कौशल्या, काकभुशुण्डि आदि को इसी विराट रूप में झाँकी हुई थी । इसे आरम्भ करना हो तो गोलाकार प्रतिमाओं को माध्यम बनाया जा सकता है । 'ग्लोब' भी प्रतीक का काम दे सकता है ।

समझा सिद्धान्तों को जाना चाहिए, मात्र परम्परा निर्वाह भर से काम नहीं चलता । चिन्ह पूजा आरम्भिक अवलम्बन है, कलेवर मात्र है । उनमें प्राण भरने के लिए सघन श्रद्धा का समावेश होना चाहिए । ध्येय में उच्च-स्तरीय गुणवत्ता का, उत्कृष्ट आदर्शवादिता का आरोपण और साथ ही उसके साथ तादात्म्य होने की उत्कृष्ट भाव सम्वेदना होनी चाहिए ।

ध्यान के लिए कोलाहल रहित एकान्त स्थान की आवश्यकता पड़ती है । उसके अभाव में शब्द कानों से टकराते हैं और अपनी ओर ध्यान खींचते हैं । इससे अनभ्यासी मन चंचल हो उठता है और अभीष्ट लक्ष्य पर टिक नहीं पाता । इसलिए स्थान का ऐसा चयन किया जाय जहाँ बाहरी कोहराम प्रभावित न कर पाये । शरीर, मन और स्थान की शुद्धि भी आवश्यक है, अन्यथा यह साथ में जुड़ी हुई अशुद्धता अपने प्रभाव से विक्षेप उत्पन्न किए बिना न रहेगी ।

बाहरी निस्तब्धता की तरह अन्तरंग शान्ति भी इस प्रयोजन के लिए आवश्यक है । चिन्ता, भय, ईर्ष्या उत्कण्ठा, जैसे उद्वेग चित्त को किसी केन्द्र-बिन्दु पर स्थिर नहीं होने देते । मन में अनेकानेक संकल्प उठते रहें तो उन जाल-जंजालों में मन भटके बिना न रहेगा । इसीलिए अनुभवियों का परामर्श है कि ध्यान के साथ मनःक्षेत्र की निश्चिन्तता, निर्द्वन्द्वता बनी रहनी चाहिए । देवता से मनोकामना पूरी कराने की ललक भी मनःक्षेत्र में नहीं हो । संकटों का निवारण, इच्छित वरदान का अनुरोध भी ऐसा है जो मन को भयभीत भिक्षुक स्तर प्रदान करता है । दीन-दरिद्री, कायर-कातर कभी शान्तचित्त नहीं रह सकते । उनके मनोरथ ही उन्हें हवा में उड़ाते, तिनके की तरह जहाँ-तहाँ भटकाते रहते हैं । स्पष्ट है कि अस्थिर मन कभी निश्चिन्त नहीं रह सकता और न उसे एकाग्रता का लाभ ही मिल सकता है ।

इन व्यवधानों की सम्भावना से प्रत्येक ध्यान साधना के साधक को कदम बढ़ाने से पूर्व ही अवगत रहना चाहिए और उनसे बचने का, उन्हें निरस्त करते रहने का प्रयास शुभारम्भ करने से पूर्व ही कर लेना चाहिए । ध्येता को प्रसन्नचित्त पुलकित मन और श्रद्धा-विश्वास की भावना से सराबोर होना चाहिए । मन को उच्छृंखल उड़ानें उड़ने से पूरी तरह रोकना चाहिए । मनोनिग्रह ध्यान-धारणा की सफलता का एक अविच्छिन्न अंग है, यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, इसे हर साधक को भली-भाँति हृदयंगम कर ही साधना क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिए ।

अन्तर्मुखी ध्यान और उसकी परिणति

अन्तर्मुखी ध्यान में किसी बाहरी वस्तु, दृश्य, आधार आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती । अपने आपको विश्व ब्रह्माण्ड का, सौर मण्डल का, भूलोक का प्रतिनिधि मान कर उसी परिधि में सीमाबद्ध किया जाता है । इसके लिए किसी बाहरी अवलम्ब को अपनाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती । अपना आपा पूर्ण है । वह पूर्ण से उत्पन्न हुआ, पूर्णता प्रदान करने वाली समस्त वैभवों और विभूतियों से सम्पन्न है । जब अपने घर में ही मणि मुक्तकों के भण्डार भरे पड़े हों तो किसी से मनुहार करने क्यों जाया जाय ? किसलिए जिस-तिस के सामने पल्ला पसारकर अपना गौरव गिराया, मन छोटा किया जाय ?

वेदान्त दर्शन 'अयमात्मा ब्रह्म' सूक्ति का उद्‌बोधन करते हुए इस आत्मा को ही परमात्मा का छोटा स्वरूप बताया गया है । छोटा इसलिए कि वह एक छोटे काय कलेवर में सीमाबद्ध होकर रह रहा है यदि उसे विशालता का बोध हो चले तो सबको अपने में और अपने को सब में समाया हुआ देखेगा । तब उसे विलगता का दुःख न सहना पड़ेगा । अपने में ही विश्वात्मा के विराजमान होने का अनुभव करने लगेगा ।

ब्रह्माण्डव्यापी गतिशीलता के अनुरूप अपना सौरमण्डल गति अपनाता है । उसका प्रत्येक सदस्य अपनी धुरी पर घूमता और कक्षा में परिभ्रमण करता है । यही उपक्रम प्रकृति के विशाल अंचल में खेलने वाले अनेकानेक परमाणु और जीवाणु अपनाते हैं, वे भी अपनी धुरी पर घूमते और कक्षा में भ्रमण करते हैं । सभी में मध्यवर्ती नाभिक पाया जाता है, सभी में शक्ति का अजस्र भण्डार भरा पड़ा है, पर वह बीज रूप बनकर प्रसुप्त स्थिति में रहता है । जब भी उसे विकसित होने का अवसर मिलता है, वह अपनी महानता का, प्रचण्ड शक्तिमत्ता का प्रमाण परिचय देने लगता है । परमाणु विस्फोटों ने इस तथ्य को अपनी पीढ़ी के सामने सहज उजागर कर दिया है ।

सामान्यजन गई-गुजरी परिस्थितियों से ऊँचे उठकर लोकनायक, महामानव, देवता, ऋषि, अवतार स्तर तक पहुँचते देखे गए हैं । इसमें बाहर के साधनों, व्यक्तियों परिस्थितियों का यत्किंचित ही योगदान होता है । प्रतिभा भीतर से उभरती है । महानता का उद्‌भव अन्तराल से होता है । बीज रूप से समस्त शक्तियों और विभूतियों की विशिष्टता हर किसी के भीतर विद्यमान है । आवश्यकता मात्र उस अवसर भर की रहती है, जिसमें उस बीज की खाद पानी पाकर अंकुरित और पल्लवित होने के लिए आवश्यक आधार मिल सके ।

सर्वव्यापी तत्व निराकार ही हो सकते हैं । उन्हें चर्म-चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता । मात्र भाव सम्वेदना के सहारे अनुभव किया जा सकता है । बहिरंग क्षेत्र में परब्रह्म का, किसी देव का प्रतीक प्रतिनिधि मानकर उसका ध्यान किया जा सकता है । इसी आधार पर ईश्वर के दर्शन होते हैं । ध्याता की भाव सम्वेदना परिपक्व होकर दिवास्वप्न की तरह प्रत्यक्ष दीखने लगती है । इसी आधार पर ध्यान की परिपक्वता का प्रमाण परिचय मिलता है ।

अन्तर्मुखी होकर भी इसी प्रयोजन की पूर्ति हो सकती है । मानवीकाय स्तर में जहाँ अवयवों का नाड़ी संस्थान का, गुच्छकों, ग्रन्थियों, उपत्यकाओं, जीवकोशों, ऊतकों की सुविस्तृत विधि-व्यवस्था है । वहाँ उसकी अनेकानेक गतिविधियों में सृष्टा का कौशल एवं वर्चस्व भी झाँकता दीखता है । इस सन्दर्भ में उपेक्षा रखने पर तो दृश्यमान ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की हलचलें ही विदित होती हैं । यहाँ तक कि कलेवर के पर्दे में छिपे हुए आमाशय, आँत, गुर्दे, फेफड़े, हृदय, मस्तिष्क तक दीख नहीं पड़ते पर गहराई में उतरने पर उन सभी के अस्थिस्थ तथा क्रिया-कलाप का परिचय मिल जाता है । मोती समुद्र की सतह पर नहीं तैरते, उन्हें पाने के लिए गहराई में उतर कर सतर्कता पूर्ण खोजबीन करनी पड़ती है ।

अन्तरंग में सन्निहित दिव्य-शक्तियों की झाँकी करने के लिए और भी अधिक गहराई तक पहुँचने के लिए गोताखोरों से बढ़कर साहस दिखाने की आवश्यकता पड़ती है । अन्तरंग की ध्यान-धारणा इसी प्रकार सधती है । पृथ्वी पर बिखरे दृश्यमान पदार्थों की तुलना में समुद्र का विस्तार ही बढ़ा-चढ़ा नहीं है, वरन् उसमें बिखरा हुआ वैभव भी कम मूल्यवान नहीं है । विज्ञान के विद्यार्थी भली-भाँति जानते हैं कि

दृश्य की तुलना में अदृश्य क्षेत्र की शक्तियाँ कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हैं । पृथ्वी के दृश्यमान पदार्थों की तुलना में समुद्र तल की सम्पदा कहीं अधिक है । आकाश में भी जिन तरंगों का क्रीड़ा क्षेत्र है उसे दृश्य जगत का भाग्य विधाता एवं जीवनदाता कहा जा सकता है । तत्वज्ञानी आरम्भ से ही इस तथ्य पर प्रकाश डालते रहे हैं कि स्थूल की तुलना में सूक्ष्म की सामर्थ्य एवं उपयोगिता असंख्य गुनी बढ़ी-चढ़ी है ।

मस्तिष्कीय क्षमता का मात्र सात प्रतिशत काम में आता है । शेष भाग प्रसुप्त स्थिति में अविज्ञात रूप में पड़ा रहता है । यदि इस समूचे कलेवर को किसी प्रकार जागृत सक्रिय किया जा सके तो उस व्यक्ति की सभी अतीन्द्रिय क्षमताएँ जाग पड़ेंगी और प्रत्यक्ष स्थिति किसी देव मानव के समतुल्य हो जायेगी । यही स्थिति अन्यान्य भागहों की भी है । मस्तिष्क के मध्य में पाया जाने वाला ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार कमल यदि जग पड़े तो वह लोक-लोकान्तरों के साथ अपने सम्बन्ध खूब जोड़ सकता है । वहाँ पायी जाने वाली शक्तियों के साथ आदान-प्रदान का सम्बन्ध जोड़ सकता है । इस दशा में कोई व्यक्ति ब्रह्मपुरुष स्तर का हो सकता है ।

इस दिशा में बढ़ने के लिए आरम्भ छोटे कदम उठाकर किया जाना चाहिए । पौधे क्रमशः बढ़ते हैं । अन्यत्र भी सृष्टि क्रम का यही अनुबन्ध देखा जाता है कि छोटे से बड़ा बनने का क्रम निर्धारण अपने ढंग से चलता रहे । साधना क्षेत्र में उतरने वालों को भी यह नीति अपनानी चाहिए । विशेषतया अन्तरंग क्षेत्र की साधनाओं में तो प्रयत्नरत होने के साथ क्रमिक विकास अपनाने की ही नीति अपनानी चाहिए । बड़े डग भरने की अपेक्षा छोटे कदम उठाते हुए प्रगति क्रम आरम्भ करना चाहिए । यह सरल भी है और इसी में सुविधा भी । सफलता की दिशा में इसी क्रम से बढ़ना चाहिए ।

चेतना, क्षेत्र में मन की ही तरह प्राण का भी स्थान है । दोनों परस्पर सम्बद्ध भी हैं और समानान्तर भी इन्हें विद्युत के दो प्रवाहों की तरह ही समझा जा सकता है । मन को निग्रहीत करने में ध्यान की आवश्यकता पड़ती है और प्राण को सशक्त बनाने में प्राणायाम प्रक्रिया का प्रयोग होता है । प्राणायामों के अनेक विधि विधान हैं । उनमें से 'सोऽहम्' साधना एक ऐसी है, जिसे अन्तर्मुखी ध्यान की संज्ञा दी जा सकती है ।

प्राण को प्रकृति और चेतना का सम्मिश्रित स्वरूप कह सकते हैं । वह निखिल ब्रह्माण्ड के कण-कण में भरा पड़ा है । वायु वर्ग की दृष्टि से उसमें 'ऑक्सीजन' का बाहुल्य है फिर भी वह मात्र 'ऑक्सीजन' नहीं है उसमें चेतना भी पर्याप्त मात्रा में घुली हुई है । श्वास के साथ संकल्पपूर्वक उसे खींचा और धारण किया जा सकता है । साधारण श्वास-प्रश्वास में स्वच्छ वायु का प्रवेश होता और निःश्वास में शरीर में उपजते रहने वाले मलों का निष्कासन होता है । यह क्रम जीवन भर स्वसंचालित रीति से चलता रहता है । किन्तु जब प्राण को आकर्षित करने का संकल्प लेकर उसे खींचा जाता है तो श्वास के साथ ही प्राण तत्व भी खिंचता चला आता है । इसका जितना अधिक संचय होता है उतना ही मनुष्य प्राणवान, प्रतिभावान, तेजस्वी बनता चला जाता है ।

श्वास के प्रवेश और निसृजन पर ध्यान जमाये रहा जाय तो भी ध्यान के लिए एक आधार बनता है । मन की भगदड़ रुक जाती है । एकाग्रता अनायास ही बढ़ने लगती है । श्वास का नासिका मार्ग से प्रवेश करना-मस्तिष्क के प्रसुप्त घटकों को जगाना, फेफड़े में पहुँचकर उसके शिथिल मार्ग को सक्रिय करना प्राण का प्रत्येक अवयवों में पहुँचकर नवजीवन प्रदान करना, श्वास के बाहर निकलने के साथ, अन्दर की सभी मलीनताओं का धुल कर बाहर निकल जाना, यह एक श्वसन क्रिया है । इसी आकर्षण-विकर्षण पर ध्यान जमाये रहा जाय तो संकल्प शक्ति में प्रखरता आने से अंग अवयवों में अभिनव शक्ति संचार का अनुभव होता है । उपेक्षा और अनुपेक्षा का यही अन्तर है । जहाँ निर्वाह मात्र निभ रहा था वहाँ प्राण शक्ति का अभिन्न भण्डारण आरम्भ हो जाता है ।

इससे एक कदम आगे की अध्यात्म साधना है 'सोऽहम साधना' । इसे अजपा जाप या हंसयोग भी कहते हैं । विधान इतना भर श्वास के भीतर जाते समय 'सो' की ध्वनि अत्यन्त धीमे स्वर में होने की भावना की जाय । एकाग्रता बटोर कर उसे ध्वनि सुनने के लिए दत्तचित्त हुआ जाय । आरम्भ में वैसी मात्र कल्पना करते रहने भर की बात बनती है । पर

कालान्तर में वह भावना मूर्तिमान भी होने लगती है और श्वास के प्रवेश काल में हल्की-सी ध्वनि के प्रकट होने जैसी अनुभव भी होने लगता है । 'सो' का अर्थ है—वह । वह अर्थात् परमेश्वर । श्वास का भीतर प्रवेश करना अर्थात् परब्रह्म का काय कलेवर में अवतरण।

कुछ समय श्वास ठहरती भी है । इस अवधि में प्राण के अंतरंग में प्रवेश करने की प्रक्रिया का ध्यान किया जा सकता है ।

अब श्वास के बाहर निकलने की बारी आती है । इस निःश्वास के साथ 'हम' की ध्वनि का चिन्तन करना चाहिए । 'हम' वस्तुतः अहम् का ही संक्षिप्त रूप है । अहम् अर्थात् अहंकार । स्वार्थ, लोभ, मोह आदि के कषाय कल्मष । यही है जो जीवात्मा के साथ लिपट कर उसे भव बन्धनों के पाश में जकड़ते हैं । निःश्वास के साथ इसको बाहर निकलते अनुभव करने पर चित्त बहुत हल्का होता है । सिर पर लदा कोई भारी बोझ उतर रहा प्रतीत होता है । मलीनताओं का निष्कासन और दिव्य चेतना का प्रवेश यह उभय-पक्षीय प्रयोजन इस प्रयोग के आधार पर सम्पन्न होता है । इसी क्रम के निरन्तर चलते रहने पर मन्त्र जप जैसी आत्मोत्कर्ष की विधि-व्यवस्था बन पड़ने जैसा अनुभव होता है । यह क्रम दीर्घकाल तक निरन्तर चलता रहे तो उससे प्राण संचय बन पड़ता है और जीवनी शक्ति का भण्डार भरता है । मलीनता के घटते जाने की भी अनुभूति होती है । श्वास कुछ समय बाहर भी रुकती है । इस भीतर और बाहर रुकने के कुछ क्षणों में अन्तः कुम्भक और बाह्य कुम्भक के नाम से जाना जाता है ।

सोऽहम् को परमात्मा और आत्मा का मिलन भी कह सकते हैं । परमात्मा 'सो' 'आत्मा-अहम्' । इस विद्या को दोनों संगम समागम भी कह सकते हैं । इससे आनन्द और उल्लास की उत्पत्ति होती है ।

'सोऽहम्' प्राणायाम में साधारण की अपेक्षा अधिक गहरे श्वास-निःश्वास लेने छोड़ने पड़ते हैं । यह स्वास्थ्य सम्वर्धक प्रक्रिया भी है । साधारण लोग उथले साँस लेते हैं । इससे फेफड़ों का मध्य भाग ही प्रभावित होता है । शेष निष्क्रिय उपेक्षित पड़ा रहता है । उथली साँस से ऑक्सीजन भी शरीर को न्यून मात्रा में मिलती है । इसमें दोनों प्रकार की क्षतियाँ हैं । फेफड़े कमजोर रहते हैं और रक्त का परिशोधन पूरी तरह नहीं हो पाता । इस स्थिति के लगातार चलते रहने से दुर्बलता और रुग्णता का खतरा रहता है । जीवनी शक्ति में तो कमी पड़ती ही है, जिससे रोग निरोधक सामर्थ्य के कम पड़ने पर से छुट-पुट बीमारियों का सिलसिला चल पड़ता है और अन्ततः आयुष्य का एक बड़ा भाग नष्ट करके प्राणवायु के निमित्त कारण बनता है किन्तु प्राण प्रक्रिया में गहरे साँस लेना, छोड़ना अनिवार्य होता है । अस्तु उपर्युक्त सभी संकट टलते हैं और आत्मिक स्वास्थ्य के साथ-साथ शरीर की बलिष्ठता भी बढ़ती है ।

संक्रान्ति काल की विशेष साधना : ध्यान धारणा

मानवी सत्ता के अन्तराल में इतनी महान् क्षमताएँ और असीम सम्भावनाएँ प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं कि उन्हें प्रकारान्तर से ब्रह्म चेतना की प्रति-कृति ही कहा जा सकता है । अन्तराल की प्रसुप्तता ही दरिद्रता है और उसके जागरण से सम्पन्नता का महासागर लहलहाते देखा जा सकता है । जब भी कभी उसे जगाने—उसका सदुपयोग करने—के प्रयास किए जाते हैं—महामानव निकलकर आते हैं व समय विशेष को धन्य बना जाते हैं । कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब ब्राह्मी चेतना जागृत आत्माओं में प्रेरणा फूँकती है । ऐसे प्रयास संधिकाल में—संक्रान्ति बेला में विशेष रूप से होते हैं । इस पाँचजन्य को सुनकर—अपनी गरिमा को पहचान कर जो अपना गाण्डीव उठा लेता है, वही अर्जुन रूपी भूमि का इस महाभारत में निभाकर अपना जीवन सफल, सार्थक बनाता है ।

प्रस्तुत समय नवयुग की सन्धि बेला का है । इसमें भक्तों को कम व भगवान को अधिक आकुलता है । वे चाहते हैं कि उनके निराकार स्वरूप को साकार करने मानव रूपी वाहन आगे आयें, अपनी पात्रता सिद्ध करें व अनुदान लेकर संकट से इस धरती को ऊबारें, महाकाल सामर्थ्यवान है—शक्ति सम्पन्न है, पर हमेशा की तरह उन्हें भी प्रत्यक्ष परिवर्तन कर सकने के साधनों से सुसज्जित बलवान साथी-सहयोगियों की आवश्यकता पड़ रही है । पिछला समय इसकी साक्षी देता है । भगवान राम से लेकर वर्तमान में गाँधी

तक सभी ने विशेष अवसरों पर विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जागृत प्राणवान आत्माओं को तलाशा—उनका सहयोग माँगा है । ऐसे अवसरों पर भगवत्कृपा का एक ही सुनिश्चित उद्देश्य होता है—सत्प्रयोजनों में सहयोगी बनाकर अपनी दिव्य चेतना द्वारा उन व्यक्ति-विशेषों को माध्यम बनाकार नव सृजन करना ।

इसके लिए क्या किया जाय ? इसका उत्तर यही है कि समय को पहचाना जाय, पात्रता विकसित की जाय व उस दिव्य प्रवाह से सम्बन्ध जोड़ने योग्य स्वयं को बना लिया जाय । साधनात्मक पुरुषार्थ इसी निमित्त किए जाते हैं । ध्यान धारणा के नियमित अभ्यास और उस माध्यम से अपनी चेतना को अजस्र अनुदान देने वाले उस दिव्य स्रोत से सम्बन्धित कर अगणित लाभ पा सकना—स्वयं तथा समय को धन्य बना देना सम्भव है । सूर्य उदय होता है तो प्रकाश क्षेत्र में आने वाले प्राणी पदार्थ सभी गर्मी का अनुदान पाते हैं । अपने ही दरवाजे बन्द हों तो दोष सूर्य को क्यों दिया जाय ? वर्षा आने वाली हो तो किसान का आलस में पड़े रहना व खेत की व्यवस्था न बिठाना अदूरदर्शिता ही कही जायेगी । साधना क्षेत्र में यदि ऐसे अवसर विशेषों पर प्रमाद बरत लिया गया तो अनमोल सौभाग्य खो बैठने जैसी बिडम्बना से गुजरना व सिर धुनकर पछताना ही हाथ लगेगा ।

चेतन शक्ति के प्रवाह को धारण करने के लिए पात्रता कैसे अर्जित की जाय, इस पर विस्तार से काफी लिखा जा चुका है । जीवन देवता की आराधना एवं स्वयं को अनगढ़ से सुसंस्कारित बना लेने की साधना साधक को उस सामीप्य का लाभ लेने योग्य बना देती है जिसके लिए जीव सतत प्यासा योनियों में भटकता-भटकता इस मानव शरीर में आया है । ध्यान धारणा के माध्यम से अपने मस्तिष्क की सुपर चेतन परतों को जगा—उभार कर सहज ही वह चुम्बकत्व उनमें पैदा किया जा सकता है जो ऊपर घूम रहे तरंगों रूपी दैवी प्रवाहों को खींच लें । वृक्षों का सघन समूह अपने चुम्बकत्व से बादलों को खींचकर बरसने पर विवश कर देता है । ठीक इसी प्रकार जब मस्तिष्क का विद्युत चुम्बकीय प्रवाह बिखराव से हटकर एक दिशा विशेष में, समय विशेष पर नियोजित कर दिया है तो उसमें वह शक्ति विकसित हो जाती है कि उस प्रवाह से स्वयं को व अन्यों को लाभान्वित कर सकें ।

ट्रांजिस्टर्स में लगे क्रिस्टल में वह क्षमता होती है कि ब्रह्माण्ड में संव्याप्त तरंगों को—सूक्ष्म कम्पनों को पकड़ सके । इसके लिए फ्रीक्वेन्सी विशेष वाले भाग उसी लम्बाई व कम्पन वाली तरंगें पकड़ते हैं जिसके लिए उन्हें बनाया गया है । मानवी मस्तिष्क में 'न्यूनरानल सेण्टर्स' रूपी क्रिस्टल इस क्षमता से बने होते हैं कि उनके विद्युतीय प्रवाह को घटा-बढ़ाकर ग्रहण करने योग्य बनाया जा सके । दैवी अनुदानों के आदान-प्रदान का क्रम तभी चल पाता है । जबकि ध्यान धारणा के माध्यम से अपने केन्द्रों को जगाने, विकसित करने का प्रबल पुरुषार्थ किया जाय ।

मस्तिष्कीय उछल-कूद पर नियन्त्रण तथा उच्छृंखल प्रवृत्तियों पर रोकथाम ध्यान-धारणा का पूर्वार्ध माना जाना चाहिए । आत्म नियन्त्रण का अर्थ है अपने चिन्तन तन्त्र पर अपना अधिकार, अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेना । यों यह कार्य अति कठिन है, पर सुदृढ़ संकल्प एवं सतत प्रयासों से इसमें धीरे-धीरे सरलता प्रतीत होती व सफलता मिलती चली जाती है । अपना स्वाभाविक रुझान कुसंस्कारी रहा है । उसे तो आलस्य प्रमाद से लेकर दुर्व्यसनों, दुष्कर्मों और दुष्प्रवृत्तियों में रस लेने का अभ्यास रहा है । इस अनगढ़ मन को परिमार्जित करने के लिए अपने ऊपर आप नियन्त्रण स्थापित करने की कला सीखनी होती है । ध्यानयोग का समूचा विधान इसी पर आधारित है । पर नियन्त्रण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—चिन्तन की धारा का सुनियोजन । उसे ध्यान धारणा के अभ्यास द्वारा दैवी प्रवाहों के साथ जोड़ने का अभ्यास किस प्रकार किया जाय, प्रस्तुत पंक्तियों में विवेचन इसी का किया जा रहा है ।

ध्यान के लौकिक, बौद्धिक उपयोग सर्वविदित हैं । वर्तमान में सारे विश्व में ध्यान सम्बन्धी जो आन्दोलन उठ खड़े हुए हैं, उनमें इन्हीं स्थूल लाभों की विवेचना व्याख्या की जाती रही है । अनगढ़ दिमागी उछल-कूद पर नियन्त्रण, नियन्त्रित विचार शक्ति को अभीष्ट प्रयोजन में लगा देना, एकाग्रता द्वारा बौद्धिक कला-कौशल का उपार्जन संकल्प शक्ति को केन्द्र विशेष पर लगाकर चमत्कारी हलचलें उत्पन्न करना, चेतना की रहस्यमयी

परतों को अपने मनोबल से कुरेदना, उभारना, उछालना, अवांछनीय कुसंस्कारों का उन्मूलन, सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन, प्रतिकूलताओं में भी सन्तुलन बनाये रखना, हर स्थिति में हल्की-फुल्की उल्लास भरी मनःस्थिति बनाये रखना, अपनी विचार विद्युत से परिकर को अपने आस-पास के वातावरण को, प्रभावित अनुप्राणित करना ये सभी तो ध्यान धारणा के लौकिक प्रयोग हैं । इन्हें सामान्य बौद्धिक स्तर पर माना जाय । 'क्रिएटिव इण्टेलिजेन्स' में वृद्धि तथा हारमोन्स स्रावों पर नियन्त्रण आदि जो भी कुछ भावातीत ध्यानादि प्रक्रिया के लाभ बताये जाते हैं—वे विशुद्ध मनःशक्ति के शरीरगत प्रभावजन्य लाभ हैं जिन्हें थोड़ी-सी सावधानी एवं तन्मयता के सहारे कोई भी नास्तिक समझा जाने वाला—किसी भी धर्ममत—सम्प्रदाय का व्यक्ति भी उठा सकता है ।

इससे ऊपर की स्थिति ध्यान की उच्चस्तरीय प्रक्रिया कहलाती है । पहली तो अचेतन व चेतन स्तर पर क्रियान्वित होती है, पर उच्चस्तरीय ध्यान की प्रक्रिया के लिए विशिष्ट श्रद्धा एवं भाव सम्वेदना सम्पन्न अन्तःकरण की आवश्यकता पड़ती है । इसके अन्तर्गत साधक अपनी जागृतात्मा वाली भूमिका को पहचान कर अपनी चेतना को उस महत् चेतना से जोड़ता है । गुरु एवं इष्ट की शक्तियों को आकर्षित करना एवं उन्हें धारण करना इसी स्तर के ध्यान प्रयोगों द्वारा सम्भव है । आत्मतत्व को महाकाल के दैवी प्रवाहों से जोड़कर परमात्म तत्व से एकाकार करना इसी माध्यम से सम्भव हो पाता है ।

जहाँ प्राथमिक स्तर के ध्यान प्रयोगों में मानव की प्रसुप्त अद्‌भुत शक्तियों—'हिडन पोटेन्शियल्स' को अपने प्रयत्न पुरुषार्थ से जगाया जाता है, वहाँ उच्चस्तरीय ध्यान प्रयोगों में दिव्य सत्ता से प्रत्यक्ष संयोग, अदृश्य सूक्ष्म जगत से आदान-प्रदान तथा मानव की ससीम सत्ता को असीम सत्ता से योग—संयोग सम्भव है । ईश्वर प्राप्ति, जीवन-लक्ष्य प्राप्ति, आत्मा का परमात्मा से योग आदि ध्यान धारणा के उच्चस्तरीय उद्देश्य प्रयोजन हैं । सूक्ष्म जगत असीम दैवी सम्पदाओं से भरा पड़ा है । उसी के प्रतिनिधि तीन शरीरों, पाँच कोषों, चक्र, उपत्यिकाओं, तीन ग्रन्थियों आदि के रूप में हमारे शरीर विद्यमान है । सामान्य स्थिति में ये प्रसुप्त ही पड़े होते हैं । जब अतिचेतन मानस सूक्ष्म जगत से मानवी काया का सम्बन्ध जोड़ता है तो इनमें स्पन्दन, स्फुरण होने लगता है व इनकी जागृति से अनेकानेक आत्मिक विभूतियाँ प्राप्त होती चली जाती हैं । इन उपलब्धियों को देखते हुए ध्यानयोग को किसी चमत्कारी देवता की आराधना के समतुल्य ही ठहराया जा सकता है ।

ध्यान से आत्मबोध होता है, भगवान प्राप्त होते हैं, निरोगता व जीवनी शक्ति सम्वर्धन का लाभ मिलता है, गुप्त शक्तियाँ जागृत होती हैं व ऋद्धि-सिद्धियों से भरे वरदान प्राप्त होते हैं, ऐसे अनेकों लाभ साधना शास्त्रों में गिनाये गए हैं । यह कथन यथार्थ है । इसमें कहीं कोई अतिशयोक्ति नहीं । चेतना अनन्त सामर्थ्यवान है । उससे लाभान्वित होने में मात्र दो बाधाएँ हैं—एक, मनोनिग्रह कैसे किया जाय, यह कला नहीं आती । दूसरे, इस निरोध के बाद चिन्तन प्रवाह को किधर नियोजित किया जाय । यह जानकारी बहुसंख्य की नहीं होती । ध्यान धारणा के अभ्यास में इन दोनों ही प्रयोजनों से मानव मात्र को लाभान्वित करने का उच्चस्तरीय उद्देश्य पूरा किया जाता है ।

हर साधक की मस्तिष्कीय संरचना भाव चित्र उभारने, ध्यान में अभीष्ट दृश्य देखने की नहीं होती । अस्तु ! पंचकोषी, कुण्डलिनी, बिन्दु योग आदि साधनाओं का अभ्यास प्रारम्भिक स्थिति में नहीं कराया जाता । आरम्भ में तो यही उपयुक्त है कि एक श्रेष्ठ विचारधारा के प्रवाह में बहने के लिए रास्ता बना दिया जाय । वैज्ञानिकों, साहित्यकारों, चिन्तक-मनीषियों, दार्शनिकों की ध्यान धारणा इसी प्रकार की होती है कि वे एक सीमित विचार पद्धति को अपनाकर उसी दायरे में अपने चिन्तनक्रम को नियोजित किए रहते हैं और उसके आश्चर्यजनक सत्परिणाम उपलब्ध करते हैं ।

ध्यान में दिव्य चक्षु ज्योतिर्मय करने होते हैं । सामान्य स्थिति में वे धुँधले पड़े होते हैं । अन्तःत्राटक, ज्योति अवतरण, नादयोग, रसना-गंध, स्पर्शयोग आदि वे ध्यान हैं जिनमें कल्पना चित्र दिव्य चक्षु से बनाये जाते हैं । ध्यान धारणा की जिस प्रक्रिया की चर्चा यहाँ की जा रही है । उसमें उभरने वाली कल्पनाओं के दृश्यों को पूरी गम्भीरता से सम्वेदना क्षेत्र में उतारा है । स्थूल शरीर के लिए प्राण ऊर्जा, सूक्ष्म शरीर के लिए दिव्य दृष्टि एवं कारण शरीर के लिए रस वर्षा

की तीन साधनाओं का विधान निर्धारित किया गया है । इन्हें क्रमशः थोड़े-थोड़े दिन अभ्यास में लाया जा सकता है । एक सम्मिश्रित साधनाक्रम बनाया गया है जिसमें तीनों का ही लाभ एक साथ मिलने की सुविधा है । बार-बार तीनों ध्यानों को अदल-बदल करने की अपेक्षा इस एक को ही कई वर्षों के लिए सुनिश्चित साधना क्रम के रूप में अपनाया जा सकता है । इसमें हिमालय से आने वाला दिव्य प्रवाह द्वारा आज्ञाचक्र को प्राणवान—प्रज्ञावान तथा त्रिपदा की स्नेह वर्षा—अन्तरिक्ष की अमृत वर्षा द्वारा अन्तरात्मा को रस विभोर बना लेने की धारणा की जाती है । हिमालय की शक्तिधारा से परिवर्तन—कायाकल्प की यह सम्मिश्रित साधना सुगम भी है और भाव चित्र उभारने की दृष्टि से समग्र भी ।

चारों ही साधना क्रमों की शीघ्र प्रकाशित होने जा रही पुस्तक 'साधना से सिद्धि' के खण्ड एक में पूरे विस्तार से दिया गया है । यहाँ तो संक्षेप में इस ध्यान प्रक्रिया के माहात्म्य एवं समय विशेष की दृष्टि से अनिवार्यता की चर्चा भर की गई है ।

यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि साधक को अपने कायाकल्प के लिए जो प्रारम्भिक पुरुषार्थ करने हैं, उनकी महत्ता को गौण न माना जाय । साधना, उपासना, आराधना की त्रिविध प्रक्रिया में स्वयं को सुपात्र बनाकर नियोजित कर दिया जाय तथा ध्यान धारणा के इस आन्दोलन को स्वयं भी तथा औरों को भी अपनाने के लिए प्रेरित किया जाय । यह ऐसा सौभाग्य है अवसर की महत्ता समझने वालों को सहज ही प्राप्त हो सकता है । इससे उनके अन्दर जो परिवर्तन आयेंगे उसे वे स्वयं देख-समझकर आश्चर्यचकित हुए बिना न रहेंगे । नवसृजन की भूमिका निभाने हेतु हर प्रज्ञावान जागृत साधक को इस साधना क्रम को तो अनिवार्य मानना ही चाहिए ।

दिव्य प्रकाश-अवतरण की ध्यान-साधना

अध्यात्म विज्ञान में प्रकाश साधना का विशेष महत्त्व है । अध्यात्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर इसकी चर्चा की गई है । यह प्रकाश सूर्य, चन्द्र आदि से निकलने वाला भौतिक प्रकाश नहीं, वरन् वह परम् ज्योति है जो इस विश्व चेतना का आलोक बनकर जगमगा रही है । गायत्री का उपास्य सविता देवता इसी परम ज्योति को कहते हैं । इसका अस्तित्व ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में प्रत्यक्ष और कण-कण में संव्याप्त जीवन ज्योति के रूप में प्रत्येक व्यक्ति अपने में भी देख सकता है । गायत्री उपासना में इसी दिव्य प्रकाश को परम ज्योति को अपने अन्तः भूमिका में अवतरण करने और उससे समूचे व्यक्तित्व को प्रकाशित करने के लिए साधक सविता देवता का ध्यान करता है । इसकी जितनी मात्रा जिसके भीतर विद्यमान हो, समझना चाहिए कि उसमें उतना ही आर्थिक ईश्वरीय अंश आलोकित हो रहा है ।

प्रकाश-साधना वस्तुतः एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें साधक अपने भीतर के काले मटमैले और पापाचरण को प्रोत्साहन देने वाले प्रकाश अणुओं को दिव्य, तेजस्वी, सदाचरण, शान्ति और प्रसन्नता देने वाले प्रकाश अणुओं में परिवर्तित करता है । विकास की इस प्रक्रिया में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करते हुए वहाँ तक जा पहुँचना होता है । जहाँ व्यष्टिगत आत्मचेतना को ब्रह्माण्डव्यापी समष्टिगत परमात्म चेतना का सन्निध्य प्राप्त हो जाता है और अन्ततः वह उसी में तिरोहित हो जाती है । सविता साधना से इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है । गायत्री के देवता सविता की आराधना भीतर के दूषित प्रकाश अणुओं पाप-तापों एवं कषाय-कल्मषों को धो देती है और उनके स्थान पर दिव्य प्रकाश भर देती है जिससे समूचा जीवन ही ज्योतिर्मय हो उठता है । इस उपक्रम को अपनाकर हर कोई अपनी जीवन ज्योति को प्रकाशित-प्रज्ज्वलित कर सकता है । ज्योति साधना का उद्देश्य भी यही है ।

शास्त्रों में उल्लेख है कि सूर्य ही अग्नि है, अदिति भी उसी का नाम है । सविता के रूप में गायत्री का अधिष्ठाता वही है जो सृष्टि में नवीन प्राण चेतना स्फुरित करने की क्षमता से सम्पन्न है । वही सर्वगुण सम्पन्न सविता प्रकाश और ताप के रूप में शक्ति एवं ऊर्जा के रूप में सर्वत्र विद्यमान है । प्राणों की रक्षा करने वाला होने से उसका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से है । सूर्य की ३६ हजार प्रकाश-रश्मियाँ हैं जो प्राण चेतना के रूप में मानव मस्तिष्क के मध्य में

स्थित ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्रतिदिन एक के क्रम से अन्दर प्रविष्ट करती रहती हैं और इस तरह जीवन निर्वाह के लिए सविता का एक प्राण मनुष्य को प्रतिदिन उपलब्ध होता रहता है । आधुनिक वैज्ञानिक मनीषी भी इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि हम सभी सूर्य के आन्तरिक भाग में निवास करते हुए उससे संचालित हैं । हमारे प्रत्येक अंग-अवयव उसी से अदृश्य रूप से उत्तेजना ग्रहण करते और प्राण ऊर्जा से लाभान्वित होते हैं ।

अध्यात्मवेत्ता वैज्ञानिक मनीषियों के अनुसार प्रकाश साधना के समय सविता के ध्यान से हमारे मस्तिष्क का चुम्बकत्व सूर्य के प्रकाश कणों के चुम्बकत्व को आकर्षित करता है और ग्रहण करता हुआ हमारी प्राणचेतना में दिव्यता का अभिवर्धन करता रहता है । प्रकाश ऊर्जा या प्राण शक्ति का आकर्षण मस्तिष्क के मध्यभाग से करने का विधान है, जिसे 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है । यही वह शक्ति केन्द्र है जहाँ से मस्तिष्क शरीर का नियन्त्रण करता और विश्व में जो कुछ भी मानवकृत विलक्षण विज्ञान दिखाई देता है, उनका सम्पादन करता है । इसी मध्य भाग से प्रकाश कणों का एक फव्वारा-सा फूटता रहता है । उसकी उछलती हुई तरंगें एकवृत्त बनाती हैं और फिर अपने मूल उद्गम से लौट जाती हैं । यह प्रक्रिया रेडियो प्रसारण और संग्रहण जैसी है । ब्रह्मरन्ध्र से निरस्त प्रकाश ऊर्जा अपने भीतर छिपी हुई भाव स्थिति को विश्व ब्रह्माण्ड में ईथर कम्पनों द्वारा प्रवाहित करती रहती है और इस प्रकार मनुष्य अपनी चेतना का प्रभाव समस्त संसार में फेंकता रहता है । प्रकाश किरणों की लौटती हुई धाराएँ अपने साथ विश्वव्यापी असीम ज्ञान चेतना की नवीनतम घटनात्मक तथा भावनात्मक जानकारियाँ लेकर लौटती हैं । यदि उन्हें ठीक तरह समझा आकर्षित किया और अवधारित किया जा सके तो कोई भी व्यक्ति भूत, भविष्य और वर्तमान काल की अत्यन्त सुविस्तृत और महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त कर सकता है । मनुष्य में सूक्ष्म आदान-प्रदान की, प्रवाह ग्रहण करने और प्रसारित करने की जो क्षमता है, उसका माध्यम यह ब्रह्मरन्ध्र स्थित ध्रुव संस्थान ही है ।

सुविख्यात वैज्ञानिक मनीषी डॉ. जे. सी. ट्रस्ट का कहना है कि मनुष्य शरीर की प्रत्येक कोशिका प्रकाश चेतना से भरी होती है । सूक्ष्मदर्शी यन्त्र उपकरणों के माध्यम से किए गये विशेष परीक्षणों में देखा गया है कि प्रत्येक कोशिका अपने आप में प्रकाश पुंज है और उसमें से टिमटिमाता हुआ प्रकाश निकलता रहता है । यह प्रकाश अणु ही मनुष्य के यथार्थ शरीर का निर्माण करते हैं और पंच महाभूतों से विनिर्मित काया को स्थिरता प्रदान करते हैं । प्रकाश की ध्यान धारणा इन्हें परिपुष्टता और दिव्यता प्रदान करती है । उनके अनुसार स्वभाव, संस्कार, इच्छाएँ क्रिया शक्ति यह सब इन्हीं प्रकाश अणुओं का खेल है । मनुष्य का जो कुछ भी स्वभाव आज दिखाई देता है, वह इन्हीं प्रकाश किरणों की उपस्थिति के कारण है । इतना ही नहीं जन्म-जन्मान्तरों तक खराब प्रकाश अणुओं की यह उपस्थिति मनुष्य से बलात् दुष्कर्म कराती रहती है और इस तरह वह पतन के खड्ड में बार-बार गिरता और अपनी आत्मा को दुःखी बनाता रहता है । जब तक दूषित प्रकाश कणों को निष्क्रिय नहीं बना दिया जाता अथवा उन्हें मिटाकर शुभ और दिव्य प्रकाश से अपने आपको परिपूरित नहीं बना लिया जाता, तब तक परिस्थितियों में कोई कहने लायक विशेष परिवर्तन नहीं हो पाता । प्राचीन ऋषि मनीषियों ने दिव्य ज्योति की निराकार ध्यान साधना का निर्धारण इसी निमित्त किया था । सविता की दिव्य प्रकाश ऊर्जा को जो मनुष्य जितनी अधिक मात्रा में आकर्षित कर लेता है, वह उतना ही श्रेष्ठ, सद्गुणी एवं ओजस् तेजस् वाला बन जाता है । यदि इस विज्ञान को समझा जा सके और श्रद्धा भावनापूर्वक ध्यान उपक्रम को अपनाया जा सके, तो न केवल अपना जीवन शुद्ध सात्विक दिव्य एवं सफल बनाया जा सकता है, वरन् औरों को भी लाभान्वित किया जा सकता है । परलोक और सद्गति का आधार यह दिव्य प्रकाश चेतना है ।

आत्मचेतना जिन अणुओं से अपने को अभिव्यक्त करती है, वह प्रकाश अणु ही है, जबकि आत्मा स्वयं उससे भिन्न है । प्रकाश अणुओं को प्राण ऊर्जा विधायीशक्ति, अग्नि, तेजस्, आदि कहना चाहिए । वह जितने शुद्ध, दिव्य एवं तेजस्वी होंगे, साधक उतना ही महान ओजस्वी, तेजस्वी, यशस्वी एवं वर्चस् वाला होगा । महापुरुषों, तपस्वी, ऋषि-मनीषियों में से प्रत्येक को अपने दूषित प्रकाश अणुओं को हटाने और दिव्य

अणुओं से आप्लावित करने की साधना करनी पड़ी है । 'तमसो मां ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना में इसी दिव्य प्रकाश की याचना का भाव सन्निहित है । इसकी विधि अत्यन्त सरल, किन्तु महान प्रतिफल प्रदान करने वाली है ।

दिव्य प्रकाश की निराकार ध्यान साधना अरुणोदय काल में सम्पन्न की जाती है, जब पूर्व दिशा की ओर अरुणिमा युक्त स्वर्णिम आभा के साथ भगवान सविता अपने समस्त वरेण्य, दिव्य भर्ग, ऐश्वर्य के साथ उदय होते हैं । यों तो सामान्य जप के साथ सूर्य मण्डल मध्यस्थ भगवती गायत्री का ध्यान करने का विधान है किन्तु इस साधना में गायत्री माता की छवि का स्थान सविता का दिव्य तेजोवलय ले लेता है । ध्यान मुद्रा में बैठकर भावना करनी पड़ती है कि हमारी प्राणचेतना अन्तरिक्ष की यह विशाल दूरी पार करने के लिए निकल पड़ी है । भावना की प्रगाढ़ता के लिए पृथ्वी और आकाश के विविध काल्पनिक दृश्यों को मानस पटल पर उभारना पड़ता है । धीरे-धीरे प्राणों को सविता के प्रकाश में डुबो देते हैं । मन हठात् भागना चाहे तो अनन्त सितारों की जगमग के मनोहारी दृश्य दिखा कर उसे फिर उसी सूर्य के प्रकाश में उतारा जाता है और दृढ़ भावना की जाती है कि अपनी प्रकाश चेतना में सम्मिलित कालिमायुक्त दूषित अणु पाप-ताप और अहंताएँ नष्ट होती जा रही हैं । अपने और सविता के प्रकाश में कोई अन्तर नहीं रहा । समस्त सौर मण्डल में अपनी ही प्रकाश चेतना-प्राण चेतना प्रतिभासित हो रही है । उसी प्रकाश स्फुलिंग से वृक्ष-वनस्पति बने हुए हैं । उसी से ब्रह्माण्ड गतिमान हो रहा है । साक्षी और दृष्टा रूप में अपनी ही आत्मचेतना सर्वत्र संचरण कर रही है । समस्त प्राणि जगत में अपना ही प्राण समाया है और सबको परिचालित कर रहा है ।

इस तरह दिव्य प्रकाश की ध्यान धारणा में सूर्य का तेजोमण्डल मात्र भौतिक प्रकाश न रह कर ब्राह्मी चेतना की दिव्य ज्योति बनकर अनुभूति में उतरती चली जाती है । श्रद्धा-विश्वास की अभिवृद्धि के साथ ही ध्यान की प्रगाढ़ता जितनी अधिक बढ़ती जाती है, दिव्य दृष्टि का उतना ही अधिक विकास होता है । तन्मयता एकाग्रता जितनी बढ़ेगी, पुलकन और दिव्यता का अंश भी बढ़ता चला जायेगा । ब्रह्मतेज से अनुप्राणित होने और ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी बनने में सविता की प्रकाश साधना अतीव लाभकारी सिद्ध होती है । यह एक सुनिश्चित तथ्य है ।

रस विभोर ध्यान की भाव भूमिका

आत्म-कल्याण के लिए गायत्री महामन्त्र का जप करते समय अपने को एक वर्ष आयु के छोटे बालक के रूप में अनुभव करना चाहिए और सर्व-शक्तिमान गायत्री माता की गोद में खेलने, क्रीड़ा-कल्लोल करने की भावना करनी चाहिए । उसका पय-पान करते हुए यह अनुभूति जगानी चाहिए कि इस अमृत दूध के साथ मुझे आदर्शवादिता, उत्कृष्टता, ऋतम्भरा-प्रज्ञा, सज्जनता एवं सदाशयता जैसी दिव्य आध्यात्मिक विभूतियाँ उपलब्ध हो रही हैं और उनके माध्यम से अपना अन्तःकरण एवं व्यक्तित्व महान बनता चला जा रहा है ।

ध्यान का स्वरूप नीचे दिया जा रहा है—

(१) प्रलय के समय बची हुई अनन्त जलराशि में कमल के पत्ते पर तैरते हुए बाल भगवान का चित्र बाजार में बिकता है । वह चित्र खरीद लेना चाहिए और उसी के अनुरूप अपनी स्थिति अनुभव करनी चाहिए । इस संसार में ऊपर नील आकाश और नीचे नील जल अतिरिक्त और कुछ भी नहीं । जो कुछ भी दृश्य पदार्थ इस संसार में थे इस प्रलय काल में ब्रह्म के भीतर तिरोहित हो गए अब केवल अनन्त शून्य बना है जिसमें नीले जल और नीले आकाश के ऊपर कोई वस्तु शेष नहीं । यह उपासना भूमिका के वातावरण का स्वरूप है । पहले इसी पर ध्यान एकाग्र किया जाये ।

(२) मैं कमल पत्र पर पड़े हुए एक वर्षीय बालक की स्थिति में निश्चित भाव से पड़ा क्रीड़ा कल्लोल कर रहा हूँ । न किसी बात की चिन्ता है न आकांक्षा और न आवश्यकता । पूर्णतया निश्चित, निर्भर, निर्द्वन्द्व, निष्काम, उल्लास एवं आनन्द का वातावरण संव्याप्त है । मैं उसी की अनुभूति करता हुआ परिपूर्ण तृप्ति एवं सन्तुष्टि का आनन्द ले रहा हूँ ।

(३) प्रातःकाल जिस प्रकार संसार में अरुणिमा युक्त स्वर्णिम आभा के साथ भगवान सविता अपने समस्त वरेण्य, दिव्य भर्ग ऐश्वर्य के साथ उदय होते हैं उसी प्रकार उस अनन्त आकाश की पूर्व दिशा में से ब्रह्म की महान शक्ति गायत्री का उदय होता है। उसके बीच अनुपम सौन्दर्य से युक्ति अलौकिक सौन्दर्य की उपमा जगद्धातृ गायत्री माता प्रकट होती हैं। वे हँसती-मुस्कराती अपनी ओर बढ़ती आ रही हैं। हम बालसुलभ किलकारियाँ लेते हुए उनकी ओर बढ़ते चले जाते हैं। दोनों माता-पुत्र आलिंगन आनन्द से आबद्ध होते हैं और अपनी ओर से असीम वात्सल्य की गंगा-यमुना प्रवाहित हो उठती हैं और दोनों का संगम परम-पावन तीर्थराज बन जाता है।

माता और पुत्र के बीच क्रीड़ा-कल्लोल भरा स्नेह वात्सल्य का आदान-प्रदान होता हैं। उनका पूरी तरह ध्यान ही नहीं भावना भूमिका में भी उतारना चाहिए। बच्चा माँ के नाक, कान आदि पकड़ने की चेष्टा करता है। मुँह-नाक में अंगुली देता है, गोदी में ऊपर चढ़ने की चेष्टा करता है, हँसता, मुस्कराता और अपने आनन्द की अनुभूति उछल-उछलकर प्रकट करता है, वैसी ही स्थिति अपनी अनुभव करनी चाहिए। माता अपने बालक को पुकारती है, उसके सिर-पीठ पर हाथ फिराती है, गोदी में उठाती—छाती से लगाती, दुलारती है, उछालती है, वैसी ही चेष्टाएँ माता की ओर से प्रेम-उल्लास के साथ हँसी-मुस्कान के साथ की जा रही है ऐसा ध्यान करना चाहिए।

स्मरण रहे केवल उपर्युक्त दृश्यों की कल्पना करने से ही काम न चलेगा वरन् प्रयत्न यह करना होगा कि वे भावनाएँ भी मन में उठें, जो ऐसे अवसर पर स्वाभाविक माता-पुत्र के बीच उठती रहती हैं। दृश्य की कल्पना सरल है पर भाव की अनुभूति कठिन है। अपने स्तर को व्यक्ति के रूप में अनुभव किया गया तो कठिनाई पड़ेगी किन्तु यदि सचमुच अपने को एक वर्ष के बालक की स्थिति में अनुभव किया गया, जिसको माता के स्नेह के अतिरिक्त और कोई वस्तु प्रिय होती ही नहीं तो फिर विभिन्न दिशाओं में बिखरी हुई अपनी भावनाएँ एकत्रित होकर उस असीम उल्लास भरी अनुभूति के रूप में उदय होंगी जो स्वभावतः हर माता और हर बालक के बीच में निश्चित रूप से उदय होती हैं। प्रौढ़ता भुलाकर शैशव का शरीर और भावना स्तर पर स्मरण कर सकना यदि सम्भव न हो सका तो समझना चाहिए कि साधक ने एक बहुत बड़ी मंजिल पार कर ली।

मन प्रेम का गुलाम है। मन भागता है पर उसके भागने की दिशा अप्रिय से प्रिय होती है। जहाँ प्रिय वस्तु मिल जाती है। यहाँ वह ठहर जाता है। प्रेम ही सर्वोपरि प्रिय है। जिससे भी अपना प्रेम हो जाय वह भले ही कुरूप या निरूप भी हो पर लगता परम प्रिय है। मन का स्वभाव प्रिय वस्तु के आस-पास मँडराते रहने का है। उपर्युक्त ध्यान साधना में गायत्री माता के प्रति प्रेम-भावना का विकास करना पड़ता है, फिर उसका सर्वांग सुन्दर स्वरूप भी प्रस्तुत है। सर्वांग सुन्दर-प्रेम की अधिष्ठात्री गायत्री माता का चिन्तन करने से मन उस परिधि में घूमता रहता है। उसी क्षेत्र में क्रीड़ा कल्लोल करता रहता है। अतएव मन को रोकने, वश में करने की एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक आवश्यकता भी इसी साधना के माध्यम से पूरी हो जाती है।

इस ध्यान धारणा में गायत्री माता को केवल एक नारी-मात्र नहीं माना जाता है। वरन् उसे सत् चित् आनन्दस्वरूप—समस्त सद्गुणों सद्भावनाओं, सत्प्रवृत्तियों का प्रतीक, ज्ञान-विज्ञान का प्रतिनिधि और शक्तिसामर्थ्य का स्रोत मानते हैं। प्रतिमा नारी की भले ही हो पर वस्तुतः वह ब्रह्म चेतना क्रम दिव्य ज्योति बनकर ही—अनुभूति में उतरे।

जब माता के स्तन-पान का ध्यान किया जाय तो यह भावना उठनी चाहिए कि यह दूध एक दिव्य प्राण है जो माता के वक्ष-स्थल से निकल कर मेरे मुख द्वारा उदर में जा रहा है और वहाँ एक धवल विद्युतधारा बनकर शरीर के अंग-प्रत्यंग—रोम-रोम में ही नहीं—वरन् मन, बुद्धि, चित्त, अहं का कायाकल्प कर सकने वाली संजीवनी रसायन जैसा हो रहा है। मैं नर से नारायण, पुरुष से पुरुषोत्तम, अणु से विभु, क्षुद्र से महान और आत्मा से परमात्मा के रूप में विकसित हो रहा हूँ। ईश्वर के समस्त सद्गुण धीरे-धीरे व्यक्तित्व का अंग बन रहे हैं। मैं द्रुतगति से उत्कृष्टता की ओर अग्रसर हो रहा हूँ। मेरा आत्म-बल असाधारण रूप में प्रखर हो रहा है।

मन की अवांछनीय भाग दौड़ रोकने के लिए इस तरह का ध्यान बहुत ही सहायक होगा यही नहीं उपासना में धीरे-धीरे रस की अनुभूति होने लगेगी । यह सर्वमान्य तथ्य है कि माँ के प्रति जिस तरह की भावना रखकर उपासना की जायेगी अन्तः प्रतिध्वनि भी उसी के अनुरूप होगी । बच्चा माँ को जितनी करुणा से पुकारता है माँ के उत्तर और उसके शब्द उतने ही सम्वेदनापूर्ण होते हैं स्पष्ट है कि इस तरह के ध्यान से मिलने वाली उनकी कृपा अत्यन्त दुर्लभ होगी और सत्परिणाम भी बेजोड़ होंगे ।

जब तक आत्मिक स्थिति इतनी प्रगाढ़ न हो जाय कि वह तत्व ज्ञान को, निराकार प्रकाश के ध्यान को सहज रूप में स्वीकारने लगे तब तक के लिए यह ध्यान प्रक्रिया सर्वोत्तम है । सच पूछा जाय तो निराकार उपासना से जो प्रतिफल उपलब्ध हो सकते होंगे वह इस भाव-भूमिका से भी सहज ही उपलब्ध किए जा सकते हैं यह समझने वाली बात है कि माँ को अपने वयस्क विद्वान बेटे की अपेक्षा अबोध नन्हा और निरन्तर उसी पर आश्रित रहने वाला शिशु ही अधिक प्रिय होता है । इस ध्यान में यही स्थिति प्रकट होती है ।

बौद्ध-योग के पाँच ध्यान

श्री भगवान बुद्ध ने पाँच प्रकार के ध्यान की शिक्षा दी है—

पहला योगाभ्यास—यह 'प्रीति' या 'प्रेम' का ध्यान है । इस ध्यान में तुम अपने मन को इस प्रकार साधते हो कि जीव मात्र का भला चाहते हो, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं से भी भ्रातृ-भाव रखते हो । इसी का नाम 'सत्वेषु मैत्री' है । इसमें निरन्तर तुम्हारी यही भावना रहती है कि सबका भला हो ।

दूसरा योगाभ्यास—यह ध्यान 'दया' और 'करुणा' का है । इसमें तुम यह चिन्तवन करते हो कि सब जीव दुःख में हैं और अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा उनके दुःखों का चित्र भी अपने हृदय पट पर खींचते हो कि जिससे तुम्हारे मन में उनके प्रति दया का भाव उत्पन्न हो और तुमसे जो कुछ बन सके उनकी सहायता करो ।

तीसरा योगाभ्यास—यह ध्यान 'हर्ष' और 'सुख' का है । इसमें तुम दूसरों के कल्याण का विचार करते हो और उनकी प्रसन्नता से प्रसन्न होकर उनकी मंगल-कामना की भावना करते हो ।

चौथा योगाभ्यास—'अपवित्रता' का ध्यान है । इसमें तुम रोग, शोक और पाप के बुरे परिणामों पर विचार करते हो और यह सोचते हो कि इन्द्रियजन्य सुख बहुधा कैसे तुच्छ होते हैं और उनके कैसे भयंकर फल होते हैं ।

पाँचवाँ योगाभ्यास—'शान्ति' का ध्यान है । इसमें तुम्हारे मन से राग-द्वेष, हानि-लाभ, निष्ठुरता और पीड़ा, ऐश्वर्य और दरिद्र, सम्पत्ति और विपत्ति, न्याय और अत्याचार के विचार निकल जाते हैं । अपनी वर्तमान दशा पर सब प्रकार सन्तुष्ट रहते हों । न तुम्हें किसी वस्तु की चाह होती है और न किसी की आवश्यकता होती है । प्रत्येक दशा में तुम परमात्मा के अनुगृहीत और कृतज्ञ हो । तुम्हारे भीतर क्रमशः इन पाँचों ध्यानों का अभ्यास करने से मनुष्य मुक्ति पद को पाता है ।

ध्यान धारण से आत्मोत्कर्ष की महान सम्भावनाएँ

अपना एक बड़ा दुर्भाग्य यह है कि हम अपने स्वरूप, स्तर, लक्ष्य एवं कर्तव्य को बुरी तरह भुला बैठे हैं । शरीर को ही 'मैं' मान बैठे हैं । जो मेरा शरीर अस्वस्थ है—मेरा मन अशान्त है आदि शब्दों का उच्चारण करते समय आत्म परिचय देता रहता है उसकी ओर से एक प्रकार से बेखबर ही बने हुए हैं । शरीर और मन आत्म सत्ता की सुविधा और आज्ञा पालन के लिए मिले हुए दो वाहन, सेवक, उपकरण मात्र हैं । इनकी सहायता से आत्मा अपना लक्ष्य पूरा कर सकती है, यही उनका उपयोग है । आत्म सत्ता पृथक् है काय कलेवर उसका साधन भर है । किन्तु अज्ञान के निबिड़ अन्धकार ने स्थिति बेतरह उलझा दी है । हम अपने को शरीर मात्र समझते हैं । उसी की इन्द्रियों में उठने वाली खुजली की तृप्ति में, वासना में सुख मानते हैं । मन की ललक लिप्साएँ तृष्णा बनकर उभरती रहती हैं । उन्हीं की पूर्ति के लिए बेचैन रहते हैं । आकांक्षा

क्षेत्र में अहंकार का नशा छाया रहता है और उसी की सनक में विविध विधि आडम्बर खड़े करते और दूसरों को आकर्षित आतंकित करने की बाल-क्रीड़ाओं में उलझे रहते हैं । इन्हीं विडम्बनाओं में मनुष्य जीवन ईश्वर प्रदत्त अनुपम उपहार, मिट्टी के मोल बर्बाद हो जाता है और हम अनन्त पश्चात्ताप सिर पर लादे हुए सृष्टा के परिवार में अपराधी की तरह वापस लौटते हैं । यह आत्म विस्मृति ही जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है । इससे बचने का एकमात्र उपाय 'आत्म-बोध' ही है । यदि अपने स्वरूप और लक्ष्य की स्मृति मरण से पूर्व ही उठ सके तो अन्तरात्मा में चौंकाने वाली हलचल उठ खड़ी होगी और विचार करना पड़ेगा कि क्या पेट और प्रजनन की ललकों के साथ खेलते रहने के लिए ही यह सुर दुर्लभ अवसर मिला है । लोभ और मोह के कुचक्र में पिसते रहने के अतिरिक्त भी क्या इस जीवन सम्पदा का कुछ और उपयोग हो सकता है । वासना और तृष्णा की आग में तेल डालकर उनकी लपटें दिन-दिन उभारते चलने के अतिरिक्त क्या आत्मा की भी कोई आवश्यकताएँ हैं और क्या उनकी पूर्ति के लिए भी कुछ कर सकना सम्भव है ?

आत्म जागृति के क्षणों में ऐसे-ऐसे अनेकों प्रश्न उभर सकते हैं और ऐसी-ऐसी असंख्य समस्याएँ सामने आ सकती हैं जो अत्यधिक महत्त्व की, जीवन मरण जैसी गम्भीर होते हुए भी आत्म विस्मृति के कारण कभी सामने ही नहीं आईं । इनके समाधान ही जीवन का सफलता एवं सार्थकता का लाभ दे सकते हैं, पर कठिनाई यह है कि वे कभी मन में उठते तक नहीं । उठें तो तब जब अपनेपन का, अपने गन्तव्य का, अपने हित का ध्यान हो । गहरे नशे में मस्तिष्क पर पूरी तरह नशा ही नशा छाया रहता है । अपने व्यक्तित्व एवं स्तर का ज्ञान ही नहीं रहता । फलतः न कहने लायक, कहने न सोचने लायक, सोचने और न करने लायक करने में तनिक भी संकोच नहीं होता । ठीक यही स्थिति शरीराभ्यास का नशा पी लेने पर बन जाती है । आत्म सत्ता शरीर मात्र तक सीमित होकर रह जाती है । शरीर को इन्द्रिय लिप्सा—मन की ममत्व तृष्णा अन्तरंग की अहम्मन्यता के अतिरिक्त और तीसरा कुछ सूझता ही नहीं । इन्हीं तीन ऐषणाओं की पूर्ति में जीवन सम्पदा पूरी तरह नियोजित रहती है । आत्म विस्मृति के फलस्वरूप, आत्म-चिन्तन, आत्म-समीक्षा, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण, आत्म-विकास की दिशा में कुछ भी बन नहीं पड़ता । गाड़ी ऐसे ही लुढ़कती रहती है । अन्तिम निष्कर्ष के समय पता चलता है कि कितनी बड़ी हानि हो गई और कितनी बड़ी दुर्घटना घटित हो गई किन्तु तब सब कुछ हाथ से निकल गया होता है पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ शेष नहीं रहता । लदी हुई पापों की गठरी फिर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने, नारकीय यातनाएँ सहने के लिए विवश करती है ।

घोर विडम्बनाओं के बीच रहते हुए, जीवन सम्पदा के अपव्यय में निरत वर्तमान परिस्थिति का लेखा-जोखा नये सिरे से लेने की आवश्यकता है । अपना स्वरूप, लक्ष्य एवं कर्तव्य नये सिरे से समझा जाना चाहिए । यदि ऐसा हो सके तो नई जीवन-नीति निर्धारित करनी पड़ेगी और वर्तमान कार्य पद्धति में भारी सुधार परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव होगी । यदि ऐसा साहसिक हेर-फेर सम्भव हो सके तो नर पशुओं जैसी हेय हीन स्थिति को अस्वीकार करने और महामानवों जैसी आत्म श्रद्धा अपनाने में तनिक भी कठिनाई न रहेगी । श्रेय पथ अंगीकार करने वाले और संकल्पपूर्वक उस पर चलने वाले ही देव मानव बन सके हैं । उन्होंने आत्म-कल्याण के साथ-साथ असंख्यों का कल्याण किया है । मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने उसका भरपूर आनन्द लेने का सौभाग्य मात्र उन्हीं को मिलता है जो आत्मज्ञान उपलब्ध कर लेते हैं । ऐसे ही लोग ऐतिहासिक महामानवों के रूप में इस धरती पर अपने चरण चिन्ह असंख्यों को अनुकरण प्रेरणा देने के लिए छोड़ते हैं ।

इतना महान प्रयोजन पूरा कर सकने में 'ध्यान योग' से बढ़कर और कोई उपाय नहीं हो सकता । उसे मात्र चिन्ह पूजा की खिलवाड़ बनाये रखा जाय तो बात दूसरी है अन्यथा यदि उसे शोधन के लिए-गम्भीर आत्म-चिन्तन के रूप में प्रयुक्त किया जाय तो निःसन्देह उसका प्रतिफल आन्तरिक काया-कल्प के रूप में प्रस्तुत होना चाहिए ।

ध्यान योग के सम्बन्ध में यही बात है । इष्टदेव का ध्यान इस रूप में किया जाना चाहिए मानो उस रूप में अपने भावी स्वरूप का निश्चय निर्धारण किया गया है । साँचे में ढालकर खिलौने आभूषण आदि

बनाये जाते हैं । इष्टदेव के स्वरूप का निर्धारण इसी दृष्टि से किया जाता है कि इनके सम्पर्क में आकर इन्हीं के समान हमें बनना है । ईश्वर निराकार है । व्यापक शक्तियाँ निराकार ही हो सकती हैं । उनका आकार तो मानवी कल्पना की देन है । इष्टदेव के रूप में ईश्वर की साकार कल्पना के पीछे साधक की यही मान्यता काम करनी चाहिए कि उनके साथ भावनात्मक घनिष्ठता स्थापित की जाय—उन्हें आत्म समर्पण करके उसी ढाँचें में ढाला जाय । राम, कृष्ण, आदि अवतार, शिव, गणेश, हनुमान, सूर्य आदि देवताओं, गायत्री, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवियों को प्रायः इष्टदेव माना जाता है । ध्यान योग में इनके साथ तादात्म्य होने का उद्देश्य यह है कि उनके साथ आरोपित की गई विशेषताओं का आत्म सत्ता में अवतरण होता चले । भक्ति योग की चरम परिणति इष्टदेव के साथ एकाकार होना है इसका फलितार्थ यही हो सकता है कि साधक पूरी तरह अपने आपको इष्टदेव की विशेषताओं को अपनाकर गुण, कर्म स्वभाव की दृष्टि से उसी स्तर का बनाने के लिए प्रबल प्रयत्न करें । इस प्रबल प्रयत्न परायणता को तप कहते हैं । इष्टदेव में अपने को जोड़ देना-घुला खपा देना—'योग' कहा जाता है । आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर 'योग' और 'तप' के दो चरण उठाते हुए बढ़ा जाता है । यह प्रयोजन समग्र सोद्देश्य-ध्यान साधना के सहारे भली प्रकार सम्पन्न हो सकता है ।

गम्भीर आत्म चिन्तन को ध्यान योग कहा गया है । इसमें अन्तर्मुखी बनना पड़ता है । कुछ समय तक बहिरंग जगत से नाता तोड़कर आत्मसत्ता की परिधि पर अपनी चेतना को केन्द्रित करना पड़ता है । आत्मा के स्वरूप, लक्ष्य और कर्तव्य को जानते तो प्रायः सभी हैं पर गम्भीरता से उसकी अनुभूति नहीं करते । उस जानकारी को एक सपने की तरह स्मृति पटल पर बिठाये भर रहते हैं । उसे न तो तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है और न निष्कर्षों की प्रबल प्रेरणा का आधार बन सकने जितना प्रखर बनने दिया जाता है ।

ध्यान योग का उद्देश्य इस उपेक्षा को, अन्य मनस्कता को, दूर करके वस्तुस्थिति की ज्वलन्त परिस्थिति के रूप में मान्यता देने और तदनुरूप प्रयास परिवर्तन प्रारम्भ करने के स्तर तक साधक को पहुँचाना है ।

खोई वस्तु को तलाश करने के लिए ध्यान करना पड़ता है । जिस बात पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान नहीं दिया जाता वह आधी अधूरी ही समझ में जाती है । किसी के कथन को ध्यानपूर्वक न सुना जाय तो कान ठीक होते हुए भी उस कथन का बहुत थोड़ा अंश ही समझ में पड़ेगा, शेष ऐसे ही उपेक्षा के गर्त में गिर कर साथ के साथ ही विस्मृत होता चला जायेगा । कोई घटना क्रम आँख के सामने से ही गुजर रहा हो पर उसके प्रति अन्यमनस्कता हो तो देखा भी अनदेखा जैसा बन जायेगा । ऐसी विस्मृत परिस्थितियों के बारे में यही कहा जाता है कि ध्यान से नहीं सुना गया, ध्यान से नहीं देखा गया है । हम बहुत कुछ देखते सुनते हैं और अनुभव करते हैं पर उनमें गम्भीरता न बरतने से, समुचित ध्यान की कमी रहने से, बहुत कुछ तो साथ ही विस्मृत होता चला जाता है जो स्मरण भी रहता है उसकी कोई गहरी छाप मन पर नहीं रहती । फलतः सम्पर्क क्षेत्र में बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण गुजरते रहने पर भी उससे लाभ उठा सकना या खतरों से सतर्क रह सकना सम्भव नहीं होता ।

इन्द्रियाँ बाह्य जगत की अनुभूति करती हैं, मन बाहर की ओर दौड़ता है । अपने भीतर की समस्याएँ सूझती ही नहीं । अन्तःक्षेत्र की सम्पदाएँ दीखती ही नहीं । आत्म-कल्याण की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती । यह अन्ततः दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है । यह तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक अन्तर्मुखी बनने, अन्तर्जगत में प्रवेश करने का अवसर न मिले । यह प्रयोजन ध्यान योग द्वारा ही पूरा हो सकता है । दिव्य चक्षुओं से आत्म-निरीक्षण के उपरान्त ही आध्यात्मिक प्रगति की आवश्यकता प्रतीत होती है और उसके उपाय सूझते हैं । आत्म विस्मृति की खुमारी इसी आधार पर दूर होती है ।

ध्यान योग का आध्यात्मिक प्रगति के लिए अनिवार्य रूप से उपयोग करना पड़ता है । ध्यान किसी सम्प्रदाय विशेष तक सीमित नहीं है वरन् वह विश्वव्यापी है । सभी धर्म सम्प्रदायों में, योग परम्पराओं में ध्यान धारणा की विधियाँ भले ही भिन्न बताई गई हैं पर उसका

महत्त्व समान रूप से माना गया है । योग शास्त्र में ध्यान की महिमा बताते हुए कहा गया है कि—

सयाध्यानं ब्रह्मेत्युपासते यावद् ध्यानस्य
गतं तत्रास्य कामा चारौ भवति,
यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति ।

—*छान्दोग्य*

जो यह मानकर उपासना करता है कि 'ध्यान ही ब्रह्म है' उसके ध्यान की गति इतनी विस्तृत हो जाती है जितनी कि ब्रह्म की ।

नास्ति ध्यानं बिना ज्ञान नास्ति ध्यान्मयोगिनः ।
ध्यान ज्ञानञ्च यस्यास्ति तीर्णस्तेन भंवार्णवः ॥
ज्ञानं प्रसन्नमेकाग्रमशेषोपाधिवर्जितम् ।
योगाभ्यासेन तुक्तस्य योगिनस्त्वेव सिद्धयति ॥

—*महायोग विज्ञान*

ध्यान बिना ज्ञान नहीं होता । न ध्यान बिना योग सधता है । ध्यान और ज्ञान दोनों के सहारे भवसागर पार किया जाता है । ज्ञान और एकाग्रता से उपाधि वर्जित मन प्रसन्न रहता है और योग साधना से सिद्धि मिलती है ।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणावा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

—*मुण्डकोपनिषद्*

वह परमात्मा न आँख से दीखता है और न वाणी से जाना जाता है, न उसे इन्द्रियों से, तप से या कर्म से जान सकते हैं । ज्ञान की निर्मलता से जब मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब ध्यान द्वारा वह उस ब्रह्म को देखता है ।

पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तमात्परांङ्
पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥

—*कठोपनिषद्*

स्वयम्भू भगवान ने इन्द्रियों को विषयों की तरफ जाने वाली बनाया है इसलिए मनुष्य बाहर के विषयों को तो देखता है किन्तु आत्मा को नहीं देखता, कोई विरला ही ध्यानी पुरुष मोक्ष की ओर से अन्तःकरण में रहने वाले परमात्मा को ध्यान द्वारा देखता है ।

आध्यात्मिक ध्यान प्रक्रिया में आत्म स्वरूप का निर्धारण करते समय अपने में सन्निहित असीम क्षमताओं और सम्भावनाओं पर विचार करना पड़ता है । हर दिशा में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ प्रस्तुत कर सकने की एक से एक बढ़ी-चढ़ी सामर्थ्य अपने भीतर विद्यमान है । वे उपेक्षित एवं प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहने के कारण ही मृतवत् बन गई हैं । यदि उन्हें समझा-उभारा जा सके तो अविकसित व्यक्तित्व भी उच्चस्तरीय एवं विकासवान् बन सकते हैं । यह तथ्य है कि परिस्थितियाँ मात्र वस्तुतः मनःस्थिति की ही प्रतिक्रियाएँ होती हैं । लगती तो ऐसी हैं मानो कहीं बाहर से, किसी अन्य द्वारा भेजी हुई, चली आयी हैं पर कुछ अवतारों को छोड़कर मनुष्य की अपनी भूलें ही विपत्ति और व्यवस्था ही सम्पत्ति का रूप धारण करती है । 'मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।' ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं इन लोकोक्तियों का शास्त्रकारों ने पग-पग पर प्रतिपादन किया है । वे कहते हैं—

उद्धरेत् आत्मनात्मानं नात्मानं अवसाद येत्
आत्मैव आत्मनः मित्र आत्मैव रिपुरात्मनः ।

—*गीता*

मनुष्य आप ही अपना मित्र और स्वयं ही अपना शत्रु है । अपना उद्धार आप ही करना चाहिए । अपने आपको गिराना नहीं चाहिए ।

अपनी गरिमा, अपनी क्षमता और अपनी सम्भावनाओं पर ध्यानपूर्वक विचार किया जा सके तो आत्म सत्ता में महिमामयी ब्रह्म सत्ता ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होगी । आत्म-गौरव से सीना तन जायेगा और आत्मोद्धार के लिए प्रचण्ड आकांक्षा उभरेगी । इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए प्रस्तुत कषाय कल्मषों का निवारण और सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन अनिवार्य प्रतीत होगा । यह परिवर्तन कैसे किया जाय इसके लिए हर व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों के अनुरूप, अपने मनोबल से, अपने ढंग से सोचना पड़ता है और निष्कर्षों को कार्यान्वित करने के लिए अपने ढंग से भावी जीवन को सुनियोजित करना पड़ता है । यह समस्त प्रक्रिया आत्म-चिन्तन से आत्म-मंथन से ही उभरती है । ध्यान योग के द्वारा ही यह आत्म-कल्याण का पथ-प्रशस्त होता है ।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानिनिखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

—श्वे. उ. १/३

अर्थात्—"उन ब्रह्मवेत्ता मुनियों ने ध्यानयोग का साधन करके अपने ही गुणों से ढके हुए आत्मदेव की शक्ति को देखा । किस आत्मदेव की शक्ति को देखा ? इस पर कहते हैं कि जो कि एक आत्मा ही काल से लेकर आत्मा तक समस्त सृष्टि का कारण है उन आत्मदेव की शक्ति को देखा ।"

यस्मात्सौख्यं च मोक्ष चध्यानादुभयमाप्नुयात् ।
तस्मात्सर्व परित्यज्य ध्यानयुक्तो भवैन्नरः ॥

—शिव पुराण

ध्यान से ही मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सुख दोनों को प्राप्त कर सकता है, इससे सब उपायों की अपेक्षा ध्यान को ही अंगीकार करना चाहिए ।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के उठे और सातवें खण्ड में ध्यानयोग की उपासना की सर्वोच्च कक्षा बताया गया है । महर्षि सनत्कुमार जिज्ञासु नारद से कहते हैं—

ध्यायतीव पृथ्वी । ध्यायतीवन्तरिक्षं ।
ध्यायतीव द्यौः । ध्यायन्तीवापो ।
ध्यायन्ती व पर्वता । ध्यायन्तीव देवाः ।
ध्यायन्तीव मनुष्याः ॥

अर्थात्—पृथ्वी ध्यानरत है । अन्तरिक्ष ध्यान मग्न है । द्युलोक ध्यान में निरत है । जब ध्यान में संलग्न है । पर्वत ध्यान करते हैं । देवता ध्यान में तन्मय हैं और मनुष्य भी ध्यान करते रहते हैं ।

ध्यान योग की सहायता से अदृश्य का दर्शन होता है । आत्म सत्ता एवं ब्रह्म सत्ता के गूढ़ रहस्यों को देख सकना ध्यान धारणा से उत्पन्न दृष्टि के लिए ही सम्भव होता है ।

व्यक्ति स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में विभक्त है । स्थूल भाग वह है जिसमें शरीर और मन आते हैं । इन्द्रिय समूह इसी के अन्तर्गत हैं । मन भी ग्यारहवीं इन्द्रिय है । मस्तिष्क स्पष्टतः शरीर का ही भाग है । इस क्षेत्र की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को भौतिक कहा जाता है । इनकी पूर्ति औचित्य की सीमा तक आवश्यक भी है । निर्वाह के लिए हर किसी को इस व्यवस्था में भागीदार रहना पड़ता है ।

व्यक्ति का दूसरा भाग आन्तरिक एवं आत्मिक है । आत्मा सत् चित् आनन्द है । ईश्वर का अंश होने के कारण उसकी प्रकृति मूलतः उच्चस्तरीय है । उसमें दैवी गुणों का समावेश है । उत्कृष्ट आकांक्षाएँ एवं आस्थाएँ अन्तःकरण में जिस मात्रा में विद्यमान रहती हैं; समझना चाहिए कि ईश्वरीय तेजस् यहाँ उतनी ही मात्रा में अवतरित हो रहा है । यह आत्मिक पवित्रता जब स्वच्छ दर्पण सदृश बन जाती है तो उसी में आत्म साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन का पुण्य प्रतिफल प्राप्त होता है ।

जीव का एक मात्र लक्ष्य अपूर्णता एवं विकृतियों के भवबन्धनों से मुक्त होकर ईश्वर प्राप्ति के चरम सुख को प्राप्त करना है । पशु-प्रवृतियों से छुटकारा पाने का नाम ही मुक्ति अथवा मोक्ष है स्वर्ग उस परिष्कृत दृष्टिकोण का नाम है जिसमें संकीर्ण स्वार्थपरता के व्यक्तिवादी नरक का कहीं दर्शन नहीं होता और पवित्रता एवं परमार्थ परायणता अपनाने वाले को मिलने वाला अनवरत सन्तोष तथा उल्लास मिलता रहता है ।

मनुष्य में जहाँ असंख्यों विशेषताएँ हैं वहाँ यह एक दुर्बलता भी है कि वह जैसे वातावरण में रहता है उसी के अनुरूप ढलने लगता है । ऐसे मनस्वी बहुत कम होते हैं जो अपनी प्रचण्ड प्रतिभा से वातावरण को बदल देने में समर्थ होते हैं । वातावरण से स्वयं प्रभावित नहीं होते । सामान्य जन-प्रक्रिया यही है कि व्यक्तित्व दुर्बल सिद्ध होता है और वातावरण उसे अपने रंग में रंगता और ढाँचे में ढालता चला जाता है । बच्चे पहले सुनते हैं फिर उन शब्दों का अर्थ समझने एवं बोलने में सफल होते जाते हैं । भाषा जो अभिभावक बोलते हैं उसी को बच्चा सीख जाता है । धर्म और संस्कृति के बारे में भी यही बात है । जिस वातावरण में पैदा होते हैं वही परम्पराएँ अन्तःकरण में जड़ें जमा लेती हैं और स्वभाव का अंग बन जाती हैं । संसार में विभिन्न प्रकार के विश्वासों का प्रचलित होना और लोगों का उन पर कट्टर बने रहना यही सिद्ध करता है कि मनुष्य पर वातावरण का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है ? अनुपयुक्त समझी जाने वाली बातों को

अपनाये रहते हैं, और अभ्यस्त बने रहते हैं । इसका कारण औचित्य अपनाने की तुलना में वातावरण के प्रभाव की ही गरिमा सिद्ध होती है ।

जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए उत्कृष्ट, चिन्तन एवं परिष्कृत कर्तव्य अपनाकर व्यक्तित्व को सुसंस्कृत बनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए पूजा, उपासना, जप, तप, आदि के विधि-विधान बनाये गए हैं । आत्म-निर्माण ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र उपाय है । परिष्कृत आत्मा ही परमात्मा बन कर सामने आ खड़ा होता है । भगवान को लुभाने-फुसलाने की सारी तिकड़में निरर्थक सिद्ध होती हैं । आत्म-शोधन ही ईश्वर प्राप्ति की महान उपलब्धि का प्रतिफल उत्पन्न करता है ।

इसके लिए क्या किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में जीवन साधना की योजना बना कर अपने इर्द-गिर्द ऐसा दिव्य वातावरण बनाना है जिसके सम्पर्क में जीवात्मा को दिव्य अनुभूति का रस मिलने लगे । होता यह है कि संसार की अवांछनीय गतिविधियाँ ही अपने चारों ओर बिखरी दीखती हैं । जन-समूह, वासना, विलासिता, तृष्णा, अहंता को जीवन में सर्वोपरि स्थान देता है । इन्हीं प्रयोजनों के लिए दौड़ धूप करता है । साहित्य और परमर्श भी आमतौर से इसी दिशा में प्रोत्साहन देने वाले मिलते हैं । स्वजनों और मित्रों का परामर्श भी यही उद्देश्य लिए होता है कि लोभ, मोह में अधिकाधिक गहराई तक ग्रसित रहा जाय । संग्रह और उपभोग जो जितना कर सकता है दुनिया वालों की दृष्टि में वह उतना ही सफल और सुखी है । प्राचीन काल में लोक मान्यता ऐसी न थी, प्रचलन भी ऊँचे थे और परम्पराओं में भी आदर्शवादिता का समावेश था; पर अब तो उपयोग और अहंता की तृप्ति के अतिरिक्त कुछ सूझता ही नहीं । आदर्शवाद की डींगें जहाँ-तहाँ हाँकी जाती हैं पर वहाँ भी ढोल में पोल ही भरी रहती है । जिधर भी दृष्टि पसार कर देखते हैं; पतन और प्रलोभनों का ही घटा-टोप छाया दीखता है ।

वातावरण की इस विषाक्तता का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है और वह अनजाने ही इस प्रवाह में सम्मोहित की तरह बिना आगा-पीछा सोचे बहने लगता है । यही क्रम चलता रहे तो अन्तःपतन के गहरे गर्त में गिर पड़ने के रूप में ही हो सकता है । हिमालय के धवल शिखरों से नीचे उतर कर बहने वाली नदियाँ क्रमशः गँदली होती जाती हैं और अन्ततः समुद्र में गिर कर खारी अपेय बन जाती है । पतन का यही क्रम है । उसमें क्रमशः तीव्रता आती है । वही ढर्रा अभ्यास का अंग बन कर मन भावन बन जाता है । न उसमें परिवर्तन करने की इच्छा होती है और न आत्मोत्कर्ष का द्वार खुल पाता है ।

पतन-क्रम को उत्कर्ष में किस प्रकार परिणत किया जाय ? इस प्रश्न का सुनिश्चित उत्तर एक ही हो सकता है कि वातावरण बदला जाय । हम अपने लिए ऐसी परिस्थितियाँ विनिर्मित करें जो ऊँचा उठाने का आधार बन सकें और उत्कर्षों में सहायक सिद्ध हो सके । कहा जा चुका है कि ऐसा दिव्य लोक, कहीं है नहीं, उसे अपने अनुरूप स्वयं ही विनिर्मित करना होता है । यदि इस प्रयास में सफलता मिल सके तो समझना चाहिए कि लक्ष्य प्राप्ति का पथ-प्रशस्त हो गया । जब तक ऐसी स्थिति न आवे तब तक समझना चाहिए कि ओस चाटने और मृग तृष्णा में भटकने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ने वाला है । किसी के अनुग्रह से यह कार्य जादू की छड़ी घुमाने जैसी क्रिया-प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता । अपने लिए दिव्य लोक का परिष्कृत वातावरण का सृजन तो अपने हाथों स्वयं ही करना पड़ता है । ब्रह्माजी ने भी अपनी सृष्टि अपने हाथों ही विनिर्मित की थी । हमें अपने उपयुक्त सृजनात्मक वातावरण से भरा-पूरा लोक स्वयं ही बनाना होगा ।

कहा जा चुका है कि स्वाध्याय, सत्संग और मनन चिन्तन की चतुर्विधि साधन सामग्री से अपने मनःक्षेत्र को घेरे रहने वाला उपयोगी वातावरण बनता है । इसके अतिरिक्त आत्म-बलवर्धक व्यायामों में सर्व सुलभ एवं सर्वश्रेष्ठ उपाय है—ध्यान । ध्यान मग्न होकर हम अपना इष्ट आराध्य स्वयं विनिर्मित करते हैं और उसके साथ श्रद्धासिक्त घनिष्ठता स्थापित करकें तादात्म्य की दिशा में बढ़ते चले जाते हैं । ध्यान लोक वस्तुतः स्वनिर्मित ऐसा स्वर्गीय नन्दन वन है, जिसका सृजन, सम्वर्धन, परिपोषण हम स्वयं ही करते हैं । इसे परिपक्व बनाते हैं । पत्र, पल्लवों से सजाते हैं और फल-फूलों से लदे हुए परम मंगलमय उद्यान के रूप में विकसित कर लेते हैं । इसी में रमण करते समय आनन्द उल्लास

की अनुभूति करते हैं और अन्ततः उसी में लय होकर पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त करते हैं । ध्यान की परिभाषाएँ इस ऊबड़-खाबड़, बेढंगी-बेतुकी दुनिया को बहुत ऊँची, बहुत अच्छी, बहुत सुन्दर, बहुत सुसंस्कृत परिस्थितियों से भरी-पूरी एवं नई दुनिया बनाती है । इसमें अपना ही प्राण भरना पड़ता है और सुरम्य चित्र की तरह हर्षोल्लास से परिपूर्ण बनाना पड़ता है । ध्यानयोग यदि दिव्य तथ्यों और आदर्शों के अनुरूप सम्पन्न किया जा सके तो समझना चाहिए कि एक ऐसा दुर्ग बना लिया जिसमें बैठकर माया की दुष्ट अनुचरों से सहज ही बचा जा सकता है और अपनी आत्मिक विशिष्टता को सुरक्षित रखा जा सकता है ।

ध्यानयोग सामान्य जीवन में घर गृहस्थी का-आजीविका उद्योग का, सुविधा साधनों का एवं अन्यान्य विषयों का अन्तर ही रहता है । ध्यान के आधार पर ही हम वस्तुओं और व्यक्तियों की साज सँभाल रख पाते हैं । प्रगति की योजनाएँ बनाने से लेकर जीवन-यापन की गतिविधियाँ सम्भालने तक के सारे कार्य इसी आधार पर चलते हैं । किन्तु आध्यात्मिक प्रगति के लिए जो ध्यान किया जाता है उसकी स्थिति भिन्न है । उसके दो चरण हैं, पहला यह कि अपने आपको-संसारी प्रभाव के पृथक् होने ऊँचे उठाने की मनःस्थिति बनानी पड़ती है ताकि पशु-प्रवृत्तियों से कुछ समय स्वतन्त्र रहने का अवसर मिल सके । घेराबन्दी से निकल कर ही आत्म-चिन्तन, ब्रह्म वन्दन सम्भव हो सकता है । साधना उपचार में 'एकान्त' की चर्चा बहुत होती है•उसे आवश्यक माना जाता है । यहाँ एकान्त से मतलब किसी गुफा, कुटी आदि में अकेले रहने से नहीं वरन् संसारी प्रभावों से मुक्त होकर विशुद्ध अध्यात्म लोक में जा पहुँचना है ।

ध्यान का दूसरा चरण है दिव्यता का सामीप्य, सान्निध्य, ऐसी स्थिति जब गहन हो जाती है और चेतना उसमें रमण करने का रसास्वादन करने लगती है तो फिर समझना चाहिए कि जीवन मुक्ति की, समाधि की, भूमिका बन चली । उच्चस्तरीय तत्वों का दर्शन संसार में तो कभी-कभी ही दिखाई पड़ता है । उन्हें ध्यानावस्था में स्वयं ही विनिर्मित करना पड़ता है । स्वयं ही अपने इस निर्माण में रस लेना पड़ता है और फिर अन्ततः उसी में आत्मसात् होकर आत्मा द्वारा आत्मा को प्राप्त करने का-आत्मा से आत्मा का उद्धार करने का तत्व दर्शन व्यवहार में उतारना पड़ता है । ध्यान की यही उभय-पक्षीय पृष्ठभूमि है । इस आधार पर आत्म निर्माण का पुण्य प्रयोजन पूरा करने में अत्यधिक सहायता मिलती है ।

स्वर्ग लोक ऊपर है और नरक नीचे । इस पौराणिक मान्यता का यथार्थवादी अर्थ यह है कि उत्कृष्ट चिन्तन के समय का तथा उसे व्यवहार में लाने की स्थिति का जो दिव्य आनन्द है उसका महत्त्व और मूल्य समझा जाय । निकृष्ट चिन्तन एवं घृणित कर्तव्य अधोगामी, दुष्प्रवृत्ति का परिणाम है नरक । उसमें द्वेष, क्रोध, असन्तोष, रोष आदि मानसिक विक्षोभ भरे पड़े हैं । साथ ही मानसिक विपन्नता से शारीरिक रोगों की सृष्टि होती है और व्यवहार में असन्तुलन आ जाने से हर कार्य में असफलता ही मिलती चली जाती है । यही नरक है ।

ध्यान को ऊर्ध्वलोक गमन कह सकते हैं । उसमें इष्ट आराध्य होता है उच्चस्तर का । राम, कृष्ण, गणेश, महेश, गायत्री, सरस्वती, सूर्य आदि भगवान का कोई भी रूप क्यों न हो ? उसे उपास्य ठहराकर भाव भरे दिव्य नेत्रों से पूजन अभिनन्दन किया जाता है । यह साकार ध्यान हुआ । निराकार ध्यान में प्रकाश पुंज का ध्यान किया जाता है । नादयोग की दिव्य ध्वनियाँ सुनी जाती हैं । शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की सहायता से अन्य प्रकार की दिव्य सम्वेदनाओं का ध्यान करते हैं । कई गुरु चरणों का भी स्मरण करते हैं । यह सब इसी प्रयोजन के लिए होता है कि दिव्य विभूतियों से सुसम्पन्न ईश्वरीय सत्ता के साथ दिव्य लोक में पहुँचकर सम्पर्क बनाया जाय और उसकी कृपा अनुकम्पा के रूप में उन विशेषताओं को अपने में अवतरित किया जाय ।

ध्यान के समय जो भावनाएँ, आकांक्षाएँ, आस्थाएँ रखी जाती हैं वे लौकिक नहीं-परलौकिक, आध्यात्मिक, उच्चस्तरीय होती हैं । यों संकीर्ण स्वार्थपरता से घिरे बाल बुद्धि व्यक्ति इस उपासना काल में भी तरह-तरह की भौतिक कामनाएँ करते रहते हैं और उनकी पूर्ति के लिए देवी-देवताओं के सामने गिड़गिड़ाते रहते हैं । ऐसी पूजा-पत्री में भी ध्यान प्रक्रिया का समावेश हो सकता है, पर तत्वतः उसे ध्यान योग की मौलिकता में सर्वथा दूर एवं भिन्न ही समझना चाहिए । अन्तःकरण को पशु-प्रवृत्तियों से छुड़ाना-मानव कहलाने योग्य बनाना और अन्ततः देवोपम स्थिति तक ऊँचा उठा ले जाना यह ध्यान भूमिका है । यही तीन लोक हैं । 'भू,

भुवः, स्वः,' इन्हीं को कहते हैं । पाताल, मनुष्य लोक और स्वर्ग लोक यही है ।

ध्यान धारणा के सहारे क्रमशः इसी आधार पर ऊँचा उठा जाता है । चक्रवेधन-ग्रन्थि वेधन, तृतीय नेत्रोन्मीलन, सोऽहम् साधना, खेचरी मुद्रा आदि अनेकों क्रिया-प्रक्रियाएँ ध्यान योग की ही शाखा उपशाखाएँ हैं । इनकी अनेकानेक सिद्धियाँ बताई गई हैं । वह वर्णन सत्य भी है और तथ्य पूर्ण भी । किन्तु स्मरण रखने योग्य बात एक ही है कि सच्ची साधना का प्रत्यक्ष फल व्यक्तित्व के परिष्कार रूप में होता है । कषाय कल्मषों की भव बन्धनों की निवृत्ति जिस अनुपात से होती है उतनी ही अन्तःक्षेत्र की खदान में छिपी हुई रत्नराशि करतलगत होती जाती है । जन-साधारण में यह भ्रम है कि साधना की विलक्षणता से जादुई सिद्धि मिलती है । इसमें से एक मध्यवर्ती आधार बिन्दु भुला या हटा दिया जाता है कि सच्ची साधना का प्रतिफल अतिमानव स्तर का उपलब्ध होता है । साधक-महानात्मा और देवात्मा बनता है और अन्ततः परमात्मा की भूमिका तक जा पहुँचता है यही आत्मोत्कर्ष का सुनिश्चित पथ है । ऐसा कभी हुआ ही नहीं व्यक्ति गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से तो हेय स्तर का बना रहे पर पूजा-पाठ की किन्हीं क्रिया-प्रक्रियाओं को अपनाकर अपने में दिव्य विभूतियाँ एवं चमत्कारी सिद्धियाँ उत्पन्न कर ले । बीज बोने से पौधा, पौधे को विकसित होने पर फल। यह सनातन नियम है । बीज से सीधे फल निकलते कहीं नहीं देखे जाते । साधना बीज है । परिष्कृत व्यक्तित्व उसका पौधा । इसी के परिपुष्ट होने पर आत्मोत्कर्ष की वे उपलब्धियाँ मिलती हैं, जिनके आधार पर जीवन सच्चे अर्थों में धन्य बनता है ।

ध्यान के सहारे जीवन के चरम लक्ष्य की प्रतिष्ठापना की जाती है, उसे मान्यता दी जाती है और उसी में भक्ति भाव के साथ तन्मय-समर्पित हो जाने की तैयारी की जाती है । राम-भरत का मिलन, दीपक पर पतंगे का समर्पण-यज्ञ कुण्ड में घृत वसोधारा, सूर्य के सम्मुख जल अर्घ्य ध्यान करते हुए दिव्य सत्ता के साथ तादात्म्य होने की-सर्वतोमुखी आत्म समर्पण की मनःस्थिति बनाई जाती है । यह सारा सरंजाम इसलिए है कि अन्तःचेतना की भव-बन्धनों की जकड़न ढीली करने और दिव्य वातावरण के साथ अपना सम्पर्क बनाने का अवसर मिले । जितना रस, वासना और तृष्णा की पूर्ति में आता है उतना ही यदि उत्कृष्टता और आदर्शवादिता में आने लगे तो समझना चाहिए साधना का उद्देश्य पूरा होने लगा । भारी चीजों को उठा कर ऊपर पहुँचाने का कार्य 'क्रेन' करती है । पशु प्रवृतियों की जकड़न से—लोभ, मोह की विषमता से—ऊँचा उठ सकना माया ग्रस्त प्राणी के लिए अति कठिन है । इस कठिनाई को, समानान्तर सन्तुलन बनाने से ही हल किया जा सकता है । ध्यान लोक का सृजन इसी उद्देश्य के लिए किया जाता है कि वह दृश्य जगत में निरन्तर उठने वाली विकृतियों के दुष्प्रभाव से टक्कर ले सके । पतनोन्मुख रीति-नीति अपनाये रहने से स्वभाव उसी ढाँचे में ढल जाता है, आदतें वैसी ही बन जाती हैं, आकांक्षाएँ वैसी ही उठती हैं और क्रिया ही अभ्यस्त ढर्रे पर लुढ़कती रहती हैं । इस प्रवाह को रोकने के लिए बाँध बनाने का कार्य ध्यानयोग से ही सम्भव होता है । अस्तु ध्यान की गरिमा अध्यात्म क्षेत्र में सदा बताई, गाई जाती रही है । उसे सही ढंग से तात्त्विक पृष्ठभूमि पर आरम्भ किया जा सके तो समझना चाहिए जीवन को सच्चे अर्थों में सार्थक बनाने वाला एक अति महत्त्वपूर्ण आधार करतलगत हो गया ।

ध्यान : भारतीय दर्शन का गम्भीरतम विज्ञान

शिकागो के जोहान्स और टेड सीरियस—कोई भारतीय योगी नहीं है, ध्यान विज्ञान पर उनका कोई अध्ययन, कोई शोध भी नहीं है । किन्तु कितना आश्चर्य है कि टेड सीरियस अपने सामने कैमरा रखते हैं, मन में किसी वस्तु का सम्पूर्ण एकाग्रता से ध्यान करते हैं और जोहान्स ने कैमरे का शटर दबाया कि लेन्स के सामने टेड के बैठे होने पर भी चित्र टेड का न आकर उसकी मानसिक कल्पना का आ जाता है । उदाहरण के लिए टेड यदि किसी घोड़े का ध्यान कर रहा होगा तो कैमरे में फोटो घोड़े का ही होगा जबकि ताल (लेन्स) के सामने बैठा होगा टेड सीरियस ।

इसे न तो हिप्नोटिज्म कहा जा सकता है न ट्रिक । यह भारतीय दर्शन और उपासना पद्धति में प्रयुक्त एक गम्भीर ध्यान विज्ञान है, जिसके आधार पर कभी भारतीय न केवल दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूसरों के मन की बात जान लेना, ईशत्व, वशित्व आदि

सिद्धियाँ प्राप्त किया करते थे और अपनी लघुत्तम चेतना को सृष्टि की किसी भी प्रचण्ड प्रक्रिया के साथ संयोग करके कुछ भी विलक्षण परिणाम उपस्थित कर सकने में समर्थ होते थे । विराट् ईश्वरीय चेतना में घुलाकर अपने को मोक्ष, परमानन्द और भगवान बना देने का महानतम लाभ भी इस विज्ञान द्वारा ही प्राप्त करते थे ।

भारतीय ध्यान पद्धति के प्रति जो उपेक्षा आज शिक्षित भारतीयों में देखने को आती है, वैसी ही उपेक्षा प्रारम्भ में इस टेड सीरियस के साथ भी की गई । उसे भ्रामक और हिप्नोटिज्म करने वाला कहा जाता रहा, पर जब सन् १९६२ में टेड सीरियस ने अनेक वैज्ञानिकों, फोटोग्राफरों, बुद्धिजीवियों तथा 'इलिनाएस सोसायटी फार साइकिक रिसर्च' (यह संस्थान अमेरिका में मनोविज्ञान तथा अति मानवीय चेतना सम्बन्धी शोध कार्य करती है) की उपाध्यक्षा श्रीमती पालिन ओहलर की उपस्थिति में कई प्रतिबन्धों, फिल्मों पर नियन्त्रण दूसरे-दूसरे के कैमरों के प्रयोग द्वारा भी टेड सीरियस तथा जोहान्स ने कल्पना के चित्र उतार कर दे दिए तब एक साथ सारे यूरोप में तहलका मच गया और वैज्ञानिकों को आश्चर्य हुआ कि दूरवर्ती वस्तुओं के फोटो लेना केवल माइक्रो-फिल्म द्वारा ही सम्भव है और वह भी तब जबकि उस तरह का दृश्य किसी निश्चित फ्रीक्वेन्सी पर निश्चित माइक्रो-ट्रांसमीटर द्वारा शक्तिशाली विद्युत-तरंगों द्वारा प्रेक्षित किया गया हो । बिना किसी यन्त्र और माइक्रो-तरंगों (शब्द की तरह आकार को भी शक्ति तरंगों में बदल कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजते हैं, टेलीविजन उन्हें ही पकड़ते हैं, माइक्रो-तरंगें कहते हैं) के केवल मस्तिष्क द्वारा किसी भी स्थान का कैमरे में चित्र उतार देना एक बड़ा भारी आश्चर्य था, जिसने सारे दर्शकों को कौतूहल में डाल दिया, उसका कोई सिद्धान्त वे लोग निश्चित नहीं कर पाये ।

१९६२ में ही टेड सीरियस को भारतवर्ष का नक्शा देखने को मिला था । नक्शे से भौगोलिक सीमाओं का अनुमान किया जा सकता है । किस स्थान पर क्या हो रहा है, कैसे लोग रहते हैं, कौन-सी इमारत खड़ी है, कितने वृक्ष, बगीचे, तालाब आदि हैं—इन सबकी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं हो सकती । उस समय अन्य देशों के समान टेड सीरियस से भारत के भी कुछ प्रसिद्ध स्थानों के कल्पना-चित्र उतारने को कहा गया । टेड सीरियस ने फतेहपुर सीकरी की मस्जिद के मुख्य द्वार और दिल्ली के लाल किले के दीवाने आम के दो चित्र खींचे । बाद में अध्ययन करके यह पाया गया कि वे कल्पना-चित्र फतेहपुर सीकरी की मस्जिद के मुख्य द्वार और लाल किले के दीवाने आम की बिल्कुल हम-शक्ल थे । नवम्बर १९६८ की मासिक "कादम्बिनी" में टेड सीरियस के उन चित्रों को सही चित्रों से तुलनात्मक सामुख्य कराया गया है । उसे देखकर कोई भी आश्चर्य किए बिना न रहेगा कि अमेरिका में बैठे किसी व्यक्ति ने हिन्दुस्तान के ऐसे स्थान के हूबहू फोटो कैसे खींच दिए जबकि इस तरह के किन्हीं स्थानों का उसे कोई पूर्व परिचय भी नहीं था ।

योग तत्ववेत्ता भारतीयों की दृष्टि में कोई बड़ा चमत्कार नहीं । ध्यान के परिपाक की प्रारम्भिक अवस्था मात्र है । महर्षि पातंजलि कृत योगदर्शन में लिखा है—

"तम प्रत्ययैकतानता ध्यानम्"

—पाद ३/ सूत्र २

अर्थात् जिस प्रकार कोई नदी जब समुद्र में मिलती है तो कुछ दूर उसका प्रवाह अलग-सा प्रतीत होता है किन्तु थोड़ी ही देर में नदी का अस्तित्व समुद्र में इस तरह विलीन हो जाता है कि उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का कुछ भान ही नहीं होता । उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति, वस्तु या देश का ध्यान करता है तो ध्येय के अवलम्ब के ज्ञान में ध्यान करने वाले के चित्त का लय हो जाता है अर्थात् दोनों की अनुभूतियाँ एक हो जाती हैं ।

ऐसी स्थिति में पृथक् होते हुए भी एकत्व का ज्ञान ही उन सब सिद्धियों का कारण है जो ध्यानयोग से प्राप्त होती हैं । एक की मानसिक चेतना प्रवाहित होकर दूसरे का मानसिक चेतना में विलय कर देने का नाम ध्यान है और सिद्धियाँ उसकी अनेक विधाएँ हैं । यह विलय की पद्धति जितनी अधिक एकाग्र होगी, तन्मयता उतनी बढ़ेगी, सादृश्यता का ज्ञान उतना ही स्पष्ट होता चला जायेगा ।

ध्यान दो वस्तुओं की एकता का प्रतीक है । इस स्थिति में कोई भी बुद्धिवादी व्यक्ति प्रश्न कर सकता है कि मेल सदैव एक-सी वस्तुओं में ही हो सकता है—जल का जल से मेल हो सकता है, जल और दूध एक रूप नहीं हो सकते । ऑक्सीजन गैस, ऑक्सीजन गैस से मिला देने पर ही ऑक्सीजन बनी रह सकती है । कार्बन से संयोग हो जायेगा तो अविलम्ब एक

नये तत्व की रचना हो जायेगी । फिर न ऑक्सीजन रहेगी न कार्बन वरन् कार्बन डाई-ऑक्साइड की रचना हो जायेगी ।

भारतीय योगी इस बात को अच्छी तरह जानते थे । भगवान राम को महर्षि वशिष्ठ सावित्री का ध्यान सिखा रहे थे, तब यह प्रश्न उन्होंने भी वशिष्ठ से किया था—

न सम्भवति सम्बन्धो विषमाणां निरन्तरः ।
न परस्पर सम्बन्धाद्विनानुभवनं मिथः ॥

—योग वशिष्ठ ३/१२१/३७

अर्थात् असमान वस्तुओं में कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसी प्रकार जब तक उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता तब तक भी उस वस्तु से सम्बन्ध नहीं हो सकता ?

इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री उपासक यदि सविता भगवान या सूर्यलोक का मानसिक ध्यान करता है तो एकता सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता ?

इस पर वस्तुस्थिति का निराकरण करते हुए महर्षि वशिष्ठ ने जो कुछ कहा वह आज के विज्ञान के विद्यार्थी की जानकारी से शत-प्रतिशत मेल खा जाता है, उन्होंने कहा—राम यह ठीक है कि—

'सज्जातीयः सज्जातीये नैकतामनुगच्छति'

अर्थात् सजातीय पदार्थ ही एकता को प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु राम—

यदा चिन्मात्रमेवेयं दृष्टिदर्शन दृश्यदृक् ।
तदानुभवनं तत्र सर्वस्य फलितं स्थितम् ॥

—योग वशिष्ठ ६/२/३८/८

सर्व जगद्गते दृश्यं बोधमात्र मिदं ततम् ।
स्पन्द मात्रं यथा वायुर्जलमात्रं यथार्ण, व ॥

—योग वशिष्ठ ६/२/२५/१७

अर्थात्—दृष्टा को वस्तुएँ इसलिए दिखाई देती हैं कि दृष्टा, दर्शन और दृष्टि सभी चेतन हैं । विश्व के सभी पदार्थों में यह चेतना ही बोध या अनुभव रूप में विद्यमान हैं । बोध ही सब ओर फैला हुआ है जैसे कि हवा के झोंके भी हवा और समुद्र जल ही जल है, उसी तरह सृष्टि के कण-कण में चेतना ही खेल रही है ।

इसलिए आत्म-चेतना का किसी भी दृश्य पदार्थ से जोड़कर एकाकार हो जाना और उस वस्तु की प्रकृति की जानकारी प्राप्त कर लेना कोई दुःसाध्य प्रक्रिया नहीं है ।

देखने में तो हमारा शरीर भी जड़ प्रतिभासित होता है, किन्तु उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार शरीर की जड़ता में भी चेतना व्याप्त है और वही मानसिक चेष्टाओं के, अनुभव एवं बोध के रूप में अभिव्यक्त होती है । यदि १८३८ व ३६ में जर्मनी के प्रसिद्ध वनस्पति शास्त्री एम. जे. श्लाइडेन और प्राणविद् थियोडोरश्वान कोशिका सिद्धान्त के निरूपण द्वारा इस बात को सिद्ध नहीं कर देते तो भारतीय तत्व दर्शन सचमुच उपेक्षित ही पड़ा रहा होता । शरीर देखने में जड़ लगता है । वह जिन कोशिकाओं (सेल्स से बना है, वे हैं भी रासायनिक प्रणाली ही के । किन्तु उनके भीतर की रासायनिक हलचल समाप्त हो जाती है तो वे मर जाती हैं अर्थात् रासायनिक स्वरूप होने पर भी चेतना प्रणाली एक भिन्न सत्ता है और वह भिन्न सत्ता, वह प्रणाली, सृष्टि के प्रत्येक कण में विद्यमान है । ध्यान के द्वारा उस सूक्ष्म चेतना के साथ ही सम्बन्ध जोड़कर तादात्म्य का लाभ लेते हैं ।

कौन-सा ध्यान अच्छा है, कौन अनुपयोगी और हानिकारक है, यह प्रत्येक वस्तु की प्रकृति पर निर्भर है और अन्यत्र विचार की वस्तु भी, किन्तु ध्याम विज्ञान का एक गूढ़तम सिद्धान्त है जिसके द्वारा न केवल चेतन और कोमल वस्तुओं का वरन् कठोर-से-कठोर वस्तुओं का भी भेदन करके वहाँ की स्थिति का पता लगाया जा सकता है । कई भारतीय योगियों द्वारा पृथ्वी के अन्दर जल-स्रोतों का पता देने के वर्णन अखण्ड-ज्योति में छप चुके हैं । गड़ा हुआ धन, भूतों से सम्बन्ध स्थापित करना देव-शक्तियों से तादात्म्य स्थापित कर दिव्य एवं चमत्कारिक शक्तियों का अर्जन सब ध्यान की परिपक्वता के ही परिणाम हैं । टेड सीरियस ने भी गुप्त खजानों की खोज के लिए यह अभ्यास प्रारम्भ किया था । यह एक अलग बात रही कि सम्यक् मार्ग-दर्शन प्राप्त न होने के कारण उसकी यह विलक्षण प्रतिभा भी कोई उपयोगी लाभ नहीं दे सकी, जबकि भारतीय तत्ववेत्ता ध्यान-सिद्धि के द्वारा अपना, हजारों औरों का भी भला करते हुए मोक्ष और परमानन्द के अधिकारी होते हैं ।

⌘⌘⌘

|| ध्यान साधना की वैज्ञानिक विवेचना ||

ध्यान द्वारा आत्मोत्कर्ष की साधना

ध्यानयोग की महत्ता अध्यात्म क्षेत्र में अति महत्त्वपूर्ण मानी गई है । मनोयोगपूर्वक उत्सुकता के साथ जिसका भी चिन्तन किया जाता है, उसे ध्यान कहते हैं । ध्यान की विशेषता यह है कि मनोवृत्तियाँ उसी ढाँचे में ढल जाती हैं । उसे प्राप्त करने के लिए भावनाएँ काम करती हैं और प्राप्ति के लिए प्रयास चल पड़ते हैं ।

भगवान के ध्यान का भी यही उद्देश्य है कि उनमें मन लगा रहे तो उत्कण्ठा, उत्सुकता उस दिशा में बढ़े और लगे । जो जिस प्रयोजन में तत्पर एवं तन्मय होता है, उसका अन्तराल उसी ढाँचे में ढलने लगता है । जो जैसा सोचेगा वह वैसा करेगा और जो जैसा करेगा वह उसी ढाँचे में ढलेगा । भगवान के ध्यान में भी यही सिद्धान्त लागू होता है । ध्यान मानवी प्रयास है जो अपनी अन्तःप्रवृत्तियों को भगवान के तद्रूप बना देता है ।

बरसात के दिनों में हरियाली पर बैठने वाले टिड्डे हरे रंग के होते हैं, पर ग्रीष्म ऋतु में जब घास सूखकर पीली पड़ जाती है तब उस पर बैठने वाले वही टिड्डे हरियाली जैसे रंग के न रहकर काया को पीलेपन में बदल लेते हैं ।

मृग के बारे में कहा जाता है कि वह झींगुर को पकड़ ले जाता है । वह उसी का गुंजन सुनता और उसी का रूप देखता है । फलस्वरूप थोड़े दिनों में उसकी आकृति और प्रकृति तद्रूप बन जाती है । वह कहानी प्रसिद्ध है जिसमें एक सिंह का बच्चा भेड़ों में पलने लगा । उसे सब भेड़ें ही दीखती थीं इसलिए वह अपने आपको भी उस बिरादरी का समझने लगा और उसी प्रकार के रहन-सहन में ढल गया । जब एक सिंह ने उसे उसकी परछाईं पानी में दिखाई और अपने समतुल्य होने की बात समझाई तो उसका मन बदल गया और भेड़ों के झुण्ड से हटकर शेरों के समुदाय में जा मिला ।

बच्चे सभी एक जैसे होते हैं पर उन्हें जिस वातावरण में पलने का अवसर मिलता वे उसी प्रकार की भाषा बोलने लगते हैं और वैसी ही आदतों के अभ्यस्त हो जाते हैं । कसाइयों के बच्चे आरम्भ से ही काट-फाँस करने लगते हैं और पण्डित विद्वानों के बालक छोटेपन से ही पूजा-पाठ के उपचारों के खेल खेलने लगते हैं । स्वाध्याय और सत्संग की महत्ता इसीलिए बताई गई है कि उस आधार पर व्यक्ति के मस्तिष्क में कल्पना चित्र बनने लगते हैं और प्रवृत्तियों का प्रवाह उसी दिशाधारा में बहने लगता है । ध्यान एक प्रकार का स्वनिर्मित सत्संग है । जिस प्रकृति के लोगों के साथ रहते हुए मनोभूमि बनती है । उसी प्रकार जिस स्तर का इष्ट निर्धारित किया जाय और उसके साथ अपनी अभिरुचि एवं सम्भावना का ताना-बाना बुना जाय तो प्रायः उसी स्तर का चिन्तन और चरित्र बनने लगता है । इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए पूजा उपासना में ध्यान को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है । मात्र कर्मकाण्डों को उपेक्षापूर्वक करते रहा जाय तो उसे निरर्थक चिन्ह पूजा माना जाता है ।

गीता में श्रद्धा की महत्ता का वर्णन करते हुए कहा है—

सत्वानिरुपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारतः ।
श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्द्धः स एव सः ॥

—*गीता १७/२*

अर्थात्—मान्यता के अनुरूप लोगों की श्रद्धा ढलती है और जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही बन जाता है ।

और भी—

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्त्येय सदा तद्भाव भावतिः ॥

—*गीता ८/६*

अर्थात्—मनुष्य जिस-जिस भावना का स्मरण करते हुए शरीर त्यागता है वह उसी भाव के अनुरूप गति पाता है ।

डॉक्टर हेनरी लिडन हर ने अपनी पुस्तक 'प्रैक्टिस ऑफ नेचुरल थेरो प्यूटिक्स' में मनुष्य के विचारों का उसके स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । वे कहते हैं कि महान व्यक्ति अथवा महान गुणों के साथ एकात्मता स्थापित करने से मनुष्य की अनेकों शारीरिक एवं मानसिक व्यथाएँ दूर हो जाती हैं । शरीर पर मन का असाधारण प्रभाव है ।

मनोविज्ञान वेत्ता डॉ. उपटन सिंकलेयर ने अपने ग्रन्थ 'मेन्टल रेडियो' में लिखा है । यदि मनुष्य के मस्तिष्क में उच्चकोटि के विचार विद्यमान रहें तो वह उनका प्रसारण करता रह सकता है और अनेकों के मस्तिष्क को अपने जैसा बना सकता है । साथ ही एक बात और भी है कि संसार में जो श्रेष्ठ विचार कहीं भी किसी के पास भी विद्यमान हैं उन्हें वह अपने लिए आकर्षित करके भण्डार कर सकता है ।

डॉक्टर मुकर्जी की पुस्तक 'सिकनेस ऑफ सिवलाइजेशन' में लिखा है—सभ्यता पर जो संकट आया हुआ है । उसी को हम चारित्रिक पतन के रूप में देखते हैं । वह सब विचारों के स्तर में गिरावट आ जाने के कारण है । सुख-शान्ति का जमाना हो तो भी उसका श्रेय आदर्शवादी विचारों के बाहुल्य को जायेगा और यदि संसार में संकट एवं विग्रहों की भरमार होती है तो भी उसका कारण जन-मानस के विचारों का स्तर पतनोन्मुख होने के कारण और कुछ नहीं हो सकता ।

डॉक्टर चार्ल्स जुंग ने फ्रायड के विचारों को काटते हुए कहा है—मनुष्य में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता बाहर से थोपी हुई नहीं है । यह उसका मौलिक गुण है । जब तक वह अपने इस गुण को सावधानी से अपनाये रहता है तब तक स्वयं भी सुखी रहता है और अपने समाज को भी सुखी बनाता है । यह उसके अपने हाथ की बात है कि अपने को गिराये या उठाये । साथ ही अपने समय को शान्तिपूर्ण रखे अथवा विग्रह से भर दे ।

आधुनिक मनोविज्ञान के जन्मदाता फ्राइड ने मनुष्य के पास सबसे बड़ी सम्पदा एवं शक्ति विचारणा को कहा है और साथ ही अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इसी सामर्थ्य का सदुपयोग करते हुए लोग सफलता सम्पन्न एवं अपने साथियों की तुलना में कहीं अधिक सामर्थ्य सम्पन्न बने हैं । जिसके विचारों में बल है वह बड़ी कठिनाइयों का सामना कर सकता है और प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदल सकता है ।

डॉ. यूथेस ने अपनी पुस्तक 'साइकोलॉजी ऑफ रिलीजन' में ऐसे अनेकों उदाहरण दिए हैं जिनसे प्रकट होता है कि मनुष्य की विचारणा जिस भी प्रयोजन में तादात्म्य हो जाती है । उसके मानसिक संस्थान तथा अवयव तद्नुरूप कार्य करने लगते हैं ।

ध्यान आध्यात्मिक हो या लौकिक उनमें जिस प्रकार का प्रवाह होगा वे व्यक्तित्व को तद्नुरूप ढालेंगे । यह नहीं हो सकता कि हेय विचारों को मन में ठूँसे रहें और समुन्नत स्तर का बन सकें । विचारों का अपना स्वतन्त्र चुम्बकत्व है वह सहायक और साधनों को अपने अनुरूप वातावरण में से घसीट लाता है । इस विश्व ब्रह्माण्ड में सब कुछ विद्यमान है । चुनाव करना मनुष्य का काम है कि वह किधर चलना और किस ढाँचे में ढलना चाहता है । इस चुम्बकत्व को जिस भी प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जायेगा उसी में सफलता मिलेगी ।

वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार अपनी आकांक्षा और तादात्म्यता के अनुरूप अविज्ञात और आश्चर्यजनक वस्तुओं को ढूँढ़ निकालते हैं । इसमें उन्हें कोई अलौकिकता कहीं से हस्तगत नहीं हुई होती । मात्र अभीष्ट के प्रति तन्मयता और उपलब्धि की उत्कट आकांक्षा ही काम कर रही होती है । इसी सहारे सामान्य मनुष्यों ने सामान्य परिस्थितियों और सामान्य साधनों में ऐसा कुछ ढूँढ़ निकाला है जिसे लोग जादू और चमत्कार से बढ़कर मानते हैं ।

किस स्तर के विचारों में मनुष्य अपने को तन्मय करे और ध्यान लगाये यह उसकी इच्छा पर निर्भर है । अपना मन न हो तो दूसरों का सिखावन या दबाव कुछ अधिक कारगर सिद्ध नहीं होता है ।

जो अपने लिए इष्ट हो उसका ढाँचा या स्वरूप खड़ा करना चाहिए और अवकाश के समय में उन्हीं को कार्यान्वित करने की योजना बनाने में संलग्न करना चाहिए ।

भगवान का ध्यान भी इसी सिद्धान्त के आधार पर अपना सत्परिणाम प्रस्तुत करता है । भगवान को इतना अवकाश नहीं कि वे किसी की पूजा-उपासना या ध्यान धारणा का लेखा-जोखा रखे । यह मनुष्य का अपना इच्छित विषय है कि वह भगवान को किन्हीं गुणों का समुच्चय माने और किसी ऐसे रूप की कल्पना करे जिनमें अभीष्ट महानताएँ विद्यमान हों ।

भगवान निराकार है । आस्तिकजनों ने अपनी मान्यता के अनुरूप उनकी आकृतियाँ गढ़ी हैं । उनमें से कोई भी चुनी जा सकती है या और नई गढ़ी जा सकती है । यह प्रयोजन किसी महामानव को अपनी श्रद्धा और तन्मयता के आधार पर भी पूरा हो सकता है ।

किन्तु यदि भगवान को ऐसे गुणों वाला माना गया है जो अनुचित या अनैतिक माने जाते हैं तो उनकी भक्ति से लाभ नहीं हानि ही उपलब्ध होगी । कामुक, विलासी, स्त्रैण यदि भगवान की कल्पना की गई है तो उस ध्यान से अपने मन में भी वैसी ही हेय प्रवृत्तियाँ उठेंगी । किसी दो ऐसे देवता को आराध्य बनाया गया है जो जीवों का रक्त-माँस खाता-पीता है तो वे दुर्गुण उपास्य के स्वभाव तथा चरित्र में भी प्रवेश करेंगे । इसलिए अच्छा यह है कि भगवान को सद्गुणों का समुच्चय माना जाय और उसके साथ ऐसा इतिहास न जोड़ा जाय जिसमें अवांछनीयता की गन्ध आती हो । इस दृष्टि से प्रकाश पुंज का—उदीयमान सूर्य को सदाशयता के प्रतीक रूप में ध्यान करना श्रेष्ठ है । पवित्र नदी बादल जैसे निर्दोष एवं उपकारी तत्वों का भी ध्यान किया जा सकता है । ध्यान के लिए इस प्रकार के प्रतीकों का निर्धारण करना चाहिए और उनके साथ सत्प्रवृत्तियों का आरोपण करना चाहिए । ऐसे देवी-देवताओं को आराध्य नहीं बनाना चाहिए जिनकी जीवन-गाथा के साथ ऐसे हेय कृत्य जुड़े हुए हों जिन्हें मानव समाज में हेय या अनुचित माना जाता है । ऐसे ध्यान से वे दुर्गुण भी उपासक में बढ़ते हैं जिन्हें इष्टदेव की जीवनचर्या में सम्मिलित माना जाता है । इसकी अपेक्षा तो आदर्शवादी महान मानवों का ध्यान करना अच्छा है जिन्होंने अपने कृत्यों से जन-साधारण के लिए अनुकरणीय मार्ग-दर्शन किया हो । बुद्ध, गाँधी, ईसा, हनुमान, दधीचि, भागीरथ, हरिश्चन्द्र जैसों को उपास्य बनाया जाय और उनका ध्यान किया जाय तो उसका लाभ भी सन्देहास्पद भगवानों को प्रतीक बनाने की अपेक्षा कहीं अच्छा है ।

साधना विज्ञान में ध्यानयोग को प्रमुखता इसलिए दी गई है कि इससे बिखरी शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है । जिस तरह आतिशी-शीशे की सहायता से फैली हुई सूर्य किरणों को जब एक केन्द्र बिन्दु पर इकट्ठी कर देते हैं, तो वहाँ आग जलने लगती है । इसी तरह यदि मस्तिष्कीय ऊर्जा के बिखराव को एक दिशा विशेष में केन्द्रित करने की साधना कर ली जाय तो शक्ति के बिखराव को समेटकर एक प्रयोजन में लगाने से आशाजनक सफलता मिल सकती है । बिखरी हुई बारूद में आग लगाने से वह भक् से जल जायेगी पर उसे बन्दूक की नली द्वारा केन्द्रित करके एक दिशा विशेष में फेंका जाय तो उसका प्रहार असहनीय बन जाता है । मस्तिष्कीय ऊर्जा को केन्द्र-विशेष पर इकट्ठा करना और उसे दिशा-विशेष में लगा देना यही है ध्यान का प्रमुख उद्देश्य ।

सांसारिक सफलताएँ भी इस ध्यान धारणा के आधार पर मिलती हैं । मन लगाकर पढ़ने वाले छात्र अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होते हैं । कवि, लेखक, चित्रकार, कलाकार, वैज्ञानिक, वकील आदि बुद्धजीवी वर्ग के लोगों की प्रगति का आधार उनकी एकाग्र साधना ही होती है । शरीर से किए जाने वाले कामों की सुन्दरता और सफलता मात्र श्रम पर आधारित नहीं होती, उसमें भी मनोयोग की संलग्नता आवश्यक होती है । यह मनोयोग और कुछ नहीं ध्यान का केन्द्रीकरण ही है । कोई व्यापारी, अध्यापक, शिल्पी अथवा श्रमिक इस प्रयोग के बिना अपने काम में न तो कुशल हो सकता है और न सफल ।

आध्यात्मिक साधनाओं में ध्यान को इसलिए अग्रणी माना गया है कि ईश्वर प्राप्ति और आत्म-कल्याण जैसे महान प्रयोजनों के लिए भी तन्मयता एवं तत्परता की आवश्यकता पड़ती है । स्नेह, ममत्व और श्रद्धा, विश्वास के केन्द्रीकरण का नाम ही भक्ति-भावना है । मस्तिष्क को पूरी तरह समेटकर जीवन रहस्यों का विश्लेषण किया जाय तो वही ज्ञान प्रात होता है जो सद्ज्ञान एवं ऋतम्भरा प्रज्ञा का जागरण करने के लिए आवश्यक है । अपूर्णता को पूर्णता में परिणत करने के लिए—आत्मा को परमात्मा में जोड़ देने के लिए ही योग-साधना की जाती है । यह

प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब चिन्तन को प्रखर और केन्द्रीभूत बनाकर लक्ष्य प्राप्ति के लिए एकाग्रता पूर्वक प्रयुक्त किया जाय । ध्यान इसी प्रयोजन की पूर्ति करता है । इसलिए प्रायः सभी साधना मार्गों में ध्यान को प्रधानता दी गई है । उसके बिना आत्मिक प्रगति का पथ प्रशस्त होना कठिन है ।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के छठे और सातवें खण्ड में ध्यानयोग को उपासना की उच्च कक्षा बताया गया है । महर्षि सनत्कुमार जिज्ञासु नारद का समाधान करते हुए कहते हैं—

'बाग्वाव नाम्नी भूयसी ।'

अर्थात्—नामोच्चार से वाक् बढ़कर है ।

'मनो बाववाचोभूयो ।'

अर्थात्—वाक् से भी बढ़कर मन है ।

'सङ्कल्पों वाव मनसी भूयान् ।'

अर्थात्—मन से बढ़कर संकल्प है ।

'चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो ।'

अर्थात्—चित्त संकल्प से भी बढ़कर है ।

'ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ।'

अर्थात्—चित्त से भी बढ़कर ध्यान है ।

इस प्रतिपादन में इस तथ्य को इंगित किया गया है कि उपासना क्षेत्र में ध्यान साधना को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है ।

नाम जप, वाक् संयम, मनोनिग्रह, संकल्पोद्भव, चित्त निरोध, यह सब उपासना की क्रमिक भूमिकाएँ हैं और इन सबसे ऊपर ध्यान है । ध्यान की शक्ति और सामर्थ्य का और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए महर्षि सनत्कुमार जिज्ञासु नारद को फिर समझाते हैं ।

'ध्यायतीव पृथ्वी ।'

अर्थात्—पृथ्वी ध्यानरत है ।

'ध्यायतीवान्तरिक्षं ।'

अर्थात्—अन्तरिक्ष ध्यान मग्न है ।

'ध्यायतीव द्यौः ।'

अर्थात्—द्युलोक ध्यान में निरत है ।

'ध्यायन्तीवापो ।'

अर्थात्—जल ध्यान में संलग्न है ।

'ध्यायन्तीव पर्वता ।'

अर्थात्—पर्वत ध्यान करते हैं ।

'ध्यायन्तीव देवाः ।'

अर्थात्—देवता ध्यान करते हैं ।

'ध्यायन्तीव मनुष्याः ।'

अर्थात्—मनुष्य भी ध्यान में निरत हैं ।

ध्यान में सन्निहित एकाग्रता की शक्ति का ही इन प्रतिपादनों में उल्लेख है । बिखरे हुए विचार और अस्त-व्यस्त मनःस्तर कुछ भी कर सकने में समर्थ नहीं होते । बिखरा मन एक प्रकार से विक्षिप्तता का ही परिचायक है । दिशा-विहीन स्थिति और अव्यवस्थित क्रम अपनाकर तो जड़-चेतन किसी का काम नहीं चल सकता । व्यवस्था और एकाग्रता एक-दूसरे पर आश्रित है । शक्ति चाहे कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो, उसका चमत्कार एकाग्रता के केन्द्रीकरण में ही उत्पन्न होता है । इसलिए विज्ञ व्यक्ति अपने जीवन क्रम में एकाग्रता की ध्यान साधना पर समुचित ध्यान देते हैं । इसके विपरीत दुर्गति में गिरने वाले लोग अपनी वृत्तियों को निरर्थक और अनर्थ मूलक दुष्प्रवृत्तियों में बिखेरते और नष्ट करते रहते हैं । महर्षि सनत्कुमार आगे फिर कहते हैं—

येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिन स्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ।

अर्थात्—नीच प्रकृति के लोग कलहकारी, बकवादी, निन्दा, चुगली में अपने सामर्थ्य को बिखेरते हैं किन्तु जो विवेकवान हैं, वे ध्यान को अपनाते हैं और उसका लाभ उठाते हैं ।

यह सब समझाने के उपरान्त जिज्ञासु नारद को सनत्कुमार ने स्पष्ट शब्दों में एक ही उपासना का निर्देश करते हुए कहा—'ध्यानमुपास्थिति' अर्थात् तुम ध्यान की उपासना में लग जाओ ।

ध्यान के दो वर्ग हैं, एक आत्म-शोधन दूसरा प्रभु समर्पण । आत्म-शोधन में अपने आप को शरीर से, प्रवृत्तियों से ऊपर साक्षी दृष्टा माना जाता है । आत्म-निरीक्षण, आत्म-चिन्तन, आत्म-सुधार, आत्म-निर्माण और आत्म-विकास की योजनाबद्ध रीति-नीति का निर्धारण ध्यानयोग का एक महत्त्वपूर्ण विषय है । अपने को दोष, दुर्गुणों से रहित, पवित्र और उत्कृष्ट स्तर का मानने तथा उसके लिए प्रबल प्रयास करने

का प्रचण्ड संकल्प उभारना ध्यानयोग के अन्तर्गत ही आता है ।

ध्यानं निर्विषयं मनः ।

—सांख्य दर्शन

अर्थात्—मन का विषय विकारों से रहित होना ध्यान है।

रागोपहन्तिर्ध्यानम् ।

अर्थात्—रागो का निराकरण ही ध्यान है ।

ध्यान का दूसरा वर्ग है, प्रभुपरायणता । ईश्वर को आत्म समर्पण, जीव और ब्रह्म की सत्ता का सान्निध्य और एकीकरण । इसके लिए ब्रह्म का कई रूपों में चिन्तन करने और उसके साथ तादात्म्य होने की प्रक्रिया प्रचलित है । भगवान के किसी भी रूप का ध्यान करते हुए उसको अपनी सघन आत्मीयता का आरोपण साकार ध्यान साधना कहा जाता है ।

उपनिषद् ने ध्यान को साक्षात ब्रह्म ही माना है और कहा है—इष्ट की तादत्स्यता, आत्मा की पवित्रता और सक्षमता को विकसित करते हुए उसे ब्रह्म-स्तर तक ही पहुँचा देती है ।

सयोध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथा कामाचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति ।

—छान्दोग्योपनिषद् ७/६/२

अर्थात्—जो यह मानकर उपासना करता है कि 'ध्यान ही ब्रह्म है ।' उसके ध्यान की गति इतनी विस्तृत हो जाती है जितनी कि ब्रह्म की ।

निराकार साधना में सविता-देवता का, ज्योति पुंज का ध्यान करने का निर्देश है । निराकारवादी—साधना-सम्प्रदाय, प्रकाश का ध्यान करने को कहते हैं । योग शास्त्र में त्राटक एवं बिन्दु योग के सुविस्तृत विधान इसी आधार पर बने हैं । उपनिषदों में विशेष रूप से प्रकाश ध्यान पर ही जोर दिया है ।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः ।
अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।

—श्वेता. उप. २/१

अर्थात्—मन एवं प्राण को सविता-देवता की ज्योति में लगाये । अग्नि की ज्योति का अवलोकन करे । उसे सूक्ष्म शरीर के क्षेत्र में स्थापित करे ।

बाइबिल ने परमेश्वर को 'ज्योति' माना है । गुरुग्रन्थ साहब में उसे 'चाँदना' कहा गया है । हजरत मूसा को कोहनूर पर 'जलबा' दिखाई दिया था । उपनिषद् उसे परम ज्योति कहती है । अध्यात्म-शास्त्र इसी को दिव्य आलोक कहता है । 'डिवान लाइट' इसी को कहा जाता है । सूर्य को इसी परम तेजस् की प्रतीक प्रतिमा माना गया है ।

भ्रूमध्य भाग में अवस्थित आज्ञाचक्र में प्रकाश-ज्योति की स्थापना आन्तरिक ध्यान है । बहिरंग ध्यान धारणा में आकाश स्थित सूर्य की धारणा नेत्र बन्द करके की जाती है और यह भावना की जाती है कि भगवान सविता-देवता की दिव्य किरणें अपने शरीर और मन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करके अक्षय तेज की ब्रह्म वर्चस की वर्षा कर रही है और उनसे ओत-प्रोत होकर अपना व्यक्तित्व परम तेजस्वी बन रहा है ।

मन को एक विशेष परिधि में दौड़ने के लिए साधना ध्यान है । उसे अन्यत्र नहीं भागने देना चाहिए । ध्यान की परिधि बड़ी से बड़ी रखी जा सकती है ताकि मन को दौड़ लगाने के लिए विस्तृत क्षेत्र मिल जाय । निर्धारित परिधि के भीतर ही यदि ध्यान चेष्टाएँ केन्द्रित रहें तो समझना चाहिए कि साधना क्रम ठीक चल रहा है । मन की चंचलता उल्लंघन का व्यतिरेक करती रहेगी पर प्रयत्न करते रहने से वह उल्लंघन क्रमशः घटता चला जायेगा और स्थिति ऐसी आ जायेगी कि व्यतिरेक नाम मात्र का हो और निर्धारित परिधि में ही दौड़ लगाने के लिए मन सध जाय ।

एकान्त कोलाहल रहित शान्तिदायक स्थान में बैठकर ध्यान का अभ्यास करें । एक चौकी पर हरे या नीले रंग का कपड़ा बिछायें । उस पर खिला हुआ गुलाब का एक फूल रखें । फूल की पंखुड़ियों की बनावट तथा रंगों के चढ़ाव-उतार और उसके मध्यवर्ती पराग केन्द्र को गहराई के साथ देखें । इतनी बारीकी से उसे निरखें-परखें मानो कुछ समय बाद परीक्षा में वे सारे विवरण पूछे जाने वाले हैं । फूल को देखने से जब मन ऊबने लगे तो उसके द्वारा बनने वाली वस्तुओं की कल्पना करें । गुलाबजल, इत्र, गुलकन्द, फूलमाला आदि के स्वरूप और निर्माण विधान पर कल्पना दौड़ायें । गुलाब-पुष्प के गुणों पर विचार करें । सुगन्ध, शीतलता, कब्ज निवारण, वायु-विकारनाश आदि का विचार करें ।

गुलाब की खेती, उस उपार्जन का लाभ आदि भी चिन्तन का विषय बनाया जा सकता है । पीछे गुलाब की आध्यात्मिक प्रकृति हँसना और हँसाना, खिलना और खिलाना, सौन्दर्य की अभिवृद्धि, सुगन्ध का वितरण, सम्मान, साधन, प्रभु-समर्पण, काँटों के बीच सन्तोषपूर्ण-निर्वाह भ्रमर, तितली, मधुमक्खी आदि को मधुदान जैसी गुणपरक विशेषताओं पर और उनकी प्रतिक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । इस प्रकार घण्टों गुलाब पुष्प से सम्बद्ध विस्तार का चिन्तन किया जा सकता है । इससे मन की अस्त-व्यस्त घुड़दौड़ रुकेगी और एक सीमित परिधि के अन्दर चिन्तन करने के लिए वह अभ्यस्त होता चला जायेगा । तथ्यों पर जितनी गहराई और सजगता के साथ विचार किया जायेगम, उतनी ही एकाग्रता बढ़ेगी और मन के भागने का अनुपात घटता जायेगा । कुछ ही समय के अभ्यास से ऐसा समय आ जायेगा कि परिधि चिन्तन की आरम्भिक ध्यान भूमिका में सफलता मिल जाय ।

जिस प्रकार गुलाब के फूल को लेकर ध्यान अभ्यास की बात ऊपर कही गई है, उसी प्रकार किसी महापुरुष के जीवन-वृत्तान्त को चिन्तन की परिधि बनाकर सम्बन्धित घटना क्रमों पर गहराई से विचार करते रहा जा सकता है । किसी गीत या श्लोक के भावार्थ पर भी देर तक चिन्तन को केन्द्रित रखा जा सकता है । संगीत की कोई ध्वनि इसके लिए चुनी जा सकती है । किसी मनुष्य या प्राणी की काया को भी ध्यान केन्द्र नियत किया जा सकता है ।

किसी गुण विशेष के सिद्धान्त, स्वरूप, अभ्यास एवं परिणाम को लेकर भी चिन्तन को देर तक सीमित किया जा सकता है । ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, संयम, उदारता जैसे गुणों की व्याख्या, प्रयोग, पद्धति एवं प्रतिक्रिया के अनेक पक्ष हो सकते हैं और उन सब पर क्रमशः विचार करते हुए देर तक मन को उसी परिधि में प्रतिबन्धित रहने के लिए बाध्य किया जा सकता है ।

ऊपर की पंक्तियों में आत्म-शोधन की साधना का उल्लेख हुआ । उसमें ईश्वर का समावेश आवश्यक नहीं । गुलाब आदि किसी भौतिक आधार को भी माध्यम बनाया जा सकता है पर प्रभु समर्पण स्तर की जब साधना करनी हो तो फिर भक्त के अस्तित्व को भगवान की सत्ता में समर्पित होने का ध्यान ही करना पड़ेगा ।

परमेश्वर का विराट् रूप भी ध्यान के लिए उपयुक्त प्रकार है । स्वर्ग उसका शीर्ष, पृथ्वी उसके पाद, दिशाएँ हाथ, सूर्य तथा चन्द्र नेत्र, वायु श्वास, अग्नि पाचन, धर्म हृदय, वनस्पति केश, पर्वत अस्थियाँ, नदियाँ नाड़ियाँ, समुद्र मूत्राशय जैसी कल्पना विराट् ब्रह्म की, की जा सकती हैं और उन क्षेत्रों के प्रस्तुत दृश्यों में मन को उलझाये रहा जा सकता है ।

इस विराट् ब्रह्म का एक क्षुद्रतम घटक ही अपना 'अहम्' है । अपनी सत्ता ब्रह्म की ही एक इकाई है । व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं वह समष्टि का ही एक कण है । हमें विराट् ब्रह्म के लिए—विश्व मानव के लिए ही अपने अस्तित्व का समर्पण करते हुए जीवन-यापन करना चाहिए । यही निष्कर्ष विराट् ब्रह्म की ध्यान धारणा का है ।

आत्मा को शरीर से भिन्न सत् चित् आनन्द स्वरूप मानना, शरीर और आत्मा की भिन्नता की गहराई से अनुभूति करना और मात्र शरीर के सुख-साधन जुटाने में ही निमग्न न रहकर आत्मकल्याण के लिए उत्साह जगाना भी ध्यान प्रक्रिया का एक प्रयोजन है ।

मैं शरीर नहीं हूँ । शरीर मेरा नहीं है । शरीर के साथ जुड़ा हुआ अहम् भाव मिथ्या है । शरीर और सम्पत्ति की दृष्टि से मेरापन निरर्थक है । यह जड़-पदार्थ मुझसे भिन्न है । मैं सत् चित् आनन्द का अविनाशी अंश हूँ । इस प्रकार चिन्तन करते हुए, जब भौतिक अहम् विलीन हो जाय तो समझना चाहिए, मैं और तू से ऊपर उठा हुआ परब्रह्म परमात्मा उपलब्ध हो गया ।

प्राणि जगत तथा पदार्थ मात्र में एक ही चेतन-तत्व भरा है । उस व्यापक चेतना के साथ एकाग्रता करने पर समस्त विश्व-चेतनसत्ता का स्वरूप दिखाई पड़ता है । ऐसी स्थिति को भागवत् प्राप्ति कह सकते हैं ।

ध्यानयोग के आधार पर अन्तः चेतना को विकसित करते हुए मनुष्य अपने को लघु से महान बना सकता है । जीव से ब्रह्म हो सकता है । इन्द्रिय चेतना से परे जाकर आत्म चेतना का साक्षात्कार हो सकता है । क्योंकि इन्द्रियों की बनावट ही कुछ ऐसी है कि उनके माध्यम से दृश्य संसार, जो बाहर फैला पड़ा है, दिखाई

पड़ता और अनुभव में आता है जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है उसे ही महत्त्व दिया जाता और उपयोग में लाया जाता है । इस मोटी दृष्टि के कारण सर्वत्र बिखरे पदार्थ वैभव का भी मनुष्य पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पाता । दीर्घकाल तक तो पदार्थ सत्ता की सामर्थ्य का पूरा परिचय भी नहीं मिल पाया था । एक सदी पूर्व तक यह कहाँ किसी को मालूम था कि पदार्थ का सूक्ष्मतम नगण्य घटक परमाणु प्रचण्ड शक्ति का स्रोत हो सकता है, पर मनुष्य की अनुसन्धान प्रवृत्ति ने परमाणु सत्ता को कुरेदा । फलतः शक्ति का भाण्डागार हाथ लगा । आज सर्वत्र परमाणु शक्ति की गरिमा स्वीकार की जा रही है । ध्वंस और सृजन के दोनों ही प्रयोजनों में उसका उपयोग हो रहा है । परमाणु ही नहीं इस धरती पर अभी बहुत कुछ खोजने योग्य, जानने योग्य और पाने योग्य है । मनुष्य ने बाह्य जगत में जितना प्रयास किया है उसने उतना ही वैभव और वर्चस्व प्राप्त किया है । अनेकानेक वैज्ञानिक उपलब्धियाँ अनवरत शोध-प्रयासों का ही प्रतिफल हैं । समुद्र किसी समय निरर्थक व्यवधान मात्र समझा जाता था । उसकी खोजें हुईं तो कितनी ही बहुमूल्य सम्पदाएँ प्राप्त हुईं । शून्य और निस्तब्ध समझे जाने वाले अन्तरिक्षीय क्षेत्र को शक्तियों और उपलब्धियों का केन्द्र माना जा रहा है । शोधरत वैज्ञानिकों की दृष्टि विशिष्ट भौतिक सम्पदाओं के लिए समुद्र और अन्तरिक्ष में गड़ी हुई हैं ।

स्थूल जगत के जल, नभ और थल क्षेत्र में जो कुछ वैभव भरा पड़ा है उससे असंख्य गुना सूक्ष्म जगत में विद्यमान है । पर सूक्ष्म जगत इतना व्यापक है कि समूचा ब्रह्माण्ड ही उसकी परिधि में आ जाता है । इतने विस्तृत क्षेत्र की खोज कैसे की जाय ? तत्वदर्शियों ने इस प्रश्न का उत्तर हमें पिण्ड सत्ता में सन्निहित सूक्ष्म रूप में विद्यमान ब्रह्म तत्व की खोज-बीन करने के रूप में दिया है । जिसके जानने से सब कुछ माना जा सकता है उस सत्ता का अवलम्बन लेना ही श्रेयस्कर है ।

हिरण्मये परे कोशे निरजं ब्रह्मनिष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विभः ॥

—*२/२/६ मुण्डकोप*

भावार्थ यह कि हिरण्यमय कोश में निर्मल, सरल शुभ्र स्वच्छ ब्रह्म रहता है ।

अपने भीतर क्या है ? इसके विषय में मनुष्य की जानकारी अत्यल्प है । हाड़, माँस, रक्त, मज्जा से बने शरीर और मस्तिष्क का एक छोटा परिचय अब तक चिकित्सा शास्त्री प्राप्त कर सके हैं । पर अपनी सत्ता का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए अन्तर्मुखी होना पड़ता है । समुद्र तल में बिखरे मोती समेटने के लिए गहरे पानी में उतरने की गोताखोर स्तर की प्रवीणता प्राप्त करनी पड़ती है । अन्तःक्षेत्र में अपार वर्चस्व भरा पड़ा है उसे जानने के, खोजने के लिए न तो इन्द्रिय शक्ति काम देती है और न ही मस्तिष्क कुछ पुरुषार्थ दिखा पाता है । शरीर के भीतर क्या हो रहा है—रक्त संचार प्रक्रिया, पाचन पद्धति, रोग विकृति, मस्तिष्कीय गतिविधियों को कोई कहाँ जान पाता है ? अपनी शारीरिक स्थिति का पता लगाने के लिए 'पैथोलॉजी' विशेषज्ञ से जाँच कराते हैं । मानसिक रुग्णता का पता लगाने के लिए 'न्यूरोलॉजिस्ट' का दरवाजा खटखटाना पड़ता है । चारित्रिक एवं व्यक्तित्व के विश्लेषण के लिए आत्मवेत्ता गुरुजनों के सामने स्वयं को प्रस्तुत करना पड़ता है । सामान्य साधनों द्वारा अपनी सूक्ष्म स्थिति की जाँच करना सम्भव रहा होता तो गुत्थियों को समझने तथा सुलझाने में हम सहज ही सफल हो सकते थे, पर ईश्वर की लीला ऐसी विचित्र है कि उसने न केवल विशाल ब्रह्माण्ड वरन् हमारे हिस्से का पिण्ड भी रहस्य भरे गोरख धन्धों से जकड़ दिया है ताकि अविज्ञात को जानने के लिए विशेष प्रयत्न पुरुषार्थ का परिचय दें ।

इन्द्रियों के सहारे तो स्थूल शरीर की भीतरी गतिविधियों तक का परिचय नहीं मिल पाता फिर सूक्ष्मतम आत्म सत्ता का स्वरूप उनसे कैसे जाना जा सकता है जो इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि की पकड़ सीमा के बाहर है । ऋषियों ने इसका हल साधना की ध्यान प्रक्रिया द्वारा प्रस्तुत किया है । योग-साधना में ध्यान का महत्त्व सर्वोपरि है । विश्व के कोने-कोने में प्रचलित अनेकानेक धर्मों के साधना-विधानों में ध्यान की प्रक्रिया किसी न किसी रूप में अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है । उसके बिना प्रगति का एक चरण भी आगे नहीं बढ़ता । योग शास्त्रों में ध्यान की महिमा का गुणगान अनेकों स्थानों पर किया गया है—

'सयाध्यानं ब्रह्मेत्युपासते यावद् ध्यानस्य गतंतत्रास्य यथा कामा चारों भवति, यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति ।'

—*छान्दोग्य*

अर्थात्—जो यह मानकर उपासना करता है कि 'ध्यान ही ब्रह्म है' उसके ध्यान की गति इतनी विस्तृत हो जाती है जितनी कि ब्रह्म की ।

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणावा । ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।'

—*मुण्डकोपनिषद्*

अर्थात्—वह परमात्मा न आँख से दीखता है और न वाणी से जाना जाता है, न उसे इन्द्रियों के तप से या कर्म से जान सकते हैं । ज्ञान की निर्मलता से जब मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब ध्यान द्वारा वह उस ब्रह्म को देखता है ।

'पराञ्चि खानि व्यतृण-
त्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मा—नमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥'

—*कठोपनिषद्*

अर्थात्—स्वयम्भू भगवान ने इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने वाला बनाया है इसलिए मनुष्य बाहर के विषयों को तो देखता है किन्तु आत्मा को नहीं देखता, कोई विरला ही ध्यानी पुरुष मोक्ष की ओर से अन्तःकरण में रहने वाले परमात्मा को ध्यान द्वारा देखता है ।

आत्मिक प्रगति की दिशा में प्रथम चरण बढ़ाते हुए साधक को अन्तर्मुखी बनना पड़ता है । कुछ समय के लिए बाहर की ओर आँखें बन्द करके चित्तवृत्तियों को समेटकर भीतर क्या है, यह देखना समझना पड़ता है । ध्यान इसी प्रक्रिया का नाम है । उसका एक मात्र प्रयोजन भीतरी सत्ता को—उसके वैभव को समझना है । साथ ही यह भी परखना होता है कि इस क्षेत्र में भरी हुई विकृतियों के दल-दल में प्रगति का रथ कैसी बुरी तरह फंसा और रुका हुआ है । आन्तरिक दोष-दुर्गुण ही बाह्य जीवन में शोक-सन्ताप बनकर प्रकट होते हैं ।

बोल-चाल की भाषा में किसी भूली हुई या खोई हुई वस्तु का स्मरण करने की मानसिक प्रक्रिया को 'ध्यान करना' कहते हैं । अध्यात्म दर्शन में भी यही तथ्य सामने आता है । हम अपने वर्चस्व को—लक्ष्य को पूरी तरह भूल बैठे हैं । मेले के आकर्षण में भटकते हुए बच्चे जैसी हमारी मनोदशा है । न गन्तव्य का पता है और न अभिभावकों का, पर भटकाव ने कुछ ऐसा जादू डाला है कि मेले की चमक-दमक ही सब कुछ दीखती है । ध्यानयोग का प्रयोजन अपने मूल स्वरूप को—अपने कण-कण में समाये हुए प्रसुप्त वैभव को—लक्ष्य को समझने के लिए अन्तःक्षेत्र में प्रवेश करना है । प्रत्यक्ष से—भौतिक क्षेत्र से कुछ समय तक चित्त को पूरी तरह हटा लिया जाय और उतनी अवधि तक परोक्ष से—अभौतिक से रिश्ता जोड़ लिया जाय तो समझना चाहिए कि ध्यान का उद्देश्य समझ लिया गया ।

आमतौर से ध्यान के लिए कोई दृश्य पदार्थ अथवा व्यक्तित्व को माध्यम बनाया जाता है । दृश्यों में प्रकाश ज्योति को कल्पना क्षेत्र में प्रतिष्ठापित करना और श्रद्धासिक्त भावना से उसका अवलोकन कर सकना अधिक प्रचलित है । प्रकाश का ध्यान सार्वभौम है । विश्व के समस्त साधना सम्प्रदायों ने किसी न किसी रूप में इसे मान्यता दी है । दीपक की ज्योति अथवा प्रभातकालीन सूर्य-मण्डल की आभा को ध्यान में लाया जाता है । सामान्य के अतिरिक्त भी ध्यान की कितनी ही असामान्य प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जिसका अभ्यास समर्थ मार्गदर्शन में अपनी-अपनी मनोभूमि के अनुरूप किया जाता है ।

साकार और निराकार दोनों ही प्रकार की ध्यान प्रक्रियाओं में दिव्य प्रकाश ऊर्जा के धारण करने तथा अन्तःक्षेत्र के आलोकित होने की भावना अनिवार्य रूप से करनी होती है । इष्टदेव की ऊष्मा और तेजस्विता साधन के स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों में भीतर प्रवेश करके नव चेतना का संचार कर रही है, ऐसी भावना की जाती है । प्रकाश ऊर्जा के साधक में प्रवेश करने के साथ-साथ उसके स्थूल शरीर में ओजस्विता, सूक्ष्म शरीर में मनस्विता और कारण शरीर में तेजस्विता की वृद्धि अनुभव की जाती है । शक्ति, ज्ञान और भाव के संचार की आस्था जितनी प्रगाढ़ एवं परिपक्व होगी उतनी ही ध्यान की सार्थकता मानी जायेगी ।

भाव रहित ध्यान से तो मात्र एकाग्रता का लाभ मिलता है जिससे केवल भौतिक प्रयोजन पूरे हो सकते हैं । आत्मिक प्रगति के लिए ध्यान के साथ भावनाओं का गहरा पुट होना चाहिए । इष्टदेव के साथ अपना भावनात्मक सम्पर्क प्रगाढ़ करना पड़ता है । प्यार-दुलार मनुहार की—श्रद्धा वात्सल्य की—घनिष्ठता और समीपता की—आन्तरिक एकात्मता की इस प्रकार की अनुभूतियाँ अन्तःक्षेत्र में उभारनी पड़ती हैं कि हम दो नहीं—दो शरीर एक प्राण हैं । दाम्पत्य जीवन में कभी-कभी ऐसी घनिष्ठता की बिजली कौंधती है, इस अभिन्न आत्मीयता का प्रगाढ़तम मनोभाव इष्टदेव के साथ संजोना पड़ता है । घनिष्ठता को सजीव बनाने एवं प्रत्यक्ष करने के लिए तरह-तरह के शारीरिक, मानसिक आदान-प्रदानों के कल्पना चित्र गढ़ने पड़ते हैं । घनिष्ठ मित्रों के बीच, माता और पुत्र के बीच जो भावभरे क्रीड़ा-विनोद सम्भव हैं, उनकी अनुभूतियाँ भाव-लोक में गढ़नी होती हैं । दृश्य की दृष्टि से इष्टदेव का बहिरंग परिकर और भाव की दृष्टि से प्रगाढ़ आत्मीयता के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अनुभूतियाँ और सम्वेदनाओं की गहराई इन दोनों स्थूल एवं सूक्ष्म तत्वों का समन्वय हो जाने से ध्यान की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है । इससे मात्र एकाग्रता का ही लाभ नहीं मिलता वरन् विश्वव्यापी दिव्य सत्ता के साथ घनिष्ठता बना लेने और उसके साथ सम्पर्क साध सकने वाले आत्मिक चुम्बकत्व का भी विकास होता है । इस मार्ग पर चलते-चलते मनोनिग्रह और मनोलय की स्थिति प्राप्त हो सकती है तथा समाधि का, आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन का लाभ मिल सकता है । अस्तु, ध्यान साकार हो अथवा निराकार उसमें भाव सम्वेदनाओं का गहरा पुट लगाते रहना आवश्यक है । यदि नीरस मन से उपेक्षापूर्वक प्रकाश अथवा आकृति का दर्शन मात्र किया जा रहा है तो उस स्थिति में सरसता उत्पन्न ही नहीं हो सकेगी और हजार प्रयत्न करने पर भी मन के बारम्बार उचटने का व्यवधान दूर न हो सकेगा । मनुष्य की मूलसत्ता सरस है वह सरसता से बँधती है । ध्यान में यदि सरसता मिली हुई होगी तो मनोनिग्रह से लेकर मनोलय के सभी चरण अनायास ही उठते चले जायेंगे और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचना सुगम हो जायेगा ।

काय कलेवर को—शरीर को व्यायाम, संयम, पौष्टिक आहार के माध्यम से परिपुष्ट किया जाता है । अन्तः चेतना को परिपुष्ट करने के लिए किए जाने वाले व्यायामों में—साधना उपचारों में ध्यान प्रक्रिया का महत्त्व सर्वोपरि है । जप को परिशोधन और ध्यान को बीजारोपण की उपमा दी गई है । जप योग से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा से कषाय-कल्मषों के परिशोधन का प्रयोजन पूरा होता है । यह सोने को तपाकर खरा बना देने वाली बात है । अलंकार-आभूषण बनाने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है उसकी उपमा ध्यान से की जा सकती है । ध्यान के सहारे जो संकल्प शक्ति प्रखर होती है उसी के द्वारा अन्तःशक्तियों के जागरण और दिव्यलोक से विभूतियों के अवतरण के दोनों लक्ष्य पूरे होते हैं । ध्यान योगी व्यक्तित्व सम्पन्न बनता है और दिव्य शक्तियों का कृपा पात्र भी । भीतर से ऋद्धियाँ उदय होती हैं और बाहर से सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं ।

विस्मरण का निवारण—आत्म-बोध की भूमिका में जागरण—यही है ध्यानयोग का लक्ष्य । इस कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर सब कुछ पाया जा सकता है । ईश्वरीय सत्ता से सम्पर्क, सान्निध्य, घनिष्ठता बना लेने के बाद ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जिसे अभाव, दारिद्रय अथवा शोक सन्ताप कहा जा सके । 'ध्यानयोग' इसी महान लक्ष्य की पूर्ति में सहायता करता है ।

समस्त साधनाओं की एक धुरी : ध्यानयोग

मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म के प्रयोक्ता अपनी इच्छा शक्ति को एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं । दृष्टि का एक केन्द्र बिन्दु पर जमाते और बेधकता उत्पन्न करते हैं । जिनका यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है वे दूसरों को योग निद्रा ग्रस्त कर सकते हैं । उनके मस्तिष्क पर हावी हो जाते हैं और जैसा चाहें सोचने या अनुभव करने के लिए विवश करते हैं । सक्रिय मस्तिष्क को निद्रित कर देना और अचेतन को क्रियाशील बना देना सम्मोहन विद्या का रहस्य है । इस आधार पर तन्द्रित व्यक्ति को कई प्रकार के लाभ पहुँचाये जाते हैं और कई प्रकार के कौतूहल प्रस्तुत कराये जाते हैं ।

यही आधार स्वसंकेत या स्वसम्वेदन के लिए काम आता है । जिस प्रकार हिप्नोटिज्म के आधार पर किसी दूसरे को योग निद्रा में ग्रसित किया जाता है उसी प्रकार अपने आपको भी उस स्थिति में पहुँचाया जा सकता है और पूर्व निश्चित संकल्प अपने अन्तराल की गहराई तक पहुँचा कर व्यक्तित्व को दुष्प्रवृत्तियों से छुड़ाकर सत्प्रवृत्तियों को अपनाने के लिए सहमत किया जाता है । आत्म सुधार का यह अच्छा तरीका है कि योग निद्रा की स्थिति में अचेतन मन से सीधा सम्पर्क जोड़ा जाय और उस क्षेत्र में जमी हुई अभिरुचियों, आदतों में आवश्यक सुधार परिवर्तन सम्पन्न किया जाय । ओटोसजेशन स्वसंकेतन का एक समग्र शास्त्र है, जिसके सहारे अपने आपको अभीष्ट दिशा में चल पड़ने के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है । दूसरों पर इस विद्या का प्रयोग करके उन्हें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सुधारना तो और भी सरल है ।

सामान्य भौतिक स्तर की एकाग्रता सम्पन्न करने के लिए पंच तन्मात्राओं का आश्रय लिया जा सकता है । शब्द, रूप, रस, स्पर्श यह पाँच तन्मात्राएँ हैं इनका कान, जीभ, नेत्र, नाक एवं त्वचा से सम्बन्ध है । इनके द्वारा जो प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ होती हैं उन्हें परोक्ष रूप से मात्र कल्पना के सहारे अनुभूति में उतारना होता है । यह तन्मात्रापरक ध्यानयोग का भौतिक अभ्यास है ।

जैसे घण्टी बजाकर ध्यानपूर्वक उसकी ध्वनि का श्रवण करना और फिर बिना घण्टी बजाये ही उस शब्द की प्रतिध्वनि सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय के क्षेत्र में देर तक सुनाई पड़ते रहने का अनुभव करना ।

रूप के लिए चमकीला प्रकाश उपयोगी माना जाता है । प्रातःकाल का लाल सूर्य अथवा जलता दीपक क्षण भर देखकर आँखें बन्दकर लेना और फिर उसी रूप की कल्पना के सहारे दृश्यमान अनुभव करना । इसे त्राटक कहते हैं । मेस्मेरिज्म अभ्यास में एक काले गोले के मध्य में सफेद छिद्र छोड़कर इस छिद्र पर खुली आँख से घूरने का ध्यान किया जाता है । दोनों का एक ही उद्देश्य है । दृश्य के अतिरिक्त उसके साथ इच्छा शक्ति या आत्मभाव के समन्वय का भी अभ्यास किया जाता है । इस प्रयोजन के लिए गुलाब के फूल जैसी कोई और आकर्षक वस्तु काम में लायी जा सकती है ।

रसों की अनुभूति में जिह्वा से मिश्री, नमक, मिर्च, नीबू जैसी किसी स्वाद विशेष की वस्तु का स्पर्श कराया जाता है । प्रत्यक्ष स्वाद अनुभव करने के उपरान्त वस्तु को हटा लेते हैं और कल्पना के आधार पर उस स्वाद की अनुभूति देर तक जारी रखे रहते हैं ।

गंध साधना में किसी इत्र, चन्दन, कपूर, हींग आदि तीव्र गंध वाली वस्तु को नाक के समीप ले जाकर सूँघा जाता है और फिर उसे हटाकर कल्पना के सहारे उस गंध की उपस्थिति का अनुभव किया जाता है ।

स्पर्श त्वचा का गुण है । कोई चीज शरीर के किसी भाग से छूकर हटा लेना और फिर उसका वैसा ही अनुभव करना इस प्रयोग का स्वरूप है । शारीरिक तापमान में अधिक ठंडी या अधिक गरम वस्तु को छूकर हटा लेना और फिर उसी प्रकार का स्पर्श सम्वेदन अनुभव करना स्पर्शानुभूति है ।

इस प्रकार अधिक दिन तक इनमें से कोई एक या एकाधिक अनुभूतियों का अभ्यास करते रहने में कल्पना शक्ति इतनी प्रखर परिपक्व हो जाती है, जिससे बिना वस्तु की उपस्थिति के ही किसी का अनुभव अनायास ही होने लगे । इन अभ्यासों के सहारे एकाग्रता सधती है और उसके सहारे वे कार्य किए जा सकते हैं, जिनके लिए आमतौर से साधन उपकरणों की आवश्यकता होती है ।

यह एकाग्रता स्मरण शक्ति विकास में विशेष रूप से काम देती है । पढ़ी हुई या नोट की हुई बातें सहज ही स्मरण हो आती हैं । लोगों के नाम पते याद रखना, घटनाओं का विवरण यथावत् सुना देना, किसी के कहे हुए शब्द यथावत् दुहरा देना इसी अभ्यास के आधार पर सम्भव है । भले ही अल्प ज्ञान होने के कारण उन शब्दों का अर्थ विदित न हो । मस्तिष्कीय विकास के लिए हिप्नोटिज्म जैसे प्रयोजनों के लिए, दूसरों को प्रभावित करने के लिए, इस आधार पर बढ़ा हुआ मनोबल एक बड़ी सीमा तक काम दे जाता है । स्वसंकेत के आधार पर अपने शारीरिक, मानसिक रोगों से छुटकारा पा लेना भी इस आधार पर सम्भव है ।

आध्यात्मिक ध्यानयोग का स्तर ऊँचा है, उसके सहारे सिद्धियों के क्षेत्र में प्रवेश किया जा सकता है किन्तु उसमें एकाग्रता, सघनता के अतिरिक्त श्रद्धा, विश्वास का भी समावेश करना पड़ता है । कल्पना मस्तिष्क का एक साधारण गुण है, किन्तु श्रद्धा अन्तःकरण

के गहन अन्तराल में होती है और उसकी जड़ें अचेतन में ऊँची कक्षा सुपर चेतन में होती हैं । इसलिए उसके लिए अपने से भी बड़ी किसी अलौकिक, अद्भुत माध्यम का सहारा लेना पड़ता है ।

रात के अन्धेरे में झाड़ी भूत के रूप में प्रतीत होती है । सुनसान श्मशान में पीपल के पेड़ पर पंख फड़फड़ाते गिद्ध अपने को भूतों का कोलाहल जैसा प्रतीत होता है और उससे भयभीत होकर भयंकर बीमार हो जाना या प्राण घातक दिल का दौरा पड़ना सम्भव है । इसका कारण यह है कि भूत सम्बन्धी मान्यता जो हमारे हृदय के अन्तराल में छिपी होती है और वही तनिक-सा अवसर पाने पर प्रकट होकर अपना प्रभाव दिखाने लगती है ।

भक्तजनों को जागृत या स्वप्नावस्था में भगवान का किसी देवता विशेष का दर्शन होना भी ऐसा ही है । उसमें अपना विश्वास ही यदा-कदा अपना प्रतिबिम्ब मस्तिष्क के सामने लाकर खड़ा कर देता है । यह स्वसम्मोहित स्थिति है । जिस प्रकार मेस्मेरिज्म में कुशल व्यक्ति किसी प्रभाव-ग्रसित को हाथी, शेर आदि की झाँकी करा सकते हैं, उसी प्रकार भक्ति भावना के आवेश में स्वसम्मोहित व्यक्ति भी किसी अलौकिक देवता की झाँकी कर सकता है । इसमें मात्र दृश्य देखने के कौतूहल भर की बात नहीं है । उस समय सुपरचेतन मन का आवेग तीव्र होता है, इसलिए ऐसी बातें भी उनके मुँह से सुनी जा सकती हैं जो भूत, भविष्य से सम्बन्ध रखती हों । वे कथन अनुभूतियाँ कई बार सच्ची भी निकलती हैं । पर स्मरण रहे ऐसे प्रसंगों में सुपरचेतन को प्रभावित करने के लिए किसी देव-दानव, पितर स्तर की आत्माओं को माध्यम बनाना पड़ता है। मात्र कल्पना को ही सब कुछ मान लेने पर छोटे स्तर की सफलताएँ ही काम देती हैं । देवताओं के प्रति आस्था का स्तर गहरा जम जाने पर वे लाभदायक भी उसी प्रकार हो सकती हैं, जैसे कि भूतों का भय अनिष्टकारी सिद्ध होता है ।

योगाभ्यास में ध्यान का प्रयोजन आत्म निरीक्षण है । इसके लिए अन्तर्मुखी होने का अभ्यास करना पड़ता है । प्रत्यक्ष शरीर को पूर्णतया शिथिल करने के लिए शिथिलीकरण मुद्रा या शवासन का अभ्यास आवश्यक है । इसी प्रकार मन को तंद्रित करने के लिए योग निद्रा में जाने की कुछ दिन साधना करनी पड़ती है । धारणा करनी पड़ती है कि शरीर ही नहीं मन भी प्रसुप्त स्थिति में चला गया और केवल साक्षी दृष्टा आत्मा ही सजग है । इस स्थिति में आत्म-चेतना को ही काम करना पड़ता है । शरीर और मन दोनों ही गहरे विश्राम की स्थिति में होते हैं ।

इस स्थिति में सूक्ष्म शरीर की झाँकी की जाती है । षट्चक्रों के दर्शन किए जाते हैं । वे मेरुदण्ड में स्थान-स्थान पर अवस्थित हैं । इसका दूसरा प्रकार है—पंचकोशों का दर्शन । षट्चक्र मेरुदण्ड में ग्रन्थियाँ भँवरों की तरह होते हैं और पंचकोश प्याज के या केले के तनों में पायी जाने वाली परतों की तरह । ग्रन्थों और कोशों को जागृत आत्मचेतना के साथ अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए उन्हें टटोला, सहलाया जा सकता है । प्राणायाम की लम्बी श्वासों द्वारा उन्हें हिलाया तथा झकझोरा जा सकता है । इसी रीति-नीति का लम्बे समय तक परिपालन करने से छैः प्रकार की सचेतन विद्युत शक्तियाँ जागृत होती हैं और कुण्डलिनी जागरण का आधार बनाता है ।

पंचकोशों के जागरण में पाँच शरीरों की स्फुरणा होती है और वे मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र क्षेत्र को प्रभावित करते हैं । सहस्रवार कमल मस्तिष्क के मध्य है । उसी का ऊर्ध्व भाग ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है । योग शास्त्रों में इसी को विष्णु और क्षीर सागर कहा गया है । इसी को कैलाश और मानसरोवर स्थित शिव की उपमा दी गई है । इस क्षेत्र के जागरण से विश्व चेतना के साथ सम्बन्ध जुड़ता है और अर्जुन-यशोदा की तरह विराट् ब्रह्म की झाँकी होती है । पाँच कोश ही मनः संस्थान में विद्यमान पाँच देवता हैं ।

षट्चक्रों से सम्बन्धित कुण्डलिनी शक्ति है जो जननेन्द्रिय मूल में है । इसे शरीरगत विद्युत भण्डार कहना चाहिए । व्यष्टि में संव्याप्त इस अद्भुत विद्युत को किसी वस्तु या व्यक्ति को प्रभावित करने के लिए काम में लाया जा सकता है ।

मस्तिष्क अतीन्द्रिय क्षमताओं का भण्डार है । यह दैवी है, सुपरचेतन से सम्बन्धित । इसे परब्रह्म की चेतना एवं ब्रह्माण्डीय सामर्थ्य के साथ जुड़ा रहना समझा जाता है । इसलिए इस संस्थान के माध्यम से सूक्ष्म जगत का परिशोधन या अनुकूलन किया जाता

है । उसके भूत, भविष्य से सम्बन्धित सम्भावनाओं को समझा जा सकता है । इसीलिए पंचकोष साधनाओं की सामर्थ्य का प्रतिफल दिव्य माना गया है, जबकि कुण्डलिनी जागरण से अपने या दूसरों के लिए भौतिक स्तर के लाभ-हानि ही उठाये जा सकते हैं । इसके सभी प्रयोगों में ध्यानयोग नितान्त आवश्यक है । साधनाओं में अधिकांश भूमिका उसी की होती है ।

ध्यानयोग की दार्शनिक पृष्ठभूमि

व्यक्ति चेतना का विश्व चेतना से—आत्मा का परमात्मा से—घनिष्ठ तादात्म्य किस प्रकार स्थापित हो ? दिव्य आदान-प्रदान कैसे आरम्भ हो ? इसके लिए कितने ही प्रकार के साधनात्मक प्रयोग करने पड़ते हैं । ध्यान के माध्यम से एकाग्रता का अभ्यास करना होता है । एकाग्रता अर्थात् इष्ट के प्रति—उच्चस्तरीय आदर्शों के प्रति-निष्ठा उत्पन्न करने के लिए मन को प्रशिक्षित करना । योग ग्रन्थों में योग की परिभाषा "चित्तवृत्ति निरोधः" के रूप में की गई है अर्थात् चित्त की वृत्तियों को परिष्कृत, परिमार्जित कर ईश्वरीय प्रयोजनों में लगा देने का नाम योग है । महाचेतना से जुड़ने की प्रक्रिया में मन की प्रवृत्तियाँ-चित्त की वृत्तियाँ ही प्रधान बाधक हैं । अभ्यस्त ढर्रा ही मन को रुचता है । पतन की ओर उसका सहज झुकाव है । अनभ्यस्त को अभ्यस्त बनाने के लिए—चित्त की वृत्तियों को मोड़ना-मरोड़ना होता है । यह कार्य अति कठिन है । अचेतन में स्वभाव एवं अभिरुचियों के संस्कार जड़ जमाये रहते हैं । क्रिया एवं विचारणा उन्हीं के द्वारा अभिप्रेरित होती है । अधिकांश व्यक्तियों की स्थिति पराधीनों जैसी होती है । कुसंस्कारों को तोड़ना भौतिक माध्यमों से कठिन पड़ता है ।

मन की अनियन्त्रित कल्पनाएँ एवं अनावश्यक उड़ानें उपयोगी विचार शक्ति का अपव्यय करती हैं जिसे यदि लक्ष्य विशेष पर केन्द्रित किया गया होता तो गहराई में उतरने और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त करने का अवसर मिलता । यह चित्त की चंचलता ही है जो मनःसंस्थान की दिव्य क्षमताओं को ऐसे ही निरर्थक गँवाती और नष्ट-भ्रष्ट करती हैं । संसार में जिसने भी किसी क्षेत्र, किसी विषय विशेष में प्रवीणता, पारंगतता प्राप्त की है उन सभी को विचारों पर नियन्त्रण करने—उन्हें अनावश्यक चिन्तन से हटाकर उपयोग में नियोजित करने के लिए प्रयास करना पड़ा है । इसके बिना चंचलता की वानर वृत्ति से ग्रसित व्यक्ति न किसी प्रसंग पर गहराई के साथ सोच सकता है और न किसी कार्यक्रम पर देर तक स्थिर रह सकता है । शिल्प, कला, शिक्षा, विज्ञान आदि महत्त्वपूर्ण सभी प्रयोजनों की सफलता में एकाग्रता की शक्ति की ही प्रधान भूमिका होती है । चंचलता को असफलता की सगी बहिन माना जाता है ।

आत्मिक प्रगति के लिए—उस महान शक्ति से सम्बन्ध—तादात्म्य स्थापित करने के लिए तो एकाग्रता की और भी अधिक उपयोगिता है । इसलिए ध्यान के नाम पर उसका अभ्यास विविध प्रयोगों द्वारा किया जाता है । ध्यान में जिस एकाग्रता का प्रतिपादन किया गया है उसका लक्ष्य है—भौतिक जगत की कल्पनाओं से चित्त को, मन को विरत करना और उसे अन्तर्जगत की क्रिया-प्रक्रिया में नियोजित कर देना । सांसारिक प्रयोजनों में मन न भटके और आत्मिक क्षेत्र की परिधि में परिभ्रमण करता रहे तो समझना चाहिए कि एकाग्रता का लक्ष्य पूरा हो रहा है । विज्ञान के शोध कार्यों में, साहित्य के सृजन प्रयोजनों में वैज्ञानिक या लेखक का चिन्तन अपनी निर्धारित दिशाधारा में सीमित रहता है । इतने भर से एकाग्रता का प्रयोजन पूरा हो जाता है । जबकि इस प्रकार के बौद्धिक पुरुषार्थों में मन और बुद्धि को असाधारण रूप से गतिशील रखना पड़ता है और कल्पनाओं को अत्यधिक सक्रिय करना पड़ता है तो भी उसे चंचलता नहीं कहा जाता । अपनी निर्धारित परिधि में कितना ही द्रुतगामी चिन्तन क्यों न किया जाये—कितनी ही कल्पनाएँ—कितनी ही स्मृतियाँ—कितनी ही विवेचनाएँ क्यों न उभर रही हों, वे एकाग्रता की स्थिति में तनिक भी विक्षेप नहीं उपन्न करेंगी । गड़बड़ी तो अप्रासंगिक चिन्तन से उत्पन्न होती है ।

ध्यान के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति यह बनी हुई है कि कितने ही व्यक्ति एकाग्रता का अर्थ मन की स्थिरता समझते हैं । दोनों में बड़ा भारी अन्तर है । एकाग्रता अभ्यास है और स्थिरता उसकी अन्तिम परिणति ।

आरम्भ में यह कठिन पड़ता है । स्थिरता को निर्विकल्प समाधि कहा गया है और एकाग्रता को सविकल्प । सविकल्प का अर्थ है—उस अवधि में आवश्यक विचारों का मनःक्षेत्र में काम करते रहना । निर्विकल्प से तात्पर्य है—एक केन्द्र बिन्दु पर सारा चिन्तन सिमटकर स्थिरता की स्थिति में उत्पन्न हो जाना । जिस एकाग्रता की आवश्यकता ध्यान की सफलता के लिए बताई गई है वह मन की स्थिरता नहीं, चिन्तन की दिशाधारा है । ध्यान के समय चिन्तन आत्मा के स्वरूप, क्षेत्र एवं लक्ष्य को समझने में लगना चाहिए और भाव क्षेत्र में यह प्रतिष्ठापना करनी चाहिए कि ब्राह्मी चेतना के गहरे समुद्र में डुबकी लगाकर आत्मा को बहुमूल्य रत्नराशि संग्रह करने का अवसर मिल सके ।

एकाग्रता के अभ्यास के लिए दो बातें आवश्यक हैं । इष्ट का निर्धारण और श्रद्धा का आरोपण । इष्ट के निर्धारण से अभिप्राय है—भगवान का एक स्वरूप निर्धारित करना । स्वरूप क्यों ? जबकि वह स्वरूपातीत है ? क्योंकि मनुष्य की बनावट ही ऐसी है कि वह सीधे निराकार को पकड़ नहीं पाता । उसके हृदय में निराकार सत्ता से प्रेम तादात्म्य नहीं उत्पन्न हो सकता । बिजली, गर्मी, ठण्ड, चुम्बक भी शक्ति की विविध धाराएँ हैं, पर इनसे कहाँ किसी को प्यार करने का जी करता है । प्यार के लिए प्रतीक माध्यम चाहिए । मस्तिष्कीय संरचना भी ऐसी है कि उसे सोचने तथा चिन्तन को उत्कृष्टता की ओर मोड़ने के लिए प्रतीक आधार चाहिए । कथा, उपन्यासों में ऐसी बातों का समावेश होता है जो मनोरंजन के लिए आवश्यक है किन्तु फिर भी मनुष्य सिनेमा, नाटक, सर्कस देखने जाता है और उसके माध्यम से भले-बुरे प्रभावों को ग्रहण करता है । विचार-कथाएँ और सम्बद्ध सिद्धान्तों का समावेश होते हुए भी उपन्यासों, कथाओं की पुस्तकों की तुलना में सिनेमा के चलचित्र कहीं अधिक लोकप्रिय बने हुए हैं । कारण एक ही है—प्रतीकों के माध्यम से मनोरंजन अधिक हो जाता है । आरम्भ में निराकार विराट् चेतना से सम्पर्क साधने और प्रेम भावना उत्पन्न करने में मन को कठिनाई होती है । इष्ट का निर्धारण इसी प्रयोजन के लिए किया जाता है । योगाभ्यास के आरम्भ में गुण परक इष्ट के निर्धारण को तत्वदर्शियों ने आवश्यक माना है । अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुरूप विभिन्न देवी-देवताओं को इष्ट मानकर साधना आरम्भ की जाती है । अपने को मर्यादा में बाँधने के लिए भगवान राम की साकार प्रतिमा को हृदय में प्रतिष्ठापित करना होता है । पूर्णता के लक्ष्य को याद रखने तथा अवधारण करने के लिए पूर्ण पुरुष भगवान कृष्ण को प्रतीक बनाया जाता है । समर्पण की साकार प्रतिमा हनुमान माने जाते हैं । दुर्गा की प्रतिमा, प्रखरता की प्रतीक मानी जाती है । इष्ट के रूप में गायत्री माता को—प्रज्ञा महाशक्ति को इसलिए सर्वश्रेष्ठ माना गया है कि इसके साथ विवादास्पद कथानक नहीं जुड़े हुए हैं । सभी देवी-देवता के साथ अनेकों कथाएँ जुड़ी हुई हैं । जो इष्टदेव को सामान्य मनुष्यों जैसी सीमित परिधि में बाँधती है । जबकि इष्ट को कथानक से रहित विशुद्ध रूप से उच्चस्तरीय आदर्शों का प्रतीक प्रतिनिधि होना चाहिए । गायत्री—प्रज्ञा महाशक्ति—कथानक रहित है । वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता, ऋतुम्भरा आद्य शक्ति के रूप में गायत्री महाशक्ति का निरूपण किया गया है । आदिकाल से ही गायत्री योगाभ्यासियों की इष्ट रही है । ऋषियों से लेकर अवतारों तक ने इस महाशक्ति को ही इष्ट के रूप में वरण कर उसके दिव्य अनुदानों से लाभ उठाया है । ध्यान योगी इसी का पयपान कर अमृत आनन्द का लाभ लेते रहे हैं । इस महामन्त्र के साथ जुड़ी प्रेरणाओं में उन समस्त गुणों का समावेश है जो ध्यान में चिन्तन को परिष्कृत करने—उदात्त बनाने के लिए आवश्यक है ।

युवा नारी के रूप में मातृ शक्ति को वरण करने से 'मातृवत् परदारेषु' की भावना का अपने आप विकास होता है, वही उसके गुणों-विशेषताओं पर चिन्तन करते रहने और प्रज्ञा का अवलम्बन लेने से योग का कटंकाकीर्ण मार्ग सरल बन जाता है । इस मार्ग में मन का विक्षोभ एवं चिन्तन का भटकाव ही अधिक बाधक होता है । प्रज्ञा को वरण कर लेने से वह विवेक बुद्धि विकसित होती है जिसके कारण भटकाव रुकता है ।

इष्ट निर्धारण ही पर्याप्त नहीं, एकाग्रता की उपलब्धि के लिए श्रद्धा का आरोपण भी उतना ही आवश्यक है । ध्यान का यह प्राण है । इसके अभाव में सभी योगिक उपचार मात्र स्थूल कर्मकाण्ड रह जाते हैं और कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो पाती । कितने ही व्यक्ति

ध्यान, पूजा-पाठ की लकीर पीटते रहते और जहाँ की तहाँ स्थिति में पड़े रहते हैं । जबकि उसी निर्धारित प्रक्रिया को अपनाकर कितने ही चमत्कारी सामर्थ्य अर्जित कर लेते हैं । इन परिणामों के भारी अन्तर का कारण क्या है ? उत्तर स्पष्ट है—एक ने अपनी सघन श्रद्धा का आरोपण किया और दूसरा स्थूल क्रिया-कृत्य की लकीर पीटता रहा । इष्ट को सर्व समर्थ सत्ता मानने और उसके गुणों के अवधारण से श्रद्धा का लक्ष्य पूरा हो जाता है । श्रद्धा अर्थात्—लक्ष्य के प्रति अटूट निष्ठा । उच्चस्तरीय सिद्धान्तों एवं आदर्शों के प्रति असीम प्यार । लघु को विभु, क्षुद्र को महान, नर को नारायण और पुरुष को पुरुषोत्तम बनाने की प्राण ऊर्जा जहाँ से किस्सृत होती है, वह केन्द्र बिन्दु है—अन्तः का श्रद्धा क्षेत्र । गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में श्रद्धा और विश्वास को 'भवानी शंकरौ' के रूप में मानकर अभ्यर्थना की है । रामकृष्ण परमहंस की काली, मीरा के शालिग्राम पत्थर सजीव बनकर पग-पग पर चमत्कार दिखाते रहे और अपने अनुदानों से उन्हें परितृप्त करते रहे । ध्यान में एकाग्रता तभी उत्पन्न होती है जब इष्ट के प्रति श्रद्धा सघन एवं सुदृढ़ हो । किसी प्रकार के विक्षोभ उसे डगमगा न सके । उथली श्रद्धा से किसी विशिष्ट उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती ।

ध्यानयोग का उद्देश्य और स्वरूप

बच्चे दिन भर निरुद्देश्य मात्र मनोरंजन के लिए उछलते-कूदते फिरते हैं । हिरन भी इसी प्रकार चौकड़ी भरते रहते हैं । बन्दरों को इस डाली पर से उस डाली पर उचक-मचक किए बिना चैन नहीं पड़ता । श्रम पूरा पड़ता है पर उससे प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता । मन का भी ऐसा ही स्वभाव है । जागृत में ही नहीं स्वप्न की स्थिति में भी निरर्थक कल्पनाएँ व्यक्ति करता रहता है । इसमें श्रम तो पूरा पड़ता है शक्ति भी खर्च होती है पर लाभ कुछ नहीं होता । इसी कार्य को किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रमबद्ध रूप से किया गया होता तो उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध होता, लाभ मिलता ।

ध्यानयोग की साधना का यही उद्देश्य है कि उसको बेतुकी हरकतों-हलचलों में निरत रहने से रोका जाय और क्रमबद्ध रूप से कार्य करने के लिए अभ्यस्त किया जाय यह अध्यात्म प्रयोजनों के लिए तो अनिवार्य है ही, सांसारिक क्रिया-कलापों को भी ठीक तरह से सम्पन्न करने के लिए भी आवश्यक है अन्यथा जो भी काम हाथ में लिया जायेगा वह अस्त-व्यस्त बनेगा और उसकी सफलता संदिग्ध रहेगी । गेहूँ एक टोकरी में रखे रहें तो उनका मन चाहा उपयोग किया जा सकता है । पर यदि दानों को रेत में बिखेर दिया जाय तो समझना चाहिए कि वह बर्बाद हो गया । उसका एक दाना बीनने में जितना श्रम, समय लगेगा उतनी ही कीमत उस गेहूँ की बैठेगी जिसे रेत में बिखेर दिया गया था ।

मनुष्य मात्र हाथों से ही काम नहीं करता उसके पीछे मस्तिष्क का भी तारतम्य रहता है । विचार भी जुड़े रहते हैं । दोनों का संयोग होने पर छोटे-बड़े काम ठीक तरह बन पड़ते हैं । काम केवल हाथ पैर करें और दिमाग का उसके साथ संयोग न हो तो समझना चाहिए कि उस कार्य में गल्ती ही गल्ती रहेगी, डाँट पड़ेगी, भर्त्सना होगी और कहा जायेगा कि मन लगाकर, ध्यान देकर काम नहीं किया गया ।

छुट-पुट काम भी जब बिना मन लगाये नहीं हो सकते तो बड़े कामों का तो कहना ही क्या ? लम्बे चौड़े बहीखाते करने वाले मुनीम ध्यान एकाग्र करके अपना काम करते हैं तभी काम बन्द करते समय एक-एक पैसे का हिसाब मिलता है । बे-मन से करने पर तो भोजन भी ठीक नहीं लगता । बार-बार गलती होती है और भूल पकड़ने में घण्टों लग जाते हैं महत्त्वपूर्ण मशीनों के उपयोग में भी यही बात है, छोटा-सा टाइपराइटर तक दुचित्ते आदमी के हाथ में जाकर हर लाइन में गल्तियाँ छोड़ता जाता है । मूर्तिकारों, चित्रकारों के सम्बन्ध में भी यही बात है । एकाग्रता के अभाव में उनकी कृतियाँ फूहड़ ही बनी रहती हैं । मनुष्य की तीन चौथाई योग्यता उसके मस्तिष्क में रहती है और एक चौथाई समूचे शरीर में । मस्तिष्क गड़बड़ाने लगे तो शराबियों की तरह पैर लड़खड़ाने लगते हैं । मुँह से शब्द कुछ के कुछ

निकलते हैं । मूर्खों की मूर्खता इस तथ्य के साथ जुड़ी रहती है कि उन्होंने मन लगाकर काम नहीं किया ।

अन्यमनस्क भाव से पढ़ने वाले विद्यार्थी अक्सर फेल होते हैं । जबकि कुन्द जहन समझे जाने वाले लड़के मन लगाकर पढ़ने पर अच्छी सफलता प्राप्त करते हैं । यही बात हर कार्य के सम्बन्ध में है । दर्जी, स्वर्णकार आदि शिल्पी यदि मन की एकाग्रता के अभ्यस्त हैं तो वे बढ़िया काम के बढ़िया पैसे वसूल करेंगे । इसके विपरीत कम मन लगाने वाले इधर-उधर चित डुलाने वाले प्रवीणता उपलब्ध नहीं कर पाते और ग्राहकों के मन से उतरे रहते हैं ।

योजनाएँ बनाने वाले आर्चीटेक्ट स्तर के व्यक्ति मात्र परीक्षा पास कर लेने भर से ख्याति प्राप्त नहीं होते । उन्हें हर काम में दत्तचित्त होना पड़ता है । इसी आधार पर काम अधिक सही और सुन्दर बन पड़ते हैं । यदि उपेक्षा का मन रहा होगा तो उसके काम भी बेतुके होंगे और दर्जा घटता गिरता जायेगा ।

लुहार दिन भर हथौड़ा चलाता है और पहलवान थोड़ी देर डण्ड पेलता है पर दोनों की उपलब्धियों में भारी अन्तर रहता है । व्यायाम की दृष्टि रखते हुए प्रातःकाल टहलने वाले जितना लाभ उठा लेते हैं, उतना दिन भर चिट्ठी बाँटने वाले पोस्टमैन नहीं ले पाते । इसका कारण काम के साथ तन्मयता का समावेश होना भर है ।

किसी का भविष्य कैसा है ? किसे किसी काम में सफलता मिलेगी या नहीं ? उसका उत्तर पाने के लिए यह देखना होगा कि उसका मन अपने काम में कितना रस लेता है और कितनी तत्परता का सम्मिश्रण कर पाता है ।

थामस डेवी जब छोटे थे तभी से उनकी इच्छा वैज्ञानिक बनने की थी । उनकी माँ की आर्थिक स्थिति ऐसी न थी कि बच्चे को साइंस पढ़ा सके । बच्चे ने माँ से कहा मुझे किसी वैज्ञानिक के यहाँ नौकर रख दो । मैं रोटी भर वहाँ से पा लिया करूँ तो फिर वहाँ की गतिविधियों को देखकर ही वैज्ञानिक बन जाऊँगा । माँ ने बहुत तलाश करने पर एक वैज्ञानिक से इसके लिए सहमति प्राप्त कर ली । उसने कहा बच्चे को कल लाना । उसमें ऐसी प्रतिभा होगी तो उसका खर्च भी उठा लेंगे और वैज्ञानिक भी बना देंगे । दूसरे दिन माँ उसे लेकर पहुँची तो वैज्ञानिक ने कमरे में झाड़ू लगाने के लिए उससे कहा । लड़के ने ऐसी दिलचस्पी से बुहारी लगाई कि चप्पा-चप्पा उस सफाई से चमक उठा । वैज्ञानिक ने उसे रख लिया । डेवी असाधारण वैज्ञानिक बना । यह शिक्षण उसने किसी कॉलेज में नहीं वरन् उस वैज्ञानिक के कामों में हाथ बँटाते हुए पूछताछ करते रहकर ही प्राप्त कर लिया । एकाग्रता के साथ ही मनुष्य का भाग्य और भविष्य जुड़ा हुआ है । संसार भर के प्रगतिशील मनुष्यों की यही विशेषता रही है कि उन्होंने अपना मनोयोग अभीष्ट दिशा में लगाया और उसका समुचित प्रतिफल पाया ।

टार्च में नन्हा सा बल्ब होता है । उसे यदि खुला जलने दिया जाय तो सिर्फ अपना मुँह चमकता रहेगा । थोड़े क्षेत्र में ही प्रकाश फैल सकेगा किन्तु जब उसका प्रकाश छोटे घेरे में समेटा जाता है तो जो भी देखना हो अच्छी तरह देखा जा सकता है । विचारों को समेटने, एक-एक छोटे बिन्दु पर केन्द्रीभूत करने की कला को ही ध्यान कहते हैं । जीवन कला में इस विशेषता का महत्त्वपूर्ण स्थान है । कलाकारों और कारीगरों को भी इसका अभ्यास करना पड़ता है । फिर जिन्हें आत्मिक प्रगति की उत्सुकता है उन्हें इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ता है । भूलों को सुधारने और प्रगति का अभीष्ट मार्ग प्राप्त करने में इसी प्रक्रिया का अनिवार्य रूप से अवलम्बन लेना पड़ता है ।

ध्यान को योग का प्रथम चरण कहा गया है । पांतजलि ने योग की व्याख्या परिभाषा करते हुए एक संक्षिप्त सूत्र में गागर में सागर भरने की उक्ति चरितार्थ की है । उन्होंने योग दर्शन में कहा है "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है । चित्त छोटे बालक के समान है । उसे विविधता और अनेकता प्रिय लगती है । हाट बाजार में उसे गोदी में लेकर जाया जाय तो जो कुछ भी चमकीला, भड़कीला दीखता है उसी को पाने के लिए हठ करता है । उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि वह उसके काम की भी है या नहीं । ललचाना, मचलना यही बिखराव है । यही चित्तवृत्ति है । इसे रोकने पर ही सुई की नोक में से धागा निकालने जैसे काम पूरे होते हैं । इसी के आधार पर बन्दूक का

निशाना सही बैठता है । यही वह अभ्यास है कि जो आत्मिक प्रगति के लक्ष्य को पूरा करा सकता है । उसमें अपने को एक केन्द्र पर केन्द्रित होने की कला सीखनी पड़ती है । अन्यथा जब तक सांसारिक वस्तुओं, विषयों या व्यक्तियों में से किसी पर चित्त पड़ा रहता है, उसका आधा-अधूरा कल्पना चित्र मस्तिष्क में घूमने लगता है । इसमें अनौखापन भी नहीं है । ध्यान के नाम पर किसी देवता या चक्र उपत्यिका आदि का कल्पना चित्र गढ़ा जाय और कुछ देर उस पर एकाग्र हुआ जाय तो वैसी ही कुछ अनुभूति भी होने लगती है । इतने भर को प्रगति मानकर कोई प्रसन्नता, सफलता अनुभव करने लगे तो उसे नकारा भी क्यों जाय ?

इतने भर से यदि योगाभ्यास हो जाता है और योगी बना जा सकता है तो इससे सरल बात और क्या हो सकती है । योग एक बड़ी बात है । उसमें अतीन्द्रिय क्षमताओं का जागरण और दिव्य सत्ताओं के साथ समीकरण होता है तो उस सरलता का लाभ कोई क्यों न उठाना चाहेगा ?

किन्तु वास्तविकता ऐसी है नहीं । ध्यान का मोटा स्वरूप एकाग्रता है । एकाग्रता किसी भी प्रयोजन के लिए क्यों न की जाय, उसका लाभ तत्काल प्रकट होता है । द्रौपदी स्वयंवर में केवल अर्जुन ही मत्स्य वेध की चुनौती में उत्तीर्ण हुए थे क्योंकि उन्होंने एकाग्रता की साधना सिद्ध कर ली थी । सूर्य किरणों को कॉनवेक्स लेन्स पर एकत्रित कर लिया जाय तो एक-दो इंच की धूप से देखते-देखते अग्नि प्रकट हो जाती है । तनिक-सी भाप को एक नली में केन्द्रित कर लिया जाय तो रेल का शक्तिशाली इन्जन द्रुतगति से दौड़ने लगता है । बन्दूक की नली में थोड़ी-सी बारूद अवरुद्ध कर लेने पर शीशे की गोली पिघल जाती है और निशाने को आर-पार करती है, एकत्रीकरण के ऐसे चमत्कार हम आये दिन देखते हैं ।

ध्यान का सामान्य रूप मानसिक क्षमता के बिखराव को रोककर एक केन्द्र पर नियोजित करना है । सर्कस के अचम्भे में डालने वाले खेलों में से अधिकांश एकाग्रता पर अवलम्बित हैं । रस्सी पर चलना, झूले पर कहीं से कहीं कूद जाना जैसे खेलों में मात्र एकाग्रता के ही चमत्कार दृष्टिगोचर होते हैं । महत्त्वपूर्ण काम करने वाले इसी विधा को अपनाते हैं । वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार अपनी सफलता इसी आधार पर प्रस्तुत करते रहते हैं । लम्बे-चौड़े हिसाबों को सही रखने वाले एकाउण्टेण्ट, एक पाई की भी भूल नहीं पड़ने देते इसमें उनकी यही विशेषता काम करती है । निशानेबाजों की सफलता इसी अभ्यास पर निर्भर रहती है । आर्कीटैक्ट, विशालकाय भवनों का राई रत्ती स्वरूप बना देते हैं और उसमें क्या वस्तु किस स्तर की लगेगी इसका लेखा-जोखा ऐसा बना देते हैं जिसमें तनिक भी भूल न रहे । उनकी तन्मयता को ही इसका श्रेय जाता है। योजनाएँ बनाने और इनकी पूर्ति में क्या करना पड़ेगा, इसका सही ढाँचा खड़ा करना चिन्तन की तल्लीनता का प्रतिफल है । जो भी काम पूरी दिलचस्पी और तन्मयता के साथ किए जाते हैं वे सही, सुन्दर और सफल होते हैं । यही है ध्यान का चमत्कार ।

एक बार सन्त बिनोवा से किसी ने पूछा—"आपको ध्यानयोग का पारंगत माना जाता है । कृपया उसका विधान बताइये । उत्तर में उन्होंने कहा "मैं जो सोचता या करता हूँ, उसमें समग्र तन्मयता केन्द्रीभूत कर देता हूँ । सोचता हूँ उस समय यही कार्य मेरे लिए सर्वोपरि महत्त्व का है । इस सन्दर्भ का चिन्तन ही मेरे लिए अभीष्ट है । इसे करने में मुझे इस प्रकार जुटना है कि शक्ति का एक कण भी बिखरने न पाये । यही वह विधान है जिसे मैं अपने हर कृत्य में अपनाता हूँ । इस प्रकार जागृत स्थिति में निरन्तर ध्यानयोग में तल्लीन रहता हूँ । यहाँ तक कि विश्राम के समय भी यही मनःस्थिति रहती है । फलतः थोड़े समय का विश्राम भी पूरी थकान मिटा देता है ।

ध्यानयोग का यही तरीका है । हम हाथ में लिए हुए प्रत्येक कार्य को सर्वोपरि महत्त्व का समझें और चिन्तन तथा कर्म से उसी में घुल जायें तो समझना चाहिए कि व्यावहारिक जीवन में हम ध्यान योगी हो गए । फलतः जो भी करेंगे वह सफल और शानदार होगा ।

अध्यात्म दर्शन का ध्यानयोग यह है कि निर्धारित समय पर अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को समेटकर अन्तर्मुखी बनायें । संसार की गतिविधियों के सम्बन्ध में कुछ समय विचार करना छोड़कर हृदय या मस्तिष्क केन्द्र में आत्मा की प्रकाश ज्योति का ध्यान करें । इसमें दृश्य मात्र ही

पर्याप्त नहीं है वरन् यह भी अनुभव करना चाहिए कि अपनी सत्ता शरीर से सर्वथा पृथक ईश्वर की अंश ज्योति मात्र है । परमात्मा में जो विशेषताएँ, विभूतियाँ हैं, वे सब अपने भीतर भी विद्यमान हैं । करना इतना भर है कि धुँधलेपन को दूर किया जाय । कषाय-कल्मषों की जो हल्की-सी परत जम गई है उसे रगड़कर साफ किया जाय । रगड़ से तात्पर्य तपश्चर्या से है । तप का अर्थ है संयमी और कष्ट सहिष्णु जीवन । इस प्रक्रिया को अपनाते ही आत्म ज्योति का धुँधलापन दूर होने लगता है और क्रमशः आत्मबोध की वह स्थिति उभरने लगती है जो बोधि वृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध के अन्तराल में प्रकट हुई थी ।

देवी-देवताओं का ध्यान करना उतना उपयोगी नहीं है । यदि उसके लिए बहुत मन हो तो इतनी ही मान्यता बनानी चाहिए कि परब्रह्म का यह अपनी अभिरुचि के अनुरूप गढ़ा हुआ साकार स्वरूप है । निराकार भगवान का प्रकाश रूप में और साकार भगवान का देवी देवताओं की आकृति में ध्यान किया जाता है । यह मान्यता भ्रम पूर्ण है कि देवी-देवताओं की स्वतन्त्र सत्ता है और जो उनमें से जिसकी आराधना करता है वे उसके साथ पक्षपात करते हैं, मनोकामना पूरते हैं । इस आधार पर किए गए ध्यान बाल बुद्धि के परिचायक हैं ।

शरीराध्यास के वशीभूत होना ही माया ग्रस्तता है । मृत्यु को भूल जाना ही अज्ञान है । शरीर के प्रति मनुष्य के सीमित कर्तव्य हैं । मनुष्य जन्म की सार्थकता इसी में है कि आत्म सत्ता को ईश्वर का अविनाशी अंश मानें और पूर्णता प्राप्ति के लिए जिन कर्तव्यों और दायित्वों का निर्वाह आवश्यक है, उसमें प्रमाद न बरतें ।

ध्यानयोग में आत्म सत्ता के स्वरूप, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व पर चित्त को केन्द्रीभूत करना है । यह सुयोग भगवान का सबसे बड़ा अनुग्रह है । इसका सही उपयोग इतना ही है कि अपनी अपूर्णताओं से निपटते हुए पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचें । इसी मानवी काया में देवत्व को उभरने दें । दूसरा उद्देश्य है भगवान के इस विश्व उद्यान को अधिकाधिक सुरम्य और समुन्नत बनाने के लिए वर्तमान परिस्थितियों में जो सम्भव है उसे कार्यान्वित करने में चूक न करें ।

हठयोग की प्रक्रिया में षट्चक्र, पंचकोश, कुण्डलिनी तीन नाड़ियों आदि का ध्यान किया जाता है और इन शक्ति संस्थानों के अन्तर्गत जो अतीन्द्रिय क्षमताएँ विद्यमान हैं उसे जागृत करने एवं सशक्त बनाने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु अन्ततः इन उपलब्धियों का प्रयोजन संसार क्षेत्र में अपनी विभूति विशेषता प्रकट करना है । इन सिद्धि साधनाओं में आत्मश्लाघा प्रदर्शित करने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं सधता । अस्तु प्रज्ञावान साधक खेल-खिलवाड़ों में अपना समय नष्ट नहीं करते, एकाग्रता सम्पादन का उद्देश्य पहले पूरा करते हैं ।

चित्तवृत्तियाँ सांसारिक ऐषणाओं में भ्रमण करती रहती हैं । उन्हें वासना, तृष्णा और अहन्ता के रसास्वादन की ललक सताती रहती है । मृग तृष्णा की भाँति उन्हें इसी व्यामोह में भटकते जीवन बीत जाता है । अस्तु योगाभ्यास में इन चित्तवृत्तियों के निरोध की आवश्यकता पूरी की जाती है । संसार की ललक-लिप्साओं से मन समेटकर आत्म ज्योति में चेतना को केन्द्रीभूत किया जाता है । यह प्रक्रिया सम्पन्न की जा रही है और उसमें सफलता भी मिल रही है, ऐसा ध्यान जब भी अवसर अवकाश मिले, तभी करना चाहिए ।

तरह-तरह के दृश्यों की कल्पना करना और उनको मूर्तिमान देखने के लिए प्रयत्न करना, बाल-बुद्धि का यही प्रयास चलते देखा गया है । योग के नाम पर इसी कौतुक कौतूहल में लोग मन बहलाते रहते हैं । प्रज्ञावानों को अपने स्तर के अनुरूप उच्चस्तरीय ध्यान धारणा का अवलम्बन करना चाहिए । ध्यानयोग की सफलता इसी आधार पर सम्भव हो पाती है ।

ध्यानयोग का आधार

ध्यानयोग की चर्चाएँ इन दिनों बहुत होती हैं । कितने ही सम्प्रदाय तो अपनी मूलभूत पूँजी और कार्य पद्धति ध्यान को ही मानते हैं । उनका कहना है कि इसी पद्धति को अपनाने से ईश्वर दर्शन या आत्म साक्षात्कार हो सकता है । कितने ही अतीन्द्रिय शक्तियों के उद्भव और कुण्डलिनी जागरण प्रयोजनों के लिए इसे आवश्यक मानते हैं तो भी ध्यान प्रक्रिया का रूप इतना बहुमुखी है कि एक जिज्ञासु के लिए यह जानना कठिन हो जाता है कि एक ही उद्देश्य की पूर्ति के

लिए जब अनेक मार्ग बताये जा रहे हैं, तो इनमें से किसे अपनाया जाय ? एक को अपना लेने के बाद भी यह सन्देह बना रहता है कि अपनाई गई प्रक्रिया की तुलना में यदि अन्य प्रचलित पद्धतियाँ श्रेष्ठ रहीं तो अपना चुनाव तो घाटे का सौदा रहेगा । यह ऊहापोह बना रहने से प्रायः साधक असमंजस की स्थिति में पड़े रहते हैं । पूरी तरह मन नहीं लगता या उसका कोई परिणाम सामने नहीं आता तो दूसरी विद्या अपनानी पड़ती है । उससे भी कुछ दिनों में ऊब आने लगती है और कुछ दिन में बिना रसानुभूति के लकीर पीटना भी बन्द हो जाता है । जिनका दृढ़ संकल्प के साथ ध्यानयोग लम्बे समय तक चलता रहे, ऐसे कुछ ही लोग दीख पड़ते हैं । श्रद्धा के अभाव में आध्यात्मिक क्षेत्र में बढ़ाये हुए कदम लक्ष्य तक पहुँच ही नहीं पाते ।

कदम को बढ़ाने से पूर्व अच्छा यह है कि इस विज्ञान का स्वरूप एवं आधार समझ लेने का प्रयत्न किया जाय ।

जानने योग्य तथ्य है कि चेतना के साथ जुड़ी हुई प्राण ऊर्जा जहाँ शरीर की ज्ञात-अज्ञात, प्रयत्न साध्य एवं स्वसंचालित गतिविधियों का सूत्र संचालन करती है और जीवित रहने के निमित्त कारणों को गतिशील रखती है, वहाँ उसकी एक और भी विशेषता है कि वह मस्तिष्कीय घटकों के सचेतन एवं अचेतन पक्षों को भी गतिशीलता प्रदान करती है । कल्पना, आकांक्षा, विचारणा एवं निर्धारण की बौद्धिक क्षमता का सूत्र संचालन भी चेतना की जीवनी शक्ति द्वारा ही होता है ।

बच्चों के शरीर दिन भर उछल-कूद करते रहते हैं । उसका प्रयोजन अभी यह होता है अभी वह । जैसा मूड आया वैसी गतिविधियाँ अपनाने लगे । चिड़ियों तथा बन्दरों जैसे पशुओं की अनगढ़ गतिविधियाँ किसी उद्देश्य विशेष के लिए नहीं अपितु अस्त-व्यस्त अनगढ़ और अर्ध विक्षिप्त-सी, ऐसी ही कुछ ऊट-पटांग सी होती है । जिधर मुँह उठ जाता है, उधर ही वे चल पड़ते हैं, भले ही उस श्रम से किसी प्रयोजन की सिद्धि न होती हो ।

मन को यदि अपने प्राकृतिक रूप में रहने दिया जाय तो उसकी कल्पनाएँ अनगढ़ एवं अनियन्त्रित होती हैं । मनुष्य कभी भी कुछ भी सोच सकता है, कभी यह, कभी वह, कल्पना की उड़ानों में ऐसी बातें भी सम्मिलित रहती हैं जिनकी कोई सार्थकता नहीं होती । वैसा बन पड़ना तो सम्भव ही नहीं होता । इन बिना पंखों की रंगीली या डरावनी उड़ानों पर बुद्धिमत्ता ही यत्किंचित नियन्त्रण लगा पाती है और बताती है कि इस प्रकार सोचने से कुछ काम की बात निकलेंगी । जिनकी बुद्धिमत्ता कम और कल्पनाशक्ति बचकानी होती है वे कुछ भी सोच सकते हैं । ऐसी बातें भी, जिनका अपनी वर्तमान स्थिति के साथ किसी प्रकार का तारतम्य तक नहीं बैठता ।

शक्तियों को क्रमबद्ध रूप से किसी एक प्रयोजन के लिए लगाया जाय तो ही उसका कोई प्रतिफल निकलता है । बिखराव से तो बर्बादी के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता । शरीर को नियत निर्धारित काम पर लगाये रहने पर ही कृषि, व्यापार, मजदूरी जैसे काम बन पड़ते हैं और उपयुक्त लाभ मिलता है । आवारागर्दी में घूमते रहने वाले आलसी, प्रमादी अपनी श्रम शक्ति का अपव्यय करते हैं, फलतः उन्हें उपलब्धियों की दृष्टि से छूँछ ही रहना पड़ता है । यही बात मन के सम्बन्ध में है । मस्तिष्कीय ऊर्जा, मानसिक तन्तुओं को उत्तेजित करती है । फलस्वरूप रात्रि स्वप्नों की तरह दिवा स्वप्न भी आते रहते हैं और मनुष्य कल्पना लोक में विचरता रहता है । यदि नियोजित बुद्धिबल कम हो तो व्यक्ति सनकी जैसा बन जाता है और उपहासास्पद कल्पनाएँ करता रहता है । भीतर की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ ही सुहावने और डरावने दिवा स्वप्न विनिर्मित करती रहती हैं और मस्तिष्क उन्हीं सनकों के जाल-जंजाल में फँसा हुआ चित्र-विचित्र, सम्भव-असम्भव बातें सोचता रहता है । फलतः मस्तिष्क जैसे बहुमूल्य तन्त्र का उत्पादन ऐसे ही बर्बाद होता है और उसका प्रतिफल नहीं के बराबर ही हस्तगत होता है । आवारागर्दी में बालकों, बन्दरों जैसी उछल-कूद से मनोविनोद के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता । मस्तिष्कीय बर्बादी, शरीरगत श्रम, समय की बर्बादी से भी अधिक हानिकारक होती है ।

जिस प्रकार शरीर को सुनिश्चित दिनचर्या के अनुशासन में बाँधने वाला कुछ कहने लायक प्रगति कर सकता है, वैसी ही बात मानसिक नियन्त्रण के बारे में भी है । बुद्धिमान लोग अपनी अनगढ़ कल्पनाओं को रोकते रहते हैं और चिन्तन को उसी क्षेत्र में

कल्पनाएँ करने की छूट देते हैं जिनसे कोई कारगर प्रयोजन सधता हो ।

ऐसे ही लोग अपनी प्रखर बुद्धिमत्ता के सहारे किसी निष्कर्ष पर पहुँचते और दिशाधारा निर्धारित करते हैं । लक्ष्य निर्धारित हो जाने पर उसका मार्ग ढूँढ़ने और साधन जुटाने के निमित्त चेतना शक्ति लगती है और निश्चित मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते हुए सफलता की उस स्थिति तक पहुँचा जाता है जिस पर गर्व, हर्ष और सन्तोष की अनुभूति हो सके ।

शरीरगत अनुशासन, मनोगत निर्धारण से आगे की भूमिका है—मन को इच्छित, उपयोगी दिशा में ले चलने की संकल्प शक्ति । यह स्वभावतः किन्हीं बिरलों में ही होती है । इसे अर्जित एवं समुन्नत करने के लिए मनुष्य को विशेष रूप से प्रयत्न करना पड़ता है । सर्कस वाले जिस प्रकार अपने जानवरों को आश्चर्यजनक करतब दिखाने के लिए प्रशिक्षित करते हैं, ठीक उसी प्रकार साधनापरक हंटर के सहारे मन को मात्र सुविचारों में संलग्न होने के लिए-उपयुक्त एकाग्रता अर्जित करने के लिए-प्रयत्न करना पड़ता है । यही ध्यानयोग का स्वरूप एवं उद्देश्य है ।

विचारक, मनीषी, बुद्धिजीवी, साहित्यकार, कलाकार, वैज्ञानिक आदि अपनी कल्पना शक्ति को एक सीमित क्षेत्र में ही जुटाये रहने के कारण तद्विषयक असाधारण सूझबूझ का परिचय देते हैं और ऐसी कृतियाँ-उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर पाते हैं, जिन पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है । यह एकाग्रता का चमत्कार है । बुद्धि की तीव्रता जन्मजात नहीं होती । वह चिन्तन को विषय विशेष में तन्मय करने के फलस्वरूप हस्तगत होती है । चाकू, उस्तरा जैसे औजारों को पत्थर पर घिस देने से वे चमकने लगते हैं और पैनी धार के बन जाते हैं । बुद्धि के सम्बन्ध में भी यही बात है । उसे तन्मयता की खराद पर खराद कर हीरे जैसा चमकीला बनाना पड़ता है । जिनका मन एक काम पर न लगेगा, जो शारीरिक, मानसिक दृष्टि से उचकते-मचकते रहेंगे, वे अपना समय, श्रम बर्बाद करने के अतिरिक्त उपहासास्पद भी बनकर रहेंगे ।

प्रवीणता और प्रतिभा निखारने के लिए, प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए, एकाग्रता का सम्पादन आवश्यक है । शरीरगत संयम बरतने से मनुष्य स्वस्थ रहता और दीर्घ जीवी बनता है, उसी प्रकार मनोगत संयम-एकाग्रभाव सम्पादित करने से वह बुद्धिमान, विचारकों की गणना में गिना जाने लगता है ।

कछुए और खरगोश की कहानी बहुतों ने सुनी होगी, जिसमें अनवरत चलते रहने वाला उस खरगोश से आगे निकल गया था, जो अहंकार में इतराता हुआ अस्त-व्यस्त चलता था । वरदराज और कालिदास जैसे मूढ़मति समझे जाने वाले जब दत्तचित्त होकर पढ़ने में प्रवृत्त हुए तो मूर्धन्य विद्वान बन गए । यह तत्परता और तन्मयता के संयुक्त होने का चमत्कार है । बिजली के दोनों तार जब संयुक्त होते हैं तो करेण्ट बहने लगता है । गंगा और यमुना के मिलने पर पाताल से सरस्वती की तीसरी धारा उमड़ती है । ज्ञान और कर्म का प्रतिफल भी ऐसे ही चमत्कार उत्पन्न करता है । मन और चित्त के समन्वय से उत्पन्न होने वाली एकाग्रता के भी ऐसे ही असाधारण प्रतिफल उत्पन्न होते देखे गए हैं ।

सूर्य की बिखरी किरणें मात्र गर्मी और रोशनी उत्पन्न करती हैं, किन्तु जब उन्हें छोटे से आतिशी-शीशे द्वारा एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है तो देखते-देखते चिंनगारियाँ उठती हैं और भंयकर अग्निकाण्ड कर सकने में समर्थ होती हैं । बिखरी हुई बारूद आग लगने पर भक् से जलकर समाप्त हो जाती है, किन्तु उसे बन्दूक की नली में सीमाबद्ध किया जाय तो भयंकर धमाका करती है और गोली से निशाना बेधती है । भाप ऐसे ही जहाँ-तहाँ से गर्मी पाकर उठती रहती है, पर केन्द्रित किया जा सके तो प्रेशर कुकर, पकाने और रेलगाड़ी, चलाने जैसे काम आती है । अर्जुन मत्स्य बेध करके द्रौपदी स्वयंवर इसीलिए जीत सका था कि उसने एकाग्रता की सिद्धि कर ली थी । इसी के बलबूते विद्यार्थी अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण होते, निशानेबाज लक्ष्य बेधते और सर्कस वाले एक से बढ़कर एक कौतूहल दिखाते हैं । संसार के सफल व्यक्तियों की एक विशेषता अनिवार्य रूप से रही है, कि वे अपने मस्तिष्क पर काबू प्राप्त किए रहे हैं । जो निश्चय कर लिया उसी पर अविचल भाव से चलते रहे हैं, बीच में चित्त को डगमगाने नहीं दिया है । यदि उनका मन अस्त-व्यस्त, डाँवा-डोल रहा होता तो कदाचित् ही किसी कार्य में सफल हो सके होते ।

योगाभ्यास में मनोनिग्रह को आत्मिक प्रगति की प्रधान भूमिका बताया गया है । इन्द्रिय संयम वस्तुतः मनोनिग्रह ही है । इन्द्रियाँ तो उपकरण मात्र हैं । वे स्वामिभक्त सेवक की तरह सदा आज्ञा पालन के लिए प्रस्तुत रहती हैं । आदेश तो मन ही देता है । उसी के कहने पर ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ ही नहीं, समूची काया भले-बुरे आदेश पालन करने के लिए तैयार रहती है । अस्तु संयम साधना के लिए मन को साधना पड़ता है । संयम से शक्तियों का बिखराव रुकता है और समग्र क्षमता एक केन्द्र बिन्दु पर एकत्रित होती है । फलतः उस मनःस्थिति में जो भी काम हाथ में लिया जाय, सफल होकर रहता है ।

ध्यानयोग सांसारिक सफलताओं में भी आश्चर्यजनक योगदान प्रस्तुत करता है । उसके आधार पर अपना भी भला हो सकता है और दूसरों का भी किया जा सकता है ।

ध्यानयोग द्वारा आत्मबल का सम्वर्धन

ध्यानयोग के पीछे कितने अति महत्त्वपूर्ण प्रयोजन छिपे हुए हैं । इस पुण्य-प्रक्रिया को अपनाकर मनुष्य अन्तर्जगत में प्रवेश करना और उसकी खोज-बीन करना सीखता है । बहिरंग जगत में जो कुछ भी प्रिय लगता है, रसानुभूति होती है वह अन्तरंग की प्रतिक्रिया मात्र है । जिह्वा के रस तन्तु सम्वेदनशील हों तो ही भोजन में स्वाद की अनुभूति होगी । पेट ठीक हो, तो ही आहार का आनन्द मिलेगा । यही बात अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी है । नेत्र ज्योति शिथिल हो गई हो तो फिर सौन्दर्य की अनुभूति कैसे होगी ? कान जवाब दे चुके हों तो मधुर गायन और सारगर्भित श्रवण में क्या कुछ रस रह जायेगा ? नपुंसकता घेर ले तो फिर काम सेवन के सारे साधन निरर्थक हैं । इन्द्रियों की तरह ही मन की प्रखरता और सम्वेदनशीलता के कारण ही सामान्य परिस्थितियों में स्वर्ग जैसा उत्साह अथवा नरक जैसा असन्तोष देखा जा सकता है । एक ही स्थिति, एक व्यक्ति को एक प्रकार की और दूसरे को उससे ठीक विपरीत दूसरे तरह की लगती है । यह चिन्तन और दृष्टिकोण का अन्तर ही है जिसके कारण वस्तुओं और व्यक्तियों के चित्र से विचित्र प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं ।

अन्तर्जगत् को सुव्यवस्थित बना लिया जाय तो बाह्य जगत में जो विपन्नताएँ घिरी रहती हैं वे देखते-देखते सामान्य एवं सुखद बन जाती हैं । अपना व्यवहार बदलते ही दूसरों के स्नेह सद्भाव की प्रतिक्रिया उभरने लगती है । अपना चिन्तन सुलझ जाने पर सन्तुलन बनते और तालमेल बैठते देर नहीं लगती । आत्मीयता के व्यापक होते ही सर्वत्र अपनापन फैला दीखता है और हर वस्तु अपनी दीखने के कारण रुचिर और सुखद लगने लगती है । कण-कण में ईश्वर की झाँकी का ब्रह्मानन्द मिलने में अपनी चिन्तन विकृति के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है ।

अन्तरंग को देखने, परखने, सुधारने-सुविकसित और सुसंस्कृत बनाने का परम पुरुषार्थ तभी बन पड़ता है जब भीतर प्रवेश करने का द्वार खुले । इसका प्रथम चरण ध्यान है । ध्यान द्वारा अन्तर्मुखी होने की आदत पड़ती है । तत्वदर्शन के सम्बन्ध में मनन और चिन्तन कर सकना सम्भव होता है । आत्म सत्ता की स्थिति, आकांक्षा एवं आवश्यकता को समझने और तदनुरूप साधन जुटाने की बात तभी बनती है, जब अन्तर्जगत को ठीक तरह देख और समझ सकना सम्भव हो सके । यह कार्य ध्यान में तीक्ष्णता उत्पन्न होने पर ही बन पड़ता है ।

ध्यान का दूसरा लाभ एकाग्रता सम्पादन का है । चित्तवृत्तियाँ प्रायः अनियन्त्रित और उच्छृंखल बनी अव्यवस्थित रूप से अस्त-व्यस्त परिभ्रमण करती रहती हैं । इस बिखराव में बहुमूल्य मानसिक शक्तियों का अपव्यय ही होता है । बहुत करके तो चिन्तन की इस विशृंखलता के साथ-साथ अवांछनीय तत्व ही लिपट पड़ते हैं । कहते हैं कि "खाली दिमाग शैतान की दुकान ।" यदि विचारों को व्यवस्थित एवं उपयोगी कार्यों में न लगाया जायेगा, तो उसके अभाव का लाभ आसुरी तत्व उठायेंगे और पतनोन्मुख पशु प्रवृत्तियों का मनःक्षेत्र पर अधिकार सघन होता चला जायेगा । एकाग्रता से बिखराव सिमटता है और उससे शक्ति उत्पन्न होती है । सभी जानते हैं कि छोटे से अतिशी-शीशे पर फैली हुई सूर्य किरणें एक बिन्दु पर एकत्रित कर दी जायें तो आग जलने लगती है ।

बारूद को बन्दूक की नली में सीमाबद्ध करके एक दिशा विशेष में लगाया जाय तो लक्ष्य वेध का चमत्कार उत्पन्न होता है । भाप की सीमित धारा के प्रयोग से इन्जन में पूरी रेलगाड़ी खींचने की शक्ति उत्पन्न होती है । सर्कस के नट एवं जिम्नास्टिक के खिलाड़ी एकाग्रता की शक्ति से आश्चर्य भरे करतब दिखाते हैं । ध्यान से एकाग्रता का लाभ मिलता है । मस्तिष्कीय बिखराव का केन्द्रीकरण मनुष्य में अद्भुत प्रतिभा एवं क्षमता का विकास करता है ।

अनियन्त्रित विचार शोक, क्रोध, व्यामोह, विलाप, ईर्ष्या, चिन्ता, भय, निराशा आदि निषेधात्मक गलियों में भटकते रहते हैं और स्वल्प कारणों को लेकर भयंकर मानसिक विक्षोभ उत्पन्न करते हैं । फलतः जीवन का सार आनन्द नष्ट हो जाता है और पग-पग पर जलने, झुलसने जैसा कष्ट सहना पड़ता है । ध्यान द्वारा विचारों को पकड़ने और एक दिशा से हटाकर दूसरी में नियोजित करने की क्षमता उत्पन्न होती है । यह कहने-सुनने में छोटी किन्तु व्यवहार में अति महत्त्वपूर्ण विशेषता है । यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रचण्ड मनस्विता के सहारे क्रोध, शोक, कामुकता जैसे उभारों को वशवर्ती करने और चिन्तन की धारा तत्काल किसी उपयोगी प्रयोजन में लगा देने की विशेषता प्राप्त कर ले तो समझना चाहिए उसने भव-बन्धनों को काट लिया और स्वर्गीय आनन्द को करतल गत कर लिया ।

हर कोई जानता है कि असफलताओं का कारण साधनों की कमी अथवा परिस्थितियों की प्रतिकूलता उतनी बाधक नहीं होती जितनी कि चित्त की चंचलता । आधे अधूरे मन से उपेक्षा और अन्यमनस्कता के साथ किए गए कार्य प्रायः अस्त-व्यस्त ही रहते हैं और उनकी प्रतिक्रिया, भर्त्सना एवं असफलता के रूप में ही सामने आती है । यदि तन्मयता और तत्परता के साथ कार्य किए जायें तो कालिदास, वरदराज जैसे मन्द बुद्धि लोग भी उच्चकोटि के विद्वान बन सकते हैं । शारीरिक क्षमता के प्रति उदासीनता का अर्थ है—आलस्य । मानसिक दक्षता का उपयोग न करने की प्रवृत्ति को कहते हैं—प्रमाद । सर्वविदित है कि मनुष्य की दरिद्रता और दुर्दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व आलस्य और प्रमाद का ही होता है । इन दोनों महाशत्रुओं की जननी चित्त की चंचलता है । ध्यान का उद्देश्य चंचल चित्त को मजबूत रस्सों से कसकर नियत प्रयोजन में लगा देने की दक्षता प्राप्त कर लेना है । मनोनिग्रह इसी को कहते हैं ।

योग विद्या में मनोनिग्रह का बहुत महत्त्व बताया गया है । मन को वश में कर लेने पर सब कुछ वश में हो जाता है । निग्रहीत मन को कल्पवृक्ष कहा गया है और उसकी चमत्कारी उपलब्धियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मूर्धन्य स्तर के लोग—वैज्ञानिक, कलाकार, साहित्यकार, साधन-सम्पन्न, प्रगतिशील, श्रेयाधिकारी महामानव-मनोनिग्रह के सहारे ही ऊँचे उठे और सफलता के शिखर तक पहुँचे हैं । भौतिक, आत्मिक अथवा दोनों क्षेत्रों की समन्वित सफलता मानसिक दक्षता को अभीष्ट प्रयोजन में नियोजित किए रह सकने की विशेषता पर निर्भर है । यही आत्म-नियन्त्रण धैर्य, साहस, संकल्प-बल, दृढ़ चरित्र आदि के रूप में सद्गुण बनकर प्रकट परिलक्षित होता है । सफलताएँ इसी मनन स्थिति के चरण चूमती रही हैं और यही क्रम अनन्त काल तक बना रहेगा ।

ध्यान का तीसरा लाभ है—संकल्प शक्ति की परिपक्वता । शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के विभिन्न उपचारों से कई प्रकार के अभ्यास साधकों को कराये जाते हैं । माहात्म्य तो देवताओं, मन्त्रों, दृश्यों, आवाजों का बताया जाता है और उनके साथ तन्मयतापूर्वक मनःचेतना को लपेटे रहने का निर्देश गुरुजनों द्वारा दिया जाता है । इसके पीछे मूल लाभ एक ही है कि विचार प्रवाह की अस्त-व्यस्तता रोक सकने वाली-सीमित बिन्दु पर ध्यान जमाये रहने वाली प्रचण्ड-संकल्प शक्ति का उद्भव किया जाय । साधारणतया विचारों की दौड़ बेलगाम होती है, जंगली हिरनों की तरह वे किसी भी दिशा में दौड़ते हैं और किसी का अंकुश स्वीकार नहीं करते । इन्हें नियन्त्रित करने के लिए ध्यान धारणा के चित्र अथवा शब्द गढ़े जाते हैं । देवताओं के तथा प्रकाश आदि के चित्रों पर अथवा नादयोग के आधार पर चित्र-विचित्र ध्वनियों पर विचार शक्ति को, कल्पना एवं भावना को गहन श्रद्धा के साथ नियोजित किया जाता है । इसमें उतनी ही सफलता मिलती है जितनी कि विचारों पर हावी हो सकने वाली संकल्प शक्ति प्रचण्ड होगी । वस्तुतः ध्यान धारणा का सारा उपक्रम

उस संकल्प शक्ति को प्रबल बनाना है जो रिंग मास्टर द्वारा सर्कस के जानवरों को हन्टर के बल पर नचाने की तरह विचारों को किसी भी केन्द्र पर केन्द्रित कर देने में सफल हो सकती है ।

यह संकल्प-बल ही प्राणबल, आत्मबल, ब्रह्मवर्चस आदि नामों से पुकारा गया है । इसी विद्युतधारा को अन्तरंग की प्रसुप्त क्षमताओं के ऊपर फेंका और उन्हें जागृत किया जाता है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक से एक अद्‌भुत शक्ति संस्थान छिपे पड़े हैं, इन्हें ढूँढ़ निकालना और परिष्कृत कर सकना इन्हीं संकल्पों की केन्द्रीय शक्ति के लिए सम्भव है । अतीन्द्रिय क्षमता जगाने का यही एक मात्र उपकरण है । एक ही बन्दूक से अनेक शत्रुओं को धराशायी बनाया जा सकता है । एक ही कलम से विभिन्न स्तर के लेख लिखे जा सकते हैं । एक ही खेत में कई प्रकार की फसलें उग सकती हैं । एक ही रुपये से कई वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं । एक ही मनुष्य कई तरह के कृत्य कर सकता है । ठीक इसी प्रकार एक ही प्रचण्ड संकल्प-शक्ति से अन्तर्जगत् के कितने ही शक्ति संस्थानों को जगाया-उठाया जा सकता है । एक ही क्रेन कितने ही भारी भरकम पार्सलों को उठाती-चढ़ाती रहती है । मनोबल के सहारे बजनदार षट चक्रों, उपत्यिकाओं तथा अन्तर्मन की गहरी दबी-गढ़ी परतों को उभारा उठाया जाता है । सूर्य उदय होता है तो प्राणधारियों में सक्रियता का संचार होता है । मनोबल का सूर्य जिस भी क्षेत्र में अपनी प्रकाश किरणें फेंकता है उसी की आभा निखरने लगती है ।

मनुष्य में जन्मजात रूप से ईश्वरीय अंश उतना ही जागृत रहता है जिससे पेट प्रजनन का सामान्य निर्वाह क्रम सरलतापूर्वक चलता रह सके । शेष दिव्य क्षमताओं के भण्डार प्रसुप्त स्थिति में पड़े होते हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक जागृत करना पड़ता है । अतीन्द्रिय क्षमताओं की आये दिन चर्चा होती रहती है । बहुत से व्यक्तियों में कितने ही प्रकार की अलौकिकताएँ पायी जाती हैं । यह उनके साधना प्रयासों द्वारा अथवा पूर्व संचित जागरण प्रयत्नों का प्रतिफल होता है । जीवात्मा क्रमशः महात्मा, देवात्मा, परमात्मा स्तर पर विकसित होती है और लघु से महान बनती है । यह सफलताएँ किसी दूसरे का दिया हुआ अनुग्रह उपकार नहीं होता वरन् आत्म-सत्ता के क्रमिक विकास की प्रतिक्रिया ही होती है । जिस उपकरण के माध्यम से यह प्रगति क्रम अग्रसर होता है उसे मनोबल ही कह सकते हैं । इस पेट्रोल के बिना कोई मोटर किसी भी सड़क पर दौड़ लगाने में असमर्थ रहती है ।

मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में एक से एक अद्‌भुत शक्ति केन्द्रों के समुच्चय विद्यमान हैं । अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ बन सके और असमर्थ दीखने वाला व्यक्ति सर्व समर्थ स्तर तक पहुँच सके ऐसी सम्भावनाएँ मौजूद हैं । प्रश्न प्रसुप्ति को जागृति में बदलने का है । इसी प्रयत्न पुरुषार्थ को योग कहते हैं । योग साधना की प्रधान क्षमता मनोबल है । संकल्प बल के प्रहार से शक्ति संस्थानों का समुद्र मन्थन होता है और उसी में से सिद्धियों की रत्न राशि निकलकर ऊपर आती है ।

ध्यान एक प्रकार का व्यायाम है जिसमें प्रत्याहार और धारणा के उभय पक्ष पूरे करने पड़ते हैं । प्रत्याहार का अर्थ है—अनुपयुक्त चिन्तन का बलपूर्वक प्रतिरोध करना और धारणा का तात्पर्य है जो अभीष्ट है उसे अंगीकार करने के लिए अतिशय आग्रह करना । यह सर्कस में वन्य पशुओं को प्रशिक्षित करने जैसी प्रक्रिया है । ताड़ना और प्रलोभन की उल्टी-सीधी चालें चलकर उद्दण्ड पशुओं को साधना पड़ता है । चित्तवृत्तियों की स्थिति भी लगभग वैसी ही है । साधने की सफलता में उन पशुओं को भी यश मिलता है और शिक्षक की कुशलता भी सराही जाती है । इन साधकों और सिद्धों की उपयोगिता बढ़ती है और उनका बढ़ा-चढ़ा मूल्यांकन होता है । यह ध्यान का ही चमत्कार है कि प्रत्याहार और धारणा की डण्ड-बैठक करते हुए साधक को मनोबल सम्पन्न बनने का अवसर मिलता है । चक्र-बेधन, कुण्डलिनी जागरण, अतीन्द्रिय उन्नयन, दिव्य आभास, शक्ति संचरण जैसी आध्यात्मिक उपलब्धियों का आधार बढ़ा हुआ संकल्प बल ही होता है । ध्यान साधना का यही सबसे बड़ा लाभ है ।

ध्यान के यह प्रमुख लाभ हैं । व्यायामशाला में जाकर शरीर बल उपार्जित किया जाता है और फिर, उससे निरोगी काया, दीर्घ-जीवन, प्रतियोगिता विजय अधिक उपार्जन, प्रभाव, वर्चस्व जैसे कितने ही लाभ मिलते रहते हैं । ठीक इसी प्रकार ध्यान की मानसिक व्यायाम प्रक्रिया से संकल्प-शक्ति प्रखर एवं परिपक्व होती

है और उससे चेतना की विशिष्टता का परिचय देने वाले अनेकानेक सत्परिणाम सामने आते हैं । समृद्धियों और विभूतियों के जीवन को सुख-सम्पदा से—शान्ति-सन्तोष से—वैभव-वर्चस्व से भर देने वाले अवसर जिस आधार पर मिलते हैं, उनमें शरीर बल से भी बढ़कर मनोबल का स्थान है । कहना न होगा कि इस महान उपलब्धि के अभिवर्धन में ध्यान साधना से बढ़कर और कोई दूसरा सरल एवं सफल उपाय नहीं है ।

छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के छठे और सातवें खण्ड में ध्यानयोग को उपासना की उच्च कक्षा कहा गया है । नामोच्चार से बढ़कर वाक्, वाक् से भी बड़ा मन, मन से अधिक महत्त्वपूर्ण संकल्प और संकल्प से बलवत्तर को चित्त कहा गया है । चित्त से भी बढ़कर ध्यान को बताया गया है । नाम, जप, वाक्-संयम, मनोनिग्रह, संकल्पोद्भव, चित्तनिरोध ये सब उपासना की क्रमिक भूमिकाएँ हैं । ध्यान इन सबसे ऊपर है ।

मन को एक विशेष परिधि में दौड़ाने के लिए साधना ध्यान है । निर्धारित परिधि के अन्तर्गत ही ध्यान-चेष्टाएँ केन्द्रित रहना साधनाक्रम की सही दिशा का संकेत है । मन की चंचलता से यदा-कदा उल्लघंन तो होगा, पर सतत् प्रयत्न से यह उल्लघंन घटता जायेगा और मन सधता जायेगा ।

आवश्यकता नहीं है कि ध्यान साधना देवी-देवताओं और मन्त्र-तन्त्रों के आधार पर ही की जाय । यह सार्वभौम एवं सर्वजनीन प्रक्रिया है । आस्तिक-नास्तिक सभी इसे अपनाकर समान रूप से अपना मनोबल बढ़ा सकते हैं । चित्त की चंचलता का समाधान, एकाग्रता का अभिवर्धन जिस उपाय से बन पड़े उसे ध्यान कहा जा सकता है । अन्तःक्षेत्र में घुसी हुई पशु-प्रवृत्तियों के स्थान पर दैवी तत्वों की स्थापना के लिए जो प्रयत्न किए जायें उन्हें धारणा वर्ग का कहा जायेगा । इसके लिए किसी पुष्प को भी माध्यम बनाया जा सकता है । देवताओं के स्थान पर किन्हीं महामानवों के व्यक्तित्व एवं चरित्र को ध्यान धारणा के लिए चुना जा सकता है ।

एकान्त कोलाहल रहित स्थान में जहाँ शान्ति हो, ध्यान का अभ्यास किया जाता है । प्रारम्भ में ध्यान का आधार किसी भौतिक माध्यम को भी बनाया जा सकता है । हम गुलाब के फूल से शुरू कर सकते हैं । एक चौकी पर हरे या नीले रंग का कपड़ा बिछाएँ । उस पर खिला हुआ गुलाब का फूल रखें । फूल की पंखुरियों की बनावट तथा रंगों के उतार-चढ़ाव और मध्यवर्ती पराग को गहराई के साथ देखते हुए बारीक विश्लेषण जैसा करते हुए एक-एक चीज मस्तिष्क में स्थिर करते जायें, मानो थोड़ी देर बाद परीक्षा में ये सब विवरण पूछे जाने वाले हैं । जब फूल देखते-देखते मन ऊबने लगे, तो फिर गुलाब से बनने वाली वस्तुओं की बावत सोचें—गुलाबजल, इत्र, गुलकन्द, फूलमाला आदि के बनने की विधि एवं इनके स्वरूप का स्मरण-मनन करें । गुलाब पुष्प कोमल, शीतल, सुगन्धित, कब्ज निवारक, वायु विकार नाशक आदि गुणों का स्मरण करें, विचार करें । गुलाब की खेती, उससे लाभ, गुलाब की आध्यात्मिक प्रकृति—काँटों के बीच सन्तोषपूर्वक रहना, हँसना-हँसाना, खिलना-खिलाना, परिवेश का सौन्दर्य बढ़ाना, सुगन्ध और पराग का दान, प्रभु चरणों में समर्पण आदि का विचार करें । तात्पर्य यह कि घण्टों गुलाब पुष्प पर ही सोचते रहें । उद्देश्य है—मन की अस्त-व्यस्त घुड़दौड़ को परिधिबद्ध व व्यवस्थित करना । अभ्यास से एकाग्रता बढ़ेगी, मन की भागदौड़ घटेगी ।

यही अभ्यास किसी महापुरुष के जीवन-वृत्तान्त को चिन्तन की परिधि बनाकर किया जा सकता है । किसी गीत या श्लोक के भावार्थ, संगीत की किसी धुन के विवेचन, किसी गुण विशेष जैसे ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, संयम, उदारता आदि का सुदीर्घ विश्लेषण-मनन आदि कोई भी आधार लिया जा सकता है ।

आत्मोत्कर्ष साधना में ईश्वर भक्ति का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है । 'परिपूर्ण व्यक्तित्व' के रूप में ईश्वर की अन्तःकरण में प्रतिष्ठापना की जाती है और फिर उसमें आत्मसात होने का भाव भरा उपक्रम चलता है । इष्टदेव का अर्थ है—अपने विकास का अन्तिम लक्ष्य । हम राम, कृष्ण, हनुमान, सूर्य आदि नर रूपकों में अथवा गायत्री, सरस्वती, लक्ष्मी आदि नारी कलेवरों में विष्टदेव का निर्धारण करते हैं और आत्मोत्कर्ष की उस शिखर तक पहुँचने का संकल्प करते हैं । इष्टदेव के साथ तन्मय अविछिन्न-एकाकार हो जाने की साधना 'लय-योग' कहलाती है । भक्ति मार्ग में इसी दिशा में बढ़ा जाता है । द्वैत को मिटाकर अद्वैत बन जाने

की आकांक्षा को आत्म-समर्पण, ईश्वर प्राप्ति कहा जाता है । दीपक पतंगे का उदाहरण इसी प्रयोजन को समझाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है ।

आत्म-समर्पण स्तर की साधना में अपने अस्तित्व को भगवान की सत्ता में समर्पित होने का ध्यान करना होगा । परमेश्वर के विराट् रूप का चिन्तन-विवेचन इसमें सहायक होगा । विराट् ब्रह्म को इस चराचर जगत का शरीर मानते हुए कल्पनाएँ की जायें । इस विराट् ब्रह्म का एक क्षुद्रतम घटक है अपना 'अहम्' । इसका स्वतन्त्र क्या अस्तित्व ? हमारी सत्ता ब्रह्म सत्ता की ही एक इकाई है । अतः विराट् ब्रह्म-विश्वमानव के लिए हमें अपने अस्तित्व का समर्पण करते हुए ही जीवन-यापन करना चाहिए । विराट् ब्रह्म की ध्यान धारणा का यही निष्कर्ष है । आत्मा को शरीर से भिन्न सत्-चित्-आनन्द स्वरूप मानना और शरीर तथा आत्मा की भिन्नता की गहराई से अनुभूति करना तथा मात्र शारीरिक सुविधाओं में जुटे रहने की व्यर्थता का स्मरण कर आत्मकल्याण का सोत्साह संकल्प भी ध्यान-प्रक्रिया का एक प्रयोजन है ।

प्राणि-जगत तथा पदार्थ मात्र में एक ही चेतन-तत्व परिव्याप्त है । समस्त विश्व चेतन-सत्ता का स्वरूप है । व्यापक चेतना के साथ एकाग्रता होने पर ऐसी अनुभूति का सातत्य ही भगवत्-प्राप्ति का स्वरूप है ।

इस समस्त विश्व को ईश्वर का विराट् रूप मानकर उसमें अपने आपको समर्पित कर देना साधु और ब्राह्मण जीवन की परम्परा है । विश्व पीड़ा को अपनी पीड़ा मानना और अपनी सुख-सम्पदा को लोक हित में होम देना लोक-सेवियों की परमार्थ साधना रही है । संकीर्ण स्वार्थपरता को छोड़कर अपने को विश्व परिवार का सदस्य मानना—वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से ओत-प्रोत रहकर लोकहित के क्रिया-कलापों में निरत रहना भी आत्म-समर्पण का ही एक अति महत्त्वपूर्ण योग साधन है ।

ध्यानयोग साधना और इष्टदेव

ध्यानयोग की साधना में अन्तःकरण को प्रबल बनाना पड़ता है । वह मन पर अनुशासन स्थापित करने के लिए तत्पर होता है । उसके अनगढ़पन को, अल्हड़पन को उच्छृंखल छोड़ने और व्यवस्था के अन्तर्गत रहने के लिए साधता है । यह कार्य लगभग वैसा ही है जैसाकि सर्कस के लिए हिंस्र पशुओं को साधने, सिखाने के लिए रिंग मास्टर द्वारा किया जाता है । ध्यान में न केवल मन की अनियन्त्रित भगदड़ को रोककर किसी सीमित परिधि में चिन्तन करने के लिए विवश किया जाता है वरन् उसे सदुद्देश्य अपनाकर उपयोगी मार्ग पर चलने के लिए भी सहमत किया जाता है । मानसिक क्षेत्र पर विवेकशील सुव्यवस्था का शासन स्थापित करने के लिए ध्यानयोग का विज्ञान विनिर्मित किया गया है ।

ध्यान का प्रथम चरण यह है कि विचारों की एक विशेष परिधि में ही दौड़ने का अभ्यास कराया जाय । यह कार्य उपासना क्षेत्र में धर्मपरायण साधकों द्वारा इष्टदेव की छवि का ध्यान करने के रूप में किया जाता है । इसके लिए किसी प्रतिमा को आधार बनाया जाता है । अवतारों की, देवताओं की छवियाँ, मूर्तियाँ एवं तस्वीरों के रूप में सामने रहती हैं । आरम्भ में उन्हें खुली आँखों से देखते हैं । पीछे उन्हें आँखें बन्द करके सूक्ष्म नेत्रों से निहारने का अभ्यास किया जाता है । इन छवियों में देवताओं को विस्तृत कलेवर धारण किए हुए चित्रित किया जाता है । उन्हें चित्र-विचित्र वस्त्र, आभूषण, शस्त्र, वाहन, प्रिय पदार्थ आदि सहित सुसज्जित रखा जाता है ताकि मन को भगदड़ के लिए कितनी ही तरह की वस्तुएँ मिल सकें । देर तक एक जगह टिकने की आदत को इस प्रकार समाधान मिल जाता है कि इष्टदेव की छवि के साथ जिस सरंजाम को जुटाया गया है उन पर वह आसानी से उछल-कूद करता रहे । यह प्रथम अभ्यास है, कहीं भी भाग-दौड़ने की आदत को इस उपाय से एक सीमित परिधि में उछल-कूद करते रहने का अवसर मिलता है । इस प्रकार मनोनिग्रह का प्रथम चरण सीमित भगदड़ का उद्देश्य कुछ समय में पूरा होने लगता है ।

इस साकार उपासना में मन को अधिक रुचि पूर्वक लगाये रहने के लिए इष्टदेव की सामर्थ्य का माहात्म्य पहले से ही मन को समझा दिया जाता है । उसके अनुग्रह से क्या-क्या लाभ, वरदान मिल सकते हैं यह कल्पना पहले से ही रहती है । इसके अतिरिक्त इष्टदेव के प्रति गुरुजनों जैसी सघन श्रद्धा का भी

आरोपण रखा जाता है । किसी घनिष्ठ सम्बन्धी के रूप में उन पर आत्मीयता का आरोपण करना आवश्यक होता है । भगवान को, इष्टदेव को किस रिश्ते में बाँधकर उनके साथ भावभरी आत्मीयता उत्पन्न की जाय यह साधक की अपनी इच्छा पर निर्भर है । इसके लिए रुचि पूर्वक चयन करने की पूरी छूट दी गई है । भगवान को "त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धु च सखा त्वमेव" आदि स्तवनों में माता पिता, गुरु जैसे पूज्य स्तर में भ्राता सखा जैसे समान स्तर में से किस स्थापना को अपनाया जाय यह साधक की अपनी इच्छा पर निर्भर है । स्त्रियाँ उन्हें पति रूप में भी रख सकती हैं । मीरा ने उन्हें इसी सम्बन्ध सूत्र में बाँधा था । अन्य साधक "पितु मातु, सहायक, स्वामि, सखा, तुम्हीं एक नाथ हमारे हो" के अनुसार चयन करते रहे हैं रिश्तेदारों के प्रति सहज आत्मीयता रहती है, इसलिए ध्यानयोग के प्रथम चरण में इस प्रकार के लौकिक सम्बन्धों की स्थापना को मन को आकर्षित किए रहने के लिए आवश्यक माना गया है ।

ध्यानयोग की साकार साधना की कक्षा छोटी परिधि में अपनी गतिविधियाँ सीमित रखने के लिए मन को साधने की उपयुक्त प्रक्रिया है । इसमें इष्टदेव के सान्निध्य में इनकी विशेषताओं को हृदयंगम करने का अपने गुण, कर्म, स्वभाव को परिष्कृत करने का अवसर मिलता है । भगवान के अवतारों और देवी-देवताओं का कलेवर एवं चरित्र-चित्रण सत्प्रवृत्तियों से भरा-पूरा रहता है । सान्निध्य की तरह ही किसी प्रसंग विशेष का चिन्तन करते रहने से भी अन्तःचेतना पर उसकी छाप पड़ती है । स्वाध्याय में विचारों से निरन्तर सम्पर्क रखने का प्रतिफल अन्तःचेतना को परिष्कृत करने में कितना सहायक होता है यह सर्व विदित है । संगति की महिमा भी किसी से छिपी नहीं है । सत्संग का अच्छा और कुसंग का बुरा परिणाम निश्चित रूप से पड़ता है । सत्साहित्य और दुष्ट साहित्य का प्रभाव भी भली-बुरी फिल्मों की तरह ही होता है । ध्यान में इष्टदेव को यदि उत्कृष्ट स्तर का रखा गया है तो उनके सान्निध्य की ध्यान साधना साधक के व्यक्तित्व को इष्टदेव के स्तर तक उठाने की प्रेरणा देगी । साधकों की रुचि भिन्नता को देखते हुए तत्वदर्शी ऋषियों ने अनेकों देवी-देवताओं एवं अवतारों का, छवियों का निर्माण निर्धारण इसी दृष्टि से किया था । उनके गुण, कर्म, स्वभावों में ऐसी ही उत्कृष्टता जोड़ी गई थी जो जन साधारण के लिए उपयोगी प्रेरणाएँ प्रदान कर सके । उनके चरित्र भी ऐसे ही गढ़े गए थे जिनसे साधकों को ऊँचा उठने के लिए दिशा मिल सके । मर्यादा पुरुषोत्तम राम-योगेश्वर कृष्ण आदि के चरित्र इसी प्रकार के हैं । पीछे ओछी प्रकृति के लोगों ने उनके चरित्रों एवं कृत्यों में भी अनैतिक एवं असामाजिक गतिविधियाँ जोड़कर मूल उद्देश्य को ही नष्ट करने का प्रयत्न किया है । विवेकशील साधक उस प्रछन्न और अवांछनीय चरित्र चित्रण को छोड़ देते हैं और मात्र उतना ही ध्यान में रखते हैं जो उत्कृष्टता की प्रेरणा दे सकने में समर्थ हैं ।

इमारतें बनाने से पूर्व नक्शे एवं मॉडल बनाये जाते हैं । उन्हीं को देख-देखकर इमारत बनती है । साँचे पहले बनते हैं, पीछे खिलौने, आभूषण, पुर्जे आदि ढलते चले जाते हैं । इष्टदेव का निर्धारण एवं चयन एक साँचा है जिसमें साधक अपने व्यक्तित्व को ढालने का प्रयत्न करता है । ध्यान प्रतिमाएँ ऐसी ही होनी चाहिए । अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है । यदि इष्टदेव पशु-पक्षी, मद्यपायी, क्रूर कर्मा, व्यभिचारी, छली, दंभी स्तर का चुन गया होगा तो निश्चित ही भक्ति भावना के कारण उन दुर्गुणों को साधक की अन्तःचेतना अपनाने लग जायेगी । ऐसे ध्यान हानिकारक ही सिद्ध होते हैं । तन्त्र साधनाओं के अन्तर्गत प्रायः इष्टदेव की क्रूर कर्मा छवियों का आश्रय लिया जाता है । इससे दुस्साहस तो जग सकता है पर चरित्र की दृष्टि से निकृष्टताएँ ही पल्ले बँधती हैं । वाम मार्गी साधकों की प्रकृति में क्रूरता की अभिवृद्धि किस तेजी से होती है इसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है ।

सौम्य इष्टदेवों का चयन ही ध्यानयोग की साकार कक्षाओं में चुना जाना चाहिए । उदाहरण के लिए शिव मस्तिष्क में प्रवाहित होने वाली सद्‌विचारों की ज्ञान गंगा—मस्तिष्क पर धारण किया हुआ सन्तुलन रूपी चन्द्रमा—विवेकशील दूरदर्शिता का प्रतिनिधि तृतीय नेत्र—विश्व कल्याण के लिए गरल पान का बलिदानी नीलकंठ—सर्प दुष्टों को भी गले लगाकर सुधार प्रयास—गले में मुण्ड माला मरण की स्मृति हृदयंगम किए रहना, कटि प्रदेश में व्याघ्र चर्म सिंह जैसा

पराक्रम—डमरू उद्‍बोधन, भूत प्रेतों की सेना, पिछड़े लोगों का उत्थान इस प्रकार की अनेकों सत्प्रेरणा शिव छवि में उभरती हैं । गंगावतरण में सहयोग जैसे अनेकों दिव्य चरित्रों में ध्यानकर्त्ता के लिए एक से एक बढ़ी-चढ़ी प्रेरणाएँ विद्यमान हैं । किन्हीं ने कुछ अवांछनीय तत्व इस चित्रण में जोड़ दिए हों तो उन्हें विवेक बुद्धि से उपेक्षित कर देना, अमान्य ठहरा देना ही उचित है ।

गायत्री माता-मातृ शक्ति के प्रति पूज्य भाव—एक हाथ में पुस्तक सद्ज्ञान—दूसरे में कमण्डलु—प्रेम सद्‍भाव करुणार्द्र व्यवहार—हँस वाहन—धवल, निर्मल, नीर-क्षीर विवेक-मोती चुगना, श्रेष्ठ को ही अपनाना-जैसी प्रेरणाएँ गायत्री के चित्र विग्रह के साथ जुड़ी हुई हैं । ऐसे ही अनेकों व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वाली दिव्य प्रेरणाएँ उन देवताओं या अवतारों के साथ जुड़ी हैं जिन्हें साधक इष्टदेव के रूप में वरण करता है और ध्यान-धारण के लिए प्रयोग में लाता है ।

इतने पर भी यह स्मरण रखने योग्य तथ्य है कि प्रत्येक अध्यात्म विज्ञान के ज्ञान पक्ष और क्रिया पक्ष का एक ही सुनिश्चित उद्देश्य है—आत्म-निर्माण, आत्म-परिष्कार । इसी में वे समस्त लाभ सन्निहित हैं जो देव वरदान के रूप में मिलते समझे जाते हैं । अपनी सत्प्रवृत्तियाँ ही देव सत्ताएँ हैं । उन्हीं के प्रबल परिष्कृत होने पर व्यक्तित्व में अगणित ऐसी विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें किसी देवता का अनुग्रह समझा जाता है । व्यक्ति को सुविकसित सुसंस्कृत बनाने वाली क्षमताएँ बीज रूप से हर किसी में विद्यमान हैं । वे प्रसुप्त पड़ी रहती हैं, उपयोग में नहीं आतीं इसी से मनुष्य दीन दयनीय बना रहता है । यदि उन्हें प्रखर सक्रिय बनाया जा सके तो आन्तरिक विशेषताएँ समुन्नत होते ही सफलताएँ, स्मृतियाँ, विभूतियाँ, सिद्धियाँ अनायास ही खिंचती चली आती हैं । बाह्य जगत में, ब्रह्माण्ड में परमात्म सत्ता का प्रभाव उसी प्रकार है जिस प्रकार व्यक्ति सत्ता में आत्मा का । ब्रह्माण्ड में ईश्वरीय दिव्य चेतना असीम स्तरों की, असीम मात्रा में भरी पड़ी है । पर उनसे सम्पर्क साधना और उपयोग में लाना मात्र उन्हीं के लिए सम्भव है जिन्होंने अपना व्यक्तित्व का चुम्बकत्व इस प्रकार बढ़ा लिया है जिससे देवी शक्तियों को आकर्षित करना, धारण करना सम्भव हो सके । हर कोई उन ईश्वरीय विभूतियों का लाभ नहीं उठा सकता है । अन्तःक्षेत्र का विकास ही वह आधार है जिसके आधार पर अन्तःक्षेत्र की प्रसुप्त दिव्य क्षमताओं को जगाना और बाह्य जगत से अनुदानों का बरसना सम्भव हो सके ।

यह ओछी मान्यताएँ हैं कि कोई देवी-देवता, पूजा-उपासना के भूखे-प्यासे बैठे रहते हैं । उन्हें प्रशंसा परक वाचलता, से छुट-पुट क्रिया कृत्यों से अथवा सस्ते भेंट उपहारों से फुसला कर वशवर्ती किया जाता है । मनमानी मनोकामनाओं की पूर्ति करा सकता है । ऐसा सोचना देवताओं के मूल्य को अत्यन्त निकृष्ट स्तर पर लाकर पटक देना ही होगा । आत्म परिष्कार से अन्तःक्षेत्र के देवताओं का जागृत होना और उनके आकर्षण में बाह्य क्षेत्र के अनुदानों का खिंचते चले आना, यही तथ्य है । अध्यात्म विज्ञान इसी का प्रतिपादन करता है । अब तक जिन्होंने भी आत्मिक प्रगति करने में, महत्त्वपूर्ण विभूतियाँ अर्जित करने में सफलता पायी है उन्होंने अध्यात्म विद्या को आत्म परिष्कार की जीवन साधना के रूप में ही लिया है । ऋद्धि-सिद्धियों का चमत्कारी अनुदान इसी आधार पर पाया है । ध्यानयोग की साधना का उद्देश्य और स्वरूप इसी तथ्य पर आधारित समझा जाना चाहिए ।

समझा जाता है कि ध्यानयोग की आवश्यकता आत्मिक प्रगति के लिए पड़ती है । यह सर्वथा सत्य है, पर इसमें इतना और जोड़ा जाना चाहिए कि भौतिक सफलता एवं व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास में भी इस प्रयोग की कम उपयोगिता नहीं है । इस प्रक्रिया को अन्तरंग और बहिरंग प्रगति का उभयपक्षीय आधार माना जाना चाहिए ।

आत्मिक प्रगति की साधनाओं में ध्यान को प्रधानता दी गई है । इसके बिना इस क्षेत्र में बढ़ सकना सम्भव ही नहीं हो सकता । जिनकी अति चंचल प्रकृति है, जिन्हें अध्यात्म क्षेत्र का कुछ भी अनुभव नहीं है, उन्हें चिन्तन को इस प्रयोजन के लिए एकाग्र करने तथा गहराई में उतरने के लिए आकर्षक उपचार खड़े करने पड़ते हैं । देव पूजा के लिए प्रतिमाओं को आधार बनाया जाता है और उनकी अर्चना के लिए कतिपय कर्मकाण्डों के विधान बनाये जाते हैं । देव प्रतिमाओं की आकृति यौवन से उत्फुल्ल नखशिख तक आकर्षक

होती है, उन पर वस्त्र, आभूषणों की सुसज्जा की जाती है, सुगन्ध लेपन, पुष्प उपकरण, चंवर, छत्र, वाहन, आयुध आदि से प्रतिमा का समीपवर्ती क्षेत्र ऐसा बनाया जाता है जिससे आँखों को समुचित आकर्षण तथा देखने के लिए सुन्दर उपकरण मिल सकें । यह विश्रृंखलित ध्यान को उस प्रतिमा पर केन्द्रित एकाग्र करने की परिचर्या कही जा सकती है । आचमन, पाद्य, अर्घ्य, अक्षत, नैवेद्य-धूप, आरती जैसे उपचारों में भी नवीनता रहने में मन लगता है । मन्दिर की किवाड़ें, छतें, फर्श आदि को भी सुन्दर रखने का विधान है । देवता की गरिमा का गुणगान होने से उसके महत्त्व को, प्रताप को, अनुग्रह को समझने और तदनुरूप आत्म भाव उत्पन्न करने की प्रेरणा मिलती है । देव दर्शन एवं देव पूजन के जहाँ अन्य आध्यात्मिक लाभ हैं, वहाँ ध्यान एकाग्रता का अभ्यास भी बहुत हद तक पूरा होता है । देव पूजा की प्रक्रिया के दिव्य लाभ तो हैं ही साथ ही ध्यान रखने से उत्पन्न होने वाली मानसिक प्रखरता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

देव पूजन, धर्मानुष्ठान एवं शास्त्र पाठ, कीर्तन जैसे धर्मोपचारों का वर्णित माहात्म्य अपनी जगह पर सही होने के अतिरिक्त एकाग्रता का अभ्यास भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । धर्मानुष्ठान के विविध प्रयोग बनाते समय तत्वदर्शियों ने जन साधारण को ध्यान धारणा का अभ्यास कराने की बात को भी ध्यान में रखा है ।

प्राथमिक सर्वजनीन ध्यान साधना से ऊँची कक्षा उनकी है जो योगाभ्यास के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, उन्हें पूजा उपचारों में आगे बढ़ना पड़ता है, चर्म चक्षुओं के प्रयोग तक सीमित न रहकर दिव्य चक्षुओं को भावना एवं कल्पना के सम्मिश्रण से ध्यान धारणा का अभ्यास करना पड़ता है । इससे नेत्र बन्द रहते हैं । दिव्य चक्षु दिव्य दर्शन करते हैं । कल्पना तो उथली और चंचल होती है पर उसमें श्रद्धा भावना का समन्वय कर देने से सरसता एवं गम्भीरता उत्पन्न होती है । भावना को एकाग्र एवं श्रद्धा सिक्ता बना देने से ध्यानयोग की साधना बन पड़ती है ।

ध्यानयोग से दो प्रयोजनों की पूर्ति होती है एक एकाग्रता दूसरी सतर्क गम्भीरता । बिखरे विचारों को एक केन्द्र पर केन्द्रित कर सकने की कला यदि किसी को हस्तगत हो जाय तो वह अपनी प्रचण्ड मनःक्षमता को अभीष्ट प्रयोजन में लगाकर आशातीत सफलता प्राप्त कर सकता है । असफलताएँ प्रायः अन्यमनस्कता का ही दुष्परिणाम होती हैं । उपेक्षा की स्थिति में समुचित मनोयोग जुट नहीं पाता और हाथ में लिए हुए काम आधे-अधूरे रहकर असफलता का ही निमित्त बनते हैं । यह कमी गम्भीर दृष्टि का विकास होने से ही पूरी हो सकती है । ध्यान साधना में एकाग्रता का तथा मनोयोग पूर्वक गम्भीर चिन्तन का अभ्यास होता है । इसमें जिसे जितनी सफलता मिलेगी, उसकी मानसिक प्रखरता उतनी ही तीक्ष्ण होती चली जायेगी । कहना न होगा कि इस उपलब्धि के कारण न केवल आत्मिक क्षेत्र में वरन् भौतिक क्षेत्र में भी विचित्र प्रकार की सफलताएँ प्राप्त होती हैं ।

बुद्धिमान मनुष्यों की मौलिक विशेषता यह होती है कि वे अपने कार्यक्षेत्र की सभी छोटी-बड़ी बातों पर पूरी गम्भीरता से ध्यान देते हैं । फलतः उनकी प्रतिभा निरन्तर कुशाग्र होती चली जाती है । बात की बात में एक नजर डालकर वे वस्तुस्थिति को समझ लेते हैं । अनुभवों का गम्भीरतापूर्वक संचय करते रहने से उनकी निर्णय शक्ति, व्यवस्था क्षमता, उपाय खोजने वाली दूरदर्शिता जैसी अनेकों मस्तिष्कीय क्षमताएँ प्रखर होती चली जाती हैं । ऐसे ही व्यक्ति सामान्य परिस्थितियों का असामान्य लाभ उठाते हैं । पर्वत जैसी दीखने वाली समस्याओं का सरल समाधान खोज निकालते हैं । इन विशेषताओं से सम्पन्न व्यक्ति ही अपनी प्रतिभा से समूचे सम्पर्क क्षेत्र को प्रभावित करते हैं और स्वल्प साधनों के रहते हुए भी, कई तरह की कठिनाइयों से घिरे होते हुए भी असाधारण सफलताएँ प्राप्त कर लेते हैं । जबकि मन्दबुद्धि लोग अवसर और साधन होते हुए भी उन्मादी मनःस्थिति के कारण हाथ पर हाथ रखे असमंजस में पड़े समय गवाँते रहते हैं । हर कार्य में असफलता ही हाथ लगती है और हर बात में उपहासास्पद बनना पड़ता है । व्यावहारिक जीवन में पग-पग पर ध्यान देकर वस्तु-स्थिति की परिस्थिति को समझने की आवश्यकता पड़ती है और गम्भीरता एवं जिम्मेदारी समझते हुए निर्णय लेने तथा काम निपटाने का साहस प्रकट करना पड़ता है, ऐसे ही लोग श्रेय प्राप्त करते और परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए ऊँचे उठते और आगे बढ़ते देखे गए हैं ।

ध्यान धारणा के सहारे उपलब्ध होने वाली मानसिक प्रखरता जीवन के हर क्षेत्र में दैवी सहयोग बनकर सफलताओं का द्वार खोलती है । आत्मिक प्रगति का उद्देश्य तो पूरा होता ही है ।

ध्यानयोग से एकाग्रता की दिव्य शक्ति का उद्भव

शक्ति को उपलब्ध करना बड़ी बात नहीं, उसे बिखराव के निरर्थक एवं अपव्यय की अनर्थ मूलक बर्बादी से भी बचाया जाना चाहिए । शक्ति की उपलब्धि का लाभ तभी मिलता है जब उसे संग्रहीत रखने और सत्प्रयोजन में लगाने की व्यवस्था बन पड़े ।

धूप, गर्मी से ढेरों पानी समुद्र, तालाबों में से भाप बनकर उड़ता रहता है, चूल्हों से कितनी ही भाप उत्पन्न होती और उड़ती है । उसका कोई उपयोग नहीं, किन्तु इंजन में थोड़ा-सा पानी भाप बनाया जाता है । उस भाप को हवा में उड़ जाने से बचाकर एक टंकी में एकत्रित किया जाता है और फिर उसका शक्ति प्रवाह एक छोटे छेद में होकर पिस्टन तक पहुँचा दिया जाता है । इतने मात्र से रेलगाड़ी का इंजन चलने लगता है । चलता ही नहीं दौड़ता भी है । उसकी दौड़ इतनी सामर्थ्ययुक्त होती है कि अपने साथ-साथ बहुत भारी लदी रेलगाड़ी के दर्जनों डिब्बे घसीटता चला जाता है ।

ढेरों बारूद यदि जमीन पर फैलाकर माचिस से जलाई जाय तो थोड़ी-सी चमक दिखाकर भक् से जल जायेगी । उसका कुछ भी उपयोगी परिणाम न निकलेगा न कोई आवाज होगी, किन्तु यदि उसे बन्दूक की छोटी-सी नली के भीतर कड़े खोल वाले कारतूस में बन्द कर दिया जाय और घोड़ा दबाकर नन्हीं-सी चिनगारी से स्पर्श कराया जाय तो वह एक तोले से भी कम वजन की बारूद गजब ढाती है । सनसनाती हुई एक दिशा विशेष की ओर प्रचण्ड गति से दौड़ती है । अपने साथ लोहे की गोली और छर्रों को भी घसीटती ले जाती है और जहाँ टकराती है, वहाँ सफाया उड़ा देती है । बिखरी हुई बारूद की निरर्थकता और उसकी संग्रहीत शक्ति को दिशा विशेष में प्रयुक्त किए जाने की सार्थकता में कितना अन्तर होता है, इसे सहज ही समझा जा सकता है ।

सूर्य की किरणें सुविस्तृत क्षेत्र में बिखरी पड़ी रहती हैं । रोज ही सूर्य निकलता और अस्त होता है । धूप थोड़ी-सी गर्मी, रोशनी पैदा करने जितना ही काम कर पाती है । पर यदि उन किरणों के एक दो इंच के बिखराव को आतिशी-शीशे द्वारा एक केन्द्र पर केन्द्रित कर लिया जाय तो देखते-देखते आग जलने लगेगी और उसे किसी बड़े जंगल में डाल दिया जाय तो दावानल बनकर भयंकर विनाश लीला प्रस्तुत कर सकती है ।

स्थूल शक्तियों की तरह सूक्ष्म शक्तियों का लाभ भी उन्हें एकत्रित करके किसी दिशा विशेष में लगा देने से ही सम्भव हो सकता है । मस्तिष्क एक सशक्त बिजलीघर है । इसमें निरन्तर प्रचण्ड विद्युत प्रवाह उत्पन्न होता है और उसके शक्तिशाली कम्पन्न ऐसे ही अनन्त आकाश में उड़ते, बिखरते, नष्ट होते रहते हैं । यदि इस प्रवाह को केन्द्रित करके किसी विशेष लक्ष्य पर नियोजित किया जा सके तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम हो सकते हैं । एकाग्रता की चमत्कारी शक्ति कहीं भी देखी जा सकती है । सर्कस में एक से एक बढ़कर आश्चर्यजनक खेल होते हैं । उनमें शारीरिक शक्ति का उपयोग कम और एकाग्रता का अधिक होता है । एक पहिये की साइकिल, एक तार पर चलना, एक झूले से दूसरे झूले पर उछल जाना, तश्तरियाँ तेजी से लगातार एक हाथ से उछालना और दूसरे से पकड़ना जैसे खेलों में एकाग्रतापूर्वक कुछ अंगों को साध लेने का अभ्यास ही कौतूहल उत्पन्न करता है ।

द्रौपदी स्वयंवर में चक्र पर चढ़ी हुई नकली मछली की तीर से आँख भर वेध देना विजेता होने की शर्त थी । द्रोणाचार्य उसका पूर्व अभ्यास अपने शिष्यों को करा रहे थे । निशाने पर तीर छोड़ने से पूर्व वे छात्रों से पूछते तुम्हें क्या दीखता है ? शिष्यगण मछली के आस-पास का क्षेत्र तथा उसका पूरा शरीर दीखने की बात कहते । द्रोणाचार्य उनकी असफलता पहले से ही घोषित कर देते थे । जब अर्जुन की बारी आयी तो उसने प्रश्न के उत्तर में कहा—मुझे मात्र मछली की आँख दीखती है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं । गुरुदेव ने उसके सफल होने की पूर्व घोषणा कर दी

और सचमुच वही स्वयंवर में मत्स्य वेध की शर्त पूरी करके द्रौपदी विवाह का अधिकारी बन सका ।

एकाग्रता की शक्ति असाधारण है । भौतिक प्रयोजनों में उसका चमत्कारी उपयोग नित्य ही देखा जाता है । बहीखाता सही रखने और मीजान ठीक जोड़ने में एकाग्रता के अभ्यासी ही सफल होते हैं—अन्यथा सुशिक्षितों से भी पन्ने पर भूल होने और काट-फाँस करने की कठिनाई उत्पन्न होती रहती है । वैज्ञानिकों की यही विशेषता है कि वे अपने विषय में तन्मय हो जाते हैं और विचार समुद्र में गहरे गोते लगाकर नई-नई खोजों के रत्न ढूँढ़ लाते हैं ।

लोकमान्य तिलक के जीवन का एक संस्मरण प्रसिद्ध है कि उनके अँगूठे का ऑपरेशन होना था । डॉक्टर ने दवा सुँघाकर बेहोश करने का प्रस्ताव रखा तब उन्होंने कहा—'मैं गीता के प्रगाढ़ अध्ययन में लगता हूँ आप बे खटके ऑपरेशन कर लो ।' डॉक्टर को तब बहुत आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने बिना हिले-डुले शान्तिपूर्वक आपरेशन करा लिया । पूछने पर तिलक ने इतना ही कहा—तन्मयता इतनी प्रगाढ़ थी जिसमें ऑपरेशन की ओर ध्यान ही नहीं गया और दर्द भी नहीं हुआ ।

कहते हैं कि भृंग नाम का उड़ने वाला कीड़ा झींगुर पकड़ लाता है और उसके सामने निरन्तर गुंजन करता रहता है । उस गुंजन को सुनने और छवि देखते रहने में झींगुर की मनःस्थिति भृंग जैसी हो जाती है । वह अपने को भृंग समझने लगता है । अस्तु धीरे-धीरे उसका शरीर ही भृंग रूप में बदल जाता है । कीट विज्ञानी इस किंवदन्ती पर सन्देह कर सकते हैं, पर यह तथ्य सुनिश्चित है कि एकाग्रतापूर्वक जिस भी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति का देर तक चिन्तन करते रहा जाय, मनुष्य की सत्ता उसी ढाँचे में ढलने लगती है । रूप, यौवन पर ध्यान केन्द्रित रखने से वेश्याएँ ढलती आयु में सुन्दर बनी रहती हैं और विपत्ति एवं मृत्यु की बात सोचने वाले लोग भरी जवानी में बूढ़े होते और मौत के मुँह में घुसते देखे गए हैं । यह सब इच्छा या अनिच्छा से किसी केन्द्रबिन्दु पर अपने चिन्तन को केन्द्रित करने का परिणाम है ।

झाड़ी का भूत और रस्सी का साँप दीखने लगने जैसी घटनाएँ आये दिन घटित होती रहती हैं । छोटी-सी बीमारी को बढ़ी-चढ़ी मान बैठने वाले, उपयुक्त चिकित्सा होने पर भी अच्छे नहीं हो पाते और अपनी मान्यता के कारण दिन-दिन दुर्बल होते और मृत्यु के निकट पहुँचते चले जाते हैं । इसके विपरीत जिन्होंने अपने बड़े रोग को भी छोटा और जल्दी अच्छा होने वाला समझा है, वे भयानक बीमारियों से भी सरलतापूर्वक छूट जाते हैं । चिकित्सकों के बारे में भी यही विश्वास काम करता है । जिस पर विश्वास होता है, उस चिकित्सक की झाड़-फूँक और राख-भभूत भी संजीवनी बूटी का काम करती है । इसके विपरीत जिस पर सन्देह हो उस सुयोग्य चिकित्सक की उपयोगी दवा भी काम नहीं करती । चिकित्सा का कम और विश्वास का अधिक प्रभाव होता हुआ आये दिन देखा जाता है ।

शक्ति का उत्पन्न करना या उपलब्ध करना ही पर्याप्त नहीं । आवश्यकता उसे सुरक्षित रखने और संग्रह करने की भी पड़ती है । यदि ऐसा न हो सके तो सूक्ष्म शक्तियों को उपलब्ध करने के प्रयत्न निरर्थक चले जायेंगे । स्थूल पदार्थों को गोदाम में जमा किया जा सकता है । कपड़े बक्सों में, जेवर, रुपया तिजोरी में और अनाज कोठे में भरा जा सकता है । पर सर्दी-गर्मी, नमी को कैद करके रखना असम्भव तो नहीं, पर कठिन एवं साधन साध्य अवश्य है । साधना विज्ञान में दिव्य-शक्ति के उत्पादन का महत्त्व बहुत है, उसके लिए विधि-विधान और कर्मकाण्ड भी बहुत हैं । पर इससे भी अधिक विस्तार उन साधनाओं का है जो प्रकृति प्रदत्त—सहज उपलब्ध शक्तियों को सुरक्षित रखने एवं केन्द्रीभूत करने के उद्देश्य से बनाई गई हैं ।

वस्तुतः यह संग्रह ही अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । ईश्वर ने जितना हमें दिया है, वह इतना अधिक है कि उसी भण्डार से बैठे-बैठे खाते रहने पर भी पूरी जिन्दगी मजे से गुजर सकती है । मुख, आमाशय, आंत, जिगर आदि में पाये जाने वाले पाचन रस ही अन्न, शाक जैसी तुच्छ-सी खाद्य सामग्री को रक्त, माँस, वीर्य एवं ओजस् शक्ति के रूप में परिणत करते हैं । अन्न को रक्त में बदला जाना सचमुच ही एक जादू है । इस जादू को पाचन रस प्रवाही ग्रन्थियों में भरा-पूरा पाया जाता है । वस्तुतः यही वह सम्पत्ति है जो कभी नहीं चुकती । इसी के बल पर मनुष्य

जीवित रहता है । घास-फूँस खाकर भी आदिवासियों की तरह सुदृढ़ दीर्घजीवी बना रहता है । यदि ये भीतरी रस विकृत हो जायें तो फिर बाहर की बहुमूल्य खुराकें भी निरर्थक ही नहीं भारभूत, कष्टकारक भी सिद्ध होती हैं ।

उदाहरण के लिए ही यहाँ पाचन रसों की चर्चा की गई है । ऐसी-ऐसी असंख्य विशेषताएँ और क्षमताएँ मानवी सत्ता के कण-कण में भरी पड़ी हैं । दशों इन्द्रियाँ जादू की पिटारियाँ हैं । उन्हें रचनात्मक दिशा में नियोजित रखा जा सके, भटकाव से, बिखराव से बचाया जा सके तो अभीष्ट सफलता की दिशा में द्रुतगति से बढ़ा जा सकता है । मन ग्यारहवीं इन्द्रिय है । मस्तिष्कीय क्षमता का कोई अन्त नहीं । उसके विचार-पक्ष और बुद्धि-पक्ष का ही थोड़ा-सा प्रयोग होता है शेष चित्त, अहंकार वाला अचेतन समझा जाने वाला, किन्तु चेतन से लाखों गुना अधिक शक्तिशाली चित्त और अहंकार कहा जाने वाला भाग तो अविज्ञात स्थिति में निष्प्रयोजन ही पड़ा रहता है । अचेतन का अर्थ यहाँ उपेक्षित कहना ही उचित है । मन और बुद्धि वाले भाग का जितना उपयोग किया जाता है उतना ही चित्त, अहंकार का भी प्रयोग होने लगे तो मनुष्य दुनियादार बुद्धिमानों की तुलना असंख्य गुनी विचारशीलता, प्रज्ञा, भूमा प्राप्त कर सकता है और मात्र समझदार न रहकर तत्व दृष्टा की स्थिति में पहुँच सकता है ।

बिखराव को रोकने की, उपलब्ध शक्ति को संग्रहीत रखकर अभीष्ट प्रयोजन में प्रयुक्त कर सकने की कुशलता को आध्यात्मिक एकाग्रता कहते हैं । अध्यात्म शास्त्र में मनोनिग्रह अथवा चित्त निरोध इसी को कहते हैं । 'मेडीटेशन' की योग-प्रक्रिया में बहुत चर्चा होती है । इसे एकाग्र हो सकने की कुशलता भर ही समझना चाहिए । सुनने, समझने में यह सफलता नगण्य जैसी मालूम पड़ती है, पर वस्तुतः वह बहुत ही बड़ी बात है । इस प्रयोग में प्रवीण होने पर मनुष्य अपनी बिखरी चेतना को एकत्रित करके किसी एक कार्य में लगा देने पर जादू जैसी सफलताएँ, उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकता है ।

बाँधों में पानी भरा रहता है । पर जब उसे एक छोटे छेद में होकर निकाला जाता है तो पानी के दबाव से वह धारा बड़ी तेजी से निकलती है । इस धारा में असाधारण शक्ति होती है, उसके प्रहार से अमुक मशीनों के पहिये घुमाये जाते हैं और उनके घूमते ही कई प्रकार के यन्त्र चलने लगते हैं । बड़े-बड़े बिजलीघरों का निर्माण बँधे हुए जलाशय बाँधों पर ही होता है । इन्जन या मोटर चलाकर बिजली पैदा करना महँगा होता है, पर बाँध के सहारे तो यह उत्पादन काफी सस्ता पड़ता है । छोटे-छोटे जल प्रपातों से भी पनचक्की जैसी उपयोगी मशीनें चल पड़ती हैं । यह जल धार की, झरनों की नहीं एकाग्रता की शक्ति है । फैले क्षेत्र को छोटा कर देने से सहज ही उसकी प्रखरता बढ़ जाती है ।

एक मोटा लोहा लेकर उसे किसी कड़ी वस्तु में धँसाया जाय तो उसमें भारी कठिनाई पड़ेगी किन्तु यदि उसकी नोंक पतली कर दी जाय तो साधारण दबाव से ही वह गहराई तक धँसता चला जायेगा । मोटे तार और सुई की पतली नोंक का अन्तर सहज ही देखा जा सकता है । तार को कपड़े या कागज की तह में ठूँसना कठिन पड़ेगा किन्तु पतली नोंक वाली सुई सरलतापूर्वक प्रवेश करती चली जायेगी । लकड़ी, पत्थर, लोहे जैसे कड़े पदार्थों में छेद करने के लिए नोंकदार बरमे ही काम देते हैं । नोंक की इस चमत्कारी शक्ति का इतना ही रहस्य है कि बड़ी परिधि की अपेक्षा छोटी परिधि में जब दबाव केन्द्रित होता है तो उसकी शक्ति सहज ही बढ़ जाती है ।

जमीन देखने में मिट्टी, धूल की निरर्थक-सी वस्तु प्रतीत होती है, पर यह उसकी ऊपरी परत का ही मूल्यांकन है । उसे खोदने पर एक से एक बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती चली जाती हैं । थोड़ा खोदने पर पानी निकल आता है । उससे दैनिक उपयोग के सारे काम चलते हैं । पेड़-पौधों की सिंचाई तथा कल-कारखाने चलते हैं । इससे गहरे उतरने पर अनेक रासायनिक पदार्थ, धातुएँ, रत्न, गैस, तेल जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ हाथ लगती हैं । स्मरण रखा जाना चाहिए कि यह गहरी खुदाई नोंकदार बरमे ही कर सकते हैं । एकाग्रता की शक्तियों का एकीकरण कर सकते हैं । इससे अन्तःक्षेत्र में छिपी हुई विभूतियाँ और बाह्य क्षेत्र में फैली हुई सम्पत्तियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो सकती हैं और सामान्य-सी जीवन असामान्य विशेषताओं

और तज्जनित सफलताओं से भरा-पूरा दृष्टिगोचर हो सकता है । जिस प्रकार जमीन खोदने में एक से एक बढ़कर बहुमूल्य खनिज सम्पदाएँ निकलती हैं, उसी प्रकार एकाग्रता की शक्ति में व्यक्तित्व के साथ जुड़े हुए गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टताएँ और बल, बुद्धि, विद्या, मैत्री, कीर्ति, प्रतिभा जैसी विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती रह सकती हैं ।

अक्सर लोगों को अपनी स्मरण शक्ति की कमी एवं बुद्धि मन्दता की शिकायत रहती है । इसका छोटा कारण तो मनःसंस्थान की संरचना में यत्किंचित अन्तर का होना भी हो सकता है, पर प्रधान कारण है अन्यमनस्कता, अरुचि एवं उपेक्षा । बहुत करके वे ही बातें विस्मृत होती हैं जो महत्त्वहीन समझी जाती हैं और जिन्हें हल्की दृष्टि से देखा जाता है । जीवन में महत्त्वपूर्ण लगने वाली घटनाएँ कभी विस्मृत नहीं होतीं । विवाह दिन का घटना-क्रम—कन्वोकेशन में उपाधि पत्र मिलने का सम्मान जैसे उत्साहवर्धक अथवा किसी प्रियजन की मृत्यु, बड़ी चोरी, बड़ा घाटा, आक्रमण जैसे त्रासदायक घटना-क्रम मुद्दतों तक मस्तिष्क में घूमते रहते हैं और उन्हें कभी भी क्रमबद्ध रूप से सुनाया जा सकता है । यदि सचमुच ही स्मरण शक्ति कम रही होती तो वे विशेष घटनाएँ भी विस्मृत ही हो जातीं ।

इतिहास में असंख्य लोगों के ऐसे विवरण हैं जो बड़ी आयु तक मन्द बुद्धि समझे जाते रहे किन्तु जब उन्होंने अपने व्यक्तित्व को विकसित करने की ओर ध्यान दिया, उत्तरदायित्वों को समझा—अपने को कसा और पूरा ध्यान देकर अध्ययन करना आरम्भ किया तो उनकी बौद्धिक न्यूनताँ सहज ही दूर हो गई । वे तीव्र बुद्धि माने गए और क्रिया कुशल भी । स्वास्थ्य, धन, प्रभाव, यश, वर्चस्व आदि के क्षेत्रों में भी यही होता रहा है । उपेक्षाजन्य आलस्य-प्रमाद के कारण ही पिछड़ापन उत्पन्न होता है, पर जब सजग सक्रियता का दौर आरम्भ होता है तो प्रगति का चक्र दस गुने वेग से घूमने लगता है । महत्त्वपूर्ण सफलताएँ केवल उन्हें मिलती हैं जिन्हें अपने कार्य में पूरी दिलचस्पी होती है और अभीष्ट प्रयोजन के लिए समग्र तत्परता समेटकर पिल पड़ने में आनन्द आता है । यह सब रुचि का केन्द्रीकरण और मानसिक क्षमता के एकत्रीकरण का ही चमत्कार है । इस प्रयोग से कोई भी मन्द बुद्धि, दुर्बल शरीर, उपेक्षित, अभावग्रस्त मनुष्य अपनी काया-कल्प कर सकता है ।

एकाग्रता का एक चमत्कार मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म भी है । प्रयोगकर्त्ता अपनी दृष्टि को एक बिन्दु पर एकत्रित करने का अभ्यास करता है । अपनी इच्छा शक्ति को समेटकर लक्ष्य केन्द्र में समाविष्ट करता है । फलस्वरूप जादुई शक्ति उत्पन्न होती है और उससे दूसरों को सम्मोहित करके उन्हें इच्छानुवर्ती बनाया जा सकता है । उनमें मानसिक परिवर्तन लाये जा सकते हैं तथा प्रखरता के नये बीज बोये जा सकते हैं । प्राण-विद्या के द्वारा शारीरिक, मानसिक चिकित्सा के अनेक कठिन कार्य पूरे किए जाते हैं । यह सब एकाग्रता का ही चमत्कार है ।

ध्यानयोग का उद्देश्य मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने की प्रवीणता प्राप्त करना है । इस प्रयोग में जिसे जितनी सफलता मिलती जाती है उसकी अन्तःचेतना में उसी अनुपात से बेधक प्रचण्डता उत्पन्न होती जाती है । शब्दवेधी वाण की तरह लक्ष्यवेध कर सकना उसके लिए सरल हो जाता है । यदि अध्यात्म उसका लक्ष्य होगा तो उस क्षेत्र में आशाजनक प्रगति होगी और विभूतियों से, दिव्य ऋद्धि-सिद्धियों से उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा दिखाई पड़ेगा । यह लक्ष्य भौतिक उन्नति है तो भी इस एकाग्रता का समुचित लाभ मिलेगा और अभीष्ट प्रयोजनों में आशाजनक सफलता मिलती चली जायेगी । शक्ति का जब—जिस भी दिशा में प्रयोग किया जायेगा उसी में सत्परिणाम प्रस्तुत होते चले जायेंगे ।

एकाग्रता मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को निग्रहीत करना है । छोटे से बरसाती नाले का पानी रोककर बाँध बना लिए जाते हैं और उसके पीछे सुविस्तृत जलाशय बन जाता है । इस जलराशि से नहरें निकालकर दूर-दूर तक क्षेत्र हरा-भरा बनाया जाता है । वही नाला जब उच्छृंखल रहता है तो किनारों को तोड़-फोड़कर इधर-उधर बहता है और उस बाढ़ से भारी बर्बादी होती है । मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली विचारधारा को किसी विशालकाय विद्युत निर्माण कारखाने से कम नहीं आँका जाना चाहिए । बिजलीघरों की शक्ति सीमित होती है और वे अपनी परिधि से छोटे से क्षेत्र

को ही बिजली दे पाते हैं, पर मस्तिष्क के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है । उसकी आज की क्षमता अगले दिनों अनेक गुनी हो सकती है और प्रभाव क्षेत्र, जो आज घर-परिवार तक सीमित है, वह कल विश्व-व्यापी बन सकता है । बिलजीघर के तार निर्धारित वोल्टेज की क्षमता ही धारण किए रहने के लिए बाध्य हैं, पर मस्तिष्क की प्रचण्ड सत्ता परिस्थिति के अनुसार इतनी अधिक क्षमता सम्पन्न हो सकती है कि क्षेत्र, समाज की सीमा को पार करते हुए अपने प्रभाव से समस्त संसार को प्रभावित कर सके और वातावरण में बदल देने में अति महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सके ।

वैज्ञानिक, दार्शनिक, कलाकार, विद्वान, शिल्पी, साहित्यकार, व्यवस्थापक, संयोजक, नेता जैसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों के निवाहने वाले व्यक्ति भी प्रायः सामान्य लोगों के जैसे ही होते हैं । न उनके शरीर में कोई अतिरिक्त कलपुर्जा होता है और न मस्तिष्क में जादू की छड़ी गढ़ी होती है । अन्य लोगों से भिन्नता और श्रेष्ठता का जितना कुछ चमत्कार दीखता है वह उनकी उस आन्तरिक विशेषता का परिणाम है जिसका प्रथम चरण एकाग्रता और दूसरा लक्ष्य निष्ठा कहा जा सकता है । मस्तिष्कीय ऊर्जा हर किसी में प्रचुर परिमाण में होती है—यहाँ तक कि मन्द बुद्धि समझे जाने वाले लोगों में भी मूलप्रतिभा की कमी नहीं होती । अन्तर प्रसुप्त और जागृत स्थिति के परिमाण का होता है । सोती हुई स्थिति में बुद्धिमान मनुष्य भी अर्धमृतक की स्थिति में पड़ा रहता है, किन्तु जागने पर अपना वर्चस्व सिद्ध करता है । यही बात मस्तिष्क के सम्बन्ध में है । परिस्थितिवश किन्हीं-किन्हीं के मस्तिष्कीय कण प्रसुप्त स्थिति में पड़े होते हैं और वे मन्द बुद्धि जैसे लगते हैं किन्तु यदि उन्हें प्रयत्नपूर्वक जागृत किया जाय तो वे न केवल प्रतिभाशाली लोगों की पंक्ति में जा बैठते हैं, वरन् कई बार तो उनसे भी आगे निकल जाते हैं ।

विद्या के क्षेत्र में कालिदास, वरदराज जैसे असंख्य लोगों के उदाहरण ऐसे हैं जिनमें वे युवावस्था तक मन्द मति समझे जाते रहे और शिक्षा प्राप्त करने में असफल रहे, किन्तु अन्तःस्फुरणा के प्रचण्ड रूप में आते ही उनका मनःसंस्थान भी तिलमिला उठा और वे देखते-देखते विद्वानों की प्रथम पंक्ति में जा बैठे । बचपन में जिन्हें प्रतिभा शून्य मान लिया गया था ऐसे असंख्य लोग आगे चलकर अपने-अपने विषय में मूर्धन्य बने हैं ऐसे उदाहरण यदि संग्रह करने आरम्भ किए जायें तो हर क्षेत्र में सहस्रों प्रमाण सरलतापूर्वक मिल सकते हैं । इससे इतना ही सिद्ध होता है कि मन्द बुद्धि होना जितना मस्तिष्कीय विकास की कमी पर निर्भर रहता है उससे अधिक इस बात पर अवलम्बित है कि एकाग्रता और आकांक्षा का समन्वय करके किसी दिशा में बढ़ चलने की बात बनी था नहीं बनी ।

कच्चे धागे मिलकर मजबूत रस्सी और कमजोर सींकें इकट्ठी होने से बुहारी बनने की बात सभी को मालूम है । बूँद-बूँद जोड़ने से घड़ा भरता है । यह उदाहरण मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर विचार तरंगों को एक केन्द्र पर निग्रहीत करने पर लागू होता है । अस्त-व्यस्त, अनियन्त्रित निरुद्देश्य चिन्तन से मानसिक शक्ति की कितनी बर्बादी होती है और उन्हें एकाग्र करके दिशा विशेष में निरत कर देने पर कितने चमत्कार उत्पन्न होते हैं इस तथ्य को पग-पग पर परखा और सही पाया जा सकता है । हर काम में असफल रहने-वाले लोगों में से अधिकांश वे होते हैं जिन्हें किसी विषय का एकाग्र चिन्तन नहीं आता और जो किसी काम में मन लगाकर देर तक जुटे रहना नहीं जानते । ऐसे लोग बुद्धिमान, क्रिया-कुशल एवं साधन सम्पन्न होते हुए भी मात्र चंचल और अस्थिर स्वभाव के कारण हर कार्य में असफल बनते हैं । लगातार एक काम पर सोचना और अभिरुचि को निर्धारित कार्य में नियोजित किए रहना और जिनसे नहीं बन पड़ता, उनकी चित्र-विचित्र उछल-कूद तो बहुत होती है, पर सफलता के नाम पर पल्ले कुछ नहीं पड़ता ।

एकाग्रता को विकसित करके समुद्र तल में गहरा गोता मारने वाले पनडुब्बियों की तरह वैज्ञानिक, योगी, मनीषी बहुमूल्य रत्नराशि खोजकर लाते हैं । समुद्र तल पर तैरते, फिरने वालों के हाथ कुछ नहीं पड़ता, पर जो गहरे उतरते हैं वे बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त करते हैं । उथला चिन्तन हवा में उड़ते रहने वाले तिनकों की तरह है और एकाग्रतापूर्वक चिन्तन को केन्द्रीभूत करके किसी विशेष प्रयोजन में लगा देना ऐसे शब्दवेधी बाण की तरह है जिसका सुनिश्चित परिणाम होकर ही रहता है ।

आत्म जागरण के लिए ध्यानयोग की आवश्यकता

मनुष्य जीवन ईश्वर का अनुपम उपहार है । इससे बड़ा अनुदान उसके पास ऐसा और कोई नहीं है जो प्राणी को दिया जा सके । इसकी विशेषताएँ और सम्भावनाएँ इतनी अद्‌भुत हैं जिनका स्वरूप सामने आने पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है । यह उपहार ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति में सहायक बनने की भूमिका निबाहने के लिए मिला है । जीव अपने कषाय कल्मषों को धोकर ईश्वरीय सत्ता में विलीन होने की मुक्ति का अधिकारी बने यह मनुष्य जीवन का प्रथम उद्देश्य है । इसे पाने के लिए उसे हर दृष्टि से आदर्श बनना पड़ता है । दूसरों के लिए ऐसे ही लोग प्रकाश स्तम्भ बनते हैं । जीवन का दूसरा उद्देश्य है भगवान के इस विश्व उद्यान को अधिकाधिक सुविकसित, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाने में सहायक सिद्ध होना—परमात्मा का हाथ बँटाना । इन्हीं दो प्रयोजनों के लिए मनुष्य शरीर जैसा अनुपम उपहार प्राणी को दिया गया है । यह अमानत इसी विश्वास के आधार पर दी गई है कि उसका सही एवं समुचित उपयोग किया जायेगा । यदि वैसा न करके इस अनुदान को व्यक्तिगत विलासिता एवं अहंकारिता की पूर्ति में लगा दिया जाता है तो वह ईश्वर के साथ एक प्रकार का विश्वासघात ही हुआ । इसे धरोहर का दुरुपयोग, अमानत में खयानत कहा जा सकता है ।

हम अपने स्वरूप ईश्वर के अनुग्रह—जीवन के महत्त्व एवं लक्ष्य की बात को एक प्रकार से पूरी तरह भुला बैठे हैं । न हमें अपनी सत्ता का ज्ञान है, न ईश्वर का ध्यान और न लक्ष्य का ज्ञान । अज्ञानान्धकार की भूल-भुलैया में बेतरह भटक रहे हैं । यह भुलक्कड़पन विचित्र है । लोग वस्तुओं को तो अक्सर भूल जाते हैं, सुनी, पढ़ी बातों को भूल जाने की घटनाएँ भी होती रहती हैं । कभी के परिचित भी विस्मृत होने से अपरिचित बन जाते हैं । पर ऐसा कदाचित ही होता है कि अपने आपे को ही भुला दिया जाय । हम अपने को शरीर मात्र मानते हैं । उसी के स्वार्थों को अपना स्वार्थ, उसी की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मानते हैं । शरीर और मन यह दोनों ही साधन जीवन रथ के दो पहिये मात्र हैं, पर घटित कुछ विलक्षण हुआ है । हम आत्मसत्ता को सर्वथा भुला बैठे हैं । यों शरीर और आत्मा की पृथकता की बात कही सुनी तो अक्सर जाती है, पर वैसा भान जीवन भर में कदाचित ही कभी होता हो । यदि होता भी तो बहुत ही धुँधला । यदि वस्तुस्थिति समझ ली जाती है और जीव-सत्ता तथा उसके उपकरणों की पृथकता का स्वरूप चेतना में उभर आता है तो आत्मकल्याण की बात प्रमुख बन जाती है और वाहनों के लिए उतना ही ध्यान दिया जाता है जितना कि उनके लिए आवश्यक था । आज तो 'हम' नंगे फिर रहे हैं और वाहनों को स्वर्ण आभूषणों से सजा रहे हैं । 'हम' भूखे मर रहे हैं और वाहनों को घी पिलाया जा रहा है । 'हम' से मतलब है आत्मा और वाहन से मतलब है शरीर और मन । स्वामी सेवकों की सेवकाई में लगा है और अपने उत्तरदायित्वों को सर्वथा भुला बैठा है यह विचित्र स्थिति है ।

वस्तुतः हम अपने आपको खो बैठे हैं । उसी को खोजते हैं । ध्यान-साधना का उद्देश्य इस विस्मृति को स्मृति में बदलना है । कोई वस्तु खो जाती है तो ध्यान करते हैं कि उसे घर से लेकर चले थे तब कहाँ-कहाँ तक साथ थी और फिर कहाँ से खाली हाथ चले । पैसा घटता है तो ध्यान करते हैं कि कहीं रखा तो नहीं, किसी को दिया तो नहीं, कहीं गिरा तो नहीं । मस्तिष्क पर अधिक जोर देने से स्मृति पहले उभरती है और प्रायः याद आ जाती है कि वस्तु या पैसा कहाँ रहा होगा ।' भौतिक जीवन में हम प्रायः ध्यान के सहारे ही विस्मृति के कारण उत्पन्न होती रहने वाली कठिनाइयों से पीछा छुड़ाते हैं और जो गुम गया है, उसे प्राप्त करते हैं ।

आध्यात्मिक ध्यान का उद्देश्य है, अपने स्वरूप और लक्ष्य की विस्मृति के कारण उत्पन्न वर्तमान विपन्नता से छुटकारा पाना । 'एक बच्चा घर से चला ननिहाल के लिए । रास्ते में मेला पड़ा और वह उसी में रम गया । वहाँ के दृश्यों में इतना रमा कि अपने घर तथा गन्तव्य को ही नहीं अपना नाम पता भी भूल गया ।' यह कथा बड़ी अटपटी लगती है, पर है सोलहों आने सच और वह हम सब पर लागू होती है । अपना नाम पता, परिचय पत्र, टिकट आदि सब

कुछ गँवा देने पर हम असमंजस भरी स्थिति में खड़े हैं कि आखिर हम हैं कौन—कहाँ से आये और कहाँ जाना था ? स्थिति विचित्र है, इसे न स्वीकार करते बनता है और न अस्वीकार करते । स्वीकार करना इसलिए कठिन है कि हम पागल नहीं, अच्छे खासे समझदार हैं । सारे कारोबार चलाते हैं फिर आत्म-विस्मृत कहाँ हुए ? अस्वीकार करना भी कठिन है क्योंकि वस्तुतः हम ईश्वर के अंश हैं—महान मनुष्य जन्म के उपलब्धकर्त्ता हैं तथा परमात्मा को प्राप्त करने तक घोर अशान्ति की स्थिति में पड़े रहने की बात को भी जानते हैं । साथ ही यह भी स्पष्ट है जो होना चाहिए वह नहीं है और जो करना चाहिए था वह कर भी नहीं रहे हैं । यही अन्तर्द्वन्द्व उभर कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छाया रहता है और हमें निरन्तर घोर अशान्ति अनुभव होती है ।

जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है । यह पूर्णता—ईश्वरीय स्तर की ही हो सकती है । आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए उस लक्ष्य पर ध्यान का एकाग्र करना आवश्यक है । महत्त्वपूर्ण इमारतें बनाने से पूर्व उनके नक्शे, छापे एवं मॉडल बनाये जाते हैं । इंजीनियर, कारीगर उसी को देख-देखकर अपना निर्माण कार्य चलाते हैं और समयानुसार इमारत बनकर तैयार हो जाती है । भगवान का स्वरूप और गुण, कर्म, स्वभाव कैसा हो इसकी ध्यान प्रतिमा विनिर्मित की जाती है और फिर उसके साथ समीपता, एकता, तादात्म्यता स्थापित करते हुए उसी स्तर का बनाने के लिए प्रयत्न किया जाता है । ध्यान प्रक्रिया का यही स्वरूप है ।

व्यक्तिगत जीवन में कितने ही व्याकुल विचलित कर देने वाले ऐसे प्रसंग आते हैं जो मनःस्थिति को उद्विग्न करके रख देते हैं । इन आवेश ग्रस्त क्षणों में मनुष्य संतुलन खो बैठता है, न सोचने योग्य सोचता है, न कहने योग्य कहता है और न करने योग्य करता है । गल्ती आखिर गल्ती ही रहती है और उसके दुष्परिणाम भी निश्चित रूप से होते हैं । इसीलिए कहा जाता है कि मुसीबत अकेली नहीं आती अपने साथ विपत्तियों का नया परिवार समेटकर लाती है । इस कथन में सच्चाई इसलिए है कि जिन कारणों से मानसिक सन्तुलन बिगाड़ा था उनकी हानि तो प्रत्यक्ष ही थी । हानि न होती तो उद्वेग क्यों होता ? अब उद्वेग के कारण जो असंगत चिन्तन, कथन और क्रिया-कलाप आरम्भ हुआ उसने अन्यान्य कितनी ही नई समस्याएँ उत्पन्न करके रख दीं । कई बार तो उद्विग्नता शारीरिक, मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न करने से भी आगे बढ़ जाती है और आत्म-हत्या अथवा दूसरों की हत्या कर डालने जैसे संकट उत्पन्न करती है ।

असन्तुलन को सन्तुलन में बदलने के लिए ध्यान एकाग्रता के कुशल-अभ्यास से बढ़कर और कोई अधिक उपयोगी उपाय हो नहीं सकता । कई बार मन, क्रोध, शोक, कामुकता, प्रतिशोध, विक्षोभ जैसे उद्वेगों में बेतरह फँस जाता है और उस स्थिति में अपना या पराया कुछ भी अनर्थ हो सकता है । उद्विग्नताओं में घिरा हुआ मन कुछ समय में सनकी या विक्षिप्त स्तर का बन जाता है । सही निर्णय कर सकना और वस्तु-स्थिति को समझ सकना उसके बस से बाहर की बात हो जाती है । इन विक्षोभों से मस्तिष्क को कैसे उबारा जाय और कैसे उसे सन्तुलित स्थिति में रहने का अभ्यस्त कराया जाय, इसका समाधान ध्यान साधना के साथ जुड़ा हुआ है । मन को अमुक चिन्तन प्रवाह से हटाकर अमुक दिशा में नियोजित करने की प्रक्रिया ही ध्यान कहलाती है । इसका प्रारम्भ भटकाव के स्वेच्छाचार से मन को हटाकर एक नियत निर्धारित दिशा में लगाने के अभ्यास से आरम्भ होता है । इष्टदेव पर अथवा अमुक स्थिति पर मन को नियोजित कर देने का अभ्यास ही तो ध्यान में करना पड़ता है । मन पर अंकुश पाने, उसका प्रवाह रोकने में, सफलता प्राप्त कर लेना ही ध्यान की सफलता है । यह स्थिति आने पर कामुकता, शोक-संतप्तता, क्रोन्धान्धता, आतुरता, ललक, लिप्सा जैसे आवेशों पर काबू पाया जा सकता है । मस्तिष्क को इन उद्वेगों से रोक कर किसी उपयोगी चिन्तन में मोड़ा-मरोड़ा जा सकता है । कहते हैं कि अपने को वश में कर लेने वाला—सारे संसार को वश में कर लेता है । आत्म-नियन्त्रण की यह स्थिति प्राप्त करने में ध्यान साधना से बढ़कर और कोई उपाय नहीं है । इसका लाभ आत्मिक और भौतिक दोनों ही क्षेत्रों में समान रूप से मिलता है । अभीष्ट प्रयोजनों में पूरी तन्मयता, तत्परता नियोजित करने से ही किसी

कार्य का स्तर ऊँचा उठता है, सफलता का सही मार्ग मिलता है और बढ़ी-चढ़ी उपलब्धियाँ पाने का अवसर मिलता है । आत्मिक क्षेत्र में भी यही तन्मयता प्रसुप्त शक्तियों के जागरण से लेकर ईश्वर प्राप्ति तक का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनती है ।

यदि यह अभ्यास हो जाय तो असन्तुलनजन्य उन सभी कठिनाइयों से बचा जा सकता है जो सामान्य मानव जीवन को अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट करके रख देती हैं । आलस्य, प्रमाद, चिन्ता, निराशा, भय, आशंका जैसे रक्त को ठंडा कर देने वाले और सशक्त मनुष्य को अपंग, असफल बनाकर रख देने वाली अवसाद ग्रस्त मनःस्थिति को यदि बदला जा सके और उसे श्रम-निष्ठा, काम में दिलचस्पी, उत्साह, आशा, साहस, दृढ़ निश्चय जैसे स्तर तक पहुँचाया जा सके तो गतिविधियों में काया-कल्प जैसा परिवर्तन हो सकता है और पग-पग पर असफल होने वाला व्यक्ति एक के बाद दूसरी सफलता प्राप्त करते हुए उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है । इसी प्रकार सामान्य जीवन में आये दिन प्रस्तुत होने वाली दुःख, शोक, क्षोभ, विद्रोह, क्रोध, आवेश उत्पन्न करने वाली घटनाओं को धैर्यपूर्वक सहन किया जाय और मस्तिष्क को विक्षुब्ध न करके प्रस्तुत कठिनाइयों का हल सोचा जाय तो इतने भर आत्म-नियन्त्रण से, उपस्थित नई कठिनाई का आधा समाधान निकल सकता है ।

अवसाद की 'लो ब्लड प्रेशर' और आवेश की 'हाई ब्लड प्रेशर' से तुलना की जा सकती है । यह दोनों मानसिक रोग प्रायः आधी शक्ति नष्ट कर देते हैं । इनसे बचा जा सके तो जीवन सम्पदा का पूरा लाभ उठाया जा सकता है । इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अपने में यह शक्ति होनी चाहिए कि आवेशों के प्रवाह को रोककर मन को सन्तुलित रखा जा सके और उसे उपयोगी दिशा में सोचने के लिए बलपूर्वक नियोजित किया जा सके । ध्यानयोग में इसी का अभ्यास करना पड़ता है । मन को अमुक प्रकार के चिन्तन से, स्वेच्छाचार से रोककर उसे अरुचिकर होते हुए भी अमुक चिन्तन में बलपूर्वक लगाने के लिए कड़ाई बरतने का नाम ही तो ध्यानयोग है । इस दिशा में न्यूनाधिक जितनी सफलता मिलती चलेगी उतना ही भौतिक एवं आत्मिक प्रगति का द्वार खुलता जायेगा ।

कइयों को एक विचित्र मानसिक रोग होता है कि वे सोते-सोते उठकर चल देते हैं—अमुक काम करने लगते हैं और फिर उसे करने के बाद अपनी जगह पर वापस आकर सो जाते हैं । मनो-रोग चिकित्सा में इस व्याधि का विस्तृत वर्णन और चिकित्सा विधान मौजूद है । अब यह रोग और भी अधिक बढ़ने लगा है । फ्रान्स में तो ऐसी घटनाएँ पिछले ही दिनों इतनी हुई हैं जिनमें लोग घर से बाहर जाकर अपना नाम, पता, व्यवसाय एवं अब तक का सारा घटनाक्रम ही भूल गए और अजनबी व्यक्ति की तरह नये ढंग का जीवन आरम्भ करके गुजारा करने लगे । बहुत वर्षों बाद उन्हें अपनी पुरानी स्थिति का स्मरण आया तब वे उस नये जंजाल को छोड़-छाड़कर घर वापस लौटे । कभी-कभी कुछ विचित्र मनःस्थिति के लड़के घर से भाग खड़े होते हैं और कहीं जाकर गुजर करने लगते हैं । अपना नाम पता तो याद रहता है, पर घर वालों के साथ मधुर सम्बन्धों का एक प्रकार से विस्मरण ही हो जाता है और वे नई जगह में, नये वातावरण में इतने घुल जाते हैं कि जहाँ से आये थे वहाँ वापिस जाने या चिट्ठी-पत्री लिखने या समाचार देने तक की आवश्यकता नहीं समझते । इस स्थिति में रहते हुए उन्हें मुद्दतें बीत जाती हैं । घर वालों की याद उन्हें तनिक भी विचलित नहीं करती । वे ऐसी मनःस्थिति में रहते हैं मानो घर से कोई सम्बन्ध ही न हो । घर वाले ढूँढ़ते, रोते, कलपते रहते हैं पर उन्हें इसकी तनिक भी अनुभूति नहीं होती । यह भी स्नेह सम्बन्धों का अर्धविस्मरण ही है । जिन्हें ऐसी स्थिति प्राप्त है उन्हें भी एक प्रकार का भावनात्मक रोगी ही कह सकते हैं । स्नेह सम्बन्ध का रक्त बहाने वाली उनकी सम्वेदन शिराएँ सूक्ष्म शरीर में एक प्रकार से सूख ही जाती हैं और वे प्रकारान्तर से मानसिक पक्षाघात पीड़ित कहे जा सकते हैं ।

लगभग ऐसी ही मानसिक स्थिति कारण-शरीर के क्षेत्र में हम सबकी है । अपने मूल स्वरूप के बारे में, जीवन के महत्त्व और लक्ष्य के बारे में गम्भीरता पूर्वक सोच सकना बन ही नहीं पड़ता । बहिर्मुखी जीवन की शरीर यात्रा से सम्बन्धित खेल-खिलवाड़ों में

ही सारी चेतना जुड़ी रहती है । वासना, तृष्णा की पूर्ति के लिए ही नट-मरकट स्तर की उथली खिलवाड़ में उलझे रहना ही पर्याप्त लगता है । यह तो स्मरण ही नहीं आता कि हम हैं कौन और यहाँ क्या करने आये हैं ? ईश्वर ने यह सुर-दुर्लभ अनुदान किस प्रयोजन के लिए दिया है ?

ध्यानयोग का उद्देश्य अपनी मूलभूत स्थिति के बारे में, अपने स्वरूप के बारे में सोच-विचार कर सकने योग्य स्मृति को वापस लौटाना है । यदि किसी प्रकार यह वापस लौट सके तो लम्बा सपना देखकर डरे हुए व्यक्ति जैसी अन्तःस्थिति हुए बिना नहीं रह सकती । तब प्रतीत होगा कि मेले में खोये हुए बच्चे से, आत्म विस्मृत मानसिक रोगियों से अपनी स्थिति भिन्न नहीं रही है । इस व्यथा से ग्रसित लोग स्वयं घाटे में रहते हैं और अपने सम्बन्धियों को दुःखी करते हैं । हम आत्म-बोध को खोकर भेड़ों के झुण्ड में रहने वाले सिंह की तरह दयनीय स्तर का जीवन-यापन कर रहे हैं और अपनी माता—परमात्म-सत्ता को कष्ट दे रहे हैं, रुष्ट कर रहे हैं ।

विस्मरण का निवारण—आत्म-बोध की भूमिका में जागरण—यही है ध्यानयोग का लक्ष्य । उसमें ईश्वर का स्मरण किया जाता है—अपने स्वरूप का भी अनुभव किया जाता है । जीव और ब्रह्म के मिलन की स्मृति फिर से ताजा की जाती है और यह अनुभव किया जाता है कि जिस दिव्य सत्ता से एक तरह सम्बन्ध विच्छेद कर रखा गया है, वही हमारी जननी और परम शुभ चिन्तक है । इतना ही नहीं वह कामधेनु की तरह इतनी सशक्त भी है कि उसका पयः पान करके देवोपम स्तर का लाभ ले सकें । कल्प-वृक्ष की छाया में बैठकर सब कुछ पाया जा सकता है, ईश्वरीय सत्ता से सम्पर्क, सान्निध्य, घनिष्ठता बना लेने के बाद भी ऐसा कुछ शेष नहीं रहता जिसे अभाव, दारिद्र्य अथवा शोक-संताप कहा जा सके । ध्यानयोग हमें इसी लक्ष्य की पूर्ति में सहायता करता है । स्पष्ट है कि आत्म-बोध से बढ़कर मानव जीवन का दूसरा लाभ नहीं हो सकता । भगवान बुद्ध को जिस वट-वृक्ष के नीचे आत्म-बोध हुआ है उसकी डालियाँ काट-काट कर संसार भर में इस आशा से बड़ी श्रद्धापूर्वक आरोपित की गई थीं कि उसके नीचे बैठकर अन्य लोग भी आत्म-बोध का लाभ प्राप्त करेंगे और दूसरे बुद्ध बनेंगे । किसी स्थूल वृक्ष के नीचे बैठकर महान जागरण की स्थिति प्राप्त कर सकना कठिन है । पर ध्यानयोग के कल्प-वृक्ष की छाया में सच्चे मन से बैठने वाला व्यक्ति आत्म-बोध का लाभ ले सकता है और नर-पशु के स्तर से ऊँचा उठकर नर-नारायण के समकक्ष बन सकता है ।

मन जंगली हाथी की तरह है, जिसे पकड़ने के लिए पालतू प्रशिक्षित हाथी भेजने पड़ते हैं । सधी हुई बुद्धि पालतू हाथी का काम करती है । ध्यान के रस्से में पकड़-जकड़ कर उसे काबू में लाती है और फिर उसे सत्प्रयोजनों में संलग्न हो सकने योग्य सुसंस्कृत बनाती है ।

हरी घास में रहने वाले टिड्डे हरे रंग के होते हैं, पर यदि उन्हें सूखी घास में रहना पड़े तो कुछ समय बाद उसी रंग के हो जायेंगे । यह ध्यान साधना का चमत्कार है । जो वातावरण मस्तिष्क में छाया रहता है व्यक्तित्व उसी ढाँचे में ढलने लगता है । भगवत् चिन्तन से न केवल मनःस्थिति वरन् सारी जीवन सत्ता ही उसी ढाँचे में ढलने लगती है ।

पानी का स्वभाव नीचे गिरना है । उसे ऊँचा उठाना है तो पम्प, चरखी, ढेंकी आदि लगाने की व्यवस्था बनानी पड़ती है । निम्नगामी पतनोन्मुख प्रवृत्तियों में ही हमारी अधिकांश शक्तियाँ नष्ट होती रहती हैं । उन्हें ऊपर उठाने के लिए मस्तिष्क में दिव्य-प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होने की ध्यान की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । नीचे की मंजिल पर लगे हुए नल से पानी बहना बन्द हो जाता है तभी ऊपर की मंजिल के नल में पानी आता है । निम्नगामी प्रवृत्तियों से मन हटकर ब्रह्म लोक में—मस्तिष्क में—उन्हें केन्द्रित करने का कार्य ध्यान साधना से सम्पन्न होता है ।

ध्यानयोग की सर्वोत्तम साधना

मन को एकाग्र करने से बिखरी हुई शक्ति का एकीकरण होता है । बिखराव से क्षमता अस्त-व्यस्त होती है, पर उसे एकाग्र करने से क्षमता का केन्द्रीकरण होता है । केन्द्रित होने से शक्ति का उद्भव होता है । सूर्य किरणें बिखरी हुई हों तो उनसे सामान्य

ताप की अनुभूति होगी किन्तु यदि काँच पर थोड़े से क्षेत्र की भी किरणें इकट्ठी कर ली जायें तो आग जलने लगेगी । बारूद को बिखरी हुई स्थिति में जलाया जाय तो एक चमक भर उठेगी, किन्तु बारूद को बन्दूक की नली में केन्द्रित करके जलाने से गोली का निशाना लगता है ।

ध्यान आँख बन्द करके बैठने भर का नाम नहीं । आँख तो बन्द करनी पड़ती है ताकि बहिर्मुखी मन अन्तर्मुखी हो सके, किन्तु मात्र इतना ही ध्यान के लिए पर्याप्त नहीं है । आँखें बन्द करने के उपरान्त भी कल्पनाओं की दौड़ जारी रखी जा सकती है ? ऐसी दशा में ध्यान कहाँ हुआ ? आँखें बन्द, कल्पना लोक रचा और उसमें भ्रमण किया जा सकता है । ध्यान का उद्देश्य समेटना और समेटे हुए को केन्द्रीभूत करना है । इतना बन पड़े तो समझना चाहिए कि ध्यान की दिशा में कदम बढ़े ।

यह सृष्टि तीन पदार्थों की बनी है ताप, ध्वनि और प्रकाश । इन्हीं की तरंगें निकलती, बिछुड़ती और नाना प्रकार के पदार्थों की रचना करती हैं । ध्यान में इन तीनों को पकड़ना और एक स्थान पर केन्द्रित करना होता है । तीनों का सम्मिश्रण ॐ में होता है । उसकी ध्वनि स्वरूप है ॐ अथवा ओ३म् दोनों में से कोई भी ध्वनि ध्यान के लिए चुनी जाती है । अब मात्र ओंकार के अक्षरों को ही पर्याप्त नहीं मान लेना चाहिए वरन् उसे सूर्य के मध्य में अवस्थित गोलाकार ध्यान करना चाहिए । यह प्रकाश मात्र गोल न हो वरन् उसमें प्रचण्ड गर्मी का समावेश होना चाहिए । ऐसी और लक्षण वाली ध्वनि जिसके चारों ओर गोलाकार गर्म प्रकाश भी हो, ध्यान के लिए उपयुक्त है । उसमें प्रकृति के मूल तीन तथ्यों का समावेश हो जाता है । प्रकृति के इन त्रिविध झलकों को आँखें बन्द करके सब ओर से मन एकाग्र करके ध्यान करना चाहिए ।

इन तीनों माध्यमों का अर्थ प्रयोजन भी ध्यान रहे । अज्ञान को अन्धकार की उपमा दी गई है । प्रकाश स्वरूप ओंकार मन के अन्धकार को हटाता है । अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ मन में छाई रहती हैं । प्रकाश उन सबका निराकरण करता है । ओंकार में नाम और रूप दोनों हैं । इष्टदेव का जप स्मरण करने के लिए कोई न कोई इष्टदेव नियत करना पड़ता है । इसके लिए ओंकार की शब्द ध्वनि और आकृति काम दे जाती है । ओंकार सार्वभौम है । उसे सभी धर्मों और सम्प्रदायों में समान मान्यता दी गई है । अब तीसरी विशेषता ओंकार की ताप है । ताप अर्थात् ऊर्जा । ऊर्जावान को मनस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी कहते हैं । ओंकार जप ध्वनि के साथ उसकी ऊर्जा, आभा और आकृति का ध्यान करने से उन तीनों विशेषताओं का समावेश होता है जो ओंकार में सन्निहित हैं । यों ओंकार एक अक्षर है, पर व्याकरण शास्त्र के हिसाब से वह तीन भी हो जाता है अ उ म् । तीनों के सम्मिश्रण से ॐ बना है । जप ध्यान के लिए एक भर पर्याप्त है । ताप, शब्द और आभा यही इन अक्षरों के अर्थ हैं । ध्यान करते समय भी इन तीन तथ्यों का समावेश रहना चाहिए । तब यह पूर्ण हो जाता है । इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का समावेश हो जाता है । इसी त्रिक से संसार बना है । मन यदि कहीं भागे तो उन तीनों में से किसी की परिधि में कहीं गया माना जाय और उसे परब्रह्म का एकता की परिधि माना जाय । आँखें बन्द करने का तात्पर्य है अन्तर्मुखी होना । अन्तर्मुखी होने के उपरान्त ध्वनि, ताप और आभायुक्त ओंकार पर अपना ध्यान एकत्रित किया जाय । ध्यानयोग की यह सर्वोत्तम साधना है ।

ध्यान दो प्रकार का होता है—एक स्थूल ध्यान और दूसरा सूक्ष्म ध्यान । दृष्ट अथवा अदृष्ट स्थूल पदार्थों को देखने अथवा समझने के लिए जिस ध्यान की आवश्यकता होती है, उसे स्थूल-ध्यान कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो ध्यान किया जाता है वह सूक्ष्म-ध्यान कहा जाता है । किसी भी पदार्थ को जानने या प्रत्यक्ष करने की इच्छा करने पर जिस प्रकार हम उसकी ओर अपने को अग्रसर करते हैं, अथवा दृश्य और दृष्टा के बीच में जो अन्तर है उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार सर्वगामी मन को भी अपने अभिलाषित पदार्थ की ओर गतिमान करने से उन दोनों के बीच का अन्तर जाता रहता है और वह पदार्थ हमको स्पष्ट दिखलाई देने लगता है । अथवा जब हम किसी कार्य के विषय में निर्णय करना चाहते हैं तो हमको उसकी भूत, भविष्यत और वर्तमान स्थिति पर विचार करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार हम यदि किसी पदार्थ का तत्वज्ञान की

दृष्टि ध्यान से करना चाहेंगे तो हमको उसके प्रत्येक अंग पर पूर्णरूप से ध्यान करना चाहिए, तभी उसका सत्य स्वरूप हम पर प्रकट हो सकेगा ।

स्थूल-ध्यान साधन

पिता, माता, गुरु आदि किसी पूजनीय व्यक्ति की मूर्ति जिसे हम पहले से भली प्रकार देख चुके हैं; अथवा राम, कृष्ण, शिव आदि किसी देवता की मूर्ति जिसमें हमारा हार्दिक अनुराग हो; अथवा नदी, पर्वत, सागर, वन, उपवन, नगर, महल जो हमें सबसे उत्तम रमणीक जान पड़ता है—ऐसा कोई भी मनोनुकूल वस्तु या पदार्थ ध्यान के लिए ग्रहण करना चाहिए । हमको बार-बार उसी पदार्थ का ध्यान, उसकी याद करते रहना चाहिए । ऐसा लगातार करते रहने से हमको स्थूल-ध्यान का अभ्यास हो जायेगा । हमारे अन्नमय शरीर की प्रधान वृत्ति स्मृति शक्ति है । यदि हम किसी पदार्थ के लिए बार-बार स्मृति शक्ति का प्रयोग करते रहेंगे तो वह मूर्ति अथवा पदार्थ हमको स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ेगा । जब हमारा यह अभ्यास पक्का हो जायेगा, तो हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों का विरोध अथवा निद्रित होकर उस मूर्ति या व्यक्ति से बात-चीत भी कर सकते हैं । यह एक प्रकार से स्वप्न के मध्य में किए गए भाषण की तरह होता है । कारण यह कि प्राणमय शरीर में अथवा प्राकृतिक प्राणमय क्षेत्र में निद्रावृत्ति को प्रधान माना गया है । साथ ही भाषण आदि भी प्राण के ही कार्य हैं । इसलिए स्वप्न में मूर्ति की बात-चीत सुन सकना अथवा उसके अंग संचालन आदि को देख सकना सम्भव होता है । इसी तथ्य को समझकर साधक गण ध्यान के लिए अपने गुरु अथवा किसी वीतराग पुरुष की मूर्ति को ग्रहण करते हैं । इस प्रकार का स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था में साक्षात्कार स्थूल ध्यान से सम्बन्ध रखता है और उसके लिए केवल चित्तवृत्ति के प्रयोग की आवश्यकता होती है । इस प्रकार के ध्यान का अभ्यास करते समय साधक के लिए कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, पर उनकी तरफ से उदासीन रहना ही श्रेयस्कर है । अपने साधन की सफलता के विषय में ऐसी कोई परीक्षा लेना या ऐसी सिद्धियों के विषय में किसी अन्य व्यक्ति से बातचीत करना उचित नहीं है । ऐसा करना अपने प्रगति-मार्ग में काँटे बोना है । ध्यान का अभ्यास करते समय प्रतिदिन ध्यान में अनुभव आये विषयों को ध्येय वस्तु से सामंजस्य करके उसका पर्यालोचन करना लाभजनक है । जब तक साधन में इस प्रकार का सामंजस्य उत्पन्न नहीं होता तब तक उसे पूर्ण नहीं समझना चाहिए और बराबर अपने कार्यक्रम में दत्तचित्त रहना चाहिए । इस कार्य में त्राटक कर्म का अभ्यास बहुत अच्छा समझा जाता है । ध्यानयोग का अभ्यास बढ़ने पर साधक को उन पदार्थों का भी ध्यान करना चाहिए जिनको अभी तक नहीं देखा है, पर भविष्य में जिनके देखने की सम्भावना है, उनको भी प्रत्यक्ष देखकर वास्तविक वस्तु से उसका मिलान करना चाहिए । इस प्रकार अतीत (भूत), वर्तमान और भविष्यत पदार्थों का ध्यान करके उनको ध्यान में प्रत्यक्ष देखा और समझा जा सकता है इतना हो जाने पर ध्यानयोग का स्थूल साधन सम्पन्न हुआ समझा जा सकता है ।

सूक्ष्म-ध्यान

सूक्ष्म-ध्यान के लिए पहले सूर्य-मंडल जैसे विषय का ध्यान करना चाहिए । साधक को विचारना चाहिए कि सूर्य में ऐसी कौन सी शक्ति विद्यमान है जिसके द्वारा उसमें ऐसी तेज और जीवन शक्ति भरी हुई है । ऐसे गूढ़ विषयों का ध्यान करके उनको जानना ही सूक्ष्म ध्यान के अभ्यास की प्रणाली है । बीज से जिस प्रकार वृक्ष का अनुमान किया जाता है, अथवा धुँआ से जैसे अग्नि का अनुमान किया जाता है उसी प्रकार सभी कार्य और कारणों में प्रच्छानु भाव से रहने वाले तथ्य विचारवान व्यक्ति के मन में प्रतिफलित होते रहते हैं । जिस पदार्थ या विषय का अस्तित्व एक बार असंदिग्ध रूप से प्रतिपादित हो चुका है, जिसको सर्वतोभाव असम्भव मान लिया गया, उसके भूत, भविष्यत, वर्तमान स्वरूप में कैसा भी तारतम्य क्यों न दृष्टिगोचर हो, उसका स्वधर्म (स्वाभाविक गुण) सदैव विद्यमान रहता है । आवरण पड़ जाने से चाहे वह 'धर्म' साधारण मनुष्यों से अलक्षित रहे, पर ज्ञानी के ज्ञान-नेत्रों से वह नहीं छुप सकता । योग-साधना का इच्छुक जिस समय मनोमय शरीर में अवस्थान करता हुआ 'सोऽहं' का ध्यान करता है, उस पर विचार करने लगता है, तो वह मनोमय शरीर को अतिक्रम करके विज्ञानमय शरीर में पहुँच जाता है । किसी विशेष पदार्थ का साक्षात्कार करने के निमित्त हम बहुत अधिक

प्रयत्न करें, तो भी साक्षात्कार हो जाने पर उसके प्रति एक प्रकार का स्वाभाविक वैराग्य हो जाता है । इसीलिए मनोमय शरीर से अग्रसर होकर विज्ञानमय शरीर में पहुँच जाने पर भी उसके प्रति स्वाभाविक वैराग्य हो जाने से साधक पुनः मनोमय शरीर में ही वापस लौट आता है । इसलिए हमको सूक्ष्म ध्यान द्वारा बार-बार अपने ध्येय स्वरूप का ध्यान करने और वहाँ पर दृढ़ रूप से अधिष्ठित होने का प्रयत्न करना पड़ता है । इसके लिए 'सोऽहं' शब्द का ध्यान—विचार आवश्यक है । इस समय साधक अपने को बहुत उच्च स्थिति पर पहुँच गया अनुभव करता है और अनेकों वस्तुएँ या शक्तियाँ, जो पहले अत्यन्त दुर्लभ जान पड़ती थीं, इस समय अनायास प्राप्त हो जाती हैं । परन्तु, साधक को उन सबके प्रति वैराग्यभाव रखना ही उचित है । ऐसी स्थिति में साधक को अन्य व्यक्तियों के सामने अपने को बिल्कुल साधारण मनुष्य के रूप से ही प्रकट करना कल्याणकारी है, क्योंकि यदि वह अपने को छुपा न सकेगा तो लोग उसके प्रति इतने अधिक आकर्षित हो जायेंगे कि उसकी साधना में विघ्न पड़ जायेगा । इसलिए यदि सबसे ऊँची स्थिति के समीप पहुँचकर भी हम बिल्कुल नगण्य, उपेक्षित अवस्था में बने रहें तो इससे हमको साधन करने में विशेष सुविधा ही प्राप्त होगी । सबका सारांश यही है कि ध्यान-योग द्वारा ही मनुष्य मनोमय शरीर को अतिक्रम करके विज्ञानमय में पहुँचकर समाधि-साधन का अधिकारी बन सकता है ।

ध्यानयोग का पूर्वाभ्यास शिथिलीकरण मुद्रा से

ध्यानयोग का एक सत्परिणाम शारीरिक एवं मानसिक तनाव को दूर करना है । अधिक श्रम से—काम करने के क्षेत्र में रहने वाली प्रतिकूलताओं से—मौसम के दबाव से, प्रायः थके हुए शरीर में तनाव उत्पन्न हो जाता है और बेचैनी अनुभव होती है । इस स्थिति में श्रम में खर्च होने वाली शक्ति से भी अधिक सामर्थ्य नष्ट होती है । मानसिक तनाव दूसरों के अप्रिय व्यवहार से—प्रतिकूल परिस्थितियों से अथवा अपने ही चिन्तन तन्त्र की दुर्बलता से उत्पन्न होते हैं । भावुक, आतुर एवं आवेशी प्रकृति के मनुष्य प्रायः तनिक-तनिक-सी बात पर सन्तुलन खो बैठते हैं । आशंकाएँ, कुकल्पनाएँ भी कम हैरानी उत्पन्न नहीं करतीं । अधीर और भीरु प्रकृति के व्यक्ति तिल का ताड़ बनाते और उद्विग्न रहते देखे गए हैं । कामना पूर्ति में व्यवधान पड़ने पर भी कई लोग बेतरह विक्षुब्ध हो उठते हैं । ऐसे-ऐसे अनेक कारण मानसिक उत्तेजना के हो सकते हैं । उत्तेजना का प्रत्यक्ष लक्षण तनाव है जिसे बढ़े हुए रक्तचाप, बेचैनी, अनिद्रा, खीज आदि लक्षणों से सहज ही जाना जा सकता है ।

शारीरिक एवं मानसिक तनावों में मनुष्य की असाधारण क्षति होती है । कहते हैं कि एक घण्टे का क्रोध—एक दिन के बुखार जितनी क्षति पहुँचाता है । शोक के प्रसंगों पर नींद, भूख सभी गायब हो जाती है । तनाव किसी भी प्रकार का किसी भी कारण से उत्पन्न हुआ क्यों न हो उससे सामयिक कष्टों के अतिरिक्त दूरगामी दुष्परिणाम भी उत्पन्न होते हैं । इन हानियों को समझते हुए यथा सम्भव उसके उपचार भी किए जाते हैं । शामक औषधियाँ ली जाती हैं । नींद की गोलियों से मस्तिष्क का भार हल्का करने के प्रयत्न होते हैं । नासमझ व्यक्ति इसके लिए नशेबाजी पर उतर आते हैं । फिर भी अभीष्ट एवं स्थायी समाधान हो नहीं पाता । आज के समय में तनाव की व्यथा अन्य शारीरिक, मानसिक रोगों की तुलना में कम नहीं, वरन् अधिक ही होती है ।

तनाव दूर करने का एक सहज एवं प्रभावशाली उपचार 'ध्यान' हो सकता है । मन का शासन पूरे शरीर तन्त्र पर होता है । यदि मन को शान्त, शिथिल एवं समाधान की स्थिति में पहुँचाया जा सके तो उसका प्रभाव न केवल मस्तिष्क पर बल्कि शरीर के समूचे नाड़ी संस्थान पर पड़ता है और तनाव से छुटकारा पाने में भारी सहायता मिलती है । इसके लिए शिथिलता की मनःस्थिति उत्पन्न करनी पड़ती है । शिथिलासन—शिथिलीकरण मुद्रा के उपचार इसी निमित्त होते हैं ।

अध्यात्म साधना की दृष्टि से मनःस्थिति शान्त करना प्राथमिक प्रयोग समझा जा सकता है । यदि विचारों की अनियन्त्रित घुड़दौड़ चल रही होगी—चंचलता का आवेश छाया होगा तो फिर उपासना की भाव भूमिका बन ही नहीं सकेगी । अशान्त मन से

आत्म-चिन्तन, भक्ति साधन जैसे प्रयोजन सध ही नहीं पाते । किसी प्रकार कर्मकाण्डों की चिह्न पूजा भर करते रहने से बात कुछ बनती नहीं है ।

शारीरिक और मानसिक उत्तेजनाएँ आत्मिक-साधनाओं में अत्यन्त बाधक होती हैं । उनके कारण महत्त्वपूर्ण साधना विधानों के लिए किया गया भारी प्रयास पुरुषार्थ भी निरर्थक चला जाता है । इसलिए तत्वदर्शी आत्मिक प्रगति की दिशा में बढ़ने के लिए प्रयत्नशील पथिकों को सदा से यही शिक्षा देते रहे हैं कि शरीर को तनाव रहित और मस्तिष्क को उत्तेजना रहित रखा जाय ताकि उस पर दिव्य चेतना का अवतरण निर्बाध गति से होता रह सके । क्रिया-कलापों की भगदड़ से माँसपेशियों में—नाड़ी संस्थान में तनाव रहता है । बाहर से स्थिर होते हुए भी यदि शरीर के भीतर आवेश छाया रहा, तो उस उफान के कारण मन का स्थिर एवं एकाग्र रह सकना भी सम्भव न होगा ।

मन-मस्तिष्क में अनियन्त्रित हलचलें चल रही होंगी, तरह-तरह के विचार उठ रहे होंगे तो जल में उठती हुई हिलोरों की तरह अस्थिरता ही बनी रहेगी । स्थिर जल राशि में चन्द्र, सूर्य, तारे आदि का प्रतिबिम्ब ठीक प्रकार दृष्टिगोचर होता है, पर हिलते हुए पानी में कोई छवि नहीं देखी जा सकती । विचारों की हड़कम्प यदि मस्तिष्क में उठतीं रहें—तरह-तरह की कल्पनाएँ घुड़दौड़ मचाती रहें तो फिर ब्रह्म सम्बन्ध की प्रगाढ़ता में निश्चित रूप से अड़चन पड़ेगी । मस्तिष्क जितना अधिक विचार रहित—खाली होगा उतनी ही तन्मयता उत्पन्न होगी और आत्मा-परमात्मा का मिलन संयोग अधिक प्रगाढ़ एवं प्रभावशाली बनता चला जायेगा ।

आकाश में जब बिजली कड़क रही हो या आँधी-तूफान का मौसम चल रहा हो तो हमारे रेडियो में आवाज साफ नहीं आती, कड़कड़ जैसे व्यवधान उठते रहते हैं और प्रोग्राम ठीक से सुनाई नहीं पड़ते । अन्तरिक्ष से भौतिक शक्तियों एवं आत्मिक चेतनाओं का सुदूर क्षेत्र से मनुष्य पर अवतरण होता रहता है । ब्राह्मी चेतना एक प्रकार का ब्रोडकास्ट केन्द्र है जहाँ से मात्र संकेत, निर्देश, सूचनाएँ ही नहीं वरन् विविध प्रकार की सामर्थ्य भी प्रेरित की जाती रहती हैं । सूक्ष्म जगत में यह क्रम निरन्तर चलता रहता है जहाँ सही रेडियो यन्त्र लगा है—जहाँ व्यक्ति ने अपने आपको सही अन्तःस्थिति में बना लिया है वहाँ यह सुविधा रहेगी कि ब्रह्म चेतना की विविध सूचनाओं को ग्रहण करके अपनी ज्ञान चेतना को बढ़ा सकें । इतना ही नहीं प्रेरित दिव्य शक्तियों को ग्रहण करने और धारण करने का लाभ उठाकर अपने को असाधारण आत्म-बल सम्पन्न बना सकें ।

परन्तु यह सम्भव तभी है जब मनुष्य अपने मस्तिष्क को तनाव रहित—शान्त स्थिति में रखे । आँधी-तूफान, कड़क और गड़गड़ाहट की उथल-पुथल रेडियो को ठीक से काम नहीं करने देती । मनुष्य का शरीर और मन उत्तेजित—तनाव की स्थिति में रहे तो फिर यह कठिन ही होगा कि वह ब्रह्म चेतना के साथ अपना सम्बन्ध ठीक से जोड़ सके और उस सम्मिलन की उपलब्धियों का लाभ उठा सके ।

तनाव की स्थिति से उबरने के लिए शरीर को ढीला और मन को खाली रखना चाहिए । इसके लिए शिथिलीकरण मुद्रा का अभ्यास करना पड़ता है । शिथिलीकरण का स्वरूप यह है कि देह को मृतक—निष्प्राण, मूर्छित, निद्रित, निःचेष्ट स्थिति में किसी आराम कुर्सी या किसी अन्य सहारे की वस्तु से टिका दिया जाय और ऐसा अनुभव किया जाय मानो शरीर प्रसुप्त स्थिति में पड़ा हुआ है । उसमें कोई हरकत हलचल नहीं हो रही है । यह मुद्रा शरीर को असाधारण विश्राम देती और तनाव दूर करती है । उच्चस्तरीय ध्यानयोग के लिए यही स्थिति सफलता का पथ-प्रशस्त करती है । इस साधना के लिए समय का बन्धन नहीं है तो भी रात्रि का समय अधिक उपयुक्त रहता है।

इस समस्त विश्व को पूर्णतया शून्य रिक्त अनुभव किया जाय । प्रलय के समय ऊपर नीला आकाश, नीचे नीला जल स्वयं अबोध बालक की तरह कमल पत्र पर पड़े हुए तैरना, अपने पैर का अँगूठा अपने मुख से चूसना, इस प्रकार का प्रलय चित्र बाजार में भी बिकता है । मन को शान्त करने की दृष्टि से यह स्थिति बहुत ही उपयुक्त है संसार में कोई व्यक्ति, वस्तु, हलचल, समस्या, आवश्यकता है ही नहीं, सर्वत्र पूर्ण नीरवता ही भरी पड़ी है—यह मान्यता प्रगाढ़ होने पर मन के लिए भोगने, सोचने, चाहने का कोई पदार्थ या कारण रह ही नहीं जाता । अबोध बालक के मन में कल्पनाओं की घुड़दौड़ की कोई गुंजाइश नहीं रहती ।

अपने पैर के अँगूठे में से निसृत अमृत का जब आप ही परमानन्द उपलब्ध हो रहा है तो बाहर कुछ ढूँढ़ने-खोजने की आवश्यकता ही क्या रही ? इस उन्मनी मुद्रा में आस्थापूर्वक यदि मन जमाया जाय तो उसके खाली एवं शान्त होने की कोई कठिनाई नहीं रहती । कहना न होगा कि शरीर को ढीला और मन को खाली करना ध्यानयोग की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक है ।

शरीर को मृत समान निर्जीव करने—काया से प्राण को अलग मानने—अर्धनिद्रित स्थिति में माँसपेशियों को ढीला करके आराम कुर्सी जैसे किसी सुविधा-साधन के सहारे पड़े रहने को शिथिलीकरण मुद्रा कहते हैं । ध्यानयोग के लिए यही सर्वोत्तम आसन है । शरीर को इस प्रकार ढीला करने के अतिरिक्त मन को भी खाली करने की आवश्यकता पड़ती है । ऊपर नीला आकाश—नीचे अनन्त नीलजल—अन्य कोई पदार्थ, कोई जीव, कोई परिस्थिति कहीं नहीं, ऐसी भावना के साथ यदि अपने को निर्मल निश्चिन्त मन वाले बालक की स्थिति में एकाकी होने की मान्यता मन में जमाई जाय तो मन सहज ही ढीला हो जाता है । इन दो प्रारम्भिक प्रयासों से सफलता मिल सके तो ही समझना चाहिए कि ध्यानयोग में आगे बढ़ने का पथ-प्रशस्त हो गया ।

मस्तिष्क पर क्रोध, शोक, भय, हानि, असफलता, आतंक आदि के कारणवश आवेश आते हैं, पर वे स्थायी नहीं होते । कारण समाप्त होने अथवा बात पुरानी होने पर शिथिल एवं विस्मृत हो जाते हैं । उनका प्रभाव चला जाता है । पर कामनाओं की उत्तेजना ऐसी है जो निरन्तर बनी रहती है और दर्द की तरह मनः संस्थान में आवेश की स्थिति बनाये रहती है । घृणा, द्वेष, प्रतिशोध, आशंका जैसे निषेधात्मक और लोभ, मोह, अहंता, वैभव, सत्ता, पद, यश, भोग, प्रदर्शन जैसी भौतिक महत्त्वाकांक्षाओं की विधेयात्मक कामनाएँ यदि उग्र हों तो दिन-रात सोते जागते कभी चैन नहीं मिल सकता और अपना अन्तःकरण निरन्तर उद्विग्न उत्तेजित बना रहता है । यह स्थिति ध्यान साधना के लिए—ब्रह्म सम्बन्ध के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है ।

शरीर को पूरी तरह ढीला और मन को पूरी तरह खाली करना ही शिथिलीकरण मुद्रा का उद्देश्य है । तनाव से पिण्ड छुड़ाने का यह उत्तम उपचार है । इस अभ्यास को करते समय शरीर को ऐसी स्थिति में रखा जाना चाहिए जिसमें माँसपेशियों को, नाड़ी संस्थान को, पूरी तरह विश्रान्ति मिल सके । उच्चस्तरीय ध्यानयोग में पद्मासन, सिद्धासन आदि लगाने पड़ते हैं । कमर को सीधा रखना पड़ता है । ताकि मेरुदण्ड गत सुषुम्ना में ब्रह्माण्डीय चेतना का दिव्य अवतरण निर्बाध गति से सम्भव हो सके । इसके लिए पूर्वाभ्यास के रूप में शिथिलीकरण मुद्रा का अभ्यास है । इसमें शरीर को ऐसी स्थिति में रखा जाता है जिसमें किसी प्रकार का दबाव न पड़े । अस्तु इसके लिए 'शवासन' का उपयोग करना पड़ता है । शवासन का अर्थ है—मुर्दे की तरह निश्चेष्ट पड़े रहना । यह बिस्तर पर पड़े-पड़े भी हो सकता है । आराम कुर्सी पर लेटा जा सकता है । दीवार या मसनद का सहारा लेने में भी हर्ज नहीं है । इस प्रकार पड़े रहने के उपरान्त सोचना पड़ता है कि शरीर में से प्राण निकल गया और काया मृतक जैसी स्थिति में पहुँच गई है । मृतक के अवयवों को कोई काम नहीं करना पड़ता । फलतः वे पूर्ण विश्रान्ति में रहते हैं । समाधि में भी यही स्थिति होती है । तुरीयावस्था में पहुँचने पर प्राण को भी ऐसी ही अनुभूति होती है । इनमें न केवल शरीर पूरी तरह शिथिल रहता है वरन् मन को भी कल्पना रहित बनना होता है, खाली रहना पड़ता है । संसार भर में प्रलय का साम्राज्य छा जाने की मान्यता इसी मनःस्थिति को लाने के लिए संकल्पपूर्वक अपनानी पड़ती है । प्रलयकाल में कहीं कोई व्यक्ति, प्राणी पदार्थ शेष ही नहीं रहता, ऐसी दशा में किन्हीं के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध कैसे रखा जाय ? किसी पदार्थ की कामना कैसे की जाय जबकि कहीं कुछ है ही नहीं ? ऐसी दशा में परिस्थितियों की अनुकूलता, प्रतिकूलता उत्पन्न होने का प्रश्न भी कहाँ उठता है ? मृतक के लिए चिन्ता या आकांक्षा करने का कोई कारण नहीं । जब सबसे नाता टूट ही गया और शरीर न रहने पर किसी से कोई आदान-प्रदान हो ही नहीं सकता तो निरर्थक कल्पनाओं की घुड़दौड़ मचाने से क्या लाभ ?

शवासन में शरीर को निद्रावस्था अथवा मृत्यु जैसा विश्राम—मन को प्रलयकाल जैसा चिन्तन विराम देने की स्थिति उत्पन्न की जाती है । मनोनिग्रह की यही प्रथम भूमिका है । इससे शारीरिक और मानसिक तनावों पर नियन्त्रण सम्भव होता है । उच्चस्तरीय

आध्यात्मिक ध्यान सफलतापूर्वक कर सकने की भूमिका बनती है । अस्तु इस प्रयोग के अभ्यास को दैनिक कार्यक्रम में स्थान देना चाहिए । आरम्भ पन्द्रह मिनट से करके उसे क्रमशः बढ़ाना चाहिए और सुविधानुसार आधे घण्टे तक पहुँचाना चाहिए । यह बाल, वृद्ध हर किसी के लिए समान रूप से उपयोगी है ।

ध्यान साधना का वैज्ञानिक आधार

ध्यानयोग भौतिक एवं आध्यात्मिक सफलताओं में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रस्तुत करता है उसके आधार पर अपना भी हित साधन हो सकता है और दूसरों का भी किया जा सकता है । मन-मस्तिष्क एवं अन्तराल की बिखरी तथा प्रसुप्त शक्तियों को जागृत एवं केन्द्रित करके मनचाही दिशा में प्रगति की जा सकती है । आरोग्य की उपलब्धि, मनोबल की प्रखरता—संकल्प शक्ति की परिपक्वता, भविष्य निर्माण से जुड़ने वाली महती भूमिका में सघन विचारधारा का उन्नयन जैसी सफलताओं का मूल आधार ध्यान साधना में ही सन्निहित है । संसार के सफलतम व्यक्तियों, महानतम् विभूतियों की यह एक अनिवार्य विशेषता रही है कि उनका अपने मस्तिष्क पर नियन्त्रण बना रहा है । मस्तिष्कीय चेतना को उन्होंने बिखरने नहीं दिया । जो निश्चय किया उसी पर अविचल भाव से चलते रहे । मानसिक शक्तियों—ऊर्जा तरंगों के बिखराव को रोककर एक सुनिश्चित केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित करने की कला जिन्हें ज्ञात है, वे उस मनःस्थिति में जो काम हाथ में लेंगे—सफल होकर रहेंगे ।

एकाग्रता सम्पादन ध्यान का प्रत्यक्ष लाभ है । चित्तवृत्तियाँ प्रायः अनियंत्रित और उच्छृंखल बनी अव्यवस्थित रूप से अस्त-व्यस्त परिभ्रमण करती रहती हैं । इस बिखराव में बहुमूल्य मानसिक शक्तियों का अपव्यय ही होता है । बहुत करके तो चिन्तन की इस विशृंखलता के साथ-साथ अवांछनीय तत्व ही लिपट पड़ते हैं । यदि विचारों को व्यवस्थित एवं उपयोगी कार्यों में न लगाया जायेगा, तो उसके अभाव का लाभ आसुरी तत्व उठायेंगे और पतनोन्मुख पशु-प्रवृत्तियों का मनःक्षेत्र पर अधिकार सघन होता चला जायेगा । एकाग्रता से बिखराव सिमटता है, शक्ति उत्पन्न होती है । मस्तिष्कीय बिखराव का केन्द्रीकरण मनुष्य में अद्भुत प्रतिभा एवं क्षमता का विकास करता है । उसमें अतीन्द्रिय सामर्थ्य विकसित हो जाती है एवं वह असम्भव भी सम्भव कर दिखा पाने की स्थिति में आ जाता है । ध्यान प्रक्रिया में यही किया जाता है ।

ध्यानयोग इन दिनों वैज्ञानिकों के लिए अनुसंधान का एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है । मनःशास्त्रियों एवं अध्यात्मवेत्ताओं की भाँति वे भी अब इस बात को स्वीकारने लगे हैं कि प्रवीणता और प्रतिभा निखारने के लिए—प्रगति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए ध्यानजन्य एकाग्रता का सम्पादन आवश्यक है । शरीरगत संयम बरतने से मनुष्य स्वस्थ रहता है और दीर्घजीवी बनता है, उसी प्रकार मनोगत संयम—एकाग्र भाव सम्पादित करने से वह बुद्धिमान, विचारकों, मनीषियों की श्रेणी में पहुँच सकता है ।

सतत एवं नियमित रूप से ध्यान साधना करने वाले योग साधकों पर किए गए विभिन्न प्रयोग-परीक्षणों के आधार पर विशेषज्ञों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उसके अनुसार ध्यान प्रक्रिया के अभ्यास से उद्विग्नता मिटती, तनाव घटता और मस्तिष्क शान्त होता है । चंचलता मिटती और मन में स्थिरता आती है । नाड़ी की गति कम होती और श्वसन दर घटती है तथा शरीर का तापमान नीचे उतर जाता है । इससे शारीरिक-मानसिक शक्ति की यथेष्ट बचत होती है तथा अतिरिक्त प्राण ऊर्जा का भण्डारण होता है । परीक्षणों में पाया गया है कि ध्यान की गहराई में उतरने पर साधक की श्वसन की सामान्य गति १८ से घटकर ५ या ६ श्वास प्रति मिनट एवं हृदय दर ७२-८० से घटकर ५०-६० प्रति मिनट तक जा पहुँचती है । इस मध्य ऑक्सीजन की खपत में भी २० प्रतिशत की कमी आँकी गई है । रक्त में उपस्थित लैक्टिक एसिड की मात्रा भी ५० प्रतिशत तक कम हो जाती है । रक्त में इस तत्व की उपस्थिति से मस्तिष्क भय, चिन्ता, उदासी, तनाव जैसे विकारों से भरा रहता है । शरीर के अवयव अव्यवस्थित एवं थकान ग्रस्त बने रहते हैं । ध्यान साधना से इसके रक्त स्तर में कमी आती है और व्यक्ति के अन्दर उत्साह-उमंग और स्फूर्ति की नवीन चेतना की लहरें

हिलोरें मारने लगती हैं । शरीर की प्रतिरोधी क्षमता 'एम्यून सिस्टम' में भी आमूल-चूल अभिवृद्धि हो जाती है । त्वचा की प्रतिरोधात्मक क्षमता बढ़ जाने पर उसके सम्पर्क में आने वाले रोगकारक जीवाणुओं का प्रभाव समाप्त हो जाता है । मानसिक क्षमता के केन्द्रीकरण प्रयोग से कोई भी मन्दबुद्धि, दुर्बलकाय मनुष्य अपना कायाकल्प कर सकता है ।

ध्यानयोग का प्रमुख उद्देश्य मस्तिष्कीय बिखराव को रोककर एक चिन्तन बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने की प्रवीणंता प्राप्त करना है । इस प्रयोग में जिसे जितनी सफलता मिलती जाती है उसकी अन्तः चेतना में उसी अनुपात से बेधक प्रचण्डता उत्पन्न होती जाती है । शब्द-भेधी बाण की तरह लक्ष्य भेध कर सकना उसके लिए सरल हो जाता है यदि अध्यात्म उसका लक्ष्य होगा तो उस क्षेत्र में आशाजनक प्रगति होगी और विभूतियों से दिव्य ऋद्धि-सिद्धियों से उसका व्यक्तित्व भरा-पूरा दिखाई पड़ेगा । यदि लक्ष्य भौतिक उन्नति है तो भी इस एकाग्रता का समुचित लाभ मिलेगा और अभीष्ट प्रयोजनों में आशाजनक सफलता मिलती चली जायेगी । शक्ति का जब-जिस भी दिशा में प्रयोग किया जायेगा उसी में सत्परिणाम प्रस्तुत होते चले जायेंगे ।

पैरासाइकोलॉजी पर शोध कर रहे मूर्धन्य मनःशास्त्रियों का मत है कि ध्यान प्रक्रिया द्वारा मस्तिष्क के भीतर अनेकों प्रकार के रासायनिक परिवर्तन किए जा सकते हैं तथा मस्तिष्कीय क्रिया-कलापों पर नियन्त्रण करके एनकेफेलिन, एण्डॉर्फिन्स जैसे एण्डोजीनस दर्द निवारक तत्वों की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है । यह तत्व मस्तिष्कीय तन्तुओं में पाये जाते हैं । ध्यान ऐसी निरापद आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिसके अगणित लाभ हैं । विशेषज्ञों के अनुसार दर्द को दबाने वाली तीव्र शामक औषधियों के प्रयोग के स्थान पर ध्यान की प्रक्रिया अपनाने पर संज्ञाशून्यता उत्पन्न की जा सकती है और एनेस्थेशिया का प्रयोग किए बिना शल्यक्रिया सम्पन्न की जा सकती है ।

लोकमान्य तिलक के जीवन का एक संस्मरण प्रसिद्ध है कि उनके अँगूठे का ऑपरेशन होना था । चिकित्सकों ने दवा सुँघाकर बेहोश करने का प्रस्ताव रखा तो उसने कहा "मैं गीता के प्रगाढ़ अध्ययन में लगता हूँ आप बे खटके ऑपरेशन कर लीजिए ।" डॉक्टर को तब बहुत आश्चर्य हुआ जब उन्होंने बिना हिले-डुले शान्तिपूर्वक ऑपरेशन करा लिया । पूछने पर तिलक ने इतना ही कहा—"तन्मयता इतनी प्रगाढ़ थी जिसमें शल्यक्रिया की ओर ध्यान ही नहीं गया और दर्द भी अनुभव नहीं हुआ ।"

वस्तुतः यह ध्यान प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न की गई "अल्फा-स्टेट" होती है जिसमें मस्तिष्क से लगातार अल्फा तरंगें ही प्रस्फुटित होती रहती हैं । पाली में इस अवस्था को 'झान' कहते हैं । चीनी साधकों का 'चान' और जापानी योगसाधकों की 'जेन' भी यही प्रक्रिया है । प्रख्यात ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने अपने निबन्ध संग्रह में बताया है कि एक बार सुकरात ध्यान की गहन अवस्था में पहुँच गए और २४ घण्टे लगातार बिना हिले-डुले एक स्थान पर खड़े रह गए । इसी तरह महान संत थॉमस एक्विनास के बारे में कहा जाता है कि एक बार वे ईश्वर के ध्यान में इतने अधिक निमग्न हो गए कि पास रखी आग पर उनकी अंगुलियाँ झुलसती रहीं और कोई कष्ट तक अनुभव नहीं हुआ । मस्तिष्क विज्ञानियों का कहना है कि इस प्रकार ध्यान में प्रगाढ़ता आने पर व्यक्ति की अल्फा तरंगों की धारा में अकल्पित वृद्धि हो जाती हैं और वह उसके अन्दर अदम्य धैर्य, स्थिरता एवं गहन शांति उत्पन्न कर देती है । ऐसी स्थिति में चेतना उच्चस्तरीय आयामों पर आरोहण कर जाती है और तब शरीर का आभास तक नहीं होता ।

'द साइकल्स ऑफ हेवन' नामक अपनी पुस्तक में वैज्ञानिक द्वय जी. प्लेफेयर तथा स्कॉट हिल ने बताया है कि मानवी मस्तिष्क में निरन्तर प्रचण्ड विद्युत प्रवाह उत्पन्न होता रहता है और उसके शक्तिशाली कम्पन ऐसे ही दुर्बल विचार तरंगों से लिपटे अनन्त आकाश में उड़ते, बिखरते और नष्ट होते रहते हैं । यदि इस प्रवाह को ध्यान प्रक्रिया द्वारा केन्द्रित करके किसी विशेष लक्ष्य पर नियोजित किया जा सके तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम हो सकते हैं । एकाग्रता से मस्तिष्क में उत्पन्न होते रहने वाली विचार तरंगों के निरर्थक बिखराव को निग्रहीत करने में असाधारण रूप से सहायता मिलती है । केन्द्रीकरण से उसकी आज की क्षमता अगले दिनों

अनेक गुनी हो सकती है और प्रभाव क्षेत्र विश्वव्यापी बन सकता है ।

ध्यान साधना द्वारा मस्तिष्क को विश्राम देकर उसके मेधा, प्रज्ञा क्षेत्रों को विकसित, परिष्कृत किया और समाधिपरक परमानन्द का लाभ उठाया जा सकता है । वैज्ञानिकों के अनुसार मानवी मस्तिष्क से उसकी भावना, विचारणा एवं मनःस्थिति के अनुरूप विभिन्न प्रकार की ऊर्जा तरंगें प्रस्फुटित होती रहती हैं । यह मस्तिष्कीय धाराएँ अल्फा, बीटा, थीटा, डेल्टा—इन चारों भागों में बँटी होती हैं जिन्हें ई. ई. जी. मशीन द्वारा अलग-अलग अंकित किया जाता है । परीक्षणकर्त्ता विशेषज्ञों ने पाया है कि जिस समय मस्तिष्क से अल्फा तरंगें निस्सृत हो रही हैं उस समय व्यक्ति गहन शांति की स्थिति में होता है । अल्फा तरंगों की आवृत्ति ८ से १३ साइकल्स प्रति सेकण्ड होती है । इन तरंगों को ई. ई. जी. मानीटर अथवा अल्फा ई. ई. जी. बायोफीडबैक या अल्फाफोन मशीन के माध्यम से फिल्टर किया जा सकता है और अभ्यास द्वारा इनका वर्चस्व बढ़ाकर मस्तिष्कीय चेतना का विकास किया जा सकता है । अल्फा स्थिति में साधक पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगा रही भू-चुम्बकीय धाराओं 'शूमेन्सरेजोनेन्स' से तादात्म्य स्थापित कर लेता है । यह एक ज्ञात तथ्य है कि ये तरंगें भी ८ से १३ आवृत्ति प्रति सेकण्ड की गति से पृथ्वी की परिक्रमा करती हैं । इस तरह व्यष्टि मन, समष्टि मन से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है ।

अध्यात्म साधनाओं में अल्फा स्थिति उत्पन्न करने के लिए साधक को यम नियम से लेकर ध्यान धारणा के विविध यौगिक—उपक्रमों का आश्रय लेना पड़ता है । सतत अभ्यास से जैसे-जैसे कषाय-कल्मषों का परिशोधन होता जाता है, स्वभाव संचित आदतों, व्यवहार एवं विचारणा में उत्कृष्टता की मात्रा बढ़ती जाती है । धीरे-धीरे समूचे व्यक्तित्व का ही कायां-कल्प हो जाता है । साधक की मस्तिष्कीय चेतना जितनी अधिक समय तक प्रचुर परिमाण में अल्फा तरंगों से आच्छादित रहेगी, उसी अनुपात से उसकी अंतःक्षमताओं का विकास होगा । शान्त मस्तिष्क से ही एकाग्रता सधती है और तदनुरूप सत्परिणाम भी सामने आते हैं । सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डब्ल्यू पेनफील्ड तथा एच. एच. जैस्पर का कहना है कि विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइंस्टीन की उपलब्धियाँ अल्फा स्टेट की ही देन हैं । उनके ई. ई. जी. का विश्लेषण करने पर पाया गया कि उनके मस्तिष्क से सदैव लयबद्ध अल्फा तरंगें ही प्रधान रूप से निकलती रहती थीं । कठिन से कठिन गणितीय सूत्रों के समाधान ढूँढ़ते समय भी वह अपने आपको इसी अवस्था में बनाये रखते थे । एकाग्रता, तन्मयता, तत्परता उनके जीवन के रग-रग में बस गई थी ।

वस्तुतः मानवी मस्तिष्क एक छोटा किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली बिजलीघर है । उसमें से अगणित दिशाओं में प्रवाह चलता है । इनमें कुछ तो शरीर के भीतर हैं जो जीवनचर्या से सम्बन्धित अनिवार्य जैविक गतिविधियों को चलाते हैं । कुछ ऐसे हैं जो बाह्य जीवन से सम्बन्धित हैं । भावना, आकांक्षा, विचारणा, क्रिया का निर्धारण बाहर की परिस्थिति से सम्बन्धित होता है । इसमें मस्तिष्क के सचेतन भाग की अधिकांश क्षमता नियोजित रहती है ।

श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन जैसी आन्तरिक क्रियाओं का नियन्त्रण तो कठिन है । यह सब स्वसंचालित अचेतन भाग (आटोनॉमिक नर्वस सिस्टम) द्वारा गतिशील रहता है । उसमें खर्च होने वाली बिजली पर नियन्त्रण नहीं हो सकता, पर बाह्य जीवन की समस्याओं में जो शक्ति खर्च होती है, उसे ध्यान द्वारा रोका जा सकता है । निग्रह से जो शक्ति एकत्रित होती है उसे अभीष्ट प्रयोजनों में लगाकर असाधारण प्रतिफल प्राप्त किया जा सकता है ।

पाया गया है कि ध्यान की दशा में व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर में कई तरह की जैव रासायनिक प्रक्रियाएँ सक्रिय होती हैं । कई अवांछनीय प्रक्रियाएँ उस समय निष्क्रिय हो जाती हैं । इसलिए अन्तर्मुखी ध्यान की स्थिति को विचार के सूक्ष्म स्तर तक उस समय तक उतारते जाना चाहिए जब तक मन विचार के सूक्ष्मतम अमूर्त स्तर तक न पहुँच जाय और उनके मूल स्रोत की खोज न कर ले । इस प्रक्रिया से चेतन मन की शक्तियों का विस्तार होता है । फलतः मनुष्य का सम्बन्ध सृजनात्मक बौद्धिकता से जुड़ता और उसी परिणति को प्राप्त होने लगता है । इस प्रक्रिया को हम केवल श्रमहीन शारीरिक, मानसिक क्रिया कह सकते हैं जो एक साधारण मानव भी करने में सक्षम हो

सकता है । केवल घण्टे भर के दैनिक अभ्यास से मानव प्रसन्नचित्त और सृजनशील बना रह सकता है ।

ध्यान किसी भौतिक प्रयोजन में भी लगाया जा सकता है और अध्यात्म उद्देश्य के लिए भी । वैज्ञानिक, कलाकार, शिल्पी, साहित्यकार अपना ध्यान इन कार्यों में संलग्न करके तद् विषयक सफलताएँ पाते हैं और जिन्हें अन्तर्मुखी होकर आत्मशोधन करना है अथवा प्रसुप्त शक्तियों को जागृत करना है वे उस दिशा में प्रगति करते हैं । प्रयोजन विशेष के अनुसार ध्यान को वैसा मोड़ दिया जा सकता है । इस प्रक्रिया की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर भी अब विशद अनुसन्धान किया जा चुका है ।

ध्यान साधना से शरीर-क्रिया विज्ञान पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों की खोज का कार्य 'न्यूरोफिजियॉलॉजिस्ट' गणों ने किया है । अमेरिका, इंग्लैण्ड, पश्चिमी जर्मनी में ही नहीं अपितु भारत के विभिन्न संस्थानों में भी इस प्रकार का व्यापक कार्य हो रहा है । त्रिवेन्द्रम, बैंगलोर, मद्रास व दिल्ली के चिकित्सा संस्थानों ने इस विधा पर अनुसंधान हेतु विशेष केन्द्र खोले हैं । अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान भी दिल्ली में डॉ. छिन्ना एवं डॉ. बलदेवसिंह ने आज से ६ वर्ष पूर्व यह कार्य प्रायोगिक स्तर पर किया था । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मननशील एकाग्र ध्यानस्थ मस्तिष्क में अनेकों विशेषताएँ विकसित होती हैं ।

ध्यान से शरीर की चयापचय प्रक्रियाएँ सामान्य से कम क्रियाशील हो जाती हैं । इलेक्ट्रो एन सेफेलोग्राफ (ई. ई. जी.) की सहायता से वैज्ञानिकों ने डीप डी. सी. ब्रेन पोटेन्शियल प्राप्त कर व्यक्ति के मस्तिष्क की स्वप्नवस्था, सुप्तावस्था, जागृत एवं ध्यान तथा समाधि की मुद्राओं में हो रहे परिवर्तनों का अध्ययन किया है । मानवी मस्तिष्क में करोड़ों न्यूरान्स हैं जो सूचना को एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचाते हैं । केन्द्रकों में इन सूचनाओं का विवेचन विश्लेषण होता है । तत्पश्चात शरीर के सम्बन्धित अंगों को निर्देश जाता है । मस्तिष्कीय स्नायु तन्त्र में सूचना सम्प्रेषण वस्तुतः एक जैव रासायनिक प्रक्रिया है । 'एसिटाइल कोलीन' नामक स्नायु रसायनों के माध्यम से जो विद्युत आवेश धारण किए होते हैं, सन्देशों का आदान-प्रदान एवं प्रसुप्त केन्द्रों को जगाने का काम चलता रहता है । इस तरह मस्तिष्क एक अत्यन्त उच्च क्षमता वाला जैव रासायनिक विद्युत संयन्त्र है । अन्तर्मुखी ध्यान की स्थिति में क्रियाशीलता आने पर जो भी परिवर्तन होते हैं उन्हें ई. ई. जी. में देखा जा सकता है । साथ ही रक्त के स्नायु रसायनों का उपकरणों के माध्यम से मापन कर जाना जा सकता है कि शरीर के अन्दर क्या प्रतिक्रिया हुई ?

मस्तिष्क में विद्यमान विद्युत्स्फुल्लिंग के प्रवाह द्वारा छोड़ी गई तरंगें चार प्रकार की होती हैं । अल्फा, बीटा, थीटा एवं डेल्टा । अल्फा तरंगें ८ से १३ प्रति सेकण्ड, थीटा तरंगें ५ से ७ प्रति सेकण्ड, बीटा तरंगें १३ से ३० प्रति सेकण्ड एवं डेल्टा तरंगें ५ से ४ चक्र प्रति सेकण्ड पूरा करती हैं, इसी आधार पर इनका वर्गीकरण है । शरीर शिथिल हो तो भी अन्तर्मुखी ध्यान की स्थिति में मस्तिष्क पूर्णतः क्रियाशील पाया गया है एवं अल्फा तरंगें मस्तिष्क के अग्रभाग से उभरती देखी गई हैं, जिसे प्रिफ्रन्टल लोब, फ्रण्टल कार्टेक्स कहते हैं ।

इसी प्रकार जब बीटा तरंगों का अध्ययन अन्तर्मुखी ध्यान के दौरान किया गया तो यह देखा गया कि बीटा तरंगें भी मस्तिष्क के अग्रभाग की ओर से ही उभरती हैं । बीटा तरंगों के दौरान योगी को गहरी नींद आने का भी अनुभव होता है अतः निष्कर्ष निकाला गया कि सम्भवतः इस अल्पकालीन नींद के परिणामस्वरूप ही योगी ध्यान के अन्त में मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से जागरूक स्वस्थ एवं हल्का-फुल्का महसूस करता है ।

मस्तिष्क का शारीरिक क्रियाओं पर पूर्ण आधिपत्य होने से ध्यान की अवस्था में दिल की धड़कन, रक्तवाहिनियों में रक्त दबाव में कमी एवं श्वास की दर में कमी आ जाती है । इसके परिणामस्वरूप ही शरीर में मेटोबोलिक गतिविधि घट जाती है । इसकी परिणति होती है तनाव से पूर्ण मुक्ति और शरीर व मस्तिष्क को पूर्ण विश्रान्ति ।

श्वास क्रिया शिथिल होने से शरीर की ऑक्सीजन की पूर्ति में कमी आ जाती है । परीक्षण के दौरान यह मात्रा १०० मिलि-लीटर रक्त में ११०.४ से घटकर ८० मिलिग्राम हो जाती है । इसके परिणामस्वरूप माँसपेशियों में होने वाली क्रियाओं के फलस्वरूप रक्त में विद्यमान अम्ल रूपी विष 'लैक्टेट' काफी मात्रा में

कम हो जाती है । ये सारी रासायनिक प्रक्रियाएँ ध्यानस्थ साधक के शरीर में होती देखीं व उनकी फलश्रुतियाँ बहिरंग में प्रत्यक्षतः पायी जा सकती हैं । ध्यान की इस उच्चावस्था में हल्की योग निद्रा आने लगती है अर्थात् शरीर शिथिल होकर अपने हिस्से की विद्युत भी मनोनिग्रह के साथ किए गए ध्यान प्रयोजन में नियोजित कर देता है फलतः वह अधिक शक्तिशाली हो जाता है । इस स्थिति को 'सविकल्प' या 'निर्विकल्प' समाधि कहते हैं । इस स्थिति में मनोबल इतना सशक्त हो जाता है कि अभीष्ट प्रयोजन को भली प्रकार पूरा कर सके, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक । ध्यान की महिमा का यही आधार है ।

ध्यान साधना की प्रचण्ड सामर्थ्य

आत्मविकास के साधनों में भारतीय मनीषियों ने जप और ध्यान को बहुत अधिक महत्त्व दिया है । आत्मविकास का अर्थ केवल स्वर्ग और मुक्ति की प्राप्ति, परलोक और मरणोत्तर जीवन की पूर्णानुभूति तथा अतीन्द्रिय क्षमताओं का विकास ही नहीं आता अपितु उन समस्त गुणों की अभिवृद्धि भी आती है जो हमारे भौतिक जीवन को भी शक्ति सामर्थ्य और सक्रियता प्रदान करती है । सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, श्रद्धा, विश्वास, परिश्रम, पुरुषार्थ, व्यवहार-कुशलता, निरालस्य यह गुण न हों तो अपार भौतिक सम्पदाओं का स्वामी भी कालान्तर में निर्धन छूँछ हो सकता है, सामाजिक आत्मीयता से अलग-थलग पड़कर अपनी मानसिक शान्ति गँवा सकता है । स्पष्ट है कि हमारी आध्यात्मिक भौतिक सभी आवश्यकताएँ आत्म-विकास पर ही आधारित हैं, अतएव उससे मात्र एकांगी पक्ष की बात नहीं विचारनी चाहिए ।

साम्यवाद के कट्टर समर्थक उपासना को समय की बर्बादी कहकर उसे बुर्जुआ संस्कार बताते और उसके लिए जन-जीवन में अश्रद्धा उत्पन्न करते हैं । उनका तर्क यह होता है कि यदि इतने समय का उपयोग पुरुषार्थ और परिश्रम में किया जाय तो उससे औद्योगिक विकास और राष्ट्रीय सम्पत्ति बढ़ती है और प्रकारान्तर से उसका लाभ सारे देश और समाज को ही मिलता है ।

एक पक्षीय चिन्तन की संकीर्णता न होती तो बात किसी हद तक तब भी ठीक हो सकती थी जब आत्मविकास की आध्यात्मवादी दिशा को उपेक्षणीय मान लिया जाता; किन्तु इस चिन्तन के घोर दुष्परिणाम अपने भौतिक जीवन को भी प्रभावित किए बिना मानते नहीं । रेल चौबीस घण्टे चलती रहे यह अच्छी बात है, पर यदि उसे कुछ स्टेशनों के बाद रोककर पानी न भरा जाय, ईंधन न डाला जाय तो क्या गाड़ी चलती रह सकेगी ? शिफ्टें बदलकर मजदूर लगाये जायें, पर मशीन का पहिया न रुके तो मशीन कितने दिन तक चल सकती है ? विश्राम के ही क्षण ले लें, यदि उस अवधि में क्रीड़ा, मनोविनोद, मन बहलाव की सुविधा न हो तो ऊब और मानसिक थकावट के कारण व्यक्ति का आयुष्य आधा रह जायेगा । सर्वेक्षणों से पता चला है कि विवाहितों की अपेक्षा विधुरों की मृत्यु का अनुपात अधिक है । यह इस बात का प्रतीक है कि जीवन की शुष्कता चाहे किसी भी क्षेत्र में मारक प्रतिफल उत्पन्न करती है जबकि अनेक क्षेत्रों में बौद्धिक अभिव्यक्ति से दीर्घायुष्य और स्वस्थ मनोबल का विकास होता है । अतएव साम्यवाद की उक्त कल्पना कुछ समय के लिए व्यावहारिक हो सकती है । पीछे तो वह एक ऐसी भार बन जाती है कि उस वातावरण का हर प्राणी अपने आपको दबा, पिसा और घुटा हुआ अनुभव करता है । साम्यवादी देशों से बुद्धिजीवियों के व्यापक पलायन की घटनाएँ इसी तथ्य का समर्थन करती हैं ।

उपासना का सुनिश्चित वैज्ञानिक आधार न होता तब तो उपरोक्त मान्यता में कुछ सार भी हो सकता था, किन्तु जब हम उसे अन्तरंग जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में पाते हैं तब उसे बुर्जुआ संस्कार कहकर उपेक्षा करना व्यक्ति, समाज और विश्व समुदाय किसी के लिए भी हितकारक नहीं ।

उपासना में 'उप' और 'आसना' यह दो शब्द हैं 'उप' उपसर्गपूर्वक 'आस उपवेशने' धातु से 'युत्र' प्रत्यय करने पर 'टाप् प्रत्यान्त' 'उपासना' शब्द बना 'उप' का अर्थ हुआ 'समीप', 'आसना' का अर्थ है स्थिति । उपास्य, आराध्य की स्थिति से जितनी ही अधिक समीप अपनी स्थिति विनिर्मित कर ली जाय उसके जितना अधिक अनुकूल-समतुल्य बना जाय उसकी क्षमताएँ, शक्तियाँ, सामर्थ्य उसी अनुपात में अपने अन्दर आतीं और अपने चेतन व भौतिक गुणों से लाभान्वित करती

चली जायेंगी । भले ही वस्तु काल्पनिक ही क्यों न हो ? भूत का कोई अस्तित्व नहीं किन्तु उसकी मान्यता और विश्वास के आधार पर अन्धकार में साकार भूत आ धमकता है और उस व्यक्ति को कितना भयभीत कर देता है यह हर कोई जानता है—कल्पना का यह भूत यदि किसी को विक्षिप्त, पागल और मार सकता है तो दिव्य गुणों से, दिव्य क्षमताओं से ओत-प्रोत आराध्य हमारे जीवन को दिव्य न बनाये ऐसा कैसे हो सकता है ?

आइये अब तथ्यों की खोज पर उत्तरते हैं । 'दि ह्यूमन सेन्सेज' के रचयिता वैज्ञानिक डॉ. गोल्डार्ड ने अपनी पुस्तक में बताया है कि नक्षत्रीय गतिविधियाँ, मनुष्य की मानसिक व शारीरिक गतिविधियों को प्रभावित करती हैं । इस सिद्धान्त के समर्थन में उन्होंने एक वैज्ञानिक प्रयोग का उदाहरण देकर यह समझाया है कि मनुष्य की कोशिकाओं में अनुकूल तत्वों को आकर्षित करने, अवशोषण कर अपने में धारण करने और इस आधार पर शरीर से टूटने वाली ऊर्जा की कमी को पूरा करने की अद्‌भुत सामर्थ्य है । इसकी जाँच तब हुई जब शरीर के जीवित अंश को काटकर अलग रखा गया उस स्थान पर पहले से एक विषाक्त रसायन रखा था मस्तिष्कीय प्रक्रिया से सम्बन्ध विच्छेद होने पर भी उस जीवित टुकड़े के अणु उस घातक वस्तु से दूर हटने की कोशिश करने लगे । वैज्ञानिक इस बात को देखकर आश्चर्यचकित रह गए तुरन्त उन्होंने उस विष को वहाँ से हटा दिया और अब उस स्थान पर लाभदायक औषधि रखी तो उन कीटाणुओं का गुण पूरी तरह बदल गया, वे उस औषधि की ओर खिंचने का गुण दिखाने लगे । डॉ. गोल्डार्ड ने अपनी समीक्षा में बताया है कि प्रत्येक जीवाणु एक लघु उपस्टेशन है जो मुख्य स्टेशन मस्तिष्क से जुड़ा रहता है मस्तिष्क में जो भी भाव-तरंग उठीं उसका तत्काल स्पष्ट प्रभाव इन जीवाणुओं में झलक पड़ता है । इसी आधार पर मनुष्य आकाश की अदृश्य शक्तियों से तो प्रभावित होता ही है मन की चुम्बकीय शक्ति के द्वारा वह दूरस्थ नक्षत्र पिण्डों से शक्ति प्रवाह भी अपने अन्दर आकर्षित कर धारण कर सकता और अपनी अन्तरंग क्षमताओं को विकसित कर सकता है । प्राचीन भारतीय मनीषियों ने इन्हीं शक्ति प्रवाहों को सूक्ष्म दैवी शक्तियों के रूप में माना था उनके गुणों की पृथकता के आधार पर उन्हें पृथक-पृथक देव शक्तियों की संज्ञा देकर उनकी उपासना की विधियाँ विकसित की थीं और उनके अभ्यास द्वारा अपनी क्षमताओं को विकसित कर प्रचुर भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष उपलब्ध किया था आज तो उन्हें मनगढ़न्त-सा माना जाने लगा है, पर अध्ययन यह निष्कर्ष देते हैं कि वह कल्पनाएँ नहीं यथार्थ हैं आज वैज्ञानिक उनकी पुष्टि करते हैं ।

क्वाण्टम थ्योरी ने परिपूरक सिद्धान्त के रूप में यह स्वीकार किया है कि पदार्थ अपनी ठोस अवस्था से तरल, तरल से गैस, गैस से प्लाज्मा तथा इसी तरह के और भी उन्नत किस्म के प्रकाश-कणों में परिवर्तित हो जाता है उसी तरह उच्चस्तरीय चेतन कण क्रमशः एक स्थिति में पदार्थ के रूप में भी व्यक्त हो सकते हैं । इसी तरह का प्रतिपादन वैज्ञानिक हाइजेन वर्ग ने भी किया है । वे लिखते हैं कि अन्तरिक्ष में एक स्थान आता है जहाँ पदार्थ को छोड़ दिया जाय तो वह स्वतः ऊर्जा में परिणत हो जाता है जिस तरह पदार्थ सत्ता परिधि काल और रूप के ढाँचे में बँधी रहती है, उसी तरह मनःसत्ता अनुभूति, स्मृति, विचार और बिम्ब के रूप में व्यक्त होती है । इतना होने पर भी दोनों में अत्यधिक घनिष्ठता है । यह एक-दूसरे को प्रभावित ही नहीं करते अपितु परस्पर आत्मसात भी होते रहते हैं । उपासना का, ध्यान का अर्थ इस प्रक्रिया को ही अत्यधिक प्रगाढ़ बनाकर उन शक्तियों से लाभान्वित होना है ।

प्रख्यात प्राकृतिक चिकित्साविद् डॉ. हेनरी लिन्डल हर ने अपनी पुस्तक 'प्रैक्टिस ऑफ नेचुरल थेरोप्युटिक्स' में मानवीय मनोभावों को सर्वव्यापी ब्रह्मसत्ता किसी देव सत्ता, अदृश्य देवदूत, सिंह पुरुष, महान सद्‌गुरु यहाँ तक कि लौकिक दृष्टि से किसी प्रेमी के मनोभावों से जोड़कर उनकी विचारणाओं, अनुभूतियों को आत्मसात कर न केवल उनकी भावनाएँ समझने की बात स्वीकार की है, अपितु यह भी माना है कि इष्ट की भौतिक परमाणु या शारीरिक अनुभूतियाँ भी उस स्थिति में विलक्षण रूप में आकर्षित होती हैं । गंगा के पानी को एक नहर काटकर अन्यत्र ले जाया जाय तो उस जल के सभी गुण वहाँ तक खिंचे चले जायेंगे जहाँ तक नहर जायेगी । इस तरह अपने शरीर, मन, भावनाओं का तेजी से विकास होता है । गुरुजनों के स्मरण, देवताओं की आराधना और इस

तथ्य के समर्थन में दो घटनाएँ प्रमाण और साक्ष्य रूप में प्रस्तुत हैं । 'साइकोलॉजी ऑफ रिलीजन' पुस्तक के लेखक श्री थूलेस ने सेन्ट कैथराइन का प्रामाणिक विवरण दिया है । जब वह समय आता था, जबकि यीशु मसीह क्रास पर कील से ठोंके गए थे, उस समय सेन्ट कैथराइन अपने शरीर के विभिन्न स्थलों में वैसी ही पीड़ा का अनुभव करती थीं, जैसी शरीर में कीलें ठोकने पर होती हैं । ऐसी अवस्था में एक डॉक्टर को उनकी देखभाल करनी होती थी । डॉक्टरी जाँच से पाया गया कि कैथराइन की पीड़ा की अनुभूति वास्तविक थी ।

यह उपास्य से उपासक के गहरे तादात्म्य का ही परिणाम है । न केवल चेतन परमाणु अपितु जड़, पिण्ड और वह भी काल और ब्रह्माण्ड की सीमा के परे इस तादात्म्य में जोड़े जा सकते हैं और इस तरह असम्भव लगने जैसी भूत और भविष्य की घटनाओं की भी जानकारी ली जा सकती है ।

एक अमेरिकी नागरिक टेड सेरियस में ऐसी ही अकल्पनीय क्षमता है कि वह कैमरे के लेन्स में दृष्टि कर देते हैं, फिर वे जिस वस्तु की कल्पना करते हैं 'क्लिक' करने पर कैमरे में वही फोटो आ जाता है । अमेरिका में बैठे-बैठे उन्होंने लाल किले के, बुलन्द दरवाजे के हू-बहू वैसे ही चित्र खींचे हैं जैसे कि वे हैं । यही नहीं उन्होंने नेपोलियन बोनापार्ट के समय के चित्र भी खींचकर दिखाये जिन्हें पुरातत्ववेत्ताओं ने सही बताया । डेनवर के मनोवैज्ञानिक डॉ. जूले आइसेनवेड की एक कमेटी ने तथ्यों के अनेक परीक्षण किए और उपलब्ध प्रमाण 'दि वर्ल्ड ऑफ टेडसेरियस' के नाम से १९६७ में प्रकाशित कराया । परीक्षण में उन समस्त आशंकाओं को निरस्त कर दिया गया है । जिन्हें धोखा या चालबाजी कहा जा सकता है । अलग-अलग कैमरे, प्लेटें तथा उसके चारों ओर लोह आवरण खड़े करके भी चित्र खिंचवाये गए जो नितान्त वास्तविक मिले । इन चित्रों को विश्व विख्यात 'लाइफ' पत्रिका ने प्रकाशित किया तथा अमेरिका के अतिरिक्त अनेक देशों के टेलीविजन कार्यक्रमों में भी दिखाया गया है । स्टानफोर्ड के वैज्ञानिकों ने तो ऐसे व्यवधान तक खड़े किए कि रेडियो तरंग प्रवेश न कर सकें तब भी टेड सेरियस ने मानसिक कल्पना के चित्र उतार दिए । उनकी शैली ध्यान की है । किसी वस्तु का वे तन्मयता तथा प्रगाढ़ एकाग्रता से ध्यान करते हैं उस स्थिति में कैमरे को उनकी आखों में फोकस कर चित्र लिया जाता है तो फोटो उनके चेहरे या आँखों का न आकर उसी वस्तु का आता है, वे जिसका ध्यान करते हैं वैज्ञानिक यह तो मान गए हैं कि टेड की ईमानदारी असंदिग्ध है, किन्तु टेलीविजन टावर की तरह की भयंकर विद्युत चुम्बकीय शक्ति का उनके मानसिक संस्थान में किस तरह आविर्भाव होता है इस सम्बन्ध में वे कोई गुत्थी नहीं सुलझा सके ।

वैज्ञानिकों ने भी मन की शक्ति को नाप-तौल करने का प्रयत्न किया है । उनके मतानुसार मन भौतिक शरीर की चेतन शक्ति है—आइन्स्टीन के शक्ति सिद्धान्त के अनुसार न कुछ भार वाले एक परमाणु में ही प्रकाश की गति × प्रकाश की गति अर्थात् १८६०००×१८६००० कैलोरी शक्ति उत्पन्न होगी । १४ लाख टन कोयला जलाने से जितनी शक्ति मिलती है उतनी ही शक्ति मात्रा १ पौण्ड पदार्थ की शक्ति की होती है । यदि इस शक्ति को पूरी तरह शक्ति में बदलना सम्भव होता तो एक पौण्ड कोयले में जितना द्रव्य होता है यदि उसे शक्ति में परिवर्तित कर दिया तो सम्पूर्ण अमेरिका के लिए १ माह तक के लिए बिजली तैयार हो जायेगी ।

डॉ. वैनेटर्न मन को एक महान विद्युत-शक्ति कहते हैं—ए ग्रेट इलेक्ट्रिकल फोर्स । वेदों में मन को ही 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहा गया है । मन शरीर के द्रव्य की विद्युत शक्ति है । मन की एकाग्रता जितनी बढ़ेगी, शक्ति उतनी ही तीव्र होगी । यद सम्पूर्ण शरीर को इस शक्ति में बदलना सम्भव हो सके तो १२० पौण्ड भार वाले शरीर की विद्युत शक्ति अर्थात् मन की सामर्थ्य इतनी अधिक होगी कि वह पूरे अमेरिका को लगातार १० वर्ष तक विद्युत देता रह सके । इस प्रचण्ड क्षमता से ही भारतीय योगी, ऋषि, महर्षि, शून्य आकाश में स्फोट किया करते थे और वे किसी को कुछ उपदेश दिए बिना मात्र संकल्प बल से विश्व की मानवीय समस्याओं का समाधान, निर्देशन करते थे । प्रो. ऐलीशाग्र ने भी अपनी पुस्तक 'मिरैक्ल्सि ऑफ नेचर' में मन की उक्त प्रचण्ड सामर्थ्य का समर्थन किया है और उसे ज्ञात शक्तियों में सबसे अधिक प्रचण्ड बताया है । डॉ. लुइस क्राउन के अनुसार ताप विद्युत आदि भौतिक शक्तियाँ तो केवल भौतिक

पदार्थों को एक सीमा में ही प्रभावित करती हैं किन्तु विचार विद्युत व्यापक रूप से सारे वातावरण को प्रभावित कर सकते हैं । आप्टन सिन्क्लेयर नामक लेखक ने अपनी पुस्तक 'मेन्टल रेडियो' में लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क एक सशक्त मानसिक वायरलैस सेट है । मनुष्य बिना किसी भौतिक माध्यम के दूसरों तक अपने विचार आसानी से पहुँचा सकता है । साथ ही स्वयं का मन, मस्तिष्क, उत्कृष्ट विचार-प्रवाहों तथा दिव्य सन्देशों के लिए खुला रखकर अपना आत्म-विकास कर सकता है ।

ध्यान की अवस्था पर किए गए कुछ वैज्ञानिक अनुसन्धान भी इन तथ्यों का आश्चर्यजनक प्रतिपादन करते हैं । ध्यान की अवस्था में कम ऑक्सीजन में भी शरीर का काम चलता रहता है । हृदय व नाड़ियों की गति मन्द पड़ने से रक्त-विकार कम होते हैं, शयनकाल के बाद शरीर में जो ताजगी आती है वह ध्यानावस्था में ही उपलब्ध होती है । प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में 'उत्सर्जन' की क्रिया अनिवार्य है । सूर्य चन्द्रमा नहीं, हमारे शरीर में भी विकिरण क्रिया चलती और उससे शक्तिक्षरण होता रहता है । यह आश्चर्य की बात है कि ध्यान की अवस्था में विकीर्ण होने वाली तरंगें अपना गुण बदल देती हैं और वे शरीर के विष शोधन, नई संरचना में जुट जाती हैं । ध्यान से मिलने वाली ताजगी, आयुष्य आदि में इस सिद्धान्त के साथ अवधारणा क्रिया के द्वारा देव शक्तियों से प्राप्त शक्ति भी सहायक होती है ।

शरीर और मन के बीच एक पारस्परिक सम्बन्ध है—यह तथ्य अध्यात्मविज्ञान के लिए कोई नई बात नहीं है, किन्तु भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इस सत्य की स्वीकारोक्ति अभी पिछले दिनों ही की जा सकी है । अनुसंधान के दौरान शरीरवेत्ताओं को अनेक ऐसे तथ्य उपलब्ध हुए हैं, जिसने इस बात को बल प्रदान किया है कि देह तंत्र को नियमित-नियन्त्रित करने वाली सत्ता मन है । उसे यदि साध लिया गया, तो समय-समय पर उपस्थित होने वाली आन्तरिक प्रणाली की विभिन्न गड़बड़ियों और व्याधियों से बचा जा सकता है ।

जानने योग्य तथ्य है कि शरीर-संस्थान को स्वस्थ और निरोग रखने वाला तन्त्र प्रतिरक्षा प्रणाली है । यह पूरी तरह मन के अधीन है । मन यदि स्वस्थ रहा, तो न सिर्फ रोग निरोधी क्षमता सबल बनी रहती है, वरन् समस्त अंग-अवयव संतुलित बने रहते हैं । मन यदि गड़बड़ाया, तो काया भी लड़खड़ाने लगती है—इस आध्यात्मिक मान्यता को पिछले दिनों विज्ञान ने न सिर्फ स्वीकार किया है, अपितु शोधन निष्कर्षों से इस बात को भी पुष्ट किया है कि मानसिक कल्पना चित्रों और संकेतों की सहायता से उसकी सामान्य क्षमता को असाधारण स्तर का अद्भुत बनाया जा सकना सम्भव है । पर यह शरीर मन सम्बन्धी प्रक्रिया किस प्रकार कार्य करती है, इस बारे में अभी ज्यादा कुछ नहीं जाना जा सका है । सम्भव है यह क्रिया पद्धति उस ड्राइवर की तरह हो, जो यह जानता है कि गाड़ी में कोई इंजन है, पर उसकी क्रिया-प्रणाली क्या है ? इससे पूर्णतः अनभिज्ञ है । यह सत्य है कि गाड़ी चलाने के लिए इंजन की क्रिया-विधि समझना जरूरी नहीं है । उसे जाने बिना भी वह भली-भाँति उसे चला सकता है, पर गलत यह भी नहीं है कि इंजन के खराब होने पर जानकारी के अभाव में वह बिल्कुल ही आगे नहीं बढ़ सकेगा । इस प्रकार मन द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाने सम्बन्धी शरीर, मन, प्रक्रिया की वर्तमान में हमारी जानकारी इतनी ही है, किन्तु हाल में इस सम्बन्ध में अगणित प्रयोग हुए हैं । उनसे यह साबित हो गया कि उचित अभ्यास और प्रशिक्षण के माध्यम से मन द्वारा शरीर स्वस्थता को प्रभावित किया जा सकता है । एक प्रयोग के दौरान सन् १९८२ में बारबरा पीवी नामक अनुसंधानकर्त्ता ने ई. एम. जी. बायो फिडबैक के माध्यम से कुछ लोगों को पूर्ण शिथिलीकरण का अभ्यास कराया, तो देखा कि अभ्यास के दौरान रक्त के न्यूट्रोफिल नामक कणिकाओं की संख्या तो यथावत् बनी रही, पर उनकी सक्रियता असाधारण रूप से बढ़ गई । ज्ञातव्य है कि न्यूट्रोफिल्स, श्वेत रक्त कणिकाओं सम्बन्धी प्रतिरक्षा तंत्र के दो तिहाई भाग का निर्माण करती हैं ।

इस प्रयोग को १९८४ में स्मिथ एवं विचर ने और आगे बढ़ाया । उन्होंने मन और प्रतिरक्षा प्रणाली के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ध्यान को उसमें सम्मिलित किया और यह जानना चाहा कि वह किस सीमा तक उसे प्रभावित करने में सफल होता है । इसके लिए निर्धारित लोगों को तत्सम्बन्धी आवश्यक जानकारी दी गई । यह बताया गया कि श्वेत रक्त कणिकाएँ

प्रतिरक्षा सम्बन्धी अपना प्रयोजन कैसे पूरा करती हैं साथ ही सूक्ष्मदर्शी यंत्र के सहारे उनका वास्तविक आकार-प्रकार भी दिखाया गया । इसके उपरान्त उन्हें किस प्रकार ध्यान साधना करनी है और कैसे न्यूट्रोफिल्स के भाव-चित्र बनाने हैं—इस सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक समझाया गया । नियमित अभ्यास के एक माह पश्चात देखा गया कि वे इच्छानुसार बड़े परिमाण में न्यूट्रोफिल्स को घटा या बढ़ा सकते थे । दूसरे शब्दों में प्रतिरक्षा तन्त्र को सबल-निर्बल करने में सक्षम पाये गए ।

इन आरम्भिक प्रयोगों के आधार पर स्मिथ एवं विचर ने निष्कर्ष निकाला कि यदि प्रशिक्षण उपयुक्त हुआ और ध्यान सशक्त, तो शरीर को समर्थ, स्वास्थ्य को सबल बना लेना असम्भव नहीं है ।

बोवर्स और केली के प्रयोगों से ही पहली बार यह जाना जा सका कि मनःकायिक रोगों की अवस्था में इम्यून प्रणाली किस प्रकार अव्यवस्थित हो जाती है । उन्होंने अनेक परीक्षणों के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि मानसिक रुग्णता के दौरान प्रतिरोधी तंत्र में दो प्रकार की खराबी आती है—प्रथम में उसकी क्रियाशीलता मन्द पड़ जाती है और दूसरी अवस्था में वह सर्वथा निभ्रान्त नहीं रह पाता और भ्रमग्रस्त बन जाता है । पहले का उदाहरण कैंसर है और दूसरी स्थिति संधिवात के दौरान देखी जाती है ।

यहाँ इन दो व्याधियों पर तनिक विचार करना पड़ेगा और देखना पड़ेगा कि किस प्रकार मानसिक रुग्णता का प्रभाव इन दो स्थितियों को जन्म देता है । जैसा कि सर्वविदित है शरीर एक सामान्य प्रक्रिया की तरह पूरे जीवन भर असामान्य कोशिकाएँ पैदा करता रहता है, किन्तु सामान्य स्थिति में वह न तो ट्यूमर बन पाती हैं, न किसी प्रकार हानिकारक सिद्ध होती हैं । इस बात की पुष्टि उस तथ्य से हो जाती है जब शिशुओं में न्यूरोबलास्टोमा (एक प्रकार की कैंसर कोशिका) सम्बन्धित सामान्य कैंसर व्याधि की स्थिति से भी अधिक संख्या में पायी जाती हैं, इतने पर भी शिशु स्वास्थ्य की दृष्टि से एकदम सामान्य देखे गए हैं । कैंसर रोग के किसी प्रकार के लक्षण उनमें नहीं दिखाई पड़ते । इसी प्रकार ५० से भी अधिक पुरुषों की मरणोपरान्त रिपोर्ट यह बताती थी कि उनमें प्रोस्टैटिक कैंसर कोशाएँ विद्यमान हैं, फिर भी उन्हें कैंसर रोग बिल्कुल ही नहीं था । इसका तात्पर्य यह हुआ कि शरीर के अन्दर प्रतिरक्षा सम्बन्धी कोई ऐसी चुस्त-दुरुस्त निगरानी व्यवस्था है, जो कैंसर कोशाओं पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि निरन्तर बनाये रहती हैं और जो भी कोशाएँ कैंसर ट्यूमर के रूप में विकसित होती जान पड़ती हैं, उसे तत्काल विनष्ट करती रहती हैं । इस प्रकार बड़े पैमाने पर कैंसर कोशाओं की उपस्थिति से भी व्यक्ति स्वस्थ बना रहता है, किन्तु इस व्यवस्था के तनिक भी लड़खड़ाते ही शरीर के भीतर विद्यमान यह कैंसर जन्य कोशाएँ सिर उठातीं और शरीर-स्वस्थता को चुनौती प्रस्तुत करने लगती हैं । इस स्थिति में भी व्यवस्था सँभाली नहीं, तो कोशाएँ ट्यूमर के रूप में विकसित होकर स्वास्थ्य संकट पैदा करना आरम्भ कर देती हैं । एमकोट, सोलोमन, स्टीन एवं केलर जैसे अनुसंधानकर्त्ताओं का कहना है कि इस दशा में प्रस्तुत होने में रुग्ण मानसिक अवस्था मुख्य रूप से जिम्मेदार है । चिन्ता, अशान्ति, भय, घबराहट, असन्तोष, अवसाद के छाते ही प्रतिरक्षा व्यवस्था ढीली पड़ जाती है और कैंसर सेल्स हावी होने लगती हैं । इनके अतिरिक्त भी कई कारण ऐसे हैं, जो सुरक्षा व्यवस्था को प्रभावित करते देखे जाते हैं । शोध के दौरान इस बात का पता चला है कि तनाव से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट प्रकार के रस-रसायन (एड्रीनोकोर्टिको एस्टेरायड्स) ही प्रतिरक्षा-व्यवस्था को प्रमादग्रस्त बनाने के लिए उत्तरदायी है ।

आधुनिक शोध की पृष्ठभूमि में प्रतिरक्षा तंत्र के उस पक्ष की चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा, जो वर्तमान जीवन शैली के कारण कमजोर पड़ता और कैंसर का निमित्त बनता है । अनुसंधानकर्त्ताओं का विश्वास है कि इस कमजोरी को सुधारने मात्र से व्याधि से बचना सरल हो जाता है । आधुनिक शोध विज्ञानी अब कैंसर का कारण और निवारण जीन स्तर पर ढूँढ़ने की कोशिश कर रहे हैं । उनका कहना है कि कोशा-वृद्धि नियन्त्रण की सामान्य प्रक्रिया जीन्स और संदेशवाही अणुओं के अधीन होती है । चूँकि हर कोशिका के अपने जीन्स होते हैं, अतः उनकी वृद्धि भी स्वयं उनके अधीन होती है । यह नियन्त्रण संदेशवाही अणुओं के माध्यम से होता है । यह अणु मस्तिष्क से तत्सम्बन्धी सूचना उपलब्ध कराते रहते हैं । तनाव की दशा में संदेश-संवहन का सामान्य क्रम लड़खड़ाता है,

जिससे जीन्स वृद्धि-नियमन सम्बन्धी अपनी साधारण क्रिया को दक्षतापूर्वक सम्पन्न नहीं कर पाते, फलतः कैंसरजन्य बन जाते हैं ।

यह मन का निषेधात्मक पक्ष हुआ । मानवी मन की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसके निषेधात्मक बनने से शरीर यदि रोगग्रस्त बनता है, तो इसे उसकी अद्‌भुत सामर्थ्य कहनी चाहिए कि विधेयात्मक चिन्तन द्वारा उसे रोगमुक्त भी कर सकता है । अधुनातन शोधकर्त्ताओं ने उसकी इसी क्षमता को पहचाना और व्याधि निवारण के क्षेत्र में उसका उपयोग करने को सोचा ।

सन् १९८३ में एच. हाल ने इसी आशय का एक प्रयोग किया, जिसका उल्लेख 'दि अमेरिकन जनरल ऑफ क्लीनिकल हिप्नोसिस' में विस्तारपूर्वक किया गया था । उन्होंने कुछ चुने हुए लोगों को रोग मुक्ति सम्बन्धी ध्यान करवाया । दो माह के इस प्रशिक्षण में ध्यान धारणा द्वारा मन को प्रशिक्षित करने का अभ्यास कराया गया और इसके माध्यम से शरीर की प्रतिरोधी क्षमता को प्रेरित कर मजबूत बनाने की कोशिश की गई । प्रशिक्षण सत्र के उपरान्त परीक्षण के दौरान उन्होंने पाया कि अभ्यासियों ने कैंसर से लड़ने वाली कुछ विशिष्ट प्रकार की कोशाओं (टी. एवं बी लिम्फोसाइट) की क्रियाशीलता को असाधारण रूप से बढ़ा लिया था ।

एम. एरिक्सन एवं ई. रोसी ने भी मिलता-जुलता प्रयोग किया, किन्तु उन्होंने ध्यान की जगह स्वसंकेत का प्रयोग किया । परिणाम पूर्ववत् पाया गया । देखा गया कि कैंसर के विरुद्ध मोर्चा लेने वाली जिन कोशाओं की गतिविधियाँ मन्द थीं, वह अभ्यास के पश्चात असामान्य रूप से बढ़ गईं । इस प्रयोग का उल्लेख उन्होंने अपनी पुस्तक 'सजेशन थैरेपी एक्सप्लोरेटरी केसबुक' में विशद रूप से किया है ।

संधिवात जैसी व्याधि में शरीर की रक्षा करने वाली कोशाएँ भ्रमग्रस्तता जैसी स्थिति में आकर शरीर की रक्षक कोशाओं को ही विजातीय अणु और जीवाणु मानकर आक्रमण कर देती हैं । फलतः प्रतिरक्षा तंत्र बुरी तरह गड़बड़ा जाता है । अपनी और परायी सम्बन्धी यह विभेद-क्षमता बढ़ती उम्र की चिन्ताओं के साथ घटती जाती है, परिणामस्वरूप संधिवात की दुःखद स्थिति सामने आती है । संधिवात जैसी यह अवस्था क्यों आती है ? इस बारे में शरीरवेत्ताओं का मानना है कि जोड़ों के सिनोबियल झिल्ली की कोशाओं में असामान्य वृद्धि हो जाने से ऐसा होता है । वे कहते हैं कि एक विशेष प्रकार के वायरस के आक्रमण से सिनोवियल ऊतक का आकार-प्रकार एकदम बदल जाता है । बस, इन्हीं बदली हुई कोशाओं को प्रतिरक्षा तंत्र विजातीय द्रव्य मान बैठता है और उन पर आक्रमण शुरू कर देता है । इस आकस्मिक हमले से सिनोवियल द्रव्य प्रचुर संख्या में पैदा होने लगता है । इस प्रचुरता से झिल्ली मोटी हो जाती है और जोड़ों के दर्द का कारण बनती है ।

प्रयोगों के दौरान ध्यान और स्वसंकेतों से प्रतिरक्षा प्रणाली की इस भूल को भी ठीक होते देखा गया है और यह भी पाया गया है कि निषेधात्मक चिन्तन से दर्द का निमित्त बनने वाली प्रक्रिया में बढ़ोत्तरी होती है, अतः विज्ञानवेत्ताओं ने सोचा कि चिन्तन की दिशाधारा यदि बदल दी जाय, तो निश्चित रूप से परिणाम में भी अन्तर आना चाहिए । ध्यान और स्वसंकेत की विधेयात्मक चिन्तन की प्रक्रिया में उन्होंने यही पाया और देखा कि उससे प्रतिरक्षा प्रणाली की भ्रमग्रस्तता दूर होती है ।

मन शरीर की कुंजी है । स्वस्थता को अक्षुण्ण रखना है, तो यह जरूरी है कि मन भी स्वस्थ रहे । मन यदि विक्षुब्ध रहा तो काया के सारे अवयव और समस्त तंत्र गड़बड़ा जाते हैं इसे अब एक तथ्य के रूप में विज्ञान जगत में भी स्वीकार कर लिया गया है ।

ध्यानयोग की प्रामाणिकता अब प्रयोगशाला में भी प्रमाणित

आत्म-शान्ति और 'ईश्वर' प्राप्ति के लिए की जाने वाली समस्त साधनाओं में ध्यान का प्रमुख स्थान है । प्रायः सभी धर्मों ने अपनी उपासना पद्धतियों में ध्यान को किसी न किसी रूप में अपनाया है । भारतीय धर्म में 'ध्यान' ईसाई धर्म में 'होर्सचाज्म' यहूदी धर्म में 'कब्बा लह' इस्लाम मत में 'तसव्वुफ' जापान के जैन धर्म में, जो भारतीय धर्म की ही एक प्रशाखा है 'जानेन' आदि उपासना विधानों का एक ही अर्थ है । ध्यान की परिभाषा करते हुए गीताकार ने कहा है—'योगी

को चाहिए कि वह एकान्त स्थान में बैठकर, सब इच्छाओं, आकांक्षाओं को त्यागकर किसी भी परिग्रह की कामना न करते हुए अपने मन को परमात्मा में एकाग्र करे ।'

इस तरह किए जाने वाले योगाभ्यास के परिणाम बताते हुए कहा गया है—'जिसने अपने मन को इस प्रकार वश में कर लेने वाला आत्म तत्व को प्राप्त कर परम शान्ति और जीवन में समस्वरता को प्राप्त करता है । सर्वविदित है कि यांत्रिक सभ्यता के आधुनिक युग में मनुष्य का जीवन इतना तनावपूर्ण हो गया है कि दिन में मनोयोग से कार्य करना और रात्रि में पूर्ण विश्रान्ति में जाना दूभर हो गया है । जिन देशों में यान्त्रिक सभ्यता अपने शिखर पर है वहाँ के निवासियों का सामान्य जीवन असामान्य रूप से अशान्त और तनाव पूर्ण है । पश्चिम के एक मनःचिकित्सक डॉ. वेनसन ने आधुनिक समाज में मनुष्य मन पर पड़ने वाले दबावों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—'आश्चर्य यह नहीं है कि लोग इतनी अधिक संख्या में मनःरोगों से ग्रस्त क्यों हैं ? बल्कि आश्चर्य तो इस बात का है कि सामान्य आदमी अपने आस-पास के दबावों और तनावों को झेल किस प्रकार रहा है ? इन दबावों के रहते तो मानसिक विक्षिप्तता स्वाभाविक ही है ।'

आगे चलकर डॉ. वेनसन का कहना है कि मनुष्य अपना सन्तुलन बनाये रखने के लिए प्रकृति से आवश्यक ऊर्जा प्राप्त करता रहता है । अन्यथा उसका टूट जाना नितान्त सहज है । फिर भी यह सन्तुलन कब तक बना रहेगा, मनुष्य अपनी उदार माता से कब तक अतिरिक्त ऊर्जा प्राप्त करता रहेगा-कहना कठिन है ?

डॉ. वेनसन अपने सहयोगियों के साथ सामान्य जीवन पर ध्यान के प्रभावों का अध्ययन कर रहे हैं । इस विषय पर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी है 'रिलैक्सरान रिस्पोंस' (विश्राम के परिणाम) डॉ. हर्वर्ट वेनसन एक मनःचिकित्सक होने के साथ हृदय रोगों पर शोध कार्य भी कर रहे हैं । वे हार्वर्ड फेकल्टी में हृदय रोग विशेषज्ञ हैं । हृदय तन्त्र की कार्यविधि और संवेगों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हुए वे ध्यान की ओर आकर्षित हुए । शरीर पर ध्यान के पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करते हुए उन्होंने जो निष्कर्ष प्राप्त किए उन्हीं का विवेचन उपर्युक्त पुस्तक में किया गया है ।

इस पुस्तक के अनुसार नियमित रूप से बीस मिनट ध्यान करने के परिणाम व्यक्ति को पूरे दिन तरोताजा हल्का-फुल्का और शान्त चित्त बनाये रखने के लिए पर्याप्त है । यह परिणाम तो गाढ़ी नींद में भी प्राप्त किए जा सकते हैं ? परन्तु ध्यान के प्रभाव निद्रा से मिलते-जुलते होने के उपरान्त भी इतने भिन्न हैं कि उसकी तुलना नींद से नहीं की जा सकती । डॉ. वेनसन और डॉ. वैलेस ने १८६२ व्यक्तियों का परीक्षण कर, जो नियमित रूप से ध्यान करने का अभ्यास करते थे यह प्रतिपादित किया कि—'ध्यान लगाने के कुछ मिनट बाद ही सारे शरीर की जैविक प्रक्रिया मन्द पड़ जाती हैं और वह भी इस सीमा तक जो कई घण्टों की गहरी नींद के बाद प्राप्त होती है । ध्यान में तीन मिनट के भीतर ही ऑक्सीजन की खपत दर में १६ प्रतिशत की कमी आ जाती है, जबकि पाँच घण्टे की नींद में केवल ८ प्रतिशत ही कमी आती है ।'

डॉ. वेनसन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि ध्यान के कारण व्यक्ति की त्वचा में अवरोध क्षमता की अभिवृद्धि भी होती है । यद्यपि यह अभिवृद्धि सोते समय भी बढ़ती है किन्तु ध्यान में यह जिस गति और मात्रा में बढ़ती है उतनी गाढ़ी नींद में कभी नहीं बढ़ती । अवरोध क्षमता का अर्थ है शरीर को बाहरी विद्युत प्रभावों से मुक्त रखने की सामर्थ्य । जिन व्यक्तियों में यह सामर्थ्य जितनी कम होती है वे उतनी ही जल्दी उन्माद और इसी प्रकार के अन्य मानसिक रोगों से आक्रान्त होते हैं । व्यक्ति जब जितना अधिक चिन्तित, व्यथित और व्यग्र होता है तब उतना ही ज्यादा पसीना आता है । इसके साथ ही शरीर से कुछ ऐसे तत्व भी निकलने लगते हैं जो अवरोध क्षमता बनाये रखने में सहायक होते हैं । ऐसी स्थिति में त्वचा द्वारा शरीर के भीतर विद्युत तरंगें प्रविष्ट हो जाती हैं । फलतः मनुष्य कई मनोरोगों का शिकार हो जाता है ।

ध्यान के द्वारा शरीर को जो ताजगी और विश्रांति मिलती है, उससे वह बाहरी चिन्ताओं, भयों तथा परेशानियों को सहने योग्य पर्याप्त सामर्थ्य जुटा लेता है । फलतः वह इन प्रभावों से मुक्त रहता है और विद्युत तरंगें त्वचा के माध्यम से शरीर के अन्दर नहीं घुस पातीं ।

लन्दन के माडस्लो अस्पताल तथा इंस्टीट्यूट ऑफ साइकिएट्री' से सम्बन्धित डॉ. पीटर फेन्विक ने अपनी पुस्तक 'मेडिटेशन एण्ड साइन्स' में लिखा है—"मैंने और मेरे सहयोगियों ने सन् १९६८ में लन्दन के अस्पताल में कुछ व्यक्तियों के मस्तिष्क की विद्युत क्रिया की जाँच की । ये लोग एक वर्ष से भी ज्यादा समय से ध्यान कर रहे थे । मस्तिष्क तरंगों की रिकार्डिंग में ध्यान के समय स्पष्ट परिवर्तन नोट किए गए । वे 'पैटर्न' केवल उसी समय रिकार्ड होते जबकि वह व्यक्ति ध्यान में बैठा हो ।

"सहज विश्राम की स्थिति में जब परीक्षणाधीन व्यक्ति नेत्र मूदें शान्त बैठा हो तो उसके मस्तिष्क के पिछले भाग में एक स्पष्ट लय पायी जाती है जिसे 'अल्फा लय' कहते हैं । यह लय सूचित करती है कि व्यक्ति जागा हुआ और सतर्क है । उनींदापन शुरू होते ही 'अल्फा लय' गायब होने लगती है और 'थेटा लय' प्रकट होने लगती है । पूर्ण प्रगाढ़ निन्द्रा में ही यह लय प्रकट होती है । ध्यानावस्था में दिलचस्प और असामान्य बात यह है कि उसमें ये दोनों पैटर्न साथ-साथ पाये गए । अर्थात् व्यक्ति चेतना के स्तर पर सजग और सतर्क है तथा शरीर के स्तर पर पूर्ण विश्रांति की अवस्था में है ।"

डॉ. फेन्विक के प्रयोग और अनुसन्धानों से ध्यान तथा निन्द्रा में अन्तर स्पष्ट होता है । ध्यान एकदम अलग स्थिति है जबकि निद्रा एकदम विपरीत । निद्रा में व्यक्ति का शरीर और चेतना दोनों ही सुप्त हो जाते है जबकि ध्यान में चेतना तो वही रहती है परन्तु शरीर, अपने तल पर पूर्ण विश्राम कर रहा होता है । कुछ लोग जो कहते हैं कि आध्यात्मिक प्रतीकों पर ध्यान केन्द्रित करने से व्यक्ति आत्म सम्मोहित-सा हो जाता है जिसे बाहरी घटनाओं का कोई बोध नहीं रहता । डॉ. फेन्विक के उपर्युक्त निष्कर्ष, इस मान्यता को थोथी सिद्ध करते हैं । नींद का प्रभाव सोये रहने तक ही दिखाई पड़ता है । जागते ही वह क्षीण होने लगता है परन्तु ध्यान का प्रभाव ध्यान के बाद भी एक निश्चित अवधि तक यथावत बना रहता है ।

टेक्सास विश्वविद्यालय (अमेरिका) के डॉ. डेविड ओर्म जॉन्सन ने साइको गैल्वेनिक जाँच करके यह दिखाया कि ध्यान करने वालों में त्वचा की विद्युत रोधकता दूसरों की अपेक्षा ज्यादा विद्यमान रहती है । यही नहीं उनकी तरंगों की आकृतियाँ भी दूसरे लोगों की अपेक्षा बहुत सरल रहती हैं । निष्कर्षतः ध्यान से स्वायत्त स्नायु तन्त्र में स्थिरता आती है ।

केलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के डॉ. रॉबर्ट कीथ बैलेस ने ध्यान साधना के शरीर पर होने वाले प्रभावों का अध्ययन करते हुए निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले—"जब कोई व्यक्ति ध्यान करता है तो उसकी हृदयगति, रक्तचाप, नाड़ी की चाल और श्वसन गति में एक स्वस्थ सन्तुलन बनता है । जैसे हृदयगति सामान्य हो जाती है, रक्त चाप भी सन्तुलन बिन्दु पर आ जाता है । श्वास धीमी और गहरी चलने लगती है ।" उन्होंने ध्यान के कारण शरीर में होने वाले रासायनिक परिवर्तनों की भी जाँच की और एक पूरा शोध निबन्ध तैयार किया । यह निबन्ध 'साइण्टिफिक अमेरिकन' जैसी विख्यात विज्ञान पत्रिका में प्रकाशित हुआ । इस पत्रिका में प्रकाशित कोई भी निबन्ध की प्रामाणिकता असंदिग्ध कही जाती है क्योंकि पत्रिका के पास अपनी प्रयोगशाला है और पत्रिका में कोई भी सामग्री तभी प्रकाशित हो पाती है जबकि सम्पादकीय विभाग तत्सम्बन्धी प्रयोगों को अपनी प्रयोगशाला में दुहराकर पुष्ट कर लेता है ।

'इन्स्टीट्यूट ऑफ लिविंग, हार्ट फोर्ड' के डाइरेक्टर डॉ. बर्नार्ड सी. ग्लूएक ने भी ध्यान के प्रभावों का वैज्ञानिक परीक्षण किया । उन्होंने शरीर और मन में उत्पन्न होने वाले सभी तरह के तनावों को शान्त करने वाले सारे उपायों का परीक्षण कर देखा और दूसरे रोगियों के ध्यान का अभ्यास कराया । इन दोनों प्रकार के प्रयोगों में उन्होंने तनाव मुक्ति और निरापद शान्ति के लिए ध्यान को ही सबसे अधिक कारगर तरीका पाया ।

अमेरिका की एक दूसरी विज्ञान पत्रिका 'साइन्स' के १८ जून, १९७६ के अंक में तीन वैज्ञानिकों का तैयार किया हुआ एक ध्यान सम्बन्धी लेख प्रकाशित हुआ है । ये तीनों वैज्ञानिक डॉ. माइकेल्स, डॉ. ह्यूवर और डॉ. मैक्नान मिशिगन यूनीवर्सिटी से सम्बन्धित हैं । इन्होंने डेट्रियर की 'स्टूडेण्ट्स इण्टरनेशनल मेडिटेशन सोसायटी' के छह पुरुष और छह स्त्री सदस्यों की जाँच की, जो नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास करते थे । इस जाँच की कसौटी यह थी कि तनावग्रस्त व्यक्ति के

रक्त में कैटई कोलेमीन नामक यौगिक की मात्रा बढ़ जाती है । प्रयोग के लिए चुने गए व्यक्तियों के रक्त की ध्यान से पहले जाँच की गई । इसके बाद प्रत्येक व्यक्ति को अलग-अलग एकान्त कक्ष में रखा गया । वहीं उनके लिए अलग-अलग जाँच उपकरण लगाये गए । इसके बाद सभी व्यक्तियों से ध्यान करने के लिए कहा गया । ध्यान का समय ३० मिनट रखा गया था । इसके साथ बारह सामान्य व्यक्ति भी चुने गए जिन्हें उतनी ही देर आँखें मूँदकर बैठने को कहा गया । उनके रक्त की जाँच भी की गई । तीनों वैज्ञानिक चौबीसों व्यक्तियों के रक्त की जाँच करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि खून में तनाव व्यक्त करने वाले 'केटई कोलोमिन' नामक यौगिक की मात्रा ध्यान के बाद कम हो गई है ।

वैज्ञानिक उपकरणों और प्रयोगों द्वारा ध्यान के प्रभावों का अभी इतना ही अध्ययन किया जा सका है, जबकि स्वयं इन्हीं वैज्ञानिकों का कहना है कि ध्यान के प्रभावों को विज्ञान के माध्यम से भली-भाँति नहीं समझा जा सकता । इन प्रयोगों में प्रयुक्त पात्रों ने सुखासन पर बैठकर की जाने वाली उसी ध्यान साधना का अभ्यास किया था जिसमें उन विशिष्ट शब्दों पर, जिन पर उनकी आस्था थी ध्यान को केन्द्रित किया जाता है । इन शब्दों को भारतीय दर्शन की भाषा में मंत्र भी कहा जा सकता है । अपने चित्त को पूर्णतया एकाग्र कर, चिन्तन को एक दिशा में मोड़कर की जाने वाली ध्यान साधना के चमत्कारी परिणाम सामने आ रहे हैं ।

डॉ. वेनसन और डॉ. बैलेस ने ध्यान आरम्भ करने के बाद व्यक्तिगत जीवन में आये परिवर्तनों को जाँचने के लिए एक प्रश्नावली तैयार की । लगभग दो हजार व्यक्तियों से उन प्रश्नों के उत्तर पूछे और पाया कि ध्यान साधना आरम्भ करने के बाद कई व्यक्ति मादक द्रव्यों, मद्यपान और धूम्रपान के दुर्व्यसनों से छुटकारा पाने में सफल हुए हैं । यह सफलता अन्य सभी प्रचलित उपायों से मिलने वाली सफलता की तुलना में अधिक थी । कई व्यक्ति जो चिन्ता और तनाव के कारण बिना 'ट्रैक्वलाइजर' सोने के अभ्यस्त नहीं थे, नींद की गोली लिए बिना चैन की गाढ़ी नींद सोने लगे । डॉ. पीटर फेन्विक का कहना है कि—'अभी तक ध्यान के प्रभावों के जो विपुल प्रमाण मिले हैं उनसे सिद्ध होता है कि मनःचिकित्सा में ध्यान साधना बहुत सहायक और कारगर सिद्ध होती है ।

स्नायु तंत्रिकाओं को सुव्यवस्थित कर मनः शक्ति बढ़ाने तथा स्नायु रसस्रावों के किसी असन्तुलन से उपजे मानसिक तनाव, अवसाद, अल्पमन्दता इत्यादि विकारों को दूर करने हेतु पिछले दिनों ध्यान धारणा के प्रयोगों पर काफी विस्तार से संसार भर में कार्य हुआ है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक स्वस्थ व्यक्ति सुनियोजित ढंग से ध्यानयोग का अवलम्बन लेकर एकाग्रता, तन्मयता के साथ जब आदर्शवादी उत्कृष्टता को जोड़ता है तो न केवल अपनी प्रसुप्त क्षमताओं को जगाकर विभूतियों का स्वामी बनता है, अपितु विश्व वसुधा को भी लाभान्वित करता है । इस विधा के इन दिनों स्थूल व सूक्ष्म शरीर के स्तर पर चल रहे प्रयोग यह बताते हैं कि मन को प्रशिक्षित किया जा सकता है । अपनी स्वचालित (ऑटोनॉमिक) एवं अन्यान्य गतिविधियों को इच्छा शक्ति द्वारा नियंत्रित भी किया जा सकता है । इलेक्ट्रॉनिक मेडीटेशन नामक विधा में ध्यानयोग के ही बायोफीडबैक पद्धति द्वारा प्रयोग किए जाते हैं एवं ये प्रयोग अचेतन मन के प्रशिक्षण आत्म नियन्त्रण में बड़े सफल सिद्ध हुए हैं ।

ध्यान साधना से शरीर-क्रिया विज्ञान पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों की खोज का कार्य तन्त्रिका विशेषज्ञों ने ई. ई. जी., ई. सी. जी., ई. एम. जी. पॉलीग्राफ जैसे आधुनिक उपकरणों के माध्यम से किया है और पाया है कि ध्यानस्थ मस्तिष्क में अनेकों विशेषताएँ विकसित हो जाती हैं । लम्बे समय तक ध्यान का अभ्यास करते रहने पर व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर में कई तरह की जैव रासायनिक प्रक्रियाएँ सक्रिय हो उठती हैं । कई अवांछनीय प्रक्रियाएँ तो उसी समय निष्क्रिय हो जाती हैं । ध्यान की गहराई में उतरने पर चेतन मन की शक्तियों का विकास होता है । फलतः मनुष्य का सम्बन्ध सृजनात्मक बौद्धिकता से जुड़ता और उसी परिणति को प्राप्त होने लगता है । यह ऐसी श्रमहीन शारीरिक मानसिक प्रक्रिया है जिसे सामान्य व्यक्ति भी कर सकता है । केवल घण्टे भर के दैनिक अभ्यास से मनुष्य प्रसन्नचित्त और सृजनशील बना रह सकता है ।

"ऑटोनॉमिक स्टैबिलिटी एण्ड मेडीटेशन" नामक अपने अनुसंधान निष्कर्ष में प्रसिद्ध चिकित्सा विज्ञानी

डेविड डब्ल्यू ओर्मे जॉन्सन ने बताया है कि ध्यान योगी के तन्त्रिका तन्त्र में एक नवीन चेतना आ जाती है और उसके सभी क्रिया-कलाप नियमित स्थायी रूप से होने लगते हैं । शरीर की त्वचा बाह्य वातावरण के प्रति प्रतिरोधी क्षमता धारण कर लेती है और उस पर आये दिन पड़ने वाले वातावरण के दबाव, साइकोसोमैटिक बीमारियाँ, व्यावहारिक अस्थायित्व एवं स्नायुतन्त्र की विभिन्न कमजोरियाँ आदि दूर हो जाती हैं । शरीर के अन्दर शक्ति का संरक्षण और भण्डारण होने लगता है और यह अतिरिक्त ऊर्जा शरीर और मन के विभिन्न कार्यों, व्यवहारों को अच्छे ढंग से सम्पादित करने में प्रयुक्त होती है ।

डॉ. थियोफोर के अनुसार ध्यानयोग से मनुष्य की साइकोलॉजी में असाधारण रूप से परिवर्तन होता है । उन्होंने अपने अनुसंधान में बताया है कि नियमित अभ्यास से घबराहट, उत्तेजना, मानसिक तनाव, मनोकायिक बीमारियों आदि से जल्दी ही छुटकारा पाया जा सकता है । स्वार्थपरता में कमी, आत्मसन्तोष एवं सहनशक्ति में वृद्धि होती है । जीवटता, भावनात्मक स्थिरता, कार्यदक्षता, विनोद-प्रियता, एकाग्रता जैसे सद्गुणों की वृद्धि ध्यान के प्रत्यक्ष लाभ मिलते हैं । सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक विलियम सीमैन ने भी अपने अध्ययन में पाया है कि ध्यान का अभ्यास नियमित क्रम से करते रहने पर अन्तःवृत्तियों, अन्तःशक्तियों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है और चिन्ता मुक्त हुआ जा सकता है । इतना ही नहीं, इससे व्यक्तित्व विकास की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया को भी सम्पादित किया जा सकता है ।

नीदरलैण्ड के वैज्ञानिक विलियम पी. वानडेनबर्ग और बर्ट मुल्डर ने ध्यानयोग पर गहन अनुसन्धान किया है । विभिन्न उम्र, लिंग और शैक्षणिक योग्यता वाले ध्यान के अभ्यास कर्त्ताओं पर किए गए प्रयोगों के आधार पर इन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि इससे दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में भारी सहायता मिलती है । अभ्यासियों में भौतिक और सामाजिक अपर्याप्तता, दबाव एवं कठोरतायुक्त व्यवहार में कमी आती तथा आत्म-सम्मान की वृद्धि होती है ।

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक रॉबर्ट कीथ वैलेस ने अपनी पुस्तक 'इश्यूज ऑफ साइन्स' में लिखा है कि ध्यान के समय ऑक्सीजन की खपत तथा हृदय की गति कम हो जाती है । श्वास क्रिया शिथिल होने से शरीर की ऑक्सीजन की पूर्ति में कमी आती है । परीक्षण में पाया गया है कि ऑक्सीजन उपभोग की यह क्षमता २० प्रतिशत तक कम होती चली जाती है । इससे चयापचय की प्रक्रियाओं में खपत होने वाली ऊर्जा की बचत होती है । ध्यान अभ्यासी की औसत कार्डियक आउटपुट हृदय से पम्प किए गए रक्त की मात्रा में भी कमी आँकी गई है । देखा गया है कि औसत हृदय की धड़कन की दर में अभ्यास के समय ५ बार प्रति मिनट तक की कमी आ जाती है । इससे उच्च रक्तचाप को नियन्त्रित करने में सहायता मिलती है । हर्बर्ट वेनसन एवं रॉबर्ट कीथ वैलेस ने उच्च रक्तचाप युक्त २२ बीमार व्यक्तियों का ध्यान के पूर्व और उसके पश्चात १११९ बार उनका सिस्टोलिक एवं आर्टीरियल ब्लड प्रेशर रिकॉर्ड किया । पाया गया कि ध्यान के बाद उक्त रोगियों के रक्तचाप में महत्त्वपूर्ण कमी आयी । यह ध्यान निराकार अन्तर्मुखी साधना के रूप में था जिसमें टेपरिकॉर्डर से संदेश दिए गए थे ।

शरीर की माँसपेशियों में होने वाली रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप रक्त में विद्यमान अम्ल रूपी विष-ब्लड लैक्टेट काफी मात्रा में बढ़ जाता है । फलतः मानसिक व्यग्रता, तनाव, चिन्ता, थकान जैसे विकार उत्पन्न होते हैं । ध्यानस्थ साधक के शरीर में इस विषैले पदार्थ का स्तर ३३ प्रतिशत तक कम हो जाता है जिसकी फल श्रुतियाँ बहिरंग में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं । शरीर शिथिल होकर योग निद्रा जैसी स्थिति में चला जाता है । इस अल्पकालीन नींद के परिणामस्वरूप ही साधक ध्यान के अन्त में मानसिक रूप से और शारीरिक रूप से स्वस्थ एवं हल्का-फुल्का महसूस करता है । वैज्ञानिकों का कहना कि १५ मिनट की ध्यान साधना ६ घण्टे की गहरी नींद के बराबर स्फूर्ति प्रदान करती है ।

मानवी मस्तिष्क में विद्यमान विद्युत्स्फुल्लिंग परिस्थितियों के अनुसार अल्फा, बीटा, थीटा एवं डेल्टा नामक चार प्रकार की विद्युत तरंगों को छोड़ते रहते हैं । अन्तर्मुखी ध्यान की स्थिति में क्रियाशीलता आने पर इनमें जो भी परिवर्तन होते हैं । इन्हें ई. ई. जी. में स्पष्ट देखा जा सकता है । ध्यान में प्रगाढ़ता आने पर अल्फा तरंगें मस्तिष्क के अग्रभाग से सतत उभरती रहती हैं, जिससे मन और शरीर शिथिल एवं विश्रान्ति

की दशा को प्राप्त होता है । इससे साधक को गहरी नींद आने का भी अनुभव होता है । ध्यान सहज रूप में टूटने पर जागरूकता एवं स्फूर्ति का अनुभव होता है इस स्थिति में मनोबल इतना सशक्त हो जाता है कि अभीष्ट प्रयोजन को भली प्रकार पूरा कर सके, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक ।

ध्यानयोग अब चिकिसा विज्ञान में एक विधा के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका है और उससे विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों का उपचार भी सम्भव हुआ है ।

ध्यान की विभिन्न स्थितियों पर अनुसन्धान कर रहे वैज्ञानिकों ने पाया है कि ध्यान की अतल गहराई में प्रविष्ट होने पर साधक के शारीरिक एवं मानसिक क्रिया-कलापों में एकरसता, साम्यता आती है । ऐसी स्थिति में ऑक्सीजन की खपत और चयापचयी दर बहुत कम हो जाती है और रक्त में ऑक्सीजन तथा कार्बन डाइ-ऑक्साइड का आंशिक दबाव स्थिर हो जाता है । ध्यान के समय शारीरिक कोशिकाएँ गहरे विश्राम की स्थिति में चली जाती हैं और उस समय उन्हें अपनी गतिविधियों के संचालन में ऑक्सीजन की स्वल्प मात्रा से ही काम चल जाता है ।

ध्यान के समय श्वसन-दर असामान्य रूप से कम हो जाती है और तन्त्रिका तन्त्र के तन्तुओं में शिथिलन एवं तनाव रहित की स्थिति आ जाती है । ऐसी स्थिति में साधक को असीम आनन्द की अनुभूति होती है । ध्यान की गहराई में उतरने पर कार्डिएक आउटपुट—हृदयी उत्पादन भी बहुत कम हो जाता है क्योंकि उस समय हृदय पर कार्य दबाव कम पड़ता है ।

अमेरिका के डॉ. रॉबर्ट कीथ वैलेस ने बताया है कि ध्यान के समय रक्त में उपस्थित ब्लड लैक्टेट का स्तर बहुत कम हो जाता है । तन्त्रिका तन्तुओं को उत्तेजित करने वाले चिन्ताजनक घटक—लैक्टेट की मात्रा कम हो जाने पर उच्च रक्तचाप और हृदयाघात जैसी भयानक बीमारियाँ स्वतः दूर हो जाती हैं । अतः ध्यान के माध्यम से इन बीमारियों पर आसानी से नियन्त्रण पाया जा सकता है ।

डॉ. वैलेस का कहना है कि तनाव या चिन्ता की स्थिति में त्वचा की अवरोधक क्षमता कम हो जाती है । ध्यान के समय चिन्ता या तनाव कम हो जाता है और ध्यान का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर व्यक्ति पूर्णतया तनावमुक्त हो जाता है और उसके शारीरिक त्वचा की अवरोधक क्षमता असामान्य से बढ़ जाती है ।

अनुसन्धानकर्त्ता वैज्ञानिकों—रॉबर्ट कीथ वैलेस, हर्बर्ट बेनसन और ए. एफ. विल्सन ने अपने अध्ययन में पाया है कि ध्यान की एकाग्रता के समय साधक के मस्तिष्क के अग्रभाग से ८-९ साइकल्स प्रति सेकण्ड की दर से मस्तिष्कीय तरंगें निकलती हैं । साथ ही कभी-कभी ५-७ साइकल्स प्रति सेकण्ड की दर से प्रभावी समकालीन तरंगें भी निकलती हुई देखी गई हैं । ये मस्तिष्कीय तरंगें जागृत और सुषुप्ति अवस्था से भिन्न मस्तिष्कीय कार्यिकी के साम्यावस्था को प्रदर्शित करती हैं । यह प्रक्रिया मस्तिष्क के चैतन्यावस्था और विश्राम की स्थिति में होती है ।

डॉ. जीन पाल बैन्क्वेट ने अपने अनुसन्धान—'ई. ई. जी. और ध्यान' में बताया है कि विश्राम की स्थिति में मानव मस्तिष्क से १० साइकल्स प्रति सेकण्ड की दर से अल्फा तरंगें एक निश्चित क्रम में निकलती हैं और ध्यान के समय २२ साइकल्स प्रति सेकण्ड की दर से निकलने वाली बीटा तरंगें भी निश्चित क्रम में ही निकलती हैं । यह तरंगें मस्तिष्क के प्रत्येक भाग से निकलती हैं जो मस्तिष्क के चेतनात्मक अवस्थापूर्ण जागृत अवस्था की परिचायक हैं । चेतना की सामान्य स्थितियों में अचानक, अनियमित क्रम में एवं मिश्रित रूप में ये तरंगें निकलती रहती हैं । ध्यान की प्रगाढ़ता में इन तरंगों का क्रम व्यवस्थित और नियमित हो जाता है ।

सामान्यतया मानसिक सक्रियता की स्थिति में मानवी मस्तिष्क से 'बीटा तरंगें' निकलती रहती हैं जिनकी आवृत्ति (फ्रीक्वेन्सी) १३ साइकल्स प्रति सेकण्ड एवं इससे अधिक होती है । ध्यानावस्था में मस्तिष्क से 'अल्फा तरंगें' ८-१३ साइकल्स (चक्र) प्रति सेकण्ड की दर से निकलती हैं । ध्यान की प्रगाढ़ता एवं समाधि अवस्था में अल्फा तरंगों का स्थान 'डेल्टा तरंगें' ले लेती हैं जिनकी आवृत्ति दर ३-५ साइकल्स प्रति सेकण्ड होती है । शिशु अवस्था में भी यही डेल्टा तरंगें शिशु के मस्तिष्क से निःसृत होती रहती हैं । शिशु जैसे-जैसे बड़े एवं परिपक्व होने लगते हैं डेल्टा तरंगों का स्थान 'थीटा तरंगें' लेने लगती हैं, जिनकी आवृत्ति ३-७ साइकल्स प्रति सेकण्ड होती है ।

पूर्ण विश्राम युक्त जागृतावस्था में अल्फा तरंगें ८ साइकल्स प्रति सेकण्ड से निकलती हैं और उनींदेपन की

स्थिति में उनका संवहन मन्द आवृत्ति वाली सम्मिश्रित ४ साइकल्स प्रति सेकण्ड वाली थीटा तरंगों और २ साइकल्स प्रति सेकण्ड की गति वाली कम आवृत्ति की डेल्टा तरंगों में हो जाता है । ध्यान की गहराई में प्रविष्ट होने पर थीटा तरंगों का परिवर्तन अल्फा तरंगों में हो जाता है । उनींदेपन की स्थिति में अल्फा तरंगों के साथ मिश्रित थीटा और डेल्टा तरंगें भी एकान्तर क्रम से निकलती रहती हैं । जबकि ध्यान के समय एक निश्चित और लगातार क्रम में अल्फा और थीटा तरंगें मस्तिष्क से प्रस्फुटित होती हैं । हल्की नींद की स्थिति में अल्फा तरंगों का निकलना बन्द हो जाता है परन्तु मिश्रित तरंगें (थीटा और डेल्टा) निकलती रहती हैं ।

मानव मस्तिष्क के दायें तथा बायें सेरिब्रल हेमिस्फेयर से निकलने वाली विद्युतीय तरंगों का क्रम सामान्यतया अनियमित रहता है । ध्यान का अभ्यास करने पर इन मस्तिष्कीय तरंगों के क्रम में आपसी सामंजस्य स्थापित हो जाता है जिसकी फलश्रुति, बुद्धि विकास, स्मृति एवं विचार क्षमता में वृद्धि, स्वास्थ्य सुधार आदि के रूप में होती है । ध्यान के परिणामस्वरूप तन्त्रिका तन्त्र की क्रियाशीलता बढ़ जाती है और वह सुचारु रूप से अपने सभी कार्यों को सम्पादित करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है । ध्यान के समय अल्फा तरंगें मस्तिष्क के पिछले भाग से निकलती हुई आगे की ओर फैल जाती हैं जिससे मस्तिष्क की पूर्ण क्षमता का विकास होता है ।

ध्यान के समय हृदय और मस्तिष्क को कार्यिकी की दृष्टि से भी विश्राम करने का पूर्ण अवसर मिलता है । जैसे-जैसे ध्यान का अभ्यास बढ़ता जाता है, साधक के हृदय की गति—हृदय स्पन्दन कम होने लगता है । परिणामस्वरूप कार्डियो—वैस्कुलर की कार्य क्षमता बढ़ जाती है ।

एक फ्रांसीसी हृदय विशेषज्ञ ने ध्यान की उपयोगिता को अनुभव करते हुए कुछ योगाभ्यासियों के शारीरिक परीक्षण किए और पाया कि ध्यान के समय उनकी श्वसन क्रिया धीमी पड़ जाती है तथा त्वचा की प्रतिरोधी शक्ति बढ़ जाती है । मूर्धन्य वैज्ञानिक होइनिंग और राव ने अपने अनुसंधान में पाया है कि ध्यानावस्था में ऑक्सीजन उपयोग की मात्रा में कमी आती है ।

बहुत से निपुण जैन साधकों तथा अनेक योगियों में संगतिपूर्ण शारीरिक परिवर्तन को देखते हुए ऐसी अनुभूति होती है कि कहीं कोई एक ऐसी असाधारण शारीरिक अवस्था है जिसे हम चैतन्यता का महत्त्वपूर्ण चतुर्थ आयाम कह सकते हैं । वस्तुतः यह प्राण चेतना ही है ।

ध्यान द्वारा आधि-व्याधियों का समग्र उपचार

सूर्य किरणें बिखरी रहती हैं तो उनसे गर्मी और रोशनी भर प्राप्त होती है किन्तु एक छोटे आतिशी शीशे द्वारा दो इंच घेरे की किरणें एकत्र कर ली जायें तो उतने भर से अग्नि प्रगट हो जाती है और यदि उसका विस्तार किया जाय तो वह चिनगारी भयंकर दावानल के रूप में विस्तृत की जा सकती है । यही बात मानवी मन के सम्बन्ध में भी लागू होती है । जो सतत निरर्थक घुड़दौड़ लगाता रहता है, इससे न केवल मनुष्य बाह्य जीवन की समस्याओं में उलझा रहता है वरन् अपनी असीम शक्ति सम्पदा का भी अपव्यय करता रहता है किन्तु जब मन की भगदड़ को किसी विषय पर केन्द्रित कर लिया जाता है तो उसकी बेधक शक्ति अत्यधिक हो जाती है । उसे जिस भी काम में नियोजित किया जाय उसे अधिक सशक्तता और विशेषता के साथ करती है । ध्यान द्वारा मन के बिखराव को रोका जा सकता है और इस निग्रह से जो शक्ति एकत्रित होती है उसे अभीष्ठ प्रयोजनों में लगाकर असाधारण प्रतिफल प्राप्त किया जा सकता है ।

ध्यान किसी भौतिक प्रयोजन में भी लगाया जा सकता है और अध्यात्म उद्देश्य के लिए भी । वैज्ञानिक, कलाकार, शिल्पी, साहित्यकार अपना ध्यान इन कार्यों में संलग्न करके तद्विषयक सफलताएँ पाते हैं और जिन्हें अन्तर्मुखी होकर आत्मशोधन करना है वे उस दिशा में प्रगति करते हैं । प्रयोजन विशेष के अनुसार ध्यान को वैसा मोड़ दिया जा सकता है । इस प्रक्रिया की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर अब विशद् अनुसन्धान किया जा चुका है ।

ध्यान साधना से शरीर क्रिया-विज्ञान पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों की खोज का कार्य विभिन्न देशों के मूर्धन्य वैज्ञानिकों ने किया है । भारत सहित अमेरिका, इंग्लैण्ड, पश्चिम जर्मनी के विभिन्न संस्थानों में इस प्रकार के अनुसन्धान कार्य चल रहे हैं । तंत्रिका विशेषज्ञों

का कहना है कि मननशील एकाग्र ध्यानस्थ मस्तिष्क में अनेकों विशेषताएँ विकसित हो जाती हैं। फलतः मनुष्य का सम्बन्ध सृजनात्मक बौद्धिकता से जुड़ता और उसी परिणति को प्राप्त होने लगता है।

पाया गया है कि ध्यान की दशा में व्यक्ति के मस्तिष्क और शरीर में कई तरह की जैव रासायनिक प्रक्रियाएँ सक्रिय हो जाती हैं। कई अवांछनीय क्रियाएँ उसी समय निष्क्रिय हो जाती हैं। मिनिसोटा के सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉ. डेविड डब्ल्यू. ओर्मेजान्सन ने 'ऑटोनॉमिक स्टैबिलिटी एण्ड मेडीटेशन' नामक अपने अनुसंधान-निष्कर्ष में बताया है कि ध्यान के द्वारा तन्त्रिका तन्त्र के क्रिया-कलापों में एक नई चेतना आ जाती है और उनके सभी कार्य नियमित एवं स्थायी रूप में होने लगते हैं। शरीर की त्वचा बाह्य वातावरण के प्रति प्रतिरोधी क्षमता धारण कर लेती है और उस पर आये दिन पड़ने वाले वातावरण के तनाव, साइकोसोमेटिक बीमारियाँ, व्यावहारिक अस्थायित्व एवं तंन्त्रिका तन्त्र की विभिन्न कमजोरियाँ आदि दूर हो जाती हैं। शरीर के अन्दर शक्ति का संरक्षण और भण्डारण होने लगता है और यह अतिरिक्त ऊर्जा शरीर और मन के विभिन्न कार्यों-व्यवहारों को अच्छे ढंग से सम्पादित करने के कार्य में प्रयुक्त होने लगती है। चिकित्सक जॉन्सन के कथनानुसार ध्यान का नियमित अभ्यास करने वाले व्यक्ति तनाव जैसी मानसिक बीमारियों से जल्दी ही छुटकारा पा लेते हैं। हाइपो कोन्ड्रिया, सीजोफ्रेनिया, टायलरमेनीफेस्ट एंक्जाइटी जैसी बीमारियों को ध्यान द्वारा नियंत्रित करने में उन्हें असाधारण सफलता मिली है। कुछ महीनों तक ध्यान का अभ्यास कराने पर उन्हें लोगों के व्यक्तित्व में आशाजनक सत्यपरिणाम देखने को मिले। अधिक दिनों तक ध्यान के नियमित अभ्यास का क्रम बनाये रखने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में असाधारण रूप से वृद्धि होती है।

अमेरिका के दो मूर्धन्य वैज्ञानिकों—रॉबर्ट शॉ और डेविड कोल्ब ने ध्यान के अभ्यासियों पर किए गए अपने प्रयोग में पाया हैं कि उन लोगों के शरीर और मस्तिष्क के बीच अच्छा समन्वयन, सतर्कता में वृद्धि, मतिमन्दता में कमी और प्रत्यक्ष ज्ञान निष्पादन-क्षमता एवं रिएक्शन टाइम में वृद्धि असामान्य रूप से होती है। मिरट ट्रेसिंग टेस्ट में ऐसे व्यक्ति अग्रणी निकले हैं। उनके शारीरिक न्यूरोमस्कुलर समाकलन की दक्षता बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई पायी गई।

आन्द्रे एस. जोआ ने हॉलैण्ड में हाईस्कूल के छात्रों को एक वर्ष तक ध्यान का अभ्यास कराया। नियमित ध्यान करने वाले छात्रों की सामान्य विद्यार्थियों की अपेक्षा बुद्धि क्षमता में अधिक वृद्धि पायी गई। कठिन प्रश्नों के उत्तर देने व हल करने में ध्यान करने वाले छात्र अग्रणी रहे। उनकी स्मृति क्षमता में भी वृद्धि हुई। शैक्षणिक प्रदर्शन में ये छात्र सर्वश्रेष्ठ रहे।

वैज्ञानिक विलियम सीमैन ने बताया है कि प्रथम दो महीने तक ध्यान करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व में विकास होते देखा गया है। ध्यान का अभ्यास नियमित क्रम से करते रहने पर अन्तःवृत्तियों और अन्तःशक्तियों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है और चिन्ता मुक्त हुआ जा सकता है।

डॉ. थियोफोर नामक वैज्ञानिक ने अपने अनुसन्धान निष्कर्ष में बताया है कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों की साइकोलॉजी में असाधारण रूप से परिवर्तन होता है। ऐसे व्यक्तियों में घबराहट, उत्तेजना, मानसिक तनाव, मनोकायिक बीमारियाँ, स्वार्थपरता आदि विकारों में कमी पायी गई है तथा आत्म-विश्वास और सन्तोष में वृद्धि, सहन शक्ति, स्थिरता, कार्यदक्षता, विनोदप्रियता, एकाग्रता जैसे सद्गुणों की वृद्धि ध्यान के प्रत्यक्ष लाभ मिलते हैं।

वैज्ञानिकों का मत है कि ध्यान का प्रयोग उच्च रक्तचाप को कम करता है। डॉ. रॉबर्ट कीथ वैलेस और हर्बर्ट वेनसन ने उच्च रक्तचाप युक्त २२ व्यक्तियों का ध्यान के पूर्व और ध्यान के बाद एक बार से अधिक बार उनका सिस्टोलिक और आर्टीरियल ब्लड-प्रेशर रिकॉर्ड किया। ध्यान करने के पश्चात उक्त रोगियों के रक्तचाप में महत्त्वपूर्ण कमी आँकी गई। डॉ. रॉबर्ट कीथ वैलेस ने अपनी पुस्तक 'इशु ऑफ साइन्स' में लिखा है कि ध्यान के समय ऑक्सीजन की खपत तथा हृदय की गति कम हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप रक्त में विद्यमान अम्ल रूपी विष 'लैक्टेट' काफी मात्रा में कम हो जाता है फलतः साधक को हल्की योग निद्रा आने लगती है। शरीर की प्रतिरोधक क्षमता में अभिवृद्धि से लेकर मनोबल बढ़ाने

तथा अभीष्ट प्रयोजन को भली प्रकार पूरा कर सकने में ध्यान अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पादित करता है ।

मूर्धन्य मनोवैज्ञानिक द्वय फिलिप सी. फर्ग्युसन और जॉन सी. गोवान का निष्कर्ष है कि बहुत दिनों तक ध्यान का अभ्यास करते रहने पर व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है । ध्यान में लगाया गया समय चक्रवृद्धि ब्याज सहित सत्परिणाम देता है ।

ध्यानयोग अब चिकित्सा विज्ञान में एक विधा के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका है और भविष्य में इसके माध्यम से असाध्य रोगों के उपचार और सम्भावित रोगों की रोकथाम की सम्भावना भी बनी है, किन्तु ध्यान साधना का यह भौतिक पक्ष है । इससे न केवल जीवनी शक्ति के अभिवर्धन तथा एकाग्रताजन्य सन्तुलित मनःस्थिति का लाभ मिलता है वरन् विश्वव्यापी दिव्य सत्ता के साथ घनिष्ठता बना लेने और उसके साथ सम्पर्क साध सकने वाले आत्मिक चुम्बकत्व का भी विकास होता है । ध्यान में यदि इष्ट निर्धारण के साथ ही भाव श्रद्धा की सरसता भी मिली हुई हो तो इस मार्ग पर चलते-चलते मनोनिग्रह से लेकर मनोलय तक की स्थिति प्राप्त हो सकती है तथा समाधि का आत्म-साक्षात्कार एवं ईश्वर दर्शन का लाभ मिल सकता है । ध्यानयोग का यही वास्तविक लक्ष्य है ।

चिकित्सा क्षेत्र में ध्यानयोग का प्रवेश

बेलिंगटन विश्वविद्यालय के अनुसन्धानकर्त्ता वैज्ञानिक टाम जे. रौट ने अपने अध्ययन में पाया है कि—ध्यान का अभ्यास करने वाले साधक की शारीरिक क्षमता सामान्य और सुचारु रूप से सम्पादित होने लगती है । ध्यान के बाद भी अभ्यास कर्त्ता की श्वसन गति धीमी एवं आरामदायक रूप में चलती रहती है । धीरे-धीरे श्वसन गति की दर कम हो जाती है जो स्वास्थ्य के लिए सुखद मानी जाती है ।

वैज्ञानिक डेविड डब्ल्यू. ओर्मे जॉन्सन ने 'ऑटोनॉमिक स्टैबिलिटी एण्ड मेडीटेशन' पर अपने अनुसन्धान में पाया है कि—ध्यान के द्वारा तन्त्रिका तन्त्र के क्रियाकलापों में एक नई चेतना आ जाती है और उनके सभी कार्य नियमित एवं स्थायी रूप में होने लगते हैं । शरीर की त्वचा बाह्य वातावरण के प्रति प्रतिरोधी क्षमता धारण कर लेती है और उस पर आये दिन पड़ने वाले वातावरण के तनाव, मनःकायिक बीमारियाँ (साइकोसोमैटिक डिसीज), व्यावहारिक अस्थायित्व एवं तन्त्रिका तन्त्र की विभिन्न कमजोरियाँ आदि दूर हो जाती हैं । शरीर के अन्दर शक्ति का संरक्षण और भण्डारण होने लगता है और यह अतिरिक्त ऊर्जा शरीर और मन के विभिन्न कार्यों, व्यवहारों को अच्छे ढंग से सम्पादित करने के कार्य में प्रयुक्त होने लगती है ।

ध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति तनाव जैसी मानसिक बीमारियों से जल्दी ही छुटकारा पा लेते हैं । यह कार्य उनके शारीरिक तान्त्रिक तन्त्र की क्रियाशीलता बढ़ जाने के परिणामस्वरूप होता है ।

अमेरिका के वैज्ञानिक द्वय रॉबर्ट शॉ और डेविड कोल्ब ने ध्यान के अभ्यासियों पर किए गए अपने प्रयोगों में पाया है कि ध्यान करने वाले लोगों में शरीर और मस्तिष्क के बीच अच्छा समन्वयन, सतर्कता में वृद्धि, मति मन्दता में कमी और प्रत्यक्ष ज्ञान, निष्पादन क्षमता एवं रिएक्शन टाइम में वृद्धि असामान्य रूप से होती है । मिरर स्टार—ट्रेसिंग टेस्ट में भी ऐसे व्यक्ति अग्रणी निकले हैं । उनके शारीरिक न्यूरोमस्कुलर समाकलन की दक्षता बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई पायी गई ।

आन्द्रे एस. जोआ ने हॉलैण्ड में हाईस्कूल के छात्रों को एक वर्ष तक ध्यान का अभ्यास कराया । नियमित ध्यान करने वाले छात्रों की सामान्य विद्यार्थियों की अपेक्षा बुद्धि क्षमता में बहुत अधिक वृद्धि पायी गई । कठिन मामलों के हल प्रश्नों के उत्तर देने में ध्यान करने वाले छात्र अग्रणी रहे । इनकी स्मृति क्षमता में भी वृद्धि हुई । शैक्षणिक-प्रदर्शन में ये छात्र सर्वश्रेष्ठ रहे ।

वैज्ञानिक विलियम सीमैन ने बताया है कि प्रथम दो महीने तक ध्यान करने वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व में विकास होते देखा गया है । ध्यान का अभ्यास नियमित क्रम से करते रहने पर अन्तःवृत्तियों और अन्तःशक्तियों पर नियन्त्रण पाया जा सकता है और चिन्ता मुक्त हुआ जा सकता है ।

थियोफेर नामक वैज्ञानिक ने अपने अध्ययन में पाया है कि अध्ययन करने वाले व्यक्तियों की साइकोलॉजी में असाधारण रूप से परिवर्तन होता है । ऐसे व्यक्तियों में

घबराहट, उत्तेजना, मानसिक तनाव, साइकोसोमैटिक बीमारियाँ, स्वार्थपरता, आदि विकारों में कमी पायी गई है तथा आत्म-विश्वास और सन्तोष में वृद्धि, सहन शक्ति, साहसिकता, सामाजिकता, मैत्री भावना, जीवटता, भावनात्मक स्थिरता, कार्यदक्षता, विनोदप्रियता, एकाग्रता जैसे सद्गुणों की वृद्धि ध्यान के प्रत्यक्ष लाभ मिलते हैं ।

वैज्ञानिक द्वय विलियम पी. बानडेनबर्ग और बर्टमुल्डर ने नीदरलैण्ड में विभिन्न उम्र, लिंग और शैक्षणिक योग्यता वाले ध्यान के अभ्यासकर्त्ताओं पर किए गए अपने सप्ताह के प्रयोगों में पाया है कि ध्यानकर्त्ताओं के दृष्टिकोण में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया । उनमें भौतिक और सामाजिक अपर्याप्तता, दबाव एवं कठोरता युक्त व्यवहार में कमी आयी तथा आत्म-सम्मान की वृद्धि हुई ।

मिनेसोटा के प्रसिद्ध चिकित्सक डेविड डब्ल्यू. ओर्मे-जॉन्सन के ध्यान का प्रयोग व्यक्तियों के मानसिक स्वास्थ्य सुधारने में किया । कुछ महीनों तक ध्यान का अभ्यास कराने पर उन्हें लोगों के व्यक्तित्व में आशाजनक सत्परिणाम देखने को मिले । हाइपोकोण्ड्रिया, साइजोफ्रेनिया, टायलर मेनीफेस्ट एंक्जाइटी जैसी बीमारियों को ध्यान द्वारा नियन्त्रित करने में भी जॉन्सन को सफलता मिली । अधिक दिनों तक ध्यान के नियमित अभ्यास का क्रम बनाये रखने के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य में असाधारण रूप से वृद्धि होती है ।

मनोवैज्ञानिक द्वय फिलिप सी. फर्ग्युसन और जॉन सी. गोवान का निष्कर्ष है कि बहुत दिनों तक ध्यान का अभ्यास करते रहने पर व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है । छः-सात सप्ताह तक नियमित ध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति चिन्ता और तनाव मुक्त होते देखे गए हैं । ध्यान में लगाया गया अधिकाधिक समय चक्रवृद्धि ब्याज सहित सत्परिणाम देता है ।

वैज्ञानिकों का मत है कि ध्यान का प्रयोग उच्च रक्तचाप को कम करता है । हर्बर्ट वेनसन और रॉबर्ट कीथ वैलेस ने उच्च रक्तचाप युक्त २२ बीमार व्यक्तियों का ध्यान के पूर्व और ध्यान के बाद ११११९ बार उनका सिस्टोलिक और आर्टीरियल ब्लड प्रेशर रिकार्ड किया । ध्यान करने के बाद उक्त रोगियों के रक्तचाप में महत्त्वपूर्ण कमी आँकी गई ।

इन्हीं वैज्ञानिक द्वय ने शराब और सिगरेट पीने वाले नशा होने के आदी १८६२ व्यक्तियों को २० महीने तक ध्यान का अभ्यास कराया । धीरे-धीरे नशे की आदत छूटती गई और जो लोग पहले तनाव, श्वास-खाँसी के मरीज बने थे, उनके स्वास्थ्य सुधरने लगे ।

वैज्ञानिक फ्रैंक पैपेन्टिन ने अपने अनुसन्धान—'ध्यान और शुद्धिकरण' में बताया है कि ध्यान का नियमित अभ्यास करने से मनुष्य के शरीर की जीवन शक्ति बढ़ती है—इम्यून सिस्टम विकसित होता है । फलतः आये दिन धर दबोचने वाली अनेकों छूत की बीमारियों—संक्रामक बीमारियों से सहज ही छुटकारा मिल जाता है । फ्रैंक का कहना है कि संक्रामक बीमारियों से ग्रस्त ४०८ व्यक्तियों को ध्यान का अभ्यास कराने पर ७० प्रतिशत व्यक्ति प्रतिवर्ष की दर से अच्छे होते देखे गए । एलर्जी से त्रस्त १५६ व्यक्तियों में से ५६ प्रतिशत व्यक्तियों के स्वास्थ्य में सुधार हुआ अथवा वे एलर्जी से मुक्त हुए । इससे स्पष्ट होता है कि ध्यान करने से व्यक्ति की जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है ।

४० घंटों तक निद्रा से वंचित और तनाव से ग्रस्त व्यक्तियों को ध्यान का अभ्यास कराया गया । ध्यान के बाद उन्हें गहरी निद्रा आयी और वे अपने को स्वस्थ अनुभव करने लगे । यह बात डॉ. डोनाल्ड ई. मिस्कीमैन ने अपने अनुसन्धान "क्षतिपूरक विरोधाभासी निद्रा पर ध्यान का प्रभाव" में कही है । उनके अनुसार ध्यान के अभ्यास द्वारा इन्सोम्निया—अनिद्रा रोग पर सहज में ही विजय पायी जा सकती है ।

इरा एम. क्लेमोन्स नामक वैज्ञानिक ने ध्यान के प्रयोगों द्वारा ४६ व्यक्तियों के दाँत की बीमारियों—मसूढ़ों के रोगों पर जीवनी शक्ति बढ़ाकर नियन्त्रण कर दिखाया । क्लेमोन्स के अनुसार ध्यान करने से रोगी की प्रतिरोधी सामर्थ्य बढ़ जाती है और तब उसकी बीमारियों पर चिकित्सा द्वारा आसानी से नियन्त्रण पाया जा सकता है ।

ध्यानयोग अब चिकित्सा विज्ञान में एक विधा के रूप में प्रतिष्ठा पा चुका है और वह दिन दूर नहीं जब असाध्य रोगों का उपचार एक सम्भावित रोगों से रोकथाम हेतु चिकित्सक किसी औषधि का प्रयोग न कर पहले रोगियों को ध्यान की कसौटी पर परखेंगे ।

ध्यानयोग के नूतन अभिनव आयाम

ध्यान का मस्तिष्क के हेमीस्फेयरिक सिमेट्री पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस पर अध्ययन कर रहे वैज्ञानिक मार्कवेस्टकॉट ने निष्कर्ष निकाला है कि ध्यान का अभ्यास करने से मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्ध दायें और बायें गोलार्द्ध अपनी उन्नत अवस्था में आ जाते हैं और दोनों के क्रिया-कलापों के मध्य अधिक सामंजस्य स्थापित हो जाता है । यह क्रियाशीलता ध्यान के बाद भी बनी रहती है । परिणामस्वरूप विचारों में उत्कृष्टता का समावेश होता है और व्यक्ति रचनात्मक एवं सृजनात्मक कार्यों में रुचि लेने लगता है । यह सब रचनात्मक विचारों की ही परिणति होती है ।

मनुष्य के मस्तिष्क से निकलने वाली वैद्युतीय तरंगें (जो ८ से १४ साइकल्स प्रति सेकण्ड होती है) ध्यान करने से स्थिर होने लगती है । मस्तिष्कीय तरंगों की लय का स्थिर होना अभ्यासकर्त्ता के जीवन में जागरूकता आने सचेतन होने का परिचायक है और यही अभ्यास साधक को पूर्णता की ओर ले जाता है ।

वैज्ञानिक मार्कवेस्टकॉट ने अपने अनुसन्धान में पाया है कि ध्यान के समय मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों से ऊर्जा का उत्पादन लगभग बराबर मात्रा में होता है जो कि मस्तिष्क के सन्तुलन और समकालिकता का द्योतक है । सामान्य स्थितियों में या वार्त्तालाप के समय मस्तिष्क के दायें-बायें गोलार्द्ध में से एक भाग अधिक सक्रिय और प्रबल रहता है तथा दूसरे भाग पर अपना दबदबा बनाये रखता है । ध्यान के अभ्यास द्वारा इन दोनों गोलार्द्धों के क्रिया-कलापों में सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि उस समय मस्तिष्क की सक्रियता बढ़ जाती है और उसका रेटीकुलर सिस्टम अच्छी तरह से कार्य करने लगता है । रेटीकुलर एक्टीवेटिंग सिस्टम (आर. ए. एस.) ध्यान की एकाग्रता में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

ध्यान के समय मस्तिष्क के दायें और बायें—दोनों भागों के मस्तिष्कीय तरंगों की सक्रियता अत्यधिक बढ़ जाती है और ध्यान के बाद भी ये तरंगें कुछ समय तक अपनी उच्च स्थिति में होती हैं । जिससे दोनों गोलार्द्धों के मध्य सात्मीकरण अवस्था का पता चलता है । इस अवसर का लाभ साधक अपने मानसिक शक्ति के पूर्ण विकास में कर सकता है ।

ध्यान पर वैज्ञानिक विवेचन और भी अनेकों विद्वानों ने प्रस्तुत किया है । एक ओर वैज्ञानिक डोनैल्ड ई. मिस्कीमैन के अनुसार ध्यान का अभ्यास करते रहने पर मनुष्य की बौद्धिक क्षमता में वृद्धि होती है और विचार शैली भी उन्नत दिशा की ओर बढ़ती जाती है । चेतन और अचेतन मन को सक्रिय बनाने एवं उसे विकसित करने का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण उपाय है । स्मृति क्षमता की वृद्धि करने और उसे स्थायित्व प्रदान करने में ध्यान बहुत लाभकारी सिद्ध होता है । शरीर की फिजियोलॉजी और मन की सामर्थ्य को बढ़ाने—उसे नई शक्ति प्रदान करने में भी ध्यान का अभ्यास बहुत उपयोगी होता है । उन्होंने साइकोमेट्री प्रयोगों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है ।

'खिलाड़ियों पर ध्यान का प्रभाव' नामक अपने अनुसन्धान में एम. केशव रेड्डी ने बताया है कि छः सप्ताह के ध्यान के अभ्यास से खिलाड़ियों की हृदय गति की दर में महत्त्वपूर्ण कमी आँकी गई । हार्ट रेट की यह कमी कार्डियोवेस्कुलर सक्रियता और उसकी क्षमता में वृद्धि का परिचायक है । इसी तरह खिलाड़ियों की वाइटल केपेसिटी जीवनी शक्ति में भी वृद्धि को आंका गया है । जितनी कम हृदय दर होगी, उतना ही अधिक रक्त विश्राम की बढ़ी अवधि (क्यू. टी. इन्टरवल) में हृदय को मिलेगा तथा वायटल केपीसिटी के बढ़ने से परफ्यूजन—वेण्टीलेशन अनुपात बढ़ने से स्फूर्ति सहज ही आयेगी ।

ध्यान के समय हृदय की धड़कनें और उसकी उत्सर्जन एवं उत्पादन प्रक्रिया में अन्तर आ जाता है । वैज्ञानिकों ने उत्सर्जन प्रक्रिया में औसत २५ प्रतिशत की कमी आँकी है । ग्रोलमैन के अनुसार निद्रावस्था में कार्डियक आउटपुट में २० प्रतिशत की कमी आ जाती है और ध्यान के समय यह प्रतिशत और अधिक कम हो जाता है । डॉ. बुलार्ड का निष्कर्ष है कि ध्यानावस्था में ऑक्सीजन की खपत में कमी के कारण हृदय के क्रिया-कलाप प्रभावित होते हैं और उसके उत्पादन-उत्सर्जन प्रक्रिया में परिवर्तन आता है । अपव्यय रुकने पर ऑक्सीजन अन्य अनिवार्य कार्यों में लगती है ।

ध्यान साधना का अभ्यास करने पर त्वचा की प्रतिरोधी क्षमता भी असाधारण रूप से बढ़ती गई है ।

रॉबर्ट कीथ वैलेस ने अपने अनुसन्धान में बताया है कि १० मिनट की ध्यान साधना से साधकों की त्वचा की प्रतिरोधी क्षमता में ५०० प्रतिशत तक की बढ़ोत्तरी मापी गई । निमीलित अवस्था में साधक की त्वचा की प्रतिरोधी क्षमता में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हो जाती है । आँखें बन्द करने पर साधना के अन्त में साधकों ने अपने को बहुत ही शान्ति की अवस्था में पाया । स्ट्रेस कम होना, तनाव घटना बहुत बड़ी उपलब्धि है ।

डॉ. वेनसन के अनुसार ध्यान के नियमित अभ्यास से उच्च रक्तचाप के मरीजों में रक्तचाप सामान्य स्थिति में आता देखा गया है । परीक्षण के दौरान पाया गया कि यदि किसी ने ध्यान का नियमित अभ्यास बन्द कर दिया तो ४ सप्ताह के अन्दर-अन्दर मरीज का रक्तचाप फिर बढ़ी हुई आरम्भिक स्थिति में आ जाता है । उनका कहना है कि ध्यान के उपरान्त रक्तचाप में यह महत्त्वपूर्ण कमी सम्भवतः इण्टिग्रेटेड हाइपोथेलेमिक रेस्पोन्स जिसे 'रिलैक्सेशन रेस्पोन्स' भी कहते हैं की सक्रियता के कारण होता है ।

उपर्युक्त परीक्षणों के आधार पर बेन्सन निम्न निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—

'रिलैक्सेशन रेस्पोन्स, सिम्पैथेटिक' तन्त्रिका तन्त्र की क्रियाशीलता में ह्रास से सम्बद्ध है और इसे 'कैनन इमर्जेन्सी रिएक्शन' जो 'फाइट और फ्लाइट रेस्पोन्स' के नाम से प्रसिद्ध है, का दूसरा पक्ष कहा है ।

इसके अतिरिक्त ध्यान का ई. ई. जी. द्वारा शरीर फिजियोलॉजी पर निम्न प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ । (१) ई. ई. जी. द्वारा ध्यान योगी में अल्फा तरंगों की बहुलता देखी गई । बीटा-तरंगें यदा-कदा देखी गईं । (२) ध्यान के उपरान्त दिल की धड़कन में प्रति मिनट ५ धड़कन की महत्त्वपूर्ण कमी दृष्टिगोचर हुई । (३) इसी प्रकार सभी ध्यान योगियों में ध्यान के आरम्भ के उपरान्त ५ मिनट के अन्दर ही शरीर के ऑक्सीजन उपभोग में २० प्रतिशत की कमी देखी गई । (४) ध्यान के आरम्भ होते ही व्यक्ति के गैल्वेनिक स्कीन रेसिस्टेन्स में महत्त्वपूर्ण बढ़ोत्तरी पायी गई, किन्तु बीच-बीच में इसमें कुछ कमी-वेशी भी होती रही । कुल मिलाकर सभी परिणाम तनाव शामक अधिक थे ।

वस्तुतः अभी तक जितना प्रायोगिक कार्य अध्यात्म साधनाओं पर हुआ है वह उनकी सम्भावित परिणतियों को देखते हुए अत्यल्प है । मस्तिष्क एवं शरीर के अन्य संयन्त्र अति विलक्षण हैं । मस्तिष्क के विद्युत फब्वारे के डी. सी. पोटेन्शियल नापने वाला कोई यन्त्र अभी तक कम्प्यूटर विज्ञान—साइबर्नेटिक्स में क्रांति करने वाला आधुनिक विज्ञान जगत नहीं बना पाया है । विधेयात्मक उच्चस्तरीय चिन्तन करते समय तल्लीनता, एकाग्रता की स्थिति में, श्रद्धासिक्त भाव सम्वेदनाओं की चरमावस्था में मस्तिष्क की विद्युतीय स्थिति में क्या परिवर्तन होते हैं, चयापचय दर में क्या परिवर्तन होते हैं, स्नायु रसों का स्राव किस सीमा तक प्रभावित होता है, समग्र शरीर की बायोकेमिस्ट्री व बायोइलेक्ट्रिजीवी में क्या अन्तर आता है, यह जानने का प्रयास यदि किया जा सके तो ध्यानयोग सम्बन्धी अनेकानेक नये आयाम मनुष्य के हाथ लगेंगे । ध्यानयोग उच्चस्तरीय हो व अल्पावधि का ही हो तो वह हर प्रकार की सामर्थ्यवान तनाव शामक, मस्तिष्कीय सामर्थ्यों को बढ़ाने वाली औषधि का काम कर सकता है । आज के इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ रहे, बल्कि तेजीं से भाग रहे युग में ऐसी औषधि की आवश्यकता भी है । साथ ही उस अनुसन्धान की भी उपादेयता है जो उसे कसौटी पर खरा सिद्ध कर सके ।

ध्यान धारणा का आत्म-निर्माण में योगदान

ध्यान की गहराई से शारीरिक और मानसिक हलचलों में शिथिलता आती है । फलतः ऑक्सीजन की खपत और कार्बन डाइ-ऑक्साइड की उत्पत्ति घट जाती है । इससे जीवन यन्त्र चलाने में शरीर के कलपुर्जों को जो शक्ति खर्च करनी पड़ती है उसका अनुपात कम होने से विश्राम का लाभ मिलता है । यह विश्राम थकान दूर करता है । रोग निरोधक क्षमता और जीवनी-शक्ति बढ़ाता है । फलतः अभ्यास करने वाले को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ एवं समर्थ बनने का अवसर मिलता है । इस आधार पर उपलब्ध हुई ताजगी एक ऐसी सम्पदा है जिसका किसी भी क्षेत्र में उपयोग करके उपयुक्त लाभ उठाया जा सकता है ।

नींद का अपना लाभ है । उनकी आवश्यकता उपयोगिता से सभी परिचित हैं, पर वह अचेतन मन पर अवलम्बित है । जब चाहें तब उसे बुला लें, ऐसा

नहीं हो सकता, किन्तु कई परिस्थितियों में ऐसी आवश्यकता होती है कि जागृत स्थिति में शरीर और मन पर छाये हुए अतिरिक्त दबाव को हटाने या घटाने के लिए तत्काल निद्रा का लाभ मिल जाय । किसी प्रकार वह मिल जाता है तो थकान और तनाव से उत्पन्न कष्ट से राहत मिल जाती है । श्रम करते समय बीच-बीच में विश्राम लेने से बहुत बड़ी राहत इस प्रकार की मिल जाती है । शिथिलीकरण मुद्रा में शरीर को ढीला करके भी ऐसा ही कुछ प्रयास किया जाता है, पर इनसे लाभ सीमित ही मिल पाता है । आराम शरीर को ही तो मिला मन पर इसका सीधा प्रभाव तो बहुत कम ही हो पाता है । ध्यान की प्रत्यक्ष विशेषता यह है कि मन की उत्तेजना को शान्त करने में उसका प्रयोग बड़ी अच्छी तरह हो सकता है । ध्यान से उत्पन्न मानसिक शिथिलता की, हल्की स्थिति को योग निद्रा और गहरी स्थिति को समाधि कहते हैं । हिप्नोटिज्म स्तर के सभी प्रयास योग निद्रा पद्धति के अन्तर्गत होते हैं । गहरी परतों की सघन विश्रान्ति समाधि के अनेक स्तरों में उसके स्तर के अनुरूप मिलती है । इसका लाभ मानसिक तनावों और दबावों से छुटकारा पाने के रूप में साधनकर्त्ता को मिलता है ।

योगसाधना का वैज्ञानिक दृष्टि से क्या महत्त्व हो सकता है, इसकी शोध करने के लिए फ्रांस की हार्वर्ड इन्स्टीट्यूट फॉर साइक्लिक एण्ड कल्चरल रिसर्च की ओर से डॉ. घेर से ब्रोसे की अध्यक्षता में एक मण्डली ने विश्वव्यापी परिभ्रमण किया था । वह टोली भारत भी आयी थी । परीक्षणों के उपरान्त इस शोध प्रयास ने यह स्वीकार किया कि ध्यान अभ्यास से श्वास-प्रश्वास एवं हृदय की सिकुड़न को संकल्पपूर्वक अभीष्ट मात्रा में घटाया जा सकता है । मानसिक उद्वेग भी घटते-घटते सघन निद्रा की स्थिति में पहुँचा जा सकता है । यह दोनों ही उपलब्धियाँ शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं ।

ध्यान की सघनता से मानसिक विश्राम की बात उतनी बड़ी नहीं है जितनी कि कोशाओं, ऊतकों से लेकर छोटे-बड़े सभी अवयवों को उनकी अभ्यस्त शक्ति व्यय प्रक्रिया को सुधार देने या घटा देने से । इन घटकों में कारणवश उत्तेजना भर जाती है और शक्ति का अनावश्यक, अपव्यय होने लगता है । इस कारण संचित जीवनी-शक्ति का भण्डार अनावश्यक रूप से खर्च होता चला जाता है । फलतः समूचे व्यक्तित्व पर क्षरण और आवेश के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं । यह स्थिति चिन्ताजनक है । इसमें दुर्बलता, रुग्णता एवं अकाल मृत्यु का संकट उत्पन्न होता है ।

ध्यान द्वारा उपलब्ध होने वाली विश्रान्ति इस संकट को दूर करती है । सामयिक आवेशों को हटाने में तो उसकी सफलता तत्काल देखी जा सकती है । पर यह तो हल्का, उथला और सामयिक लाभ है, असली लाभ तो वह है जिसके अनुसार शक्ति के अपव्यय के अभ्यस्त ढर्रे की रोकथाम होती है और स्वास्थ्य संकट की, मानसिक विक्षेप की जड़ जमाकर बैठी हुई विपत्ति से छुटकारा पाने का अवसर मिलता है । विश्राम के बाद नये सिरे से नया कार्यक्रम बनाना सरल पड़ता है । छोटे-बड़े अवयव भी इसी आधार पर राहत प्राप्त करते हैं और नव-जीवन का नई ताजगी का लाभ लेते हैं ।

भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान दिल्ली के परीक्षण यूनिट ने पिछले दिनों तक प्रायः ६०० ध्यानस्थ योगियों के शरीरों की जाँच-पड़ताल की है । इस परीक्षण में मस्तिष्कीय विद्युत प्रवाह स्नायु संस्थान का आवेश तथा अन्यान्य स्वसंचालित गतिविधियों में शिथिलता लाने की बात असंदिग्ध रूप से देखी गई है । हृदय की सामान्य धड़कन एक मिनट में ७२ बार को घटाकर ३० बार कर देने वाले प्रमाण तो कितने ही मिले हैं । कई तो भूमिस्थ समाधि में मृतक तो नहीं होते, पर लगभग उसी स्तर की शिथिलता उत्पन्न कर लेते हैं । जीवन प्रवाह के क्रम में शिथिलता आने के फलस्वरूप मिलने वाली विश्रान्ति का अपना महत्त्व है ।

बार-बार उसका अभ्यास चलता रहे तो शरीर के अन्तराल में काम करने वाली गतिशीलता पर नियन्त्रण और सुधार परिवर्तन करना सम्भव हो सकता है । सामान्यतया यह बहुत कठिन है । कहने भर को ही यह कहा जाता है कि मनुष्य अपना स्वामी आप है, पर यह उथली दर्पोक्ति है । वस्तुतः शरीर अचेतन की आदतों और मस्तिष्क संचित संस्कारों का गुलाम है । इस गुलामी से छूटने को ही मुक्ति कहा गया है । मुक्ति का आकर्षक और अलंकारिक वर्णन अध्यात्म शास्त्रों में अति विस्तारपूर्वक किया गया है । इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए आत्म-नियन्त्रण की क्षमता चाहिए, तभी आदतों

और संस्कारों के प्रगाढ़ बन्धनों को ढीला करना और अन्तराल स्थिति को तथा गति को बदलना सम्भव हो सकता है । यह सब कैसे सम्भव हो सकता है ? इस जटिलता को सरलता में बदलने की ध्यान धारणा का अभ्यास बहुत ही कारगर हो सकता है ।

कैवल्यधाम, लीनावाला में योग द्वारा रोग चिकित्सा के प्रयोग बहुत समय से चल रहे हैं उस प्रयोग परीक्षण के परिणाम उत्साहवर्धक माने जाते हैं । योगाभ्यासों के बाहरी विधि-विधानों में आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा जैसे क्रिया-कलाप ही आँखों से परिलक्षित होते हैं फलतः मोटी दृष्टि से उन्हें उतने तक ही सीमित मान लिया जाता है । वस्तुस्थिति इससे कहीं आगे तक चली जाती है । इन सभी गतिविधियों के साथ ध्यान धारणा का—विचारणा, मान्यता और भावना का समावेश करने पर ही उपयुक्त लाभ मिलता है । यह ध्यान की ही प्रक्रिया है । एकाग्रता मात्र ही ध्यान नहीं है । मानसिक स्थिरता ही उसका स्वरूप नहीं है । निग्रहीत मन को किधर घुमाया जाय, किस कार्य में लगाया जाय यही है समग्र ध्यान धारणा । हर योगाभ्यास में किसी न किसी रूप में ध्यान धारणा का समावेश करना होता है । शरीर द्वारा किए जाने वाले अभ्यासों से जो चमत्कारी परिणाम देख पाते हैं, वे अंग संचालन या श्रम साधना के नहीं, वरन् उनके साथ गुँथे हुए मनोयोग के हैं । मनोयोग का इच्छित नियोजन कर सकने की सामर्थ्य उत्पन्न करना ही ध्यान धारणा का उद्देश्य है । इस प्रकार उसे आत्म-नियन्त्रण, आत्म-परिवर्तन और आत्म-विकास की कुंजी भी कह सकते हैं । ध्यानयोग की गरिमा ऐसे ही अनेकानेक लाभों के साथ जुड़ी हुई है ।

वेदना निवारण में ध्यानयोग की प्रभावी भूमिका

गीता में योग को दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला कहा गया है—'योग भवति दुःखहा ।' महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन की स्थिति वेदना से परिपूर्ण थी, उसका वह अन्तर्विषाद ही योग का प्रथम चरण बना था । आज भी योगाभ्यासों से वेदना से मुक्ति पाना असंदिग्ध है । योगासनों के अभ्यास से रोगों पर नियन्त्रण ही नहीं, वरन् उन पर विजय भी प्राप्त की जा सकती है । विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों में अधिकांश का उपचार योगासनों से सम्भव है ।

आपाधापी भरे इस युग में तनावों से ग्रस्त आज का मानव अकारण चिन्ता, भय एवं अनिद्रा रोग को आमन्त्रित कर लेता है । नींद लाने के लिए नशीली दवाओं का प्रयोग करता है जिनसे क्षणिक आराम भर मिलता है । पीछे शारीरिक, मानसिक दर्द एवं वेदना और अधिक बढ़े हुए प्रतीत होते हैं । तनाव तो दूर होता नहीं, शरीर एवं मन को विश्राम भी नहीं मिल पाता, उल्टे विषैली-नशीली दवाओं के दुष्प्रभाव परिलक्षित होने लगते हैं । तीव्र औषधियों की प्रतिक्रिया स्वरूप अनेक अन्यान्य छोटे-बड़े रोगों का जन्म हो जाता है। फलतः व्यक्ति का वेदना से मुक्ति पाने के लिए इन दवाइयों की शरण जाना मृगतृष्णा ही सिद्ध होता है ।

वस्तुतः वेदना का स्वरूप उतना हानिकारक एवं दुखद नहीं होता जितनी कि उसकी कल्पना कर ली जाती है । वेदना के अभाव में सुख की अनुभूतियाँ भी फीकी पड़ जाती हैं । दुःख-दर्द आदि से मुक्त होने-वेदना से त्राण पाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी मिथ्या काल्पनिक भयंकरता भरी मनोभूमि न बनाई जाय । शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्तर पर जीवन में दुःख, द्वन्द्व, वेदना आदि को सहजता से स्वीकार करते चले जाने जैसी योगियों जैसी मनोभूमि बना लेने से उनसे मुक्ति ही नहीं मिलती, वरन् मानवी चेतना भी विकसित होती है ।

योगविद्या विशारदों का कहना है कि योग के माध्यम से विभिन्न प्रकार की शारीरिक मनोकायिक, मानसिक एवं भावनात्मक पीड़ाओं पर काफी हद तक नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है । शारीरिक, मानसिक तनावों को तो साधारण योगाभ्यास से ही दूर किया जा सकता है । आसनों के नियमित अभ्यास से शारीरिक तनाव दूर होते हैं । आन्तरिक वेदनाओं को कम करने में प्राणायाम, शिथिलीकरण, ध्यान, सम्मोहन आदि की प्रक्रियाएँ बहुत कारगर सिद्ध होती हैं । योगाभ्यासपरक इन सामान्य-सी दिखने वाली प्रक्रियाओं द्वारा मस्तिष्कीय स्नायु तन्तु इस प्रकार व्यवस्थित हो जाते हैं कि पीड़ाएँ-व्यथाएँ दूर हो जाती हैं ।

यौगिक क्रियाओं जैसा ही प्रभाव बायोफीड बैक आदि का होता है । यन्त्रों द्वारा यौगिक प्रक्रिया सीखकर

भी वेदना से मुक्ति पायी जा सकती है । इस सन्दर्भ में अनुसन्धान कर रहे न्यूयार्क के माटेफाय हॉस्पिटल के मूर्धन्य चिकित्सा विज्ञानी डॉ. एन. जे. मारकास का कहना है कि बायोफीड बैक पद्धति के साथ-साथ शिथिलीकरण अभ्यास बहुत शीघ्र परिणाम प्रस्तुत करता है । इसी तरह के प्रयोग—परीक्षण शिकागो का 'द डायमण्ड हेडेकलीनिक' के शोधकर्मियों ने किया है । उन्होंने लगभग ५०० रोगियों पर बायोफीड बैक का उपयोग करके उनके स्नायुविक बीमारियों, सिरदर्द आदि को दूर करने में सफलता प्राप्त की है । बायोफीड बैक पद्धति में चेतना को किसी अंग विशेष या क्रम से शरीर के विभिन्न अंगों पर केन्द्रित करते चले जाते हैं । स्व संकेत परक यह यह प्रक्रिया अपने प्रति सजग होने का अभ्यास सिखाना है । भौतिक उपकरणों की सहायता से लोगों को ऐसा करने में सुविधा भी होती है । स्नायुविक दर्द, वेदना आदि विषयों पर पिछले दिनों मोण्ट्रियल में चिकित्सा विशेषज्ञों एवं मनोवैज्ञानिकों का सम्मेलन हुआ । उसमें विचार मंथन के उपरान्त यही निष्कर्ष निकला कि अपने प्रति अधिकाधिक सजग हो जाने से पीड़ा बहुत कम हो जाती है । योगाभ्यास, बायोफीड बैक, सम्मोहन आदि पर हुए अनुसन्धानों का सार संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए इन्हें वेदनाएँ दूर करने में उपयोगी बताया गया हैं ।

मास्को के इन्स्टीट्यूट ऑफ जनरल साइकोलॉजी के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जी. एन. क्राइजेन्पेन्सकी का कहना है कि योगाभ्यासपरक प्रक्रियाएँ आन्तरिक ऊर्जा की अभिवृद्धि करने एवं चेतना के विकास के लिए बहुत उपयोगी हैं । योगासनों द्वारा मस्तिष्क सहित समूचे तन्त्रिकातन्त्र पर नियन्त्रण साधा और उन्हें सुव्यवस्थित किया जा सकता है । उनके अनुसार वेदना का मुख्य कारण निराशा एवं आत्म-विश्वास की कमी है । अपनी आन्तरिक क्षमता पर विश्वास न होने के कारण ही व्यथा-वेदनाओं की उत्पत्ति होती है । कोलम्बिया विश्वविद्यालय में अनुसन्धानरत वैज्ञानिक द्वय डॉ. जे. एस. लिफ्टन एवं डॉ. जे. जे. मारकैन ने भी इसी तरह के निष्कर्ष एक-सौ रोगियों का अध्ययन करके प्रस्तुत किए हैं । इन रोगियों में अधिकांश निराशा से पीड़ित थे । इनका कथन है कि योग के अभ्यास से आत्मविश्वास उत्पन्न होकर जीवनी-शक्ति का विकास होता जाता है जिसके फलस्वरूप निराशा, दुःख एवं अन्तर्वेदना पर नियन्त्रण पा सकना शक्य हो जाता है।

विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों में मानसिक खिन्नता भी एक प्रकार का रोग है, जो व्यक्तियों में दो तरह से देखने को मिलती है । पहले प्रकार का रोगी कभी बैठा रहता है, कभी रोता है, कभी हँसता है तो कभी चिल्लाता हैं । उसकी मनःस्थिति में असामान्य रूप में परिवर्तन होने से उसकी मनःस्थिति उसके नियन्त्रण से बाहर हो जाती है । दूसरे प्रकार के रोगी जिन्हें अपनी खिन्नता के बारे में खुद पता नहीं रहता वे ऊँची-ऊँची कल्पनाएँ करते रहते हैं और प्रायः विभ्रम में पड़ जाते हैं । इस प्रकार के रोगों में प्रायः जो उपचार काम में लाये जाते हैं उनमें बिजली के शॉक एवं ट्रैंक्यूलाइजर्स प्रमुख हैं, लेकिन इनसे शरीर के अन्दर पाये जाने वाले रासायनिक असन्तुलन जो खिन्नता के प्रमुख कारण हैं, ठीक नहीं होते । उल्टे रोगी की स्मरणशक्ति तक समाप्त होती देखी गई है । दोनों प्रकार की खिन्नता के रोगियों का उपचार योगासनों से सरलतापूर्वक किया जा सकता है । योगासनों से अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से स्रावित होने वाले हार्मोन रसायनों का असन्तुलन दूर हो जाता है । जिसके परिणामस्वरूप मानसिक खिन्नता आसानी से दूर हो जाती है ।

मानसिक रोगों के शमन में ध्यानयोग को बहुत लाभकारी पाया गया है । हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के वैज्ञानिकों ने ध्यान का शरीर और मन पर पड़ने वाले प्रभावों पर गम्भीरतापूर्वक अध्ययन, अनुसंधान किया है । उनका निष्कर्ष है कि मानसिक विकारों, तनावों से मुक्ति पाने, शान्ति प्राप्त करने के लिए दवाओं की अपेक्षा ध्यान अधिक उपयोगी एवं प्रभावी है । फ्रांस के सुप्रसिद्ध मनोचिकित्सक डॉ. बैर्थेलेयर ने भी योगाभ्यासियों पर किए गए परीक्षणों से निष्कर्ष निकाला है कि ध्यान एवं अन्यान्य यौगिक प्रक्रियाओं के नियमित अभ्यास से वेदनाओं का निराकरण होता एवं मानसिक शक्ति का विकास होता है । पाया गया है कि योगाभ्यासी व्यक्ति आशावादी दृष्टिकोण से सम्पन्न होता जाता है । उसकी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया सुसन्तुलित हो जाती है । फलतः प्राणशक्ति के अभिवर्धन के साथ ही व्यक्ति दर्द वेदना से छुटकारा पा लेता है । वृद्धों में भी नवीन शक्ति, स्फूर्ति, आशा और उत्साह परिलक्षित होने लगता

है । शारीरिक रोगों के साथ-साथ लोगों को मानसिक रोगों से छुटकारा पाने में भी योगाभ्यास बहुत सहायक सिद्ध हुआ है । इसे नियमिततापूर्वक अपनाकर मनुष्य बुढ़ापे में भी शारीरिक-मानसिक आरोग्य का भरपूर लाभ उठा सकता है ।

योग साधनाओं में ध्यान की विभिन्न साधनाएँ आसन, प्राणायाम आदि विभिन्न प्रकार के अभ्यास इस दृष्टि से बनाये गए हैं जिससे शरीर के उन अवयवों तक की मालिश हो जाती है, साधारण व्यायाम जिन पर प्रभाव नहीं डाल पाते । इन मर्मस्थलों में छिपी शक्तियों को उन्नयन करना, उभारना और उनका लाभ लेना इन क्रियाओं का उद्देश्य है । इनके द्वारा बुरी आदतों एवं कुसंस्कारों को, जो नाना प्रकार की व्यथाओं—वेदनाओं की जड़ हैं, उनको बदलकर उनके स्थान पर स्वस्थ आदतों एवं सुसंस्कारों की स्थापना की जा सकती है, इससे न केवल मन की कमजोरियाँ दूर होती हैं, वरन् प्रसुप्त पड़ी अन्तःशक्तियाँ धीरे-धीरे जागृत एवं विकसित होकर ऐसे सत्परिणाम प्रस्तुत करती हैं जिन्हें चमत्कारी कहा जा सके ।

शारीरिक-मानसिक परिष्कार करते हुए आत्मचेतना की गहराइयों में प्रवेश करना योगाभ्यास का प्रमुख लक्ष्य रहा है । रोग-निवृत्ति एवं बल-वर्धन के अतिरिक्त मानसिक ऊर्जा की प्रखरता तथा अन्तः में विद्यमान जीवनी-शक्ति को बढ़ाने और आत्मबल सम्पादन करने में आसन, प्राणायाम, ध्यान जैसी योगिक प्रक्रियाओं का प्रचलन प्राचीनकाल से ही रहा है । इसके अभ्यासी योगी साधक अपनी इच्छानुसार हृदयगति, रक्तचाप, श्वसन दर, रक्त अभिसरण, शरीर ताप जैसी अनैच्छिक क्रियाओं पर नियन्त्रण कर दिखाते हैं । मस्तिष्कीय उपादानों का रूपान्तरण-परिष्करण भी वे कर लेते हैं । मानसिक एवं मनोकायिक रोगों से इससे सहज ही छुटकारा मिल जाता है । परन्तु यह एक समय—साध्य प्रक्रिया है जिसमें संयम, साधना के अतिरिक्त श्रम, मनोयोग, नियमितता एवं अविचल धैर्य आदि की आवश्यकता पड़ती है । साथ ही अनुभवी मार्गदर्शक के बिना भी गाड़ी आगे नहीं बढ़ती ।

आज की व्यस्तता-युक्त अन्धी दौड़ के युग में लोगों के पास इतना समय भी नहीं होता जो योग जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान दें, उसे जीवन का अनिवार्य अंग बनायें और जीवन लक्ष्य तक पहुँचें । वैज्ञानिक आविष्कारों ने इस कमी को बहुत कुछ पूरा करने का प्रयास किया है । 'बायोफीड बैक' इस शृंखला में एक नवीनतम प्रयोग है जो मनुष्य को तनाव मिटाकर आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करता है । अन्तर केवल इतना ही है कि इसके द्वारा समाधि स्तर तक नहीं पहुँचा जा सकता जैसा कि योगाभ्यास की चरम परिणति में होता है । इसके द्वारा आन्तरिक क्रियाओं का नियन्त्रण नियमन जरूर हो सकता है । तनाव दूर कर शिथिलीकरण की स्थिति में विचार-शून्यता की अवस्था भी प्राप्त की जा सकती है, जो कि योगाभ्यास की प्रमुख देन है । आत्मोत्कर्ष का श्री गणेश भी तो यही है ।

ब्रिटिश मनोविज्ञानी हेविट जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द कम्पलीट योगा बुक' में कहा है कि 'बायोफीड बैक' योगिक अभ्यास का ही एक परिवर्तित रूप है जिसके प्रयोग से साधक का मनोबल बढ़ता है । साथ ही वह ध्यान की गहराइयों में जाने का प्रयास करता है जिसे समस्त सफलताओं का मूलाधार माना जाता है । उन्होंने इसे 'पुश बटन योगा' नाम से सम्बोधित किया है और कहा है कि बायोफीड बैक एक प्रकार का 'बॉडी-माइन्ड कन्ट्रोल' है, जिसे साधक योगाभ्यास द्वारा सम्पन्न करता है । इसके द्वारा व्यक्ति बहिर्मुखी चिन्तन से विरत होकर अपने अचेतन मन की गहराइयों में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है जिसके द्वारा शरीर के अनैच्छिक तन्त्र संचालित होते हैं । आँख और कान जैसी इन्द्रियाँ जो अभी तक बहिर्मुखी गतिविधियों का संचालन करने में व्यस्त थीं, इस प्रक्रिया द्वारा अन्दर की ओर अभिमुख हो उठती हैं । इसके माध्यम से हम अपने रक्त प्रवाह की ध्वनि, माँसपेशियों का कोलाहल, स्नायु मण्डल की लय एवं अन्यान्य आन्तरिक कायिकीय प्रक्रियाओं को सूक्ष्म जगत में देख और सुन सकते हैं और इच्छानुसार उन पर नियन्त्रण साध सकते हैं जो अभी तक चेतन मन की पकड़ से बाहर थे ।

बायोफीड बैक एक इलेक्ट्रॉनिक उपकरण से की जाने वाली प्रक्रिया है इसमें सेन्सर्स लगे होते हैं, जिनका सम्बन्ध शरीर से कर दिया जाता है । वे प्रकाश ज्योति श्रवण योग्य ध्वनि को ग्रहण करके शारीरिक हलचलों को डिजिट्स के रूप में या गति करती हुई सुई आदि के रूप में रिकॉर्ड

करते हैं । इन हलचलों का सम्बन्ध जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं जैसे—हृदय गति, रक्त प्रवाह, माँसपेशियों की विद्युत ऊर्जा एवं मस्तिष्कीय ऊर्जा तरंगों आदि से होता है । बायोफीड बैक प्रशिक्षण द्वारा व्यक्ति अपने आन्तरिक क्रिया-कलापों को ठीक उसी तरह से नियन्त्रित कर सकता है जैसे कि फीडबैक लर्निंग द्वारा विद्यालय में बालक जटिलता एवं खतरों से भरे वातावरण में अपने जीवन अस्तित्व को बनाये रखने के लिए मैन्युअल कार्यों तथा अन्यान्य मानवी प्रवीणताओं—हस्त कौशलों को हस्तगत करता है । प्रत्येक जीवधारी इसी फीड बैक का अनुसरण करता है ।

शरीर विज्ञानियों के अनुसार शरीर के अनेकों क्रिया-कलाप स्व-संचालित होते हैं जिन पर हमारा नियन्त्रण नहीं रहता । हृदय अपनी गति से धड़कता है तो रक्त अभिसरण अपनी गति से होता है । पाचन, श्वसन का अपना स्वतन्त्र विज्ञान है । यह सभी कार्य ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम द्वारा संचालित होते हैं । भावनाओं से सम्बन्धित हलचलों का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है ।

योगी अपनी इच्छानुसार हृदयगति, रक्तचाप, श्वास-प्रश्वास जैसी अनैच्छिक क्रियाओं एवं भावनात्मक उतार-चढ़ावों को नियन्त्रित कर सकते हैं, तनाव एवं असन्तुलन-जन्य मनोकायिक बीमारियों-मनोविकारों से छुटकारा पा सकते हैं । यद्यपि योग में यन्त्रों का प्रयोग नहीं होता फिर भी योगी अभ्यास द्वारा उन परिवर्तनों को अनुभव कर लेता है । बायोफीड बैक की भी यही क्रिया पद्धति है । इसमें शारीरिक परिवर्तनों को देखने के लिए यन्त्रों का उपयोग किया गया है । इस प्रशिक्षण में शरीर के भीतरी अवयवों में होने वाले परिवर्तनों को शक्तिशाली एम्प्लीफायर के माध्यम से देखा जा सकता है व सन्देश भेजकर घटाया-बढ़ाया जा सकता है । हृदय की धड़कन व मस्तिष्क तरंगों को मापा जा सकता है । इच्छाशक्ति द्वारा मनचाही दिशा में इन्हें मोड़ा और नियन्त्रित किया जा सकता है । अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव, शारीरिक तापमान, मानसिक तनाव में हेर-फेर किया जा सकना सम्भव है । स्मृति सुधार, मनःशक्तियों का विकास, सृजनात्मक प्रवृत्तियों का विकास बायोफीड बैक के माध्यम से सुगमतापूर्वक सम्पन्न किए जा सकते हैं ।

अमेरिका मनोविज्ञानवेत्ता डॉ. जे. बोसवासियन ने अपने अनुसन्धान निष्कर्ष में बताया है कि जिन क्रियाओं को योगी अचेतन अवस्था में करता है वही क्रिया बायोफीड उपकरण के माध्यम से कोई भी सामान्य व्यक्ति कर सकता है । जब सम्बन्धित व्यक्ति को इस यन्त्र द्वारा उसकी अपनी आन्तरिक परिस्थितियों से परिचित कराया जाता है और उसमें परिवर्तन लाने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है तो इससे उसका मनोबल बढ़ता है । आत्म-विश्वास जागृत हो जाने पर ऐच्छिक क्रियाओं की तरह ही अनैच्छिक क्रियाओं को अभ्यास द्वारा उतनी ही आसानी से करने लगता है । धीरे-धीरे क्रमशः अचेतन मन की परतें खुलने लगती हैं और उनमें सन्निहित क्षमताओं से वह परिचित होने लगता है । संक्षेप में इसे शरीर पर मन का नियन्त्रण किया जाना भी कह सकते हैं ।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि ऑटोनॉमिक स्नायुतन्त्र की गड़बड़ी को मानसिक एकाग्रता या शिथिलीकरण प्रक्रिया द्वारा ठीक किया जा सकता है । यह विधा अनैच्छिक तथा अचेतन मन द्वारा संचालित कार्य व्यवहार में हेर-फेर करने में समर्थ है । परन्तु चेतन मन द्वारा सरलतापूर्वक फीड बैक न मिलने के कारण वह सफलता संदिग्ध ही बनी रहती है । अतः बायोफीड बैक का आश्रय लिया जाता है । यह वह वैज्ञानिक मार्ग है जो चेतना और मन को पदार्थ के ऊपर विस्तार पाने—नियमन करने में सहायता प्रदान करता है । इस सन्दर्भ में अमेरिका के दो मूर्धन्य मनोवैज्ञानिकों मार्विन कार्लिस तथा एम. एण्ड्रूज लेविस ने अपनी पुस्तक 'बायोफीड बैक : टर्निंग ऑन द पावर ऑफ माइण्ड' में कहा है कि बायोफीड बैक द्वारा अभ्यास करने पर मनुष्य अपने आन्तरिक क्रियाकलापों, शारीरिक-मानसिक स्थिति को उसी प्रकार देख-सुन सकता है जैसे टेलीविजन के पर्दे पर वह दृश्य देखता और सम्वाद सुनता है । वास्तव में अब यह सम्भव है ।

ध्यान एवं शिथिलीकरण में जो प्रक्रिया अपनायी जाती है उसी का प्रयोग बायोफीड बैक में भी किया जाता है । इससे साधक अपने को प्रयोग के लिए बार-बार तैयार करता और आत्मनियन्त्रण साधता है । इस उत्पन्न तनाव रहित स्थिति एवं सुखानुभूति को अधिक देर तक बनाये रखने के लिए इच्छा शक्ति को

सुदृढ़ बनाता है । यही सुखानुभूति प्रेरक का कार्य करती है और अभ्यास का समय बढ़ता जाता है । इससे शारीरिक एवं मानसिक दोनों ही स्थितियों में परिवर्तन होने लगते हैं और साधक साधना क्षेत्र में प्रगति की ओर अग्रसर होने लगता है ।

यूनिवर्सिटी ऑफ शिकांगो के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. जोय कामिया ने अल्फा ई. ई. जी. बायोफीड बैक पर गहन अनुसन्धान किया है । इसमें साधक शारीरिक, मानसिक शिथिलन एवं ८-१३ साइकल प्रति सेकण्ड अल्फा वाली मस्तिष्कीय तरंगों को अपने संकल्प बल के आधार पर स्वयं उत्पन्न करता है । इससे बीटा एवं थीटा तरंगों की स्थिति से परिवर्तित होकर मानसिक ऊर्जा अल्फा स्टेट में आ जाती है । उनके अनुसार यही वह स्थिति है जिससे एक उच्चस्तरीय योग साधक विचार-शून्यता की आनन्ददायी स्थिति में पहुँचता है । वैज्ञानिक प्रयोग परीक्षणों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि योगी की विचार शून्यता की तन्मयता की स्थिति में उसके मस्तिष्क से अल्फा तरंगें निकलती हैं । सामान्य रूप से मस्तिष्क की सक्रिय अवस्था में १४ साइकल प्रति सेकण्ड वाली बीटा तरंगें उससे फूटती रहती हैं जबकि सोते समय थीटा तरंगों का निष्कासन होता है । अल्फा तरंगों को उत्पन्न करने की कला की जानकारी हो जाने और उसकी सुखद अनुभूति को एक बार बायोफीड बैक पर देख सुन लेने के पश्चात साधक आत्म सुझाव द्वारा उसे बार-बार प्राप्त करने का प्रयास करता है । योगिक प्राणायाम एवं ध्यान द्वारा यही परिणाम उपलब्ध होता है, परन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने में समय भी अधिक लगता है और जोखिम भी रहती है । बायोफीड बैक में ऐसा कोई व्यवधान नहीं आता ।

जापानी जेन योग साधकों पर अनुसन्धान कर रहे वैज्ञानिक डॉ. जोहान स्टोयवा का कहना है कि योगाभ्यास से मन की निर्विचार-स्थिति अर्थात् शून्य अवस्था तक पहुँचने में लम्बी अवधि तक निरन्तर प्रयास करना पड़ता है परन्तु बायोफीड बैक विधि में स्थिति कुछ सप्ताहों से लेकर महीनों के भीतर प्राप्त की जा सकती है । उनके अनुसार सचेतन मन के नियन्त्रण से मस्तिष्क की वैद्युत तरंगों का परिवर्तन सम्भव है । इससे अचेतन मन की गहराइयों में झाँकने और उसमें संचित कुसंस्कारों को उखाड़ फेंकने में सहायता मिलती है साथ ही अचेतन मन की प्रसुप्त शक्तियों को भी जागृत करने का अवसर प्राप्त होता है । योग साधना में भी यही किया जाता है । संचित कुसंस्कारों से पिण्ड छुड़ाये बिना अध्यात्म क्षेत्र में प्रगति सम्भव नहीं ।

शान्तिकुंज के ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान में बायोफीड बैक को जिसे 'इलेक्ट्रॉनिक मेडीटेशन' भी कहा जाता रहा है अनुसन्धान की एक विधा के रूप में विकसित किया गया है । इस यन्त्र में त्वचा का वैद्युतीय प्रतिरोध—जी. एस. आर., माँसपेशियों की विद्युत—ई. एम. जी. तथा मस्तिष्क की अल्फा तरंगों-अल्फा ई. ई. जी. इन तीनों द्वारा दृश्य एवं ध्वनि के माध्यम से साधकों को शिथिलीकरण का अभ्यास कराया जाता है । ध्यान प्रक्रिया द्वारा तीनों में परिवर्तन लाने हेतु उन्हें सतत प्रशिक्षित किया जाता है । अपनी मनःशक्ति के माध्यम से साधक तनाव शैथिल्य द्वारा त्वचा का प्रतिरोध कम करता तथा ध्यान की स्थिति में ही दृश्यमान अल्फा तरंगें उत्पन्न करता है । इससे उसका संकल्प बल बढ़ता है, आत्मविश्वास जागृत होता है । परिणामस्वरूप ध्यान की गहराई में प्रवेश करने और अन्तराल में छिपी विभूतियों को जगाने का मार्ग प्रशस्त होता है ।

सनातन सत्य वही एक है कि मनुष्य स्वयं को तनाव मुक्त रखे, सदैव प्रसन्न रहे एवं दूसरों को भी हँसाता रहे । पर परिस्थिति के असन्तुलन से उपजा तनाव, स्वयं के चिन्तन की अस्त-व्यस्तता एवं चिड़चिड़ाहट व्यक्ति को क्षुब्ध बनाती एवं दृश्य रूप में रोगी न दीख पड़ने पर भी मनोविकार-ग्रस्त कर देती है । यन्त्रों के माध्यम से शिथिलीकरण के अभ्यास में सबसे बड़ी भूमिका मनोवैज्ञानिक तनाव शैथिल्य की है । ध्यान धारणा का अभ्यास भी क्रमशः तनाव शिथिलता के बाद ही किया जाता है ।

अन्तवर्ती स्थिति में चेतन को सक्रिय बनाने और बोध प्राप्त करने का सरल अभ्यास शिथिलीकरण साधना या योग निद्रा के रूप में किया जाता है । शिथिलीकरण का अर्थ किसी शान्त एकान्त स्थान में इस तरह निश्चेष्ट लेट जाने को कहते हैं, मानो अपनी मृत्यु हो गई हो और मन तक ने काम करना बन्द कर दिया हो । शिथिलीकरण विश्रामावस्था है । विश्राम से व्यक्ति

अपनी थकान मिटाता है । नवीन शक्ति प्राप्त कर स्फूर्तिवान बनता है । निद्रा विश्राम का ही एक स्वरूप है । योगाभ्यास की योग निद्रा से वही प्रयोजन कम समय में पूरा हो जाता है । कहते हैं कि नेपोलियन घोड़े पर चढ़े हुए ही योग निद्रा द्वारा नींद की आवश्यकता पूरी कर लेता था, सोता नहीं था । महात्मा गाँधी भी कई-कई रातें बिना सोये बिता दिया करते थे । योग की शिथिलीकरण विश्राम की अपनी विशिष्टता है। आसन प्राणायाम के अभ्यास के बाद कुछ समय शवासन (पूर्ण विश्राम) से शरीर-मस्तिष्क, अंग-प्रत्यंगों में नवीन चेतना स्फूर्ति शक्ति का अनुभव होता है ।

विश्राम की योग निद्रा विधि से उच्च रक्तचाप में कमी होती है । योग निद्रा के अभ्यास से स्वसंचालित स्नायु प्रणाली एवं अन्तःस्रावी ग्रन्थियों पर पड़ने वाले प्रभावों को सन्तुलित-नियन्त्रित करने की क्षमता आती है । प्राण शक्ति का संचय होने के फलस्वरूप नवीन शक्ति का उदय अनुभव होता है ।

शिथिलीकरण की विधियों से अब शारीरिक-मानसिक रोगों का निदान भी किया जाने लगा है । 'लूथ' की 'आटोजेनिक न्यूट्रलाइजेशन' और 'वोल्प्स' की 'सिस्टेमेटिक डिजेम्सीटीजेशन' की विश्राम पद्धतियाँ योग की शिथिलीकरण प्रक्रिया के सदृश्य ही हैं । ये आधुनिक शारीरिक-मानसिक चिकित्सा विधियाँ हैं । योग की शिथिलीकरण विधि प्रत्येक व्यक्ति के लिए सरल एवं साधारण है । इसका अभ्यास कर शरीर व मन-मस्तिष्क को स्वस्थ, सशक्त, स्फूर्तिमय रखा जा सकता है ।

डॉ. के. के. दांते एवं उनके सहयोगी चिकित्सकों ने हृदय रोग के रोगियों पर शिथिलीकरण के कई प्रयोग किए और योग की विश्राम और ध्यान प्रक्रिया द्वारा उच्च रक्तचाप जैसी मनोशारीरिक व्याधियों का नियन्त्रण करने में आशातीत सफलता प्राप्त की है । उन्होंने अपनी 'शवासन ए योगिक एक्सरसाइज इन द मैनेजमेंट ऑफ हाइपरटेन्शन' नामक पुस्तक में उल्लेख किया है कि शवासन के साथ ध्यान करने से उच्च रक्तचाप सामान्य हो जाता है तथा दवाइयों एवं उनके दुष्प्रभावों से मुक्ति मिल जाती है । डॉ. दांते के सहयोगियों ने उच्च रक्तचाप ही नहीं वरन् सिरदर्द, अतिनिद्रा, घबराहट, सीने में दर्द, बेहोशी, स्वभाव का चिड़चिड़ापन और थकान जैसे कष्टों को भी दूर करने में सफलता अर्जित की है ।

डॉ. वेनसन का कथन है कि ध्यान एवं शिथिलीकरण जैसी योग प्रक्रियाओं द्वारा साधारण उच्च रक्तचाप तो निश्चित रूप से दूर हो जाता है । नमक का प्रयोग न करने से शीघ्र लाभ पहुँचता है तथा अति उच्च चाप को भी नियन्त्रित किया जा सकता है ।

चिकित्सा के क्षेत्र में अब ध्यान को रक्तचाप की बीमारियों को दूर करने का एक विश्वसनीय साधन माना जाने लगा है । 'सैनडियेंगो' के वेटेरन्स ऐडमिस्ट्रेशन हॉस्पिटल में डॉ. स्टोन एवं डोलियों ने १६ रक्तचाप के रोगियों का अध्ययन किया । उन्होंने १४ रोगियों को श्वास के माध्यम से 'ध्यान' का प्रशिक्षण दिया । ५ को ध्यान पद्धति नहीं सिखाई गई । सभी रोगियों का रक्तचाप निदान से पहले एक-सा था । ६ महीने में ध्यान का अभ्यास करने वाले १४ रोगियों का रक्तचाप सामान्य हो गया । वे बिना दवाइयों के ही रोग से मुक्त हो गए । अभ्यास न करने वाले रोगियों पर औषधियों का भी कोई विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ ।

शिथिलीकरण का मन-मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभावों का अनेकों वैज्ञानिकों, मनोवैज्ञानिकों द्वारा अध्ययन किया जा रहा है । ध्यान से तनाव किस प्रकार कम होता है—इस पर भी रोगों का सूक्ष्म वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा रहा है और निश्चित उपचार पद्धति को जानकर शीघ्र ही इस प्रकार की बीमारियाँ दूर की जा सकेंगी ।

यह तो व्यक्त लाभ हैं । आत्मिक लाभ अनेक गुने अधिक हैं । अविद्या से मुक्त होने को अपने अन्तर को देखने की क्रिया को योग या अध्यात्म कहा जाता है । वास्तविकता को जानने का ही पथ अध्यात्म है । ऋषियों, सन्त, महात्माओं ने बताया है—'अपने आत्म स्वरूप को पहचानो, आत्मबोध करो, अपने वास्तविक स्वरूप को समझो ।'

भगवान श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार अपने आत्म-स्वरूप से करे, अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचाये क्योंकि मनुष्य की जीवात्मा ही उसका शत्रु

अथवा मित्र है अर्थात् कोई अन्य शत्रु या मित्र नहीं है, परन्तु प्रश्न इस बात का है कि आत्म-स्वरूप को कैसे जाना जाय, वहाँ तक कैसे पहुँचा जा सकता है ? इसका मार्ग महापुरुषों, ऋषियों, सन्तों ने बताया है—चेतना के शारीरिक एवं मानसिक स्तरों से ऊपर उठने का ।

उसके लिए प्रत्याहार का अवलम्बन अनिवार्य बताया गया है । आत्म-स्वरूप को जानने का, अन्दर देखने की विधि का मूल ध्यान ही है । चेतना के उच्च स्तरों तक पहुँचने का मार्ग यही है । आत्म विकास का प्रथम चरण ध्यान है । ध्यान में व्यक्ति आत्म चिन्तन करता है । अपने व्यावहारिक जीवन में आदर्श एवं सिद्धान्तों का समावेश करके आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हो जाता है । इस ध्यानयोग अभ्यास के लिए साधक को वासना, तृष्णा, अहंता के बोझ को हल्का करना होता है । स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को 'ध्यान' के द्वारा अपनी चेतना का विकास करना चाहिए । अविद्या या भवसागर से छूटने का यही मार्ग है ।

योगाभ्यास : मानसोपचार की अति महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया

प्राचीन काल में शरीर को एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला मानकर उसमें चेतना क्षेत्र को परिष्कृत करने वाले अनेकानेक प्रयोग किए जाते थे । ऋषि इसी अन्वेषण प्रक्रिया में निरत रहते थे । इसके लिए उन्हें शान्त-एकान्त वातावरण की आवश्यकता पड़ती थी । साथ ही आहार-विहार में कई तरह के परिवर्तन करके काय प्रयोगशाला की परिस्थिति ऐसी बनानी पड़ती थी, जिसमें अभीष्ट अन्वेषण सरलतापूर्वक सम्पन्न हो सके । जनसम्पर्क से चिन्तन एवं अन्वेषण में विघ्न पड़ता है । यह तथ्य आज भी प्राचीनकाल की तरह ही यथावत् बना हुआ है ।

पुरातन योगी अपना रहन-सहन भी ऐसा रखते थे, जिसमें सुदूर एकान्त में रहते हुए भी निर्वाहक्रम चलता रहे । मृग चर्म, भोज-पत्र आदि के वस्त्र, सहज उपलब्ध घास-फूँस के झोंपड़ों, लौकी जैसे कड़े छिलकों के कमण्डलु-पात्र, शीत तथा हिंस्र पशुओं से रक्षा के लिए अग्नि धूनी, वस्त्रों के अभाव में शरीर पर भस्म पोतना, स्वयं उगाये या सहज पाये कन्द शाकों का आहार, हजामत की सुविधा न रहने से केश वर्धन, स्त्री बच्चों का उत्तरदायित्व बढ़ने से एकाग्रता में अवरोध जैसे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए उन दिनों जो प्रक्रिया शोधकर्त्ताओं द्वारा अपनाई जाती थी, उसका अनुकरण करना सर्वसाधारण के लिए उन दिनों भी आवश्यक नहीं था । राजा जनक जैसे अनेक ब्रह्मवेत्ता सामान्य जीवनयापन करते और योगाभ्यास के उच्चस्तरीय प्रयोगों में निरत रहते थे । अन्वेषी वैज्ञानिकों को शोध काल में अपनी काया को प्रयोगशाला बनाने के निमित्त जो असाधारण प्रक्रिया अपनानी पड़ती है, उसे आज के सामान्य अभ्यासी भी अपनायें इसकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है । शोध विज्ञानियों की परिस्थिति दूसरी होती है और निर्धारित प्रक्रिया पूरी करते रहने वाले कारीगरों की दूसरी ।

भगवान शंकर योगेश्वर कहे जाते हैं वे सद्गृहस्थ थे । पत्नी और बच्चों समेत रहते थे । योगिराज कृष्ण का जीवन भी पारिवारिक था । वशिष्ठ के सौ पुत्र होने की कथा प्रख्यात है । सप्त ऋषियों में से सभी गृहस्थ थे और पत्नियों समेत अपनी गतिविधियाँ सुसंचालित रखते थे । विवाहित या अविवाहित रहना सामान्य जीवन में भी स्वेच्छा पर निर्भर रहता है । योग प्रयोगों के अभ्यास भी इस सम्बन्ध में अपनी सुविधा या इच्छा से निर्णय कर सकते हैं । ऐसा कोई बन्धन है कि योगाभ्यासी अविवाहित ही रहे और जो गृहस्थ हैं वे अपने परिवार का परित्याग ही कर दें । भगवान बुद्ध जैसे कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें आपत्तिकालीन आवश्यकता की संज्ञा दी जा सकती है । ऐसे तो राष्ट्र रक्षा के लिए सैनिक भी बिना घर परिवार की चिन्ता किए सर्वस्व बलिदान का साहस लेकर युद्ध मोर्चे पर जाते हैं । न तो हर सैनिक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने बाल-बच्चों से मुँह मोड़ ले और न हर योगाभ्यासी के लिए यह अनिवार्य है कि गृह-त्यागी बैरागी होकर रहे ।

मध्यकाल में विशेषतया बौद्धकाल में, गृह-त्यागी भिक्षुजनों का प्रवाह उत्पन्न हुआ था । विश्व परिष्कार के लिए उस समय उस प्रकार की सेना भरती करनी पड़ती थी जो सुदूर देशों में जाकर धर्मचक्र के प्रवर्तन में निश्चिन्ततापूर्वक संलग्न रहे । उस स्तर के लोगों

के लिए इन दिनों भी वैसे ही अनुकरण की आवश्यकता है किन्तु जिन्हें मानसोपचार एवं व्यक्तित्व के समान सम्वर्धन के लिए योगाभ्यास करना है उनके लिए उस अनुसरण की आवश्यकता नहीं जो किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, किन्हीं विशेष व्यक्तियों द्वारा, विशेष उद्देश्यों के लिए अपनाया गया था ।

आज योगाभ्यास के पूर्ण निर्धारित विधि-विधानों से लाभ उठाने भर की आवश्यकता है । ऐसी दशा में शोध कर्त्ताओं की तरह काया की प्रयोगशाला बनाने की बात सर्वसाधारण के सोचने की नहीं है, फिर भी भ्रान्तियाँ तो भ्रान्तियाँ ही हैं वे मान्यता बन जाती हैं जो जड़ जमा लेती हैं । आज कोई अभिभावक अपने बच्चों को योग सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ते या इस प्रकृति के लोगों के साथ मिलते-जुलते देखता है तो नाराजी व्यक्त करता और रोकता है । माता अपनी सन्तान को, पत्नियाँ अपने पतियों को योग चर्चा में रस लेते सहन नहीं करतीं । इसका कारण है—तथाकथित योगियों का आर्थिक परावलम्बन, उत्तरदायित्वों से पलायन—अकर्मण्य समयक्षेप तथा अनुपयोगी असामाजिक जीवनक्रम । स्वभावतः ऐसी हेय स्थिति उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया के प्रति जनसाधारण में तिरस्कार उभारना ही चाहिए । उसे अपनाने में असहमति रहनी ही चाहिए ।

इतने पर भी वस्तुस्थिति में कोई अन्तर नहीं आता । बदली छा जाने पर सूर्य कुछ डूबा हुआ प्रतीत तो होता है, पर तथ्यतः वह कुहासे में ढका भर होता है । बदली हटते ही वह अपने वास्तविक रूप में बिना किसी कठिनाई के प्रकाशवान हो उठता है । योग विज्ञान के सम्बन्ध में भी ऐसी ही बात है । वह पदार्थ विज्ञान की तरह ही अध्यात्म विज्ञान भी है । एक प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करता है दूसरा पुरुष से—चेतन से—सम्बन्धित तथ्यों को प्रकाश में लाता है । अध्यात्म विज्ञान के दो पक्ष हैं— (१) तत्व-दर्शन (२) योगाभ्यास । तत्व-दर्शन की विवेचना ब्रह्म विद्या के अन्तर्गत की गई है । इससे दृष्टिकोण का परिष्कार होता है । मान्यता, भावना, आकांक्षा, सम्वेदना एवं विचारणा को उच्चस्तरीय बनाने में ब्रह्म विद्या के तत्व-दर्शन की भूमिका ही काम करती है । संक्षेप में इसे व्यक्तित्व की उत्कृष्टता का उपचार कह सकते हैं । स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन और मनन यह चार अवलम्बन ब्रह्म विद्या को हृदयंगम कराते हैं । उपनिषदों का यही विषय है ।

अध्यात्म विज्ञान की दूसरी धारा है—योगाभ्यास । जिसे साधना विधान एवं तप उपचार भी कहते हैं । ब्रह्म विद्या भोजन है तो योगाभ्यास व्यायाम । स्वास्थ्य सम्वर्धन की प्रक्रिया अनुशासन परक है । चिकित्सा उपचार में घुसी हुई, विषाक्तता से निपटने की विधि व्यवस्था है । एक-दूसरे के पूरक होते हुए भी दोनों आत्म-निर्भर हैं । दोनों की अपनी स्वतन्त्र विधि-व्यवस्था है ।

यहाँ चर्चा योगाभ्यास की हो रही थी । इसे प्रधान रूप से मानसोपचार कह सकते हैं, यों उसमें शारीरिक अंग अवयवों को उपयुक्त कृत्यों में लगाकर आरोग्य सम्वर्धन की व्यवस्था भी बनाई जाती है । आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा आदि उपचार इसी प्रकार के हैं । प्रत्यक्षतः वे दीखते तो व्यायाम स्तर के हैं, पर तथ्यतः उनमें भी कुछ रहस्य भरी विशेषताएँ सन्निहित रहती हैं । मनःशास्त्र के उच्चस्तरीय सिद्धान्तों का समावेश तो योग साधना की प्रत्येक छोटी-बड़ी प्रक्रिया में अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । यों योग की मूल धारा मनःशास्त्र से सम्बन्धित है और उस क्षेत्र की विकृतियों का निराकरण करने के उद्देश्य से ही विकसित हुई है तो भी उसमें शारीरिक व्याधियों से छुटकारा दिलाने वाले कतिपय प्रयोग उपचार भी सम्मिलित हैं । इस प्रकार योग को एक समग्र चिकित्सा शास्त्र भी कहा जा सकता है ।

मानसिक आधियों और शारीरिक व्याधियों से छुटकारा पाने के लिए शरीर शास्त्रियों ने पिछले दिनों कितनी ही चिकित्सा पद्धतियों का विकास किया है । इनमें से ऐलीपैथी, होम्योपैथी, आयुर्वेद, यूनानी जैसी कई पद्धतियाँ प्रख्यात हैं । इन सबमें एक कमी समान रूप से है कि उनकी पहुँच शारीरिक कष्टों के शमन तक ही सीमित होकर रह जाती है । आरोग्य सम्वर्धन के लिए आहार-विहार के कई निर्धारण सामने आये हैं । कई प्रकार की अंग साधनाएँ इस प्रयोजन के लिए निकली हैं । काया-कल्प जैसे नामों से कई प्रकार के ऐसे दावे प्रस्तुत किए गए हैं जिसमें दुर्बल काया को बलिष्ठ कर दिखाने की बात कही गई है । कसौटी पर इन दावों में से अधिकांश खोटे निकले हैं । मात्र

व्याधि निवारण के क्षेत्र में शल्य क्रिया, विष दमन, प्रसुप्तीकरण के कुछ प्रयोग ही तात्कालिक राहत दिला सकने में प्रभावी सिद्ध हुए हैं । शेष उपचार तो अन्धे के हाथों बटेर पड़ने की तरह तीर-तुक्का भर हैं । यदि ऐसा न होता तो सुयोग चिकित्सक हर रोगी को निरोग बना देते । सम्पन्न व्यक्ति महँगे चिकित्सक और औषधियों के सहारे रुग्णता से सहज छुटकारा पा लेते, किन्तु ऐसी सफलता दावे के साथ प्रस्तुत कर सकने वाले कहीं कोई दृष्टिगोचर नहीं होते । यही कारण है कि मरीज एक से दूसरे, दूसरे से तीसरे चिकित्सक का दरवाजा खटखटाते और बहुत-सा धन तथा समय गवाँने पर भी निराश खाली हाथ लौटते हैं ।

यहाँ शरीर को ही सब कुछ मानने और उसमें लगे पदार्थों के सहारे हेरा-फेरी करने वाली चिकित्सा पद्धतियों पर दृष्टिपात किया गया है । प्रतिपादन का विषय किसी खण्डन में उलझना नहीं, वरन् यह है कि समग्र आरोग्य के लिए मनःतत्वों को आधार माना जाय और उसी के सहारे मानसिक तथा शारीरिक व्याधियों से छुटकारा पाने की बात सोची जाय । यह इसलिए कहा जा रहा है कि चेतना स्वतन्त्र ही नहीं समर्थ भी है । उसी के नियन्त्रण में पाँच तत्वों से बने काय कलेवर का सारा ढाँचा गतिशील रहता है । मस्तिष्क को शरीर का अवयव मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु मनःतत्व और मस्तिष्क को एक मान बैठना गलत है ।

चेतना का काया पर आधिपत्य है । उसके विलग होते ही अच्छी-खासी काया सड़ने लगती है । मस्तिष्क को चेतना का प्रधान उपकरण माना जा सकता है, पर यह मानना गलत है कि मस्तिष्क ही चेतना का आदि और अन्त है । भौतिक शास्त्र मानवी सत्ता को पंच भौतिक मानता है इसलिए उसके आरोग्य सम्बन्धी प्रतिपादन एवं उपचार भी उसी स्तर के हैं । अध्यात्म शास्त्र ने जीव सत्ता को चेतना प्रधान माना है साथ ही इसी क्षेत्र की विकृतियों को शारीरिक तथा मस्तिष्कीय व्याधियों का कारण माना है । ऐसी दशा में योगाभ्यास के आधार पर अपनाया गया मानसोपचार ठीक उसी प्रकार तर्क संगत बैठता है जैसा कि शरीर शक्तियों द्वारा प्रस्तुत औषधोपचार ।

बात यहाँ आकर अड़ती है कि मानवी सत्ता को पदार्थजन्य मानकर उसकी शारीरिक और मानसिक व्यथाओं को दूर करने में रासायनिक हेर-फेर करने वाली उपचार पद्धति को पर्याप्त माना जाय । अथवा जीवन पर चेतना का अधिकार स्वीकार करते हुए मानसोपचार पद्धति को प्रमुखता दी जाय ।

अच्छा तो यही होता कि योगाभ्यास की मानसोपचार पद्धति को शारीरिक और मानसिक व्यथाओं में प्राचीन काल की तरह प्रयोग किया जाता और दुहरा लाभ उठाया जाता, पर यदि ऐसा इन दिनों सम्भव न हो सके तो शारीरिक कष्टों में औषधि चिकित्सा और मनोरोग में योग चिकित्सा का उपचार तो हर दृष्टि से उपयुक्त हो सकता है । इन दिनों औषधि के लिए लोकमानस में गहरा अन्धविश्वासी आग्रह है । दूसरी ओर योग चिकित्सा भी परिष्कृत रूप में विकसित नहीं हो पायी है । इसलिए इस मध्यान्तर अवधि में काम चलाऊ तरीका यही अपनाया जा सकता है कि शरीरगत व्यथाओं को शरीर शास्त्री सँम्भालें और मनोरोगों के क्षेत्र में मानसोपचार पद्धति अपनाकर योगाभ्यास द्वारा सँम्भालने का प्रयत्न किया जाय ।

वर्तमान परिस्थितियों में योगाभ्यास को मानसोपचार के रूप में लिया जाय और उसे क्षेत्र में विकसित किया जाय तो इतने भर से इतना बड़ा प्रयोजन पूरा हो सकता है, जो सिद्धि चमत्कार ढूँढ़ने, स्वर्ग मुक्ति की उड़ानें-उड़ने तथा देवी-देवताओं को वशवर्ती करने जैसी प्रचलित मान्यताओं के सही सिद्ध न होने पर भी विश्व मानव के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध हो सके । योगाभ्यास का मानसोपचार पक्ष इतना वास्तविक और इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसे अपनाकर उस अभाव की पूर्ति हो सकती है जिसे कर सकने में आज का चिकित्सा विज्ञान असफल रह रहा है । मनोविकारों का शमन, मनःशक्तियों का जागरण, मनोबल का सम्वर्धन मानवी प्रगति और सुख शान्ति का महत्त्वपूर्ण अंग है । इस प्रयोजन में निःसन्देह योगाभ्यास के मानसोपचार पक्ष की महती भूमिका हो सकती है ।

आधुनिक विज्ञान इस जगत को पदार्थ सत्ता भर मानता है । चेतना को पदार्थ का ही एक गुण कहता है । इस मान्यता का आधार मानवी सत्ता का स्वरूप शरीर मात्र रह जाता है । वे मन का स्वतन्त्र अस्तित्व

नहीं मानते । अतएव उसकी व्याधियों को भी शरीर के अन्तर्गत ही गिनते हैं और ऐसी कठिनाइयों के लिए मस्तिष्क अवयव में किसी विकृति का अनुमान लगा कर उसी के स्थानीय उपचार का प्रयास करते हैं । इस प्रयास में कितनी सफलता मिली यह कहना कठिन है।

मस्तिष्क को प्रभावित करने वाले रसायनों में प्रायः सुन्न या उत्तेजित करने की क्षमता पायी जाती है । इससे किसी मनोरोग से ग्रसित व्यक्ति को संज्ञा शून्य या अनुभूतियों से शिथिल बनाकर ऐसी स्थिति में ले जाया जाता है जिसमें उसे व्यथा की अनुभूति न हो । यह सामयिक उपाय हुआ, उपचार नहीं । उपचार तब होता जब रोग के मूल कारण को समझा जाता और उद्‌गम स्थान को उलट-पुलट करना सम्भव होता । यदि शरीर ही सब कुछ माना जाय और मनोरोगों के लिए मस्तिष्क अवयव के किसी स्थान पर कोई गड़बड़ी होना माना जाय तो फिर उसका एक ही उपाय है कि मस्तिष्कीय संरचना और उसकी क्रिया पद्धति का समग्र ज्ञान उपलब्ध किया जाय । साथ ही ऐसा उपाय भी खोजा जाय जिससे निशाना ठीक जगह पर लगे ।

मस्तिष्क एक समुद्र है । उसकी विशालता और विचित्रता ऐसी है जिसे थोड़ी गहराई में उतरकर देखने से बुद्धि हतप्रभ रह जाती है । वहाँ के अत्यन्त सूक्ष्म घटक अपनी रहस्यमयी विशेषताओं को भी सीमित नहीं रखते वरन् एक-दूसरे के साथ गुँथते, उलझते ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसका विश्लेषण अत्यधिक कठिन हो जाता है और यह खोज निकालना सम्भव नहीं रहता कि किस मनोरोग का उद्‌गम केन्द्र किन घटकों में निर्धारित किया जाय और उन्हें प्रभावित करने के लिए किस उपाय का अवलम्बन किया जाय ।

औषधियों का प्रभाव पाचन तन्त्र एवं रक्त संस्थान के माध्यम से होता है और वह प्रायः किसी स्थान विशेष तक सीमित न रहकर समस्त शरीर पर समान प्रभाव उत्पन्न करता है । यह बात दूसरी है कि कोई स्थान उससे अधिक प्रभावित हो, कोई कम । शरीर के रक्त, माँस प्रधान अवयवों में तो किसी प्रकार यह उपाय काम दे जाता है, पर मस्तिष्कीय विचित्र संरचना को देखते हुए यह निर्णय करना सम्भव नहीं होता कि मस्तिष्क के किन घटकों को किस मनोरोग के लिए दोषी ठहराया जाय और उसे सुधारने के लिए किस उपाय का अवलम्बन लिया जाय । ऐसी दशा में औषधि उपचार का जो थोड़ा बहुत प्रभाव शरीर के अन्य अवयवों पर होता है वह भी मस्तिष्कीय संरचना की जटिलता को देखते हुए सम्भव नहीं हो पाता । शल्य क्रिया इस क्षेत्र की और भी जटिल है । चमड़ी की परत चीरकर माँसपेशियों का कतरव्योंत कर लेना एक बात है और मस्तिष्क के ऊपर चढ़े हुए अस्थि कवच को वेध कर भीतर अन्धकूप में निशाना लगाना दूसरी । अन्धकूप इसलिए कहा गया है कि वहाँ दाँत, जीभ, कण्ठ, होठ की तरह अपना-अपना स्थान एवं कार्य निर्धारित नहीं है वरन् सब कुछ नितान्त उलझा हुआ है । वहाँ घटकों के परस्पर गुँथे होने की जटिलता को देखते हुए यह निर्णय करना सम्भव नहीं रहता कि पेचेदगी की जिम्मेदारी किस केन्द्र को सौंपी जाय । ऐसी दशा में अन्धेरे में ढेला फेंकना युक्ति संगत नहीं रह जाता । मस्तिष्कीय शल्य क्रिया में अभी तक अर्बुदों को काट निकालने जैसे प्रत्यक्ष प्रयोजनों में ही एक सीमा तक सफल होती रही है । व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले मनोविकारों, सनकों, मूढ़ताओं को प्रभावित करने वाले मानसिक रोग शरीर शास्त्रियों की पकड़ से बाहर ही बने हुए हैं । यहाँ तक कि अपस्मार जैसे प्रत्यक्ष लक्षणों वाली व्यथा तक की रोकथाम सम्भव नहीं हो पाती ।

मस्तिष्कीय विद्या का यथासम्भव विस्तार हुआ है और क्षेत्र की खोजों में एक सीमा तक सफलता भी मिली है । पर समस्या को देखते हुए इस उपलब्धि को समुद्र तट पर बैठे हुए बालक द्वारा सीप, घोंघे बीनने जैसा ही नगण्य है । उतने भर से मनोरोगों के निराकरण में सफलता मिलना तो दूर वैसी सम्भावना तक नहीं दीखती और आशा तक नहीं बँधती । लंका के निकट समुद्र पर पुल बाँधे जाने की कथा कम से कम पुराणों में तो मौजूद है । मस्तिष्कीय संरचना के रहस्य तिलस्म को देखते हुए उसका स्वरूप एवं क्रिया-कलाप तक समझना कठिन हो रहा है । ऐसी दशा में उपचार की बात कैसे सोची जाय । पागलखानों में अनियन्त्रित विक्षिप्तों को ही प्रवेश मिलता है । उनका उपचार भी होता है, पर सफलता का दावा इतना ही किया जा सकता है कि उपद्रव से बचने के लिए बन्दीगृह जैसी स्थिति बन गई । उनमें से उपचार

कितनों पर, किस सीमा तक सफल हुआ इसका निष्कर्ष देखने पर निराशा ही हाथ लगती है ।

इस निराशा की गम्भीरता को समझा जाना चाहिए । मस्तिष्कीय चीर-फाड़, सूची वेधन या औषधि उपचार से फैले हुए मनोविकारों के समाधान का प्रयास करने वाले अपनी सफलता के लिए स्वयं आश्वस्त नहीं हैं । विश्वास और उत्साह के अभाव में गम्भीर प्रयत्न भी तो नहीं बन पड़ते । अब तक की शोधें, भटकने जैसे ही परिणाम सामने लायी हैं । अन्य अवयवों की तरह मस्तिष्कीय संरचना एवं क्रिया पद्धति न तो प्रत्यक्ष है न सरल । जटिलता की गहराई में प्रवेश करने वालों को कुछ हाथ लगना तो दूर अधिकाधिक पेचीदारियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं । बुद्धि और साधनों की ससीमता इस क्षेत्र में अधिक आगे बढ़ने के लिए उत्साह तक उत्पन्न नहीं होने देती । इतना बन पड़े तभी तो प्रयत्न आगे बढ़े ।

शरीर रोग प्रत्यक्ष पकड़ में आते हैं और पीड़ित स्थान की उखाड़-पछाड़ भी किसी कदर सम्भव हो जाती है, अस्तु शरीर विज्ञानियों का चिकित्सा अन्वेषण एवं निर्धारण में उत्साह बना हुआ है और प्रयास चल रहा है किन्तु मानसिक रोगों के सम्बन्ध में वैसी स्थिति नहीं है । एक तो वे अप्रत्यक्ष होने के कारण ऐसे ही पकड़ में नहीं आते दूसरे उन्हें भाग्य दोष मान बैठने के अतिरिक्त कोई कारगर उपाय भी सामने नहीं है ।

सच तो यह है कि शरीर रोगों की तुलना में मनोरोगों का क्षेत्र अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा है और उनके कारण हानि भी अपेक्षाकृत अधिक उठानी पड़ती है । गणना विक्षिप्तों की ही सम्भव है । उन्मादियों को ही मनोरोग ग्रसित माना जाता है और उन्हीं पर दृष्टि जाती है । यह संख्या भी चौंकाने वाली है । फैले हुए भयंकर रोगों में उन्माद को भी प्रमुख स्थान प्राप्त है । अन्य रोगों के रोगी प्रायः स्वयं ही कष्ट उठाते हैं । दूसरों पर तो परिचर्या एवं चिकित्सा का ही भार डालते हैं किन्तु उन्मादियों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है वे साथियों के सदा आशंका, भय, चिन्ता एवं विपत्ति के विषय बने रहते हैं । इस स्थिति में उनके रहते दूसरे लोग भी विशेषतया कुटुम्बी लोग अपना साधारण काम-काज भी निश्चिन्ततापूर्वक कर नहीं पाते । सभी जानते हैं कि उन्मादी अपने लिए और दूसरों के लिए एक समस्या बन कर रहते हैं ।

उन्मादियों को बन्दीग्रह में डालने जैसा खर्चीला उपाय भी सोचा जा सकता है, पर उन अर्ध विक्षिप्तों के लिए क्या किया जाय जो प्रत्यक्षतः तो भले-चंगे दीखते हैं, पर अपनी विचित्र सनकों एवं हरकतों से स्वयं हैरान रहते और दूसरों को हैरान करते रहते हैं । ऐसे लोगों को न चैन मिलता न उत्साह रहता है । खीजते और खिजाते रहने वाले व्यक्ति प्रगति पथ पर तनिक भी आगे बढ़ नहीं पाते । जिनके साथ वे जुड़ गए हैं वे किसी प्रकार उनका भार वहन तो करते हैं, पर साथी होने का न लाभ ले पाते हैं न आनन्द । ऐसे अनगढ़ व्यक्तित्वों को आर्थिक दृष्टि से दरिद्र और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े लोगों से भी गया-गुजरा समझा जाता है । निर्धन लोग भी हँसते-हँसाते, चैन, सन्तोष की हल्की-फुल्की जिन्दगी जी लेते हैं, पर इन अभागे सनकियों के भाग्य में तो इतना भी नहीं होता । शिक्षा और सम्पन्नता रहते हुए भी यह सनकी लोग उन उपलब्धियों के आनन्द से वंचित ही बने रहते हैं ।

दरिद्रता, रुग्णता और अशिक्षा के अभिशापों को सभी समझते हैं और उन्हें दूर करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न भी चलते हैं । पर इन तीनों के संयुक्त दुष्परिणाम जितने हो सकते हैं उसमें भी अधिक उन मनोरोगों से होते हैं जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होते हुए भी भीतर ही भीतर घुन की तरह सब कुछ खोखला करते रहते हैं । वैयक्तिक प्रगति और सामाजिक समृद्धि की दृष्टि से यह मानसिक पिछड़ापन किसी भंयकर संकट से कम कष्टप्रद नहीं है । प्रत्यक्ष चर्म चक्षुओं से न दीख पड़ने के कारण मानसिक रुग्णता की उपेक्षा तो होती रहती है, पर उसकी हानियों से बच सकना सम्भव नहीं । मानसिक पिछड़ेपन के रहते सच्चे अर्थों में पिछड़ापन माना जाना चाहिए । इसी अन्तर के कारण तो मनुष्य एवं अन्य प्राणियों के बीच स्तरीय विभाजन रेखा खिंची है । अन्यथा कितने ही प्राणी अपेक्षाकृत कहीं अधिक समर्थ पाये जाते हैं । मानसिक रुग्णता प्रकारान्तर से व्यक्तित्व की दुर्बलता ही मानी जायेगी और उसके रहते कोई व्यक्ति या समाज समुन्नत कहलाने का

अधिकारी नहीं बन सकता । भले ही वह साधनों की दृष्टि से कितना ही समृद्ध क्यों न हो ।

बढ़ते हुए मनोविकारों को प्रस्तुत संकटों में सबसे बड़ा माना जाना चाहिए । इस दृष्टि से पिछड़े लोगों का समुदाय गणना में कितना ही विस्तृत क्यों न हो, उसका वैभव कितना ही बड़ा क्यों न हो ? वस्तुतः उसे दरिद्र, निर्बल एवं अभिशप्त ही माना जायेगा । जो लोग स्वयं अपने लिए भारभूत हो रहे हैं वे समाज को समुन्नत बनाने में क्या योगदान दे सकते हैं ?

मानसिक दुर्बलता एवं रुग्णता का इस प्रगति युग में भी बढ़ते जाना वस्तुतः गम्भीर चिन्ता का विषय है । उससे भी अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि इसे समस्या के रूप में नहीं समझा गया और उसके समाधान के लिए गम्भीरतापूर्वक विचार तक नहीं किया गया । उपाय तो इसके बाद ही निकल सकता है ।

प्रश्न यह है कि इसका समाधान कोई है भी या नहीं ? इसके उत्तर में दोनों ही बातें कही जा सकती हैं । 'हाँ भी और नहीं भी' । 'नहीं' इस अर्थों में मन को शरीर का अंग मान लेने पर काम उपचार के अन्तर्गत मानसिक पिछड़ेपन को दूर कर सकना सम्भव नहीं है । जैसा कि एक के बाद एक वैज्ञानिक निष्कर्षों से प्रकट होता चला जा रहा है । 'हाँ' इस अर्थ में कि मन को चेतना का प्रतिनिधि माना जाय । शरीर का अंग नहीं, वरन् उसका स्वतन्त्र सूत्र संचालक । इतनी पृष्ठभूमि बन जाने पर मनोविश्लेषण और उपचार विधान का मार्ग नितान्त सरल हो जाता है और उन उपाय अवलम्बनों का प्रयोग हो सकता है, जिनका चिरकाल तक परीक्षण होता रहा है ।

'योग विज्ञान' वह विज्ञान है—जो मानवी काया में विद्यमान चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व है और उसे उसी स्तर के उपचारों से प्रभावित—परिष्कृत करने के लिए साधना विधान की उपयोगिता स्वीकार करता है । योग शब्द इन दिनों डरावना इसलिए बन गया है कि उसके प्रयोक्ता असामान्य और असामाजिक जीवन-क्रम अपनाकर चलते दीखते हैं । सामान्य बुद्धि सोचती है इस पद्धति को अपनाने पर तो लोक प्रवाह से कटकर अलग-थलग रहना पड़ेगा और सहज जीवनचर्या से विरत होना पड़ेगा । इस शर्त पर 'योगी' बनना किसी को स्वीकार नहीं । यही कारण है योग की चर्चा तो आकर्षक लगती है, पर उस मार्ग पर चलने की हिम्मत पड़ना तो दूर इच्छा तक नहीं होती । यही कारण है कि योगाभ्यास जन-जीवन से दूर हटता चला गया और इस महान विज्ञान के लाभ से जन-साधारण को वंचित रहना पड़ा । तथ्यों को समझा या समझाया जा सके तो शरीर पोषण एवं उपचार को जिस प्रकार आवश्यक समझा जाता है उसी प्रकार मानसोपचार जैसी महान उपलब्धि के लिए, योगाभ्यास के लिए जन-जीवन में उत्साह उत्पन्न किया जा सकना । वस्तुतः 'योग' ऐसा मानसोपचार है जो शरीर और अन्तःकरण की सिद्धियाँ भी मानसिक आरोग्य के साथ-साथ ही उत्पन्न करता चलता है ।

तनाव की रामबाण चिकित्सा योग साधना

अपच और कुपोषण के कारण उत्पन्न होने वाले रोगों का इन दिनों जितना दौर है, उससे कहीं अधिक विपत्ति तनावजन्य रोगों की है । आरोग्य क्षेत्र भी अब क्रमशः दो विभागों में विभक्त होता जाता है । एक पिछड़ा दूसरा विकसित है । पिछड़े लोग जहाँ अभावजन्य कठिनाइयों से सम्बन्धित रोगों के शिकार होते हैं । वहाँ विकसित लोग शिक्षा एवं सम्पन्नता का दुरपयोग करने के कारण मानसिक विक्षोभ से, तनाव से ग्रसित होते चले जाते हैं । नशेबाजी, विलासिता, आपाधापी, शेखीखोरी और अनुदारता जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ एक प्रकार से सरल जीवन के साथ विद्रोह है । उच्छृंखलता सो उच्छृंखलता । एक के बाद दूसरी का तारतम्य जुड़ा रहता है और पतनोन्मुखी आदतें न केवल व्यवहार पर वरन् चिन्तन पर भी आच्छादित होती चली जाती हैं । फलस्वरूप शरीर और मन दोनों की शक्तियों का अन्धाधुन्ध अपव्यय होता है और दोनों क्षेत्रों पर छाई रहने वाली उत्तेजना अन्ततः चित्र-विचित्र रोगों के रूप में फूटती है ।

यह व्यथा विकसितों को—सम्पन्न एवं शिक्षितों को अधिक घेरती है । इस तरह पिछड़े लोग अपने ढंग से और प्रगतिशील अपने ढंग से रोगों से ग्रसित होते चले जा रहे हैं । आर्थिक और बौद्धिक आधार पर पनपते हुए वर्ण भेद ने अब रुग्णता के क्षेत्र में

भी अपनी विभाजन रेखा खींचनी आरम्भ कर दी है । 'तनाव' समृद्धों के हिस्से में आया है । दुर्भाग्य है उसकी शाखा, प्रशाखाएँ और जटिलताएँ अभावजन्य रोगों से कहीं अधिक हैं । इस प्रकार अपेक्षाकृत अधिक घाटे में तथाकथित समृद्ध लोगों को ही अधिक रहना पड़ रहा है ।

जीवन-यापन की विकृत शैली अपनाकर ही इन दिनों नये किस्म की ऐसी व्यथाओं से घिरते जा रहे हैं जो न अभावजन्य हैं और न विषाणुओं का आक्रमण । पिछले दिनों वैज्ञानिक, बौद्धिक और आर्थिक प्रगति उतनी नहीं थी जितनी इन दिनों है । इतने पर भी पूर्वज हल्की-फुल्की जिन्दगी जीने के अभ्यस्त थे और चिन्ताओं, भ्रान्तियों से कुत्साओं-कुण्ठाओं से उतने नहीं घिरे रहते थे, जितने कि आज के तथाकथित 'सभ्य' मनुष्य । विकास की एक सीढ़ी यह भी मानी जा सकती है कि मनुष्य अनुदारता और उच्छृंखलता की दिशा में तेजी से बढ़ता, भागता चला जा रहा है । नई परिस्थितियों में नये किस्म के ऐसे रोग उत्पन्न हो रहे हैं जिनका प्रस्तुत चिकित्सा ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता और चिकित्सकों को अनुमान के आधार पर इलाज का तीर-तुक्का बिठाना पड़ता है ।

इन परिस्थितियों में तनावजन्य रोगों से निपटने के लिए योगाभ्यास की प्रक्रिया अधिक कारगर सिद्ध हो रही है जो कार्य औषधि उपचार से नहीं बन पड़ रहा था वह इन प्रयोगों से सरलतापूर्वक होते देखा गया है । मानसोपचार की दृष्टि से ध्यान, धारणा और प्रत्याहार की त्रिविध प्रक्रिया बहुत ही कारगर सिद्ध हो रही है । यदि उस ओर अधिक ध्यान दिया जा सके और इस क्षेत्र में शोध प्रयासों को बढ़ाया जा सके तो ऐसे सूत्र हाथ लगने की पूरी सम्भावना है जो मानसिक तनाव का सामयिक उपचार ही न करें, वरन् उत्पन्न होने से पहले ही रोकथाम करने में कारगर सिद्ध हो सकें । मानसिक तनाव को ध्यान द्वारा और शारीरिक तनाव को शवासन, प्राणाकर्षण जैसे कृत्य अभ्यासों से नियन्त्रित किया जा सकता है ।

वर्तमान समय में ५० प्रतिशत से अधिक रोगी तनाव की प्रतिक्रिया स्वरूप रोगग्रस्त पाये गए हैं । चिकित्सकों एवं मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि लगातार सिर-दर्द, चक्कर आना, आँखों में सुर्खी आना, काम में मन न लगना और लकवा आदि जैसे रोगों का आक्रमण हो जाना ये सभी अत्यधिक तनाव के ही दुष्परिणाम हैं । ऐसे लोग प्रायः रोगों की उत्पत्ति के लिए कभी मौसम को, कभी आहार को, कभी दूसरों को, कभी परिस्थितियों आदि को दोष देते हैं । अधिक तनाव शरीर व मन दोनों के लिए हानिकारक है ।

स्नायुविक तनाव-विशेषज्ञ डॉ. एडमण्ड जैकबसन का कहना है कि हृदय रोग, रक्तचाप की अधिकता, अल्सर, कोलाइटिस आदि सामान्यतः दिखाई देने वाले रोग प्रकारान्तर से तनाव के ही कारण उत्पन्न होते हैं । स्नायु दौर्बल्य, अनिद्रा, चिन्ता, खिन्नता आदि अनेक रोग तनाव के फलस्वरूप ही पैदा होते हैं ।

न्यूयार्क के एक हृदय-रोग विशेषज्ञ ने बताया है कि दूसरों पर दोषारोपण करने वाले, अत्यधिक भावुक एवं जल्दबाजी करने वाले लोग तनाव के अधिक शिकार होते हैं । मनोवैज्ञानिकों एवं अध्यात्मवेत्ताओं का कहना है कि तनाव की अधिकता मनुष्य की विचारधारा के कारण होती है । निषेधात्मक, निराशावादी, संशयात्मक चिन्तन दृष्टिकोण आदमी में तनाव की सृष्टि करते हैं और तनाव से मुक्ति व्यक्ति स्वयं ही पा सकता है ।

'लाइफ एक्सटेंशन फाउण्डेशन' नामक संस्था के संचालकों ने पता लगाया कि व्यक्तियों में निराशा, असफलता, हार की भावना, निर्णय करने में द्विधा की स्थिति एवं चिन्ता आदि ही तनाव को जन्म देती है, एक कम्पनी के मेडीकल डायरेक्टर ने एक बार देखा कि उच्च पद आसीन लोग उत्तेजना की स्थिति में हैं । एक दिन कम्पनी के प्रेसीडेन्ट ने आकर उनको थका-थका सा तनावग्रस्त देखा तो मेडीकल डायरेक्टर के सुझावानुसार उन्हें तनाव कम करने के लिए छुट्टियाँ लेकर विश्राम करने हेतु कहा गया । कुछ दिनों बाद जब वे लोग विश्राम करके आये तो परीक्षण करने पर पहले से अधिक शान्त, प्रसन्न पाये गए । खूब मन लगाकर काम करने लगे । कम समय में अधिक काम किया जाने लगा । अधिक जिम्मेदारीपूर्ण कार्य सरलतापूर्वक करने में सक्षम हो गए ।

सामान्यतः घरों में तनाव का कारण पति-पत्नी का आपसी तालमेल न बैठ पाना होता है । पत्नियाँ, पतियों को उकसाती, उत्तेजित करती हैं और पति-पत्नियों को रसोई आदि के कार्यों के लिए तंग

करते हैं । परस्पर सन्तुलन न हो पाने से दोनों तनाव से ग्रसित हो जाते हैं, इसका दुष्परिणाम यह होता है कि माता-पिता के बीच अनबन कलह देखकर बच्चे भी तनाव से आक्रान्त हो जाते हैं फलतः पूरा घर ही नरक बन जाता है । इस नरक से त्राण पाने का रास्ता एक ही है कि परस्पर में सामंजस्य बैठाया जाय । प्रेम-आत्मीयता, सद्भावना, सहयोग आदि से वही परिवार स्वर्गीय आनन्द का उपवन बन सकता है जो जरा-से मतभेद एवं नासमझी के कारण नरक बन गया था । रहन-सहन में नियमितता लाने से, परस्पर स्नेह-सद्भाव से तनाव की बीमारी से मुक्ति मिल सकती है ।

तनाव से मुक्त रहने के लिए सूक्ष्मदर्शियों ने यही कहा है कि अपनी क्षमता भर अच्छे से अच्छा काम करें । इसमे बाहरी सहायता या मार्ग-दर्शन कुछ विशेष कारगर सिद्ध नहीं होता । अपने द्वारा उत्पन्न किए तनाव को कोई दूसरा दूर कैसे कर सकता है ? तनाव को व्यक्ति स्वयं ही नियन्त्रित एवं दूर कर सकता है । दूसरों का मार्ग-दर्शन थोड़ा बहुत उपयोगी हो सकता है । स्वाध्याय के द्वारा यह सहज ही पता चल जाता है कि निरर्थक एवं महत्त्वहीन बातों को अधिक तूल दे दिया गया है और अकारण ही तनाव को आमन्त्रित कर लिया गया है । वस्तुतः वह झाड़ी के भूत की कल्पना मात्र थी । अपने को तनावग्रस्त न होने देने के लिए दृढ़ निश्चय, लगन एवं सतत निष्ठापूर्वक सद्कार्यों में नियोजित किए रहना ही सर्वोत्तम उपाय है । सदा सहनशीलता से काम लिया जाय, भविष्य के भय से भयभीत न हुआ जाय, वास्तविकता को दृष्टिगत रखा जाय, काल्पनिक बाधा या आशंका को स्थान न दिया जाय । वर्तमान में सामने आये काम को पूरी तत्परता से सम्पन्न किया जाय । उसी के सम्बन्ध में सोचा जाय, आशावान रहा जाय । ऐसा करने से स्वयं ही अपने भीतर इस प्रकार की शक्ति का अनुभव होगा जो समस्याओं को सुलझाने में सहायक होगी ।

ब्लड प्रेसर (हृदय रोग) दिल का दौरा अब मध्यम वर्ग के लोगों में भी पनप रहा है । उसका मूल कारण है कि लोग अधिक आराम का जीवन जीना चाहते हैं । परिश्रम से बचना चाहते हैं । आमदनी से अधिक खर्चे बढ़ाकर अधिक से अधिक चिन्ताओं का घेरा मकड़ी के जाल की तरह बुन लेते हैं ।

मनोवैज्ञानिक भी यही कहते हैं कि हृदय रोग का कारण अज्ञात भय, चिन्ता जो अन्तर्मन में व्याप्त हो जाती है । नतीजा यह होता है कि मनुष्य की स्वाभाविक खुशी, प्रफुल्लता छिन जाती है ।

इससे रक्तवाहिनी नसें थक जाती हैं । कभी-कभी फट भी जाती हैं, परिणाम मस्तिष्क में लक्वा भी हो जाता है । अधिक दुःख में रक्त का दौरा बढ़ भी जाता है और शक्कर देने वाली क्लोम ग्रन्थियाँ भी खाली हो जाती हैं और क्लोम रस मिलना बन्द हो जाता है । यह ग्रन्थि प्रसन्नता के अभाव में कार्य करना बन्द कर देती है और क्लोम रस देना भी बन्द कर देती है । क्लोम रस न मिलने से शर्करा स्वतन्त्र हो जाती है, और मूत्र के साथ बहने लगती है । इसी को मधुमेह कहते हैं । मधुमेह रोने, पछताने, शोक करने से भी हो जाता है ।

कैन्सर रोग पर हुए अनुसन्धानों से यह प्रकाश में आया है कि जब व्यक्ति का आहार, आचरण एवं व्यवहार दूषित तत्वों से भर जाता है, उसका जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, वह तम्बाकू, शराब आदि विषैली चीजों के चंगुल में अपने को फँसा लेता है तो इस रोग का आरम्भ हो जाता है ।

अमेरिका के 'मार्थ वेस्ट रिसर्च फाउण्डेशन' के प्रमुख अनुसंधानकर्त्ता डॉ. वेर्नानरिले ने अपने प्रयोगों से पता लगाया है कि मनुष्य के जीवन में भय, तनाव व अत्यधिक चिन्ता इस रोग के प्रमुख कारण हैं ।

अमेरिका के ही एक अन्य रिसर्च केन्द्र 'हिलिंग आर्ट्स सेण्टर' ने कैन्सर रोग का प्रमुख कारण मन माना है । असफलता, पराजय, निराशा, भय, परेशानी, चिन्ता, असन्तोष, वासना आदि से ग्रसित व्यक्ति बहुत जल्दी ही इस रोग से आक्रान्त हो जाता है ।

सन् १९५० में प्रसिद्ध मनोचिकित्सक श्री आरेन्स ली शान ने कैंसर से पीड़ित व्यक्तियों के सामान्य लक्षणों को बताया है । उन्होंने इसके कारण भावनात्मक असन्तोष, निराशा, असफलता, हार, अशान्ति आदि बताये हैं ।

कैरोलीन बीड थॉम्स ने १९४६ से १९६४ तक १८ वर्षों में इस सन्दर्भ में किए गए प्रयोगों से निष्कर्ष निकाला है कि जो लोग चिन्ता, क्रोध, भय और तनाव

से त्रस्त रहते हैं एवं जीवन में भावनाओं एवं वासनाओं की सन्तुष्टि नहीं कर पाते, अधिकांश वे ही लोग इस रोग से ग्रस्त होते देखे गए हैं ।

'टेक्साज हेल्थ साइंस सेन्टर' की यूनीवर्सिटी के डॉ. जैनी एक्टर बर्ग ने भी कैन्सर का मुख्य कारण मानसिक तनावों को ही बताया है । उन्होंने इस रोग से त्राण पाने के लिए सर्वोत्तम उपाय रोगी की आत्मशक्ति का सम्वर्द्धन बताया है ।

मेक्सिको के डॉक्टर अरनेस्टो कन्ट्रैराख ने बताया है कि इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था में आहार-विहार सम्बन्धी सुधार किया जाय, बुरी आदतों को ठीक किया जाय, प्रेम, सुख व शान्ति की वृद्धि की जाय तो कैन्सर से मुक्ति पायी जा सकती है । उन्होंने इस चिकित्सा पद्धति को 'लेट्राइल चिकित्सा-प्रणाली' का नाम दिया ।

'सभ्य' कहलाने वाले पश्चिमी राष्ट्रों में लोग टाइपरटेंशन, कैंसर, कारोनरी, अथेरोस्कलेरौसिस आदि ऐसे रोगों की संख्या में दिन दूनी व रात चौगुनी की दर से हो रही वृद्धि चिन्ता का मुख्य विषय है । मोटापा, मधुमेह, पेप्टिक, अल्सर, कोलाइटिस, आर्थराइटिस, दमा आदि ऐसे रोग हैं जिनका मूल कारण विकृत मानसिक स्थिति और उसका स्वरूप ही है । विश्व के सभी बड़े-बड़े चिकित्सा शास्त्री व मनोरोग विशेषज्ञ इस बात को मानने लगे हैं कि ७५ प्रतिशत रंगों का मूल कारण उद्वेगजन्य मनःस्थिति ही है ।

'इन्स्टीट्यूट ऑफ मेडीकल साइन्स' वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ. के. एन. उडुपा ने उद्वेगजन्य रोगों के कारणों व उनके निदान पर गहन अध्यन के पश्चात इस प्रकार के रोगों को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया है ।

(१) **शारीरिक अवस्था**—जब किसी व्यक्ति को मनोरोग होता है तो उस दशा में उसके किसी अंग विशेष पर विशेष प्रकार की क्रियाशीलता देखी जा सकती है । इस दशा के लिए उसके वातावरण एवं उसकी पैतृक रूप से विरासत में प्राप्त गुण जिम्मेदार होते हैं । किसी में अक्ल की वृद्धि तो किसी के हृदय की धड़कन में वृद्धि के रूप में देखा जा सकता है । इस दशा का निर्धारण रक्त में कासकालायाइन्स एड्रेनलिन और नार एड्रेनलिन की वृद्धि की जाँचकर किया जा सकता है ।

(२) **मनोदशा**—इस स्थिति में व्यक्ति के मन में एक तीव्र आघात होता है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के स्वभाव में उद्विग्नता व चिड़चिड़ापन आ जाता है । किसी भी प्रकार की बात उसके लिए उद्विग्नता का कारण बन जाती है । बार-बार नींद का टूटना व सिहरन व कँपकपी आदि प्रकार के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । इस स्थिति की जानकारी रक्त में न्यूरोट्रांसमीटर एसेटिलक्लोरिन के स्तर की नापकर लगाई जा सकती है ।

(३) **शारीरिक अंगों की दशा**—इस स्थिति में आते-आते रोगी के शारीरिक व मानसिक लक्षणों की सक्रियता तो कम होती जाती है किन्तु धीरे-धीरे सम्बन्धित अंगों में स्थायी रूप से उसका प्रभाव पड़ने लगता है जैसे दाह, कमजोरी आदि के साथ-साथ पेप्टिक अल्सर, कारोनरी, इन्सफिसिशेनर्स, ब्राकियल, अस्थमा आदि रोगों के लक्षण स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगते हैं ।

डॉ. उडुपा ने इस सम्बन्ध में गहन अध्ययन के बाद निष्कर्ष निकाला है कि आसन प्राणायाम के साथ-साथ ध्यान धारणा व शिथिलीकरण के अभ्यास विशेष लाभकारी हुए हैं । जप और ध्यान का मनोरोगों को दूर करने में विशेष महत्त्व सिद्ध करते हुए पाश्चात्य वैज्ञानिक बुजत्ती और राइडरर ने अपने संयुक्त शोध प्रयासों से स्नायु प्रणाली के स्राव व न्यूरोट्रांसमीटर की जाँच के बाद यह सिद्ध कर दिया कि दो वर्ष से जप कर रहे ११ व्यक्तियों में मानसिक तनाव व तनावजनित रोग लगभग न्यून हो गए, जबकि १३ बिना जप कर रहे व्यक्तियों पर जब प्रयोग करके देखा गया तो पाया कि उनमें मानसिक तनाव व उससे उत्पन्न होने वाले रोगों में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई थी ।

अध्यात्म प्रयोगों की वैज्ञानिक साक्षी एवं ब्रह्मवर्चस के प्रयास

प्रामाणिकता हर क्षेत्र में अनिवार्य है । साधना विज्ञान पर भी वही सिद्धान्त लागू होता है जो भौतिकी के विभिन्न पक्षों में प्रयुक्त होता है । साधक की आत्मिक प्रगति का क्रम क्या रहा, क्या-क्या परिवर्तन उसके अन्तरंग व बहिरंग में हुए, इसकी प्रत्यक्ष जानकारी हर

बुद्धिजीवी चाहता है । उसे मात्र आप्त वचनों—शास्त्र वाक्यों पर विश्वास नहीं । अन्वेषण बुद्धि वाले हर असामान्य तथा दिन भर की कमाई—पेट भरने तक सीमित रहने वाले साधारण व्यक्ति तक को फलश्रुति पर ही विश्वास होता है एवं उसकी धारणा किसी भी तथ्य के विषय में तब ही सशक्त बन पाती है ।

व्यक्ति यदि उत्साहित, आशान्वित, विश्वासी हो तो थोड़ी-सी सफलता भी बड़ी लगने लगती है और यदि निराशाग्रस्त-दीन-दुःखी प्रकृति का हो तो बड़ी सफलता भी अकिंचन-सी लगती है । सही जानकारी अनुमान के आधार पर नहीं लगाई जा सकती । उस कठिनाई का समाधान कल्पना बुद्धि नहीं, विज्ञान के सशक्त आधार-उपकरण, प्रमाण, तथ्य एवं तर्क ही कर सकते हैं । इन्हीं आधारों पर साधक की मनःस्थिति, परिस्थिति बताई जा सकती है तथा साधना उपचारों की प्रतिक्रिया पर विवेचना भी की जा सकती है ।

अध्यात्म अनुशासन आज की परिस्थिति में तर्क की पैरवी माँगते हैं । कुशल वकील अपनी दलीलों से फैसले को विरोधी पक्ष में जाने से बचा ले जाते हैं । प्रयोग की प्रत्यक्ष रिपोर्टों तथा प्रमाण—गणनादि के आधार पर चिकित्सक गण रोग का निदान व विकृति का समाधान बता देते हैं । क्रिया की प्रतिक्रिया यदि तर्क व प्रयोगों के आधार पर प्रतिपादित कर दी जाय तो कोई संशय नहीं कि बुद्धिवादी जनमानस अध्यात्म प्रयोगों की उपयोगिता मानने को तैयार न हो ।

ब्रह्मवर्चस के शोध विशेषज्ञों ने साधना विधानों की वैज्ञानिकता को प्रयोगशाला स्तर पर प्रमाणों द्वारा तथा साहित्य के विशद् विवेचन के माध्यम से तर्कों व प्रमाणों द्वारा सत्यापित करने का बीड़ा दो वर्ष पूर्व अपने हाथ में लिया । प्रज्ञा परिवार के सभी परिजनों को इस शोध संस्थान के विषय में सामान्य जानकारी है । उसका उद्देश्य जितना विशाल है उतने ही बड़े स्तर पर प्रयोग परीक्षण का एक प्रारूप बनाया गया है तथा उसका प्रारम्भिक स्तर पर श्रीगणेश भी कर दिया गया । अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति की जा सके, ऐसे उपकरण अभी और आना शेष है, फिर भी वर्तमान में जो भी कुछ है, कम नहीं । अभी तक की प्रगति की समीक्षा तथा साधना क्रमों के उतार-चढ़ाव का लेखा-जोखा जब करते हैं तो ज्ञात होता है कि एक ऐसा असम्भव कार्य सम्भव बनाया जा रहा है, जिसके विषय में हर व्यक्ति सामान्यतया शंका की दृष्टि ही रखता है ।

प्रयोग-अनुसन्धानों के निष्कर्ष तब तक प्रामाणिक नहीं माने जाते जब तक कि काफी अधिक संख्या में प्रयोग-परीक्षण नहीं कर लिए जाते, सांख्यिकी की दृष्टि से उनका विश्लेषण नहीं कर लिया जाता । इस कारण अति उत्साह में जल्दबाजी की तरह उनका उद्घाटन करना हास्यास्पद तो होगा ही, वैज्ञानिक दृष्टि से एक गलत—बचकाना कदम भी । प्रस्तुत विवेचन का उद्देश्य है, अभी तक इस क्षेत्र में अन्यान्य व्यक्तियों द्वारा किए गए अनुसन्धानों का विश्लेषण तथा अपने समग्र प्रयास पुरुषार्थ की एक जानकारी देना । इसे 'शोध सिनाप्सिस' भी कह सकते हैं । यह लिखना तो आत्मश्लाघा होगी कि हमारा प्रयास समग्र है, औरों का अपूर्ण । पर एक वैज्ञानिक ऋषि के नाते हम यह कह सकते हैं कि औरों के प्रयास की अवहेलना न कर हम उससे भी आगे बढ़कर सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की जानकारी बुद्धिजीवियों को उन्हीं की भाषा में देना चाहते हैं जिसे पाकर वे ही नहीं सारी मानवता कृतकृत्य होगी । नास्तिकता का वर्तमान स्वरूप बदलकर आस्तिकता उभरेगी, विज्ञान सम्मत बनेगी ।

अभी तक जो प्रयोग-परीक्षण किए गए हैं वे भौतिकी की सीमा में परिबद्ध रहे हैं । श्रद्धा को भौतिकी में स्थान कहाँ ? श्रद्धा-विश्वास को मापने वाला कोई एल. सी. डी. अभी तक वैज्ञानिक नहीं बना पाये । पर यह तो सम्भव है कि जिस व्यक्ति में अध्यात्म उपचारों व उनके परिणामों के प्रति श्रद्धा हो—उसके आन्तरिक परिवर्तनों की पूर्व की तथा बाद की स्थिति की तुलना ऐसे व्यक्ति से की जा सके जिसे इन पर विश्वास न हो । 'फेथ' अपने आप में एक साइन्स है जिसे हर समझदार आदमी आज समझता है, उसके अस्तित्व को मानता है । विदेशों में तो 'फेथ हीलिंग' एक चिकित्सा विज्ञान के रूप में मान्यता ले चुका है । 'मिस्ट्री ऑफ हीलिंग' नामक ग्रन्थ (रीडर्स डायजेस्ट प्रकाशन) में ऐसे ढेरों उद्धरण हैं जिसमें पेस्टर (पादरी), साइकेट्रिस्ट (मनःचिकित्सक) तथा फिजीशियन (शरीर चिकित्सक) की एक सम्मिलित टीम द्वारा कई असाध्य रोगियों को जिनमें कैंसर भी सम्मिलित है,

रोगमुक्त किया गया है । यह तो पाश्चात्य जगत की बात हुई जहाँ अन्ध-विश्वास को कोई मान्यता प्राप्त नहीं । कम्युनिस्ट राष्ट्र तो नास्तिक ही माने जाते हैं । रूस में चर्चों की स्थापना को निरुत्साहित ही किया जाता है फिर भी 'फेथ' तत्व को उन्होंने भी माना है तथा परामनोविज्ञान पर की जा रही शोधों में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान भी दिया है । श्रद्धा के अस्तित्व को माने बिना साधना- उपचारों की सफलता की बात ही नहीं बनती । इसी कारण जरूरी समझा गया कि हम ही इस कार्य को अपने हाथ में लें व श्रद्धा तत्व के अस्तित्व व चमत्कार युक्त परिणति को प्रमाणित करके दिखाएँ । चान्द्रायण साधना के एक मास के अनुष्ठान सत्रों में यह किया भी गया व परिणाम भी सुखद सम्भावनाओं से भरे मिले ।

अभी तक देश-विदेश में जो प्रयोग किए गए हैं उनका उद्देश्य हैं—आसन, प्राणायाम के क्रिया योग वाले स्वरूप के परिणामों की जानकारी प्राप्त करना तथा ध्यान की शिथिलीकरण वाली स्थिति, जिसमें चयापचयिक प्रक्रिया शून्य के समीप पहुँच जाती है, की प्रतिक्रियाएँ जानना । ध्यान भी—सोद्देश्य, साकार या निराकार अथवा किसी उच्चस्तरीय चिन्तन से जुड़ा न होकर मात्र विचारों को खुला छोड़ देने तक सीमित माना गया है । इन शोधकर्त्ताओं ने पूरे अध्यात्म उपचारों को इन तीन प्रयोगों के बहिरंग सीमित कर ही उनके अति फलदायी परिणाम बताये हैं । तनाव निवारण से लेकर शरीर की स्थूल जीवनी शक्ति में वृद्धि तक लाभों को गिनाते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि आयुष्य वृद्धि तथा रोग प्रतिरोधी सामर्थ्य वृद्धि में अध्यात्म उपचार काफी सीमा तक सिद्ध होते हैं ।

पाश्चात्य वैज्ञानिकों का ध्यान काफी समय से 'इस्टर्न मिस्टीसिज्म' (पूर्वार्त्त रहस्यवाद) की ओर आकर्षित होता रहा है । भारतीय ऋषियों की योग पद्धति तथा झेन बौद्धिज्म की ध्यान पद्धति उनके लिए रहस्य, रोमांच का विषय रहा है । उनकी उत्कण्ठा अपनी प्रारम्भिक स्थिति में मात्र यहीं तक सीमित रही कि क्या हृदय की धड़कन को रोक सकना सम्भव है ? एक एयरटाइट बॉक्स में या एकदम ठण्डे स्थान पर बिना भोजन के योगीजन कैसे रह पाते हैं, यह कौतूहल प्रारम्भ से ही उनके मन में रहा है । फ्रेंच कार्डियालॉजिस्ट थेरेपी ब्रॉसे १९३५ में भारत आईं व उन्होंने योगियों पर अपने प्रयोगों से पाया कि वास्तव में अधिकांश अपनी धड़कन पर नियन्त्रण कर सकने में समर्थ हैं । इनमें से एक ने काफी समय तक अपने हृदय की धड़कन को बन्द करके दिखाया । १९५७ में दो अमेरिकन फिजियोलॉजिस्ट एम. ए. वेन्गर (यू. सी. एल. ए.) तथा डॉ. बी. के. बागची (यूनीवर्सिटी ऑफ मिशीगन मेडीकल स्कूल) ने नई दिल्ली में मेडीकल इन्स्टीट्यूट के डॉ. बी. के. आनन्द के सहयोग से कुछ वालंटियर्स पर प्रयोग किए व पाया कि ध्यान की गहरी स्थिति में प्रवेश करने पर बन्द तो नहीं पर हृदय की गति ६० प्रति मिनट से कम तथा श्वास गति को १२ प्रति मिनट से कम कर सकना सम्भव है ।

१९५७ से १९७२ तक का समय ध्यान व प्राणायाम पर शोध कार्य का ही रहा और विभिन्न प्रयोगकर्त्ताओं ने भिन्न-भिन्न परिणाम अपने प्रयोगों के विज्ञान जगत के समक्ष रखे । जापान के वाय. सूगी. तथा के. अकात्सू, ए. कासामात्सू तथा टी. हिराई, नई दिल्ली के सी. एस. आनन्द, बल्देव सिंह, जी. एस. चीना, अमेरिका के रॉबर्ट कीथ वैलेस तथा एच. वेनसन इत्यादि ने ध्यान प्रक्रिया पर तथा के. एन. उडुपा व आर. एस. सिंह, स्वामीराम, स्वामी सत्यानन्द तथा स्वामी कुबल्यानन्द (लोनावला-पुणे) आदि ने मूलतः आसन-प्राणायाम पर प्रयोग किए । इन सबके निष्कर्षों का सार इस प्रकार दिया जा सकता है—

(१) ध्यान से साधकों की ऑक्सीजन को अन्दर पचाने की क्षमता (ऑक्सीजन कन्जम्पशन) में बीस प्रतिशत से भी ज्यादा कमी हो जाती है अर्थात् वे कम ऑक्सीजन में भी अपना काम चला लेते हैं ।

(२) मस्तिष्क की विद्युत सक्रियता ध्यान से अत्यधिक प्रभावित होती है—अल्फा, थीटा, वेव्स का ई. ई. जी. द्वारा विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि उनकी नियमितता बढ़ती जाती है—विशेषकर सामने वाले (फ्रण्टल) व केन्द्रीय हिस्से (सेण्ट्रल रिजन) में । यह स्थिति तभी होती है जब व्यक्ति पूर्ण विश्राम की स्थिति में हो, फिर भी चेतन मस्तिष्क पूर्ण जागृत हो । जिनका ध्यान, अभ्यास अधिक गहरा था, उनमें साधारण ९ से १२ साइकल्स (आवृत्ति) प्रति सेकण्ड से घटकर

अल्फा तरंग ७-८ पर आ गईं जबकि अनुपस्थित थीटा तरंगें ६-७ आवृत्ति प्रति सेकण्ड पर उभर आईं ।

(३) त्वचा की विद्युतीय प्रतिरोध सामर्थ्य (स्किन रेसिस्टेन्स) वैज्ञानिकों ने उन्हीं में कम पायी है जो अत्यधिक तनावग्रस्त होते हैं । जिनमें यह बढ़ती चली जाती है, उनकी तनाव स्थिति में शिथिलता आने लगती है । करीब-करीब सभी प्रयोगकर्त्ताओं ने यह पाया है कि ध्यान से यह रेसिस्टेन्स बढ़ जाता है ।

(४) क्रियापरक प्रयोगों यथा आसन-प्राणायाम जिनमें ध्यान धारणा को प्रमुखता नहीं दी गई थी, वैज्ञानिकों ने पाया कि यद्यपि शरीर का सामान्य जीवनी शक्ति में वृद्धि होती है, पर ऑक्सीजन कन्जम्पशन उनका अधिक होता है अर्थात् उन्हें अधिक प्राण वायु को प्रयुक्त करना होता है । इसके अतिरिक्त जो अन्य परिवर्तन पाये गए हैं, वे हैं—रक्तचाप में कमी, रक्त ओषजन में बढ़ोत्तरी, रक्त केलैक्टेट स्तर में औसतन दस मिलीग्राम प्रति सी. सी. प्रति घण्टे की दर से कमी (यह तनाव शैथिल्य का बोधक है), रक्त-प्रवाह में तीन-सौ प्रतिशत तक कमी (बाह्य माँसपेशियों में) तथा शरीर के सिम्पेथेटिक ऑटोनॉमिक संस्थान से सम्बन्धित स्नायु रसायनों में अत्यधिक कमी । यह वर्णन कुछ जटिल अवश्य हो गया है, पर इतना बताये बिना वह पूरी विस्तृत चर्चा सम्भव नहीं जो इस अति महत्त्वपूर्ण विषय के लिए अपरिहार्य है ।

मनोवैज्ञानिक, शरीर के जैव-रासायनिक तथा स्नायु प्रवाह सम्बन्धी सभी पैरामीटर्स का विश्लेषण कर सीमित अध्यात्म उपचारों में विज्ञान क्षेत्र के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ध्यान एक जागृत, पूर्ण विश्राम की स्थिति है जिसमें चयापचयिक प्रक्रिया न्यूनतम हो जाती है । महर्षि महेशयोगी के भावातीत ध्यान, बौद्ध झेन पद्धति के ध्यान तथा विपासन एवं शिथिलीकरण प्रक्रिया के विश्लेषण से सभी एक मत हैं कि वैज्ञानिक दृष्टि से अध्यात्मक उपचारों द्वारा आज की मानसिक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं का हल निकाल पाना सम्भव है । आदमी को तनाव से मुक्ति दिलाई जा सकती है । आसन आदि के प्रयोग से शरीर शोधन व स्वास्थ्य सम्वर्धन भी सम्भव है । पर क्या यही वह उद्देश्य है जिसके लिए इन अध्यात्म अनुशासनों की महत्ता शास्त्रों ने प्रतिपादित की है ? क्या वास्तव में मन से ही अधिकांश रोगों की उत्पत्ति होती है या उससे भी गहरे में कोई और परत है जो सारी विकृतियों के लिए उत्तरदायी है । रोग निवारण की बात छोड़कर यदि व्यक्ति को और भी अधिक समर्थ बनाना—अदृश्य जगत के शक्ति केन्द्र से उसे जोड़कर अति मानवी क्षमता सम्पन्न बनाना चाहें तो यह किस प्रकार सम्भव है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर हमें इन शोध निष्कर्षों से नहीं मिलता । इसके लिए और भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने वाली प्रक्रिया व उपकरण चाहिए ।

जब वैज्ञानिकों ने जीवकोष की जानकारी मानव समुदाय को दी तो उसे विलक्षण कहा गया । मात्र बीस वर्षों में इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोपी से लेकर स्पेक्ट्रोफोटोमेट्री, एक्सरे-लेसर आदि के प्रयोगों ने यह बता दिया है कि उस समय का हर्षातिरेक कितना बचकाना था । अब जीवकोष के अन्तराल में छिपे एक-एक घटक के विस्तृत विवरणों पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं, जीन्स की फोटोग्राफी ही नहीं—उनका संश्लेषण तथा कृत्रिम कलम लगाने तक का अभियान आरम्भ किया जा चुका है । ऐसे में अध्यात्म उपचारों की प्रतिक्रिया को मात्र ई. ई. जी. तथा रक्त में घुले कुछ रसायनों में परिवर्तन भर तक सीमित मान लेना अपना मार्ग बन्द कर लेने के समान है । शोध का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । शरीर के विद्युतीय ढाँचे का मापन-विश्लेषण अब इलेक्ट्रोमीटर, मेग्नेटोमीटर तथा अन्य मल्टी चैनेल फिजियोग्राफिक उपकरणों द्वारा है । रसायनों के सूक्ष्म मापन के लिए भी ऐसे यन्त्र बनाये जा चुके हैं जो नैनोग्राम (एक मिलीग्राम का दस लाखवाँ हिस्सा) तक विभिन्न शरीर द्रव्यों में उनका स्तर मापने में सक्षम हैं । यह तो रही उपकरणों की चर्चा । अध्यात्म उपचारों में भी दो प्रयोग अब तक किए गए हैं वे अपने आप में समग्र नहीं कहे जा सकते । जीवन साधना से आरम्भ होने वाला अध्यात्म ध्यान धारणा, समाधि की स्थिति तक अपना कलेवर फैलाये हैं । ऐसे में हठयोग की कुछ क्रियाओं व ध्यानयोग के छुटपुट प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रहा जा सकता ।

अध्यात्म वस्तुतः चेतना का विज्ञान है । अन्तःकरण का अपना अस्तित्व है । आस्थाओं, आकांक्षाओं की इस जन्मस्थली का परिचय पाये बिना प्रखरता सम्पादन, आत्मबल अभिवर्धन सम्भव नहीं । अन्तःकरण की उपेक्षा

करके किसी भी उपचार को अध्यात्म उपचार का नाम नहीं दे सकते । इसीलिए पहले उस दृष्टि का परिष्कार करना होगा, जिसे अपनाकर शोध कार्य में प्रवृत्त हुआ जाता है । ब्रह्मवर्चस ने प्रारम्भ में मन्त्र विज्ञान, ध्यान विज्ञान, यज्ञ विज्ञान की तीन अध्यात्म विधाओं को प्रयोग परीक्षण पर कसने का निश्चय किया । इनमें योग एवं तप दोनों का सम्मिश्रण है । कर्मकाण्ड, आस्था, अग्निहोत्र मन्त्र प्रयोग, संयम, तितीक्षा, साकार-निराकार ध्यान इन सभी के विभिन्न सम्मिश्रणों का मानव के अन्तरंग व बहिरंग पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसे मूल लक्ष्य बनाकर शोध कार्य को आगे बढ़ाया गया है । जैसा कि साधना विशेषांकों में पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है—किसी उच्चस्तरीय उद्देश्य से जब तक तल्लीनता-तन्मयता न जुड़ पाये, इसे ध्यान नहीं कहा जा सकता । ऐसे निरुद्देश्य ध्यान का न तो किसी सदुद्देश्य हेतु सुनियोजन सम्भव है और न अन्तरंग में परिवर्तन ही कर सकना शक्य है । बहिरंग में जो परिवर्तन होता है उसे ही सब कुछ नहीं माना जा सकता ।

वस्तुतः व्यक्ति के हिस्से में थोड़ी-सी सामर्थ्य ही आयी है, किन्तु वह जिस विराट् शक्ति भण्डार से, परब्रह्म से जुड़ा है, उसकी सामर्थ्य का कोई अन्त नहीं । कम ताकत का बल्ब कम प्रकाश देता है, पर यदि उसी स्थान पर बड़ी ताकत का बड़ा बल्ब लगा दिया जाय तो उसी विद्युत फिटिंग से अनेकों गुना प्रकाश उत्पन्न हो सकता है । परब्रह्म सत्ता के साथ आमतौर से आत्मा का सीमित एवं सामान्य सम्बन्ध ही रहता है । पर यदि व्यक्ति को अधिक परिष्कृत प्रखरता सम्पन्न बनाया जा सके तो तो वह अदृश्य जगत की महान देव शक्तियों से भरपूर लाभ उठा सकता है । अन्तरिक्ष में—प्रकृति जगत में भरी पदार्थ सम्पदा का भी अध्यात्म प्रयोगों के माध्यम से दोहन कर धरती को वैभव सम्पन्न बनाया जा सकता है—इन्हें ही सिद्धियों का नाम देकर महत्ता बताई जाती रही है । पर सही अर्थों में कैसे इन्हें हस्तगत किया जाय, कैसे वह क्षमता अर्जित की जाये—यह जानकारी शास्त्रों तक ही सीमित न रख वैज्ञानिक बना दी जाय तो कई प्रकार के भ्रम जंजालों से बचा जा सकता है ।

ध्यानयोग को भौतिकी की कसौटी पर भी कसा जा सकता है । ध्यान की भौतिक-स्थूल परिणतियाँ भी होती हैं । समाधि में निश्चेष्ट हो जाना, अंग का रक्त संचार बन्द कर देना, माँसपेशियों को अतिशय कड़ा कर देना जैसे कौतुक ध्यानयोग के अभ्यासी प्रायः दिखाते रहते हैं । सर्कस के पात्रों का कौतूहल प्रदर्शन उनकी एकाग्रता पर अवलम्बित है । वैज्ञानिक, साहित्यकार, कलाकार अपनी विशेषताएँ ध्यान को केन्द्रीभूत करके ही प्रदर्शित कर पाते हैं । परीक्षाओं, प्रतियोगिताओं में सफल हो पाना प्रायः इसी कौशल पर निर्भर रहता है । निशाना सही लगा सकने की विशेषता इसी अभ्यास पर निर्भर है । टिड्डे बरसात में हरे रंग के होते हैं और वे ही गर्मियों में पीले पड़ जाते हैं । इसका एक ही कारण है कि हरियाली उनके ध्यान में आँखों के आगे रहने से वह तन्मयता उनकी काया को हरा बनाये रहती है । पर जब गर्मी आती है और घास सूखकर पीली पड़ जाती है, तब उस पर रहने वाले टिड्डे चारों ओर पीला रंग देखते और ठीक वैसे ही बन जाते हैं । यह मस्तिष्क पर छाये रहने वाले आयामों की प्रतिक्रिया हैं । वही सर्वत्र दीख पड़ता है । आँखों पर चश्मा जिस रंग का पहना जाता है, उसी रंग में रंगा हुआ सारा संसार प्रतीत होता है । जब बदलकर अन्य रंग वाला चश्मा पहन लिया जाता है, तो क्षण भर में सारा दृश्यजगत अपना रंग बदल लेता है । यह भीतर से उत्पन्न हुई मान्यता की दृश्यमान प्रतिक्रिया है । रस्सी का साँप और झाड़ी का भूत इसी प्रकार बनता है । यह भ्रान्तियाँ कई बार इतनी समर्थ और प्रबल होती हैं कि सशक्त शत्रु की तरह प्राणघातक भी बन जाती हैं । स्वसंकेतों के आधार पर व्यक्तित्व किस कदर उभरते और गिरते हैं, इसके असंख्य प्रमाण, उदाहरण हमें अपने इर्द-गिर्द के वातावरण में ही बड़ी संख्या में विद्यमान दिखते हैं ।

ध्यानयोग इन दिनों एक मान्य प्रयोग बन गया है । चिन्तन में परिवर्तन लाने पर मनुष्य जीवन की दिशा धारा बदल जाती है । आरोग्य की उपलब्धि, मनोबल की प्रखरता एवं भविष्य निर्माण से जुड़ने वाली महती भूमिका में सघन विचारधारा का असाधारण योगदान होता है । महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्यों की

रूपरेखा पहले योजना के रूप में अपना काल्पनिक स्वरूप निर्धारित करती है । इस सन्दर्भ में हुए निश्चय के उपरान्त योजना कार्यरूप में परिणत होती है, साधन जुटते हैं और सफलता के आधार खड़े होते हैं । दैनिक घटनाओं का सुनियोजन बन पड़ना और अस्त-व्यस्तता की चट्टान से टकराकर छितरा जाना और कुछ नहीं, केवल तत्परता और तन्मयता के समन्वय की कमी-बेशी रहने की ही परिणति हैं ।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए 'ध्यान' को महती सामर्थ्य सम्पदा के रूप में समझा जा सकता है । उसका प्रभाव जिस काय-कलेवर पर, मनःसंस्थान पर, प्रगति और समृद्धि पर दिखाई देता है, उसे सफलताओं की आधारशिला कहा जा सकता है । हर व्यक्ति की अपनी दुनिया होती है । पहले वह बीज के रूप में मनःक्षेत्र की कल्पना बनकर आती है । इसके बाद मनःस्थिति और परिस्थिति का उपयुक्त खाद पानी लगने पर वह सुनिश्चित यथार्थता एवं सम्भावना के रूप में सामने आ खड़ी होती है । प्रकारान्तर से जीवन की प्रखरता और ध्यान धारणा को एक ही रूप मे देखा जा सकता है ।

अन्तःकरण की विशिष्टता और आत्मा की उत्कृष्टता की साधना हेतु जिन छोटे-बड़े योगाभ्यासों का प्रयोग विभिन्न वर्गों के लोग विभिन्न प्रकार से करते रहते हैं, उनमें अन्य क्रिया कृत्यों का समावेश तो रह सकता है, पर ध्यान को नहीं छोड़ा जा सकता । यह ध्यान परब्रह्म का, प्रकाश ज्योति का, आत्मिक प्रकाश पुंज का, षट्चक्रों का, पंचकोषों का, त्रिविध कलेवरों से सम्बन्धित तीन ग्रन्थियों का हो सकता है । इष्टदेवों के रूप में अवतारों, देवत्वों, महामानवों अथवा दिव्य शक्तियों को माध्यम बनाया जा सकता है । इन्द्रिय तन्मात्राओं को विकसित करने के लिए शब्द रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के कुछ भाव चित्र गढ़े जा सकते हैं । सोऽहम् प्रस्फुटीकरण, कुण्डलिनी जागरण आदि की दिव्य साधनाएँ इसी प्रयोजन के साथ जुड़ती हैं ।

इन सभी प्रयोगों के अन्तिम परिणामों को देखकर साधना से सिद्धि के सिद्धान्त को कसौटी पर कसा जा सकता है । पर इस बीच का मध्यान्तर भी इस बात का प्रमाण देता रहता है कि क्रिया की प्रतिक्रिया किस रूप में सही पड़ रही है । इस आधार पर प्रगति का, अवगति का, स्थिरता का मूल्यांकन किया जा सकता है । यदि गल्ती हो रही हो तो उसे सुधारा जा सकता है । अवगति को रोका जा सकता है । परिणति यदि सफलता की दिशा में चल पड़ी हो तो उसे और भी अधिक तीव्र किया जा सकता है । इस प्रकार आत्मिक प्रगति की दिशा में सही रीति-नीति अपनाते हुए सही दिशा में चला और सही लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है । वैज्ञानिक प्रयोगशालाएँ उस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकती हैं । उस आधार पर निकले हुए निष्कर्ष जीवनोत्कर्ष में असाधारण रूप से सहयोगी बन सकते हैं । अभीष्ट सफलता को लक्ष्य तक पहुँचाने में उनका असाधारण योगदान हो सकता है ।

शान्तिकुंज ब्रह्मवर्चस प्रयोगशाला में इस सन्दर्भ में आवश्यक शोध प्रबन्ध के लिए सभी उपयोगी एवं आवश्यक उपकरण जुटाये गए हैं, जिनसे मस्तिष्क में चल रही हलचलों का स्वरूप, सन्दर्भ एवं गतिक्रम का परिचय प्राप्त किया जा सकता है । स्नायु संस्थान की गतिविधियों एवं उनका माँसपेशियों तथा शरीर के अंग अवयवों पर सम्भावित प्रभाव की जानकारी प्राप्त की जा सकती है । प्रयोगशाला के इन निष्कर्षों के आधार पर आगे बढ़ चलने के लिए उपयुक्त मार्गदर्शन मिलता है और भूल होने की आशंका का निराकरण होता रहता है ।

ब्रह्मवर्चस की प्रयोगशाला में एक चार चैनल का पॉलीग्राफ, एक दो चैनल का पॉलीग्राफ, एक इलेक्ट्रोएनसेफेलोग्राफी संयन्त्र तथा तीन चैनल वाला एक बायोफीडबैक यन्त्र प्रयोग में लाये जाते हैं । पॉलीग्राफ द्वारा रक्त का दबाव, नाड़ी की गति, श्वास गति, त्वचा का तापमान, इलेक्ट्रोमायोग्राफ तथा इलेक्ट्रोएनसेफेलोग्राफ का एक साथ मापन कर ध्यान की अवधि में शरीर में संव्याप्त विद्युतीय क्षेत्र में परिवर्तन को अति सूक्ष्म स्थिति तक मापा जा सकता है । ई. ई. जी. उपकरण मस्तिष्क की जागृत, प्रसुप्त तथा गहरे ध्यान की स्थिति में, तरंगों का अंकन कर बताता है कि बहिरंग से मोड़कर व्यक्ति स्वयं को कितना अन्तर्मुखी बना सका । बायोफीडबैक यंत्र में त्वचा का विद्युतीय प्रतिरोध (जी. एस. आर.) माँसपेशियों की विद्युत (ई. एम. जी.) तथा मस्तिष्क की अल्फा तरंगें (अल्फा ई. ई. जी.) इन तीनों को दृश्य एवं ध्वनि के माध्यम से साधक को दिखाया व ध्यान प्रक्रिया द्वारा

तीनों में परिवर्तन लाने हेतु उसे प्रशिक्षित किया जाता है । अपनी मनः शक्ति के माध्यम से साधक तनाव शैथिल्य द्वारा त्वचा का प्रतिरोध कम करता तथा ध्यान की स्थिति में ही दृश्यमान अल्फा तरंगें उत्पन्न करता है । इससे उसका मनोबल भी बढ़ता है एवं क्रमशः ध्यान की गहराई में जाने का प्रशिक्षण भी मिलता है । इन प्रयोगों के अलावा रिएक्शनटाइम, एप्टीट्यूड, इल्युजन, मैमोरी, सेल्फ कन्सेप्ट सम्बन्धी लगभग १२ परीक्षण और कराये जाते हैं जो साइकोमेट्री की परिधि मे आते हैं । ये भी यान प्रक्रिया की गहराई में जाने की परिणति के परिचायक हैं । स्थूल मापदण्ड ही सही, पर इनकी महत्ता अपने स्थान पर है ।

इन प्रयोगों का आरम्भ 'रंग ध्यान' से किया जाता है । यह अधिक प्रत्यक्ष, अधिक सरल और अधिक स्पष्ट है । रंग विज्ञान के ज्ञाता जानते हैं कि सूर्य किरणों में सात रंग होते हैं । उनमें से जो पदार्थ जिस रंग किरण को, जिस अनुपात में ग्रहण करता है, वह उसी रंग का दिखने लगता है । रंग स्वाभाविक हों या कृत्रिम, सभी इसी आधार पर विनिर्मित होते और परिणाम उत्पन्न करते हैं । कमरों में जिस रंग को पोता जाता है, खिड़कियों में जिस रंग के पर्दे रहते हैं, उसी रंग की किरणों का प्रवाह छनकर उस परिधि में अपना प्रभाव प्रस्तुत करता रहता है । रंगीन काँचों या काँच पर लगे रंगीन जिलेटीन कागजों से भी यही उद्देश्य पूरा होता है ।

ध्यान धारणा के रंग सम्बन्धी प्रयोगों में साधक को आँखें बन्द करके अमुक रंग के ध्यान का निर्देश दिया जाता है । सुविधा के लिए उसी रंग के चश्मे पहना देते हैं अथवा उस कक्ष में वैसे पर्दे लटका कर कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न कर रंगों का ध्यान करने को कहा जाता है । इलेक्ट्रॉनिक स्ट्रेबोस्कोप की मदद से सात विभिन्न रंगों के बल्बों से आँखों पर फ्लेशेज डाले जाते हैं । रंगों का मन मस्तिष्क पर प्रभाव सर्वविदित है एवं जाँचा परखा जा चुका है । लाल रंग स्नायु संस्थान एवं रक्त की क्रियाशीलता को बढ़ाता है । प्राणशक्ति इससे बढ़ती है । नारंगी रंग साधक की जीवाणु प्रतिरोधी सामर्थ्य को बढ़ाता है तथा सभी अंगों के चयापचय प्रक्रिया को सन्तुलित करता है । पीला रंग पाचन संस्थान तथा स्वैच्छिक स्नायु संस्थान को सन्तुलित रखता है । यह बुद्धिवर्धक भी है । हरा रंग मानसिक तनाव से मुक्ति दिलाता व हार्मोन ग्रन्थियों का स्राव बढ़ाता है । नीला रंग रक्त परिशोधन एवं मानसिक अवसाद के हेतु प्रयुक्त होता है । बैंगनी रंग हृदय की गति को स्थिर तथा श्वसन प्रक्रिया को सन्तुलित करता है । यह दर्दनाशक भी है । सभी रंग विभिन्न सम्मिश्रण में भाव संस्थान को प्रभावित, उत्तेजित करते हैं । इन सम्मिश्रणों के प्रभाव को भी देखा जा रहा है ।

देखा गया है कि सही निदान के बाद निर्धारित रंग का ध्यान करने पर अभीष्ट प्रभाव उपयुक्त मात्रा में मिलना आरम्भ हो जाता है । सूर्य किरण चिकित्सा एक विशेष कक्ष में बिठाकर अथवा रंगीन बोतलों का पानी पिलाकर लम्बे समय से की जाती रही है । पर 'रंगध्यान' का नया निर्धारण नये अनुसन्धान के आधार पर ही बन पड़ा है । इस ध्यान प्रक्रिया की अवधि में क्या परिवर्तन रक्त के रासायनिक घटकों तथा शरीर की इलेक्ट्रोफिजियोलॉजी पर हो रहा है, इसे विभिन्न यन्त्रों की मदद से मापा जा सकता है । इस उपचार की प्रतिक्रिया शारीरिक रोगों के निवारण की अपेक्षा मानसिक अस्त-व्यस्तता को दूर करने, तनाव मिटाने तथा मनःसन्तुलन बिठाने में अधिक प्रभावोत्पादक होते देखी गई है ।

रंगों के ध्यान के आधार पर यह समझना अधिक सरल और सम्भव हो जाता है कि उच्चस्तरीय ध्यान धारणा की, त्राटक के विभिन्न रूपों की परिणति कितनी गहराई तक प्रवेश करके अन्तराल को प्रभावित कर सकती है । ध्यान धारणा सभी अध्यात्म उपचारों का मेरुदण्ड है । उसी के समन्वय से हर योगाभ्यासी प्राणवान बनता एवं अभीष्ट परिणाम प्रस्तुत करता है । शान्तिकुंज के ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान ने अधात्म विद्या के परिणामों को खोजते हुए ध्यान विद्या के सम्बन्ध में अति महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की जानकारी प्राप्त की है । अगले दिनों उसके और भी व्यापक परिणाम सामने आकर रहेंगे । इन्हें समय-समय पर पत्रिका में अथवा बुलेटिन के रूप में प्रकाशित किए जाने की सुनियोजित व्यवस्था की जा रही है । जिन साधकों के अपने प्रयोग भी इस दिशा में चले हों वे भी पत्र-व्यवहार कर जानकारी के आदान-प्रदान का लाभ उठा सकते हैं ।

⌘⌘⌘

|| समाधि और सिद्धि परिकर ||

समाधि

ध्यान के प्रकरण में जो अभ्यास बताया गया है वह मनोनिग्रह का एक साधन है । आप साधन को उद्देश्य मांन बैठने की गल्ती न कर बैठे । कुएँ इसलिए खोदते हैं कि पानी प्राप्त हो, परन्तु पानी की बात भूलकर कोई खोदने की क्रिया को ही पकड़ बैठें और सदा खोदने की ही रट लगाये रहे तो उसे बुद्धिमान न कहा जायेगा । वेदान्त की मर्यादा में जो ध्यान साधनाएँ बताई जाती हैं उनमें अनाहत शब्द श्रवण करने, षट्चक्र बेधने, त्रिकुटी में ज्योति का दर्शन करने की साधनाएँ प्रमुख हैं । अन्य मतों वाले भी शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श के अन्तर्गत ही ध्यान साधनाएँ बताते हैं । इन अभ्यासों के लिए कुछ थोड़ा सा समय नियत रहता है, हर घड़ी सारे दिन कोई ध्यान नहीं कर सकता, मन की रचना ही इस प्रकार की है कि वह विभिन्नताओं से घूमता रहे तो बलवान रहता है अन्यथा रुक कर शिथिल हो जाता है । थके मन से ध्यान भी नहीं हो सकता । इसलिए ध्यान के लिए प्रायः सायं एक दो घण्टे या न्यूनाधिक समय लगाने की विधि-व्यवस्था साधकों को बताई जाती है ।

ध्यान का अभ्यास करने से चित्त नियत विषय में पूरी तरह लग जाने की आदत सीखता है । आध्यात्मिक ध्यानों में दुहरा लाभ है । किसी इच्छित विषय में पूरे मनोयोग के साथ लग जाने की कला तो आती ही है साथ में ध्येयमय आदर्श प्रतिमा का ध्यान करने से बाह्य और आभ्यान्तरिक अवयव उसी दिशा में प्रगति करने लगते हैं जिससे लोक और परलोक में सुख शान्ति प्राप्त होने के अवसर एकत्रित होते जाते हैं । यह दुहरा लाभ होते हुए भी ध्यान आखिर ध्यान ही है । वह साधन है, लक्ष्य नहीं हो सकता । जिस विधि से भी ध्यान साधना की जाय वह मन में तन्मयता सिखाने के लिए है, उद्देश्य तो दूसरा ही होगा । सधाये हुए मन से कार्य तो कुछ और ही लिया जायेगा । लाभ तो कुछ और ही उठाया जायेगा । कुआँ खोदने का परिश्रम पानी निकालने के लिए किया जाता है । ध्यान का परिश्रम विकास के लिए उच्च स्थिति प्राप्त करने के लिए, आत्मा से परमात्मा बनने लिए, की जाती है ।

इतना सब समझ लेने के पश्चात पाठकों को राजयोग के आठवें अंग समाधि की ओर बढ़ना चाहिए । जिस प्रकार प्रत्याहार का उत्तरार्द्ध धारणा थी, उसी प्रकार ध्यान का उत्तरार्द्ध समाधि है । ध्यान की पूर्णावस्था का नाम ही समाधि है । जब किसी बात पर भले प्रकार निर्विकल्प रूप से चित्त जम जाता है तब उस अवस्था को समाधि कहा जाता है ।

समाधि के विषय में जन-साधारण में नाना प्रकार की कथा किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं । अज्ञान के कारण अत्युक्तियों का प्रचलन बढ़ता है, अपरिज्ञात विषय के बारे में लोग नाना प्रकार की कल्पनाएँ गढ़ लेते हैं । भूत और परियों के बारे में बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक बातें कही सुनी जाती हैं कारण यह है कि वे प्रत्यक्ष नहीं है । इसी प्रकार समाधि का विषय बहुत दिनों से सर्वसाधारण के सामने नहीं है इसलिए तद्विषयक अत्युक्तियाँ भी उसी प्रकार फैल गई हैं जैसे कि भूत या परियों के बारे में । ढोंगी और धूर्तों ने इस ओर और भी गड़बड़ी फैला दी है । हमने देखा है कि कई सज्जन जमीन में गड्ढा खोद कर उसमें बैठ जाते हैं और ऊपर से उस गड्ढे को पटवा कर भीतर बैठे रहते हैं और कई दिन बाद उस गड्ढे में से जीवित निकलते हैं । इस प्रकार की बाजीगरी विभिन्न रूपों में देखी तथा दिखाई जाती है । यह निःसार बातें हैं पाठकों को हम आगाह करते हैं कि इन बाजीगरी की बातों से समाधि का कुछ भी सम्बन्ध न समझें । हठ योग की समाधियों में जरूर शरीर निश्चेष्ट हो जाता है कभी-कभी रक्त की गति भी बन्द हो जाती है, ऐसा 'इच्छा शक्ति' द्वारा भी हो सकता है । कई तमाशा करने वाले रंग-मंच पर खड़े होकर इच्छा शक्ति

द्वारा नाड़ी गति बन्द कर देते हैं, क्या इसे समाधि कहा जायेगा ? हठयोग की समाधि में भी यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य बेहोश हो जाय, निष्प्राण हो जाय रक्त प्रवाह रुक जाय या और कुछ आश्चर्यजनक बात दिखाई पड़े ।

राजयोग सर्वसाधारण की, जनता की चीज है । यह साधना हर बाल, वृद्धि, गृही, वैरागी के करने के लिए आविष्कारित की गई है । इसमें वही सब है जो नित्य के साधारण जीवन में होता है । बाजीगरी के अलौकिक चमत्कारों की चर्चा भी इसमें नहीं है । राजयोग की समाधि का अभ्यासी न तो बेहोश होगा, न मर जायेगा, न पागल हो जायेगा, न आसमान में उड़ जायेगा, न कुछ और करामात करेगा । प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत ही उसका जीवन-क्रम चलेगा पर आत्मोन्नति इतनी अधिक कर लेगा कि उसकी आत्मिक स्थिरता अद्भुत एवं आश्चर्यजनक होगी, मनुष्य की चमड़ी में देवता दृष्टिगोचर होगा । राजयोग आपको बाजीगर नहीं आत्मपरायण बनाना चाहता है, समाधि लगाकर आप बेहोश नहीं, होशदार बनेंगे । इस साधना से आप मूर्छित नहीं जागृत हो जायेंगे ।

मनुष्य साधारणतः तीन अवस्थाओं में रहता है । जागृति, स्वप्न या सुषुप्ति । इनमें से कोई एक दशा हमेशा रहती है । जागने की अवस्था में शारीरिक और मानसिक कार्य होते हैं, स्वप्न में सोते हुए भी कुछ दृश्य देखा करता है । सुषुप्ति में गहरी नींद आ जाती है, तब कुछ भी सुधि बुधि नहीं रहती, उस समय दुनियादारी के सारे झंझट समाप्त हो जाते हैं । जागृति में थकान आती है, काम करते-करते मनुष्य थकता है उसकी शक्तियाँ खर्च होती हैं सो जाने पर वह थकान उतरती है और खर्च हुई शक्तियाँ पुनः प्राप्त हो जाती हैं । सबेरे लोग तरोताजा उठते हैं उस समय शरीर में खूब उत्साह और स्फूर्ति रहती है । काम करने की अपेक्षा सोने में अधिक सुख मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि पहली अवस्था की अपेक्षा दूसरी में अधिक सुख है । जगने वाला सोकर प्रसन्न होता है ।

स्वप्न की अपेक्षा सुषुप्ति में अधिक आनन्द है । जिस दिन गहरी नींद आती है उस दिन तबियत बहुत हल्की हो जाती है । स्वप्न देखते हुए अधूरी नींद में रात भर सोने की अपेक्षा सुधि-बुधि भूलकर गहर गड्ड नींद में एक दो घण्टे भी सो जाना अधिक आनन्ददायक होता है । जिन्हें गहरी नींद आती है वे सदा स्वस्थ रहते हैं । जिस दिन गहरी नींद आती है लोग खुश होते हुए कहते हैं कि आज तो खूब गहरे सोये । निःसन्देह स्वप्न की अपेक्षा सुषुप्ति अधिक सुखदाई है । जागृत से स्वप्न अच्छा लगता है और स्वप्न से सुषुप्ति मजेदार मालूम पड़ती है । पहली दशा की अपेक्षा दूसरी में और दूसरी की अपेक्षा तीसरी से अधिक आनन्द है । उत्तरोत्तर आनन्द की वृद्धि होती जाती है, आगे का हर कदम अधिक सुखकर बनता जाता है ।

इन तीन अवस्थाओं से आगे चलकर एक चौथी अवस्था है, जिसे "तुरीय अवस्था" कहते हैं । इसमें सबसे अधिक आनन्द है संसार का कोई भी आनन्द तुरीय अवस्था के आनन्द की तुलना नहीं कर सकता । यह सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ सुख है । भाग्यवान योगी लोगों को ही यह प्राप्त होता है । इस तुरीय अवस्था को ही दूसरे शब्दों में समाधि कहते हैं । समाधि सुख का एक बार जिसने रसास्वादन किया उसके लिए और सब सुख तुच्छ एवं फीके हो जाते हैं ।

सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य बिल्कुल सो जाता है । तुरीय अवस्था में शरीर तो नहीं सोता पर विकारी मन अपनी सारी चंचलता के साथ एक गाढ़ी निद्रा में चला जाता है । मेस्मेरिज्म द्वारा प्रभावित किया हुआ मनुष्य जागते हुए भी एक प्रकार की निद्रा में सोता रहता है, उसकी अपनी बुद्धि काम नहीं करती वरन् प्रयोक्ता के आदेश पर शरीर तथा मस्तिष्क नाचता है । प्रयोक्ता यदि यह आज्ञा करे कि कपड़े उतार कर नंगे हो जाओ तो वह प्रभाव समोहित व्यक्ति बिना अपनी अक्ल को काम में लाये भरी सभा में नंगा हो जायेगा । यह एक विशिष्ट निद्रा का खेल है जो मेस्मेरिज्म द्वारा उत्पन्न की गई है । समोहित व्यक्ति का शरीर यद्यपि चलता फिरता है और काम करता है तो भी वास्तव में वह निद्राग्रस्त ही है, उसकी विचार चेतना गहरी नींद में सोई हुई है । इस प्रकार की एक निद्रा समाधि अवस्था में जाती है, यह निद्रा एक बार जब आने लगती है तो फिर प्रायः शेष जीवन उसमें व्यतीत हो जाता है ।

समाधि केवल साधना के समय ही रहती हो सो बात नहीं । आगे चलकर साधक का सारा जीवन क्रम

तुरीय अवस्था में ही चलता है । उसकी विचारधारा बहुत ऊँची दार्शनिक ढंग की हो जाती है । सांसारी मनुष्य स्वार्थ, लोभ, काम, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष की भावनाओं से घिरे रहते हैं, इन्हीं वृत्तियों की प्रेरणा से उनके कार्य होते हैं किन्तु तुरीय अवस्था में गए हुए मनुष्य की यह सारी विकार वासनाएँ सो जाती हैं, विकारी मन निद्रा में चला जाता है केवल सतोगुणी उच्च अन्तःकरण जागता और काम करता रहता है । इसलिए जो भी विचार उठते हैं, जो भी निर्णय होते हैं जो भी कार्य किए जाते हैं, वे सब दार्शनिक बुद्धि से, कर्तव्य भावना से धर्मपूर्वक किए जाते हैं । ऐसा मालूम होता है मानों दुनियादार आदमियों की विचारधारा से हजार योजन ऊँची अपनी विचारधारा है, दुनियादार आदमियों की क्रिया पद्धति से लाख योजन ऊँची अपनी कार्य प्रणाली है । जिन बातों में दुनियादार आदमी बड़ा सुख मानते हैं वे उसे तुच्छ प्रतीत होती हैं और संसार जिधर आँख उठाकर भी नहीं देखता वे बातें उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जँचती हैं । ऐसी दशा में दुनियाँ उसे सोई हुई मालूम पड़ती है और दुनियाँ को वह सोया हुआ मालूम पड़ता है । सांसारिक लोगों की भाषा में "तुरीय अवस्था" सुषुप्ति से भी गहरी निद्रावस्था समझी जाती है, दुनियादारों के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न जिसका दृष्टिकोण है, उसे यदि सोता हुआ समझा जाय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है । भोग-विलास, धन और अहंकार में इठी फिरने वाली दुनिया की निगाह में सिद्धान्त जीवी, धर्मारूढ़, कर्तव्यपरायण लोग गहरी-अत्यन्त गहरी-निद्रा में सोये हुए ही होंगे ।

आप यदि तुरीय अवस्था का, अमाधि का रसास्वादन करना चाहते हैं तो विकारी मन को सो जाने दीजिए, उसको उपेक्षित और अपमानित करके दूर हटा दीजिए । उच्च, सात्विक एवं पवित्र अन्तःकरण को जगाइये और उसी की आज्ञानुसार अपने विचार एवं कार्यों का निर्माण होने दीजिए । नीच वृत्तियों का प्रवेश आपके अन्दर किसी भी द्वार से न होना चाहिए । विकारी मन की कोई भी हलचल आपके निकट दृष्टिगोचर न हो । हर कार्य में पवित्रता, सचाई, ईमानदारी मुहब्बत, नेकनीयती, उदारता भलमनसाहत सेवा का पुट रहना चाहिए । जो भी सोचें, जो करें, इसी दृष्टिकोण से करें, यही अपनी मर्यादा रहे, इस क्षेत्र से बाहर कदम न पड़ने पाये । सात्विक मन का आदेश ही सिर आँखों पर रहे, ईश्वरीय आज्ञाओं के आगे ही अपना सिर झुके । शैतान का कोई भी प्रलोभन आपको फुसला न सके, गिरा न सके । व्यावहारिक जीवन की यही समाधि है । आपका शरीर और मस्तिष्क जितने अंशों में इस मर्यादा में आवद्ध हो जाय समझ लीजिए कि उतने ही अंशों में आपको समाधि प्राप्त हो गई । दिन-दिन अधिक उन्नति करते चलिए दोषों को अधिक सावधानी से सुधारते रहिये, धीरे-धीरे एक दिन आप पूर्ण समाधि का रसास्वादन करेंगे । जब आपका अन्तःकरण सतोगुण से लबालब भर जायेगा तो वह अमृत घट से भी अधिक आपको शान्तिदायक अनुभव होगा ।

परमात्मा सत् चित् आनन्द स्वरूप है । अपने को आप सत्यमय, चैतन्य, प्रसन्नचित्त बनाइये, यह बातें जितनी ही बढ़ती हैं उतना ही परमात्मा का तेज आप में बढ़ता है । जब पूर्णरूप से यह गुण आप में भर जायेंगे तो आप पूर्णरूप से परमात्मा का जावेंगे । यह परमपद है, इसी को मुक्ति कहते हैं, पूर्ण समाधि तुरीय अवस्था, ब्रह्म प्राप्ति, प्रभु सान्निध्य यही है । जीव का चरम लक्ष भी यही है, योगी लोग इसी के लिए नाना विधि जप-तप करते हैं । समस्त साधनाएँ इसी लक्ष तक पहुँचाने के लिए बनाई गई हैं ।

मनोनिग्रह का भौतिक लाभ किसी विषय में चित्त को पूर्णरूप से जुटा देने योग्य बना देना है, समाधि अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मन इतना सध जाता है कि उसे जिधर भी लगाया जाय आश्चर्यजनक कार्य कर दिखाता है । आत्मिक लाभ समाधि अवस्था को प्राप्त करना है । कुविचार और कुसंस्कारों को दूर करके सद्भाव और सत्कर्म में नियोजित कर देना राजयोग का उद्देश्य है । मनोनिषद् की प्रक्रिया इसके अन्तर्गत इसी दृष्टि से बताई गई है । सच्ची सम्पदाएँ बाहर नहीं भीतर हैं, सच्चा सुख संसार में नहीं अन्तःकरण है, इसलिए सब प्रकार सच्चे रूप से सुख शान्ति उपलब्ध कराने के लिए मनोभूमि को सुधारने और सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करना होता है, यही मनोनिग्रह है, इस प्रयास की पूर्णता ही राजयोग की समाधि है ।

वस्तुतः राजयोग एक पूर्णतया वैज्ञानिक-प्रक्रिया है । इसमें बताये गए आठ चरणों में प्रथम पाँच अर्थात् यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ऐसे

हैं, जिन्हें पूर्व की तैयारी माना जा सकता है । यह तैयारी कुछ इसी स्तर की है जिसे प्रयोगशाला, सन्दर्भ ग्रन्थों-सम्बन्धित उपकरणों के जुटाने जैसा कहा जा सके । कारण कि चेतना क्षेत्र में किए जाने वाले इस प्रयोग में शरीर और मन ही प्रयोगशाला तथा सम्बन्धित उपकरण हैं । इन दोनों की साफ-सफाई उपयुक्तता-यम, नियम, आसन, प्राणायाम से बन पड़ती है । प्रत्याहार का तात्पर्य है कि मन को अन्य बाह्य विषयों से हटाकर प्रयोग में जुट पड़ने के लिए तैयार करना ।

यहाँ से सारी तैयारियाँ पूर्ण हो जाती हैं । इसके बाद "धारण" का क्रम आता है । यहाँ धारणा प्रकारान्तर से वैज्ञानिकों की "हायपोथिसिस" ही है । जिसमें मन को एक विषय पर ला देना होता है । सूत्रकार पातंजलि इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए देश "बन्धश्चितस्य धारणा" (३१६) बताते हैं । इसके बाद वह स्थिति आती है जिसमें अन्तराल में प्रविष्ट हो प्रयोग में जुटे पड़ना होता है । इसे ही राजयोग में "ध्यान" की संज्ञा प्रदान की गई है ।

इस स्थिति में चेतना की विभिन्न पर्तों को पार करते हुए परम तत्व तक पहुँचने का प्रयास करना होता है । इस चरण में होने वाले चित्र-विचित्र विलक्षण अनुभव किसी भी भौतिकीविद् या रसायनविद् के अनुभवों से किसी प्रकार कम नहीं ।

इसके अनन्तर वह स्थिति आती है जब निष्कर्ष की अनुभूति होती है । सत्य की यह अनुभूति ही ज्ञान है । अनुभव प्राप्त की इस उच्चतम अवस्था को ही भारतीय चिन्तक 'समाधि' की संज्ञा प्रदान करते हैं । ऐसी दिव्य अनुभूतियों को पूर्णतया व्यक्त करने में असमर्थ होकर ही ऋषियों ने इसे "अवांगमानसगोचरम्" तथा "अप्राप्य मनसासह" कहा है, क्योंकि यहाँ पर सभी भाषाएँ मौन हो जाती हैं । समाधि में उपलब्ध अनुभवों को मात्र संकेत सूत्रों में ही व्यक्त किया जा सकता है ।

समाधि वस्तुतः है क्या ?

समाधि को अष्टांग राजयोग का अन्तिम चरण माना जाता है । यह बुद्धि की चंचलता एवं विडम्बना को श्रेष्ठ सम्यक् बनाने से प्राप्त हुई सफलता है । "धी" बुद्धि को कहते हैं जिसको सम्यक् अर्थात् स्थिर एवं सन्मार्गगामी बना लेने पर देवलोक में प्रवेश पाने की भूमिका बन जाती है । राजहंस का अनुकरण करने वाली नीरक्षीर विवेकबुद्धि मेधा या प्रज्ञा कहलाती है । जो मात्र ब्रह्मभाव में रमण करती है उसे "भूमा" कहते हैं । इन्हें दृष्टिकोण की भिन्नता भी कहा जा सका है और दूरदर्शी विवेकशीलता की सूझबूझ भी । यही ब्रह्मपरायणता भी है और धर्म चेतना भी । योग विज्ञान की दृष्टि से इसे समाधि की संज्ञा दी जाती है ।

बुद्धि की उत्कृष्टता का यही चिन्ह है कि वह उत्कृष्टता को ही चिन्तन क्षेत्र में स्थान दे, आदर्शयुक्त कार्यों को ही आचरण में उतरने दे, किसी के साथ भी ऐसा व्यवहार न होने दे, जो मानवी गरिमा की दृष्टि से हेय पड़ता हो । यही व्यावहारिक समाधि है । सर्वसुलभ भी और सर्वोपयोगी भी । इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए बुद्धि की गतिविधियों पर निरन्तर निरीक्षण-परीक्षण करते रहने वाला तन्त्र बिठाना पड़ता है । खरा-खोटा परखने वाली कसौटी सोने को घिसते ही उसका स्तर प्रकट कर देती है । बुद्धि तो संकीर्ण स्वार्थपरता में आदतों से प्रभावित रहती ही है । उसका काम अपने यजमान "मन" की हाँ में हाँ मिलाना, उसकी इच्छाओं को पूरी करते रहना है । आम आदमी की बुद्धि ऐसी ही होती है किन्तु विवेक का परीक्षण यह जाँच सकता है कि किस निर्णय का औचित्य है, किसका नहीं ? इतना ही नहीं कि वह लिप्सा लालसाओं को अस्वीकृत कर देने में भी समर्थ होता है ।

उससे ऊँची कक्षा "प्रज्ञा" की है । जिसे समाधि भी कहते हैं । जिस मानस पर प्रज्ञा का आधिपत्य होता है वह मात्र आदर्शों को ही अपनाती है । उत्कृष्टता की कसौटी पर हर विचारणा, निर्धारणा एवं योजना को कसती है । महामानवों जैसे पुण्य परमार्थ से भरे पूरे निश्चय करती है और मार्ग चुनती है । उच्चस्तरीय चिन्तन और चरित्र उन्हें नर-नारायण का स्तर प्रदान करता है । ऐसे लोग देवात्मा पुण्यात्मा एवं पुरुष-पुरुषोत्तम जैसी विभूतियों से अलंकृत किए जाते हैं । उनकी परादृष्टि की स्थिति को "समाधि" नाम से भी सम्बोधित करते हैं । सामान्य परिस्थितियों में भी उनकी मनः स्थिति उच्चकोटि की बनी रहती है । मनुष्य कलेवर में वे देवों की तरह रहते और लोकोपयोगी कार्यों में निरत रहते हैं ।

समाधि का एक क्रिया पक्ष भी है, जिसमें संकल्प बल को इस सीमा तक विकसित करना पड़ता है कि मनः क्षेत्र पर पूरा नियन्त्रण प्राप्त किया जा सके । यहाँ तक कि उसकी हलचलों को भी बन्द किया जा सके । ऐसे लोग उस शून्यावस्था में चले जाते हैं, जिसमें रक्त संचार तो जारी रहता है पर मस्तिष्क चेतना-विहीन हो जाता है । यह प्रयोग उचित समय के लिए संकल्प लेकर किया जाता है । अवधि पूरी होने पर जागृति स्वयमेव वापस लौट आती है । यह एक चमत्कारी कृत्य है, जिसे हठयोग के साथ जुड़ा हुआ समझा जाता है । विचार प्रणाली को अवरुद्ध करना, हृदय की धड़कन घटा देना, श्वास-प्रश्वास को शिथिल कर देना और जागृत अवस्था में ही निद्रा की स्थिति में पहुँच जाना, यह संकल्प बल के चमत्कार हैं । इच्छा शक्ति में न केवल विचारों को अपने साथ चलने की, उन्हें ऊँचा उठाने-नीचा गिराने की सामर्थ्य है, वरन् उसमें प्रचण्डता आने पर यह स्थिति भी आ जाती है कि शरीर के किसी अंग की क्षमता को घटाया या बढ़ाया जा सके । हठयोग की समाधि इसी अभ्यास के बढ़े-चढ़े रूप का प्रमाण है । इतने पर यह नहीं सोचना चाहिए कि समाधि लगाने वाला व्यक्ति मनोजप कर चुका-मेधा, प्रज्ञा को जगा सकने में समर्थ हो चुका । ऐसी स्थिति जब तक प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक आत्मिक उत्कर्ष का प्रयोजन पूरा नहीं होता । आत्मबल बढ़े बिना मनुष्य का देवत्व जगता नहीं । इस अभाव के रहते शाप, वरदान दे सकने जैसी ऋद्धि-सिद्धियों का दर्शन भी नहीं होता । यह भाव-सम्वेदना का विषय है, जब कि शरीर को शिथिल, तान्द्रित (ट्राँस की स्थिति) या विनष्ट कर देना मात्र संकल्प शक्ति बढ़ा लेने का चमत्कार है । यह सर्कस में दिखाये जाने वाले अजूबों के समतुल्य है । जिनमें अभ्यास करने वाले जानवर भी कितने ही ऐसे कौतुक दिखाने लगते हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है ।

हाट बाजारों में समाधि लगाने का प्रदर्शन करने वाले गड्ढे में बैठने-उठने और पुजापा बटोरने जैसी प्रदर्शन-परक विडम्बनाएँ रचते रहते हैं जिसे कोई सच्चे अर्थों में सिद्धि क्षेत्र तक पहुँचा हुआ व्यक्ति नहीं दिखा सकता । आत्म-साधनाएँ और उनकी सिद्धियाँ तो प्रायः गोपनीय रखी जाती हैं । उन्हें प्रदर्शन से बचाया जाता है । कौतुक-कौतुहल का रूप देकर भीड़ इकट्ठी नहीं की जाती । इस आधार पर भावुक लोगों की जेबें भी खाली नहीं कराई जातीं । इन कौतूहलों को देखकर सामान्य जन भ्रम में पड़ते हैं और उद्देश्यों को भूल कर इन तथाकथित सिद्ध पुरुषों के आगे पीछे मनोकामनाएँ पूर्ण कराने के निमित्त चक्कर लगाते हैं । यह साधनारत योगी-जनों के लिए तथा सर्वसाधारण के लिए अहितकर ही है ।

वस्तुतः समाधि उत्तरोत्तर विकसित होने वाली एक उच्चस्तरीय सुदृढ़ मनोभूमि है जिसमें अनगढ़ अनाड़ी तथा अनियन्त्रित मन को शनैः शनैः साधा एवं दीक्षित किया जाता है । ललक, लिप्साओं, वासना, तृष्णाओं से पीछा छुड़ाया जाता है । अन्तर्निहित दोष-दुर्गुणों, कषाय-कल्मषों को चुन कर उखाड़ फेंकना होता है । कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियों को इसलिए नियन्त्रित किया और निर्मल बनाया जाता है ताकि वे अनभ्यस्त स्थिति में शक्ति सम्पन्नता की बाढ़ में बहने न पायें । हाईवोल्टेज की बिजली के लिए अधिक सूक्ष्म कण्डक्टर तथा शक्तिशाली तार लगाये जाते हैं । वर्षा आने से पूर्व नवीन बाँध को हर प्रकार से सुदृढ़ कर लिया जाता है । कहीं भी राई-रत्ती भर लीकेज या कमजोरी नहीं रहने दी जाती । फसल में उर्वरक डालने से पूर्व कृषक अनावश्यक घास-पात उखाड़ देता है अन्यथा लपककर वे ही सारा खाद पानी उदरस्थ कर लेते हैं । ध्यान-धारणा जैसी योगपरक विधा अपनाने से साधक की अन्तःसामर्थ्य बढ़ जाती है । दुर्भाग्य से यदि कोई दोष-दुर्गण अनियन्त्रित रह गए तो प्रगति की दिशा अवरुद्ध हो जाती है और वही जीवन पर हावी होते जाते हैं ।

दोष-दुर्गुणों को क्रमशः समाप्त करने तथा जागृत शक्तियों को धारण कर चिरस्थायी बनाये रखने के लिए योग साधक को विभिन्न प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है । सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य जैसे यम-नियमों की तुलना समाधि क्षेत्र में गहरे नींव के पत्थरों से की गई है । प्रत्याहार, धारणा का अनुशासन इसलिए बनाया गया है कि क्रमशः विकास करने से अतीन्द्रिय क्षमताओं का जागरण होने लगता है । जागृत शक्तियों का कहीं दुरुपयोग न होने पावे इसके

लिए प्रज्ञास्तर की विवेक, बुद्धि का आश्रय लिया और संयम साधा जाता है । ध्यान धारणा की इसमें विशिष्ट भूमिका होती है ।

योग के तत्व दर्शन की खोज करने वाले साधक जिज्ञासुओं का इतना ही जानना और साधना पर्याप्त है कि सिद्धावस्था तक पहुँचते-पहुँचते विचारणाओं और भावनाओं पर पूरी तरह नियन्त्रण हो जाता है । न मन निरर्थक कल्पना करता है और न भावनाओं में हीनता आती है । सुदृढ़ सुनिश्चित मान्यताओं का परिपक्व होना और आत्मजय प्राप्त कर लेना ही समाधि का व्यावहारिक रूप है जिसकी ओर क्रमशः बढ़ा जा सकता है ।

बहुत से साधकों को समाधि के जानने में सन्देह होता है । कोई तो जड़ समाधि, जो कि एकान्त स्थान में बैठकर लगाई जाती है, उसी को समाधि कहते हैं । इससे अन्य चेतन समाधि, जो कि प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान में लगाई जाती है, उसको समाधि नहीं कहते । अब इन दोनों समाधियों में से कौन-सी मुख्य, कौन-सी गौण और कौन-सी समाधि करने में सहज तथा फल में विशेष है, इस बात का निर्णय प्रश्न उत्तर, द्वारा किया जाता है ।

प्रश्न—समाधि किसको कहते हैं ? यानी समाधि का स्वरूप क्या है ? (१) किस प्रकार समाधि की जाती है ? (२) और प्रत्येक व्यक्ति चाहे स्त्री हो, या पुरुष हो, उसको किस प्रकार समाधि विधेय है ।

उत्तर—समाधि, इसमें दो पद हैं । एक सम, दूसरा धी । सम-समान, धी-बुद्धि । अर्थात् बुद्धि का समभाव में स्थिर होना समाधि है । दूसरा अर्थ सम का-पर-ब्रह्म है ।

गीता में भगवान का वचन है कि—

"निर्दोषं हि समं ब्रह्म ।"

जिस निर्दोष और सम ब्रह्म में चित्त समाधीय है यानी जिस ब्रह्म में चित्त समाधान यानी निश्चल किया जाय वह समाधि है । अर्थात् उस समरूप परमात्मा में सब ओर से बुद्धि को निरोध करके निश्चल करना समाधि है । यह पहले प्रश्न का उत्तर है ।

दूसरे प्रश्न का उत्तर-एक समाधि तो एकान्त स्थान में जाकर, जगत से मुँह मोड़कर लगाई जाती है और दूसरी समाधि जगत में रहते हुए, सर्वव्यवहार करते हुए लगाई जा सकती है । इसका नाम चेतन समाधि है । इस चेतन समाधि को जगत व्यवहार के साथ-साथ लगा सकते हैं, यानी बुद्धि को जगत व्यवहार से विक्षिप्त नहीं होने देना, हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, इत्यादि प्रत्येक समय में बुद्धि को सम रखना, क्योंकि यह हानि-लाभ इत्यादि बाहर के धर्म हैं । उन बाहर के धर्मों को अपने अन्दर बुद्धि में नहीं लेना । जब-जब बाहर के धर्म अन्दर जायें तब-तब उनको बाहर ही रोकने का प्रयत्न करना । यानी हानि-लाभ, सुख-दुःख, काम-क्रोध, इत्यादि यह बाहर के धर्म हैं इनको अन्दर बुद्धि में नहीं लेना चाहिए । इस प्रकार अभ्यास करते-करते बुद्धि सम होने लगेगी और सम बुद्धि होना यही समाधि है ।

इस चेतन समाधि को स्त्री हो चाहे पुरुष, सब कर सकते हैं । यह समाधि करने में भी सुखकर है, क्योंकि इस समाधि को करने के लिए कहीं एकान्त स्थान में आसन लगाकर बैठने की आवश्यकता नहीं है । यह समाधि तो चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते इत्यादि हर समय कर सकते हैं किन्तु जब-जब संसार के व्यवहार से बुद्धि चंचल अथवा विषम होने लगे तब-तब बुद्धि को सम अथवा निश्चल करने की आवश्यकता है । जिस प्रकार हमारा रोटी बनाने का चौका किसी अछूत व्यक्ति के आ जाने से छूत हो जाता है, इसी प्रकार यह बुद्धिरूपी चौका भी अछूत सुख-दुःख, काम-क्रोध, हानि-लाभि, इत्यादि के आ जाने से छूत हो जाता है । क्योंकि काम, क्रोध आदि बाहर अनात्मा के धर्म बुद्धि से अन्य हैं, अन्यों के धर्म बुद्धि में आने से बुद्धि भ्रष्ट हो जायेगी और बुद्धि के भ्रष्ट होने से आत्मा का पतन । गीता में साक्षात भगवान ने अपने मुखार बिन्द से स्पष्ट कहा है—

"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।"

इस चेतन समाधि का फल अधिक और परिश्रम थोड़ा है, क्योंकि बिना चेतन समाधि के सिद्ध हुए तो आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता ।

बुद्धि को सम करना यही समाधि है, ऐसा तत्व-वेत्ताओं का कथन ठीक ही है, क्योंकि आत्मा में कभी कोई विकार नहीं आता । आत्मा न कभी जन्मता है, न कभी मरता है, न कभी सुखी अथवा दुःखी होता है । बुद्धि ही जन्मती है, बुद्धि ही मरती है । बुद्धि

के जन्मने-मरने से आत्मा का जन्मना-मरना आत्मा में प्रतीत होता है । बुद्धि के समभाव में स्थिर रहने में एक दृष्टान्त इस प्रकार है ।

एक गृहस्थी सेठ जो सिद्धता करके प्रसिद्ध था । सब कोई मुक्तकण्ठ से उसकी सिद्धता की प्रशंसा किया करते थे कि—अरे भाई ! देखो वह अमुक सेठ गृहस्थी होते हुए और गृहस्थ के सर्व-व्यवहार यथावत् करते हुए कैसा सिद्ध ज्ञानी है । भाइयो ! हम सब को भी उस सेठ जैसा वर्ताव करना चाहिए, यही मनुष्य जीवन का लाभ है । ऐसा सब किसी को कहते हुए एक दिन एक महात्मा ने सुना । महात्मा ने सोचा कि—गृहस्थी सेठ और ऐसा सिद्ध ? चलकर उस सेठ की परीक्षा करनी चाहिए । ऐसा सोच कर महात्मा सेठ के घर चल दिए ।

महात्मा सेठ के घर पहुँच कर सेठ से बोले बच्चा ! हम तेरे यहाँ कुछ दिन ठहरना चाहते हैं । सेठ ने कहा-बहुत अच्छा, आइये विराजिये । बड़ा सौभाग्य है जो आप आये । महात्मा को रहते-रहते जब कई दिन हो गए । तब एक दिन सेठ के पास खबर आयी कि, आपका अमुक जहाज समुद्र में डूब गया । यह सुनते ही सेठ के अपने मुनीम से कहा कि, कोष में से दस हजार रुपये दान कर दो । महात्मा चुपचाप बैठे-बैठे देखते रहे कुछ न बोले । इसके तीन चार दिन पीछे फिर खबर आयी कि, सेठ जी साहिब ! आपका जहाज जो डूब गया था सो निकल आया है कोई हानि नहीं हुई । यह सुन कर सेठ ने फिर मुनीम से कहा कि भाई इसी समय दस हजार रुपये फिर दान कर दो । यह वृतान्त देखकर अब की बार महात्मा सेठ से इस प्रकार कहने लगे ।

महात्मा—अरे सेठ ! तू यह बतला कि, यह तेरी कमाई धर्म की थी अथवा अधर्म की थी । जो तेरी कमाई धर्म की थी, तब तो तुझे उसके डूबने पर दान नहीं करना चाहिए था और यदि यह तेरी कमाई अधर्म की थी, तब उसके निकलने पर तुझे दान नहीं करना चाहिए था । यह तेरा दान करना दोनों प्रकार से असंगत है ।

सेठ—महात्मा जी ! मैंने जहाज के डूबने अथवा निकलने की खुशी में यह दान नहीं किया है । चाहे कमाई धर्म की हो, अर्धम की हो, इससे कोई प्रयोजन नहीं । मैंने तो अपने मन को देखा कि-जब जहाज के डूबने की खबर आयी तो इस मन के अन्दर किसी प्रकार का विकार नहीं था, यह समभाव में ही स्थित था । तब मन की समभाव स्थिति पर मैंने यह न्यौछावर रूप दान किया है । इसी प्रकार जहाज के निकलने की खबर आने पर भी मैंने मन को देखा कि, मन के अन्दर क्या कोई हर्ष का चिन्ह है, परन्तु नहीं, उसके अन्दर किसी प्रकार का कोई चिन्ह नहीं था, वह मन तो पूर्ववत् ही था, ऐसा देख कर फिर मैंने मन को न्यौछावर रूप यह दान किया है । तब महात्मा कहने लगे—बच्चा ! तू धन्य है । तेरा मन धन्य है ।

महात्मा सेठ की प्रशंसा करते हुए अपने स्थान को चले गए और कहने लगे कि, सेठ क्या है, सेठ तो सच्चा ज्ञानी तथा सिद्ध है । ऐसी सिद्ध तो हमारे में भी नहीं, जब कि हम घर बार छोड़ कर एकान्त में आकर बैठे हैं ।

यह सम बुद्धि का फल है और सम बुद्धि करना या होना यही ब्रह्म का मिलना है । जहाँ बुद्धि में जब कोई विकार नहीं होता, तब बुद्धि समता रूप ब्रह्म में ही स्थिति होती है, अर्थात् वहाँ पर सम ब्रह्म ही शेष रहता है, क्योंकि यह बात हम सब को प्रत्यज्ञ रूप से भी अनुभव में आती है, कि जिस समय बुद्धि निर्विकार रूप से स्थित होती है, तभी हम सब को आनन्द का अनुभव होता है, जिस समय बुद्धि में कुछ गड़बड़ होती है, तभी हम दुःखी हो जाते हैं अथवा घबड़ा जाते हैं । जिस समय हमको अनुकूल यानी इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है उस समय हम सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु अज्ञानवश हम समझ लेते हैं कि—इस वस्तु की प्राप्ति से हम को यह आनन्द प्राप्त हुआ है, परन्तु ऐसा नहीं, कि इच्छित वस्तु से यह आनन्द प्राप्त हुआ है, किन्तु उस वस्तु के मिलने से हमारी बुद्धि समभाव को प्राप्त हुई और सम परमात्मा है । बुद्धि के सम होने से स्पष्ट परमात्मा का प्रकाश बुद्धि में आया । बस परमात्मा के आनन्द से उस समय हमें आनन्द अथवा सुख प्राप्त हुए । यदि विषयों में आनन्द होता तो विषय की प्राप्ति के पश्चात भी वैसा ही आनन्द रहना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं होता विषय प्राप्ति के कुछ समय पीछे वैसा आनन्द नहीं रहता । इसलिए सिद्ध हुआ कि, सम बुद्धि ही

समाधि है और वही परमात्म प्राप्ति है । वही परम आनन्द है ।

भौतिक उपलब्धियाँ बादलों की बिजली की तरह चमकती और कुछ ही समय में विलीन हो जाती हैं । वैभववानों की सुविधाएँ अवश्य अधिक रहती हैं पर ईर्ष्या, द्वेष, असन्तोष, अपहरण आदि की आशंकाओं से चित्त में अशान्ति की मात्रा अनायास ही बढ़ती जाती है । वासना, तृष्णा की आग ऐसी है जो ईंधन पाकर तृप्त नहीं होती वरन् और भी अनेक गुनी होकर भड़कती है ।

फिर स्थिर और वास्तविक आनन्द क्या है ? इसकी विवेचना करते हुए शास्त्रकारों ने—तत्वदर्शियों ने वास्तविक आत्मिक सुखों को तीन प्रकार का बताया है । इनमें स्वर्ग, मुक्ति और समाधि का उल्लेख होता है । कहा गया है कि वह परिस्थितियाँ जिन्हें भी हस्तगत होती हैं, वे अक्षय सुख की अनुभूति करते हैं, फिर उनके हाथ से आनन्द कभी जाता ही नहीं । यह चाव लगने पर फिर उसे छोड़ने का मन भी नहीं करता ।

वर्तमान मान्यता के अनुसार यह तीनों ही कठिन दीखते और असम्भव लगते हैं । समझा जाता है कि स्वर्ग और मुक्ति मरने के बाद मिलते हैं । स्वर्ग के लिए देवलोक जाना होता है और मुक्ति ब्रह्मलोक में पहुँचने पर मिलती है । समाधि के बारे में भी ऐसी ही मान्यता है कि अपने को संज्ञा शून्य बनाने की स्थिति बड़ी कठिन योग साधनाओं के सहारे कालान्तर में मिलती है । उन्हें प्राप्त करने की कठिनाइयों की बात सोचने पर मनुष्य निराश हो जाता है । निराशा की स्थिति में मनुष्य वह भी नहीं कर पाता जो कर सकता है । जिन्हें अत्यधिक कठिन, असम्भव स्तर का मान लिया जाय, उनके लिए निराश मनःस्थिति के कारण जो प्रयास हो सकते थे, वे भी नहीं बन पड़ते ।

वस्तुतः स्वर्ग मुक्ति और समाधि सम्बन्धी सभी मान्यताएँ भ्रमपूर्ण हैं । स्वर्गलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, सम्बन्धी मान्यताओं के सम्बन्ध में जो विवेचन किया गया है वह अलंकारिक है । ग्रह नक्षत्रों के सम्बन्ध में विज्ञान ने अब तक बहुत खोज-बीन कर ली है । ब्रह्माण्ड का स्वरूप और ढाँचा अब बुद्धि क्षेत्र के लिए अगम्य नहीं रहा, पर उसकी पकड़ में स्वर्ग लोक या ब्रह्म लोक जैसे किसी स्थान का कहीं पता नहीं चला है, फिर समीपतम तारक भी इतनी दूर हैं कि बिना द्रुतगामी वाहनों के उन तक पहुँचने की आशा नहीं की जा सकती । मरणोत्तर स्थिति में भी प्राण कहीं अन्यत्र जा सकेगा, ऐसी सम्भावना कम ही है ।

फिर स्वर्ग आदि लोक क्या हैं ? इन्हें चेतना की परतें ही कह सकते हैं । यह मनुष्य के उत्कृष्ट व्यक्तित्व, स्तर एवं दृष्टिकोण पर ही निर्भर है कि मनुष्य जिस भी मनःस्थिति में रहे, उसे उसी लोक का वासी कहा जाय ।

सन्तोषी, प्रसन्नचित्त, कर्तव्यपरायण, सज्जन, समझदार, ईमानदार, जिम्मेदार और बहादुर मनुष्य जिस प्रौढ़ और परिपक्व मनःस्थिति में रहते हैं उसे स्वर्ग कहते हैं । कठिनाइयाँ उनके सामने भी आती रहती हैं, पर वे उन्हें अपनी परीक्षा मानते हैं कि, समाधान खोजने या सहने का पराक्रम या साहस उदय हुआ या नहीं । ऐसी आत्माएँ स्वर्गलोक में काम करती हैं । उनकी प्रसन्नता, प्रफुल्लता को कोई छीन नहीं सकता है ।

मुक्ति भव-बन्धनों से छुटकारे को कहते हैं । भव-बन्धनों में हथकड़ी, बेड़ी और गले की तौक की तुलना दी गई है, पर इन्हें क्रूर, दुर्द्धर्ष अपराधियों को बन्दीगृहों में ही पहनाया जाता है । सामान्य लोग तो खुले हुए भी फिरते हैं । इस बन्धन अलंकार का तात्पर्य लोभ, मोह और अहंकार से है । उन्हें मनुष्य स्वयं ही अपने ऊपर लादता और मकड़ी के जाले की तरह उनमें स्वयं ही फँसता है । वह चाहे तो उस जाल-जंजाल को विवेक दृष्टि अपनाकर आसानी से समेट भी सकता है ।

मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित हैं । इतना अद्भुत शरीर और इतना बुद्धि कौशल उनकी पूर्ति कुछ ही घण्टों के परिश्रम में पूरा कर सकता है । विपुल सम्पदा का लालच तो उसके संग्रह या अपव्यय के लिए ही होता रहता है । यदि उस ललक को छोड़ा जा सके तो समझना चाहिए कि लोभ का अस्तित्व समाप्त हुआ ।

परिवार के प्रति कर्तव्य का निर्वाह एक बात है और मोहग्रस्त होकर उनके लिए ही जीवन निछावर कर देना सर्वथा दूसरी । बच्चों को बढ़ाते जाना, उन्हें

सुविधाओं से लादते जाना, इसी मोह को बेड़ी कहते हैं। परिवार को छोटा रखना, नये सदस्य बनाना, बढ़ाना, जो है उन्हें ईश्वर का उद्यान समझकर माली की तरह साज सँभाल करते रहना, समुन्नत बनाना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए। घर के सदस्यों को स्वावलम्बी, सुसंस्कारी बनाने भर की आकांक्षा हो तो उसकी पूर्ति सहज ही सम्भव है। परिवार का उद्यान अपने आप में सुधारने, आदर्श प्रस्तुत करने की पाठशाला है, जिसमें पढ़ाने और पढ़ने के दोनों ही सुयोग साथ-साथ मिलते हैं। मोहग्रस्त लोग ही कुटुम्बियों को कुटेवों में अभ्यस्त कराते हैं और उन्हें दुःख देने और स्वयं सुख पाने का कुचक्र रचते हैं। इस मोह पाश से कोई भी दूरदर्शी, तत्वदर्शी सहज ही छूट सकता है और उसी परिकर को अपने आनन्द का उद्गम बना सकता है।

भौतिक समाधि में एकाग्रता का—योगनिद्रा का अभ्यास करना पड़ता है। शरीर जड़ है उसे प्रसुप्ति जैसी अभ्यस्त स्थिति में पहुँच जाने का अभ्यास भी भौतिक चेष्टा या सफलता ही कहा जा सकता है। जड़ समाधि के अभ्यासी उस तन्द्रा से उठने पर फिर प्रपंचों के कुचक्र बुनते देखे गए हैं। इस अद्भुत कौतुक में वे लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। यश और धन बटोरते हैं। इन दोनों की असाधारण मात्रा किसी भी व्यक्ति को अधोगामी बना सकती है। समाधि का तमाशा दिखाने वाले यदि इसी प्रकार के माया जाल रचें तो आश्चर्य भी क्या है? जिन्हें वास्तविक समाधि लगानी आती है, वे उसे आत्म-कल्याण के लिए प्रयुक्त करते हैं, न कि विज्ञापन के लिए। जिनमें वास्तविकता है, वे अपने अभ्यास को गोपनीय ही रखते हैं।

समाधि वस्तुतः सन्तुलित बुद्धि का नाम है। इसे गीता में स्थितप्रज्ञ के नाम से सम्बोधित किया गया है। अपने आप पर यथार्थवादी दृष्टि रखना, अन्तर्मुखी रहना और सांसारिक कर्तव्यों को शरीर धारण करने का किराया या ईश्वर इच्छा का अनुशासन मानकर करते रहना स्वाभाविक समाधि है। यही अनासक्त कर्मयोग है। इसे अपनाये बिना तो शरीर के कलपुर्जों को जंग खा जाती है और उसकी निरोगता छिन जाती है, साथ ही प्रगति, प्रसन्नता भी।

कर्तव्य धर्म का पालन करते हुए निरंहकार और निर्लिप्त रहना व्यावहारिक जीवन का समाधि योग है। इसे कबीर ने "सहज समाधि" कहा है। सुव्यवस्थित, सन्तुलित और शालीनतायुक्त मनःस्थिति का निर्माण कर लेना समाधि योग का ही प्रत्यक्ष स्वरूप है।

इस प्रकार स्वर्ग, सुख, यहाँ मानवों के साथ रिश्ता जोड़ने से—मुक्ति, लोभ, मोह और अहंकार के प्रपंच से बच निकलने को समझा जाता है। समाधि अर्थात् सम्यक बुद्धि। यह सुसन्तुलित उच्चस्तरीय चिन्तन का नाम है।

शारदा तिलक (२५/२७) में जीवात्मा और परमात्मा के निरन्तर अभेद में अनुभूति को समाधि कहा गया है। गौड़पाद स्वामी ने कहा है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥

—प्रा. ३/३७

"सारे बाह्य शब्दादि व्यवहार के बिना, सारे सूक्ष्म प्रपंच रूप चिन्ता के बिना, सारे अविद्यादि क्लेशों के बिना, सदा स्वयं प्रकाशमान, ज्योति-स्वरूप अचल भयादि दैव रहित स्व-स्वरूप का नाम ही समाधि है।"

समाधि से पूर्णता का आश्वासन देते हुए शिवसंहिता में कहा गया है—

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिद्वापि चिन्तयेत्।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्॥

—शिव संहिता

"जिस काल में सविकल्प समाकल्प के साधन से निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्य का चिन्तन छोड़कर वृत्ति रहित हो जाता है। उस समय साधक स्वयं पूर्ण बन जाता है।"

शारदा तिलक २५।६४ में कहा गया है कि, जब कुण्डलिनी जागृत होती है और बिजली की तरह मूलाधार चक्र से ऊपर सुषुम्ना के मार्ग से चढ़ती है, तो वह षट्चक्रों को भेदन करती चलती है। जब वह सहस्रार में पहुँचती है, तो वह अपने इष्ट पर-शिव से मिल जाती है। यही समाधि अवस्था है। वेदान्त में इसे ही—'तत्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्मः', 'प्रज्ञानं ब्रह्मः', 'शिवोऽहं', 'सच्चिदानन्दोऽहम्' आदि महावाक्यों द्वारा सम्बोधित किया गया है। वेदान्त की यही अद्वैत अवस्था है।

अष्टांग योग का महत्त्वपूर्ण सोपान है : समाधि

समाधि राजयोग का अन्तिम चरण है । योगों में प्रधान चार हैं—एक, राजयोग, दूसरा, हठयोग, तीसरा, मन्त्रयोग, चौथा, लययोग । इन सबके अपने-अपने प्रतिफल हैं । सर्वसाधारण के लिए अधिक सरल और अधिक उपयोगी राजयोग बताया गया है । अन्य योग अधिक तैयारी अधिक तत्परता-तन्मयता चाहते हैं, पर राजयोग उतने एकान्त या विरक्ति की अपेक्षा नहीं करता । वह साधारण एवं स्वाभाविक जीवन-क्रम के साथ ही चलता रहता है ।

राजयोग के निर्धारित क्रम में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान के सात चरणों को पूरे करने के उपरान्त अन्तिम प्रयोग समाधि का आता है । लोग उसे अधिक कौतूहलवर्धक आश्चर्यजनक मानते हैं । इसलिए प्रदर्शनकारी जहाँ-तहाँ समाधि लगाने का कौतुक करते हैं । उस कौतूहल से प्रभावित भावुक भक्तजनों की उत्पन्न कौतुक मिश्रित श्रद्धा का दोहन यह प्रदर्शनकारी करते हैं । चढ़ावे के रूप में धन, सम्मान प्रचुर मात्रा में अर्जित करते हैं ।

समाधि के बारे में उत्सुक लोगों को जानना चाहिए कि वह पके फल के बीच में निकलने वाला ऐसा बीज है जिसमें नया पौधा उत्पन्न करने की क्षमता विकसित हो चुकी होती है । उस स्थिति तक पहुँचने के लिए इससे पहले वाली सीढ़ियाँ पार करनी होती हैं । ऊँची छत पर पहुँचने के लिए एक-एक सीढ़ी पार करते हुए चढ़ना और पहुँचना पड़ता है । ऐसा नहीं हो सकता कि जमीन पर खड़ा व्यक्ति छलांग लगाकर सीधा छत पर जा बैठे । स्कूल में प्रवेश करते ही एम. ए. की डिग्री हस्तगत हो जाय, ऐसा नहीं हो सकता है । इसके लिए एक-एक दर्जा पास करते हुए कॉलेज में भर्ती होना होता है और अन्त में स्नातकोत्तर परीक्षा पास करके कॉलेज छोड़ना पड़ता है । कॉलेज छोड़ने का तात्पर्य है कि स्थूल शरीर के बन्धन ढीले करते हुए अपने अधिकांश महत्त्वपूर्ण कार्य सूक्ष्म और कारण शरीरों द्वारा सम्पन्न करने लगना । इसमें योगी की सत्ता तो यथावत् बनी रहती है, किन्तु वह सामान्य शरीर धारण की तरह दृष्टिगोचर नहीं होती । उसे आहार-निद्रा आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । सूक्ष्म और कारण शरीर वायुभूत होते हैं । उन्हें वे आवश्यकताएँ नहीं पड़ती जिन पर स्थूल शरीर का निर्वाह होता है । इस स्थिति का ही नाम जीवन मुक्ति है । उसमें स्थूल शरीर की आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ भर निवृत्त हो जाती हैं । जीवन प्रवाह यथावत् बना रहता है । वरन् सच तो यह है कि वह और भी अधिक तीव्र हो जाता है । शरीर का बोझिल झंझट अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए जो साधन सामग्री माँगता है उसकी आवश्यकता न रहने पर आत्मिक शरीर की गति, किसी भी दिशा में तीव्र हो जाती है । शरीरगत बोझ, दायित्व और सम्वेदन घट जाने के कारण यह स्वाभाविक भी है ।

सिद्ध योगीजन प्रायः सूक्ष्म शरीर में रहते हैं । स्थूल शरीर को तो पीछे छोड़ देते हैं या समय पर काम लाने के लिए उसे हिम-प्रदेश में जमा देते हैं । वैसे सूक्ष्म शरीर को भी संकल्प शक्ति के आधार पर प्रकट रूप में दर्शाया जा सकता है । जैसे प्रेत, पितर योनि वाले प्राणी सूक्ष्म शरीरधारी होते हैं पर कभी-कभी आवश्यकतानुसार प्रकट भी होते रहते हैं । उसी प्रकार जीवनमुक्त सूक्ष्म शरीरधारी योगीजन भी आवश्यकतानुसार दृश्य या अदृश्य होते रहते हैं । अणिमा, महिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ इसी की स्वाभाविक स्थिति हैं । सूक्ष्म शरीर हल्का होता है । उसे कितना ही सिकोड़ा या फैलाया जा सकता है । हनुमत् लीलाओं के सम्बन्ध में ऐसे विवरण आते भी हैं, एक स्थान पर लिखा है—"तब कपि भयऊ भधूरा कारा" एक स्थान पर आता है—"मशक समान रूप कपिधारी" वायु वेग से चलकर संजीवनी बूटी लाना भी उसी स्थिति के विभिन्न प्रयोग हैं, पर यह स्थिति तब आती है जब राजयोग की आठों कक्षाएँ पढ़कर उनमें निष्णात् बना जाता है ।

राजयोग के प्रथम दो चरण हैं—यम और नियम । यह पाँच-पाँच प्रकार के हैं । इन्हें आत्मशोधन कह सकते हैं । शरीर और मन की पवित्रता, शालीनता एवं अनुशासन अपनाना भी । शरीर संयम से चरित्र गठन होता है और चिन्तन की पवित्रता से दृष्टिकोण का परिमार्जन । संयमशीलता का यथाविधि परिपालन । इतना किए बिना गाड़ी नहीं बढ़ती । उसका ढाँचा

कितना ही सुन्दर क्यों न हो पर दो पहिये तो सही स्थिति में रहने ही चाहिए ।

दूसरा द्विविधि चरण है, आसन-प्राणायाम का । उसे कायगत स्वास्थ्य सन्तुलन कहा जा सकता है । आसनों को मर्मस्थलीय व्यायाम कह सकते हैं । पहलवानों द्वारा प्रयोग में आने वाले व्यायाम प्रधानतया माँसपेशियों के होते हैं, पर योगाभ्यास में प्रयुक्त होने वाले आसन 'एक्यूप्रेशर' विधान है । चीनी उपचार पद्धति में एक्यूपंचर और एक्यूप्रेशर विधान आदि हैं और उनमें मर्मस्थलों को छेदा या दबाया जाता है । इस विधि से वे शारीरिक और मानसिक रोगों से छुटकारा कराने में सफल होते हैं । आसनों में ऐसे ही मर्मस्थलों को उत्तेजित किया जाता है जिससे शरीर की मर्मस्थली नियमित होकर स्वास्थ्य सन्तुलन में सहायता करे ।

प्राणायाम यों गहरी साँस लेकर फेंफड़ों का व्यायाम करना, अधिक ऑक्सीजन प्राप्त करना मात्र मालूम देता है, किन्तु उसका प्रधान लक्ष्य मानसिक संयम है । श्वासों के आरोह-अवरोह में समस्वरता आ जाने पर मन स्थिर होने लगता है । 'सोहम्' साधना प्राणायाम विधा का अध्यात्म मिश्रित अगला चरण है । उससे ध्यान धारणा की पूर्व भूमिका बनती है और आत्मिक प्रगति की दिशा में और अधिक चल पड़ना सम्भव होता है ।

प्रत्याहार और धारणा का युग्म अन्तःकरण चतुष्टय का परिमार्जन है । मन की दौड़ बंदर जैसी कुदक-फुदक करते रहने की है । वह प्रधानतया अनगढ़ कल्पना करता रहता है । इसे ध्यान द्वारा एकाग्र किया जाता है और विवेक की खराद पर चढ़ा कर उसे हीरे की तरह अधिक रूपवान एवं चमकदार भी बनाता है । धारणा श्रद्धा-विश्वास को कहते हैं । सन्देहों, कुतर्कों का निराकरण भी । आस्था के परिपक्व होने से मन के कल्पना चित्र प्रत्यक्ष जीवन में साकार होने लगते हैं । आत्मिक प्रगति के यह बढ़ते हुए सोपान हैं । दोनों पक्ष अपने आप में प्रगति की दिशा में अग्रगामी बनाते हैं ।

प्रत्याहार, धारणा और ध्यान से पूर्ववर्ती स्थिति है, पर है वह समाधि की तरह एकाकी । उसमें निरोध प्रधान है । मन का स्वभाव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते रहने पर सभी के ऐसे स्वभाव संग्रह कर लेता है जो मानवी मान-मर्यादा के अनुरूप नहीं पड़ते । इनकी काट करनी पड़ती है । लोहे से लोहा काटते हैं । सद्विचारों से कुविचार काटे जाते हैं । इसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन और मनन यह चार संस्कार मन पर रगड़ाई करने एवं कलई चढ़ाने के काम में लाये जाते हैं । प्रत्याहार वस्तुतः अवांछनीयता विरोधी है, जिसके लिए सद्विचारों का सत्प्रवृत्तियों का, नीति मर्यादाओं का, अवगाहन करना पड़ता है ।

उपर्युक्त सातों पक्षों को पूरा कर लेने के उपरान्त राजयोग की अंतिम भूमिका समाधि में प्रवेश करने का अवसर आता है ।

समाधि दो प्रकार की होती हैं—एक सविकल्प, दूसरी निर्विकल्प । संविकल्प में जीवनचर्या के समस्त क्रियाकलाप अपने ढंग से यथा समय होते रहते हैं । मात्र दृष्टिकोण अपने सम्बन्ध में और सांसारिक वस्तुओं के सम्बन्ध में परिमार्जित करना पड़ता है । वायुयान पर चढ़कर नीचे देखने पर सभी वस्तुएँ छोटी लगती हैं । साथ ही आकाश का बड़ा भाग भी दीख पड़ता है । यही मनःस्थिति सविकल्प समाधि में होती है । अपना अस्तित्व आकाश की तरह विस्तृत और सांसारिक लोभ, मोह, अहंकार की क्षुद्रता का भान होता है । ऐसे व्यक्ति प्रज्ञावान या मनीषी कहे जाते हैं । उनकी जीवनचर्या देवोपम हो जाती है । गुण, कर्म, स्वभाव की शालीनता का परिष्कार उनके साथ-साथ चलता है । वे अकेले नहीं होते । दैवी विभूतियाँ, विशेषताएँ एवं क्षमताएँ उनके साथ होती हैं । उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का अवलम्बन उनके साथ पूरी तरह जुड़ा रहता है । यही मध्यम मार्ग है जिसे बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या छोड़कर अपनाया था । इसी के बारे में कबीर ने कहा है— "साधो सहज समाधि भली ।"

इसके अतिरिक्त दूसरी समाधि है, निर्विकल्प । इसका हठयोग एवं लययोग के साथ सम्बन्ध जुड़ता है । हृदय की धड़कन श्वास-प्रश्वास क्रिया को रोक देने पर शरीर जीवित रहते हुए निःश्चेष्ट हो जाता है । उसे किसी गड्ढे में या कमरे में देर तक सुरक्षित रखा जा सकता है ।

अभ्यास करने पर इस साधना की सिद्धि तो हो जाती है, पर यदि प्राण को ऊपर से नीचे उतारना न

बन पड़ा और धड़कन फिर से तेज न हो सकी तो उस मध्यवर्ती व्यवधान की अवांछनीय प्रतिक्रिया भी हो सकती है । पक्षाघात्, उन्माद जैसा कोई रोग भी हो सकता है । निर्विकल्प समाधि की आवश्यकता इसलिए समझी गई है कि नियत समय तक स्थूल शरीर को निचेष्ट करके अचेतन मन को इष्टदेव में या किसी महान प्रयोजन में नियोजित किया जा सके । इतने भर काम के लिए इतना बड़ा झंझट मोल लेना जोखिम भरा है । यह कार्य तो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान को परिपक्व करने से भी हो सकता है । जिन दिनों शरीर शुद्ध और सात्विक थे, उन दिनों यह सरल भी था और सम्भव भी, पर आज के जन-साधारण की सामान्य स्थिति. को देखते हुए निर्विकरण समाधि का अभ्यास या प्रदर्शन जोखिम भरा ही है, उसका विचार छोड़ दिया जाय तो ही अच्छा है । जो कार्य राजयोग के तीन अभ्यासों से हो सकता है, उसके लिए इतनी लम्बी छलांग क्यों लगाई जाय ?

यह युग बाजीगरी का है । इसमें ऋद्धि-सिद्धियों के अनेक उपचार अनेक बाजीगर-जादूगर कर दिखाते हैं और लोगों को हैरत में डालते हैं । अब थोड़ा-सा क्रियाकुशल व्यक्ति जादूगरी के उन हथकंडों को सीख सकता है जो दर्शकों को किसी देवी-देवता या यंत्र-तंत्र की करामात दीखें । इस संदर्भ में समाधि का तमाशा दिखाने में भी कई लोगों ने प्रवीणता प्राप्त कर ली है और वे उस प्रदर्शन का लाभ जादूगरों की तरह कमाई करने के लिए दिखाते हैं । खोदे हुए बड़े गड्ढे के यदि चारों ओर की ऊपर की जमीन पुलपुली रखी जाय तो कणों के बीच इतनी हवा रह जाती है जिसके सहारे कोई स्थिर मन वाला सप्ताह दो सप्ताह भी ऑक्सीजन की आवश्यकता पूरी करता रहे और लोगों को अपनी विद्या का करतब दिखा सके ।

जहाँ तक आध्यात्मिक प्रगति का सम्बन्ध है वहाँ तक राजयोग के युग्मों को पार करते हुए अपने व्यक्तित्व का सर्वतोन्मुखी परिष्कार करना ही उपयुक्त है । समाधि स्तर तक पहुँचना हो तो सविकल्प समाधि का ही अभ्यास और अवगाहन करना चाहिए । वह सरल भी है और समुचित परिणाम में श्रेयस्कर भी ।

आप भी समाधि लगा सकते हैं

योग साधना में समाधि की अवस्था को परमानन्दमयी माना गया है । चित्त जब जिस स्थान पर रुकने लगता है तो उसे किसी भी विषय में आनन्द आने लगता है, यदि चित्तवृत्तियों का विरोध होने के पश्चात वे निरुद्ध वृत्तियाँ आत्मा परमात्मा में लगती हैं तब तो और भी अधिक आनन्द का अनुभव होता है । इसे ही परमानन्द कहते हैं । योग की सफलता इस समाधि रूपी परमानन्द से आँकी जाती है ।

मोटे तौर से समझा जाता है कि बेहोश हो जाने जैसी दशा को समाधि कहते हैं । यदि ऐसा ही होता तो क्लोरोफॉर्म सूँघकर या शराब आदि नशीली चीजों को पीकर आसानी से बेहोश हुआ जा सकता था और समाधि सुख भोगा जा सकता था, पर वास्तविक बात ऐसी नहीं है । शरीर-भाव का होश छोड़कर आत्म-भाव में जागृत हो जाना ही समाधि है । जैसे दिन में दिन का काम-काज सत्य मालूम पड़ता है और रात को सपने सच्चे लगते हैं । दिन में सपने झूठे हैं और स्वप्न में दिन का जीवन निष्प्रयोजन है । इसी सांसारिक आदमियों की दृष्टि में समाधि एक प्रकार की बेहोशी है । समाधि अवस्था में गया हुआ आत्मज्ञानी दुनिया वालों को मोह-मदिरा पीकर उन्मत्त विचरता हुआ देखता है । यह दृष्टिकोण की विपरीतता ही 'बेहोशी' है अन्यथा बेहोशी का और कोई कारण नहीं । गीता में इसी तथ्य को इस प्रकार कहा है कि—"जो साधारण प्राणियों के लिए रात है, संयमी के लिए दिन है । उसमें वह जागता है और जिसमें जीव जगा करते हैं, उसमें मुनि सोया करता है ।" तात्पर्य यह है कि आत्मज्ञानी के लिए साधारण लोग बेहोश हैं और साधारण लोगों के लिए आत्मज्ञानी बेहोश है । ध्यान की तन्मयता के कारण शरीराभ्यास का ध्यान न रहना यह दूसरी बात है और बेहोश या मूर्च्छित हो जाना बिल्कुल पृथक बात है ।

महर्षि पातंजलि ने अपने योग दर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है और बताया है कि यह निरोध बलवान होने से समाधि अवस्था प्राप्त होती है । "तस्यापि निरोधे सर्वनिधन्निर्वीज समाधिः" अर्थात् उसके (चित्त के) निरोध से निर्बीज समाधि होती है ।

इस चित्त निरोध के लिए प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि उपाय हैं, जिनके द्वारा चित्त को अमुक कल्पनाओं से हटा कर अमुक कल्पनाओं में लगाया जाता है । योगी लोग स्थिर होकर एकान्त में एक आसन से बैठते हैं और आँखें मूँद कर ध्यान लगाते या किन्हीं भावनाओं पर चित्त जमाते हैं । यह कल्पना योग हुआ । उस मार्ग में अनेकों प्रकार की साधनाएँ होती हैं ।

केवल कल्पना योग की साधनाओं द्वारा समाधि प्राप्त होती हो सो बात नहीं है । क्रिया योग में भी ऐसी साधनाएँ मौजूद हैं । जिन्हें करते हुए काम-काजी मनुष्य भी चित्त को एकाग्र कर सकता है और समाधि का आनन्द पा सकता है । योगदर्शन के साधन पाद में महर्षि पातंजलि ने तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग बताया है । (तपस्वा यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः) और इस क्रिया योग का फल लिखते हुए उन्होंने कहा है कि, इस क्रिया योग से क्लेश तथा व्यथाएँ दूर होकर समाधि प्राप्त होती है । (समाधि भावनार्थः क्रेश तनूकरणार्थञ्च) इस प्रकार प्रकट है कि क्रिया योग से भी समाधि की सिद्धि हो सकती है ।

सत्कार्य के लिए कष्ट सहन करना तप कहलाता है । आत्मोन्नति के लिए, लोक-कल्याण के लिए, परमार्थ के लिए जो परिश्रम किया जाता है, कष्ट सहन किया जाता है वह तपश्चर्या का प्रतीक है । शुभ कर्म के मार्ग में कठिनाइयों को न गिनना तपस्या का तत्व है । यह तपश्चर्या मनुष्य को समाधि की ओर ले जाती है ।

स्वाध्याय का अर्थ है—स्व+अध्याय, अध्ययन । अपने आपको पढ़ना । आत्मचिन्तन, आत्मनिरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मनिर्माण यह स्वाध्याय के चार अंग हैं । इन चारों की पूर्ति के लिए सद्ग्रन्थों का पठन, श्रवण तथा सत्पुरुषों का सत्संग भी उपयोगी है । वैसे तो स्वाध्याय बिना पढ़े मनुष्य भी, बिल्कुल अकेले रह कर भी कर सकते हैं । मेरी आत्मा वस्तुतः क्या है ? इस जीवन का सच्चा प्रयोजन क्या है ? मेरे विचार एवं कार्य में उचित तथा अनुचित का कितना-कितना अंश है ? किन दोषों को छोड़ना और किन गुणों को बढ़ाना मेरे लिए आवश्यक है ? अपनी भीतरी तथा बाहरी दुनिया को सुव्यवस्थित किन उपायों से बनाया जाय ? अपने सत् निश्चयों को कार्यरूप में परिणत किस प्रकार किया जाय ? इन प्रश्नों पर निष्पक्षता, गंभीरता, दृढ़ता एवं सच्चाई से विचार करना और उन विचारों को चरितार्थ करने के लिए कार्यक्रम बनाना, यही स्वाध्याय है । स्वाध्यायी मनुष्य को आत्मा का दर्शन होकर रहता है और वह समाधि सुख का रसास्वादन करता है ।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर परायणता को कहते हैं । विश्वात्मा, समस्त प्राणियों की सम्मिलित आत्मा, परमात्मा का आराधन यह है कि अपने स्वार्थ को परमार्थ में मिला दिया जाय । जिसका स्वार्थ, परमार्थ मय है अथवा जिसे परमार्थ में ही स्वार्थ दीखता है, वह सच्चा ईश्वर प्रणिधानी है । प्राणिमात्र चर अचर में प्रभु के दर्शन करना, साकार पूजा है । प्रकृति से परे, अजर, अमर, अविनाशी, निष्पाप आत्मा में स्थित होना, पाँच भूतों की सम्वेदना से ऊपर उठना, निराकार पूजा है । चाहे जिस प्रकार भी कीजिए आत्मा को उन्नत, विकसित, महान, बना देना, परम बना देना, परम आत्मा, परमात्मा की प्राप्ति है । वह प्रत्यक्ष समाधि ही तो है । इस प्रकार महर्षि पातंजलि के अनुसार हर व्यक्ति साधारण जीवन व्यतीत करते हुए भी समाधिस्थ हो सकता है । सहज समाधि का अभ्यास इस प्रकार भी किया जा सकता है ।

अभ्यास

(१) प्रतिदिन प्रातःकाल अथवा सायंकाल एकान्त स्थान में शान्त चित्त से नेत्र बन्द करके पद्मासन से बैठिये । शरीर और मन को शिथिल कर दीजिए । सब ओर से चित्त हटाकर एकाग्र कीजिए ।

(२) आज्ञा चक्र में समाधि का ध्यान करने के लिए तैयार होइये । स्थूल हृदय से २४ अंगुल ऊपर सूक्ष्म हृदय कहा गया है, इसी को हृदय कमल, तृतीय नेत्र, आज्ञाचक्र, त्रिकुटी कहते हैं । दोनों भौंओं के बीच में यह स्थान है । आत्मा की राजधानी यही मानी जाती है ।

(३) दिव्य नेत्रों से त्रिकुटी में सूर्य के समान दीप्तमान अँगूठे की बराबर ज्योति का ध्यान कीजिए । आरम्भ में यह ज्योति हरे, नीले, पीले, लाल, सुनहरी कई रंगों को तथा मिश्रत रंग की दृष्टिगोचर होती है, धीरे-धीरे यह रंग हटते जाते हैं और स्वच्छ, श्वेत प्रकाश ही शेष रह जाता है ।

(४) इस ज्योति का अपनी आत्मा के रूप में दर्शन कीजिए । इसमें सम्पूर्ण तुच्छताओं से रहित होने तथा सत् चित् आनन्दमय श्रेष्ठताओं की पूर्णता होने की भावना कीजिए ।

(५) संकल्प कीजिए कि आपका आत्मा ज्योति स्वरूप निर्विकार है । शरीर और मन के सारे अवयव अपने औजार मात्र हैं । इन औजारों को अपने से पृथक अलग रखा हुआ अनुभव कीजिए । इन्हें खूब टटोल-टटोल कर देखिये और भली प्रकार भावना कीजिए कि यह आत्मा से पृथक हैं साधन, औजार तथा परिधान मात्र हैं ।

(६) इन औजारों को अलग रखकर अपने ज्योति स्वरूप में स्थित होइये । अपने को अनन्त आनन्दमय अमृत से परिपूर्ण अनुभव कीजिए ।

(७) निर्विकार आत्म ज्योति का ध्यान करिये और अनुभव कीजिए यही ज्योति महान रूप में विश्वव्यापी है । सम्पूर्ण चराचरों में एक ज्योति जगमगा रही है । एक ही परमात्मा की किरणें विभिन्न पात्रों पर प्रतिबिम्बित हो रहीं हैं । सर्वत्र एक ही सत्ता है, अनेक में एक ही तत्व व्याप्त हो रहा है ।

(८) इन भावनाओं के साथ मन ही मन निम्न मंत्रों का जप करते जाइये ।

—मैं अविनाशी हूँ । शरीर मेरा परिधान मात्र है ।

—मैं निर्विकार हूँ । मन मेरा औजार मात्र हैं ।

—मैं एक हूँ । अनेकता कौतुक मात्र है ।

—मैं निलिप्त हूँ । गुण कर्म स्वभाव मेरा वैभव मात्र है ।

—मैं महान हूँ । लघुता मेरा अज्ञानमात्र है ।

—मैं सत्य हूँ, चैतन्य हूँ, आनन्द हूँ ।

—मैं हूँ, केवल मात्र मैं ही हूँ ।

योग साधना में संयम के चमत्कार

आत्मोत्कर्ष की समस्त साधनाओं में संयम का बड़ा महत्त्व है । संयम का सामान्य अर्थ अपनी शक्तियों को अनावश्यक दिशाओं में बिखरने, अपव्यय होने से रोक कर उपयोगी दिशा में नियोजित करना है । इसके लिए इन्द्रियों को विषय भोगों से हटाने के साथ-साथ मन को इधर-उधर भटकने से रोकने के लिए भी अनेक क्रिया-कलाप अपनाये जाते हैं । संयम का एक अर्थ वीर्य की रक्षा या शरीर और मन की शक्तियों को अपव्यय से बचाना भी है । कामवासना के नियंत्रण का नाम भी संयम है और मौन रहना भी संयम है । कहने का आशय यह कि किसी भी शक्तिक्षय करने वाले इन्द्रिय व्यापार को रोकना संयम है ।

इसके महत्त्व को पहलवान लोग जानते हैं कि ताकतवर होने के लिए पौष्टिक आहार से भी बढ़कर संयम आवश्यक है । इसीलिए वे प्रारम्भ में ही संयम का प्रतीक लंगोट पहनने या जांघिया बाँधने का अभ्यास करते हैं । विचारक जानते हैं कि मन को मथ-मथ कर नई-नई कल्पनाएँ करना तभी सम्भव है जब वाणी द्वारा उसका क्षय रुके, इसलिए वे प्रायः मौन रहते हैं । संयम की शक्ति से न जाने कितनी सांसारिक विभूतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । क्योंकि सफलता की जननी शक्ति है और शक्ति का भण्डार संयम । लेकिन योग विद्या में जिस संयम का उल्लेख किया जाता है, वह अलग विषय है और व्यापक प्रभाव वाला है । योग दर्शन में जिस संयम को उपासना का अनिवार्य अंग बताया गया है उसके सम्बन्ध में कहा गया है—

"तत्जयात प्रज्ञा लोका:"

अर्थात्—संयम विजय से प्रज्ञा-बुद्धि का विकास होता है । प्रज्ञा का अर्थ सार्वभौम ज्ञान से है, इन्द्रियों की सामर्थ्य और समय की सीमा से परे अर्थात् जो कुछ देखा सुना है और जो कुछ देखा सुना भी नहीं, उस समस्त ज्ञान को प्राप्त करना ही प्रज्ञ होना है । ब्रह्म की प्राप्ति भी संयम से विजित प्रज्ञा बुद्धि द्वारा ही होती है । इसलिए उपासना के साथ संयम को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना गया है ।

इस संयम के प्रभाव से समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ और परमात्मा का साक्षात्कार हस्तामलकवत संयम से ही प्राप्त हो जाते हैं । इस संयम की परिभाषा करते हुए महर्षि पातंजलि ने योग दर्शन के अध्याय ३ सूत्र ४ में लिखा है—

"त्रयमेकम संयमः"

अर्थात्—धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के एकत्र होने का नाम ही संयम है । गायत्री साधना की उच्चस्तरीय कक्षा में इन तीनों का समावेश हो जाता है । धारण की जाती है—हमारी चेतना, हमारा प्राण, सूर्य चेतना और सूर्य प्राण का ही एक अंश है । इसके बाद सविता देवता का ध्यान किया जाता है और मन को अपने इष्ट आराध्य में इस तरह घुला मिला दिया जाता है कि दोनों एक रस हो जाय । इस स्थिति को समाधि कहते हैं । यह स्थिति गायत्री की सिद्धि कहलाती है । इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद साधक की क्षमता, गरिमा अपने इष्ट सविता देवता के समान हो जाती है । मुखमण्डल पर वही तेजस्, शरीर में वैसी ही सक्रियता और शक्ति, बुद्धि में वैसी ही पारदर्शी निर्मलता और समस्त ब्रह्माण्ड के भेदों को जान लेने वाली सिद्धि सविता संयम से सम्भव हो जाती है ।

कहा गया है कि इस स्तर का संयम जिस विषय में भी किया जाय, साधक उसी के अनुरूप हो जाता है, ब्रह्म में संयम करने से अन्तःकरण उसी प्रकार ब्राह्मी भूत हो जाता है । योग शास्त्रों में इस प्रकार संयम की कई सिद्धियाँ बताई गई हैं । यह बात और है कि इन आत्मिक सत्यों का परीक्षण करने वाला कोई संगठन या यन्त्र अभी तक विकसित नहीं हुआ, पर ऐसे अनेक प्रमाण अवश्य उपलब्ध हैं जिनसे संयम की महान शक्ति का परिचय प्रमाण मिलता है ।

महर्षि पातंजलि ने इस सम्बन्ध में कहा है—

"कण्ठ कूपे क्षुत्पिपासा निवृत्ति"

—योग दर्शन ३/२८

अर्थात्-कण्ठ कूप में स्थित इड़ा नाड़ी पर संयम करने से भूख-प्यास नहीं लगती । ऐसे अनेक ऋषि महात्माओं का पता है जो हिमालय के बर्फीले प्रान्तों में रहते हैं जहाँ पत्तियाँ भी खाने को नहीं मिलतीं । बंगाल की गिरबाला का वर्णन अखण्ड-ज्योति में छप चुका है जिसने इसी साधना के अभ्यास से भूख से निवृत्ति पा ली थी, उसे जीवन भर खाने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी । विज्ञान भी यह मानता है कि अन्न का पोषण तत्व आकाश से आता है कोई सूक्ष्म विधि खोज ली जाय तो उस तत्व को हवा से ही खींचा और शरीर को स्वस्थ रखा जा सकता है ।

"बलेषु हस्ति बलादीनि"

—योग दर्शन ३/२२

अर्थात्—शरीर के बल में संयम करने से हाथी के समान बल प्राप्त होता है । वस्तुतः अनन्त आकाश अनन्त विद्युत शक्ति का प्रवाह है शारीरिक शक्ति में मन का संयम करने से वह अपार राशि संचरित होकर शरीर को बलवान बना दे तो इसमें आश्चर्य क्या ? महायोगी राममूर्ति ने इसी साधना का अभ्यास किया था, वे ताकतवर कार को एक हाथ से रोक लेते थे, हाथी छाती पर चढ़ा लेते थे । लोहे की साँकलें तोड़ डालते थे, वह सब इसी शक्ति के चमत्कार थे ।

यहाँ एक और उदाहरण दिया जा रहा है जो इन्द्रियों की दिव्य शक्तियों में संयम के आश्चर्यजनक चमत्कार का बोध कराता है । बंगाल के बर्दवान जिले में एक महात्मा रहते थे । उन्होंने घ्राण-शक्ति पर संयम किया था और चाहे जब, चाहे जिस समय, चाहे जिस मौसम में, चाहे जिस प्रकार की सुगन्धि पैदा कर सकते थे । इसीलिए उनका नाम ही गन्ध-बाबा पड़ गया था । वैसे उनका नाम स्वामी विशुद्धानन्द था, उनके आस-पास सदैव ही तरह-तरह की सुगन्ध बिखरी रहा करती थी ।

बात उन दिनों की है जब स्वामी योगानन्द बालक थे, उनकी योग-जिज्ञासाएँ उन दिनों बहुत प्रबल रहा करती थीं, इन जिज्ञासाओं की शुरुआत चमत्कार देखने से होती है सो एक दिन वे भी गन्ध-बाबा के पास उनका चमत्कार देखने के लिए जा पहुँचे । गन्ध-बाबा ने उनके पास आते ही पूछा-तू भी सुगन्ध के लिए आया है—बोल किस फूल की सुगन्ध चाहिए । युवक योगानन्द ने अपना हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा "गुलाब के फूल की"—गन्ध बाबा ने युवक का हाथ पकड़कर कहा—ले सूँघ और सचमुच हाथ से गुलाब के फूल की ऐसी बढ़िया सुगन्ध आने लगी मानों हाल का बनाया गुलाब सेंट हाथ से चुपड़ दिया गया हो । युवक ने एक गन्ध हीन फूल तोड़ा और गन्ध बाबा को देते हुए कहा—क्या आप इसमें चमेली के फूल की गंध भर सकते हैं—साधु ने मुस्कराते हुए फूल की टहनी अपने हाथ में पकड़ी और फिर युवक को देते हुए कहा—यह लो सूँघो योगानन्द ने उसे सूँघा तो उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं था कि उस फूल में सचमुच ही चमेली के फूल की महक आने लगी थी ।

"फूल और फलों की सुगन्ध ला सकते हैं तो फूल और फल भी ला सकते होंगे"—युवक ने योगी से प्रश्न किया । योगी ने कहा हाँ-हाँ यह उससे सरल है । कौन-सा फल चाहिए आपको—संतरा, युवक ने कहा—उन दिनों सन्तरों का मौसम नहीं था । बाजार में दस रुपये में भी एक सन्तरा नहीं मिलता था । स्वामी विशुद्धानन्द ने पास रखी केले के पत्तों की पूड़ियाँ उठाईं और युवक के हाथ में देते हुए कहा यह लो सन्तरे । युवक ने हँसते हुए कहा—पूड़ियाँ नहीं सन्तरा माँगा है । योगी ने हँसते हुए कहा—पत्ते खोलो-युवक आश्चर्य चकित था कि केले के पत्तों के बीच ताजे सन्तरे रखे थे जैसे वे अभी तोड़कर लाये गए हों ।

सुविदित है कि स्वामी विशुद्धानन्द ने इन सिद्धियों, चमत्कारों का आधार सूर्य विज्ञान बताया था । यह सूर्य विज्ञान और कुछ नहीं सविता देवता की ही प्रकारान्तर से साधना है । अपनी सिद्धि की व्याख्या करते हुए स्वामी विशुद्धानन्द ने बताया कि इस सिद्धि के लिए मैंने १२ वर्ष तक संयम किया है । इस साधना का परिचय मुझे एक तिब्बती योगी ने दिया था जो स्वयं भारतीय योग साधनाओं के महापंडित और योगी थे । ऐसे चमत्कार योग शास्त्र में आत्म-कल्याण के लिए बाधक माने जाते हैं पर मैं अपने गुरु के आदेश से यह प्रदर्शन इसलिए करता हूँ कि लोग यह मानें कि संसार में जो स्थूल है, दिखाई देता है वही सत्य नहीं । डॉ. सालोमन का कथन है कि प्रकृति ने हर वस्तु के लिए मौसम प्रदान किया है—उस मौसम में ही वृक्ष उस तरह के परमाणु आकर्षित कर पाते हैं जो फल, विशेष में, फूल विशेष में पाये जाते हैं, यह प्रकृति का नियम है । योग शास्त्र की मान्यता भिन्न है, वह डॉ. सलोमन की बात मानने को तैयार नहीं । भारतीय अध्यात्म विद्या संस्तर को परिपूर्ण मानती है । हर वस्तु हर समय विद्यमान है, सम्भव है एक समय एक स्थान पर एक तरह के परमाणु अधिक हों दूसरे पर नहीं, यह भी निश्चित है कि उसी समय दूसरी तरह के परमाणु कहीं दूसरी जगह अधिक मात्रा में उपस्थित हों । उन्हें आत्म-शक्ति द्वारा आकर्षित कर पदार्थ का रूप प्रदान करने की शक्ति आत्मा में, संयम में है ।

स्वामी योगानन्द ने भी इस घटना का उल्लेख अपनी आत्मा कथा में किया है । स्वामी विवेकानन्द ने भी ऐसी घटनाओं का वर्णन किया है, पर आत्म-विज्ञान की दृष्टि से इस संयम की अपेक्षा—"हृदय चित्तसंवित्" हृदय में संयम करने से मन नियन्त्रण में आता है, ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है—

"मूर्द्ध ज्योतिषि सिद्धं दर्शनम् ।"

—योग दर्शन ३/३०

अर्थात्—मूर्धात ज्योतिष (भ्रू-मध्य स्थित प्रकाश) में संयम करने से परमात्मा की प्राप्ति होती है ।

"नाभि चक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।"

अर्थात्—नाभिचक्र में संयम करने से शरीर की व्यूह रचना का इतना सूक्ष्म ज्ञान हो जाता है जैसा डॉक्टर सात जन्म में भी नहीं कर सकते । यह सिद्धियाँ, सामर्थ्यें; ऊपर वर्णित सामर्थ्य से कहीं अधिक महत्त्व की होती हैं । आत्म-कल्याण, लोग-मंगल और ईश्वर प्राप्ति के इच्छुक योगी ऐसा ही संयम करते हैं । वे चमत्कार प्रदर्शन में न पड़कर आत्म-विकास का दिव्य लाभ प्राप्त करते हैं । यह चमत्कार तो इसलिए है कि लोग भारतीय योग-दर्शन के इस महत्त्वपूर्ण पहलू को समझें और उससे लाभ प्राप्त करें ।

देखने-सुनने में यह बातें भारतीय दर्शन की अति रंजनाएँ लगती हैं पर यदि विश्व इतिहास की झाँकी की जाय तो ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण मिल जाते हैं जिन्हें मानसिक और आत्मिक शक्ति के केन्द्रीकरण का अनुपम चमत्कार ही कहा जा सकता है ।

साधना उपासना में ध्यान का उद्देश्य चित्तशक्ति का केन्द्रीयकरण कर उसका उपयोग उच्च आध्यात्मिक प्रयोजनों के लिए किया जाता है । मनःशक्ति का केन्द्रीयकरण करने के लिए गायत्री साधना सर्वाधिक उपयोगी, सुगम और शीघ्र फलदायिनी है । अब तक के हुए पूर्वकाल के और इस समय के लाखों साधकों का यह अनुभव है ।

समाधि द्वारा अतिमानवी चेतना की उपलब्धि

मस्तिष्कीय क्षमता से हर कोई परिचित है । बुद्धिमान, दार्शनिक, कलाकार, वैज्ञानिक अपनी पैनी सूझबूझ के आधार पर ही अनौखी सफलताएँ प्राप्त करते हैं । परिचित मस्तिष्क से ऊपर एक और दिव्य चेतना

स्रोत है जहाँ चित्तशक्ति निवास करती है । मनोवैज्ञानिकों की भाषा में इसे अचेतन मन कहते हैं—सुपर ईगो—के रूप में इसी की विवेचना की जाती है । योग शास्त्रों में इसे देवलोक अतीन्द्रिय चेतना का केन्द्र एवं ऋद्धि-सिद्धियों का भण्डार माना गया है । इस क्षेत्र पर अधिकार प्राप्त करने वाला अलौकिक—असाधारण, अतिमानव एवं सिद्ध पुरुष बन सकता है ।

यह एक अद्‌भुत संयोग है कि जब अचेतन जागता है तब प्रबुद्ध मस्तिष्क सोता है और जब प्रबुद्ध मस्तिष्क जागता है तो चित्त सोता रहता है, दोनों एक साथ कार्यरत नहीं रह सकते । योगनिद्रा उत्पन्न करके पूर्ण या आंशिक समाधि में जाया जा सकता है और अति मानवी अनुभूतियों के क्षेत्र में प्रवेश किया जा सकता है । कभी-कभी संयोगवश, संस्कारवश योगनिद्रा—सामान्य निद्रा में सामान्य लोगों को भी प्राप्त हो जाती है और वे ऐसे स्वप्न देखते हैं जो तथ्य पूर्ण भविष्य का आभास देने वाले होते हैं । सामान्य स्वप्न तो आमतौर से निरर्थक ही होते हैं पर सार्थक स्वप्नों के प्रमाण भी कम नहीं मिलते ।

शिकागो विश्वविद्यालय के एक मनोवैज्ञानी डॉ. डेविड नीडर ने स्वप्नों के साथ जुड़े रहने वाले तथ्यों पर लम्बे समय तक खोज की है । उनका कथन है कि बहुत से सपने आश्चर्यजनक रीति से तथ्यपूर्ण होते हैं । उनसे कई बार समस्याओं के ऐसे समाधान मिलते हैं जैसे जागृत अवस्था में बहुत माथा फोड़ी करने पर भी नहीं मिल पाते ।

मनःशास्त्री डॉ. हेवलाक एलिस का कथन है—हमारा अचेतन स्वप्नों की भाषा में ऐसे तथ्यों को प्रकट करता है जिसे समझने पर हम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त कर सकते हैं । कई बार तो वे हमें हमारी समस्याओं के अद्‌भुत किन्तु सही समाधान प्रस्तुत करते हैं ।

रोम में ऐसी ही एक घटना हुई जिसमें स्वप्नों की सच्चाई का आभास मिला । श्रीमती ऐमीलिया का व्यापारी पति अचानक गायब हो गया । उसने पुलिस में इसकी रिपोर्ट की और साथ ही यह भी लिखाया कि उसने ऐसी हुलिया के व्यक्ति को उसकी हत्या करते सपने में देखा है । सपना नोट कर लिया गया पर उसकी प्रामाणिकता पर किसी को विश्वास नहीं हुआ; क्योंकि खोये व्यक्ति के मर जाने तक का कोई सबूत न था फिर हत्या की बात कैसे सच मानी जाय । बहुत दिन बाद हत्या के प्रमाण मिले और गुप्तचर विभाग ने छद्म रूप में पादरी बनकर रह रहे हत्यारे को खोज निकाला । सुराग आगे चले और हत्या उसी व्यक्ति द्वारा किए जाने की बात पूरी तरह प्रमाणित हो गई ।

आयरलैण्ड की पुलिस ने एक हत्यारे को पकड़ने और उसका अपराध सिद्ध करके फाँसी दिलाने में सपने द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर सफलता प्राप्त की थी । तियेरासी निवासी एक व्यक्ति हिकी ने अपने मित्र को पैसा लूटने के उद्देश्य से चाकू मार कर कत्ल कर दिया । मृतक के गायब होने भर की सूचना पुलिस को दी, वह यह पता लगाने में व्यस्त थी कि आखिर उस व्यक्ति का क्या हुआ ? इस खोज-बीन में एक छोटे होटल के मालिक रोजर्स ने पुलिस को बताया कि उस युवक की हत्या हो गई है और वह उस हत्या का सुराग दे सकता है । पूछ-ताछ में रोजर्स की पत्नी ने बताया कि कुछ दिन पूर्व यह दोनों उसके होटल में जलपान करने आये थे । इससे पूर्व उसने ठीक उसी हुलिया के दो व्यक्तियों में से एक के द्वारा दूसरे की हत्या किए जाने का सपना देखा था । इस समता से उसे बहुत आश्चर्य हुआ और उसने उन्हें उस भवतव्यता की सूचना देकर कुछ दिन होटल में ही ठहरे रहने की सलाह दी, किन्तु वे चले गए । सपने में जिस स्थान पर हत्या हुई उसका चित्र पत्नी के मस्तिष्क में है; वह उस जगह को खोजने में सहायता दे सकती है । पुलिस ने इस दम्पत्ति की सहायता ली और उस झाड़ी को खोज निकाला जहाँ युवक की लाश पड़ी थी । हत्यारे का जो हुलिया बताया गया था वह हिकी से मिलता था, अस्तु उसे पकड़ा गया । अन्ततः हत्या को प्रमाणित करने वाले ऐसे अनेक सूत्र मिल गए जिनके आधार पर अदालत द्वारा हत्यारे को फाँसी की सजा दी जा सकी ।

विश्व प्रसिद्ध गणितज्ञों में से कई ऐसे हैं जो अपने आविष्कृत सिद्धान्तों की सफलता का श्रेय स्वप्नों में उपलब्ध हुई प्रेरणाओं को देते हैं । इन गणितज्ञों में फुड़सियनस्रित और हेनरीफार के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

सम्राट सीजर और हेनरी तृतीय को अपनी हत्याओं की पूर्व सूचना सपनों में मिल चुकी थी जिसे उन्होंने अपने प्रियजनों को बता भी दिया था । प्रयत्न करने पर भी वे हत्याएँ टाली न जा सकीं । चर्चिल, लार्ड किचनर और जनरल गेडार्ड को कई भयंकर दुर्घटनाओं की पूर्व सूचना सपनों में मिल गई थी । अवसर आने पर उन्होंने सपने की बात को ध्यान में रखते हुए विशेष सतर्कता बरती और अपनी जानें बचा लीं ।

एक दूसरे नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. पाउलिंग ने भी यह बताया था कि उन्हें अनेक नये वैज्ञानिक विचारों की प्रेरणा सपनों में मिली है ।

बेंजीन परमाणुओं के सम्बन्ध में नई खोज करने के लिए वैज्ञानिक केकुल ने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी, उन्होंने अपनी खोज की प्रेरणा का स्रोत अपने एक स्वप्न से उपलब्ध किया था ।

ऐसा ही अनुभव विज्ञान वेत्ता लुई ऐगासिज का है उनकी जीवांश्य सम्बन्धी खोजें कैसे सफल हुईं इस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा मुझे स्वप्नों के इशारे से अपनी खोजें आगे बढ़ाने की अक्सर प्रेरणा मिलती रही है ।

अमेरिका के औषधि शास्त्रज्ञ डॉ. आट्टोलोवी ने जिन आविष्कारों के आधार पर नोबेल पुरस्कार जीता, उसकी मूल प्रेरणा उन्हें स्वप्नों में ही मिली थी । शारीरिक तन्तुओं, स्नायुओं और कोशाओं पर वे कुछ शोध कर रहे थे पर ऐसे आधार नहीं मिल रहे थे जिनके सहारे किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके । ईस्टर की पहली रात को सपने में उन्हें आवश्यक सूत्र हाथ लगे जिन्हें उन्होंने आँख खुलते ही नोट कर लिया । एक दिन दोपहर को भी इसी खोज के सम्बन्ध में ऐसा सपना दीखा जिसमें वे कुछ प्रयोग कर रहे थे उसे भी उन्होंने नोट किया । यद्यपि आरम्भ में वे नोट अटपटे लगे पर अन्ततः वे उसी आधार पर अपने प्रयोगों में सफलता प्राप्त करने में समर्थ हुए ।

अपनी अद्भुत कल्पनाओं के उठने का मूल स्रोत कहाँ है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महा वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने एक बार कहा था प्रायः निद्रित अथवा अर्द्ध निद्रित स्थिति में कभी-कभी ऐसे समय आते हैं जब मस्तिष्क अपना सामान्य मर्यादाओं का उल्लंघन करके ऐसी सूचनाएँ देने लगता है जिनके आधार पर आविष्कारों की आधारशिला रखी जा सके ।

आइन्स्टीन कहते थे विज्ञान और गणित के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह दृश्य संसार स्वप्नों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । उन्होंने 'लाइफ' पत्रिका के प्रतिनिधि को भेंट देते हुए कहा था—सामने खड़ा हुआ वृक्ष यद्यपि अपना अस्तित्व भली प्रकार प्रमाणित कर रहा है तो भी वस्तुतः यह एक स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, क्लेयरो वायन्स, टैलेपैथी आदि की स्थिति प्रबुद्ध मस्तिष्क को प्रसुप्त करके ही उत्पन्न की जाती है यदि चेतन मस्तिष्क पूर्ण सजग रहे और तर्क बुद्धि के साथ निद्रित न होने का संकल्प किए रहे तो उनमें से एक भी आध्यात्मिक स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती है । जागृत मन को निद्रित करके ही अचेतन को अध्यात्म भूमिका में कुछ अधिक योगदान दे सकने योग्य बनाया जा सकता है ।

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह चार अवस्थाएँ, प्रबुद्ध मन की स्वाभाविक चंचलता को निग्रहीत करके एकाग्रता के केन्द्र बिन्दु पर रोके रखने के लिए की जाती है । इनमें जितनी सफलता मिलती जाती है मस्तिष्क शान्त और समाहित होता चला जाता है साथ ही चित्तशक्ति का जागरण आरम्भ हो जाता है । हठयोगी कई प्रकार की समाधि लगाते हैं, उसे थोड़े समय में आरम्भ करके लम्बे समय तक ले जाते हैं । कई महीने तक समाधि लगाने वाले योगियों का वर्णन प्रामाणिक प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि मानवी संकल्प बल न केवल बाह्य प्रयोजनों में वरन् अपने शरीर की अनिवार्य गतिविधियों को इच्छानुसार नियन्त्रित, अवरुद्ध करने में भी सफल हो सकता है ।

पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह से अंग्रेजों ने एक राजनैतिक सन्धि की । इसी सन्दर्भ में अंग्रेजी सरकार का एक प्रतिनिधि मण्डल महाराजा से मिलने अदीना नगर पहुँचा । उन दिनों वे वहीं ठहरे हुए थे । अंग्रेजी दल में पोलिटिकल सेक्रेटरी डब्ल्यू. एच. मैकनाटन, पोलिटिकल ऐजेन्ट कप्तान वार्ड, मिलिटरी सेक्रेटरी डब्ल्यू. जी. ओसवार्न, कप्तान जी. मैकग्रेगर, डॉ. ड्रमण्ड आदि थे । घटना १८३८ की है ।

उन दिनों पंजाब में एक ऐसे योगी की बहुत ख्याति थी जो महीनों तक समाधि लगाकर भूमि में गढ़ा रहता था । अंग्रेजी दल ने राजनैतिक बातों से निपट कर महाराजा से उस योगी के चमत्कार दिखाने की व्यवस्था कर देने का अनुरोध किया । महाराजा ने साधु से पुछवाया और उसके सहमत होने पर प्रदर्शन की व्यवस्था बना दी । इस भूमि समाधि का विस्तृत विवरण उस दल के एक सदस्य डब्ल्यू. जी. ओसवार्न ने लिखा है । इस पुस्तक का नाम है—"रणजीत सिंह ।"

उस पुस्तक में लिखा है—महाराज, अनेक सरदार और अंग्रेजी दल की उपस्थिति में योगी ने अपने मुख, नाक, कान के छिद्रों को छोड़कर शेष सारा शरीर मोम से बन्द किया ताकि किसी रोमकूप से उसके भीतर वायु का आवागमन न हो । इसके बाद योगी समाधिस्थ हो गया । शरीर को एक मजबूत बोरी में बन्द किया गया और उस पर सील मुहर लगादी गई । बोरी को सन्दूक में बन्द किया गया और उस पर ताला लगा दिया गया । गड्ढे में मिट्टी भरी गई । मिट्टी पोली न रहे इसलिए उसे भली प्रकार रोंदा गया । इसके बाद उस जमीन पर जौ बो दिए गए ताकि कोई उखाड़-पछाड़ की जाय तो उसकी साक्षी जौ के पौधे दे सकें । यह सारी क्रिया जनरल वेनट्ररा ने अपने हाथों पूरी की ताकि उसमें कहीं किसी आशंका की गुंजाइश न रहे । समाधि भूमि पर मिलिटरी का कड़ा पहरा बिठा दिया गया ।

दस महीने बाद गड्ढा खोदा गया । खोदते समय सारे अफसर मौजूद थे । कप्तान वार्ड ने अपने हाथों सन्दूक निकाला और सील खोली । योगी की नाड़ी और हृदय की धड़कन बिल्कुल बन्द थी तो भी वे जीवित थे । सारा शरीर ठण्डा था सिर्फ कपाल गर्म था । उन्हें गर्म पानी से स्नान कराया गया । धीरे-धीरे दो घण्टे में वे होश में आ गए । इस लम्बी अवधि में योगी के नाखून और बाल नहीं बढ़े थे ।

समाधि स्थिति को प्राप्त करने में कई प्रकार के लाभ उठाये जा सकते हैं—(१) प्रबुद्ध मस्तिष्क को गहरा विश्राम देकर उसे अधिक स्वस्थ, सक्रिय एवं बुद्धिमान बनाया जा सकता है, (२) अचेतन मस्तिष्क को जागृत करके उसकी अतीन्द्रिय क्षमता बढ़ाई जा सकती है और चमत्कारी सिद्ध पुरुषों की देव भूमिका में पहुँचा जा सकता है, (३) शरीर की गतिविधियाँ रोक सकने में समर्थ संकल्प बल की आग में संसार की कठिनाइयों को गलाया जा सकता है । जो कठिन है, उसे सरल बनाया जा सकता है । दूसरों को आध्यात्मिक योगदान देकर सुखी बनाया जा सकता है, (४) दीर्घ जीवन का उद्देश्य पूरा करने के लिए कायाकल्प का रहस्यमय अमृत प्राप्त किया जा सकता है । यह चार लाभ प्रत्यक्ष हैं अन्य छोटे-बड़े वरदान और भी इस स्थिति के साथ जुड़े हुए हैं ।

रामायण कथा के अनुसार रावण का भाई कुम्भकरण छः महीने सोता था और छः महीने जागता था । यदि यह कथा सही है तो उस प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य को जरा-मरण से मुक्त किया जा सकता है । छः महीने की सुषुप्तावस्था में कोषाओं की इतनी क्षति-पूर्ति हो सकती है कि वे पुनः कायाकल्प की तरह नये सिरे से नव-जीवन जैसा कार्य प्रारम्भ कर सकें । इस प्रकार आमदनी तथा खर्च बराबर होते रहने की प्रक्रिया अनन्त काल तक चलती रह सकती है और मनुष्य को अमरता का लाभ मिल सकता है । वृद्धावस्था थकान का नाम है । थकान का अर्थ है आमदनी से खर्च का अधिक होना—विकृतियों के निराकरण में अवरोध उत्पन्न होना । मौत के निकट घसीट ले जाने वाली वही कठिनाइयाँ हैं जिन्हें प्रसुप्त निद्रा पद्धति अपनाकर निरस्त करने की बात आजकल वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में चल रही है ।

विज्ञान ने यह स्वीकार कर लिया है कि यदि मनुष्य को चिर निद्रा में सुलाया जा सके तो उसे रोगों और थकान के पंजे से छुड़ा कर नव-जीवन प्रदान किया जा सकता है, समाधि की विधि-व्यवस्था तो भौतिक विज्ञान में नहीं हैं पर उन्होंने शीतनिद्रा का एक नया तरीका ढूँढ़ा है । विज्ञानी डेल कारएण्टर का कथन है कि, मनुष्य को ठण्डा करके गहरी सुषुप्तावस्था में सिद्धान्ततः पहुँचाया जा सकता है । अब उसका व्यावहारिक रूप ही सामने लाना बाकी है । न्यून तापमान में भी जीव कोषों में पाया जाने वाला 'ग्लाइसकोल' रसायन प्राणी को जीवित रख सकता है। इस प्रयोजन से एक विशेष रसायन खोज निकाला गया है । 'डाय मिथाइल सल्फोऑक्साइड' इसकी सहायता

से गहन शीतनिद्रा में मनुष्य को भेजा जा सकेगा साथ ही उस स्थिति में उत्पन्न हो सकने वाले संकटों की सम्भावना से भी उसे बचाया जा सकेगा ।

शीत निद्रा की समाप्ति कैसे होगी ? इसके सम्बन्ध में अभी कल्पना यही है कि वैसा करना वातावरण में तापमान बढ़ाकर ही सम्भव हो सकता है । जो प्राणी शीत ऋतु में निद्रा मग्न होते हैं वे गरम ऋतु के प्रभाव वातावरण में आने से उत्तेजना ग्रहण करते हैं । अभीष्ट तापमान उपलब्ध होने पर उनकी जीव कोशिकाएँ सजग होने लगती हैं । शीत ऋतु में सोये मेढ़कों को पकड़ कर गरम कमरे में रखा गया तो वे जग पड़े और भोजन की तलाश में उछल-कूद करने लगे । शीत निद्रा में सुलाये गए मनुष्य को भी जब जगाना हो तब उसके लिए प्रयत्नपूर्वक अथवा स्वसंचालित पद्धति से ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी कि नियत समय पर आवश्यक गर्मी उत्पन्न होने लगे और सोया हुआ मनुष्य उस निद्रा को त्याग कर पुनः सक्रिय हो सके ।

प्रयत्न शीत निद्रा के भौतिक हों—हिप्नोटिज्म स्तर के मानसिक हों—अथवा समाधि स्तर के आध्यात्मिक हों, हर हालत में सर्वतोमुखी विश्राम एवं शान्त, एकाग्र समाधान की आवश्यकता अतिमहत्त्वपूर्ण समझी जाती रहेगी । उसे प्राप्त करके हम अतीन्द्रिय शक्ति सम्पादन से नये क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं । निःसन्देह वह क्षेत्र इतना बहुमूल्य है कि जो उसमें प्रवेश करेगा वह असामान्य अतिमानवी विभूतियाँ उपलब्ध करके रहेगा ।

सन्त हरदास की भूमि-समाधि

यह गवर्नर जनरल लार्ड आकलैण्ड का कार्यकाल था । सन् १८३७-३८ की बात है । एक दिन गवर्नर जनरल के मिलिटरी सेक्रेटरी डब्ल्यू. जी. ओसवार्न और उनके अंगरक्षक कैप्टेन मैकग्रेगर लाहौर आये । इन दिनों पंजाब के महाराजा रणजीत सिंह से सन्धि हुए थोड़े दिन हुए थे । उस मैत्री को सुदृढ़ करने के लिए अंग्रेजों का मिशन प्रायः आया जाया करता था । काम कुछ होता नहीं था, इसलिए यह लोग अधिकांश आमोद-प्रमोद, शिकार और इधर-उधर के मनोरंजन किया करते थे ।

डॉ. मैकग्रेगर ने भारतीयों की योग विद्या के बारे में बड़ी बातें सुनी थीं । वे योग का ऐसा कोई चमत्कार देखना चाहते थे, जिससे सुनी हुई बात को पुष्टि मिलती । इसी ख्याल से उन्होंने एक दिन महाराज रणजीत सिंह से कहा—"हमने भारतीय योग की बहुत प्रशंसा सुनी है, क्या आपकी दृष्टि में कोई ऐसा योगी है, जो कोई चमत्कार दिखा सकता हो ?"

महाराज रणजीत सिंह सम्भवतः पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हरकतें देखकर यह ताड़ लिया था, भारतवर्ष में अंग्रेजों के इरादे षड़यन्त्रपूर्ण हैं, इसलिए सन्धि की उनकी कोई इच्छा नहीं थी तो भी उन्हें अंग्रेजों की झूठी प्रशंसा ने फाँस लिया और सन्धि हो गई । अंग्रेजों का यह प्रस्ताव कष्टदायक था, एक तरह से भारतीय धर्म और तत्व-दर्शन के लिए चुनौती थी, एक बार तो रणजीत सिंह के मन में आया कि जिन अंग्रेजों के आगे योग का मूल्य और महत्त्व चमत्कार भर है, उन्हें जीवन की सच्चाई, आत्म-कल्याण के प्रति न कोई श्रद्धा है, न जिज्ञासा इसलिए इन्हें क्यों न फटकार दिया जाय पर दूसरे ही क्षण दूसरा विचार आया कहीं ऐसा न हो कि इससे इन्हें भारतीयों पर लांछन लगाने का अवसर मिले, इसलिए उन्होंने अन्यमनस्क ही सही प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ।

उन्होंने अपने गुरु सन्त हरदास का स्मरण कर उन्हें लाहौर बुलाया और सारी बातें उनसे निवेदन कीं । सन्त हरदास ने ४० दिन तक पृथ्वी में गड़े रहने का एक प्रयोग दिखाना स्वीकार कर लिया ।

नियत दिन डॉ. मैकग्रेगर, कैप्टन वार्ड, रणजीत सिंह जी व उनके परिवार के सदस्यों के सामने सन्त हरदास उपस्थित हुए, उन्होंने कहा—"हम, आप जिन शरीरों से बने हैं, वह तो हवा, मिट्टी, पानी का संयोग मात्र है, प्राण और जीव-चेतना इससे भिन्न सूक्ष्म और बड़े सामर्थ्यवान तत्व हैं, जो लोग आत्म-चेतना पर नियन्त्रण कर लेते हैं, वे शरीर न रहने पर भी देख, सुन सकते हैं, देशाटन कर सकते हैं, बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं, जो कई टन क्षमता वाली मशीनों से भी सम्भव नहीं है । इस शक्ति और ज्ञान का प्रयोजन आत्म-कल्याण है पर भौतिक और लौकिक कामनाओं में ग्रस्त नर-कीट उसे समझ नहीं पाते । चमत्कार देखकर उनका कुछ भला नहीं होता तथापि भारतीय

तत्व-ज्ञान और योग-विद्या को लोग यों ही न समझें इसलिए हम एक प्रयोग आपको दिखायेंगे ।"

पृथ्वी में गड्ढा खोदा गया । सन्त हरदास ने मुख को छोड़कर सारे इन्द्रिय द्वार मोम से बन्द कर लिए जिससे भीतर किसी प्रकार की वायु न जा सके । ४० दिन बाद की सारी क्रिया कागज में लिखाकर उन्होंने जीभ को तालुकण्ठ से लगाकर मुख से जाने वाली श्वास का मार्ग भी बन्द कर दिया, ऐसा करते ही वे समाधि में चले गए । एक काठ के सन्दूक में श्वेत-वस्त्र बिछाकर मसनद लगा दी गई । उस पर सन्त हरदास को टिकाकर बक्स बन्द कर दिया गया । ताला लगाकर रणजीत सिंह महाराज की व्यक्तिगत मुहर से उसे सील कर दिया गया । बक्स ऐसी लकड़ी का था, जिसमें कीड़े लगने की सम्भावना न हो । फिर उसे सावधानी से गड्ढे में रखकर ऊपर से मिट्टी कूट दी गई । एकहरी ईंटें लगाकर सीमेंट कर दी गई और तब लोग अपने-अपने घरों को चले गए ।

४० दिन बाद डॉ. मैकग्रेगर उनके अंग्रेज मित्र महाराज रणजीत सिंह सभासद और सैकड़ों प्रतिष्ठित व्यक्ति यह देखने के लिए उपस्थित हुए कि प्राणों पर नियन्त्रण कर लेना सचमुच सम्भव है क्या ? अंग्रेजों के लिए तो यह महान आश्चर्य जैसी घटना थी । प्राणायाम के द्वारा कुछ समय तक श्वास साधे रहना और फेफड़ों में भरी हवा से थोड़ी देर काम चला ले जाना तो उनकी समझ में आ गया था पर बिना कुछ खाये-पीये, श्वास लिए ४० दिन तक भूमि-समाधि लिए रहना ईश्वरीय चमत्कार से कम न था । इंग्लैण्ड, अमेरिका में हजारों प्रयत्न हो लिए मरणोन्मुख व्यक्ति को काँच के सन्दूक में रखा गया, शून्य में रखा गया पर चेतना पर नियन्त्रण न पाया गया । प्राण जब निकले तब उन्हें कोई रोक न पाया । जबकि यहाँ ऐसी परिस्थितियों में प्राण रोके रखने का प्रदर्शन था, जो सामान्य-व्यक्ति के लिए कभी भी सम्भव नहीं हो सकता ।

नियत समय पर गड्ढा खोदकर सन्दूक निकाला गया । सील ज्यों की त्यों, सन्दूक खोला गया । सन्त हरदास उसी शान्त, प्रसन्न मुद्रा में बैठे थे, जिसमें वह ४० दिन पूर्व बैठाये गए थे । उन्हें बाहर निकाला गया । डॉ. मैकग्रेगर ने शरीर परीक्षा की, नाड़ी बन्द । हृदय-गति बिल्कुल नहीं, निःस्पन्दित । सारा शरीर ठण्डा । जीवन के कहीं कोई लक्षण नहीं । सिर पर हाथ फिराते हुए जब उनका हाथ चोटी वाले स्थान पर पहुँचा तो उनकी अँगुली जल गई । झपटकर हाथ हटाया । यही एक स्थान था, जहाँ अग्नि जैसी ऊष्मा विद्यमान थी ।

शरीर परीक्षण समाप्त कर लेने के बाद जीभ को हाथ से पकड़ कर बलपूर्वक तालु से हटाया गया । कान, नाक से मोम निकाल ली गई । ठण्डा पानी सिर और सारे शरीर पर छिड़का गया । धीरे-धीरे चेतना सारे शरीर में दौड़ने लगी । श्वास चलने लगी, नाड़ियाँ चलने लगीं । हृदय धड़कने लगा, फेफड़े काम करने लगे । सन्त हरदास प्रसन्न मुद्रा में उठकर खड़े हो गए ।

आश्चर्य चकित डॉ. मैकग्रेगर ने पूछा—"विलक्षण बात है महाराज ! आप इतने दिन तक बिना श्वास, अन्न और जल के कैसे जीवित रह गए ।" इस पर उन्होंने बताया—"शरीर में भरा हुआ प्राण वायु के द्वारा ही उपलब्ध होता हो सो बात नहीं । शरीर में ऐसे सूक्ष्म संस्थान और शक्ति प्रवाह विद्यमान हैं, जिन पर नियन्त्रण किया जा सके तो मनुष्य की चेतना विश्व-व्यापी प्राण और महतत्व से सम्बन्ध जोड़ लेती है, मस्तिष्क में जहाँ हम भारतीय चोटी रखते हैं, यही वह स्थान है, जो विराट् विश्व में व्याप्त चेतना और देव शक्तियों का सम्बन्ध शरीर से जोड़ देती है । समाधि अवस्था में आत्म-चेतना को मस्तिष्क में चढ़ा लेते हैं, उस समय बड़े सुखद स्वप्न और अनुभूतियाँ होती हैं । प्रत्यक्ष संसार की सी जानकारियाँ भी मिलती रहती हैं और शरीर को सड़ने-गलने से बचाने वाला प्राणतत्व भी मिलता रहता है । मस्तिष्क में चोटी वाला स्थान का इतना गर्म होना इसी सूक्ष्म क्रिया-शीलता का प्रमाण है ।"

'हिस्ट्री ऑफ दि सिख्स' पुस्तक में डॉ. मैकग्रेगर ने इस घटना का उल्लेख करते हुए आश्चर्य प्रकट किया है—"श्वास-प्रश्वासों को बन्द रखकर जीवित रहना विलक्षण बात है । दीर्घकालीन उपवास का साधु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था । उनके चेहरे की चमक और प्रसन्नता में कोई अन्तर नहीं आया था ।"

डॉ. मैकग्रेगर के इस आश्चर्य में और भी कई सत्य छिपे थे । जीवन की अमरता की पुष्टि और इस बात की पुष्टि भी इस घटना से होती है कि अति संसार में लौकिक और स्थूल जगत की अपेक्षा कम प्रसन्नता नहीं । जब सन्त हरदास ने कहा—"समाधि तोड़ी गई, तब मुझे कष्ट हुआ । मेरा मन नहीं करता था कि जिस आनन्दमय संसार में मैं विचरण कर रहा हूँ, उसे छोड़कर फिर शरीर में लौटूँ । स्थूल जगत के सुखों में सूक्ष्म जगत के आनन्द से हजारवें अंश के बराबर भी सुख नहीं । साधारण व्यक्ति स्थूल सुखों में आसक्त होने के कारण उसे समझ नहीं पाते पर जैसे-जैसे शरीर योग, साधना, उपासना, यम-नियम, प्राणायाम, उपवास आदि के द्वारा शुद्ध होकर दिव्य-शक्तियों के सम्पर्क में आने लगता है, यह अनुभूतियाँ भी स्पष्ट होने लगती हैं ।"

सन्त हरदास के इस कथन को हम आज भी उसी सत्यता से ग्रहण करते हैं । देश में ऐसे हजारों-लाखों अनपढ़ उपासक हैं, जो इस तत्व-ज्ञान का विश्लेषण नहीं कर सकते पर अपनी शुद्धता के कारण वह साधन सम्पन्न और शिक्षित लोगों से भी बहुत अधिक सुखी, प्रसन्न और संतुष्ट होते हैं, यह ईश्वरीय तत्वों की सान्निध्यता का ही फल होता है ।

अंग्रेज इस बात को समझ नहीं पाये । वे यह समझ रहे थे कि इस समाधि से साधु को कष्ट हुआ होगा । कुछ अंग्रेजों को तो अविश्वास तक था कि कहीं पीछे से गड्ढा खोदकर कोई ऐसी चालाकी न की गई हो, जिससे सन्त को श्वास और कोई औषधि मिलती रही हो, जो ४० दिन तक शरीर को जीवित बचाये रख सकने में सहायक हुई हो । सन्त हरदास उनके इस सन्देह को ताड़ गए । अतएव उन्होंने एक और लम्बी समाधि में बैठने का निश्चय किया ।

इस बार जनरल वेनटुरा के नेतृत्व में सन्त हरदास ने दूसरी समाधि मई १६३८ में अदीना नगर में ली । समाधि का क्रम पहले जैसा ही था पर जनरल बड़े चतुर थे । गड्ढा खोदने की कोई सम्भावना न रहे, इसके लिए उसने सारे खेत में जिसमें सन्त हरदास ने समाधि ली थी, जौ की बुवाई करा दी । फसल तैयार होने पर उसे काट लिया गया । फिर उस पर दुबारा हल नहीं चलाने दिया गया ताकि जौ की जड़ें इस बात की गवाह बनी रहें कि खेत कहीं खोदा नहीं गया ।

सन्त हरदास दस माह तक समाधि में रहे । इस बीच कई बार इस भूमि का निरीक्षण किया गया । दस माह पूरे हुए तब जनरल वेनटुरा, डब्ल्यू. एच. मैकनाटन, कैप्टन वार्ड, मैकग्रेगर, डॉ. ड्रमण्ड आदि की उपस्थिति में फिर गड्ढा खोदा गया । सन्त हरदास की पहले जैसी ही स्थिति पायी गई । समाधि स्थिति से वापस आते ही शरीर फिर काम करने लगा । तोपें दाग कर सन्त का सम्मान किया गया । महाराज रणजीत सिंह सहित अन्य लोगों ने सन्त को बहुमूल्य उपहार भेंट किए पर सन्त के लिए मानो इन लौकिक वस्तुओं की कोई कामना ही न थी । अध्यात्म की शक्ति और प्रसन्नता के आगे यह उपहार फीके थे ।

कैप्टेन ओसवार्न ने इस घटना का उल्लेख अपनी पुस्तक 'रणजीत सिंह' में बड़े भावपूर्ण शब्दों में करते हुए लिखा है—"भारतीयों के पास ऐसा अलभ्य ज्ञान और विलक्षण क्षमताएँ हैं, जिन्हें पूर्व तब तक नहीं समझ सकता, जब तक उसे योग विद्या का ज्ञान न हो । निःसन्देह भारतीयों के पास कोई ऐसी वस्तु है, जो लौकिकता और भौतिकता से बढ़कर है, अन्यथा उसे प्राप्त करने के लिए, वे इतने कठिन तप और योगाभ्यास न करते ।"

जिस योग विद्या की पाश्चात्यों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है, खेद है कि हम भारतीय उसे भूलकर पाश्चात्यों की भौतिकतावादी शिक्षा और संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करते हैं । भारतीय योग विद्या और तत्व-ज्ञान की शक्ति और सामर्थ्य का पारावार नहीं, यह घटना उसका एक छोटा-सा चमत्कार है । योगाभ्यास और ईश्वरीय शक्तियों के अवगाहन से इससे भी महत्त्वपूर्ण लाभ और सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

हिम समाधि बनाम योग समाधि

क्षतिपूर्ति का एक तरीका सोचा जा रहा है—हिम समाधि । बर्फ की तरह यदि जीवित मनुष्य शरीर को जमा दिया जाय तो उसका क्षरण क्रम उतने समय तक रुका रह सकता है और थके हुए जीवाणु विश्राम पाकर

पुनः सशक्त हो सकते हैं । इस प्रकार मौत और बुढ़ापे का मुकाबिला किया जा सकता है । यह भी एक सम्भावना वैज्ञानिकों के दिमाग में है । इस दिशा में एक आशा की किरण उस समय झलकी जब हिम समाधि से मरे हुए एक रूसी ट्रेक्टर ड्राइवर को मृत्यु से वापस लौटा कर जीवित बनाया गया । सन् १९६० में वह ड्राइवर वर्फीले तूफान में गिर पड़ा और वहीं अकड़ गया । काफी समय बाद उसे अस्पताल पहुँचाया जा सका । उस निर्जीव दीखने वाले शरीर पर प्रयत्न किया गया और वह पुनः जीवित हो उठा । यह एक आकस्मिक घटना थी । इसी आधार पर अन्य प्रयोग चले । रूसी शरीर वैज्ञानिकों में से ए. कुल्यास्की, एफ आन्द्रीपेफ, और प्रो. बी. नैगोबकी ने हिम समाधि के कितने ही प्रयोग अनेक जीवों पर किए हैं और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि थके हुए अशक्त शरीरों को कुछ समय इस प्रकार का पूर्ण विश्राम दिया जा सके तो उसकी थकी हारी कोशिकाएँ नये उत्साह से नव-जीवन प्रारम्भ कर सकती हैं और बुढ़ापे को आगे धकेलने में सफलता मिल सकती है ।

जो कार्य हिम समाधि से किया जा सकता है उसका एक दूसरा तरीका किसी प्रकार शरीर को सुषुप्तावस्था में पहुँचा देना भी हो सकता है । चेतन मस्तिष्क तो रात में सो लेता है पर उससे थोड़ी सी थकान ही उतरती है । असली काम तो अचेतन को करना पड़ता है वह बिना सुस्ताये अहर्निशि कार्यरत रहता है । न करे तो रक्ताभिषरण श्वास-प्रश्वास, आकुंचन-प्रकुंचन जैसी शरीर को जीवित रखने वाली क्रियाएँ ही बन्द हो जायें । अचेतन के कार्य बन्द कर देने का ही दूसरा नाम मृत्यु है । इस अचेतन की थकान ही बुढ़ापे के रूप में सामने आती है और वह थकता निरन्तर काम करने से है । बीच में यदि उसे विश्राम मिल जाता तो जरूर वह भी रात में सोने वाले चेतन मस्तिष्क की तरह नई स्फूर्ति से काम कर सकने में जुट सकता था और मौत बुढ़ापे का संकट बहुत हद तक टल सकता था । देखा गया है कि हिम प्रयोगों की सुषुप्तावस्था में हृदय की गति एक मिनट में तीन बार और साँस तीन मिनट में एक बार तक मन्द हो जाती है । यदि यह स्थिति हिम समाधि के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार उत्पन्न की जा सके तो उससे भी वैसा ही लाभ हो सकता है ।

मंगल और वृहस्पति ग्रहों पर भेजे जाने वाले अन्तरिक्ष यात्रियों के बारे में यही सोचा गया है कि इतनी दूर जाने और लौटने में जो लम्बी अवधि लगेगी उसमें मौत बुढ़ापे का ही नहीं, अन्न जल का प्रबन्ध करना भी अशक्य हो जायेगा । उसका उपाय नियत समय पर सुषुप्तावस्था करना और नियत समय पर जागृत कर देने की प्रक्रिया का अपनाया जाना ही हो सकता है । 'प्रोफाइल्स आफ द फ्यूचर' पुस्तक के लेखक डॉ. आर्थर क्लार्क का कथन है कि, सुषुप्तावस्था उत्पन्न करने के सरल तरीके इस शताब्दी का अन्त होने तक ढूँढ़ निकाले जा सकेंगे ।

गुण सूत्रों को बदलने की—डी. एन. ए. में हेर-फेर करके मानवी जीन्स का स्वरूप ही बदल देने की बात सोची जा रही है । मानव सत्ता का वर्तमान शारीरिक और मानसिक ढाँचा बदल कर उसे अधिक समय तक जीवित रखने की सम्भावना पर भी वैज्ञानिक क्षेत्रों में विचार चल रहा है । अगले दिनों उसे भी प्रयोग क्षेत्र में कार्यान्वित किया जाने वाला है ।

केलीफोर्निया विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान प्राध्यापक डॉ. जेम्स वेडफोर्ड की मृत्यु कुछ समय पूर्व ७३ वर्ष की आयु में हुई है । उन्होंने अपनी सम्पत्ति की वसीयत यह की है कि उनके मृत शरीर को पुनर्जीवित करने के लिए प्रयोग किए जायें । पूर्ण सफलता भले ही न मिले पर उससे आगे का रास्ता खुला तो भी एक बड़ी बात होगी ।

उनकी घोषित मृत्यु के बाद डॉक्टरों ने उनके मस्तिष्क और हृदय के कोषों को कृत्रिम रीति से जीवन दिया और लाश को नाइट्रोजन घोल में जमा दिया । उसे २२० डिग्री सेण्टीग्रेड तापमान वाले एक बक्से में सुरक्षित रखा गया है । समयानुसार उस पर अन्य प्रयोग किए जायेंगे ।

'लाइफ एक्सटेनशन सोसाइटी' (जीवन वृद्धि संस्थान) के वैज्ञानिक सदस्य इस आधार पर विभिन्न प्रयोग कर रहे हैं कि कोष विघटन प्रक्रिया को रोकने के लिए शरीर को अति शीघ्र से जमा दिया जाय । इससे कोष विश्राम प्राप्त करके, विघटन के विनाश प्रवाह से छुटकारा पाने में समर्थ हो जायेंगे । इसके उपरान्त

उन्हें नवजीवन जैसी गतिविधि अपनाने के लिए भी सधाया जा सकेगा ।

इस प्रयोग में सन्दर्भ में कुछ चूहे ५ डिग्री सेण्टीग्रेड ताप पर जमाये गए । जमने पर वे काँच की तरह कड़े हो गए, जिनका कोई अंग कड़क से टूट सकता था । इसके बाद भी उन्हें सामान्य ताप देकर पुनः जीवित किया जा सका । कुत्ते और बिल्लियों पर भी यह प्रयोग किए गए और २०३ दिन बाद उन्हें पुनर्जीवित किया गया । इस जमाने वाली प्रक्रिया में एक प्रमुख कठिनाई यह है कि ऑक्सीजन के अभाव में मृत्यु के तुरन्त बाद 'जीवन कोष' विघटित होने लगते हैं । अर्द्ध मृत व्यक्ति पर प्रयोग कैसे किया जाय ? मृत्यु और जमाव के समय में न्यूनतम अन्तर रहे तभी प्रयोग की सफलता सम्भव होगी ।

यही प्रक्रिया भारतीय योग साधना में सविकल्प और निर्विकल्प समाधि के नाम पर प्रतिपादित की गई है । जो कार्य वैज्ञानिक तापमान घटाकर यान्त्रिक पद्धति से करना चाहते हैं वह प्रयोजन समाधि अवस्था में बिना किसी झंझट के पूरा हो जाता है । संकल्प बल की सामर्थ्य संसार में अद्भुत है । मनोबल की तुलना यन्त्र बल नहीं कर सकता । विशेषतया अपने शरीर के सम्बन्ध में, अपने संकल्प के प्रभाव का आश्चर्यजनक परिणाम तो असंदिग्ध ही है । स्व-संकेत साधना के अनुसार पाश्चात्य देशों में रोग निवारण से लेकर अपरोक्षानुभूति तक के प्रयोग सफलतापूर्वक सम्पन्न किए जा रहे हैं । योग साधना का तो मूल आधार ही वह है । स्व-संकेतों द्वारा, आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया अपनाकर समाधि स्थिति उत्पन्न की जा सकती है । इस प्रयोग में भी लगभग वही स्थिति पैदा हो जाती है जो 'हिम समाधि' द्वारा उत्पन्न की जायेगी । समाधि स्थिति में शरीर के जीवाणुओं को विश्राम मिल जाता है और अचेतन मन की निरन्तर काम करते रहने की थकान दूर होती है । जिस प्रकार रात को सो लेने पर सबेरे ताजा मस्तिष्क और स्फूर्तिवान शरीर नये उत्साह से काम करता है, ठीक उसी प्रकार समाधि अवस्था में शारीरिक और मानसिक विश्राम की व्यवस्था बन जाती है और उससे जगने के बाद नया स्फूर्तिवान शरीर एवं मन लेकर एक प्रकार से नया जीवन ही प्रारम्भ किया जाता है ।

औषधि उपचार में जो कायाकल्प प्रयोग किए जाते हैं उनमें शारीरिक जीवाणुओं को ही विश्राम मिलता है । मानसिक विश्राम के लिए उसमें कोई व्यवस्था नहीं होती, पर समाधि अवस्था में हिम समाधि जैसी स्थिति बन जाती है । उस स्थिति में शरीर भी अपनी थकान दूर करता है और मन की भाग-दौड़ बन्द हो जाने के कारण उसे भी नई शक्ति संचय कर लेने का अवकाश मिल जाता है । हिम समाधि में मन का स्तर जैसा कुछ था वैसा ही बना रहता है और उठने के बाद सक्रियता एवं चेतनता तो आ जाती है पर स्तर वही पुराना बना रहता है । समाधि में मन को जब विश्राम दिया जाता है तो उसे उच्च कोटि के संकल्पों से भर कर तुरीयावस्था में भेजा जाता है । विश्राम अवधि में वह उन्हीं संकल्पों में डूबा रहता है और जब उठता है तो उसी रंग में रंगा हुआ, बदला हुआ होता है ।

हिम समाधि में सुलाये हुए व्यक्ति को जगाने के लिए, इस विद्या के कुशल वैज्ञानिकों का सहयोग आवश्यक है किन्तु समाधि में जिस समय के जागरण के लिए संकल्प किया गया था, ठीक उसी समय अपने आप जागृत अवस्था आ जाती है । हिम समाधि के प्रयोग और अन्वेषण में जितना प्रयत्न किया जा रहा है, उससे आधा भी यदि समाधि शोध के लिए लगता है तो मनुष्य जाति को कृतकृत्य हो जाने का अवसर मिलता ।

योग का रहस्य और सिद्धि परिकर

आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ने का नाम योग है । संख्याओं को आपस में जोड़ देने से उसका बल कई गुना कहीं अधिक हो जाता है । मनुष्य एक वानर जाति का पशु है । आदिम काल में वह वैसा ही था । न्यूगिनी में अभी भी कुछ आदिवासी ऐसे पाये गए हैं जो आदिमकालीन सभ्यता अपनाये हुए हैं । वे नर-नारी नंगे रहते हैं । आहार के नाम पर जो जीव-जन्तु और वनस्पति मिल जाती हैं, उसी से गुजारा करते हैं । सभ्य कहे जाने वाले सम्पर्क से दूर भागते हैं, फलतः उनकी भाषा तक का भी विकास नहीं हो सका है । कुछ ही शब्द बोल पाते हैं और

संकेतों के सहारे पारस्परिक व्यवहार चलाते हैं । वैसे शारीरिक दृष्टि से वे अधिक बलवान और सर्दी, गर्मी को अधिक मात्रा में सहन कर लेते हैं । मनुष्य भी एक प्रकार से ऐसी ही आदिम सभ्यता के बीच निर्वाह करता है । उसे पेट प्रजनन का लोभ, मोह की गई-गुजरी प्रवृत्तियों का ही अभ्यास होता है । आदर्शों को अपनाने-मानवी गरिमा के अनुरूप आचरण करने में उसे अनख लगता है ।

उत्कृष्टता और आदर्शवादिता की विभूतियाँ परमात्मसत्ता के साथ ही जुड़ी हुई हैं । मनुष्य अपने आप को उस श्रद्धा समुच्चय के साथ जोड़ लेता है तो आदिम स्थिति से ऊँचा उठकर सभ्य सुसंस्कारी बनने की स्थिति तक जा पहुँचता है । पति-पत्नी की सघनता और सरसता मिलने से जिस प्रकार घर आँगन में ही स्वर्ग उग पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा का योग भी मनुष्य का स्तर ऊँचा उठाकर देवोपम बना देता है । इसलिए योग साधना की महिमा गाई जाती है और आन्तरिक उत्कर्ष का महत्त्व समझने वाले की गति उस दिशा में बढ़ती है ।

योग को दो भागों में विभक्त किया जाता है । एक बहिरंगयोग, दूसरा अन्तरंगयोग । बहिरंग वह जिसमें शरीर संचालन के अनेक उपचार अपनाने पड़ते हैं । आसन प्राणायाम बन्ध मुद्रा, जप, हवन, तीर्थपूजन, कीर्तन आदि की गणना बहिरंगयोग में होती है । इसका एक नाम क्रियायोग भी है । इसी विधा की एक शाखा हठयोग कहलाती है । इसमें क्रिया-कृत्यों पर जोर दिया जाता है । उनका विधान और अनुशासन ठीक प्रकार से अपनाये रहने पर जोर दिया जाता है । उसके परिणाम सुनियोजन के अनुरूप होते हैं । विशेषतया स्वास्थ्य सम्बर्धन, प्रतिभा का निखार, बुद्धि कौशल आदि शरीर से सम्बन्धित अवयवों पर क्रियायोग का प्रभाव पड़ता है । मन पर भी यत्किंचित् अंकुश लगता है।

दूसरा पक्ष है अन्तरंगयोग का । इसमें मन और प्राण के बिखराव को संयमशील, एकनिष्ठ बनाना पड़ता है । कुसंस्कारों का परिमार्जन करना पड़ता है और चिन्तन को उत्कृष्टता के साथ जोड़ना पड़ता है । ध्यान के अनेक पक्ष हैं । वे सभी अन्तरंगयोग के अन्तर्गत आते हैं ।

ध्यान में आमतौर से किसी कल्पित छवि के प्रति भक्ति भाव प्रकट किया जाता है और उसे निकटतम होने का अनुभव किया जाता है । इसके अतिरिक्त नादयोग, सोहम् साधना में ध्वनि का—खेचरी मुद्रा में सोमरस पान के रसास्वादन का अनुभव किया जाता है । चक्रबेधन, कुण्डलिनी उत्थान, ग्रन्थि बेध जैसे ध्यान प्रधान अभ्यास भी अन्तरंग, योग में ही गिने जाते हैं क्योंकि उन में चिन्तन को ही दिशा देनी पड़ती है । प्रत्यक्ष में क्रियायोग जैसी शारीरिक हलचलों की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

क्रियायोग का दायरा शरीर सीमा में काम करने वाली ऊर्जा अथवा सामान्य अतीन्द्रिय क्षमताओं तक ही सीमित है । इन्द्रियाँ स्थूल हैं, उनकी गणना शारीरिक अवयवों में होती है । उनकी शक्ति सामर्थ्य भी स्थूल ही रहती है । इन्द्रिय क्षमताओं का सूक्ष्मीकरण मात्र इतना ही करता है कि बिना उपकरणों के माध्यम से मस्तिष्क के ज्ञान तन्तु अन्य किसी इन्द्रिय के सहारे अपना काम चलाऊ रास्ता निकाल लेते हैं । जैसे आँख के न रहने पर अँगुलियों से छूकर अक्षरों का एवं वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता है । परामनोविज्ञान के अन्तर्गत दूर श्रवण, दूर दर्शन, विचार सम्प्रेषण, आदि को ही अतीन्द्रिय क्षमता मान लिया जाता है । यह सब मस्तिष्क का ही खेल है । अन्तर मात्र इतना ही पड़ता है कि इसमें प्रत्यक्ष माध्यमों की अपेक्षा ताप, शब्द, प्रकाश ध्वनि तरंगों को पहचानने और पकड़ने की क्षमता हस्तगत हो जाती है । इसे भी भौतिक लाभ या साफल्य कहा जाता सकता है । इन विशेषताओं को आध्यात्मिक मान लिया जाता है पर यह वस्तुतः वैसी हैं नहीं । परमात्मसत्ता के क्रियाकलाप बड़े अलौकिक एवं रहस्यमय हैं । उन्हें आज की भौतिकी की भाषा में नहीं समझा जा सकता । प्रख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन का विचार है कि "पार्टिकल फिजिक्स" वास्तव में लंगड़ी लूली है । वह विराट तत्व के रहस्यों का बोध नहीं करा सकती । समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के ऊपर एक सुलझी हुई विराट चेतना है, इस चेतना को परब्रह्म, ईश्वर, सृष्टिकर्त्ता या विश्व संचालक कह सकते हैं । ऋद्धि-सिद्धियों का सारा परिकर इसी समष्टिगत व्यवस्था के अद्भुत क्रियाकलापों की एक झाँकी मात्र है ।

भौतिकीविद् एवं दार्शनिक सर जेम्स जीन्स का भी यही कथन है कि भौतिक जगत की समस्त घटनाएँ सामन्जस्यपूर्ण हैं । जिन्हें हम संयोग कहते हैं, उनमें मूल यही है । इनको रचने वाली अवश्य एक महान गणितज्ञ, अति सामर्थ्यवान एवं अदृश्य सत्ता है । उसे परमैश्वर कहना चाहिए । यह जगत यान्त्रिक जड़ नहीं हो सकता क्योंकि इसकी हर वस्तु, हर प्राणी, हर जीव-जन्तु में चेतना कायम है और निरन्तर क्रियाशील है । इसी समष्टिगत सत्ता के साथ व्यष्टि सत्ता का जब सुनियोजित तालमेल बैठ जाता है तो वह योग कहलाने लगता है ।

महाभारत के अश्वमेध पर्व में वर्णन आता है कि दिव्य दृष्टि सम्पन्न सिद्ध पुरुष अपने दिव्य चक्षुओं से जीवों का शरीर त्यागना, उनका पुनः धारण करना तथा दूसरी योनि में प्रवेश करना आदि भली-भाँति देख व जान सकते हैं । आत्मबल सम्पन्न लोग सूक्ष्म शरीरधारी आत्माओं का मनुष्य के साथ सद्भाव एवं सहयोग स्थापित कर सकते हैं । परोक्ष जगत से सीधा सम्पर्क बिठा लेना त्रिकालदर्शिता की सिद्धि का ही परिचायक है ।

यह समय को बाँध लेने की सिद्धि ही है जो जागृत कुण्डलिनी की फलश्रुति के रूप में दिखाई देती है । ऐसे व्यक्ति सामान्यजनों की तरह जीवन-मृत्यु के बन्धन से भी मुक्त रहते हैं । सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन योगी चाँगदेव की आयु योग साधना के बल से ४०० वर्ष से अधिक हो चुकी थी । बाद में उन्होंने ज्ञानेश्वर जी के परामर्श पर समाधि ली । हमारे सूक्ष्म शरीर धारी गुरुदेव जो दुर्गम हिमालय में रहते हैं, आयु के बन्धनों से परे हैं ।

महात्मा तैलंग स्वामी ने २८० वर्ष की आयु में वाराणसी में पौष शुक्ल एकादशी संवत १९४४ को शरीर छोड़ा था । उनका जन्म संवत १६६४ वि. में एक ब्राह्मण जमीदार के यहाँ हुआ था । उन्होंने पुष्कर क्षेत्र में भागीरथ स्वामी से संन्यास दीक्षा ली थी । गुरु का दिया नाम गणपति स्वामी था, किन्तु प्रख्यात नाम तैलंग स्वामी ही है । वे महान साधक, योगी, लोकसेवी थे । उनके जीवन की अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं । विवेकानन्द जी ने भी उनका उल्लेख किया है और ऋषि दयानन्द के समय में भी वे थे । वे योग साधना की चरम अवस्था को प्राप्त कर अगणित विभूतियों के स्वामी बने । एक बार की बात है, महात्मा तैलंग स्वामी नेपाल के जंगलों में तप कर रहे थे । नेपाल नरेश सेनापति सहित शिकार को निकले । उनके प्रहार से बचकर एक व्याघ्र भागा । सेनापति ने पीछा किया । व्याघ्र तैलंग स्वामी के आश्रम में घुस गया, स्वामी जी के चरणों पर सर रखकर बैठ गया । स्वामी जी उसे सहलाने लगे । सेनापति व नरेश पीछा करते पहुँचे तो दृश्य देखकर हतप्रभ हो गए ।

ये प्रसंग मात्र कौतूहल-जानकारी भर तक ही सीमित नहीं है, वरन् तपश्चर्या द्वारा अर्जित सामर्थ्य द्वारा इतना कुछ हस्तगत हो सकता है, कि अदृश्य में चल रहे प्रवाहों की दिशा को मोड़ सके, भवितव्यता को टाल सके, और जो होने वाला नहीं है उसके बन पड़ने का माध्यम वे बन सकें । शाप वरदान देने की शक्तियाँ देवताओं के हाथ में मानी जाती हैं पर ऊँचे स्तर तक पहुँचा हुआ योगी तपस्वी या सिद्ध पुरुष भी वैसा कर सकता है । जिस बिजली के तार में करेण्ट बह रहा है उसके साथ अन्य तार जोड़ देने पर प्रवाह उसमें भी दौड़ने लगता है । परब्रह्म की देव सत्ताओं में से जो जिसके साथ जुड़ जाता है, उसे उसकी समतुल्यता प्राप्त हो जाती है और वह उस क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है, जिसमें परब्रह्म की देव शक्तियों का निवास है । यह प्रवेश मात्र सैलानियों जैसा नहीं वरन् भागीदारी जैसा होता है । दुकान पर बैठने वाले कई भागीदारों में से हर कोई खरीद फरोख्त करता रहता है । भागीदारी में इतना अधिकार तो मिल ही जाता है, किन्तु जिनकी स्थिति घनिष्ठतापूर्वक जुड़ जाने तक नहीं पहुँची है, जो मात्र भक्त उपासक या सेवक बने हुए हैं, उन्हें अपना मनोरथ प्रकट कर देने तक का ही अधिकार होता है । उसकी पूर्ति हो सके या नहीं यह मालिक की मर्जी पर निर्भर है ।

बहिरंगयोग, क्रियायोग का सम्बन्ध मात्र दृश्य जगत से है । वस्तुओं को उगा, हटा या बढ़ा, घटा सकता है । गुप्त या प्रकट कर देने तक भी उसकी गति हो सकती है किन्तु किसी के अन्तःकरण में गहराई तक प्रवेश कर सकने की क्षमता उसमें नहीं होती । निकृष्टता की राह पर धकेल देना तो किसी के लिए भी सम्भव है । ऐसा तो चोर, व्यभिचारी, जुआरी, व्यसनी भी

कर देते हैं, किन्तु ऊँचा उठा देना बन्धनों से मुक्ति दिला देना सर्वथा दूसरी बात है । शब्दवेधी बाण ही लक्ष्य को वेधते हैं । ढेला फेंकने पर तो वह किसी भी दिशा में और कितनी ही दूरी तक जा सकता है । उस पर नियन्त्रण नहीं होता । नियन्त्रित माप तौल का सही अनुमान लगाना एवं प्रयोग करना सधे हुए हाथों का ही काम है । किसी को किस दिशा में कितना ऊँचा उठाया जा सकता है यह निर्णय करना या उसे कार्यान्वित कर दिखाना उन्हीं का काम है, जिनकी तेल कूपों की गहराई तक उतरने की, समुद्र की गहराई नापने जितनी क्षमता है । ऊँचाई पर छोटी छलांग तो कोई भी लगा सकता है, पर पृथ्वी पर ऊँचाई में चढ़े हुए कवचों को वेधन करते हुए आगे के अन्तरिक्ष में प्रवेश करना, गतिशील होना बहुमूल्य रॉकिटों के लिए ही सम्भव है । अन्तरंगयोग द्वारा आत्मा का परमात्मसत्ता के साथ जुड़ा हुआ सम्बन्ध ऐसी अलौकिक ऋद्धि-सिद्धियों का परिचय दे सकता है । सिद्ध पुरुषों को देव-मानव ही कहते हैं । उनकी विवेक भरी अनुकम्पा किसी को भी ऊँचा उठाने, सुखी बनाने में सहायक सिद्ध हो सकती है । उच्चस्तरीय सिद्धियों तक इसी स्तर के लोगों की पहुँच होती है ।

दृश्य जगत की तरह दूसरा सटा हुआ या घुला हुआ अदृश्य जगत भी है, जिसका आभास हम साधारणतया स्वप्नावस्था में तथा विशेष अनुभूति निर्विकल्प समाधि तक पहुँचने पर करते हैं । शास्त्रकारों ने उन्हें लोक लोकान्तर कहा है । वे सूक्ष्म स्तर के हैं । अदृश्य स्तर के हैं । आकाशीय ग्रह-नक्षत्र में कहीं कोई वैसा लोक नहीं है, जैसा कि स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक, शिवलोक आदि के रूप में वर्णन किया जाता है । सप्त लोकों की ब्रह्माण्डीय स्थिति अदृश्य है । उन्हें नेत्रों या उपकरणों से नहीं पकड़ सकते । इन अदृश्य लोकों में अदृश्य स्तर के देव, पितर, सिद्ध, मुक्त स्तर के जीव निवास करते हैं । वहाँ कि परिस्थिति पदार्थपरक नहीं सम्वेदनपरक है । उस वातावरण में रहने वाले आनन्द, उल्लास, उमंग, तृप्ति, तुष्टि, शान्ति का हर घड़ी अनुभव करते रहते हैं । इन अदृश्य लोकों में ही वे पार्षद रहते हैं जिन्हें जीवन मुक्त कहा जाता है । जो ब्रह्म प्रेरणा से प्रेरित होकर संसार के असंतुलन को संतुलन में बदलने के लिए नियत समय तक महापुरुष, उद्धारक, सुधारक, अवतार आदि बन कर रहते हैं । उनका दृश्यमान शरीर अभीष्ट आयोजन पूरा होने तक ही कार्यरत रहता है । इसके बाद वह पूर्ववत अदृश्य हो जाता है । यह परिकर भी छोटा नहीं है । पृथ्वी पर जितने मनुष्य रहते हैं, उसकी तुलना में अदृश्य लोकों के निवासी अदृश्य जीवन मुक्तों की संख्या कम नहीं है । जिस प्रकार संसारी लोगों में अपने-अपने ढंग की अनेक प्रतिभाएँ और सम्पदाएँ होती हैं, उसी प्रकार अदृश्य लोकों की अदृश्य आत्माओं में अपने-अपने स्तर की अगणित विभूतियाँ प्रमुख सिद्धियाँ, विशेषताएँ दिव्य सम्पदाएँ होती हैं । यह वैभव उनके पास संचित ही नहीं बना रहता, वरन् वे सत्पात्रों को सत्प्रयोजनों के लिए उदारतापूर्वक वितरित भी करती रहती हैं ।

नरसी मेहता को परमार्थ के लिए धन की जरूरत पड़ी । उनके पास कुछ साधु पहुँचे, कहा हमें गाँव वालों ने आपके पास भेजा है । हम द्वारिका जी जा रहे हैं । आप सात-सौ रुपये रखकर हमें हुण्डी दे दें, ताकि रास्ते का खतरा न रहे और द्वारिका जी में हमें धन प्राप्त हो जाय, नरसी ने प्रभु की भेजी सहायता समझकर वह रुपये ले लिए । अपने इष्ट साँवलिया जी के नाम हुण्डी लिख दी । द्वारिका जी में साँवलिया शाह के रूप में प्रभु ने वह हुण्डी लेकर साधुओं को ७०० रु. दे दिए । वस्तुतः भगवान ही सूक्ष्म शरीर-धारी आत्माओं द्वारा दिशा निर्देशन-दिग्दर्शन द्वारा उच्चस्तरीय साधकों में प्रेरणा का संचार करते एवं दुःखी पीड़ितों का दुःख मिटाते हैं ।

योगीराज महर्षि अरविंद का कथन था कि विवेकानन्द की मृतात्मा उन्हें अनेक प्रेरणाएँ देतीं थीं । १९०१ में रामकृष्ण परमहंस की आत्मा ने ही उन्हें समष्टि की साधना के लिए प्रेरित किया था । श्री "माँ" भी किसी अदृश्य सत्ता की प्रेरणा से ही उनके पास पाण्डिचेरी आईं थीं । सुकरात हमेशा कहते थे कि उनमें एक डेमन रहता है जो उनसे सब काम मनचाहा कराता है । अपने सब कार्यों का श्रेय वे उस डेमन को ही देते थे ।

थियोसॉफिस्ट अन्वेषणकर्त्ता सी. डब्ल्यू. लेडबीटर आजीवन परोक्ष जगत पर शोधरत रहे । उनका कथन था कि पितर आत्माएँ निर्दोष बच्चों और सज्जन लोगों की मुसीबतों में रक्षा करती हैं तथा कई तरह से लाभ

पहुँचाती हैं । एक बार भयंकर आग एक कमरे में लगी । वह पूरा जल गया पर उसमें एक बालक पूर्णतः सोता रहा और बच गया । एक दिव्य तेज उसकी रक्षा करता रहा था व आग उसे प्रभावित नहीं कर पायी । १९५८ में प्रसिद्ध पत्रकार एवं लेखक बर्नार्ड हटन ने 'हीलिंग हैण्डस' नामक पुस्तक में एक घटना का विवरण दिया है । वे स्वयं नेत्र ज्योति खो चुके थे और डॉक्टरों ने जवाब दे दिया था । उन्हें मालूम हुआ कि स्वर्गीय डॉ. लैंग की प्रेतात्मा मि. चैपमेन को माध्यम बनाकर असाध्य नेत्र रोगों को ऑपरेशन द्वारा ठीक करती हैं । वे वहाँ गए । चैपमेन में प्रविष्ट डॉ. लैंग ने अपने हाथों के सहारे बन्द नेत्रों से बर्नार्ड हटन की आँख का ऑपरेशन किया और जख्म भर दिया । हटन की आँख ठीक हो गई ।

यह विवेचन बताता है कि अन्तरंगयोग के साधक अपनी अन्तरात्मा को इतनी हल्की, इतनी स्वच्छ, इतनी तीखी बना लेते हैं कि अदृश्य जगत में उनका प्रवेश भली प्रकार से हो सके । शरीर धारण किए रहते हुए भी अपने सूक्ष्म और कारण शरीरों को दिव्य लोकों तक पहुँचा सकें । अपने प्रयोजन के अनुरूप अदृश्य सिद्ध प्रभावों को ढूँढ़ सकें । उनके साथ घनिष्ठता बढ़ा सकें और अभीष्ट अनुदानों को सरलतापूर्वक हस्तगत कर सकें । योग साधना का प्रथम चरण आत्मशोधन का है । उसके उपरान्त तो सिद्ध पुरुषों के अनुदान उन्हें सहज ही उपलब्ध होने लगते हैं, जिनके सहारे आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के दोनों ही साधन सध सकते हैं । पानी जब भाप बन जाता है तो उन्मुक्त आकाश में विचरण करने की, ओस या बादल बनकर कहीं भी बरस पड़ने की, क्षमता उन योगीजनों को हस्तगत हो जाती है जो भटकावों में नहीं भटकते, किन्हीं अनुभवी मार्ग दर्शकों के संरक्षण में निष्कंटक पथ पर चलते हैं और स्वयं धन्य बनते हुए अन्य अनेकों को धन्य बनाते हैं । वस्तुतः सिद्धियाँ कहीं बाहर से नहीं टपकती, वह अपने ही अन्तरात्मा की देन हैं । अपने इसी प्रत्यक्ष शरीर के भीतर रहने वाली जीवात्मा के समान ही स्थूल भौतिक जगत के अन्तराल में भी एक प्राणवान चेतना भरी हुई है । इस चेतना को ईश्वर, परमात्मा, ब्रह्म भगवान कुछ भी कहा जाय, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता पर इतना स्पष्ट है कि उसी व्यापक ब्रह्माण्डीय चेतना में जीवधारी अनेकों घटक स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हैं । सागर में विद्यमान बूँद की तरह ब्रह्माण्डीय चेतना में जीव चेतना का अस्तित्व बताया गया है । सागर की बूँदों का जिस प्रकार कोई पृथक अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से पृथक भिन्न नहीं है ।

दोनों एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि उनमें परस्पर आदान-प्रदान का क्रम अनवरत रूप से चलता रह सकता है । यह पारस्परिक सम्बन्ध सूत्र इतने पतले हैं कि उन्हें देख और समझ सकना हर किसी के लिए सम्भव नहीं हो सकता । सामान्यतः लोग अपने को शरीर मात्र मानते हैं और उसी के पालन-पोषण में लगे रहते हैं । उन्हें आत्मा की प्रतीति तक नहीं होती, यदि यह प्रतीति होती तो इस दिशा में भी कुछ करने की बात सोची जा सकती थी । प्रतीति के इस अभाव के कारण ही ब्रह्मसत्ता को समझ पाना और उससे सम्पर्क मिलाना सम्भव नहीं होता । यदि इस दिशा में, आत्मसत्ता की प्रतीती करते हुए, योगाभ्यास और तप-साधना द्वारा उसे ब्रह्मसत्ता से साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया जाय तो आत्म-चेतना को जागृत करते हुए वह सामर्थ्य प्राप्त की जा सकती है, जिसमें ब्रह्मसत्ता ओत-प्रोत है । किसी सूखे जलाशय को नदी से सम्बद्ध कर देने पर जिस प्रकार वह जल से परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार जीवसत्ता भी ब्रह्मसत्ता के समान समर्थवान बन सकती है ।

इस स्थिति को आत्म जागृति कहते हैं । पातंजलि योगसूत्र विभूतिपाद में १६ से ४४ सूत्र तक इस प्रकार योग और तप, साधना से अनेकों प्रकार की सिद्धियों तथा दिव्यशक्तियों के प्राप्त होने का उल्लेख आता है । अतीत और अनागत का ज्ञान, सभी प्राणियों की भाषा समझने, पूर्वजन्म के बारे में जानने, दूसरों के मन की बात समझ जाने की क्षमता, अन्तर्ध्यान, आत्मबल, दूरदर्शन, सर्वज्ञान, भूख-प्यास की निवृत्ति दिव्यशक्तियों से सम्पर्क आदि कई शक्तियाँ प्राप्त होने का उल्लेख योग सूत्र में मिलता है । योगसूत्र के विभूतिपाद में ३६वें सूत्र में जिन छः सिद्धियों का उल्लेख किया गया है वे इस प्रकार हैं—

"ततः प्रतिभश्रावण वेदनादर्शस्वाद वार्ता जायेंते"

—विभूतिपाद ३६

अर्थात्—उससे प्रातिभ, श्रवण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता छः सिद्धियाँ प्रकट होती हैं योगसूत्र के भोजवृत्ति भाष्य में इन सिद्धियों का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

(१) प्रातिभ—मन में सूक्ष्म अर्थात् अतीन्द्रिय व्यावहित अर्थात् छिपी हुई वस्तु, विप्रकृष्ट अर्थात् सुदूर स्थित, अतीत और अनागत वस्तुओं, घटनाओं को जानने की क्षमता ।

(२) श्रवण—श्रोत्रेन्द्रिय से दिव्य ध्वनि और दूरवर्ती शब्दों का श्रवण ।

(३) वेदन—दिव्य स्पर्श का अनुभव ।

(४) आदर्श—दिव्यदर्शन की क्षमता ।

(५) आस्वाद—दिव्य रस का आस्वादन करने की क्षमता ।

(६) वार्ता—नासिका द्वारा दिव्य गंधों का अनुभव करने की क्षमता ।

इन क्षमताओं की प्राप्ति कैसे होती है ? इस सम्बन्ध में महर्षि पातंजलि ने कहा है कि चेतना के विकास हेतु किए जाने वाले प्रयासों, ध्यान धारणा के अभ्यासों से ये क्षमताएँ प्राप्त होती हैं । विभूतिपाद में कहा गया है—

सत्व पुरुषयोर त्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्यय विशेषो ।
योगः परार्थान्यस्वार्य संयमात् पुरुष ज्ञान् ॥

—विभूतिपाद ३५

अर्थात्—चित्त और पुरुष जो परस्पर भिन्न हैं, इन दोनों की प्रतीतियों में किसी भेद का आभास न होना ही योग है । उनमें से पदार्थ प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है, उसमें संयम करने से पुरुष को ज्ञान होता है । अर्थात् पुरुष विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है । इस प्रज्ञा के प्रभाव से ही उपरोक्त छः सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । चित्त अर्थात् बुद्धि और पुरुष अर्थात् चेतना बुद्धि और चेतना परस्पर भिन्न हैं किन्तु उनकी भिन्नता का भान नहीं होता । सुख, दुःख आदि का अनुभव व्यक्ति का हृदय, मन, मस्तिष्क ही करता है, किन्तु चेतना उन सबसे परे और अप्रभावित रहती है यद्यपि लगता यही है कि सुख-दुःख की अनुभूति आत्मा को हो रही है ।

सुख-दुःख के अनुभव को भोग कहते हैं और भोग का अनुभव करने वाला भोक्ता कहा जाता है । सामान्य बुद्धि आत्म चेतना को ही भोक्ता समझती है, किन्तु वस्तुतः ऐसा होता नहीं । स्वच्छ, शान्त जलाशय में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब बनता है । उस पानी में कोई पत्थर फेंका जाय और लहरें उत्पन्न की जाय तो चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब भी लहरों के साथ हिलता-ढुलता प्रतीत होता दिखाई देता है किन्तु वास्तव में पानी में उठने वाली लहरों के कारण चन्द्रमा का कुछ बनता बिगड़ता नहीं । इसी प्रकार सुख-दुःख आदि प्रिय अप्रिय परिस्थितियों में चेतना अप्रभावित ही रहती है किन्तु आत्म-चेतना में सुख-दुःख का प्रभाव देखने वाली वृत्ति या भ्राँति को शास्त्रकार ने कहा है । पदार्थ प्रतीति अर्थात् भ्राँति, वस्तुस्थिति से भिन्न, पर दूसरा होने का आभास ।

इसके विपरीत स्वार्थ प्रतीति समझनी चाहिए । सरल भाषा में इसे तत्व दृष्टि, आत्मबोध, आत्मचेतना के वास्तविक स्वरूप का ही ज्ञान भी कह सकते हैं । इस आत्मस्वरूप में ही ध्यान धारणा को संयम अथवा स्वार्थ प्रतीति में संयम कहा गया है और उसी से प्रज्ञा की उत्पत्ति छः सिद्धियों के अतिरिक्त आठ अन्य सिद्धियों का भी उल्लेख किया गया है । इन सिद्धियों को भी संयम का, ध्यान धारणा समाधि का परिचय कहा गया है । यह आठ सिद्धियाँ इस प्रकार हैं—

(१) अणिमा—अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना ।

(२) लघिमा—शरीर को हल्का कर लेना । इससे जल, थल, नभ सर्वत्र चलने की क्षमता आ जाती है ।

(३) महिमा—शरीर को बड़ा कर लेना ।

(४) गरिमा—शरीर को भारी बना लेना ।

(५) प्राप्ति—इच्छित पदार्थों को संकल्प मात्र से ही प्राप्त कर लेना ।

(६) प्राकाम्य—बिना रुकावट भौतिक पदार्थों सम्बन्धी इच्छाएँ अनायास ही पूरी हो जाना ।

(७) वशित्व—पंच भूतों, पंचतत्वों और तज्जनित पदार्थों का वश में हो जाना ।

(८) ईशित्व—इन तत्वों और भौतिक पदार्थों को मन चाहे रूप में उत्पन्न करने तथा उन पर शासन करने की सामर्थ्य ।

इन प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियों के अतिरिक्त काय सम्मत् और अनभिछात की सिद्धियों का प्राप्त होने का भी उल्लेख शास्त्रकार ने किया है । काय सम्मत से तात्पर्य शरीर की सुन्दर आकृति, दीप्तिमान अंग, अंगों का बलवान और वज्र की भाँति, दृढ़ तथा परिपूर्ण हो जाना है । अनभिछात से तात्पर्य साधक के कार्य में पंचतत्व अपने गुण और लक्षणों के कारण बाधा न पहुँचने से है । वह पृथ्वी के भीतर भी उसी प्रकार प्रवेश कर सकता है, जैसे कोई व्यक्ति जल में प्रवेश कर लेता है । पृथ्वी का धर्म स्थूल भाव (कड़ापन) कहा गया है । पृथ्वी का यह धर्म उसके लिए बाधा नहीं बनता । उस पर यदि पत्थरों की वर्षा की जाय तो भी वे उसके शरीर पर आघात नहीं पहुँचा सकते । इसी तरह जल का गीलापन उसके शरीर को गला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती अर्थात् सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि कोई भी भूतों के धर्म उसके शरीर में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचा सकते । इन सिद्धियों की उपलब्धि का मार्ग बताते हुए शास्त्रकार ने कहा है कि ये सिद्धियाँ पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त करने से होती है । योगदर्शन विभूतिपाद सूत्र ४४ में कहा है पाँचों भूतों की पाँच अवस्थाओं में संयम (ध्यान, धारणा, समाधि) करने से योगी को पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है ।

ये पाँच भूत, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच तत्व हैं । इन्द्रियों द्वारा अनुभव होने वाले रूप को स्थूल अवस्था, लक्षणों की स्वरूप अवस्था, तन्मात्रा और सूक्ष्म रूप को सूक्ष्मावस्था, प्रकाश, क्रिया और स्थिति को अन्वय अवस्था नया प्रयोजन अर्थवित्ता को अर्थतत्व अवस्था कहते हैं । इनमें संयम अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और भाव की एकाग्रता, तन्मयता तथा तद्रूश्यता को संयम कहा गया है ।

यह सिद्धियाँ पढ़ने सुनने पर अतिरंजित लगती हैं परन्तु इनके पीछे एक सुनिश्चित विज्ञान निहित है । सुनिश्चित वैज्ञानिक कारणों से, अतिर जित लगने वाली ये सिद्धियाँ हस्तगत कवत् करतलगत हो जाती हैं । यह प्रत्यक्ष ही देखा और अनुभव किया जा सकता है कि मनुष्य अपनी उपलब्ध क्षमताओं के सहारे प्रत्येक वस्तु का मनचाहा प्रयोग कर सकता है । दूसरे शब्दों में इसे मनुष्य की चेतन क्षमता का भौतिक वस्तुओं पर नियन्त्रण भी कहा जा सकता है । संयम द्वारा योग की ऐसी सिद्धियों की संख्या बहुत अधिक है, जिनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) यह जगत संस्कारों का परिणाम है और उन संस्कारों के क्रम में अदल-बदल होने से ही तरह-तरह के परिवर्तन होते रहते हैं । योगी इस तत्व को जान कर प्रत्येक वस्तु और घटना के 'भूत' तथा भविष्यत् का ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

(२) शब्द, अर्थ और ज्ञान का एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है । इनके 'संयम' (ध्यान, धारणा और समाधि, इन तीनों साधन क्रियाओं के एकीकरण को 'संयम' कहते हैं ।) से 'सब प्राणियों की वाणी' का ज्ञान हो जाता है ।

(३) अति सूक्ष्म संस्कारों को प्रत्यक्ष देख सकने के कारण योगी को किसी भी व्यक्ति के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है ।

(४) ज्ञान में संयम करने पर दूसरों के चित्त का ज्ञान होता है । इसके द्वारा योगी प्रत्येक प्राणी के मन की बात जान सकता है ।

(५) कायागत रूप से संयम करने से दूसरों के नेत्रों के प्रकाश का योगी के शरीर के साथ संयोग नही होता । इससे योगी का शरीर 'अन्तर्धान' हो जाता है । इसी प्रकार उसके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को भी पास में बैठा हुआ पुरुष नही जान सकता ।

(६) 'सोपक्रम' का अभ्यास करने से योगी को मृत्यु का पूर्व ज्ञान हो जाता है ।

(७) सातवीं सिद्धि से योगी के आत्म-बल का इतना विकास हो जाता है । उसके मन पर इन्द्रियों का वश नहीं चलता ।

(८) बल में संयम करने से योगी को हाथी, शेर, ग्राह, गरुड़ की शक्ति प्राप्त होती है ।

(९) ज्योतिष्मती प्रकृति के प्रकाश को सूक्ष्म वस्तुओं पर न्यास्त करके संयम करने से सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थों का ज्ञान होता है । इससे वह जल या पृथ्वी के भीतर समस्त पदार्थों को देख सकने में समर्थ होता है ।

(१०) सूर्य नारायण में संयम करने से योगी को क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म लोकों का ज्ञान होता है । सात स्वर्ग और सप्त पाताल सूक्ष्म लोक कहे जाते हैं । योगी के अन्यान्य ब्रह्माण्डों का भी ज्ञान हो जाता है ।

(११) चन्द्रमा में संयम करने से समस्त राशियों और नक्षत्रों का ज्ञान होता है ।

(१२) ध्रुव में संयम करने से समस्त ताराओं की गति का पूर्ण ज्ञान होता है ।

(१३) नाभि चक्र में संयम करने से योगी को शरीर के भीतरी अंगों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है । वात, पित्त, कफ के तीन दोष किस रीति से हैं; चर्म, रुधिर, माँस, नख, हाथ, चर्बी और वीर्य से सात धातुएँ किस प्रकार से हैं; नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं ? इन सब का ज्ञान हो जाता है ।

(१४) कण्ठकूप में संयम करने से भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है । मुख के भीतर उदर में वायु और आहार जाने के लिए जो कण्ठछिद्र है उसी को 'कण्ठ कूप' कहते हैं । यही पर पाँचवाँ चक्र स्थिर है और क्षुधा, पिपासा आदि क्रियाओं का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

(१५) कूर्म नाड़ी में संयम करने से मन अपनी चंचलता त्याग कर स्थिर बन जाता है ।

(१६) कपाल की ज्योति में संयम करने से योगी को सिद्धगुणों के दर्शन होते हैं । सिद्ध महात्मागण जीव श्रेणी से मुक्त होकर सृष्टि के कल्याणार्थ चौदह भुवन में विराजते हैं ।

(१७) योग-साधन करते समय ध्यानावस्था में दिखाई पड़ने वाले 'प्रातिभ' नामक तारे में संयम करने से ज्ञान-राज्य की समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

(१८) हृदय में संयम करने से चित्त का पूर्ण ज्ञान होता है । वैसे महामाया की माया से कोई चित्त का पूर्ण स्वरूप नहीं जान पाता, पर जब योगी हृत्कमल पर संयम करता है तो अपने चित्त का पूर्ण ज्ञाता बन जाता है ।

(१९) बुद्धि की चिद्भाव अवस्था में संयम करने से पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होता है । इससे योगी को (१) प्रातिभ, (२) श्रवण, (३) वेदन, (४) आदर्श, (५) आस्वाद और (६) वार्ता—ये षट्सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

(२०) बन्धन का जो कारण है उसके शिथिल हो जाने से और संयम द्वारा चित्त की प्रवेश निर्गमन मार्ग नाड़ी का ज्ञान हो जाने से योगी किसी भी शरीर में प्रवेश कर सकता है ।

(२१) उदान वायु को जीतने से जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थों का योगी को स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाती है अर्थात् वह इच्छा मृत्यु को प्राप्त होता है जैसा कि भीष्म पितामह का उदाहरण प्रसिद्ध है ।

(२२) समान वायु को वश में करने से योगी का शरीर तेज-पुंज और ज्योतिर्मय हो जाता है ।

(२३) कर्ण इन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रवण की शक्ति प्राप्त होती है । अर्थात् वह गुप्त से गुप्त, सूक्ष्म से सूक्ष्म और दूरवर्ती से दूरवर्ती शब्दों को भली प्रकार सुन सकता है ।

(२४) शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से आकाश में गमन हो सकता है ।

(२५) शरीर के बाहर मन की जो स्वाभाविक वृत्ति 'महा विदेह धारणा' है उसमें संयम करने से अहंकार का नाश हो जाता है और योगी अपने अन्तःकरण को यथेच्छा ले जाने की सिद्धि प्राप्त करता है ।

(२६) पंच तत्वों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थतत्व—ये पाँच अवस्थाएँ हैं । इन पर संयम करने से जगत् का निर्माण करने वाले पंचभूतों पर जय-लाभ होता है और प्रकृति वशीभूत हो जाती है । इससे अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व—ये अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

इस प्रकार योगी, समाधि अवस्था में पहुँचने के बाद जिस किसी विषय पर अपना ध्यान लगाता है उसी का पूर्ण ज्ञान किसी से बिना सीखे अथवा कहीं गए हुए प्राप्त हो जाता है । अन्त में परमात्मा की ओर अग्रसर होते हुए उसे वैसी ही शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं जो ईश्वर में पायी जाती हैं । वह त्रिकालदर्शी हो जाता है और सब लोकों में उसकी गति हो जाती है और उसके संकल्प मात्र से महान परिवर्तन हो जाते हैं पर यह सब कुछ सम्भव होने पर भी महात्माओं का मत यही है कि साधक को अपना लक्ष्य सदा "कैवल्य पद" रखना चाहिए । ये समस्त सिद्धियाँ

'अपरा' कही जाती हैं । परा सिद्धि वही है जिसका लक्ष्य अपने स्वरूप का अनुभव करके मुक्ति प्राप्त करना होता है ।

आत्मज्ञान और ऋद्धि-सिद्धियाँ

हठयोगी बड़े-बड़े चमत्कार करते हैं किन्तु इस विद्या के द्वारा उनका हृदय पवित्र हो जाता हो, वे मायाजाल को छोड़ देते हों सो बात नहीं । वरन् कभी-कभी तो यह देखा जाता है कि ऐसे हठयोगी बड़े पक्के दुनियादार होते हैं । हाँ, हठयोगी ने आत्म-ज्ञान भी प्राप्त कर लिया हो, उसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो तब तो बात ही दूसरी है किन्तु यह हठयोग का सुफल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता ।

हठयोगियों के चमत्कार विलक्षण होते हैं और उनमें भूल कर उनके पीछे पड़ जाना मनुष्य के लिए सरल है । एक हठयोगी अपनी आँखों पर पट्टी बाँध कर पढ़ सकता है, कोई-कोई खेचरी मुद्रा का अभ्यास करके महीनों-वर्षों पृथ्वी के अन्दर पड़े रह सकते हैं, कोई-कोई इसके अभ्यास से पानी पर चलने लगते हैं । एक हठयोगी किसी भी मनुष्य को श्री सम्पन्न बना सकता है किन्तु उसे स्वयं धन की चिन्ता बनी रहती है । बदन में सुई चुभाना, चाकू या तलवार खा लेना तो हठयोगियों के लिए मामूली बात है किन्तु इन बातों से अज्ञान का परदा सदा के लिए हमारी आँखों से कदापि नहीं हट सकता ।

हठयोग में मन को वश में करने की क्रिया है । मन बड़ा चंचल है । मन को हम साँप से उपमा दे सकते हैं । जब साँप को ठण्ड लगती है तब वह सिकुड़कर एक गोला बन जाता है । उस समय चाहे जो उसे उठाकर ले जा सकता है । बच्चे भी उसके साथ खेलने लगते हैं किन्तु जरा उसे आँच दिखा दीजिए और वह फिर ज्यों का त्यों फुफकारने लगता है । हठयोगी जो समाधि लगाते हैं वह साँप को ठण्ड लगने के समान है । जब तक वह समाधि में रहता है तब तक संसार का मायाजाल उसे नहीं सता सकता किन्तु ज्योंही वे उससे नीचे उतरते हैं त्योंही दुनियादारी उन्हें घेर लेती है । बात यह है कि जब तक हम साँप के विष के दाँत निकाल कर नहीं फेंक देते तब तक हम निर्भय नहीं रह सकते । जब तक मन में वासना का राज्य है तब तक क्षणिक समाधि से हमें उस सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिए हमें पहले साँप के दाँत उखाड़ने होंगे । पहले मोहनी मन्त्र के द्वारा साँप को वशीभूत कर लीजिए मन को वश में करने के लिए वेदान्त ही मोहिनी मंत्र है । सौ बात की एक बात यह है कि जब तक वासना दूर नहीं होगी, जब तक चरित्र का निर्माण न होगा, तब तक केवल हठयोग की समाधि से कुछ नहीं हो सकता ।

बहुत से आदमी हठयोग का अभ्यास करके रुपये कमाना चाहते हैं । हठयोग के द्वारा मन की एकाग्रता होती है किन्तु यदि साँप के दाँत—विषैले दाँत नहीं निकाले गए—यदि वासनाएँ नहीं दूर की गईं तो समाधि और एकाग्रता दूर होते ही प्रलोभन सताने लगते हैं । भक्त भगवान के मन्दिर में जाता है और भक्ति के आवेश में अपना सर्वस्व भगवान को सौंप देता है । उस समय उसके मन की अवस्था बहुत ऊँची हो जाती है । घड़ी भर के लिए वह आनन्द से सराबोर हो जाता है किन्तु घर पहुँचते ही वह शराबी की भाँति फिर भगवान से अपना एक-एक सामान वापस लेने लगता है । वह घर को फिर अपनी निजी सम्पत्ति समझने लगता है । अपने परिवार को अपना परिवार मानता है और उनके सुख-दुःख में मग्न हो जाता है ।

वेदान्त कहता है कि यदि घड़ी भर के त्याग से तुम्हें इतना आनन्द मिलता है तो यदि सचमुच तुम अपना सर्वस्व भगवान को सौंप दो तब तुम्हें कितना आनन्द मिलेगा ? क्या तुम्हें उसके सच्चिदानन्द स्वरूप होने में कोई सन्देह है ?

हठयोग उन्नति का एक छोटा सा मार्ग है । किन्तु यदि हमें उस सच्चिदानन्द स्वरूप के पास पहुँचना है तो हमें प्रवृत्ति मार्ग छोड़कर निवृत्ति मार्ग ही ग्रहण करना होगा । यदि हमें राजा से मिलना है तो राजा के नौकर-चाकरों की खुशामद से क्या लाभ ? हमें सीधे राजा को अपना मित्र बनाना चाहिए । वेदान्त निवृत्ति के मार्ग द्वारा हम सीधे उसी राजा तक पहुँच सकते हैं ।

इसलिए हठयोग का अभ्यास करना चाहिए या नहीं ? उसके उत्तर में वेदान्त यही कहता है कि तुम्हें हठयोग द्वारा प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियों के मजा लूटने की लालसा है तब तो वह शुद्ध दुनियादारी है । उससे

आत्मिक उन्नति की आशा करना व्यर्थ है । हमें मृत पुरुषों से बातचीत करने की चेष्टा करनी चाहिए या नहीं ? इसके उत्तर में वेदान्त कहता है कि तुम मृत पुरुषों से बातचीत तो अवश्यमेव कर सकते हो किन्तु मृत पुरुषों की अपेक्षा जीवित से बातचीत करना क्या बुरा है ? वेदान्त की दृष्टि में तो मृत पुरुषों की अपेक्षा जीवित पुरुषों का संसर्ग और भी अच्छा है ।

योगशास्त्र के प्रणेता महर्षि पातंजलि ने मानव द्वारा अर्जित की जा सकने वाली सिद्धियों का विभाजन योग्यता तथा शक्ति के आधार पर आठ वर्गों में किया है । ये हैं, अणिमा (परमाणु की तरह सूक्ष्म हो जाना), महिमा (अति विशाल हो जाना), लघिमा (अत्यन्त हल्का हो जाना), गरिमा (सघन हो जाना), प्राप्ति (कहीं भी जा पहुँचने की शक्ति), प्राकाम्य (इच्छाओं तथा कामनाओं को जानने की सामर्थ्य), ईश्वत्व (नियन्त्रण तथा निर्माण की शक्ति), वशित्व (सभी पदार्थों पर शासन करने की सामर्थ्य) । ये सभी मूलतः भौतिक क्षेत्र से सम्बन्धित शक्तियाँ हैं । इनसे आध्यात्मिक प्रगति, सद्गुण सम्वर्धन, ईश्वरीय सत्ता से साक्षात्कार की, जीव-मुक्ति की आशा नहीं की जा सकती यही कारण है कि उच्चस्तरीय साधक इन सिद्धियों की कभी कामना नहीं करते । वे निष्काम योग साधना में, समष्टि की आराधना में विश्वास रखते हैं । इसके बदले दैवी अनुग्रह एवं असीम जनसमुदाय का सहयोग सम्मान पाते हैं, आत्म-सन्तोष रूपी अनुदान पाते हैं ।

यों तो योग साधना एवं तपश्चर्या द्वारा आत्मिक बल बढ़ने से कई प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जिनका हर कोई प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है । १—जिसकी दिलचस्पी आत्मिक क्षेत्र में होती है वह आत्मा को शरीर से भिन्न समझता है और सांसारिक पदार्थों की नश्वरता को भली-भाँति समझता है, इसलिए थोड़ी वस्तुएँ प्राप्त होने पर भी बिना कुड़कुड़ाये काम चला लेता है और वियोग, हानि, नाश आदि के कारण दुःखी नहीं होता, तीन चौथाई दुःख मानसिक होता है, इनसे उसे छुटकारा मिल जाता है । लोग दुःख निवारण के लिए सारा जीवन खपा देते हैं फिर भी सन्तोष की स्थिति प्राप्त नहीं होती, किन्तु आत्म-ज्ञान से अनायास ही उसकी प्राप्ति हो जाती है यह पहली सिद्धि है । २—आत्मभाव, प्रेम, सद्भाव ईमानदारी, सेवा, सहायता की बुद्धि जागृत होने से अपना व्यवहार दूसरों के साथ बहुत ही उदार, विनम्र और मधुर होने लगता है फलस्वरूप दूसरों का व्यवहार भी अपने साथ वैसा ही मधुर-सहायतापूर्ण एवं सरस होता है । मित्रों, प्रेमियों, हितचिन्तकों और प्रशंसकों की संख्या बढ़ने से मन, प्रसन्नता और प्रफुल्लता से भरा रहता है यह दूसरी सिद्धि है । ३—आत्म निरीक्षण द्वारा कुवृत्तियों की पहचान कर उनसे बचने का प्रयत्न करते रहने से मानसिक शान्ति बनी रहती है, पापों की बढ़ोत्तरी नहीं होती, चित्त की शुद्धि होने से अन्तःकरण हल्का होता रहता है और नाना प्रकार के मानसिक विक्षेप उठकर घबराहट, बेचैनी उत्पन्न नहीं करते यह तीसरी सिद्धि है । ४—चित्त की स्थिरता का शरीर पर भारी प्रभाव पड़ता है । इन्द्रिय संयम और शान्त मस्तिष्क के कारण शरीर निरोग और दीर्घजीवी रहता है । यह चौथी सिद्धि है । ५—सात्विक वृत्तियों के बढ़ने से धैर्य, साहस, स्थिरता, दृढ़ता, परिश्रमशीलता की वृद्धि होती है, इनसे असंख्य प्रकार की योग्यताएँ बढ़ती हैं और कठिन काम आसान हो जाते हैं यह पाँचवीं सिद्धि है। ६—मनुष्यता की मात्रा बढ़ जाने से सब लोग उसका विश्वास करते हैं, विश्वासी के पथ प्रदर्शन, नेतृत्व और कार्यक्रम को लोग अपनाते हैं, उसके व्यक्तित्व की जमानत पर बड़ी से बड़ी जोखिम उठाने और त्याग करने को लोग तैयार हो जाते हैं, बिना राज्य शासन करना छठवीं सिद्धि है । ७—बुद्धि परमार्जित होने के कारण दूसरों की मनोदशा समझने की योग्यता हो जाती है, निर्मल बुद्धि पर स्वच्छ दर्पण की तरह दूसरों के मन का चित्र स्पष्ट रूप से आ जाता है । अन्य व्यक्तियों के मनोगत भावों को समझकर उनके साथ तदनुकूल व्यवहार करने से अपनी कार्य पद्धति सफल, लाभदायक एवं हितकर होती है, यह सातवीं सिद्धि है । ८—आत्मा की पवित्रता के कारण जीवन मुक्ति मिलती है, ईश्वर प्राप्ति होती है, सत् चित् आनन्दपूर्ण स्थिति में निवास होता है, स्वर्ग और पुनर्जन्म मुट्ठी में रहते हैं यह आठवीं सिद्धि है । इन अष्ट सिद्धियों को आध्यात्म पथ के साधक अपनी साधना के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में प्राप्त करते हैं, जिस सुख की तलाश में बहिर्मुखी व्यक्ति घोर प्रयत्न करते हुए मारे-मारे फिरते हैं फिर भी निराश रहते हैं, उससे कई गुना सुख आध्यात्म साधक अनायास ही पा जाते हैं । अष्ट

सिद्धि के प्रभाव से उनका जीवन हर घड़ी आनन्द से परिपूर्ण रहता है, दुःख की छाया भी पास में नहीं फटकने पाती ।

नव ऋद्धियाँ दूसरों के ऊपर प्रभाव करने के लिए हैं । पहलवान शारीरिक बल को बढ़ाकर स्वास्थ्य जन्य सुख भोगता है, साथ ही उस बल के प्रभाव से दूसरों को हानि लाभ पहुँचाता है, इसी प्रकार आत्मिक पहलवानों की ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ हैं । सिद्धियों के बल से अपने आप को उन्नत, पवित्र, शान्त, निर्भय एवं आनन्दित बनाता है और ऋद्धियों के बल से दूसरों को हानि-लाभ पहुँचाता है । नौ ऋद्धियाँ निम्न प्रकार हैं—

(१) आत्म-बल के साथ जो भावना दूसरे पर फेंकी जाती है वह बाण के समान शक्तिशाली होती है । उनके आशीर्वाद एवं श्राप दोनों ही फलप्रद होते हैं । श्राप और वरदान की प्राचीन गाथाएँ झूठी नहीं हैं, तपस्वी पुरुष सच्चे हृदय से किसी को आशीर्वाद दें तो वह व्यक्ति लाभान्वित हो सकता है और श्राप से आपत्ति में पड़ सकता है यह प्रथम ऋद्धि है ।

(२) तपस्वी पुरुषों की मामूली चिकित्सा से असाध्य और कष्ट-साध्य रोग दूर हो सकते हैं उनकी चिकित्सा में आध्यात्मिक अमृत मिला होने के कारण ऊँचे चिकित्सकों की अपेक्षा भी वे अधिक लाभ पहुँचा सकते हैं यह दूसरी ऋद्धि है ।

(३) साधकों के आस-पास का वातावरण ऐसा विचित्र एवम् प्रभावशाली होता है कि उसमें रहने से लोगों में असाधारण परिवर्तन हो जाता है । बुरे और ढीले स्वभाव के व्यक्ति साधु पुरुषों की संगति में रहकर बहुत कुछ बदल जाते हैं उनकी शारीरिक और मानसिक बिजली इतनी तेज होती है कि पास आने वाले व्यक्ति को अपने रंग में रंगे बिना अछूता नहीं छोड़ती । यह तीसरी ऋद्धि है ।

(४) मेस्मेरिज्म हिप्नोटिज्म परकाया प्रवेश आदि तरीकों से वे निकटस्थ या दूरस्थ मनुष्य को सम्मोहित करके उसके अन्दर से मानसिक दोषों को हटा सकते हैं और उसके स्थान पर सद्गुणों के बीच अन्तर्मन में जमा सकते हैं यह चौथी ऋद्धि है ।

(५) पूर्व कर्मों के फलस्वरूप जिस प्रकार का भविष्य बन रहा है उसको पहले से ही देख सकते हैं तथा पाँचवी ऋद्धि है ।

(६) भूतकाल की घटनाएँ और विचारधाराएँ नष्ट नहीं हो जाती वरन् ईश्वर तत्व में अंकित रहती हैं । आध्यात्म साधक किसी व्यक्ति का भूतकाल अपनी दिव्य दृष्टि से देख सकता है और बिना पूछे किसी व्यक्ति का परिचय जान सकता है यह छठवीं ऋद्धि है ।

(७) योग साधक अपनी शक्ति, पुण्य, तपस्या, आयु, योग्यता का कुछ अंश दूसरों को दान कर सकता है तथा किसी के पाप और कष्टों को स्वयं भुगतने के लिए आत्म-बल से अपने ऊपर ले सकता है यह सातवीं ऋद्धि है ।

(८) आत्म शक्ति से युक्त अपनी विचारधाराओं को अदृश्य रूप से ऐसे प्रचण्ड प्रभाव के साथ बहा सकता है कि असंख्य जनता को उन विचारों के सामने झुकना पड़े, आपने देखा होगा कि बक्की उपदेशक इधर-उधर कतरनी सी जीभ चलाते फिरते हैं पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं होता, किन्तु सच्चे महापुरुष थोड़ा कहते हैं तो भी उनके प्रचण्ड विचार बड़े-२ कठोर हृदय में पार हो जाते हैं उनका ऐसा तीव्र प्रभाव होता है कि उपेक्षा करना कठिन हो जाता है आत्म-शक्तियुक्त महापुरुष अपने मनोबल से जनता के विचार पलट सकते हैं, युगान्तर उपस्थित कर सकते हैं यह आठवीं ऋद्धि है ।

(९) निराशों को आशान्वित, आलसियों की उद्यमी, मूर्खों को पण्डित, रोने वालों को आनन्दित, पापियों को पुण्यात्मा, दरिद्रों को ऐश्वर्यवान, अभावग्रस्तों को वैभवशाली बना देना, सोते हुओं को जगा देना, नर के नारायण के रूप में परिवर्तित कर देना, अर्द्ध मृतकों में प्राण फूँककर सजीव कर देना यह नवीं ऋद्धि है ।

अष्ट सिद्धि, नव ऋद्धि से स्वभावतः योगी लोग सम्पन्न होते हैं जिसकी जितनी जैसी साधना है उसे उसी मात्रा में ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इनका दुरुपयोग करना बुरा है, सदुपयोग करने से आत्मिक बल वृद्धि होती है । जहाँ ऋद्धि-सिद्धियों से बचने के लिए कहा गया है वहाँ उसका तात्पर्य इनका दुरुपयोग न करने से है अथवा कौतूहलपूर्ण बाजीगरी के निरर्थक खेलों में रुचि न लेने से है । योगी को स्वभावतः ऋद्धि-सिद्धियाँ मिलती हैं यह प्राकृतिक क्रम है ।

वस्तुतः सिद्धिवान होना महामानव होने का प्रमाण नहीं है । सच्चे सिद्धपुरुष प्रदर्शन नहीं करते, वरन् वे आवश्यकतानुसार सुपात्रों पर अपने अनुदान बरसाते

हुए उनके माध्यम से सृष्टा का अभीष्ट प्रयोजन पूरा करते हैं । समष्टि की आराधना ही उनका लक्ष्य होता है एवं निरपेक्ष भाव से करते हुए वे कृतकृत्य होते हैं । उनके जीवन प्रसंग औरों के लिए प्रेरणा स्रोत बन जाते हैं । भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास ऋषिगणों, विभूतियों द्वारा आत्म-सत्ता के प्रचण्ड पुरुषार्थ से अर्जित उपलब्धियों—कथा—प्रसंगों से भरा पड़ा है । ये पौराणिक मिथक किसी को चमत्कृत करने के लिए नहीं, वरन् उन्हें अध्यात्म क्षेत्र की असीम सम्भावनाओं का परिचय देने के लिए वर्णित किए जाते रहे हैं । उनका बार-बार स्मरण इसीलिए कराया जाता है ।

सम्पूर्ण आत्मिक विभूतियों ऋद्धि-सिद्धियों का आधार आत्मशोधन की साधना एवं लोकमंगल की कामना से जुड़ा प्रचण्ड तप-पुरुषार्थ ही रहा है । श्राप और वरदान देने की शक्ति इसी आधार पर मिलती है । ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने नूतन सृष्टि की रचना इसी आधार पर की थी । मुनि भारद्वाज को अपने अग्रज को मनाने, वापस जाते भरत का राजसी सत्कार अपने तपोबल के आधार पर ही किया था । महर्षि वशिष्ठ की कामधेनु किसी भी क्षण ऐश्वर्य साम्राज्य खड़ा करने में सक्षम थी । यह उनकी तपोबल द्वारा अर्जित सिद्धि ही थी ।

सिद्धियाँ दो तरह की होती हैं । प्रथम-निम्न स्तर की अपरिष्कृत, अतिभौतिक एवं मानसिक शक्तियों की, दूसरी आध्यात्मिक शक्तियों के उच्चतम अभ्यास की । श्री मद्भगवद गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि- "जो साधक योग कर्म में लगे हैं तथा जिन्होंने अपनी अपनी इन्द्रियों को दमित या शान्त कर लिया है अथवा जो जितेन्द्रिय हो गए हैं तथा जिन्होंने अपने मन को मुझ में एकाग्र कर लिया है ऐसे योगियों की सेवा के लिए सभी सिद्धियाँ तैयार खड़ी रहती हैं । उनके प्रति सभी की कृपा दृष्टि बनी रहती है । हिंसक जीव-जन्तु पशु-पक्षी भी उनके समीप आकर अपनी क्रूरता हिंस्र भाव भूल जाते हैं और अपने परिवार के सदस्यों जैसा व्यवहार करने लगते हैं ।"

सन्त एकनाथ शूल भंजन पर्वत पर तपस्या कर रहे थे । भगवान के ध्यान में इतना निमग्न थे कि उनके ऊपर एक विषधर नाग चढ़ गया जिसका उन्हें पता नहीं चला । काया से स्पर्शमात्र से विषैले सर्प का भाव बदल गया । दंश मारने के स्थान पर वह सिर पर फन फैलाकर बैठ गया । एक ग्वाले ने उन्हें जब सावधान किया तो वे बोले-जब प्रभु कृपालु होते हैं तो जड़-चेतन सभी उसके हितैषी और शुभचिन्तक बन जाते हैं । इस सर्प की मेरे ऊपर विशेष कृपा है । इसी तरह महर्षि रमण के पास हिंसक जीव शान्त भाव से बैठे रहते थे । आश्रम के बन्दर, गिलहरी उनसे खेलते थे । दो सुन्दर मोर, कुत्ता 'कुरुप्पन' तथा 'लक्ष्मी' गौ उनके विशेष प्रेमियों में थे ।

उच्चस्तरीय साधना शक्ति सम्पन्न साधकों में अद्भुत क्षमताएँ आ जाती हैं । वे चाहें तो भौतिक सीमाओं, बन्धनों, आघातों एव दिक्काल की मर्यादाओं से मुक्त एवं अप्रभावित बने रह सकते हैं । ऐसे अनेकों सन्त एवं सिद्ध पुरुष हुए हैं जिन्हें अपने सुधारवादी दृष्टिकोण या आन्दोलन के कारण तत्कालीन शासकों एवं प्रशासकों के कोप का शिकार होना पड़ा पर वे उनका कुछ भी न बिगाड़ सके ।

बनारस के मुगल शासक से कट्टरपंथी मुल्लाओं ने सन्त कबीर की शिकायत कर दी । उससे कहा गया कि वे अल्लाह के नाम पर लोगों को बरगलाते हैं । शासक ने उन्हें हथकड़ी डालकर गंगा में फेंक देने का आदेश दिया । विज्ञ समुदाय ने जब ऐसा करने से उसे रोकना चाहा तो कहा गया कि यदि इसका भगवान या अल्लाह कोई सगा होगा तो नदी में डूबने से इसे बचा लेगा । अन्ततः उसके आदेशानुसार सन्त कबीर को नदी में फेंक दिया गया । थोड़ी ही देर में वे आराम से किनारे पर आकर बैठ गए । उन्हें देखकर अनाचारी नतमस्तक हो गए । इसी तरह प्रसिद्ध योगी तैलंग स्वामी को भी अपने अवधूतपन के कारण एक अंग्रेज अधिकारी का कोपभाजन बनना पड़ा । उसने अपनी देख-रेख में उन्हें जेल की एक कोठरी में वन्द करा दिया ओर चारों ओर पुलिस का पहरा बिठा दिया । कुछ देर पश्चात देखा तो वे छत पर टहलते नजर आये । उन्हें पकड़ कर जब दुबारा काल-कोठरी में ठूँस दिया गया तो इस बार वे वाहर मैदान में टहलते पाये गए । पूछे जाने पर उन्होंने कहा "ईश्वर की इच्छा को ताले चाबी द्वारा नहीं रोका जा सकता, यदि ऐसा सम्भव होता तो मृत्यु के पूर्व प्रियजनों को ताले में वन्द करके बचाया जा सकता था ।" इस घटना से प्रभावित होकर वह अंग्रेज जिलाधीश उनका भक्त बन गया ।

आचार्य शंकर को वलि चढ़ाने की इच्छा से एक तांत्रिक धोखे से उन्हें वध-स्थल पर ले गया । आचार्य

मुस्कराते हुए खड़े रहे और वह उनके शरीर पर अपना खड़ग चलाता रहा । प्रत्येक बार में खड़ग शरीर के आर-पार यों निकलता रहा मानो हवा में घूम रहा हो । इस दृश्य को देखकर तांत्रिक घबरा गया और उनके चरणों में गिर पड़ा । शंकराचार्य परकाया प्रवेश जैसी अनेकानेक सिद्धियों के स्वामी थे । अपने दिग्विजय अभियान में उन्होंने मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित करने के पश्चात उनकी पत्नी भारती देवी के प्रश्नों का उत्तर देने कि लिए आमरू नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश करके काम-शास्त्र का अध्ययन किया था । इसके बाद पुनः अपने शरीर में वापस आ गए थे । एक अंग्रेज सैनिक अधिकारी एल. पी. फैरेल ने भी हिमालय के एक योगी को अपनी वृद्ध जर्जर काया को त्यागने एवं नदी के प्रवाह में बहते एक युवा के मृत शरीर में प्रवेश करते देखा था । इस घटना का विशद् वर्णन उसने अपनी पुस्तक में भी किया है । इटली के प्रसिद्ध सन्त पादरी पियो स्वेच्छानुसार अपने सूक्ष्म शरीर से यात्रा करने, दूरस्थ लोगों तक पहुँचने तथा उन्हें सहायता पहुँचाने के लिए प्रख्यात रहे हैं ।

आत्म-सत्ता की प्रचण्ड क्षमता से स्थूल जगत में पदार्थगत एवं सूक्ष्म चेतन जगत में अद्भुत परिवर्तन किए जा सकते हैं । किसी को भी मोड़ा-मरोड़ा और अपने अनुकूल बनाया जा सकता है । ऐसे कई सन्त महात्मा एवं योगी हुए हैं ज़िन्होंने अपनी आत्म-शक्ति का—उपलब्ध सिद्धियों का सदुपयोग मात्र जन-कल्याण में, लोगों को सही दिशा की ओर प्रेरित करने में किया है ।

सन्त ज्ञानेश्वर जन्मजात सिद्ध पुरुष थे । प्रकृति पर उनका पूर्ण नियन्त्रण था । वे आत्मा की सर्वव्यापकता एवं एकरूपता पर विश्वास करते थे और वही लोगों को उपदेश भी दिया करते थे । एक बार उन्होंने पण्डितों के बीच कहा—"आत्मा सभी प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है ।" इस पर एक पंडित ने व्यंग्य किया और सामने कुछ दूर खड़े एक भैंसे की ओर संकेत करते हुए कहा—"इसका भी नाम ज्ञान है । तुम दोनों एक हो ।" ज्ञानेश्वर ने कहा—हाँ दोनों की आत्मा एक है । तभी किसी ने भैंसे की पीठ पर लाठी से जोरदार प्रहार किया और उसके निशान ज्ञानेश्वर की पीठ पर उभर आये । इस पर दूसरे पण्डित ने कहा—फिर तो भैंसा भी वेदपाठी हो सकता है ? सन्त ने उसकी पीठ पर हाथ रखा और उसके मुख से सस्वर वेदपाठ निकलने लगा । पण्डितों को उनकी महत्ता स्वीकारनी पड़ी ।

सिद्धियाँ वस्तुतः अन्तःकरण की पवित्रता एवं तपश्चर्या की प्रखरता के आधार पर ही अर्जित की जाती हैं । ऐसे महापुरुषों के अन्तःकरण से निकले शब्द कभी निष्फल नहीं जाते । तपश्चर्या द्वारा उपार्जित प्राणशक्ति का एक अंश देकर वे अनेकों को आगे बढ़ाते, ऊँचे उठाते देखे गए हैं । समर्थ गुरु ने शिवाजी को, प्राणनाथ ने छत्रसाल को, रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को, विरजानन्द ने दयानन्द को इसी तरह सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप दिशा दी और अपनी सिद्धियाँ हस्तान्तरित कर उन्हें राष्ट्र समाज एवं संस्कृति की महान सेवा करने के लिए प्रेरित किया । समर्थ ने शिवाजी की परीक्षा ली और उत्तीर्ण होने पर उन्हें भवानी से प्राप्त एक अजेय तलवार दी । आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—"इस तलवार को लेकर तू कभी पराजित नहीं हो सकता ।" वैसा ही हुआ भी । अर्जुन को तपस्या एवं चरित्रनिष्ठा में खरा सिद्ध होने पर ही शिवजी से पाशुपत अस्त्र, इन्द्र से गाण्डीव तथा अग्नि से अक्षय तर्कश प्राप्त हुआ था । बुन्देलखण्ड के छत्रसाल पर सन्त प्राणनाथ जी प्रसन्न हो गए थे । उन्होंने एक दिन प्रातःकाल उनसे कहा कि आज जितने क्षेत्र की परिक्रमा घोड़े पर चढ़कर लगा लोगे, उस भूमि में रत्नों की उपलब्धि होने लगेगी । मध्य प्रदेश का पन्ना क्षेत्र अभी भी हीरों का उत्पादक क्षेत्र बना हुआ है । वहाँ के निवासी इसे अपने राजा के गुरु की शक्ति का प्रताप ही मानते हैं ।

परमयोगी गोरखनाथ जी की सिद्धि कथाएँ अभी भी लोक-मानस में छाई हुई हैं । उन्होंने अपने योग एवं तप शक्ति का उपयोग सदैव लोक-मंगल के लिए समर्पित प्रतिभाओं को खोजने और उन्हें दिशा देने के लिए किया है । कहा जाता है कि सियालकोट के राजा पूरण को उनकी विमाता ने हाथ-पैर कटवा कर कुएँ में फिकवा दिया था । गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया और दीक्षा दी । कालान्तर में चौरंगीनाथ के नाम से वे विख्यात सन्त हुए । मेवाड़ राज्य के संस्थापक बप्पा रावल को प्रसन्न होकर उन्होंने एक सिद्ध तलवार दी थी जिसके बल पर बप्पा रावल ने चित्तौड़ राज्य की स्थापना की । वह तलवार पीढ़ियों तक राज्य चिन्ह के रूप में चलती रही । राजा भर्तृहरि भी उन्हीं के शिष्य थे ।

सिद्ध मुस्लिम सन्तों में दिल्ली के निजामुद्दीन औलिया और शेख सलीम चिश्ती अधिक प्रसिद्ध हैं । उन दिनों सन्त निजामुद्दीन की सिद्धि गाथाएँ दूर-दूर तक फैली हुई थीं, जिससे कुपित होकर एक बार तत्कालीन शासक ने उन्हें फरेबी समझकर उनके यहाँ भेजे जाने वाले तेल पर रोक लगा दी । इस तेल से दीपक जलाये जाते थे । जब इस स्थिति की जानकारी सन्त को हुई तो उन्होंने शिष्यों से कुएँ का पानी भर कर दीपकों में डालने को कहा । उनके आदेश का पालन हुआ और पानी तेल की तरह दीपकों में जलने लगा । दिल्ली का वही क्षेत्र आज "चिराग दिल्ली" के नाम से विख्यात है । इसी तरह बादशाह गयासुद्दीन एक बार उन्हें दण्डित करने की घोषणा करके चला था । बल्लभगढ़ के पास शाही लश्कर पहुँच चुका था । लोगों ने सन्त को इसकी सूचना दी तो वे बोले "अभी दिल्ली दूर है ।" और दिल्ली पहुँचने के पहले ही गयासुद्दीन चल बसा ।

तप साधन से प्रसुप्त अन्तःशक्तियों का जागरण होता है किन्तु प्रभावशाली वे तभी होती हैं जब उच्च उद्देश्यों से जागृत या प्रयुक्त होती है । निम्न या हीन उद्देश्यों से जागृत शक्तियाँ-सिद्धियाँ अन्ततः दुर्बल सिद्ध होती हैं और साधक के पतन तथा विनाश का कारण बनती है । दुर्वासा ने अहंकार से प्रेरित होकर तप शक्ति से कृत्या पैदा की और बदले की भावना से राजा अम्बरीष पर छोड़ी । इस पर उन्होंने सदाशयता से भगवान का स्मरण किया तो चक्र सुदर्शन प्रकट हुआ । कृत्या पराजित हुई तथा दुर्वासा को अम्बरीष से क्षमा माँगनी पड़ी । इसी तरह कणाद ऋषि को नीचा दिखाने की इच्छा से वे एक बार उनके यहाँ भोजन करने जा पहुँचे और असाधारण क्षुधा बढ़ा ली । कणाद ने सहज आतिथ्य भाव से कण-कण एकत्र किए गए अन्न को अक्षय बना दिया । दुर्वासा का पेट भर गया अन्न समाप्त नहीं हुआ ।

राक्षस वस्तुतः भटके हुए साधक थे । उन्होंने उपलब्ध क्षमताओं का अहंकारवश दुरुपयोग करना चाहा और किया भी । इसीलिए सबके सब विनष्ट हुए अन्यथा उन्हें असाधारण सामर्थ्य प्राप्त थी । हिरण्यकश्यप की बहन होलिका को अग्नि में न जलने की सिद्धि प्राप्त थी । प्रहलाद को लेकर लकड़ियों के ढेर पर बैठ गई । प्रज्ज्वलित अग्नि में वह भस्म हो गई, पर प्रहलाद बच गए । सिद्धियाँ एक ओर रखी रह गईं ।

भस्मासुर शुंभ-निशुंभ, मधुकैटभ, नरकासुर, वृत्रासुर जैसे अनेकों राक्षसों ने तप से ही सिद्धियाँ अर्जित की थीं । उनका लक्ष्य सदैव एक ही रहता था-देव तत्व को किस प्रकार हानि पहुँचाई जाय, उन्हें कैसे नष्ट किया जाय ? पौराणिक मिथकों में देवासुर संग्राम की चर्चा प्रायः हर कल्पयुग के साथ जुड़ी पायी जाती है । सम्भवतः ऋषि-मनीषियों का इन कथानकों-मिथकों से यह तात्पर्य रहा हो कि मात्र तप-तितीक्षा ही सब कुछ नहीं । संयम से उपलब्ध क्षमताओं का क्षरण रोकना एवं पात्रता का उपार्जन कर इन सिद्धियों का सत्प्रयोजनों में प्रयोग हो रहा है अथवा नहीं, यही अनुशासित व्यवस्था परम सत्ता की रही है । देव-पक्ष जहाँ असंयम से विलासिता से समय-समय पर अपनी क्षमताएँ नष्ट करता रहा है, वहाँ असुर पक्ष ने सिद्धियों का दुरुपयोग मात्र किया है । दोनों को ही ऐसी दशा में पतन-पराभव का मुख देखना पड़ा है । संयम की प्रेरणा देकर अवतार सत्ता ने स्वयं अवतरित हो देवों का मनोबल बढ़ाया एवं उन्हें विजय के लक्ष्य तक पहुँचाया है । साथ ही जिन असुरों ने विद्वता में, शक्ति-संचय में, सिद्धि सामर्थ्य में महारत हाँसिल की किन्तु दुर्मतिवश पथभ्रष्ट हो गए, उन्हें नष्ट करने का प्रयोजन भी उसी परमसत्ता ने पूरा किया है जिसने वरदान दिया था । रावण महापण्डित था एवं असीम क्षमता सम्पन्न भी किन्तु जब उसने अनाचार की अति कर दी, अपनी सामर्थ्य से ऋषियों, तपस्वियों का जीना दूभर कर दिया तो ऋषि रक्त को संचित कर स्वयं शक्ति ने सीता के रूप में अवतरित होने का निश्चय किया । इन्हीं सीता का रावण ने दुर्बुद्धिवश अपहरण किया एवं राम के रूप में बारह कलाओं से सम्पन्न स्वयं भगवत् सत्ता ने उस रावण के सारे वंश को समूल नष्ट कर दिया । अनीति देर तक टिक नहीं पाती । सिद्धियाँ चाहे वे भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक हर दृष्टि से सुनियोजित दिशा की अपेक्षा रखती हैं । नहीं तो, उनके लुप्त होने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगता । हर साधक को यह तथ्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए ।

⌘⌘⌘

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य का जीवनदर्शन : समग्र वाङ्मय

परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य ने जीवन भर जो अपनी लेखनी से लिखा, औरों को प्रेरित कर उनसे सृजनात्मक लेखन करवाया, पुस्तकों-पत्रिकाओं में जो प्रकाशित हुआ, समय-समय पर उनने अमृतवाणी के माध्यम से जो विचारों की अभिव्यक्ति की, विचारसार व सूक्तियाँ जो वे लिख गये या अनायास कभी कह गये तथा पत्रों के माध्यम से जो अंतरंग स्पर्श जन-जन को दिया, वह समग्र इस वाङ्मय के खण्डों में है । जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

१. युगद्रष्टा का जीवन-दर्शन समग्र वाङ्मय का परिचय
२. जीवन देवता की साधना-आराधना
३. उपासना-समर्पण योग
४. साधना पद्धतियों का ज्ञान और विज्ञान
५. साधना से सिद्धि-१
६. साधना से सिद्धि-२
७. प्रसुप्ति से जाग्रति की ओर
८. ईश्वर कौन है, कहाँ है, कैसा है ?
९. गायत्री महाविद्या का तत्वदर्शन
१०. गायत्री साधना का गुह्य विवेचन
११. गायत्री साधना के प्रत्यक्ष चमत्कार
१२. गायत्री की दैनिक एवं विशिष्ट अनुष्ठान-परक साधनाएँ
१३. गायत्री की पंचकोशी साधना एवं उपलब्धियाँ
१४. गायत्री साधना की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि
१५. सावित्री, कुण्डलिनी एवं तंत्र
१६. मरणोत्तर जीवन : तथ्य एवं सत्य
१७. प्राणशक्ति : एक दिव्य विभूति
१८. चमत्कारी विशेषताओं से भरा मानवी मस्तिष्क
१९. शब्द ब्रह्म-नाद ब्रह्म
२०. व्यक्तित्व विकास हेतु उच्चस्तरीय साधनाएँ
२१. अपरिमित संभावनाओं का आगार मानवी व्यक्तित्व
२२. चेतन, अचेतन एवं सुपर चेतन मन
२३. विज्ञान और अध्यात्म परस्पर पूरक
२४. भविष्य का धर्म : वैज्ञानिक धर्म
२५. यज्ञ का ज्ञान-विज्ञान
२६. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया
२७. युग-परिवर्तन कैसे और कब ?
२८. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-१
२९. सूक्ष्मीकरण एवं उज्ज्वल भविष्य का अवतरण-२ (सतयुग की वापसी)
३०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
३१. संस्कृति-संजीवनी श्रीमद्भागवत एवं गीता
३२. रामायण की प्रगतिशील प्रेरणाएँ
३३. षोडश संस्कार विवेचन
३४. भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व
३५. समस्त विश्व को भारत के अजस्र अनुदान
३६. धर्मचक्र प्रवर्त्तन एवं लोकमानस का शिक्षण
३७. तीर्थ सेवन : क्यों और कैसे ?
३८. प्रज्ञोपनिषद्
३९. नीरोग जीवन के महत्त्वपूर्ण सूत्र
४०. चिकित्सा उपचार के विविध आयाम
४१. जीवेम शरदः शतम्
४२. चिरयौवन एवं शाश्वत सौन्दर्य
४३. हमारी संस्कृति : इतिहास के कीर्ति स्तम्भ
४४. मरकर भी अमर हो गये जो
४५. सांस्कृतिक चेतना के उन्नायक : सेवाधर्म के उपासक
४६. भव्य समाज का अभिनव निर्माण
४७. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता
४८. समाज का मेरुदण्ड सशक्त परिवार तंत्र
४९. शिक्षा एवं विद्या
५०. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१
५१. महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-२
५२. विश्व वसुधा जिनकी सदा ऋणी रहेगी
५३. धर्मतत्त्व का दर्शन व मर्म
५४. मनुष्य में देवत्व का उदय
५५. दृश्य जगत् की अदृश्य पहेलियाँ
५६.ईश्वर विश्वास और उसकी फलश्रुतियाँ
५७. मनस्विता प्रखरता और तेजस्विता
५८. आत्मोत्कर्ष का आधार- ज्ञान
५९. प्रतिगामिता का कुचक्र ऐसे टूटेगा
६०. विवाहोन्माद : समस्या और समाधान
६१. गृहस्थ : एक तपोवन
६२. इक्कीसवीं सदी : नारी सदी
६३. हमारी भावी पीढ़ी और उसका नवनिर्माण
६४. राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बने ?
६५. सामाजिक, नैतिक एवं बौद्धिक क्रान्ति कैसे ?
६६. युग निर्माण योजना-दर्शन, स्वरूप व कार्यक्रम
६७. प्रेरणाप्रद दृष्टान्त
६८. पूज्यवर की अमृतवाणी (भाग एक)
६९. विचारसार एवं सूक्तियाँ (प्रथम खण्ड)
७०. विचारसार एवं सूक्तियाँ (द्वितीय खण्ड)

वाङ्मय के आगे प्रकाशित होने वाले ३८ खण्ड निम्न विषयों पर होंगे—

७१. मनोविकारों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि
७२. तनाव के कारण एवं उनके निवारण के उपाय
७३. चिन्तन का विधेयात्मक-निषेधात्मक स्वरूप
७४. पुरुषार्थ और मानवी जिजीविषा
७५. संकल्प बल का अनूठा प्रभाव
७६. बाल-विकास के विविध सोपान
७७. बाल मनोविज्ञान का सही उपयोग
७८. पारिवारिकता में सुसंस्कारों का योगदान
७९. पारिवारिक पंचशील और परिवार-निर्माण
८०. व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया
८१. विचार-विज्ञान का महत्त्व
८२. सामाजिक समस्याएँ और उनका समाधान
८३. समाज-निर्माण के विभिन्न चरण
८४. सामाजिक जीवन में सद्गुणों की भूमिका
८५. नर-नारी की सामान्य समस्याएँ और उनका समाधान
८६. नारी जागृति की बाधाएँ एवं उनके निराकरण के उपाय
८७. पारिवारिक जीवन: एक तप-साधना
८८. दाम्पत्य जीवन के संयुक्त दायित्व
८९. नीति-विज्ञान और नैतिकता
९०. कृषि, व्यवसाय और उद्योग की उन्नति के आधार
९१. पूज्य गुरुदेव के स्फुट विचार
९२. पूज्यवर की अमृतवाणी-२
९३. पूज्य गुरुदेव की दिव्य अनुभूतियाँ
९४. पूज्य गुरुदेव के लिखे स्मरणीय पत्र
९५. तंत्र महाविज्ञान विवेचन
९६. मंत्र महाविज्ञान विवेचन
९७. महापुरुषों के प्रेरक जीवन-प्रसंग
९८. प्रेरणाप्रद कथा एवं गाथाएँ
९९. हृदयस्पर्शी विविध कथाएँ
१००. शान्तिकुंज का प्रज्ञा अभियान
१०१. युग निर्माण मिशन का क्रमिक इतिहास
१०२. वेद-सार-चिन्तन
१०३. पुराण-शोध-सार
१०४. उपनिषद् और आरण्यकों की दार्शनिक विषयवस्तु
१०५. काव्य-गीत-मंजूषा
१०६. मिशन के रचनात्मक कार्यक्रमों का क्रमिक इतिहास
१०७. मिशन की लोक-व्यवहार संहिता
१०८. गुरुदेव की अपनी आत्मीय जनों से अपनी बातें

❑❑❑